उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त

(Advanced Economic Theory)

(भारतीय विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर कक्षाओं के निमित्त
अर्थशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों का सरल, संक्षिप्त
एवं समीक्षा प्रधान अध्ययन)

लेखक
प्रोफेसर मधु भंडारी

परिवर्द्धित एवं संशोधित द्वितीय संस्करण

प्रकाशक
राजीव प्रकाशन
मेरठ।

१९६७]

[मूल्य रु० ८.५०

प्रकाशक :
राजीव प्रकाशन
लालकुर्ती, मेरठ कैन्ट।
फोन : २२५१

स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिये हमारे लोकप्रिय प्रकाशन

१. आर्थिक विचारों का इतिहास	ले० रमेश चन्द्र शर्मा
२. मैट्रिक अर्थशास्त्र	ले० रमेश चन्द्र शर्मा
३. आर्थिक आयोजन	,, प्रो० मधु भण्डारी
४. सहकारिता के सिद्धान्त	,, रमेश चन्द्र शर्मा
५. ग्रामीण अर्थशास्त्र	,, रमेश चन्द्र शर्मा
६. लोक अर्थशास्त्र	,, आर० एल० पाटनी
७. राजस्व के सिद्धान्त	,, आर० एल० पाटनी
८. भारत में यातायात सिद्धान्त एवं व्यवहार	,, डा० सुधाकर गौत्तम

मुद्रक :
सर्वोदय प्रेस,
राम नगर, मेरठ।
फोन : ४३५२

पाठकों के नाम

पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है। विद्यार्थियों एवं प्राध्यापकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर इसे पूर्णतः आद्योपान्त संशोधित एवं परिवर्द्धित किया गया है।

भारतीय विश्वविद्यालयों में एम० ए०, एम० कॉम० और बी० ए० (आनर्स) की कक्षाओं के पाठ्यक्रम में आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित कोई एक विषय स्वतन्त्र रूप से सम्मिलित होता है। इस स्तर पर यह अपेक्षा की जाती है कि विद्यार्थी न केवल आर्थिक सिद्धान्तों को समझता हो, वरन् (अ) उस सिद्धान्त का ऐतिहासिक ज्ञान रखता हो (आ) उन पर आलोचनात्मक विचार प्रकट कर सकता हो, और (इ) उन सिद्धान्त पर आधारित नीति का मूल्यांकन कर सके। पुस्तक को संशोधित करते समय इन अपेक्षाओं पर पूरा ध्यान दिया गया है और पाठ्यक्रमों में हुए नवीन परिवर्तनों एवं परिवर्द्धनों के अनुरूप पुस्तक में नई सामग्री जोड़ी गई है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी को माध्यम मान लिया गया है और हिन्दी माध्यम का प्रसार तेजी से बढ़ रहा है। प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी में इसी ध्येय से लिखी गई है, किन्तु भाषा सरल और प्रचलित ही अपनाई गई है, तथा आवश्यक अवसरों पर शब्दों का अंग्रेजी रूपान्तर भी दे दिया गया है और पुस्तक के अन्त में हिन्दी शब्दों की अंग्रेजी अर्थ के साथ क्रमणिका भी दी गई।

एक पाठ्य पुस्तक व सहायक पुस्तक की विशेषताओं को समन्वित कर पुस्तक प्रश्नोत्तर रूप में लिखी गई है। प्रश्नोत्तर रूप में होने के कारण विद्यार्थियों को यह विषय न केवल सरलता से समझ में आ जायेगा, वरन् वे परीक्षा में श्रेष्ठ उत्तर कैसे लिखे जा सकते हैं, इसे भी समझ सकेंगे। प्रश्नों का चुनाव विश्वविद्यालयों के पिछले प्रश्न-पत्रों में से किया गया है और सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर विस्तारपूर्वक लिखे गये हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में बीस महत्वपूर्ण प्रश्न भी दिये गये हैं, जिनके उत्तर प्रत्येक विद्यार्थी को स्वतन्त्रतापूर्वक तैयार करना चाहिये। उसकी सहायता के लिये प्रस्तुत पुस्तक के अध्याय का संदर्भ और पुस्तक के अन्त में सन्दर्भ-की सूची भी दी गई है। लेखक एल्बर्ट मेयर्स के इस विचार से सहमत है कि "Economics is only common sense made difficult" और "the student who will attempt to understand and apply the concepts he learns from this text will have made a start toward becoming an economist and toward understanding some of the economic questions which are agitating our country today. The student who merely attempts to memorize will have cluttered his mind with useless lumber."

पुस्तक छः खण्डों में विभाजित की गई है। प्रथम खण्ड में अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक प्रश्नों पर विचार किया गया है। अर्थशास्त्र की परिभाषा और उसके स्वभाव एवं क्षेत्र पर विभिन्न अर्थशास्त्रियों के विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। इस सम्बन्ध में यह बता देना ठीक होगा कि वास्तव में अर्थशास्त्र के दो रूप अलग-अलग विकसित हुये हैं—आर्थिक विश्लेषण और आर्थिक नीति। आर्थिक विश्लेषण वास्तविक अर्थशास्त्र है, और आर्थिक नीति आदर्श अर्थशास्त्र। जब हम दोनों के संयुक्त रूप में अर्थशास्त्र का अध्ययन करते हैं तब ही अर्थशास्त्र वास्तविक और आदर्श दोनों प्रकार का विज्ञान माना जाता है। इसके बाद ही आर्थिक अध्ययन की रीतियों और आर्थिक नियमों की प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है। फिर, आर्थिक विश्लेषण के दो नये प्रकार के भेदों की व्याख्या की गई है—स्थिर और परिवर्तनशील अर्थशास्त्र तथा सूक्ष्म और व्यापक अर्थशास्त्र। पुस्तक के द्वितीय खण्ड में उपयोगिता विश्लेषण पर विचार किया गया है और समसीमान्त उपयोगिता नियम, उपभोक्ता की बचत, माँग की लोच और उदासीनता-वक्रों की सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोणों से व्याख्या की गई है। तीसरे खण्ड में, उत्पादन के अन्तर्गत उत्पत्ति के नियमों के साथ जनसंख्या के सिद्धान्त और नीति का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। चतुर्थ खण्ड में विनिमय के अन्तर्गत बाज़ार संस्थितियों एवं मूल्य निर्धारण की समस्या पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। पाँचवें खण्ड में, वितरण की समस्या और मजदूरी, लगान, व्याज और लाभ के सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। छठे और अन्तिम खण्ड में, व्यापक-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत राष्ट्रीय लाभांश, आर्थिक कल्याण, आर्थिक असमानताओं, व्यापार-चक्र, कीन्सायन अर्थशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, आर्थिक आयोजन और मिश्रित अर्थव्यवस्था का अध्ययन करते हुये न केवल सिद्धान्तों पर, वरन् व्यवहारिक समस्याओं और उनके औचित्य पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि कोई अर्थव्यवस्था किस प्रकार कार्य करती है। पुस्तक की अपनी सीमायें हैं और यह खुले आसमान में प्रकाश का दावा नहीं कर सकती, फिर भी बन्द अन्धेरे कमरे में एक खिड़की की तरह इसके प्रकाश की उपयोगिता है और आशा है कि पाठकों को यह लाभदायक सिद्ध होगी।

वास्तव में पिछले बीस वर्षों में आर्थिक विज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण, विविध एवं जटिल हो गया है कि किसी पुस्तक या पाठ्यक्रम में उसे संकलित करना असम्भव है। प्राचीन काल की स्वतन्त्रता साहस और पूर्ण प्रतियोगिता पर आधारित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अब उचित नहीं मानी जाती और आर्थिक विज्ञान उन नवीन क्षितिजों की खोज कर रहा है जो अधिकतम सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से अनुप्राणित हों। इस प्रकार अब आर्थिक अध्ययन व्यक्तिगत व्यवहार के विश्लेषण की अपेक्षा व्यापक आर्थिक विश्लेषण पर अधिक जोर देता है। यही नहीं उसके अध्ययन एवं विश्लेषण की टेकनीक में मत्वपूर्ण उन्नति हुई है। स्थैतिक दीर्घकालीन

विश्लेषण का स्थान प्रयोगिक विश्लेषण ने ले लिया है, और इकोनोमेट्रिक्स के रूप मे उन्नत गणितीय आधार पर आर्थिक विज्ञान का विकास हुआ है। इस प्रकार आर्थिक विज्ञान वास्तविक परिस्थितियों के सही एवं उचित निरूपण की ओर अधिक झुकाव प्रदर्शित कर रहा है; और वाणिज्य के साथ ही साथ समाज के लिये भी उसकी उपयोगिता बढ़ रही है। आर्थिक नियोजन के रूप मे आर्थिक विज्ञान ने आर्थिक एवं सामाजिक उत्थान का नया उपकरण प्रस्तुत किया है। पुस्तक मे उत्तर लिखते समय इन सब बातों का ध्यान रखा गया है और एक परिशिष्ट में प्रसंग से इन सब आधुनिक प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। विद्यार्थियों के लिये यह उपयोगी होगा।

संक्षेप मे, इस पुस्तक के निम्न उद्देश्य है :—

(१) आर्थिक सिद्धान्त एव नीति के महत्वपूर्ण विषयो को समझाना,

(२) आर्थिक विचारों के इतिहास के सन्दर्भ मे इन महत्वपूर्ण विषयो का प्रतिपादन,

(३) विषय पर आलोचनात्मक विचार,

(४) सिद्धान्त के सन्दर्भ मे व्यवहारिक नीति का आवश्यक मूल्यांकन,

(५) एम० ए०, एम० कॉम०, बी० ए० (आनर्स) और आई० ए० एस० आदि परीक्षाओं के महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर देना,

(६) विद्यार्थियो को विषय याद रखने मे सहायता करने के लिये शीर्षक और सारांश सूचित करना,

(७) सन्दर्भ, निर्देश एवं उल्लेख द्वारा विद्यार्थियो को रचनात्मक अध्ययन के लिये प्रेरित करना,

(८) भाषा सरल और प्रचलित ही अपनाना, जिससे हिन्दी मे ही विषय की अभिव्यक्ति सरल और स्पष्ट हो,

(९) आर्थिक विज्ञान की आधुनिक प्रवृतियों के बारे में जानकारी देना,

(१०) ऐसा वातावरण निर्माण करना जिससे आर्थिक समस्याओं पर विद्यार्थी स्वतन्त्रतापूर्वक विचार कर सके,

(११) जनसंख्या और आर्थिक आयोजन के अन्तर्गत नवीनतम घटनाओं को सम्मिलित करना,

उपरोक्त उद्देश्यों मे कहाँ तक सफलता मिली है यह तो पाठकों के निर्णय पर निर्भर है, किन्तु पाठकों से निवेदन है कि वे पुस्तक के अभाव और दोषो की ओर अवश्य सूचित करें तथा पुस्तक में सुधार के लिये अपने सुझाव अवश्य भेजें, जिससे अगले संस्करण मे ध्यान रखा जा सके।

पुस्तक में मौलिकता का दावा नहीं किया जा सकता है। पुस्तक विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है। पुस्तक लिखने में अनेक विद्वान लेखकों की पुस्तकों और उनके लेखों की सहायता ली गई है तथा उनके कुछ अंश भी उद्धृत किये गये हैं। उन सब के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना एक पुनीत कर्तव्य है, क्योंकि उनकी सहायता के बिना पुस्तक पूरी करना असम्भव था। पुस्तक को प्रकाशित करने और आप तक पहुंचने में अनेक लोगों का सहयोग मिला है, उन सब का भी मैं हृदय से आभारी हूँ। अपनी पत्नी सौ० स्नेहा भण्डारी के सहयोग के अभाव में पुस्तक आप तक शायद ही पहुँचती।

आशा है, पुस्तक उपयोगी प्रमाणित होगी, और उसे अधिक उपयोगी बनाने में आप सहायता प्रदान कर अनुगृहीत करेंगे।

फोन नं ७१७९
कीमती कॉटेज
२०४ लाबरिया भेरू, धार रोड,

—मधु भंडारी

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. The rationale of any definition is usually to be found in the use which is actually made of it." (Robbins) In the light of this remark give a definition of economics which in your view is most acceptable. State reasons for your choice.

(उत्तर के लिये अध्याय १, देखिये)

2. Distinguish between Static and Dynamic economics and examine critically the need for dynamic economics.

(उत्तर के लिये अध्याय ६ देखिये)

3. "There is really no opposition between Micro and Macro economics both are absolulely vital. And you are really half-educated if you understand the one while being ignorent of the other." (Samuelson). Discuss.

(उत्तर के लिये अध्याय ५ देखिये)

4 Explain the theoretical and practical significance of the idea of consumer's surplus.

(उत्तर के लिये अध्याय ६ देखिये)

5 "The Law of Diminishing Returns is merely a matter of logical necessary, but the law of Increasing Returns is a matter of emperical fact." Comment.

(उत्तर के लिये अध्याय ११ देखिये)

6. Is Optimum Theory of Population an improvement on the Malthusiun Theory of Population ? Give reasons of your answer.

(उत्तर के लिये अध्याय १२ देखिये)

7. Describe the Indifference curve analysis of consumer's behaviour.

(उत्तर के लिये अध्याय ६ देखिये)

8. Distinguish between perfect and imperfect competition. How value is determined under the conditions of imperfect competition.

16. Recent trends in labour legislation in the world secem to explode the classical theories of wages." Examine the statement critically.

    (उत्तर के लिए अध्याय २३ देखिए)

17. Examine critically the Recordian Theory of Rent.

    (उत्तर के लिये अध्याय २२ देखिए)

18. What do you understand by Economic welfare ? Discuss its relationship with the National Dividend.

    (उत्तर के लिये अध्याय २७ देखिए)

19. Write an essay on the apparatus of the General Theory as developed by Keynes.

    (उत्तर के लिये अध्याय ३१ देखिये)

20. Summarize the main principles of economic planning in a democratic society and examine how far these have beer adapted in India.

    (उत्तर के लिये अध्याय ३२ देखिये)

Explain fully with the help of diagrams.

(उत्तर के लिये अध्याय १७ देखिये)

9. Examine critically Marshall's concept of representative firm and distinguish it from Pigou's equilibrium firm and bring out their importance in the theory of value.

(उत्तर के लिये अध्याय १५ देखिये)

10. Explain the conditions under which price discrimination is possible and point out the cases when it is advantageous to the consumers.

(उत्तर के लिये अध्याय १६ देखिये)

11. "Explain the law of monopoly revenue and show how the amount of output would vary according to (a) the elasticity of demand and (b) the particular law of production which may be operating.

(उत्तर के लिये अध्याय १६ देखिये)

12. Discuss the principles on which national income should be distributed. In what way should the state interfere with competition in order to bring about the ideal distribution, if competition fails to do so.

(उत्तर के लिये अध्याय २८ देखिये)

13. Discuss fully the Liquidity Preference Theory of Interest and contrast it with the Time Preference Theory of Fisher and the classical Supply and Demand of Savings Theory.

(उत्तर के लिये अध्याय २४ देखिये)

14. "Rent the profits both being to the genus surplus. Both these incomes mathematically are differences between income and cost and therefore of the nature of surplus." Discuss briefly the points of resemblance and differentiation between rent and profit.

(उत्तर के लिये अध्याय २५ देखिये)

16. Recent trends in labour legislation in the world secem to explode the classical theories of wages." Examine the statement critically.

    (उत्तर के लिए अध्याय २३ देखिए)

17. Examine critically the Recordian Theory of Rent.

    (उत्तर के लिये अध्याय २२ देखिए)

18. What do you understand by Economic welfare ? Discuss its relationship with the National Dividend.

    (उत्तर के लिये अध्याय २७ देखिए)

19. Write an essay on the apparatus of the General Theory as developed by Keynes.

    (उत्तर के लिये अध्याय ३१ देखिये)

20. Summarize the main principles of economic planning in a democratic society and examine how far these have beer adapted in India.

    (उत्तर के लिये अध्याय ३२ देखिये)

क्रम

प्रथम खण्ड—अर्थशास्त्र की ओर
Book I (Towards Economics)

द्वितीय खण्ड—उपयोगिता विश्लेषण
Book II (Unility Analysis)

तृतीय खण्ड—उत्पादन
Book III (Production)

चतुर्थ खण्ड—विनिमय
Book IV (Exchange)

प्रथम खंड

अर्थशास्त्र की ओर

(TOWARDS ECONOMICS)

Five Important Definitions Of Economics

—:—:—

1. Economics is the science which treats of wealth. —J. B. Say.
2. Political Economy or Economics is the study of mankind in the ordinary business of life, it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of material requisites of well being. —Marshall.
3. Economics is the study of economic welfare, economic welfare being that part of social welfare which can be brought directly or indirecty into relationship with the measuring rod of money.
4. Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternate uses. —Robbins.
5. Economics is the science which studies human behaviour as a means to the end of wantlessness; total elimination of all wants which are sources of pain. —J. K. Mehta.

—:—:—

१

अर्थशास्त्र की परिभाषा

(Definition of Economics)

Q. "The rationale of any definition is usually to be found in the use which is actually made of it." (Robbins)

In the light of this remark give a definition of economics, which in your view, is most acceptable. State reasons for your choice. (Vikram 1963 M. A. Vikram 1966 M. A. Agra 1952 M. A.)

प्रश्न—"किसी परिभाषा का विवेक उस उपयोग में पाया जाता है जो कि वास्तव में उसका किया गया है"—(राबिन्स)। इस कथन के प्रकाश में अर्थशास्त्र की, आपकी राय में सर्वाधिक स्वीकार्य, परिभाषा दीजिए। अपने आग्रह के लिए कारण भी प्रस्तुत कीजिए। (विक्रम १९६३ एम० ए० १९६६ एम० ए० आगरा १९५२ एम० ए०)

Q. "Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternate uses."

Justify this statement and discuss how far this definition of economics is different from those enunciated by Marshall and other economists. (Agra 1961 M. A.)

प्रश्न—'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव व्यवहार का वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों और उद्देश्यों के सम्बन्ध के रूप में अध्ययन करता है।" (राबिन्स)

इस कथन का औचित्य बताइये और अर्थशास्त्र की यह परिभाषा मार्शल और अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं से कहां तक भिन्न है इसका विवेचन कीजिए। (आगरा १९६१ एम० ए०)

उत्तर—परिभाषा का औचित्य :—

किसी संस्था के लिए नाम का जो महत्व होता है, वही महत्व किसी विज्ञान के लिए उसकी परिभाषा का होता है। किसी विज्ञान की परिभाषा उस विज्ञान का व्यक्तित्व प्रकट करती है। इस प्रकार परिभाषा न केवल विज्ञान का परिचय देने का माध्यम है, किन्तु उसकी विषय-सामग्री, क्षेत्र, स्वभाव एवं प्रवृत्तियों को स्पष्ट करती है और अन्य विज्ञानों से उसके सम्बन्ध निर्धारित करती है।

परिभाषा के इस व्यावहारिक महत्व को अनुभव करते हुए आरम्भ से ही विभिन्न समयों पर विभिन्न अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की परिभाषा देते आये हैं और जे० एन० कीन्स के अनुसार 'अर्थशास्त्र परिभाषाओं से घिरा हुआ विज्ञान' कहा जाता है। अभी तक अर्थशास्त्र की कोई सर्वसम्मत परिभाषा निश्चित नहीं हो पाई है और परिभाषा का प्रश्न अत्यन्त जटिल हो गया है। अर्थशास्त्र की विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं में से किसे उचित कहा जाय—यह एक अत्यन्त कठिन प्रश्न है। वास्तव में किसी परिभाषा का औचित्य उसके उपयोग पर निर्भर करता है। यदि किसी परिभाषा का उपयोग नहीं होता है तो उस परिभाषा में न कोई औचित्य है और न कोई विवेक। राबिन्स ने ठीक ही कहा है कि परिभाषा का विवेक उसके प्रयोग में निहित है। कोई भी परिभाषा तब ही उपयोगी हो सकती है जबकि वह उन समस्त कार्यों को करने में सक्षम हो जो कि उससे करने की अपेक्षा की जाती है। अर्थात्, उस परिभाषा में उस विज्ञान के व्यक्तित्व को प्रगट करने की क्षमता होनी चाहिये। परिभाषा यह स्पष्ट कर देती है कि, क्या अध्ययन किया जाता है, कैसे अध्ययन किया जाता है और क्यों अध्ययन किया जाता है? इस प्रकार किसी अध्ययन का उद्देश्य, विषय-सामग्री, स्वरूप, क्षेत्र, स्वभाव एवं प्रणाली का संकेत उसकी परिभाषा से मालूम हो जाता है।

किसी भी विज्ञान की परिभाषा का निर्माण करते समय हम सावधान रहते हैं कि उसका अनुसरण किया जा सके। परिभाषा में उस विज्ञान का विवेक निहित होता है और परिभाषा में विचार निहित होते हैं, जिनका हम व्यवहार और उपयोग करते हैं। इसी बात को प्रोफेसर राबिन्स ने यों समझाया है कि परिभाषा का विवेक उसके उपयोग में सम्मिलित है। उनके अनुसार केनन ने जिस परिभाषा का विकास किया है, उसी का प्रयोग "आर्थिक" और "अनार्थिक" आदि के सम्बन्ध में विचार प्रगट करते समय भी किया है।[1] इस प्रकार किसी भी विज्ञान की परिभाषा देने से पहले हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि परिभाषा की सार्थकता इसी में है कि परिभाषा के अनुरूप ही हमारे विचारों का विकास हो। हम जिन सिद्धान्तों और विचारों का प्रतिपादन जिस रीति से करें वे सब परिभाषा में निहित सार, तत्व, ज्ञान और विवेक के अनुसार ही होने चाहिये। परिभाषा में व्यक्त विचार हमारे अध्ययन का आधार होते हैं और इस प्रकार उसी आधार पर विज्ञान का विकास होना चाहिए। परिभाषा का सार उसके यथोचित उपयोग में ही निहित है।

अर्थशास्त्र की परिभाषा—

प्रोफेसर राबिन्स के इस विचार को ध्यान में रखते हुये अर्थशास्त्र की सर्वसम्मत परिभाषा का चुनाव करना अत्यन्त कठिन कार्य है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र एवं स्वभाव के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत प्रतिपादित किये हैं और इसी

1. Robbins—Nature and Significance of Economic Science p. 9.

कारण परिभाषाओं में भी भेद हो गये हैं। सबसे पहले अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र का एक अंग माना गया। अरस्तु और मनु दोनों ही ने आर्थिक सिद्धान्तों की चर्चा सामान्य नीति के अन्तर्गत की है। अरस्तु ने तो इसे घरेलू प्रबन्ध का नाम भी दिया है। राज्य शासन के सम्बन्ध में भी आर्थिक एवं वित्तीय नीतियों का विवेचन प्राचीन अर्थशास्त्र में हुआ है। प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्री तो इसे राजकीय अर्थव्यवस्था की संज्ञा भी देते हैं। इसे राष्ट्रों की सम्पत्ति का विज्ञान भी कहा है। इसी विचारधारा का विकास होते हुये अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान कहा जाने लगा। एडमस्मिथ, से, मिल, वाकर आदि विद्वानों ने इसे धन का विज्ञान कहा है। इस प्रकार की परिभाषा की आलोचना होना स्वाभाविक है। यदि अर्थशास्त्र सम्पत्ति का विज्ञान है तो वह, धन किस प्रकार बढ़ाया और इकट्ठा किया जाय, उसके लिए प्रेरित करता है। कुबेर-पूजा, कंजूस साधना, शोषण, सामाजिक अत्याचार, चरित्र-हीनता और अनीति को बढ़ावा देता है। इस प्रकार वह दुःख का शास्त्र है और घृणास्पद विज्ञान है। इस प्रकार के विचारों के कारण बर्क, मोरिस, डिकन्स, कार्लाइल, और रस्किन जैसे महापुरुषों ने अर्थशास्त्र की निन्दा की और इसे निकृष्ट विज्ञान कहा। वास्तव में अर्थशास्त्र की यह परिभाषा उचित नहीं थी। बाद में आने वाले अर्थशास्त्रियों ने भी इसकी आलोचना की। उन्होंने अनुभव किया कि धन को अनावश्यक और अवांछनीय महत्व दिया गया है। धन का अध्ययन तो अर्थशास्त्र में इसलिए किया जाता है कि वह मनुष्य की आवश्यकताओं की संतुष्टि का माध्यम है। धन केवल साधन है, साध्य तो मनुष्य है। इस प्रकार मनुष्य प्रधान है और धन गौण। इसी आलोचना के साथ इस विषय पर भी चर्चा प्रारम्भ हुई कि मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का, अर्थात् अर्थशास्त्र का, उद्देश्य क्या है? मार्शल ने भौतिक कल्याण, कीन्स ने मानवीय कल्याण और पीगू ने आर्थिक कल्याण को अर्थशास्त्र का उद्देश्य बताया है। इसके बावजूद प्रो० राबिन्स यह मानते हैं कि अर्थशास्त्र उद्देश्यों के सम्बन्ध में तटस्थ है। इन सबसे अलग डाक्टर मेहता के अनुसार अर्थशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य आवश्यकताहीन अवस्था प्राप्त करना है।

यह निर्णय करने के लिये विभिन्न परिभाषाओं में से किसे उचित कहा जाय हमें दो बातों पर ध्यान देना होगा। एक तो यह कि अर्थशास्त्र में क्या और किस प्रकार अध्ययन किया गया है और दूसरे यह कि ये परिभाषाओं का परिभाषायें इसे कहां तक प्रगट करती हैं। इस प्रकार, औचित्य परिभाषा ऐसी होनी चाहिये कि उसके अनुरूप ही विज्ञान में अध्ययन किया जाता हो; अर्थात् वह परिभाषा व्यवहार्य और उपयोगी हो।

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। ये आर्थिक क्रियायें विभिन्न रूपों में हमारे सामने आती हैं। कभी वस्तुओं की

"अर्थशास्त्र उन सामान्य रीतियों का अध्ययन है, जिनके द्वारा मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के हेतु परस्पर सहयोग करते हैं।"
—वेवरिज

"अर्थशास्त्र का उद्देश्य उन सामान्य घटकों की छानबीन करना है जिन पर मनुष्य का भौतिक कल्याण निर्भर होता है।"
—केनन

"हमारे अनुसंधान का क्षेत्र सामाजिक कल्याण के उस भाग से सीमित हो जाता है जो कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है।"
—पीगू

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के हेतु भौतिक साधनों की प्राप्ति से सम्बद्ध मानवीय क्रियाओं का अध्ययन करता है।"
—फेयर-चाइल्ड

भौतिकवादी परिभाषाओं का मूल्यांकनः—

यद्यपि ये सभी परिभाषायें अर्थशास्त्र की विषयसामग्री को विभिन्न रूपों में प्रगट करती हैं, तथापि इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है और सभी परिभाषायें एक ही विचारधारा का निरूपण करती हैं। इन परिभाषाओं में तीन नवीन बातें मिलती हैं। एक तो यह कि अर्थशास्त्र मनुष्य और धन दोनों का अध्ययन होते हुये भी प्रधानतया मनुष्य का अध्ययन है, क्योंकि इस में धन को प्रमुख स्थान न देकर गौण स्थान दिया गया है। दूसरे, वास्तविक और सामाजिक मनुष्य को अर्थशास्त्र के अध्ययन का आधार बनाया गया है। और तीसरे, अर्थशास्त्र में मनुष्य की 'उन क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका सम्बन्ध भौतिक सुख के साधनों–साधारणतया इन्हें धन कहा जा सकता है और मुद्रा से सम्बद्ध भी किया जा सकता है—की प्राप्ति और उनके उपयोग से होता है।

> **भौतिकवादी परिभाषाओं की विशेषताएँ**
> (१) धन की अपेक्षा मनुष्य को प्रमुखता,
> (२) वास्तविक और सामाजिक मनुष्यों का अध्ययन
> (३) भौतिक सुख के साधनों से सम्बन्धित क्रियाओं का अध्ययन

भौतिकवादी परिभाषा और आर्थिक क्रियाओं का स्वरूप

आर्थिक क्रियाओं का जो स्वरूप ऊपर स्पष्ट किया गया है, उसे ये परिभाषायें ग्रहण नहीं कर सकी हैं और उसकी रूपरेखा के प्रकाश में इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता है। ये परिभाषायें आर्थिक समस्या के विकास को समझ नहीं सकी हैं। इनके अनुसार भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति और उनका उपयोग अर्थशास्त्र के अध्ययन का आधार है, चाहे आर्थिक समस्या का—कम से कम में अधिकतम प्राप्त करने के लिये साधनों और साध्यों के

चुनाव की समस्या का, उदय हो या न हो। ये परिभाषायें भौतिक सुख पर जोर देती हैं और वास्तविक आर्थिक समस्या की अवहेलना करती हैं।

वास्तव में ये परिभाषायें सन् १९३२ तक ही, जबकि प्रो० राबिन्स ने अपने "एन ऐसे आन दी नेचर एन्ड सिगनीफिकन्स ऑफ इकॉनामिक साईन्स" का प्रकाशन किया; तक ही मान्य रहीं। इसके पश्चात् तो अनेक आपत्तियां इनके सम्बन्ध में उठाई गई हैं। मार्शल, केनन और पीगू की परिभाषाओं के एक-एक वाक्यांश को चुनौती दी गई है और अब यह सभी मानने लगे हैं कि चाहे ये परिभाषायें अधिक सरल और व्यवहारिक हों, पूर्णतः वैज्ञानिक और स्पष्ट रूप से अर्थशास्त्र के अध्ययन को परिभाषित करने में असफल रही हैं। ये परिभाषायें अर्थशास्त्र के क्षेत्र को "साधारण", "आर्थिक", "भौतिक", "सामाजिक", "हितकारी" आदि प्रत्ययों से सम्बन्धित कर अत्यन्त संकुचित कर देते हैं। इन प्रत्ययों के कारण अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे तत्व शामिल हो जाते हैं जो कि मूल में आर्थिक समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं रखते और बहुत से ऐसे महत्वपूर्ण विषय शामिल होने से रह जाते हैं जिनका कि आर्थिक क्रियाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में मानव व्यवहार का साधारण और असाधारण में, आर्थिक और अनार्थिक में, भौतिक सुख और अभौतिक सुख में, सामाजिक और असामाजिक में, वास्तविक और अवास्तविक में तथा हितकारी और अहितकारी में वर्गीकरण एवं विभाजन करना जहां असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन है, वहां दोषपूर्ण भी कम नहीं है। अर्थशास्त्र के अध्ययन में ऐसी सीमाओं को न तो हम स्वीकार करते हैं और न निभा ही सकते हैं। अर्थशास्त्र इस सम्बन्ध में निरपेक्ष एवं तटस्थ रहता है।

मानव व्यवहार का दोषपूर्ण वर्गीकरण एवं विभाजन

प्रो० राबिन्स ने इन भौतिकवादी परिभाषाओं की जमकर आलोचना की है और वे तो यहां तक कह गये हैं कि अर्थशास्त्र चाहे जिससे सम्बन्ध रखता हो, कम से कम भौतिक कल्याण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'आर्थिक' शब्द को भौतिक का पर्यायवाची बना देना न तो उपयुक्त है और न यह अर्थशास्त्र की विषय सामग्री का प्रतिनिधित्व कर सकता है। कम महत्वपूर्ण अनुभूतियों की बात तो दूर है, लेकिन अत्यन्त प्रमुख अनुभूतियों को स्पष्ट करने में ये परिभाषायें असमर्थ हैं। उदाहरण के लिये सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के किसी भी मुख्य विभाग को लीजिये और देखिये कि उनका कितना भाग इन परिभाषाओं के अनुरूप है। इन परिभाषाओं के अनुसार [illegible] का सिद्धान्त केवल उसी श्रम का अध्ययन कर सकता है जो कि [illegible] से सम्बन्ध रखता हो, परन्तु कुछ श्रम ऐसा भी होता है

भौतिकवादी परिभाषाओं पर राबिन्स की प्रतिक्रिया

(१) मानव व्यवहार का दोषपूर्ण वर्गीकरण
(२) अर्थशास्त्र का भौतिक कल्याण से सम्बन्ध नहीं
(३) मानव सुख का विचार अर्थशास्त्र से परे।

जिसका भौतिक कल्याण से कोई सम्बन्ध नही हो, किन्तु फिर भी उसका मूल्य हो और वह विनिमय किया जाता हो, जैसे नृत्य या गायन, और उसका अध्ययन अर्थशास्त्र मे होता है। इसलिये अर्थशास्त्र का अध्ययन भौतिक सुख से सीमित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं—एक तो यह कि भौतिक और अभौतिक के आधार पर विभाजन नहीं किया जा सकता और दूसरे, यह भी जरूरी नहीं है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ मानव सुख मे वृद्धि करे। फिर बहुत से भौतिक सुख के साधन ऐसे भी हो सकते हैं जिनका कोई मूल्य नही हो और इसलिये अर्थशास्त्र में उसका अध्ययन न हो। इन तथ्यों के प्रकाश में अर्थशास्त्र की भौतिकवादी परिभाषायें भ्रान्तिमूलक लगती हैं।

प्रोफेसर रॉबिन्स ने केवल भौतिक सुख के विचार का विरोध किया हो ऐसी बात नहीं है। उनके मत में तो मानव सुख का विचार ही अर्थशास्त्र के क्षेत्र से परे है। इसके दो कारण वे बतलाते हैं। एक तो यह कि

मानव सुख का विचार अर्थशास्त्र से परे

बहुत से आर्थिक कार्य ऐसे होते हैं जो मानव सुख मे वृद्धि करने की अपेक्षा मानव का अहित अधिक करते हैं, जैसे—युद्ध सामग्री का निर्माण, शराब बनाना और बेचना आदि। दूसरे यह कि मानव-सुख एक भावनात्मक विचार है और न तो उसका ठीक-ठीक माप हो सकता है और वह प्रत्येक दशा में समान होता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का मानव हित से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह उद्देश्यों और हित-अहित के प्रति निरपेक्ष और तटस्थ है। अर्थशास्त्र तो सभी आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करती है चाहे उनसे मानव हित मे वृद्धि होती हो या कमी। उसका कल्याण, सुख या हित-अहित जैसे विचारों से कोई सरोकार नहीं।

प्रोफेसर रॉबिन्स की परिभाषा :—

"अर्थशास्त्र उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों के सम्बन्ध के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन है।"

प्रोफेसर रॉबिन्स भौतिकवादी परिभाषाओं की आलोचना करके ही नही रह गए हैं। इनके साथ ही साथ उन्होंने अपने नवीनतम विचारों का प्रतिपादन भी किया है। उन्होंने अर्थशास्त्र की जो परिभाषा दी है, वह आर्थिक समस्या की व्याख्या के अनुरूप है। उनके अनुसार—

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोगों वाले दुर्लभ साधनों के सम्बन्ध के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।"

इस परिभाषा का अध्ययन करने से पता चलता है कि इसमें निम्न आधारभूत बातें कही गई हैं :—

(१) मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त होती हैं।

(२) इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन सीमित होते हैं।

आवश्यकताओं की अनन्तता, साधनों की स्वल्पता, उनके वैकल्पिक उपयोग और आवश्यकताओं की तीव्रता में असमानता—ये चारों बातें मिल कर आर्थिक समस्या को जन्म देती हैं। इनमें से किसी एक तत्व के अभाव में भी आर्थिक समस्या का उदय नहीं हो सकता है। यदि साधन सीमित और स्वल्प न होकर अनन्त हुए तो हम अपनी सभी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर सकते हैं और इस प्रकार आर्थिक समस्या का आविर्भाव न होने पायेगा। इसी तरह यदि इन साधनों का विभिन्न प्रयोगों में उपयोग करने के विकल्प न हों तो भी आर्थिक समस्या का जन्म न होगा। आवश्यकताओं की तीव्रता यदि समान होती तो हम किसी भी आवश्यकता को पूर्ण कर सकते थे और अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना—आर्थिक समस्या का मूल—कठिन न होता। इस प्रकार आर्थिक समस्या के उदय में चारों ही बातों का समान योग है।

आर्थिक समस्या का उदय

अतः यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्री का सम्बन्ध सीमित साधनों की व्यवस्था से है और अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के कार्यकलापों का अध्ययन इस दृष्टि से करता है कि वे उसके उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले सीमित साधनों में क्या सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

सारांश

राबिन्स की परिभाषा का औचित्य—

प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा का औचित्य स्वयं में स्पष्ट है क्योंकि यह परिभाषा जहाँ आर्थिक क्रियाओं का स्वरूप निर्धारित करती है, वहीं अर्थशास्त्र के अध्ययन के आधार भी निर्माण करती है। वास्तव में यह परिभाषा स्पष्ट कर देती है कि अर्थशास्त्र में क्या, कैसे और क्यों अध्ययन किया जाता है और परिभाषा में प्रकट विचारों का अनुसरण सम्पूर्ण अध्ययन में किया जा सकता है। राबिन्स की परिभाषा में अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक बना दिया है। उन्होंने साधारण और असाधारण, आर्थिक और अनार्थिक, भौतिक और अभौतिक, सामाजिक और असामाजिक तथा हितकारी और अहितकारी का विभाजन त्याग दिया है। उनके अनुसार हम सभी मनुष्यों की सभी क्रियाओं का अध्ययन करते हैं बशर्ते कि उनसे उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों का सम्बन्ध प्रकट होता हो। इसके अतिरिक्त राबिन्स ने अर्थशास्त्र को एक वास्तविक विज्ञान का रूप दिया है। वे उसे न तो आदर्श विज्ञान मानते हैं और न कला ही। उनके अनुसार अर्थशास्त्र मानव व्यवहार की उसी रूप में व्याख्या करता है जैसा कि वह पाया जाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र न तो मानव कल्याण से सम्बन्ध रखता है और न अर्थशास्त्री यह अध्ययन कर सकता है कि मानव-व्यवहार कैसा होना चाहिये।

स्थिर नहीं हो सकी और परिभाषा का प्रश्न अत्यन्त जटिल हो गया है। लार्ड कीन्स ने तो कह भी दिया कि अर्थशास्त्र अपनी परिभाषाओं के जाल मे फँसा हुआ है।

कुछ अर्थशास्त्री इसे धन का विज्ञान मानते है तो कुछ के अनुसार अर्थशास्त्र भौतिक सुख के साधनो से सम्बन्ध रखता है। परन्तु अन्य अर्थशास्त्री इस प्रकार के विचारो का विरोध करते हैं। राबिन्स ने, जो कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अग्रणी माने जाते हैं, यहाँ तक कह दिया है कि अर्थशास्त्र चाहे जिससे सम्बन्ध रखता हो, किन्तु वह कम से कम भौतिक कल्याण के कारणों से कतई सम्बन्धित नहीं है।

राबिन्स के इस कथन पर अधिकारपूर्वक तभी विचार प्रकट किये जा सकते जबकि यह निश्चय हो जाये कि अर्थशास्त्र किस विषय से सम्बन्धित है और उसकी विषय सामग्री क्या है।

अर्थशास्त्र की विषय सामग्री : अर्थशास्त्र धन के विज्ञान के रूप में

प्रारम्भ में अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान बताया था। 'अर्थशास्त्र के पिता एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक "An Enquiry into the Nature and causes of wealth of Nations" (1876) मे बताया था कि अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है। एडम स्मिथ के अनुयायियों ने भी इससे मिलती-जुलती परिभाषायें दी हैं, जैसे जे० बी० से, एफ० एल० वाकर और जे० एस० मिल की अग्रलिखित परिभाषाएं:—

अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन की विवेचना करता है।

—जे० बी० से[1]

अर्थशास्त्र वह ज्ञान पुंज है जो धन से सम्बन्धित है।

—एफ० एल० वाकर[2]

राज्य अर्थव्यवस्था के लेखक धन के स्वभाव और उसकी उत्पत्ति तथा वितरण के नियमों का अनुसंधान या अध्यापन करते हैं।

—जे० एस० मिल[3]

इसी प्रकार अन्य प्राचीन परम्परावादी अर्थशास्त्रियों ने भी अर्थशास्त्र को प्रधान रूप से धन का विज्ञान माना था। इनके अनुसार धन से आशय समस्त स्पर्शनीय और हस्तान्तरणीय वस्तुओं से था। इन लोगों ने मनुष्य की अपेक्षा धन पर अधिक जोर दिया था। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वास था कि मनुष्य के प्रत्येक आर्थिक प्रयत्न के पीछे स्वहित तथा धन-प्राप्ति की भावना होती है। इस प्रकार

1 "Economics is the science which treats of wealth."
—J. B. Say

2 "Economics is that body of knowledge which relates to wealth."
—F. L. Walker

3 "Writers on Political Economy profess to teach or investigate the nature of wealth and the laws of its production and distribution."
—J. S. Mill

इन्होंने अपने अध्ययन के लिये एक आर्थिक मनुष्य की कल्पना की थी जिसका अस्तित्व वास्तविक जगत में नहीं पाया जाता।

अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान मान लेने से कुछ लोग अर्थशास्त्र को घृणा की दृष्टि से देखने लगे और उन्नीसवीं शताब्दी में इन विचारों की कटु आलोचना हुई। रस्किन, कार्लाइल, विलियम मोरिस और चार्ल्स डिकन्स जैसे विद्वानों ने भी अर्थशास्त्र की निन्दा की और उनका ऐसा करना स्वाभाविक भी था क्योंकि इन परिभाषाओं के अनुसार अर्थशास्त्र में मनुष्य की अपेक्षा धन पर, मानव-सुख की अपेक्षा भौतिक सुख पर और सामाजिक नीतियों की अपेक्षा आर्थिक नीतियों पर अधिक जोर दिया गया था और अर्थशास्त्र हित-अहित की चिन्ता किये बगैर धन कमाने और बचाने के समस्त उपायों का अध्ययन करता था। इसलिये स्वाभाविक ही था कि अर्थशास्त्र को 'कुबेर का सन्देश', 'घृणित विज्ञान' और "रोटी मक्खन का स्वार्थमय विज्ञान' जैसे नाम दिये जाते। यद्यपि अर्थशास्त्र की ये परिभाषायें अत्यन्त संक्षिप्त और स्पष्ट थीं, फिर भी इनका सबसे बड़ा दोष यह था कि वे धन की उत्पत्ति तथा प्राप्ति को प्रमुख रूप से महत्व प्रदान करती हैं तथा मनुष्य जिसके लिए धन उत्पन्न किया जाता है, की अवहेलना करती हैं। फिर, इन परिभाषाओं में धन का अर्थ भी संकुचित लगाया है। इसके अतिरिक्त इनके अध्ययन का विषय एक ऐसा काल्पनिक मनुष्य है जो स्वहित की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है। वास्तव में मनुष्य दूसरी भावनाओं से, जैसे देश-प्रेम, दया, और विश्व-प्रेम से प्रेरित होकर भी कार्य करता है। अर्थशास्त्र की प्राचीन परिभाषाओं में पाये जाने वाले दोषों के कारण ही आगे आने वाले अर्थशास्त्रियों ने इस परिभाषा को कि "अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है" त्याग दिया और अब कोई अर्थशास्त्री इस परिभाषा का अनुमोदन नहीं करता।

अर्थशास्त्र की प्राचीन परिभाषा के दोष

(१) मनुष्य की अपेक्षा धन पर जोर
(२) मानव-सुख की अपेक्षा भौतिक सुख का विचार
(३) हित-अहित पर ध्यान नहीं
(४) धन का संकुचित अर्थ
(५) आर्थिक मनुष्य की कल्पना
(६) स्वहित की भावना पर जोर।

अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान मान लेने से इसकी कटु आलोचना की गई थी। इसलिए कुछ अर्थशास्त्री अब अर्थशास्त्र को इस निन्दा से बचाने की चेष्टा करने लगे। इन अर्थशास्त्रियों ने यह अनुभव किया कि अर्थशास्त्र की प्राचीन परिभाषाओं में बहुत सी त्रुटियाँ पाई जाती हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि अर्थशास्त्र की एक ऐसी परिभाषा दी जाय जिसमें ये सब त्रुटियाँ न हों और

अर्थशास्त्र भौतिक सुख के विज्ञान के रूप में

जिससे अर्थशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों के मध्य एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो सके। इस दिशा में सबसे पहले मार्शल ने कदम बढ़ाया। अर्थशास्त्रियों के जर्मन ऐतिहासिक सम्प्रदाय और आस्ट्रियन सम्प्रदाय ने अर्थशास्त्र की परम्परावादी विचारधारा की जो आलोचनायें की थीं उनका मार्शल ने अध्ययन किया और पाया कि अर्थशास्त्र की परिभाषा में दोष मौलिक और अपरिहार्य नहीं हैं और उन्हें दूर किया जा सकता है। सन् १८६० ई० में डाक्टर अल्फ्रेड मार्शल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Economics) में अर्थशास्त्र की एक नवीन परिभाषा प्रस्तुत की, जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से धन की अपेक्षा मनुष्य पर जोर दिया था। इस नई परिभाषा में उन सब दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया था जो कि प्राचीन परिभाषा में पाये जाते थे। लगभग आधी शताब्दी तक यह परिभाषा अर्थशास्त्रियों का मार्ग दर्शन करती रही और आज भी बहुत से अर्थशास्त्री इसका समर्थन करते हैं। अर्थशास्त्र की यह परिभाषा इस प्रकार है :—

"Political Economy or Economics is the study of mankind in the ordinary business of life, it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of the material requisites of well being Thus it is on the one side study of wealth and on the other and more important side a part of the study of man."

—Marshal : Principles of Economics.

'राज्य-अर्थव्यवस्था या अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय में मानव-जाति का अध्ययन है, यह व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों के उस भाग की परीक्षा करता है जो कल्याण के भौतिक उपादानों की प्राप्ति तथा उपयोग से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। इस प्रकार यह एक ओर सम्पत्ति का अध्ययन है तो दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।' —मार्शल

प्रोफेसर मार्शल के विचारों का समर्थन अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने किया और परिणामतः इन्होंने भी मार्शल की भाँति भौतिक कल्याण पर ही अपनी परिभाषायें आधारित की हैं। उदाहरण के लिये हम केनन और पीगू की परिभाषाओं को ले सकते हैं :—

"अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण के कारणों का अध्ययन है।"[1] —केनन

"अर्थशास्त्र आर्थिक कल्याण का अध्ययन है और आर्थिक कल्याण सामाजिक कल्याण का वह भाग है जो कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से द्रव्य के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।"[2] —पीगू : कल्याण का अर्थशास्त्र

1. "Economics is the study of the causes of the material walfare." —Cannon.

2 "Economics is the study of economic welfare, economic welfare being that part of social welfare which can be brought directly or indirectly into relationship with the measuring rod of money." —Pigou : Economics of welfare.

इन्होंने अपने अध्ययन के लिये एक आर्थिक मनुष्य की कल्पना की थी जिसका अस्तित्व वास्तविक जगत में नहीं पाया जाता।

अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान मान लेने से कुछ लोग अर्थशास्त्र को घृणा की दृष्टि से देखने लगे और उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसे विचारों की कटु आलोचना हुई। रस्किन, कार्लाइल, विलियम मोरिस और चार्ल्स डिकन्स जैसे विद्वानों ने भी अर्थशास्त्र की निन्दा की और उनका ऐसा करना स्वाभाविक भी था क्योंकि इन परिभाषाओं के अनुसार अर्थशास्त्र में मनुष्य की अपेक्षा धन पर, मानव-सुख की अपेक्षा भौतिक सुख पर और सामाजिक नीतियों की अपेक्षा आर्थिक रीतियों पर अधिक जोर दिया गया था और अर्थशास्त्र हित-अहित की चिन्ता किये बगैर धन कमाने और बचाने के समस्त उपायों का अध्ययन करता था। इसलिये स्वाभाविक ही था कि अर्थशास्त्र को 'कुबेर का सन्देश', 'घृणित विज्ञान' और "रोटी मक्खन का स्वार्थमय विज्ञान' जैसे नाम दिये जाते। यद्यपि अर्थशास्त्र की ये परिभाषायें अत्यन्त संक्षिप्त और स्पष्ट थीं, फिर भी इनका सबसे बड़ा दोष यह था कि वे धन की उत्पत्ति तथा प्राप्ति को प्रमुख रूप से महत्व प्रदान करती हैं तथा मनुष्य जिसके लिए धन उत्पन्न किया जाता है, की अवहेलना करती हैं। फिर, इन परिभाषाओं में धन का अर्थ भी संकुचित लगाया है। इसके अतिरिक्त इनके अध्ययन का विषय एक ऐसा काल्पनिक मनुष्य है जो स्वहित की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है। वास्तव में मनुष्य दूसरी भावनाओं से, जैसे देश-प्रेम, दया, और विश्व-प्रेम से प्रेरित होकर भी कार्य करता है। अर्थशास्त्र की प्राचीन परिभाषाओं में पाये जाने वाले दोषों के कारण ही आगे आने वाले अर्थशास्त्रियों ने इस परिभाषा को कि "अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है" त्याग दिया और अब कोई अर्थशास्त्री इस परिभाषा का अनुमोदन नहीं करता।

अर्थशास्त्र की प्राचीन परिभाषा के दोष

(१) मनुष्य की अपेक्षा धन पर जोर
(२) मानव-सुख की अपेक्षा भौतिक सुख का विचार
(३) हित-अहित पर ध्यान नहीं
(४) धन का संकुचित अर्थ
(५) आर्थिक मनुष्य की कल्पना
(६) स्वहित की भावना पर जोर।

अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान मान लेने से इसकी कटु आलोचना की गई थी। इसलिए कुछ अर्थशास्त्री अब अर्थशास्त्र को इस निन्दा से बचाने की चेष्टा करने लगे। इन अर्थशास्त्रियों ने यह अनुभव किया कि अर्थशास्त्र की प्राचीन परिभाषाओं में बहुत सी त्रुटियाँ पाई जाती हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि अर्थशास्त्र की एक ऐसी परिभाषा दी जाय जिसमें ये सब त्रुटियाँ न हों और

अर्थशास्त्र भौतिक सुख के विज्ञान के रूप में

जिससे अर्थशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों के मध्य एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो सके। इस दिशा में सबसे पहले मार्शल ने कदम बढ़ाया। अर्थशास्त्रियों के जर्मन ऐतिहासिक सम्प्रदाय और आस्ट्रियन सम्प्रदाय ने अर्थशास्त्र की परम्परावादी विचार-धारा की जो आलोचनायें की थीं उनका मार्शल ने अध्ययन किया और पाया कि अर्थशास्त्र की परिभाषा में दोष मौलिक और अपरिहार्य नहीं हैं और उन्हें दूर किया जा सकता है। सन् १८६०ई० में डाक्टर अल्फ्रेड मार्शल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Economics) में अर्थशास्त्र की एक नवीन परिभाषा प्रस्तुत की, जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से धन की अपेक्षा मनुष्य पर जोर दिया था। इस नई परिभाषा में उन सब दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया था जो कि प्राचीन परिभाषा में पाये जाते थे। लगभग आधी शताब्दी तक यह परिभाषा अर्थशास्त्रियों का मार्ग दर्शन करती रही और आज भी बहुत से अर्थशास्त्री इसका समर्थन करते हैं। अर्थशास्त्र की यह परिभाषा इस प्रकार है —

"Political Economy or Economics is the study of mankind in the ordinary business of life, it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of the material requisites of well being Thus it is on the one side study of wealth and on the other and more important side a part of the study of man."

—Marshal : Principles of Economics.

'राज्य-अर्थव्यवस्था या अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय में मानव-जाति का अध्ययन है, यह व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों के उस भाग की परीक्षा करता है जो कल्याण के भौतिक उपादानों की प्राप्ति तथा उपयोग से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है। इस प्रकार यह एक ओर सम्पत्ति का अध्ययन है तो दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।' —मार्शल

प्रोफेसर मार्शल के विचारों का समर्थन अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने किया और परिणामतः इन्होंने भी मार्शल की भांति भौतिक कल्याण पर ही अपनी परिभाषायें आधारित की हैं। उदाहरण के लिये हम कैनन और पीगू की परिभाषाओं को ले सकते हैं :—

"अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण के कारणों का अध्ययन है।"[1] —कैनन

"अर्थशास्त्र आर्थिक कल्याण का अध्ययन है और आर्थिक कल्याण सामाजिक कल्याण का वह भाग है जो कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से द्रव्य के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।" —पीगू : कल्याण का अर्थशास्त्र[2]

---

1. "Economics is the study of the causes of the material walfare." —Cannon.

2 "Economics is the study of economic welfare, economic welfare being that part of social welfare which can be brought directly or indirectly into relationship with the measuring rod of money." —Pigou : Economics of welfare.

यद्यपि पीगू का आर्थिक कल्याण मार्शल तथा केनन के भौतिक कल्याण से अधिक विस्तृत है तथापि इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है और तीनों परिभाषायें एक ही विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन परिभाषाओं में तीन नवीन बातें मिलती हैं। एक तो यह कि अर्थशास्त्र मनुष्य और धन दोनों का अध्ययन होते हुए भी प्रधानतया मनुष्य का अध्ययन है, क्योंकि इसमें धन को प्रमुख स्थान न देकर गौण स्थान दिया गया है। दूसरे आर्थिक मनुष्य की कल्पना छोड़कर वास्तविक मनुष्य को अर्थशास्त्र के अध्ययन का आधार बनाया गया है। ऐसे मनुष्य पर स्वहित के अतिरिक्त अन्य भावनाओं और परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। तीसरे, अर्थशास्त्र में मनुष्य की समस्त आर्थिक क्रियाओं का वर्णन नहीं किया जाता, बल्कि केवल उन्हीं क्रियाओं का वर्णन किया जाता है जिनका सम्बन्ध भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति और उनके उपयोग से होता है। इस प्रकार इन परिभाषाओं का महत्व इसी बात में है कि अर्थशास्त्र का लक्ष्य भौतिक कल्याण माना गया है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए धन एक माध्यम है।

अर्थशास्त्र की भौतिकवादी परिभाषायें

तीन नवीनतायें	आलोचनायें
(१) मनुष्य और धन दोनों का अध्ययन—मनुष्य को प्रधानता	(१) अवैज्ञानिक एवं अपर्याप्त परिभाषा
(२) आर्थिक मनुष्य और स्वहित के विचार के स्थान पर वास्तविक मानव-व्यवहार का अध्ययन	(२) अर्थशास्त्र के क्षेत्र को संकुचित करना
(३) भौतिक सुख के साधनों—साधारणतः धनकी प्राप्ति और उपयोग से सम्बन्धित क्रियाओं का अध्ययन।	(३) मानव-व्यवहार का अनुचित एवं दोषपूर्ण वर्गीकरण
	(४) भौतिक सुख अर्थशास्त्र का आधार नहीं हो सकता है।
	(५) मानव-कल्याण के विचार से अर्थशास्त्र को सम्बन्धित नहीं किया जा सकता।

यों तो एक लम्बी अवधि तक ये परिभाषायें सहज मान्य रहीं किन्तु सन् १९३२ में राबिन्स के विचारों के प्रकाशन के पश्चात् अनेक आपत्तियां इन परिभाषाओं के सम्बन्ध में उठाई गई। मार्शल, केनन और पीगू की परिभाषाओं के एक एक वाक्यांश को चुनौती दी गई है और अब यह सभी मानने लगे हैं कि चाहे ये परिभाषायें अधिक सरल और व्यवहारिक हों, पूर्णतः वैज्ञानिक और स्पष्ट रूप से अर्थशास्त्र के अध्ययन को परिभाषित नहीं कर सकती है। ये परिभाषायें अर्थशास्त्र के क्षेत्र को 'साधारण', 'आर्थिक', 'भौतिक', 'सामाजिक', 'वास्तविक' 'हितकारी' आदि प्रत्ययों से सम्बन्वित कर अत्यन्त संकुचित कर देते हैं। फिर मानव-व्यवहार का साधारण और असाधारण में, आर्थिक और अनार्थिक में, भौतिक और अभौतिक में, सामाजिक और असामाजिक में, वास्तविक और अवास्तविक में तथा हितकारी और हानिकर में वर्गीकरण एवं विभाजन करना जहां अत्यन्त कठिन है, वहां उससे

अधिक हो सकती भी है। अर्थशास्त्र के अध्ययन में हम ऐसी सीमाओं को स्वीकार नहीं करते हैं और न किया ही सकते हैं। अर्थशास्त्र इस सम्बन्ध में प्रायः तटस्थ रहता है।

प्रोफेसर राबिन्स ने भौतिकवादी परिभाषाओं की जमकर आलोचना की है और वे तो यहाँ तक कह गये हैं कि—"Whatever Economics is concerned with it is not concerned with material welfare as such." अर्थशास्त्र शब्द को 'भौतिक सुख' का पर्यायवाची बना देना उपयुक्त लग सकता है किन्तु यह अर्थशास्त्र की विषय सामग्री का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। कम महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की बात तो दूर है लेकिन अत्यन्त प्रमुख अनुभूतियों को स्पष्ट करने में भी ये परिभाषायें बिल्कुल असमर्थ हैं। उदाहरण के लिये सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के किसी भी मुख्य विभाग को लीजिए और यह देखिये कि उसका कितना भाग इन परिभाषाओं के अन्तर्गत आ जाता है। मजदूरी का सिद्धान्त सभी प्रकार के श्रम को एक ही प्रकार से विचार में लेता है। वह श्रम भौतिक कल्याण से सम्बन्ध रख भी सकता है (जैसे कपड़ा बुनना) और नहीं भी (जैसे नृत्य या गायन)। फिर भी प्रत्येक श्रम का मूल्य होता है और उसका विनिमय किया जाता है। इसलिए मजदूरी का सिद्धान्त दोनों ही प्रकार के श्रम का अध्ययन कर सकता है और इस सिद्धान्त का प्रयोग केवल उन मजदूरियों तक सीमित नहीं किया जा सकता जो कि मानव कल्याण के भौतिक अंग को प्रोत्साहन देती हों। यही बात व्यय के साथ है। अपनी आय को हम किसी भी प्रकार व्यय कर सकते हैं। ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे कि यह जोर डाला जा सके कि हम अपनी सम्पूर्ण आय ऐसी मदों पर खर्च करें जिनसे भौतिक कल्याण की वृद्धि होती हो। हम चाहें तो अपनी आय को रोटी और दूध पर खर्च कर सकते हैं और चाहें तो सिनेमा देखने में। रोटी और दूध से हमारे भौतिक सुख में वृद्धि हो सकती है, किन्तु सिनेमा देखने से नहीं। फिर भी दोनों ही से हमारी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है और दोनों ही का अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है। इस प्रकार दो बातें बिल्कुल साफ हैं - एक तो यह कि भौतिक और अभौतिक के आधार पर विभाजन नहीं किया जा सकता और दूसरे यह भी जरूरी नहीं कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ मानव सुख में वृद्धि करे। बहुत से भौतिक पदार्थ मानव के लिए अहितकर हो सकते हैं। यहाँ एक बात और कही जानी चाहिये और वह यह कि आधुनिक अर्थशास्त्र ऐसे श्रम को उत्पादक मानता है जिसका कुछ मूल्य हो और ऐसा श्रम जो कि भौतिक और ठोस पदार्थ उत्पादन करता है उत्पादक नहीं कहा जायेगा यदि उसका कोई मूल्य न हो। इन प्रगट तथ्यों के बावजूद क्या अर्थशास्त्र की यह परिभाषा करना भ्रान्ति मूलक न होगा कि वह भौतिक कल्याण के कारकों का अध्ययन है। अतः अर्थशास्त्र किसी से भी सम्बन्धित हो, भौतिक कल्याण के कारकों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रोफेसर राबिन्स ने केवल भौतिक सुख के विचार का विरोध किया हो, ऐसी बात नहीं है। उनके मत में मानव सुख का विचार अर्थशास्त्र के क्षेत्र से परे है। मार्शल और उनके साथियों ने मानव सुख में वृद्धि करना अर्थशास्त्र का मुख्य ध्येय माना है, राबिन्स ने उसकी भी तीव्र आलोचना की है। राबिन्स के अनुसार बहुत से आर्थिक कार्य ऐसे होते हैं जो मानव सुख में वृद्धि करने की अपेक्षा मानव का अहित करते हैं जैसे युद्ध सामग्री का निर्माण और शराब आदि बनाना और बेचना। यह आर्थिक कार्य हैं और इनसे धन का उपार्जन भी होता है। किन्तु इनसे मानव सुख में वृद्धि न होकर कमी होती है। राबिन्स के अनुसार मानव सुख का ठीक ठीक माप नहीं हो सकता है क्योंकि एक ही वस्तु से सभी मनुष्यों को एक समान सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अर्थशास्त्र का मानव हित से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह उद्देश्यों के प्रति तटस्थ है। अर्थशास्त्र तो आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है, चाहे उनसे मानव सुख की वृद्धि होती हो या कमी। उसका कल्याण, सुख या हित के विचार से कोई लगाव नहीं।

प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा:—

"अर्थशास्त्र—आवश्यकता और वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों के सम्बन्ध के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन।"

प्रोफेसर राबिन्स भौतिकवादी परिभाषाओं की आलोचना करके ही नहीं रह गये हैं। जहाँ उन्होंने यह कहा है कि अर्थशास्त्र भौतिक सुख के कारणों से सम्बन्धित नहीं है, वहां उन्होंने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि अर्थशास्त्र क्या है और वह किससे सम्बन्धित है। सन् १९३२ में प्रकाशित "An Essay on the Nature and significance of Economic Science में उन्होंने अर्थशास्त्र की जो परिभाषा दी है, वह अत्यन्त विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक है। उनके अनुसार—

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो आवश्यकताओं और वैकल्पिक प्रयोग वाले दुर्लभ साधनों के सम्बन्ध के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।"[1]

(राबिन्स : आर्थिक विज्ञान के स्वभाव एवं महत्व पर निबन्ध)

यह परिभाषा चार बातों को प्रकट करती है—

(१) मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त होती हैं,

(२) इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन सीमित होते हैं,

(३) ये साधन वैकल्पिक उपयोगों वाले होते हैं, और

(४) आवश्यकताओं की तीव्रता एवं महत्ता भिन्न-भिन्न होने से सन्तुष्टि के समय निर्णय करना पड़ता है कि कौनसी आवश्यकता को कब और कैसे सन्तुष्ट करे, जिससे कि अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त की जा सके।

---

1. "Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternate uses."

—Robbin

उपरोक्त चारों बातें ही आर्थिक समस्या को जन्म देती हैं और इनमें से किसी एक के अभाव में आर्थिक समस्या का जन्म नहीं हो सकता।

इस परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है, किन्तु वहीं तक जहां तक कि वह आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित है। इस प्रकार अर्थशास्त्र में हम यह अध्ययन करते हैं कि मनुष्य अपनी अनन्त आवश्यकताओं को सीमित और दुर्लभ साधनों के माध्यम से किस प्रकार सन्तुष्ट करता है। फिर एक ही साधन से अनेक आवश्यकतायें सन्तुष्ट की जा सकती हैं इसलिये हम यह भी देखते हैं कि वह किस आवश्यकता और किस साधन का चुनाव करता है। अर्थशास्त्र अपने अध्ययन में उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिनके प्रकाश में मनुष्य ऐसा निर्णय ले सके जिसके द्वारा न्यूनतम साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सके। इससे सम्बन्धित सभी क्रियायें आर्थिक क्रियायें हैं और वे अर्थशास्त्र की विषयसामग्री हैं। प्रो० राबिन्स के अनुसार, अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य के किन्हीं प्रयत्नों का अध्ययन करना और किन्हीं प्रयत्नों का नहीं अध्ययन करना नहीं है, अपितु उसके समस्त सीमित साधनों (धन समय तथा शक्ति) का अध्ययन इस दृष्टि से करना है कि उनका अधिक से अधिक और अच्छे से अच्छा उपयोग हो सके।

Q. How far do you agree with Professor Robbins in holding the view that Economics is a study of means rather than ends ? In this connection critically examine his definition of Economics.

(Agra M. A., 1956)

प्रश्न—आप राबिन्स के इस मत से कहां तक सहमत हैं कि अर्थशास्त्र साध्यों की अपेक्षा साधनों का अध्ययन है ? इस सम्बन्ध में उनकी अर्थशास्त्र की परिभाषा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये। 	**(आगरा, एम. ए., १९५६)**

उत्तर—"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले सीमित साधनों के सम्बन्ध के रूप में मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है।"[1]

(राबिन्स)

आर्थिक विचारधारा के इतिहास के अन्तर्गत प्रो० राबिन्स की यह परिभाषा क्रान्तिकारी मानी जाती है। प्रो० राबिन्स ने जहां मार्शल आदि विद्वानों की परम्परागत और भौतिकवादी विचारधारा की जमकर आलोचना की है, वहां आर्थिक अध्ययन के लिये नवीन एवं तर्कयुक्त दृष्टिकोण भी प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार आर्थिक समस्या का जन्म चार बातों से होता है—

1. "Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternate uses." (Robbins)

(१) मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त होती हैं।

(२) इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन सीमित होते हैं।

(३) ये सीमित साधन वैकल्पिक उपयोग वाले होते हैं, और—

(४) इन आवश्यकताओं की तीव्रता भिन्न-भिन्न होती है और मनुष्य कुछ आवश्यकताओं को अन्य की अपेक्षा प्राथमिकता देता है।

ये चारों बातें मिलकर आर्थिक समस्या को—आवश्यकताओं की अधिकतम सन्तुष्टि के लिए सीमित साधनों के मितव्ययी उपयोग को जन्म देती हैं। इनमें से किसी एक तत्व के अभाव में भी आर्थिक समस्या का उदय नहीं हो सकता है। यदि साधन सीमित एवं स्वल्प न होकर अनन्त हुए तो समस्त आवश्यकतायें सन्तुष्ट की जा सकती हैं और तब मितव्ययिता की कोई जरूरत न रहेगी और आर्थिक समस्या का आविर्भाव न होगा। इसी तरह यदि इन साधनों के वैकल्पिक प्रयोग न हों तो हमें इन साधनों के उपयोग का चुनाव न करना होगा और आर्थिक समस्या का उदय न होगा। आवश्यकताओं की तीव्रता और महत्ता यदि समान हो तो हम किसी भी आवश्यकता को पहले पूर्ण कर सकते हैं और अधिकतम सन्तुष्टि या मितव्ययी उपयोग के लिये आवश्यकताओं के चुनाव का प्रश्न ही हमारे सामने उपस्थित न हो। अतः यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सीमित साधनों की व्यवस्था से है और अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के कार्यकलापों का अध्ययन इस दृष्टि के करता है कि वे उसके उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले सीकित साधनों के बीच क्या सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

साध्य और साधन (Ends and Means)

प्रो० राबिन्स की उपरोक्त परिभाषा अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मानव-व्यवहार को दो तत्वों के सम्बन्ध के रूप में प्रस्तुत करती है—साध्य (Ends) और साधन (Means)। साध्य के रूप में राबिन्स उद्देश्यों या मानवीय आवश्यकताओं का अध्ययन करते हैं। इनके बारे में उनका कहना है कि ये अनन्त होते हैं और इनका मनुष्य के लिये भिन्न-भिन्न महत्व होता है। साधन के रूप में राबिन्स ने उन साधनों की चर्चा की है (१) जिनके द्वारा मनुष्य के ये साध्य, उद्देश्य, लक्ष्य या आवश्यकतायें पूर्ण हो सकें, (२) जो चाहे प्रकृतिदत्त हों या मनुष्यगत, किन्तु अत्यन्त सीमित एवं दुर्लभ होते हैं और (३) जो विभिन्न वैकल्पिक उपयोग वाले होते हैं।

यद्यपि राबिन्स ने स्वयं अपनी परिभाषा में साध्यों (Ends) और साधनों (Means) दोनों का उल्लेख किया है, तथापि अपनी परिभाषा को समझाते हुये उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि अर्थशास्त्र साध्यों की अपेक्षा साधनों का अध्ययन है।

राबिन्स यह मानते हैं कि अर्थशास्त्र लक्ष्यों या साध्यों का अध्ययन नहीं है। मनुष्य की आवश्यकतायें या उसके उद्देश्य अपने आप में अर्थशास्त्र की विषयसामग्री

नही है। इनका अर्थशास्त्र से केवल इतना सम्बन्ध है कि उद्देश्यों के अनन्त होने और साधनो के सीमित एवं वैकल्पिक उपयोग वाले होने के कारण जो आर्थिक समस्या उत्पन्न होती है उसका अध्ययन अर्थशास्त्र मे किया जाता है। उद्देश्यों की सन्तुष्टि इस आर्थिक समस्या का अन्त है और इसलिए अर्थशास्त्र मे साधनो का, दुर्लभ और वैकल्पिक उपयोग वाले साधनो से सम्बन्धित मानव व्यवहार का, अध्ययन ही मुख्य है। दूसरी बात यह है कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है और उद्देश्यों के प्रति तटस्थ है। किसी विषय की अच्छाई या बुराई से उसका कोई सम्बन्ध नही है। राबिन्स के ही शब्दो मे—"अर्थशास्त्री का सम्बन्ध उद्देश्यो से नही है। उसका सम्बन्ध उस उपाय से होता है जिससे उद्देश्य की प्राप्ति सीमित होती है। ये उद्देश्य अच्छे भी हो सकते हैं. और बुरे भी। वे भौतिक भी हो सकते हैं और अभौतिक भी—यदि उद्देश्यो का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता हो। यदि एक श्रेणी के उद्देश्यों की प्राप्ति में दूसरे उद्देश्यों का त्याग निहित हो तब इसका एक आर्थिक पहलू भी होता है।" आगे चलकर राबिन्स ने बताया कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध किसी भी उद्देश्य से नही होता। यह उद्देश्यों से उसी अंश तक सम्बन्धित होता है, जहा कि वे साधनो की प्रकृति को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र साध्यों का अध्ययन नहीं करता और न इस उलझन मे पड़ता है कि हमारे उद्देश्य क्या है; कैसे है, उचित है या अनुचित हैं, कम है या अधिक, वांछनीय है या अवांछनीय। वह तो इन तथ्यो की सापेक्षता में उनकी पूर्ति के साधनो का, जो कि सीमित और वैकल्पिक उपयोग वाले होते हैं, अध्ययन करता है। प्रोफेसर राबिन्स के शब्दो मे—"यदि मुझे दो कार्य करते है और उन्हे करने के लिये मेरे पास पर्याप्त समय और साधन है और मेरे पास अन्य कोई कार्य करने के लिए समय और साधन नही है, तब मेरा कार्य किसी भी ऐसे रूप को धारण नही करेगा जो कि आर्थिक विज्ञान का विषय हो।" दूसरे शब्दो मे, "जब लक्ष्य को पूरा करने के लिये समय और साधन सीमित होते हैं और उनके वैकल्पिक उपयोग हो सकते हैं और महत्व के आधार पर विभिन्न प्रकार के लक्ष्यो के बीच भेद किया जा सकता है तो व्यवहार निर्णय का रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार उसका आर्थिक पहलू उत्पन्न हो जाता है।" इस प्रकार अर्थशास्त्र में लक्ष्यों पर जोर नही दिया जाता है और केवल उनकी सापेक्षता मे सीमित और वैकल्पिक उपयोग वाले साधनो का अध्ययन किया जाता है और इस सन्दर्भ मे राबिन्स का कथन अनुचित नही है कि अर्थशास्त्र साध्यों की अपेक्षा साधनों का अध्ययन है।

परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही लिया जाना चाहिये कि साध्यों या लक्ष्यों का ज्ञान अर्थशास्त्र के लिये आवश्यक नही है। अर्थशास्त्र मे जो कुछ भी साधनो का अध्ययन किया जाता है वह उद्देश्य की सापेक्षता में ही, और साधनो की स्वल्पता आवश्यकताओं की तुलना में ही देखी जा सकती है। इस प्रकार साधनों का अध्ययन करने के लिये लक्ष्यों का ज्ञान भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ किसी विशेष वस्तु के

सम्बन्ध में हम सम-सीमान्त उपयोगिता नियम तब ही लागू कर सकते हैं जबकि हमें यह मालूम हो कि वह वस्तु किन-किन प्रयोगों में आ सकती है ? अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिये आवश्यकताओं और साधनों दोनों का अध्ययन जरूरी है। माल्थस का सिद्धान्त भी साध्यों और साधनों के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित है। सच तो यह है कि लक्ष्यों के विना साधनों का अध्ययन कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रखता और न उनके विना आर्थिक पहलू उत्पन्न ही हो सकता है।

राबिन्स की परिभाषा—आलोचनात्मक परीक्षण—

प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा का औचित्य स्वयं में स्पष्ट है क्योंकि वह जहाँ आर्थिक क्रियाओं का स्वरूप निर्धारित करती है, वहीं अर्थशास्त्र के अध्ययन का आधार भी निश्चित करती है। वास्तव में यह परिभाषा स्पष्ट कर देती है कि अर्थ-शास्त्र में क्या, कैसे और क्यों अध्ययन किया जाता है और परिभाषा में जो विचार प्रगट किए गए हैं वे सम्पूर्ण आर्थिक अध्ययन में निभाये जा सकते हैं। राबिन्स की परिभाषा अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक बना देती है। राबिन्स ने परम्परा-वादी परिभाषाओं में प्रतिपादित साधारण और असाधारण, आर्थिक और अनार्थिक, भौतिक और अभौतिक, सामाजिक और असामाजिक तथा हितकारी और अहितकारी का भेद त्याग दिया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र में सभी मनुष्य की सभी क्रियाओं का अध्ययन किया जा सकता है बशर्ते कि उनसे उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले स्वल्प साधनों का सम्बन्ध प्रगट होता हो। इसके अतिरिक्त राबिन्स ने अर्थ-शास्त्र का स्वभाव भी निश्चित किया है। वे उसे सामाजिक विज्ञान के स्थान पर मानव-विज्ञान का स्थान देते हैं। उनके अनुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान और केवल वास्तविक विज्ञान है, न तो वह आदर्श विज्ञान है और न कला ही। अर्थशास्त्र में मानव-व्यवहार की उसी रूप में व्याख्या होती है जैसा कि वह पाया जाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र न तो मानव-कल्याण से सम्बन्ध रखता है और न अर्थशास्त्री यह अध्ययन करता है कि मानव-व्यवहार कैसा होना चाहिये ?

इन विशेषताओं के बावजूद मार्शल और पीगू के परम्परागत भौतिकवादी और कल्याणप्रिय अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें फ्रेजर, बेवरिज, डरबिन, व्हेबलिन, गार्डफेल, क्लार्क और मिसेज वुटन प्रमुख हैं, राबिन्स की परिभाषा की कटु आलो-चना की है।

इन अर्थशास्त्रियों ने राबिन्स की परिभाषा की अनेक आधारों पर आलोचना की है, इनमें से कुछ महत्वपूर्ण आधार निम्नलिखित हैं—

(१) राबिन्स ने साधनों और उद्देश्यों के बीच जो भेद किया है वह स्पष्ट नहीं है। साधन तथा उद्देश्यों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। क्योंकि जो आज उद्देश्य है, वही बाद में साधन भी हो सकता है। एक बार, जब तक हम उसे प्राप्त नहीं कर लेते, हमारे लिये उद्देश्य उद्देश्य है, किन्तु वही

कार, जब हम उसे प्राप्त कर लेते हैं हमारे अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये साधन हो जाती है।

(२) मनुष्य का एक ही अन्तिम उद्देश्य है इच्छाओं को सन्तुष्ट करना अथवा अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना। शेष अन्य उद्देश्य इस अन्तिम लक्ष्य के सहायक लक्ष्य हैं। राबिन्स ने इस बात को ठीक-ठीक नहीं समझा, तभी तो उसने उद्देश्यों के अनन्त होने की बात कही है।

(३) राबिन्स ने साधनों पर अनुचित रूप से जोर दिया है और यह ठीक नहीं है कि अर्थशास्त्र साध्यों की अपेक्षा साधनों का अध्ययन है। ऐसा कहकर राबिन्स ने अर्थशास्त्र को पुनः धन का विज्ञान बना दिया है क्योंकि दुर्लभ और उपयोगी साधन धन ही होते हैं।

(४) राबिन्स ने अर्थशास्त्र को उद्देश्यों के प्रति तटस्थ और निरपेक्ष बताकर निरुपयोगी, तथा अव्यवहारिक विज्ञान बना दिया है। इस प्रकार, फ्रेजर के शब्दों में, अर्थशास्त्र 'मूल्य सिद्धान्त' और 'साम्य विश्लेपण' से अधिक कुछ नहीं रह जाता और अगर यह सम्भव होता तो आज के युग में आर्थिक नियोजन का महत्त्व कुछ भी नहीं रह जाता।

(५) राबिन्स ने अपनी परिभाषा में साधनों के साथ 'वैकल्पिक प्रयोग' विशेषण व्यर्थ में लगाया है क्योंकि सभी साधन वैकल्पिक प्रयोग वाले होते हैं।

(६) राबिन्स ने यह भी ठीक नहीं माना है कि मनुष्य प्रत्येक समय ऐसा कार्य करता है जिससे कि उसे अधिकतम संतोष मिले। मनुष्य को विभिन्न उपयोगिताओं में तुलना करने के अवसर ही नहीं मिलता और वह अधिकांश व्यय बिना सोचे समझे करता है।

(७) राबिन्स ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अनावश्यक रूप से अत्यन्त व्यापक बना दिया है। आर्थिक अध्ययन के लिये जिन 'रीतियों' का उपभोग होता है, वह इतने विस्तृत अध्ययन के उपयुक्त नहीं है।

(८) राबिन्स ने 'व्यवहार' शब्द का जो प्रयोग किया है, वह स्पष्ट नहीं है। अर्थशास्त्र में मुख्यतः आर्थिक क्रियाओं या प्रवृत्तियों का अध्ययन होता है, जबकि व्यवहार शब्द में और भी अनेक बातें शामिल हो सकती हैं।

(९) कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि राबिन्स ने अर्थशास्त्र से "कल्याण" का अध्ययन समाप्त कर, उसका क्षेत्र संकुचित कर दिया है। उसमें मूल्यांकन पर अधिक बल दिया गया है जबकि आर्थिक अध्ययन के अन्य पहलुओं की अपेक्षा की गई है। "राबिन्स की परिभाषा ने पहले से ही विद्यमान सामग्री की घेरबन्दी नहीं की, परन्तु शहर के पहले से ही विद्यमान कुछ भाग को शहर की चारदीवारी के बाहर छोड़ दिया है।"

(१०) अर्थशास्त्र की जो परिभाषा राबिन्स ने दी है, वह अर्थशास्त्र को चयन विज्ञान माना है और इस तरह एक व्यक्ति यह चुनाव कर रहा हो कि वह

सच बोले या झूठ तो यह समस्या नीतिशास्त्र की होकर भी अर्थशास्त्र में आ जाती है।

(११) राबिन्स की यह विचारधारा की अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है, आदर्श विज्ञान और कला नहीं भी सही नहीं है। अर्थशास्त्र जहाँ उद्देश्यों की पूर्ति के ढंग का अध्ययन करता है तो वह कला का रूप धारण कर लेता है और जब हम विकल्पों का निर्णय करते हैं तो स्वयं को 'श्रेय' की कल्पना से पृथक नहीं कर सकते। श्रीमती वूटन ने ठीक ही कहा है कि अर्थशास्त्रियों के लिये नैतिक महत्व की विवेचना से पूर्णतया पृथक होना अत्यन्त कठिन है।" ऐसा करने से अर्थशास्त्र उन अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सकता जो कि कल्याणकारी राज्य में उससे की जाती है।

(१२) राबिन्स ने आर्थिक निष्कर्षों पर पहुँचने के लिये निगमन प्रणाली का आश्रय लिया है, जबकि श्रेष्ठ निष्कर्ष के लिये आगमन और निगमन दोनों प्रणालियों के प्रयोग को आवश्यकता है।

(१३) राबिन्स ने आर्थिक नियमों को प्राकृतिक विज्ञान के नियमों की भाँति निश्चित, अटल और अपरिवर्तनशील माना है, जबकि अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य है और मनुष्य का व्यवहार, स्वभाव और वातारण परिवर्तनशील होता है।

(१४) राबिन्स अर्थशास्त्र का अध्ययन स्थिर स्तर से करता है जबकि आर्थिक समस्या के सभी आधार परिवर्तनशील होते हैं। अर्थव्यवस्था स्वयं गतिशील है और स्थिर विश्लेषण अधिक उपयोगी नहीं हो सकता।

(१५) राबिन्स ने उस अवस्था की कल्पना नहीं की जबकि मानव-सुख अधिकतम होता है और की भी है तो प्रो० मेहता के अनुसार गलत है, क्योंकि सुख प्राप्ति आवश्यकताओं की पूर्ति में निहित न होकर उनके लोप में है।

हमारी राय में प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा की ये आलोचनायें विशेष महत्व नहीं रखती हैं। राबिन्स की परिभाषा सरल और व्यवहारिक चाहे न हों, किन्तु तर्कपूर्ण, वैज्ञानिक और निश्चित अवश्य है। आर्थिक अध्ययन के अन्तर्गत साध्यों और साधनों की अलग-अलग व्याख्या की जा सकती है, साध्यों के प्रति निरपेक्ष रहा जा सकता है, सभी साधन वास्तव में दुर्लभ और वैकल्पिक उपयोग वाले होते हैं, इन साधनों के मितव्ययितापूर्ण उपयोग में आर्थिक समस्या का निदान है और मानव-व्यवहार का आर्थिक पहलू ही अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है। राबिन्स ने मानवीय क्रियाओं के वर्गीकरण की जो उपेक्षा की है और इस प्रकार अर्थशास्त्र के क्षेत्र का जो विस्तार किया है वह उचित है और अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मान लेने से उसकी उपयोगिता समाप्त नहीं हो जायेगी। उचित-अनुचित का प्रश्न नीतिशास्त्र का विषय है और मानव-सुख की वृद्धि होगी या ह्रास होगा—यह मनुष्यों के अपने विचार करने का विषय है और सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र

को व्यवहारिक बातों से मिलना कोई उचित नहीं है। अर्थशास्त्र कल्याणकारी कार्यों की मनाई नहीं करता है। आर्थिक नियोजन के सिद्धान्त अर्थशास्त्र के सिद्धान्त हैं और व्यवहारिक नियोजन का औचित्य उससे परे है। इन सब बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि राबिन्स की परिभाषा यदि उसका सही और पर्याप्त अर्थ लिया जाये तो अन्य परिभाषाओं से श्रेष्ठ है।

Q. "The Science of economics has travelled a long way from Marshall, Pigou to Robbins." Discuss. What is your opinion about Robbinsian definition of economics? Can you suggest any improvement over the same. (Vikram 1962 M. Com.)

प्रश्न—"मार्शल पीगू से लेकर राबिन्स तक आर्थिक विज्ञान ने लम्बी यात्रा की है।" विवेचन कीजिए तथा राबिन्स की परिभाषा पर अपने विचार लिखिए। क्या आप उसमें कुछ सुधार कर सकते हैं? (विक्रम १९६२ एम० काम)

Q. *Examine critically the definition of Economics as given by* Marshall, Pigou and Robbins. (Agra 1963 M. A.)

प्रश्न—मार्शल, केनन, पीगू और राबिन्स द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषाओं का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (आगरा १९६३ एम० ए०)

उत्तर—लार्ड कीन्स का यह कथन सच है कि अर्थशास्त्र ने अपने को परिभाषाओं के जाल में फँसा लिया है। हर अर्थशास्त्री ने अपने-अपने ढंग से उसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। वास्तव में प्रारम्भ से ही अर्थशास्त्र के स्वभाव और क्षेत्र के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित किए हैं और परिणामत: विभिन्न परिभाषायें हमारे सामने हैं। तथापि आज भी अर्थशास्त्र की कोई सर्वसम्मत परिभाषा निर्धारित नहीं हो पाई है। यहां पर हम कुछ आधुनिक परिभाषों पर विचार करेंगे।

मार्शल की परिभाषा:—

डाक्टर अल्फ्रेड मार्शल आधुनिक आर्थिक विचारधारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। अर्थशास्त्र को 'धन के विज्ञान' के रूप में जो 'घृणास्पद' संज्ञा दी जाने लगी थी, उससे उठाकर सम्मानजनक सामाजिक विज्ञान की स्थिति प्रदान करने का श्रेय मार्शल को ही है। सन् १८९० में मार्शल ने ही सर्वप्रथम अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आफ इकोनोमिक्स' में 'अर्थशास्त्र' की

> **मार्शल की परिभाषा की विशेषतायें**
>
> (१) मानव जाति का अध्ययन
> (२) साधारण व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन
> (३) भौतिक सुख के साधनों से सम्बन्धित
> (४) मनुष्य को धन की अपेक्षा प्रमुखता।

नवीन परिभाषा प्रस्तुत की और वह परिभाषा आज भी अनेक अर्थशास्त्रियों के लिए प्रकाशवाहक बनी हुई है। उसके अनुसार—

"राज्य अर्थव्यवस्था या अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय में मानव-जाति का अध्ययन है, यह व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों के उस भाग की परीक्षा करता है जो कल्याण के भौतिक उपादानों की प्राप्ति और उपयोग से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं।"......इस प्रकार यह एक ओर सम्पत्ति का अध्ययन है तथा दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।"[1]

एक अन्य स्थान पर मार्शल ने ही अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं :—

"अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन की साधारण व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन है। मनुष्य किस प्रकार का धन कमाता है और धन व्यय करता है—इसका वह परीक्षण करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र एक ओर सम्पत्ति का अध्ययन है दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।"[2]

मार्शल की उपरोक्त परिभाषाओं में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया है :—

(१) अर्थशास्त्र मानवजाति का अध्ययन करता है। इस प्रकार वह एक सामाजिक विज्ञान है जिसके अध्ययन का आधार सामाजिक, वास्तविक और सामान्य मनुष्य है।

(२) अर्थशास्त्र में जीवन की साधारण व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

(३) ये क्रियायें भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति और उनके उपयोग से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होती हैं।

(४) अर्थशास्त्र धन और मनुष्य दोनों का अध्ययन है किन्तु उसमें मनुष्य को अधिक महत्व दिया जाता है। उसका प्रमुख उद्देश्य मानव कल्याण है।

यद्यपि मार्शल की परिभाषा क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की परिभाषा से अधिक श्रेष्ठ है और उन्होंने अर्थशास्त्र के अध्ययन को अधिक व्यावहारिक, उपयोगी और

---

1 Political economy or Economics is the study of mankind in the ordinary business of life. It examines that part of individulal and social action which is most closly connected with the attainment and with the use of material requisites of well-being."........

—Marshall : Principles of Economsics.

2 "Economics is a study of man's action in the ordinary business of life. It enquires how he gets his income and how he uses it. Thus, it is on one side a study of wealth and on the other and more important side a part of the study of man." (Marshall : Economics of Industry)

कल्याणकारी स्वरूप प्रदान किया है तथा उनकी यह परिभाषा अर्थशास्त्रियों द्वारा बिना किसी आपत्ति के अपनाई गई है, फिर भी उसमें कुछ ऐसे दोष बताए गए हैं जिनके कारण यह पूर्ण स्पष्ट एवं वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। प्रोफेसर राबिन्स ने, सन् १६३२ में अपनी पुस्तक 'एन एस्से आन दी नेचर एण्ड सिगनीफिकन्स आफ इकोनोमिक साइन्स' (An Essay on the Nature and Significance of Economic Science) में मार्शल और अन्य भौतिकवादी अर्थशास्त्रियों के विचारों की कटु आलोचना की है। उनकी आलोचनायें इस प्रकार हैं :—

(१) इस परिभाषा के द्वारा अर्थशास्त्र का क्षेत्र अनावश्यक रूप से संकुचित हो जाता है क्योंकि इसके अन्दर अर्थशास्त्र के समस्त साधारणीकरण (Generalisations) निहित नहीं है। मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवहार में मनुष्य जाति का अध्ययन है। इसका अर्थ यह हुआ कि अर्थशास्त्र में मानव जीवन के असाधारण व्यवसायों का अध्ययन नहीं किया जाता। असाधारण व्यवसायों से तात्पर्य अपूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार, युद्ध अर्थव्यवस्था आदि से है। इसी प्रकार 'सुख के साधनों' वाक्यांश के पहले भौतिक शब्द का प्रयोग भी अर्थशास्त्र के क्षेत्र को सीमित कर देता है। किन्तु अर्थशास्त्र के वास्तविक अध्ययन में भौतिक और अभौतिक दोनों मिले रहते हैं और हम 'भौतिक' और 'अभौतिक' के बीच आर्थिक क्रियाओं का विभाजन नहीं कर सकते हैं। चाहे एक श्रमिक का कार्य हो या एक अध्यापक का, दोनों की ही सेवायें स्वरूप होने के कारण अपना-अपना मूल्य रखती हैं और दोनों का ही अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है। इसी तरह यह भी जरूरी नहीं है कि प्रत्येक साधन में मानव के भौतिक सुख में वृद्धि होती हो। एक श्रमिक के कार्य से मानव के भौतिक कल्याण में वृद्धि हो सकती है, किन्तु एक अध्यापक के कार्य से नहीं, फिर भी दोनों ही अर्थशास्त्र के अध्ययन की विषय-सामग्री है। इस दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र को केवल मनुष्य के भौतिक कल्याण के कारणों का अध्ययन मानकर मार्शल ने बहुत बड़ी गलती की है। बाद में मार्शल ने भी स्वयं स्वीकार किया है कि नर्तक की सेवायें और व्यवसाय की ख्याति जैसी अभौतिक वस्तुयें भी धन है और अर्थशास्त्र में अध्ययन की जा सकती हैं।

> **मार्शल की परिभाषा की चार आलोचनायें**
>
> (१) अनावश्यक रूप से संकुचित
> (२) मानव कल्याण पर अनावश्यक जोर
> (३) अनिश्चित सामाजिक विज्ञान मानना
> (४) अर्थशास्त्र के वास्तविक स्वरूप को प्रगट करने में असफल।

(२) अर्थशास्त्र का वास्तव में मानव कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

राबिन्स के अनुसार यह विचार अर्थशास्त्र के क्षेत्र से परे है और मार्शल ने अर्थशास्त्र को जबरदस्ती कल्याण से सम्बद्ध किया है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक आर्थिक क्रिया से मानव हित में वृद्धि होती हो और दूसरे यह कि 'कल्याण' एक भावनात्मक एवं व्यक्ति सापेक्ष विचार है और उसे मापा नहीं जा सकता। बहुत से आर्थिक कार्य ऐसे होते हैं जो मानव-सुख में वृद्धि करने की अपेक्षा उनका अहित करते हैं, जैसे युद्ध-सामग्री का निर्माण, वेश्यावृत्ति, शराब बनाना और बेचना आदि, फिर भी इनका अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जा सकता है। मानव सुख का न तो ठीक-ठीक माप हो सकता है और प्रत्येक व्यक्ति और परिस्थिति में प्रत्येक कार्य से होने वाला मानव-सुख एक समान होता है। फिर, हित-अहित का विचार नीतिशास्त्र का कर्तव्य है। इसलिए प्रोफेसर राबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र का कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

(३) प्रोफेसर मार्शल ने अर्थशास्त्र को एक सामाजिक विज्ञान प्रतिपादित किया है और इस प्रकार आर्थिक अध्ययन को अनिश्चित, अस्थिर एवं अवास्तविक बना दिया है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र सामाजिक, सामान्य और वास्तविक मनुष्यों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। सामाजिक और असामाजिक, सामान्य और असामान्य, वास्तविक और अवास्तविक तथा आर्थिक और अनार्थिक में जो भेद किया गया है, वह कठिन, त्रुटिपूर्ण और अनुचित है। अर्थशास्त्र जिस तरह समाज में रहने वाले साधारण मनुष्य का अध्ययन करता है, उसी तरह समाज से बाहर रहने वाले या असाधारण मनुष्यों का अध्ययन भी करता है। राबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र मनुष्य के स्वभाव और व्यक्तिगत चरित्र की विशेषताओं में रुचि नहीं लेता। अर्थशास्त्र सभी प्रकार के मनुष्यों की सभी प्रकार की क्रियाओं के आर्थिक पहलू का अध्ययन करता है और उसके सब नियम सुनिश्चित एवं पूर्णतः वैज्ञानिक हैं।

(४) मार्शल की परिभाषा अर्थशास्त्र के वास्तविक स्वरूप को बतलाने में असफल रही है। मार्शल ने आर्थिक और अनार्थिक क्रियाओं में अनुपयुक्त विभाजन किया है और आर्थिक क्रियाओं को धन सम्बन्धी क्रियायें कहा है। वास्तव में मानव व्यवहार का आर्थिक और अनार्थिक में भेद नहीं किया जा सकता है। हम यह नहीं कह सकते कि अमुक क्रिया आर्थिक है और अमुक अनार्थिक। फिर केवल धन से सम्बन्धित होने के कारण ही आर्थिक क्रिया नहीं हो जाती। राबिन्स के अनुसार आर्थिक क्रिया 'उद्देश्यों और दुर्लभ तथा वैकल्पिक उपयोग वाले साधनों के सम्बन्ध को प्रकट करती हैं और आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए इन साधनों का मितव्ययितापूर्ण उपयोग ही आर्थिक समस्या का मूल हैं। इस प्रकार मार्शल आर्थिक समस्याओं के वास्तविक स्वरूप को निरूपित करने में असफल रहे हैं।

केनन की परिभाषा :–

प्रोफेसर केनन ने अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हुये लिखा है कि अर्थशास्त्र भौतिक सुख के कारणों का अध्ययन है। उन्हीं के शब्दों में—

"अर्थशास्त्र का ध्येय उन सामान्य कारणों की छानबीन करना है जिन पर मनुष्यों का भौतिक सुख निर्भर है।" (—केनन : प्रारम्भिक राज्य अर्थव्यवस्था)

"The aim of Political Economy is the exploration of general causes on which the material welfare of human beings depends."

—Cannon : Elementary Economy.

केनन की परिभाषा तीन आलोचनायें
(१) मार्शल का अनुमोदन।
(२) भौतिकता और मानव सुख पर अनावश्यक जोर।
(३) अर्थशास्त्र का वास्तविक स्वरूप प्रगट करने में असफल।

केनन की परिभाषा को देखने से स्पष्ट है कि मार्शल और उनकी परिभाषा में एक ही विचार का प्रतिपादन किया गया है। मार्शल ने भौतिक हित के साधनों की प्राप्ति और उपयोग को तथा केनन ने भौतिक हित के कारणों को अर्थशास्त्र की अध्ययन सामग्री मानाना है। दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। मार्शल की ही भांति इनकी परिभाषा क्लासिकल अर्थशास्त्रियों से तो श्रेष्ठ है, किन्तु राबिन्स की आलोचनाओं से नहीं बच सकी है। भौतिकता और मानव-सुख के विचारों के सम्बन्ध में उठाये गये आक्षेप और आपत्तियां केनन की परिभाषाओं पर भी प्रभावशील हैं।

पीगू की परिभाषा :—

पीगू की परिभाषा तीन नवीनतायें
(१) अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान।
(२) आर्थिक कल्याण।
(३) द्रव्य का मापदण्ड।

प्रो० पीगू भी मार्शल के अनुयायियों में से माने जाते हैं किन्तु उन्होंने अर्थशास्त्र की परिभाषा में कुछ सुधार किया है। उन्होंने अर्थशास्त्र की निम्न परिभाषा दी है—

"अर्थशास्त्र आर्थिक कल्याण का अध्ययन है और आर्थिक कल्याण से हमारा अभिप्राय सामाजिक कल्याण के उस भाग से है, जिसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से द्रव्य के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।" —पीगू–कल्याण–अर्थशास्त्र[1]

पीगू की उपरोक्त परिभाषा, पिछली परिभाषाओं की तुलना में तीन

1. Economics is the study of economic welfare, economic welfare being that part of social welfare which can be brought directly or indirectly into relationship with the measuring rod of money."

—Pigou : Economics of Welfare

नवीनतायें प्रस्तुत करती हैं :—

(१) अर्थशास्त्र का सम्बन्ध आर्थिक हित से है। आर्थिक हित को अध्ययन का आधार मान लेने से अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान का रूप धारण कर लेता है। आदर्श विज्ञान होने के कारण प्रत्येक अर्थशास्त्री का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि लक्ष्यों की खोज करने के उपरान्त उनके हित-अहित को स्पष्ट करे और साथ ही इनकी पूर्ति के आदर्श भी निर्धारित करे। पीगू के अनुसार अर्थशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है और "हम अर्थशास्त्र का अध्ययन एक दार्शनिक की भांति केवल ज्ञान के लिए ज्ञान की प्राप्ति के हेतु नहीं करते हैं, किन्तु एक शरीर वैज्ञानिक की भांति करते हैं जो कि ज्ञान इसलिए प्राप्त करते हैं कि ज्ञान के द्वारा स्वास्थ्य लाभ में सहायता कर सकें।"

(२) पीगू ने भौतिक सुख की अपेक्षा आर्थिक कल्याण की कल्पना की है। यह आर्थिक कल्याण सामाजिक कल्याण का वह भाग है जो कि मुद्रा द्वारा मापनीय हो। इस प्रकार सभी भौतिक और अभौतिक वस्तुयें और सेवायें जोकि द्रव्य में हैं अर्थशास्त्र की अध्ययन सामग्री है। इस प्रकार पीगू ने आर्थिक कल्याण को एक व्यावहारिकता प्रदान की है और साथ ही साथ अर्थशास्त्र के क्षेत्र को भी अधिक व्यापक बना दिया है।

(३) पीगू के अनुसार अर्थशास्त्र में सामाजिक कल्याण के उस भाग का अध्ययन होता है, जिसका द्रव्य के मापदण्ड से सम्बन्ध किया जा सके। इस प्रकार उन्होंने एक द्रव्य युक्त समाज की कल्पना की है और अर्थशास्त्री को उन तत्वों के अध्ययन से बचाया है जो कि द्रव्य से सम्बद्ध नहीं किये जा सकते।

मार्शल और केनन की परिभाषाओं की भांति पीगू की परिभाषा की आलोचना की गई है। मार्शल की परिभाषा की आलोचनायें तो पीगू पर लागू होती ही हैं, उनके अतिरिक्त पीगू ने जो नया दृष्टिकोण सुझाया है, उसकी भी आलोचना की गई है।

(१) पीगू ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित और संकुचित कर दिया है। उनके अनुसार सामाजिक कल्याण के उस भाग का अध्ययन किया जाता है जो कि द्रव्य से सम्बद्ध हो। इस प्रकार अर्थशास्त्र केवल द्रव्य युक्त समाज से सम्बन्धित रह जाता है, जबकि वास्तव में अर्थशास्त्र द्रव्यहीन और समाज से बाहर की दशाओं में भी आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करता है।

पीगू की परिभाषा की तीन आलोचनायें
(१) सीमित और संकुचित
(२) हित का दोषपूर्ण विभाजन
(३) अन्य विज्ञानों से अन्तर अस्पष्ट

(२) हित का विभाजन 'आर्थिक' और 'अनार्थिक' में नहीं किया जा सकता है। हित एक सम्पूर्ण है—प्रवाहमान सम्पूर्ण—जिसका कभी विभाजन नहीं हो सकता

वह जहाँ आर्थिक है, वहीं अनार्थिक भी। हित का एक भाग दूसरे पर इतना निर्भर होता है कि उनमें स्पष्ट कोई अन्तर नहीं किया जा सकता है। वास्तव में मानव-हित एक ऐसा विचार है कि उसे मुद्रा के मापदण्ड से सम्बद्ध भी नहीं किया जा सकता। या तो हमें हित का विचार छोड़ देना होगा या हित और मुद्रा को पर्याय मान लेना होगा। ऐसा करने से तो अर्थशास्त्र अत्यन्त निकृष्ट विज्ञान हो जायगा। इसलिये यह कहना गलत है कि पीगू ने अर्थशास्त्र को कोई व्यावहारिकता या वैज्ञानिकता प्रदान की है।

(३) पीगू ने अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान मानकर भूल की है। आदर्श विज्ञान मान लेने पर अर्थशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों का अन्तर स्पष्ट करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। साथ ही अर्थशास्त्री आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन और आर्थिक समस्याओं के निदान को भूल कर *आदर्शों की खोज और मानव व्यवहार की आलोचना* में उलझ जायगा। इस प्रकार पीगू ने अर्थशास्त्र के स्वभाव को समझने में भूल की है और परिणामत: आर्थिक अध्ययन को अनिश्चित एवं अस्थिर तथा अपूर्ण बना दिया है। वास्तव में पीगू ने अर्थशास्त्र को आर्थिक कल्याण का अध्ययन कह कर ही गल्ती है। अर्थशास्त्र कल्याण पर आधारित नहीं हो सकता, क्योंकि सभी आर्थिक क्रियायें कल्याणकारी हों यह जरूरी नहीं और फिर मुद्रा के मापदण्ड से उन सभी को सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।

राबिन्स की परिभाषा :—

आर्थिक विचारधारा के इतिहास के अन्तर्गत प्रोफेसर लियोनल राबिन्स की अर्थशास्त्र की परिभाषा अत्यन्त क्रान्तिकारी मानी जाती है। प्रो० राबिन्स ने जहाँ मार्शल, केनन और पीगू आदि भौतिकवादियों की जमकर आलोचना की है, वहीं आर्थिक अध्ययन के लिए तर्कयुक्त एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार—

"*अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले सीमित साधनों के मध्य सम्बन्ध के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।*"[1]

(राबिन्स—'आर्थिक विज्ञान के स्वभाव एवं क्षेत्र पर एक प्रबन्ध' में)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राबिन्स के अनुसार आर्थिक समस्या का जन्म चार बातों से होता है—(१) मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त होती हैं, (२) इनको पूर्ण करने के साधन सीमित होते हैं, (३) ये सीमित साधन वैकल्पिक उपयोग वाले होते हैं और (४) इन आवश्यकताओं की तीव्रता भिन्न २ होती है और मनुष्य कुछ आवश्यकताओं को अन्य की अपेक्षा प्राथमिकता देता है। ये चारों बातें मिलकर आर्थिक

1 Economics is the science which studies human behavior as a relationship between ends and scarce means which have alternate uses.

[Robbins : An Essay on the Nature and Significance of Economic Science]

समस्या को जन्म देते हैं। किसी एक के अभाव में आर्थिक समस्या का जन्म नहीं हो सकता है। साधनों के असीमित होने पर, आवश्यकताओं के कम होने पर, साधनों के उपयोग के विकल्प न होने पर या आवश्यकताओं की तीव्रता समान होने पर मित्तव्ययता की या आवश्यकताओं में चुनाव की समस्या ही उत्पन्न नहीं होती। अतः अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सीमित साधनों की व्यवस्था से है और अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के कार्यकलापों का अध्ययन इस दृष्टि से करता है कि वे उसके उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले सीमित साधनों के बीच क्या सम्बन्ध स्थापित करते हैं ?

प्रो० राबिन्स की परिभाषा का औचित्य स्वयं में स्पष्ट है, क्योंकि वह जहाँ आर्थिक क्रियाओं का स्वरूप निर्धारित करती है, वहीं अर्थशास्त्र के अध्ययन का आधार भी निश्चित करती है। वास्तव में यह परिभाषा स्पष्ट कर देती है कि अर्थशास्त्र में क्या, कैसे और क्यों अध्ययन किया जाता है और परिभाषा में जो विचार प्रगट किये गए हैं, वे सम्पूर्ण आर्थिक अध्ययन में निभाए जा सकते हैं। राबिन्स की परिभाषा अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक बना देती है। राबिन्स ने परम्परावादी परिभाषाओं में प्रतिपादित साधारण और असाधारण, आर्थिक और अनार्थिक, भौतिक और अभौतिक, सामाजिक और असामाजिक तथा हितकारी और अहितकारी का भेद त्याग दिया है।

उनके अनुसार अर्थशास्त्र में सभी मनुष्य की सभी क्रियाओं का अध्ययन किया जा सकता है, बशर्ते कि उनसे उद्देश्यों और वैकलिपक उपयोग वाले स्वल्प साधनों का सम्बन्ध प्रगट होता है। इसके अतिरिक्त राबिन्स ने अर्थशास्त्र का स्वभाव भी निश्चित किया है। वे उसे सामाजिक विज्ञान के स्थान पर मानव-विज्ञान का स्थान देते हैं। उनके अनुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान और केवल वास्तविक विज्ञान है, न तो वह आदर्श विज्ञान है और न कला ही। अर्थशास्त्र में मानव व्यवहार की उसी रूप में व्याख्या होती है जैसा कि वह पाया जाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र न तो मानव-कल्याण से सम्बन्ध रखता है और न अर्थशास्त्री यह अध्ययन करता है कि मानव-व्यवहार कैसा होना चाहिये।

इन विशेषताओं के बावजूद भी मार्शल और पीगू के परम्परागत भौतिकवादी और कल्याणप्रिय अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें फ्रेजर, वेवरिज, डरबिन, व्हेवलिन, माईकेल, क्लार्क और मिसेज वूटन प्रमुख हैं राबिन्स की परिभाषा की कटु आलोचना की है।

इन अर्थशास्त्रियों ने रोबिन्स की परिभाषा की अनेक आधारों पर आलोचना की है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण आधार निम्नलिखित हैं:—

(१) राबिन्स ने साधनों और उद्देश्यों के बीच जो किया है वह स्पष्ट

नहीं है। साधन तथा उद्देश्यों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आज उद्देश्य है, वही बाद में साधन भी हो सकता है। एक कार, जब तक हम उसे प्राप्त नहीं कर लेते, हमारे लिये उद्देश्य है, किन्तु वही कार, जब हम उसे प्राप्त कर लेते हैं, हमारे अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साधन हो जाती है।

(२) मनुष्य का एक ही अन्तिम उद्देश्य है, इच्छाओं को सतुष्ट करना अथवा अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना। शेष अन्य उद्देश्य इस अन्तिम लक्ष्य के सहायक लक्ष्य हैं। राबिन्स ने इस बात को ठीक-ठीक नहीं समझा, तभी तो उसने उद्देश्यों के अनन्त होने की बात कही है।

(३) राबिन्स ने साधनों पर अनुचित रूप से जोर दिया है और यह ठीक नहीं है कि अर्थशास्त्र साध्यों की अपेक्षा साधनों का अध्ययन है। ऐसा कहकर राबिन्स ने अर्थशास्त्र को पुनः धन का विज्ञान बना दिया है, क्योंकि दुर्लभ और उपयोगी साधन धन ही होते हैं।

(४) राबिन्स ने अर्थशास्त्र को उद्देश्यों के प्रति तटस्थ और निरपेक्ष बताकर निरुपयोगी तथा अव्यवहारिक विज्ञान बना दिया है। इस प्रकार, फ्रेजर के शब्दों में, अर्थशास्त्र 'मूल सिद्धान्त' और 'साम्य विश्लेषण' से अधिक कुछ नहीं रह जाता और अगर यह सम्भव होता तो आज के युग में आर्थिक नियोजन का महत्व कुछ भी नहीं रह जाता।

(५) राबिन्स ने अपनी परिभाषा में साधनों के साथ "वैकल्पिक प्रयोग" विशेषण व्यर्थ में लगाया है, क्योंकि सभी साधन वैकल्पिक प्रयोग वाले होते हैं।

(६) राबिन्स ने यह भी ठीक नहीं माना है कि मनुष्य प्रत्येक समय ऐसा कार्य करता है जिससे कि उसे अधिकतम संतोष मिले। मनुष्य को विभिन्न उपयोगिताओं में तुलना करने का अवसर ही नहीं मिलता और वह अधिकांश व्यय बिना सोचे समझे करता है।

(७) राबिन्स ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अनावश्यक रूप से अत्यन्त व्यापक बना दिया है। आर्थिक अध्ययन के लिये जिन रीतियों का उपयोग होता है, वह इतने विस्तृत अध्ययन के उपयुक्त नहीं है।

(८) राबिन्स ने 'व्यवहार' शब्द का जो प्रयोग किया है वह स्पष्ट नहीं है। अर्थशास्त्र में मुख्यतः आर्थिक क्रियाओं या प्रवृत्तियों का अध्ययन होता है, जबकि व्यवहार शब्द में और भी अनेक बातें सम्मिलित हो सकती हैं।

(९) कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि राबिन्स ने अर्थशास्त्र से "कल्याण" का अध्ययन समाप्त कर, उसका क्षेत्र संकुचित कर दिया है। उसमें मूल्यांकन पर अधिक बल दिया गया है जबकि आर्थिक अध्ययन के अन्य पहलुओं की उपेक्षा की गई है। "राबिन्स की परिभाषा ने पहले से ही विद्यमान सामग्री की देखभाली नहीं

की, परन्तु शहर के पहले से ही विद्यमान कुछ भाग को शहर चारदीवारी के बाहर छोड़ दिया है।"

(१०) अर्थशास्त्र की जो परिभाषा राबिन्स ने दी है, वह अर्थशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अन्तर को स्पष्ट नहीं करती है। राबिन्स ने अर्थशास्त्र को चयन विज्ञान माना है और इस तरह एक व्यक्ति यह चुनाव कर रहा हो कि वह सच बोले या झूंठ तो यह समस्या नीति शास्त्र की होकर भी अर्थशास्त्र में आ जाती है।

(११) राबिन्स की यह विचारधारा कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है, आदर्श विज्ञान और कला कहीं भी सही नहीं है। अर्थशास्त्र जहाँ उद्देश्यों की पूर्ति के ढंग का अध्ययन करता है तो वह कला का रूप धारण कर लेता है और जब हम विकल्पों का निर्णय करते हैं तो स्वयं को 'श्रेय' की कल्पना से पृथक नहीं कर सकते। श्रीमती वूटन ने ठीक ही कहा है कि "अर्थशास्त्रियों के लिए नैतिक महत्व की विवेचना से पूर्णतया पृथक होना अत्यन्त कठिन है।" ऐसा करने से अर्थशास्त्र उन अपेक्षाओं को पूर्व नहीं कर सकता जो कि कल्याणकारी राज्य में उससे की जाती है।

(१२) राबिन्स ने आर्थिक निष्कर्षों पर पहुंचने के लिये निगमन प्रणाली का आश्रय लिया है। जबकि श्रेष्ठ निष्कर्ष के लिये आगमन और निगमन दोनों प्रणालियों के प्रयोग की आवश्यकता है।

(१३) राबिन्स ने आर्थिक नियमों को प्राकृतिक विज्ञान के नियमों की भाँति निश्चित, अटल और अपरिवर्तनशील माना है, जबकि अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य है और मनुष्य का व्यवहार, स्वभाव और वातावरण परिवर्तनशील होता है।

(१४) राबिन्स अर्थशास्त्र का अध्ययन स्थिर स्तर से करता है जबकि आर्थिक समस्या के सभी आधार परिवर्तनशील होते हैं। अर्थव्यवस्था स्वयं गतिशील है और स्थिर विश्लेषण अधिक उपयोगी नहीं हो सकता।

(१५) राबिन्स ने उस अवस्था की कल्पना नहीं की जबकि मानव-सुख अधिकतम होता है और की भी है तो प्रोफेसर मेहता के अनुसार गलत है, क्योंकि सुख प्राप्ति आवश्यकताओं की पूर्ति में निहीत न होकर उनके लोप में है।

हमारी राय में प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा की ये आलोचनाएं विशेष महत्व नहीं रखती हैं। राबिन्स की यह परिभाषा सरल और व्यवहारिक चाहे न हो, किन्तु तर्क पूर्ण, वैज्ञानिक और निश्चित अवश्य है। आर्थिक अध्ययन के अन्तर्गत साध्यों और साधनों की अलग अलग व्याख्या की जा सकती है। साध्यों के प्रति निरपे[illegible] सकता है। सभी साधन वास्तव में दुर्लभ और वैकल्पिक उपयोग वाले हैं [illegible]ों के विभिन्न वैकल्पिक उपयोग में आर्थिक समस्या का निदान है और

मानव व्यवहार का आर्थिक पहलू ही अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है रॉबिन्स ने मानवीय क्रियाओं के वर्गीकरण की जो अपेक्षा की है और इस प्रकार अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विस्तार किया है वह उचित है। और अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मान लेने से उसकी उपयोगिता समाप्त नहीं हो जायेगी। उचित-अनुचित का प्रश्न नीतिशास्त्र का विषय है और मानव सुख की वृद्धि होगी या ह्रास—यह मनुष्यों के अपने विचार करने का विषय है। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र को व्यावहारिक बातों से मिलाना कोई उचित नहीं है। अर्थशास्त्र कल्याणकारी कार्यों की मनाही नहीं करता है। आर्थिक नियोजन के सिद्धांत अर्थशास्त्र के सिद्धांत हैं और व्यवहारिक नियोजन का औचित्य उससे परे है। इन सब बातों को देखते हुए हम कह सकते है कि रॉबिन्स की परिभाषा, यदि उसका सही और पर्याप्त अर्थ लिया जाए तो, अन्य परिभाषाओं से श्रेष्ठ है।

Q. "Economics is a science that studies human behaviour as a means to the end of wantlessness." How to do you agree with the statement ? Give reasnos. (Vikram 1964 M. A.)

प्रश्न—"अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो आवश्यकताहीन अवस्था के हेतु एक साधन के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।" (जे० के० मेहता) इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ? कारण दीजिए। (विक्रम १९६४ एम० ए०)

उत्तर—

"A placid of serenity is the highest ideal of life; that it is the part of the wise man to root out of his nature as many wants and desires as he can; that real riches consist not in abundance of goods but in scarcitey of wants." —Mahatma Buddha.

महात्मा बुद्ध के उपरोक्त विचारों से प्रभावित होकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० जे० के० मेहता ने अर्थशास्त्र की जो परिभाषा दी है, वह अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सम्बन्ध से जहाँ रॉबिन्स के विचारों का समर्थन करती है, वहां आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के सम्बन्ध मे पृथक विचार प्रस्तुत करती है। पाश्चात्य परिभाषाओं के अनुसार अर्थशास्त्र का वास्तविक लक्ष्य अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना है जो कि तभी पूर्ण हो सकता है जबकि साधनों द्वारा अधिकतम आवश्यकताएँ संतुष्ट की जा सकें। इस प्रकार इन परिभाषाओं मे आवश्यकताओं की वृद्धि पर जोर दिया गया है। सादा जीवन उच्च विचार के आदर्श से प्रभावित हो डा० मेहता ने आवश्यकताओं की वृद्धि का विरोध किया है और कहा है कि मनुष्य को अधिकतम सुख प्राप्त करने के लिए अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करना चाहिए।

अपने विचारों का प्रतिपादन करते हुए प्रो० मेहता कहते हैं कि मानव व्यव-

की, परन्तु शहर के पहले से ही विद्यमान कुछ भाग को शहर चारदीवारी के बाहर छोड़ दिया है।"

(१०) अर्थशास्त्र की जो परिभाषा राबिन्स ने दी है, वह अर्थशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अन्तर को स्पष्ट नहीं करती है। राबिन्स ने अर्थशास्त्र को चयन विज्ञान माना है और इस तरह एक व्यक्ति यह चुनाव कर रहा हो कि वह सच बोले या झूंठ तो यह समस्या नीति शास्त्र की होकर भी अर्थशास्त्र में आ जाती है।

(११) राबिन्स की यह विचारधारा कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है, आदर्श विज्ञान और कला कहीं भी सही नहीं है। अर्थशास्त्र जहाँ उद्देश्यों की पूर्ति के ढंग का अध्ययन करता है तो वह कला का रूप धारण कर लेता है और जब हम विकल्पों का निर्णय करते हैं तो स्वयं को 'श्रेय' की कल्पना से पृथक नहीं कर सकते। श्रीमती वूटन ने ठीक ही कहा है कि "अर्थशास्त्रियों के लिए नैतिक महत्व की विवेचना से पूर्णतया पृथक होना अत्यन्त कठिन है।" ऐसा करने से अर्थशास्त्र उन अपेक्षाओं को पूर्व नहीं कर सकता जो कि कल्याणकारी राज्य में उससे की जाती है।

(१२) राबिन्स ने आर्थिक निष्कर्षों पर पहुंचने के लिये निगमन प्रणाली का आश्रय लिया है। जबकि श्रेष्ठ निष्कर्ष के लिये आगमन और निगमन दोनों प्रणालियों के प्रयोग की आवश्यकता है।

(१३) राबिन्स ने आर्थिक नियमों को प्राकृतिक विज्ञान के नियमों की भाँति निश्चित, अटल और अपरिवर्तनशील माना है, जबकि अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य है और मनुष्य का व्यवहार, स्वभाव और वातावरण परिवर्तनशील होता है।

(१४) राबिन्स अर्थशास्त्र का अध्ययन स्थिर स्तर से करता है जबकि आर्थिक समस्या के सभी आधार परिवर्तनशील होते हैं। अर्थव्यवस्था स्वयं गतिशील है और स्थिर विश्लेषण अधिक उपयोगी नहीं हो सकता।

(१५) राबिन्स ने उस अवस्था की कल्पना नहीं की जबकि मानव-सुख अधिकतम होता है और की भी है तो प्रोफेसर मेहता के अनुसार गलत है, क्योंकि सुख प्राप्ति आवश्यकताओं की पूर्ति में निहीत न होकर उनके लोप में है।

मानव व्यवहार का आर्थिक पहलू ही अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है राबिन्स ने मानवीय क्रियाओं के वर्गीकरण की जो अपेक्षा की है और इस प्रकार अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विस्तार किया है वह उचित है [और अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मान लेने से उसकी उपयोगिता समाप्त नहीं हो जायेगी। उचित-अनुचित का प्रश्न नीतिशास्त्र का विषय है और मानव गुण की वृद्धि होगी या ह्रास—यह मनुष्यों के अपने विचार करने का विषय है। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र को व्यवहारिक बातों से मिलाना कोई उचित नहीं है। अर्थशास्त्र कल्याणकारी कार्यों को मना ही नहीं करता है। आर्थिक नियोजन के सिद्धांत अर्थशास्त्र के सिद्धांत हैं और व्यवहारिक नियोजन का औचित्य उससे परे हैं। इन सब बातों को देखते हुए हम कह सकते है कि राबिन्स की परिभाषा, यदि उसका सही और पर्याप्त अर्थ लिया जाए तो, अन्य परिभाषाओं से श्रेष्ठ है।

Q "Economics is a science that studies human behaviour as a means to the end of wantlessness." How to do you agree with the statement? Give reasnos. (Vikram 1964 M. A.)

प्रश्न—"अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो आवश्यकताहीन अवस्था के हेतु एक साधन के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।" (जे० के० मेहता) इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ? कारण दीजिए। (विक्रम १९६४ एम० ए०)

उत्तर—

"A placid of serenity is the highest ideal of life; that it is the part of the wise man to root out of bis nature as many wants and desires as he can; that real riches consist not in abundance of goods but in scarcitey of wants." —Mahatma Buddha.

महात्मा बुद्ध के उपरोक्त विचारों से प्रभावित होकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० जे० के० मेहता ने अर्थशास्त्र की जो परिभाषा दी है, वह अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सम्बन्ध से जहाँ राबिन्स के विचारों का समर्थन करती है, वहां आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के सम्बन्ध मे पृथक विचार प्रस्तुत करती है। पाश्चात्य परिभाषाओं के अनुसार अर्थशास्त्र का वास्तविक लक्ष्य अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना है जो कि तभी पूर्ण हो सकता है जबकि साधनों द्वारा अधिकतम आवश्यकताएँ संतुष्ट की जा सकें। इस प्रकार इन परिभाषाओं मे आवश्यकताओं की वृद्धि पर जोर दिया गया है। सादा जीवन उच्च विचार के आदर्श से प्रभावित हो डा० मेहता ने आवश्यकताओं की वृद्धि का विरोध किया है और कहा है कि मनुष्य को अधिकतम सुख प्राप्त करने के लिए अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करना चाहिए।

अपने विचारों का प्रतिपादन करते हुए प्रो० मेहता कहते हैं कि मानव व्यव-

परन्तु मानव मस्तिष्क का यह स्वभाव है कि वह असंतुलन को पसन्द नहीं करता और संतुलन की स्थिति की प्राप्ति का निरन्तर प्रयत्न करता है क्योंकि असंतुलन दुःख है और संतुलन सुख है। प्रो० मेहता ने संतुलन या सुख की प्राप्ति की दो रीतियाँ बताई हैं। पहली रीति तो यह है कि हम बाहरी शक्तियों को समायोजित या नियंत्रित किया जाए जिससे संतुलन स्थापित होता है। इसे हम दूसरे शब्दों में मस्तिष्क द्वारा बनाया गया साधनों का उपयोग भी कह सकते हैं। संतुलन प्राप्ति की यह रीति दो बातों से सीमित है—(i) किसी विद्यमान आवश्यकता को पूरा करने के लिए जो क्रिया की जाती है, उससे नई आवश्यकताएँ जन्म लेती है, और (ii) सभी आवश्यकताओं को एक साथ पूरा नहीं किया जा सकता। अतः इस रीति से पूर्ण संतुलन प्राप्त करना असम्भव है। प्रो० मेहता के अनुसार मस्तिष्क के संतुलन की प्राप्ति की दूसरी मुख्य रीति यह है कि मस्तिष्क को शिक्षित किया जाए और इस दशा में रखा दिया जाए कि वह बाहरी शक्तियों के प्रति प्रतिक्रिया दिखाए और वातावरण के प्रति चिन्तित एवं दुखी न होकर उसके प्रति उदासीन रहे।

इस प्रकार प्रो० मेहता के अनुसार मानव-व्यवहार का अंतिम लक्ष्य अधिकतम सुख प्राप्त करना है, किन्तु यह सुख केवल संतुष्टि नहीं है जो कि आवश्यकताओं की पूर्ति से होती है। उनके अनुसार—"सुख हमारे मानसिक स्वत्व के संतुलन में होने की अनुभूति है। दुःख 'स्व' के असंतुलन में होने की अनुभूति है और आनन्द वह अनुभूति है कि असंतुलन से संघर्ष किया जा रहा है और वह कम हो रहा है।"

अतः हमें अधिकतम सुख उसी दशा में प्राप्त होगा जबकि मस्तिष्क पूर्णतः स्थिर एवं संतुलन में हो। यह संतुलन बाहरी शक्तियों एवं वातावरण के प्रति प्रतिक्रियाओं से मस्तिष्क के मुक्त एवं स्वतंत्र होने पर भी प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण की दशा में जबकि मनुष्य वीतराग हो जाता है। मानव का अधिकतम सुख निहित है और निर्वाण या मोक्ष को हम मानव व्यवहार का अंतिम लक्ष्य स्वीकार कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपनी इन्द्रियों और इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और आवश्यकता रहित अवस्था में पहुँच जाता है।

इस प्रकार वास्तविक सुख आवश्यकता बढ़ाने मे नही, किन्तु उन्हें कम करने में है अतः मेहता साहब ने आवश्यकताओं से मुक्ति प्राप्त करने की समस्या को ही आर्थिक समस्या बतलाया है, और कहा है—"अर्थशास्त्री का एक कार्य तो यह बताने का है कि क्योंकि अंतिम उद्देश्य अधिकतम आवश्यकताओं की संतुष्टि से प्राप्त नहीं हो सकता इसीलिए मनुष्य को कुछ आवश्यकताओं को छोड़ना सीखना चाहिए और दूसरा कार्य उन उपायों को, जिनसे सफलता पूर्वक अंतिम उद्देश्य प्राप्त किया जा सकता है, सुझाना है।" किन्तु यहाँ पर आवश्यकता कम करने का मतलब आवश्यकताओं के दबाने से नहीं है। क्योंकि कुछ आवश्यकताओं को हटाने का प्रयत्न करना भले ही सफल हो, और अधिक तथा अधिक शक्तिशाली इच्छाओं को जन्म देना है इसलिए हमे यह नही सोचना चाहिए कि अंतिम उद्देश्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम एवं सरलतम उपाय प्रत्येक इच्छा का अवरोध करना है।" इसलिए आवश्यकता-विहीनता की स्थिति को धीरे धीरे ही प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि सब इच्छाओं को एक साथ कम नही किया जा सकता है, इसलिए हमारे सामने एक निर्वाचन की समस्या पैदा होती है कि किन आवश्यकताओं को कम कर दिया जाए और किन को सन्तुष्ट किया जाए। यह निर्णय कुछ नियमो द्वारा सचालित होते हैं जिनकी खोज करना अर्थशास्त्रियो का काम है जो प्रो० मेहता सुझाते हैं कि मनुष्य को अपनी इच्छाएँ धीरे धीरे कम करनी चाहिए। पहले तो वे इच्छाएँ कम की जाये जिनको पूरा करने में वह असमर्थ है। इससे केवल वे ही इच्छाएँ बची रहेगी जिन्हे पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार अपने साधनों की सीमा तक अपनी इच्छाओं को कम कर लेना अंतिम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमारा पहला कदम होगा।

उपरोक्त विवेचना से प्रोफेसर मेहता के अर्थशास्त्र के उद्देश्य के सबंध मे विचार बिल्कुल स्पष्ट है। उन्होंने अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हुए कहा है—

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो आवश्यकताहीन अवस्था के उद्देश्य के लिए, दुखों के कारण समस्त आवश्यकताओ के सम्पूर्ण लोप के लिए, साधन के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।"*

(प्रो० जे० के० मेहता एडवान्ड इकनामिक थ्योरी)

प्रोफेसर मेहता और प्रोफेसर राबिन्स के विचारों की तुलना—

यो देखा जाए तो प्रोफेसर मेहता ने प्रोफेसर राबिन्स के विचारो को एक ओर स्वीकार किया है और दूसरी ओर वे उनसे भी आगे बढ़ गये हैं। दोनों अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्थशास्त्र मानव व्यवहार के चुनाव पहलू का अध्ययन करते

*Economics is the science which studies human behavior as a means to the end of wantlessness, total elimination of all wants which are sources of plain."

—Prof. J. K. Mehta : Advanced Economic Theory.

को लक्ष्य घोषित कर उन्होंने अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के समकक्ष स्थान प्रदान करने का प्रयत्न किया है, वहीं वे उसे धर्म और नीतिशास्त्र से पृथक करने में असफल रहे हैं। सुख, दुख, आनन्द, इच्छा, मानसिक 'स्व' और संतुलन आदि के विचारों के कारण दर्शन, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और धर्म का मिश्रण अर्थशास्त्र में हो गया है। राबिन्स के शब्दों मे, अर्थशास्त्र जाँचने योग्य तथ्यों का वर्णन करता है और नीतिशास्त्र मूल्यांकन एवं अनुग्रहों का। खोज के दोनो क्षेत्र चर्चा के एक ही स्तर पर नहीं हैं। इसलिये मेहता साहब को अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये किन्हीं अन्य शब्दों का प्रयोग करना चाहिये था।

अन्त में प्रोफेसर मेहता ने अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान मानकर उसे अध्ययन एवं नियमों को अस्थिर, अनिश्चित एवं अवास्तविक बना दिया है। वास्तव में अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है और आदर्शों के प्रति निरपेक्ष है।

प्रोफेसर मेहता के विचारों की उपरोक्त आलोचनायें पूर्णरूप से सही नहीं हैं सच पूछा जाय तो प्रो० मेहता के विचार अर्थशास्त्र के महत्व को अत्यन्त बढ़ा देते हैं प्रो० मेहता ने मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य को समस्त सन्दर्भों में स्पष्ट किया है। फिर उन्होंने इस परम सुख की प्राप्ति के स्थायी एवं अस्थायी दोनों ही उपायों को समझाया है। इनका 'सुख' का विचार 'कल्याण' जैसे विचारों से तो अधिक स्पष्ट एवं निश्चित है। निर्वाण को लक्ष्य मान लेने से आर्थिक क्रियायें समाप्त नहीं हो जाती, वह तो निर्वाण प्राप्त करने के बाद ही समाप्त हो सकती हैं और सभी मनुष्य हमेशा के लिये तो निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते हैं, ऐसा करने पर तो संसार नष्ट हो जायगा, इसलिये निर्वाण को लक्ष्य मान लेने से अर्थशास्त्र समाप्त नहीं होगा। इसी प्रकार निर्वाण को लक्ष्य मान लेने से अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का क्षेत्र एक नहीं हो जाता। सभी मानव-विज्ञानों का उद्देश्य 'सुख' प्राप्त करना ही है और यह सुख, आध्यात्मिक सन्दर्भों में, मोक्ष और निर्वाण कहलाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का क्षेत्र इस आधार पर अलग होगा कि अर्थशास्त्र आवश्यकताओं से मुक्ति पाने के उपायों और प्रयत्नों का अध्ययन करता है और नीतिशास्त्र मूल्यांकन के द्वारा हित अहित की व्याख्या करता है और इस प्रकार कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है।

प्रोफेसर मेहता की परिभाषा की आलोचनायें

(१) आध्यात्मिक कल्पनाओं पर आधारित
(२) आवश्यकताओं का अन्त अर्थशास्त्र का अन्त
(३) अधिकतम सन्तोष इच्छाओं के लोप से नहीं मिल सकता
(४) अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में कोई भेद नहीं
(५) आदर्शों के प्रति सापेक्ष

इतना सब होते हुये भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि वर्तमान युग में मनुष्य भौतिक समृद्धि में विश्वास करता है, और आर्थिक विकास आवश्यकताओं की कमी में न होकर उपभोग (आवश्यकताओं की सन्तुष्टि—रहन सहन) और उत्पादन (राष्ट्रीय आय) में वृद्धि से माना जाता है। इस प्रकार वर्तमान आर्थिक क्रियाओं का निरुपण प्रोफेसर मेहता की परिभाषा में नहीं किया गया है और हम उनकी परिभाषा को सर्व सम्मत परिभाषा स्वीकार नहीं कर सकते हैं। भारतीय आध्यात्मवाद के अनुरूप होते हुये भी वह हमें अत्यन्त आदर्शवादी एवं अव्यवहारिक प्रतीत होती है और इस दृष्टि से प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा अधिक श्रेष्ठ कही जा सकती है।

—:०:—

PROF. ROBBINS—

On The Nature And Scope Of Economics

---

1. The borderlands of Economics are happy hunting grounds of the charltan and the quack'
2. Economics deals with ascertainable facts, ethics with valuations and obligations. The two field of enquiry are not on the same plane of discourse.
3. The subject matter of economics is essentially a series of relationship between ends conceived as the possible objectives of conduct, on the one hand, and the technical and social environment on the other. Ends as such do not form part of the subject matter; nor does the social and technical environment.
4. Between the generalisations of positive and normative studies *there is a logical gulf which no ingenuity can disguise and no* juxtaposition in space or time bridge over.
5. All this is not to say that economists should not deliver themselves on ethical questions anymore than an argument that Botany is not æsthetics, that is to say, that botanists should not have their views on the layout of gardens. On the contrary it is greatly to be desired that economists should have speculated long and widely on these matters since only in this way will they be in a position to appreciate the implications as regards given ends of problems which are put to them for solution.

२

अर्थशास्त्र का स्वभाव एवं क्षेत्र

Nature And Scope Of Economics

Q. Is Economics a positive or normative science or both ? Discuss fully in the light of modern development.

(Agra, 1959 M. Com.)

प्रश्न—क्या अर्थशास्त्र वास्तविक या आदर्श या दोनों प्रकार का विज्ञान है ? आधुनिक विकासों के प्रकाश में पूर्ण विवेचन कीजिए ।

(आगरा १९५९ एम० काम०)

"Economic Science is chiefly valuable neither as an intellectual gymnastic, nor as a means of winning truth for its own sake, but as a hand maid of ethics and as a servant of practice." Discuss.

(Vikram 1965 M. A.)

अर्थशास्त्र की उपयोगिता बौद्धिक व्यायाम अथवा सत्य के लिए सत्यान्वेषण के रूप में नहीं, वरन् मुख्यत: नीतिशास्त्र के सहायक एवं व्यवहार के सेवक के रूप में है ।" विवेचन कीजिए । (विक्रम १९६५ एम० ए०)

"The man who tells as that we ought to investigate nature simply to sit still patiently under her, and let her freeze and ruin and starve and stink us to death, is a goose, whether he calls himself a chemist or a political economist." (Charles Kingsley): Discuss the statement and explain clearly whether you consider economics a normative science ? (Vikram 1964 M. Com.)

"वह व्यक्ति चाहे अर्थशास्त्री हो या रसायनशास्त्री एक मुर्गी है जो हमें यह कहता है कि हमने प्रकृति का 'अध्ययन मृत्यु कारक परिणामों को सहन करने के लिए धैर्यपूर्वक करना चाहिये ।" (चार्ल्स किंगसले) । इस कथन को समझाइये ।

(विक्रम १९६४ एम० काम०)

अर्थशास्त्र की जितनी भी विभिन्न परिभाषायें दी गई हैं वे सब यद्यपि अर्थशास्त्र के स्वभाव एवं क्षेत्र के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं, तथापि उसे एक विज्ञान के रूप में स्वीकार करती हैं । इस प्रकार सभी अर्थशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है । किन्तु यह प्रश्न अत्यन्त

विवादास्पद है कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान (Positive science) है अथवा आदर्श विज्ञान (Normative science)। कुछ अर्थशास्त्री इसे केवल वास्तविक विज्ञान मानते हैं और कुछ के अनुसार यह आदर्श विज्ञान भी है। डाक्टर अमर नारायण अग्रवाल ने इस विवाद की ओर संकेत करते हुये कहा है—यदि दो अर्थशास्त्री इस विषय पर कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान, बहस करें तो एक हिमखण्ड भी गल सकता है, किन्तु बहस समाप्त नहीं होगी।

इस विवाद का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम विज्ञान और उसके वास्तविक तथा आदर्श स्वरूप को समझ लें। किसी भी प्रकार का व्यवस्थित ज्ञान जो किन्हीं सिद्धान्तों पर अवलम्बित हो विज्ञान कहलाता है। अन्य शब्दों में विज्ञान ज्ञान का वह स्वरूप है जिसमें अवलोकन और प्रयोगों द्वारा कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये जाते हैं। विज्ञान वस्तु स्थिति का सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं विवेक-पूर्ण विवरण है जिसमें उसके कारण और परिणाम के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है। विज्ञान दो प्रकार का हो सकता है वास्तविक या आदर्श विज्ञान।

विज्ञान क्या है

वास्तविक विज्ञान (Positive Science) के अन्तर्गत हम केवल वास्तविक अवस्था का ही अध्ययन करते हैं। इसका क्षेत्र 'क्या है ?' प्रश्न के उत्तर तक ही सीमित है। यह इस बात को नहीं बतलाता कि यह स्थिति ठीक है या नहीं। इसका उद्देश्य तो केवल कार्यों के कारण और परिणाम को ही प्रकट करना है, न कि उनकी सम्पन्नता के उपायों को बताना। अतः 'क्या होना चाहिये ?' इस प्रश्न के उत्तर पर भी यह प्रकाश नहीं डालता। इसके अन्तर्गत हम वर्तमान स्थिति के अध्ययन तक ही अपना ध्यान केन्द्रित रख सकते हैं, भविष्य के लिये किसी नीति अथवा आदर्श का निर्माण करना इसके क्षेत्र के बाहर की बात है।

वास्तविक विज्ञान

आदर्श विज्ञान (Normative Science) में हम केवल वास्तविक स्थिति का ही अध्ययन नहीं करते, वरन् अपना आदर्श भी निर्धारित करते हैं। आदर्श विज्ञान उन आदर्शों को उपस्थित करता है, जिन्हें प्राप्त करने की हमें चेष्टा करनी चाहिए। यह शास्त्र इस बात का विवेचन करता है कि अमुक आदर्श हितकर होने के कारण वाछनीय है और अमुक अहितकर होने के कारण वाछनीय नहीं है। अन्य शब्दों में यह इस बात से सम्बन्ध रखता है कि "क्या होना चाहिये।"

आदर्श विज्ञान

उपरोक्त विचारों के सन्दर्भ में, अन्य समस्त अर्थशास्त्रियों की भांति, स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है क्योंकि अर्थशास्त्र भी मानव व्यवहार का सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं विवेकपूर्ण अध्ययन है, जो आर्थिक क्रियाओं के कारण और परिणामों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और अन्य विज्ञानों की भांति वह

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है

भी अनेक आर्थिक नियमों पर अवलम्बित है।

किन्तु यह कहना कठिन है कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान। प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्री और आधुनिक यथार्थवादी अर्थशास्त्री जिनमें राबिन्स (Robbins) प्रमुख हैं, अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानते हैं। किन्तु जर्मनी, अमेरिका और पूर्व के अर्थशास्त्री तथा आधुनिक अर्थशास्त्री जो आर्थिक विकास और मानव-सुख में विश्वास करते हैं, अर्थशास्त्र को एक आदर्श विज्ञान मानते हैं।

अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान के रूप में:—
(Economics as a Positive Science)

अर्थशास्त्र को एडम स्मिथ और उनके अनुयायी प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने धन का विज्ञान, मार्शल और उनके अनुयायियों ने भौतिक सुख के साधनों का विज्ञान और राबिन्स ने मानव-व्यवहार का उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले सीमित साधनों के सम्बन्ध के रूप में अध्ययन कहकर पारिभापित किया है, किन्तु इन सभी दृष्टिकोण में अर्थशास्त्र केवल वास्तविक तथ्यों का ही अध्ययन है और इसका 'सही' और 'गलत' के प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं है। निःसंदेह अर्थशास्त्र में अवलोकन, अनुभव एवं परीक्षण के आधार पर मानव-व्यवहार के आर्थिक पक्ष की व्याख्या होती है, किन्तु यह व्याख्या वास्तविकता तक ही सीमित रहती है, वह उसके हित-अहित पर प्रकाश नहीं डालती है। उपभोग का अध्ययन करते हुए उपयोगिता ह्रास-(Diminishing Utility) का उत्पादन का अध्ययन करते हुए उत्पादन ह्रास (Diminishing Returns) एवं प्रतिस्थापना (Substitution) का विनिमय का अध्ययन करते हुए मांग (Demand) और मूल्य (Price) का, वितरण का अध्ययन करते हुये लगान (Rent), मजदूरी (Wages), व्याज (Interest) और लाभ (Profits) का जो अध्ययन और विवेचन अर्थशास्त्र में होता है वह आर्थिक क्रियाओं के कारण और परिणामों का विश्लेपण अवश्य करता है, किन्तु उनकी वांछनीयता अथवा अवांछनीयता पर कोई विचार नहीं प्रकट करता। हम कर-वृद्धि, उसके कारण और प्रभावों की व्याख्या तो कर सकते हैं, किन्तु न तो कर-वृद्धि की सिफारिश कर सकते हैं और न उसका विरोध ही। अर्थशास्त्र के इस वास्तविक विज्ञान के स्वभाव को कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार प्रकट किया है:—

"जनता के प्रति हमारा कर्तव्य उसे केवल यह बता देना है कि क्यों और कैसे ऐसा एक तथ्य किसी अन्य का परिणाम है। चाहे उस निष्कर्ष को स्वीकार किया जाए या अस्वीकार, यह पर्याप्त है कि अर्थशास्त्री इनके कारणों को समझायें, किन्तु परामर्श के रूप में एक शब्द भी न कहे।" —जे० बी० से

"अर्थशास्त्री का उद्देश्य न तो सिफारिश करना और न मना करना है, किन्तु उसका उद्देश्य उन सामान्य सिद्धान्तों का निरूपण करना है जिनकी उपेक्षा करना घातक हो सकता है लेकिन जिन्हें कार्यकर्त्ताओं के एकमात्र या प्रमुख मार्गदर्शक के रूप

में उपयोग करना न तो व्यवहारिक है और न वांछनीय।" —सीनियर

"अर्थशास्त्र 'क्या है' का एक वास्तविक विज्ञान है और वह 'क्या होना चाहिये' की आदर्श विज्ञान होने की प्रवृत्ति नहीं रखता।" —पीगू

"राजनैतिक अर्थशास्त्र लक्ष्यों के सम्बन्ध में उसी प्रकार तटस्थ रहता है, जिस प्रकार कि यन्त्र-विज्ञान रेलवे निर्माण की प्रतिस्पर्धी योजनाओं के चुनाव में होता है।" —कैरनेस

"अर्थशास्त्र कुछ पूर्व निश्चित निर्णय, जिन्हें कि तत्काल एक नीति के रूप में प्रयुक्त किया जा सके, प्रस्तुत नहीं करता। सिद्धान्त की अपेक्षा यह एक विधि है, मस्तिष्क का यंत्र और विचारों की टेकनीक है जो अपने स्वामी को सही निष्कर्षों पर पहुँचने में सहायता देती है।" —जे० एन० कीन्स

राबिन्स के विचार

प्रोफेसर राबिन्स भी इस यथार्थवादि दृष्टिकोण के प्रबल समर्थक हैं। उनके अनुसार अर्थशास्त्र लक्ष्यों के प्रति तटस्थ है और उसका सम्बन्ध साध्यों की अपेक्षा साधनों से है। साधनों की स्वल्पता एवं वैकल्पिक उपयोगशीलता के कारण ही आर्थिक समस्या का उदय होता है और हम केवल साधनों के ही आर्थिक या अनार्थिक होने की चर्चा कर सकते हैं। एक विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल साधनों से है। यदि ये साधन एक निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हों तो यह उन्हें स्वीकार कर सकता है। उसका निर्णय साधनों के औचित्य अथवा प्रयोग के सम्बन्ध में हो सकता है, लेकिन लक्ष्यों के औचित्य के सम्बन्ध में यह निर्णय देने का अधिकारी नहीं है। अतः अर्थशास्त्र लक्ष्य के सन्दर्भ में, चाहे वह उचित हो अथवा अनुचित, साधनों की व्याख्या करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्री लक्ष्यों के औचित्य पर कोई निर्णय नहीं दे सकता है। एक अर्थशास्त्री का कार्य अनुसंधान करना व वास्तविकता को स्पष्ट करना है न कि समर्थन करना या विरोध करना। उसका कार्य एक ऐसे विशेषज्ञ के समान है जो केवल इतना ही बता सकता है कि किन्हीं कार्यों के क्या परिणाम हो सकते हैं, किन्तु एक अर्थशास्त्री के नाते वह इन कार्यों की वाञ्छनीयता पर निर्णय नहीं प्रकट कर सकता। यदि अर्थशास्त्री किसी विषय की अच्छाई या बुराई का उल्लेख करेगा तो उसे इस कार्य के लिए नीतिशास्त्र की सहायता लेनी पड़ेगी जो किसी भी प्रकार से उचित नहीं है, क्योंकि, राबिन्स के ही शब्दों में, "दुर्भाग्यवश तार्किक दृष्टि से यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि दोनों अध्ययनों को किसी भी रूप में संयुक्त किया जा सके, अधिक से अधिक निकट रखा जा सकता है। अर्थशास्त्र जांचने योग्य तथ्यों का अध्ययन करता है, जबकि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मूल्यांकन और दायित्वों से है। अन्वेषण के ये दोनों क्षेत्र समान धरातल पर नहीं हैं। वास्तविक एवं आदर्शवादी अध्ययनों के साधारणीकरणों के बीच में तर्कसम्बन्धी खाई इतनी गहरी है कि उसे न तो कोई कथन ही छिपा सकता है और न

समय और स्थान की कोई निकटता ही पाट सकती है।" इस प्रकार राबिन्स इस विचार को नहीं मानते हैं कि अर्थशास्त्र को व्यवहारिक समस्याओं के हल में सहायता करने के लिये आदर्श विज्ञान बना देना चाहिये। उनके अनुसार अर्थशास्त्र एक विशुद्ध वास्तविक विज्ञान है।

राबिन्स के अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानने के दो कारण

(१) कारण और परिणामों का अध्ययन,

(२) अन्य व्यक्तियों और विज्ञानों के क्षेत्र से अर्थशास्त्र को पृथक करना।

प्रोफेसर राबिन्स ने अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानने के दो कारण मुख्य रूप से बताए है—एक तो हम केवल कारण और परिणामों का सम्बन्ध ही स्थापित कर सकते हैं और दूसरे, अर्थशास्त्री को सभी कार्य नहीं करने चाहिए क्योंकि सभी प्रकार की दक्षता उससे होना सम्भव नहीं है। जहाँ तक पहले कारण का सम्बन्ध है, प्रोफेसर राबिन्स का कहना है कि एक विज्ञान होने के नाते अर्थशास्त्र का आधार तर्कशास्त्र है और तर्क के आधार पर केवल कारण और परिणाम का सम्बन्ध ही स्थापित किया जा सकता है। किसी कार्य के कारण और परिणाम को तर्क के आधार पर बताए जा सकते है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह कार्य करना चाहिए और यह नहीं। वांछनीयता, समर्थन या विरोध साधारणतया सापेक्षित होते है और उनका निर्णय तर्कों की अपेक्षा भावनाओं पर आधारित होता है और मनुष्य का अन्तर्ज्ञान उसे प्रभावित करता है। ऐसी स्थिति का अध्ययन विज्ञान के नाते अर्थशास्त्र नहीं कर सकता। हम कर वृद्धि के कारण और प्रभावों की व्याख्या तो कर सकते है। किन्तु यह नहीं कह सकते हैं कि कर-वृद्धि की जाए या नहीं की जाए। यदि हम उसकी वांछनीयता का अध्ययन करते है तो विज्ञान नहीं रह जाएगा।

यथार्थवादी विचारों की आलोचना
(१) लक्ष्य अनेक नहीं एक है–अधिकतम संतुष्टि
(२) मानव व्यवहार का अध्ययन केवल तर्कों पर संभव नहीं।
(३) आर्थिक समस्याओं का निराकरण सापेक्षिक है।
(४) अर्थशास्त्र में आर्थिक कल्याण पर ध्यान दिया ही जाता है।

वादी अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण दोषपूर्ण है।

सर्वप्रथम, अर्थशास्त्र के लक्ष्यों के प्रति तटस्थ होने का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि लक्ष्य अनेक नहीं होते है। सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाओं का ही अंतिम लक्ष्य है आवश्यकताओं की संतुष्टि या आवश्यकताओं से मुक्ति। शेष सभी लक्ष्य इस अंतिम लक्ष्य के पूरक हैं और उनमें मिल जाते हैं। अतः तटस्थता का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरी बात यह है कि मानव व्यवहार का अध्ययन केवल तर्कों के आधार पर नहीं किया जा सकता है। मनुष्य केवल तर्कशील ही नहीं भावुक भी होता है। मनुष्य जहां विवेक का आश्रय लेता है, वहां उसका निर्णय उसकी रुचि, विचारधारा, परिस्थितियों और सस्कारों से भी प्रभावित होता है। अतः मनुष्य कोई भी निर्णय केवल तर्कों के आधार पर निरपेक्ष होकर नहीं कर सकता है। साधनों और साध्यो दोनों के ही प्रति वह सापेक्ष होता है क्योंकि उसका निर्णय अन्तर्ज्ञान से प्रभावित होता है और यह अन्त ज्ञान केवल तर्क पर आधारित न होकर उसके स्वभाव, रुचि, विचार, वातावरण, संस्कार और अनुभूतियों पर निर्भर होता है।

तीसरे आर्थिक समस्यायें इतनी जटिल, मिश्रित एव विविध होती हैं कि अर्थशास्त्री का कार्य केवल कारण और परिणामो के अध्ययन तक सीमित नहीं किया जा सकता है। जब अर्थशास्त्री किसी कार्य के कारण और परिणामो का अध्ययन करता है तो वह यह भी देख सकता है कि ये परिणाम अच्छे हैं या बुरे, लाभप्रद है या हानिप्रद और इस प्रकार उनकी वांछनीयता पर अपना मत भी प्रगट कर सकता है। वास्तव में किसी अर्थशास्त्री की समय और शक्ति का सदुपयोग इसी मे है कि वह अपने निष्कर्षों का प्रयोग कर सके और इस प्रकार हम कार्यों का विभाजन उचित रूप से नहीं करते हैं।

यही कारण है कि यथार्थवादी अर्थशास्त्री अपने विचारों को निभा नहीं पाते हैं। राबिन्स ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसके कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि अर्थशास्त्रियों को नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार प्रगट नहीं करना चाहिए, जैसे कि यह नहीं कहा जा सकता कि वनस्पति शास्त्री उद्यानों की योजना पर विचार न करें, क्योंकि वनस्पतिशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र नहीं है। इसके विपरीत यह अत्यन्त वांछनीय है

कि अर्थशास्त्रियों ने इन विषयों पर व्यापक और गहन विचार किया होगा क्योंकि केवल इसी प्रकार से इस स्थिति में हो सकते हैं कि समाधान के लिए उनके सामने प्रस्तुत समस्याओं के दिये हुए तथ्यों के वास्तविक प्रभावों को समझ सकें। इसी प्रकार पीगू भी यह निस्संकोच मानते हैं कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य आर्थिक कल्याण के हेतु सरल एवं क्रियात्मक उपाय सुझाना है और स्वीकारते हैं कि अर्थशास्त्र प्रकाश देने वाला और फल देने वाला विज्ञान दोनों है।

अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान के रूप में

(Economics as a Normative Science)

अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री राबिन्स और प्राचीन अर्थशास्त्रियों के यथार्थवादी दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए अर्थशास्त्र को एक आदर्श विज्ञान के रूप में प्रतिपादित करते हैं। वे अधिकतम आर्थिक कल्याण को उद्देश्य मान उसकी वृद्धि के उपायों पर विचार करते हैं। उनका कहना है कि हमें अपने अध्ययन से लाभ उठा कर, अधिकतम सामाजिक समृद्धि के लिए नियम तथा रीतियां बनानी चाहिए। वर्तमान अर्थशास्त्रियों के विचार से अर्थशास्त्र का यही काम नहीं है कि वह उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व से सम्बन्धित मानव व्यवहार के कारण और परिणामों का अध्ययन कर नियमों का निरूपण करे, किन्तु इसके अतिरिक्त उसे अधिकतम सामाजिक कल्याण के सन्दर्भ में इनकी वांछनीयता पर भी विचार करना चाहिये और स्पष्ट रूप से बताना चाहिए कि उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण और राजस्व के लिए किस प्रकार की नीति अपनाई जाए। अर्थशास्त्र यह बतलाता है कि प्राकृतिक और मानवीय प्रसाधनों का किस प्रकार उपयोग किया जाए जिससे कि समाज में अधिकतम उत्पत्ति सम्भव हो, रहन सहन का स्तर ऊंचा उठे और देश समृद्धिशाली बने। आधुनिक अर्थशास्त्र आर्थिक नियोजन के भी विश्वास रखता है। वह बेकारी और बीमारी को रोकने, मजदूरी ऊंची करने, जनसंख्या की वृद्धि को रोकने, ब्याज की दर कम करने, श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने एवं सम्पत्ति के असमान वितरण जैसी समस्याओं पर विचार करता है और व्यवहारिक नियमों का निर्माण करता है। सहकारी खेती, श्रम कल्याण, प्रबन्ध में श्रमिकों का भाग और मूल्य नियन्त्रण इसी आदर्श अर्थशास्त्र की देन है। वास्तव में आदर्शवादी विचारधारा के अभाव में हमारे अर्थशास्त्र का अध्ययन अपूर्ण है और उससे कोई व्यवहारिक लाभ नहीं है। इसलिए, जब हम अर्थशास्त्र का अध्ययन करते हैं तो हमारा दृष्टिकोण एक दार्शनिक जैसा नहीं होता जोकि ज्ञान को ज्ञान के लिए प्राप्त करना चाहता है, बल्कि एक चिकित्सक की भाँति होता है जोकि रोगियों की सेवा के लिए ज्ञान प्राप्त करता है। वास्तव में, महात्मा गाँधी का कथन अत्यन्त उपयुक्त है कि वह अर्थशास्त्र जो नैतिक एवं भावनात्मक तथ्यों की उपेक्षा करता है, एक जीवित तुल्य मोम की रचना है, जिसमें कि सजीव मांस और जीवन की कमी है।" और फ्रेजर ने भी इसी

बात को यों कहा है कि "जो अर्थशास्त्री केवल एक अर्थशास्त्री मात्र है, वह एक तुच्छ सुन्दर मछली के समान है।"

अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान है

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल कारण और परिणामों के सम्बन्ध को समझाने और "क्या है" के अध्ययन करने तक सीमित नही है। आधुनिक अर्थशास्त्र इससे आगे अपने लक्ष्य निर्धारित करता है, उन्हे प्राप्त करने के साधनो पर विचार करता है, उनके औचित्य एव हित-अहित का मूल्यांकन करता है और उनकी वांछनीयता या अवांछनीयता घोषित करता है। इस प्रकार वह यह अध्ययन करता है कि आर्थिक व्यवहार कैसा होना चाहिए। अर्थशास्त्र अपने नियमो के आधार पर व्यवहारिक नीति भी स्पष्ट करता है। प्रोफेसर हाट्रे के अनुसार "अर्थशास्त्र को नीति शास्त्र से पृथक नही किया जा सकता है। अर्थशास्त्र को चाहिए कि वह मूल्यांकन और नैतिक प्रमाप पर न केवल दिए हुए तथ्य के रूप मे विचार करें वरन् इन मूल्यांकनो और प्रमापो को अन्तिम वैधता पर भी अपना निर्णय घोषित करे।" ये अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की व्यवहारिक उपयोगिता पर अत्यन्त जोर देते है और यथार्थवादी विचारधारा का इसलिए विरोध करते हैं। उनके अनुसार, टगवेल के शब्दो मे, अर्थशास्त्र का अपरिपक्व विकास उसे व्यावहारिक जीवन जीवन से अलग करने के लिए उत्तरदायी है। मिसेज वूटन कहती हैं—"हम सैद्धांतिक उपकरण बनाने मे बहुत समय खर्च करते हैं, और उनके व्यवहारिक प्रयोग के लिए अत्यन्त कम समय देते है।

अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान प्रतिपादित करने के लिए ये लोग केवल यथार्थवादी विचारधारा के दोष बताकर ही नही रह गए हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होने और कुछ कारण भी बतलाये हैं। इस प्रकार जहां इन्होंने अर्थशास्त्र का लक्ष्यों के प्रति तटस्थ, भाव और नीतिशास्त्र से असम्बद्ध होना मानव-व्यवहार के लिए केवल तर्क का आधार और अर्थशास्त्री के सभी कार्य न कर पाना अस्वीकार किया है, वही उन्होंने यह भी बतलाया है कि अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान मान लेने से उसकी व्यवहारिक उपयोगिता और महत्ता बढ़ जाती है। प्रारम्भ से ही अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है और यद्यपि अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान कहा जाता था, तथापि उस पर न्याय शास्त्र का प्रभाव अत्यन्त व्यापक था। अर्थशास्त्रियों का अध्ययन और प्रतिपादन विशिष्ट विचारधारा से प्रभावित होता था और वह आर्थिक नीति का आधार माना जाता था। इसी प्रकार सभी अर्थशास्त्री प्रारम्भ से ही आर्थिक हित की वृद्धि के लिये कुछ न कुछ सुझाव देते रहे है। एडम-स्मिथ ने यातायात के नियमों का समर्थन और महस्तक्षेप नीति का विरोध किया और श्रम-कल्याण के कार्यों पर जोर दिया; केरनीज ने मजदूरी और श्रमिक संघों की विवेचना की और कीन्स ने बेरोजगारी दूर करने के उपाय बताये है। इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्र एक कल्याणकारी अर्थशास्त्र है और उसके इस स्वरूप के विकास

के कारण, आर्थिक नियोजन के इस युग में यह आवश्यक हो गया है कि 'क्या है' के साथ-साथ 'क्या होना चाहिये' का भी अर्थशास्त्र में विवेचन हो। वर्तमान औद्योगिक विकास के युग में अनेक जटिल, एवं विभिन्न आर्थिक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं और उनका निदान अर्थशास्त्रियों से ही अपेक्षित है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय, समाजवादी व्यवस्था, बेरोजगारी, उत्पादन व आय के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री न्यायाधीश होकर ही विचार कर सकता है। आदर्श विज्ञान होने से आज ही अर्थशास्त्र अनेक व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता कर सकता है। अर्थशास्त्री [illegible] के शब्दों में, यह जीवन सामान्य ज्ञान है। उसकी सहायता से, यदि वह हित-अहित और वांछनीयता के सम्बन्ध में विचार प्रगट करना प्रारम्भ कर दें, तो अनेक व्यावहारिक समस्यायें हल की जा सकती हैं क्योंकि हर समस्या का आर्थिक पहलू ही सबसे महत्वपूर्ण होता है। अन्त में, यदि ऐसा नहीं किया गया और अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान रहने दिया गया तो यह अत्यन्त अरुचिकर एवं अपूर्ण लगेगा। कर-वृद्धि के कारण और प्रभावों का अध्ययन करना तब तक कोई महत्व का नहीं जब तक कि हम यह तय नहीं कर सकें कि कर-वृद्धि उचित, अनुचित या वांछनीय है। इस प्रकार आदर्श विज्ञान ही अर्थशास्त्र का उचित स्वरूप है और इसी रूप में उसका अध्ययन होना चाहिये।

क्या अर्थशास्त्र दोनों प्रकार का विज्ञान है ?

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र दोनों प्रकार का विज्ञान है—वास्तविक भी और आदर्श भी। वह "जो है" और "जो होना चाहिये" दोनों का अध्ययन करता है। वह कारण और प्रभावों के सम्बन्ध को भी स्पष्ट करता है और कार्यों के औचित्य पर भी विचार करता है।

निष्कर्ष :—

किन्तु यह कहना उचित नहीं है कि अर्थशास्त्र दोनों प्रकार का विज्ञान है। एक विज्ञान या तो वास्तविक हो सकता है या आदर्श, दोनों कदापि नहीं। अर्थशास्त्र को दोनों प्रकार का विज्ञान मानना एक भ्रान्ति है जो अर्थशास्त्रियों की असावधानी एवं अस्थिरता के कारण उत्पन्न हुई है। वास्तव में अर्थशास्त्र के दो अलग-अलग रूप विकसित हुए हैं---एक को आर्थिक विश्लेषण या सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र कहा जाता है और दूसरे को आर्थिक नीति। आर्थिक विश्लेषण एक वास्तविक विज्ञान के रूप में विकसित हुआ है और आर्थिक नीति आदर्श विज्ञान के रूप में। साधारण अर्थशास्त्र के अध्ययन में ये दोनों इस प्रकार मिला दिये गये हैं कि उन्हें पृथक नहीं किया जा सकता है। फिर भी आर्थिक विश्लेषण 'जो है' का अध्ययन करता है और आर्थिक नीति 'जो होना चाहिये' का। इतना सब होते हुये भी अभी हम यह निश्चिन्तता-पूर्वक नहीं कर सकते हैं कि अर्थशास्त्र क्या है, क्योंकि यह विज्ञान नित नये रूपों में प्रगट हो रहा है और अभी पूर्णतः परिपक्व नहीं हो पाया है।

अर्थशास्त्र की उपयोगिता—

किन्तु हमारे उपर्युक्त विचार आर्थिक विज्ञान की उपादेयता के सम्बंध में कोई विपर्यय उत्पन्न नहीं करते हैं। सच पूछा जाय तो आर्थिक विज्ञान जहाँ एक ओर मानव-व्यवहार का विश्लेषण करता है, वहीं दूसरी ओर उसके निष्कर्षों से आर्थिक जीवन के उत्कर्ष में मार्गदर्शन मिलता है। वास्तव में यदि आर्थिक विज्ञान के विकास-क्रम का अध्ययन किया जावे तो हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि आर्थिक विचारों का विकास मानव समाज की व्यवहारिक जीवन की आवश्यकताओं की देन है और उस पर नीतिशास्त्र की गहरी छाप है। यह कथन काफी हद तक सही है कि—"आर्थिक विज्ञान का महत्व, बौद्धिक व्यायाम या सत्य के लिये सत्यान्वेषण के रूप में नहीं वरन् नीतिशास्त्र के अधीनस्थ एवं कार्य-प्रणाली के सेवक के रूप में है।"

Q. "Economics deals with ascertainable facts; ethics with valuations and obligations The two fields of enquiry are not on the same plane of discourse" (Robbins) Examine this stacment critically.

(Agra 1964 M. A. Vikram, 1959 M. A.)

"अर्थशास्त्र जांचने योग्य तथ्यों का अध्ययन करता है, नीतिशास्त्र मूल्यांकन और दायित्वों का। अनुसंधान के दोनो क्षेत्र विवेचन के समान धरातल पर नहीं है।" इस कथन की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

(आगरा १९६४ एम० ए०, विक्रम, १९५९ एम० ए०)

रॉबिन्स का दृष्टिकोण :—

उत्तर-प्रोफेसर रॉबिन्स भी अन्य प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्रियों की भांति अर्थशास्त्र को एक वास्तविक विज्ञान मानते हैं। उनके अनुसार यह नीतिशास्त्र की भांति आदर्श विज्ञान नहीं हो सकता है। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनों अध्ययन के समान धरातल पर नहीं हैं। उनका स्तर अलग-अलग है। एक का सम्बन्ध तथ्यों की जाँच, उनके कारण और प्रभावों के बीच सम्बन्ध की स्थापना में है और दूसरे का सम्बन्ध इन तथ्यों के मूल्यांकन और दायित्व के निरुपण से है। यदि मजदूरी को जांचने योग्य तथ्य माना जाय तो मजदूरी किस प्रकार निर्धारित की गई है, यह तो अर्थशास्त्र का विषय है, किन्तु मजदूरी पर्याप्त है या नहीं, उचित है या नहीं, मानव कल्याण की दृष्टि से वांछनीय है या नहीं और इसे बढ़ाया जाए या कम किया जाए ये प्रश्न नीतिशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किए जायेंगे। इस प्रकार प्रोफेसर रॉबिन्स यह मानते हैं कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र अन्वेषण के अलग-अलग क्षेत्र हैं और अलग-अलग स्तर पर स्थित हैं।

अर्थशास्त्री का कार्य

है कि [illegible] कि [illegible] के क्या परिणाम होंगे, परन्तु एक अर्थशास्त्री के नाते वह इन कार्यों की वांछनीयता पर निर्णय नहीं प्रदान कर सकता। यदि अर्थशास्त्री किसी कार्य की अच्छाई या बुराई का उल्लेख करेगा तो उसे इसके लिये नीतिशास्त्र की सहायता लेनी पड़ेगी जो कि उचित नहीं है, क्योंकि राबिन्स के ही शब्दों में, दुर्भाग्यवश तार्किक दृष्टि से यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि दोनों अध्ययनों को किसी भी रूप में संयुक्त किया जा सके, अधिक से अधिक निकट रखा जा सकता है। अर्थशास्त्र जानने योग्य तथ्यों का अध्ययन करता है जबकि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मूल्यांकन और दायित्वों से है। अन्वेषण के ये दोनों क्षेत्र समान धरातल पर नहीं हैं। वास्तविक एवं आदर्शवादी अध्ययनों के साधारणीकरणों के बीच में तर्क सम्बन्धी खाई इतनी गहरी है कि उसे न तो कोई कथन ही छिपा सकता है और न समय और स्थान की कोई निकटता ही पाट सकती है। इस प्रकार राबिन्स इस विचार को नहीं मानते हैं कि अर्थशास्त्र को व्यवहारिक समस्याओं के हल में सहायता करने के लिये आदर्श विज्ञान बना देना चाहिये। उनके अनुसार अर्थशास्त्र एक विशुद्ध वास्तविक विज्ञान है।

वास्तविक विज्ञान मानने के कारण

प्रोफेसर राबिन्स ने अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानने के दो कारण मुख्य रूप से बताये हैं—एक तो, हम केवल कारण और परिणामों का सम्बन्ध ही स्थापित कर सकते हैं और दूसरे, अर्थशास्त्री को सभी कार्य नहीं करने चाहिये, क्योंकि सभी प्रकार की दक्षता उसमें होना सम्भव नहीं है। जहाँ तक पहले कारण का सम्बन्ध है, प्रोफेसर राबिन्स का कहना है कि एक विज्ञान होने के

नाते अर्थशास्त्र का आधार तर्कशास्त्र है और तर्क के आधार पर केवल कारण और परिणाम का सम्बन्ध ही स्थापित किया जा सकता है। किसी कार्य के कारण और परिणाम तो तर्क के आधार पर बताये जा सकते हैं, किन्तु यह नही कहा जा सकता है कि यह कार्य करना चाहिये और यह नही। वांछनीयता, समर्थन या विरोध साधारणतया सापेक्षिक होते हैं और उनका निर्णय तर्कों की अपेक्षा भावनाओ पर आधारित होता है और मनुष्य का अन्तर्ज्ञान उसे प्रभावित करता है। ऐसी स्थिति का अध्ययन विज्ञान के नाते अर्थशास्त्र नही कर सकता है। हम कर-वृद्धि के कारण और प्रभावो की व्याख्या तो कर सकते हैं, किन्तु यह नही कह सकते है कि कर-वृद्धि की जाय या नही की जाय। यदि हम उसकी वांछनीयता का अध्ययन करते हैं तो वह विज्ञान नही रह जायगा। दूसरी बात रोबिन्स यह भी बतलाते हैं कि किसी विषय की वांछनीयता, समर्थन या विरोध के लिये यह आवश्यक है कि उन पर सभी दृष्टिकोण से विचार किया जाय। प्रत्येक समस्या के आर्थिक पहलू के अतिरिक्त अन्य पहलू भी हो सकते हैं :—राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, यान्त्रिक, प्राकृतिक, भौगोलिक आदि। अर्थशास्त्र सभी पहलुओ का अध्ययन नही कर सकता है। वह हर विषय का विशेषज्ञ नहीं होता। अतः एक अर्थशास्त्री को सभी कार्य नहीं करना चाहिये जिससे कि वह अपने समय और शक्ति का सदुपयोग कर सके। और दूसरे विशेषज्ञों को उनके कार्य करने दें। इस प्रकार अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है और 'क्या है' का अध्ययन करता है, वह आदर्श विज्ञान नहीं है, और 'क्या होना चाहिये' से उसका सम्बन्ध नही है।

उपरोक्त बातो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है और वह भी वास्तविक विज्ञान और वास्तविक विज्ञान के अन्तर्गत किसी विषय की अच्छाई तथा बुराई के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नही किया जाता। इसके अन्तर्गत अर्थशास्त्री इस बात का अध्ययन करता है कि वास्तविक जगत में मनुष्य किस प्रकार वैकल्पिक प्रयोगो वाले स्वल्प साधनों से अपनी अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते है। इस क्षेत्र में अर्थशास्त्री आवश्यक तथ्यो को एकत्रित करता है, उन तथ्यों को फिर ठीक से व्यवस्थित करता है। उन्हे श्रेणियो मे बांटता है तथा आगमन और निगमन प्रणालियों के द्वारा उनका विश्लेषण करता है। इस प्रकार तथ्यों से कुछ नियम निकाले जाते हैं, जो कि अन्य विज्ञानों के समान होते हैं या फिर कुछ सामान्य तथ्यों के आधार पर तर्क-वितर्क द्वारा विशिष्ट सिद्धान्तों का निर्माण करता है और फिर व्यवहारिक जीवन मे तथ्यों की सहायता से उनकी जांच करता है। तब ये सिद्धान्त भी व्यवहारिक नियमो का स्वरूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार के नियम अर्थशास्त्र के प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं और इन नियमों एवं सिद्धान्तो का संग्रह भी क्रमबद्ध है। चूंकि ये समस्त नियम दो प्रतिभासों के मध्य कारण और परिणाम का सम्बन्ध स्थापित करते हैं अतः यह कहना अनुचित न

होगा कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो कि जांचने योग्य तथ्यों का वर्णन करता है, जब कि नीतिशास्त्र मूल्य निरूपण (Valuation) तथा कर्त्तव्यता (Obligation) का। खोज के ये दोनों क्षेत्र वार्तालाप के समान स्तर पर नहीं हैं।

यथार्थ दृष्टिकोण की आलोचना :—

यथार्थवादी अर्थशास्त्रियों की उपरोक्त विचारधारा की आधुनिक विकासवादी अर्थशास्त्रियों ने जमकर आलोचना की है। उनके अनुसार राबिन्स और अन्य यथार्थवादी अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण दोषपूर्ण है।

सर्वप्रथम अर्थशास्त्र के लक्ष्यों के प्रति तटस्थ होने का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि लक्ष्य अनेक नहीं होते हैं। सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाओं का एक ही अन्तिम लक्ष्य है आवश्यकताओं की सन्तुष्टि या आवश्यकताओं की मुक्ति। शेष सभी लक्ष्य इस अन्तिम लक्ष्य के पूरक हैं और उसमें मिल जाते हैं। अतः तटस्थता का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरी बात यह है कि मानव व्यवहार का अध्ययन केवल तर्कों के आधार पर नहीं किया जा सकता है। मनुष्य केवल तर्कशील ही नहीं भावुक भी होता है। मनुष्य जहां विवेक का आश्रय लेता है, वहां उसका निर्णय उसकी रुचि, विचारधारा, परिस्थितियों और संस्कारों से भी प्रभावित होता है। अतः मनुष्य कोई भी निर्णय केवल तर्कों के आधार पर निरपेक्ष होकर नहीं कर सकता है। साधनों और साध्यों दोनों के ही प्रति वह सापेक्ष होता है क्योंकि उसका निर्णय अन्तर्ज्ञान से प्रभावित होता है और यह अन्तर्ज्ञान केवल तर्क पर आधारित न होकर उसके स्वभाव, रुचि, विचार, वातावरण, संस्कार और अनुभूतियों पर निर्भर होता है।

तीसरे आर्थिक समस्यायें इतनी जटिल, मिश्रित एवं विविध होती हैं कि अर्थशास्त्री का कार्य केवल कारण और परिणामों के अध्ययन तक सीमित नहीं किया जा सकता है। जब अर्थशास्त्री किसी कार्य के कारण और परिणामों का अध्ययन करता है तो वह यह भी देख सकता है कि ये परिणाम अच्छे हैं या बुरे, लाभप्रद या हानिप्रद और इस प्रकार की उनकी वांछनीयता पर अपना मत भी प्रकट कर सकता है। वास्तव में किसी अर्थशास्त्री के समय और शक्ति का सदुपयोग इसी में है कि वह अपने निष्कर्षों का प्रयोग कर सके और इस प्रकार हम कार्यों का विभाजन उचित रूप से नहीं कर सकते हैं।

यही कारण है कि यथार्थवादी अर्थशास्त्री अपने विचारों को निभा नहीं पाते हैं। राबिन्स ने स्वयं स्वीकार किया है कि "उनके कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अर्थशास्त्रियों को नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार नहीं प्रकट करना चाहिये, जैसे कि यह नहीं कहा जा सकता कि वनस्पति-शास्त्री उद्यानों की योजना पर विचार न रखें क्योंकि वनस्पति-शास्त्र सौन्दर्य शास्त्र नहीं है। इसके विपरीत यह अत्यन्त वांछनीय है कि अर्थशास्त्रियों ने इन विषयों पर व्यापक और बहुत विचार किया

होगा क्योंकि केवल इसी प्रकार वे इस स्थिति पर हो सकते हैं कि समाधान के लिये उनके सामने प्रस्तुत समस्याओं के दिये हुये लक्ष्यों के वास्तविक प्रभावों को समझ सकें।" इसी प्रकार पीगू भी यह नि.सकोच मानते हैं कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य आर्थिक कल्याण के हेतु सरल एवं क्रियात्मक उपाय सुझाना है और स्वीकारते हैं कि अर्थशास्त्र प्रकाश देने वाला और फल देने वाला विज्ञान दोनों है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल कारण और परिणामों के सम्बन्ध को समझाने और "क्या है" के अध्ययन करने तक सीमित नहीं है। आधुनिक अर्थशास्त्र इससे आगे अपने लक्ष्य निर्धारित करता है, उन्हे प्राप्त करने के साधनों पर विचार करता है, उनके औचित्य एवं हित-अहित का मूल्याकन करता है और उनको वांछनीयता या अवांछनीयता घोषित करता है। इस प्रकार वह अध्ययन करता है कि आर्थिक व्यवहार कैसा होना चाहिये। अर्थशास्त्र अपने नियमों के आधार पर व्यवहारिक नीति भी स्पष्ट करता है। प्रोफेसर हार्ट्रे के अनुसार, "अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक् नही किया जा सकता है। अर्थशास्त्री को चाहिये कि वह मूल्यांकन और नैतिक प्रमाप पर न केवल एक दिये हुये तथ्य के रूप में विचार करे वरन् इन मूल्यांकनों और प्रमापों की अन्तिम वैधता पर भी अपना निर्णय घोषित करे।" ये अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की व्यवहारिक उपयोगिता पर अत्यन्त जोर देते हैं और यथार्थवादी विचारधारा का इसलिये विरोध करते हैं। उनके अनुसार, टगवेल के शब्दों में, "अर्थशास्त्र का अपरिपक्व विकास उसे व्यवहारिक जीवन से अलग करने के लिए उत्तरदायी है।" मिसेस वुटन कहती हैं—"हम सैद्धान्तिक उपकरण बनाने मे बहुत समय खर्च करते हैं और उनके व्यवहारिक प्रयोग के लिये अत्यन्त कम समय देते हे।"

निष्कर्ष :—

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के विवेचन का धरातल अलग-अलग है, एक अर्थशास्त्री केवल कारणों और परिणामों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के साथ-साथ आर्थिक क्रियाओं की वाञ्छनीयता पर भी अपना निर्णय प्रगट कर सकता है। अर्थशास्त्र का विकास केवल वास्तविक विज्ञान के रूप मे ही नही हुआ है, वह आदर्श विज्ञान भी माना जाता है। आधुनिक युग में तो आर्थिक विश्लेषण और आर्थिक नीति ऐसे अर्थशास्त्र के दो भाग हो गये हैं और अब हम राबिन्स के कथन को पूर्णतः सत्य नही कह सकते कि अर्थशास्त्र केवल तथ्यों की खोज करता है, क्योंकि वह उनके औचित्य पर अपना निर्णय भी प्रगट कर सकता है और आर्थिक कल्याण के उपाय भी समझा सकता है। अतः अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का वैचारिक धरातल चाहे पृथक हो, अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान के रूप में आर्थिक मूल्याकन और दायित्वों की व्याख्या करता है।

Q. "The role of economist is more concieved of as that of an expert who can say what consequences are likely to follow certain actions, but who cannot judge as an economist the desirability of these actions." Discuss.

प्रश्न—"अर्थशास्त्री का कार्य अधिकांश में यह माना जाता है कि एक विशेषज्ञ की भांति बताये कि किन्हीं क्रियाओं के क्या परिणाम होंगे, किन्तु एक अर्थशास्त्री के नाते वह इन क्रियाओं की वांछनीयता पर निर्णय नहीं प्रगट कर सकता है।" विवेचना कीजिए।

उत्तर—अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान और इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्री के क्या कर्तव्य है—इस विषय पर अर्थशास्त्रियों में काफी वाद-विवाद रहा है।

प्रोफेसर राबिन्स ने सन् १९३२ में अपनी पुस्तक 'एन एसे आन द नेचर एण्ड सिगनीफीकन्स ऑफ इकनामिक साइन्स' प्रकाशित की, उसमें उन्होंने इसी विषय पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है। उनके विचार जहां क्रान्तिकारी माने जाते हैं, वहां उन्होंने परम्परागत 'वास्तविक विज्ञान' की मान्यता की पुष्टि की है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है। राबिन्स अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान के रूप में मानने को तैयार नहीं है। इस प्रकार अर्थशास्त्री एक यथार्थवादी वैज्ञानिक होता है, वह नीतिशास्त्री नहीं होता। वास्तविक विज्ञान में वास्तविक प्रतिभासों का अध्ययन किया जाता है, उनके कारणों और प्रभावों में सम्बन्ध स्थिर किया जाता है और इस प्रकार अवलोकन, अनुमान और प्रयोगों के आधार पर सामान्य नियमों का निर्माण होता है। हम क्या हैं का अध्ययन करते हैं, क्या होना चाहिये का नहीं। इन प्रतिभासों और उनके प्रभावों की वांछनीयता पर विचार नहीं करते। यह वास्तविक विज्ञान के क्षेत्र के परे हैं। वांछनीयता, औचित्य, मूल्यांकन और दायित्व नीतिशास्त्र और आदर्श विज्ञान के विषय हैं। अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मान लेने से अर्थशास्त्रियों के कर्तव्य का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है। वे अनुसंधान और वास्तविकता को स्पष्ट करने का कार्य कर सकते हैं, किन्तु किसी कार्य का समर्थन या विरोध नहीं कर सकते हैं। उनका कार्य एक ऐसे विशेषज्ञ के समान है जो केवल इतना ही बतला सकता है कि अमुक कार्य का अमुक परिणाम होगा, किन्तु एक अर्थशास्त्री के नाते वह उस कार्य की वांछनीयता पर कोई मत प्रगट नहीं कर सकता। एक अर्थशास्त्री यह तो कह सकता है कि मूल्य वृद्धि के कारण और प्रभाव क्या हैं, किन्तु वह यह नहीं कह सकता कि मूल्य-वृद्धि उचित है या अनुचित, वांछनीय है या अवांछनीय और न वह इस मूल्य-वृद्धि का समर्थन या [illegible] कर सकता है।

अर्थ[illegible] [illegible]ज्ञ के रूप से—

[illegible]ी अर्थशास्त्री को एक विशेषज्ञ मानते हैं। वह अर्थशास्त्र का

निर्धारित होता है। उसके अनुसार, अर्थशास्त्र मानव-व्यवहार का लक्ष्यों और वैकल्पिक प्रयोग वाले स्वल्प साधनों के सम्बन्ध के रूप में अध्ययन करता है। किन्तु अर्थशास्त्र लक्ष्यों के प्रति निरपेक्ष और तटस्थ है, उनको दिए हुए रूप में अध्ययन करता है, और इस प्रकार वह लक्ष्यों की अपेक्षा साधनों का अध्ययन है। इसलिए एक अर्थ-शास्त्री लक्ष्यों के औचित्य और वांछनीयता पर विचार नहीं कर सकता है। वह तो इन लक्ष्यों के सदर्भ में साधनों के मितव्ययितापूर्ण उपयोग की समस्या का अध्ययन करता है। वह मानव व्यवहार का अध्ययन करता है जोकि साधनों से सम्बन्धित है। इस प्रकार वह उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण और राजस्व सभी का अध्ययन करता है, किन्तु लक्ष्यों के प्रति निरपेक्ष रहता है। वह समग्र प्रतिभागों के कारण और परिणामों का अध्ययन करता है, किन्तु वास्तविक तथ्यों के आधार पर और आदर्शों के बगैर सन्दर्भ के। उदाहरण के लिए उत्पत्ति विभिन्न साधनों के संयोग और उनके अनुपात में होने वाले परिवर्तन का उत्पत्ति पर क्या प्रभाव होगा इसकी व्याख्या अर्थशास्त्री उत्पत्ति के नियमों के अन्तर्गत करता है। इसी प्रकार मजदूरी किस प्रकार निश्चित होती है, ब्याज की दर में परिवर्तन के क्या कारण और परिणाम हो सकते हैं। व्यापार चक्र क्यों होते हैं और उनका क्या प्रभाव होता है, पूँजी का संचय क्यों होता है, उपयोगिता किस प्रकार और क्यों घटती है, उसका क्या प्रभाव होता है और उसे अधिकतम किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। मूल्य किस प्रकार निर्धा-रित होता है—इन सब प्रश्नों पर विचार करना अर्थशास्त्री का कर्तव्य है। किन्तु उत्पत्ति का बड़ा पैमाना, मशीनों का उपयोग, विलासिताओं का उपभोग, नाच-गाने पर व्यय, सामाजिक विषमतायें, विदेशी पूँजी, ब्याज की अमुक दर, मजदूरों का कम होना, हीनार्थ अर्थ प्रबन्धन आदि उचित हैं या नहीं या वांछनीय हैं या नहीं—इन प्रश्नों पर वह एक अर्थशास्त्री के नाते विचार नहीं प्रगट कर सकता है। इस सब पर विचार करना उसके क्षेत्र के बाहर है। इसके दो कारण हैं—एक तो ऐसा करने में उसे नीतिशास्त्र की सहायता लेनी पड़ेगी जोकि अनुचित है क्योंकि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र को सम्बद्ध नहीं किया जा सकता और दूसरे अर्थशास्त्री को सभी कार्य नहीं करने चाहिये क्योंकि न तो सभी प्रकार की दक्षता उसमें हो सकती है और न इस प्रकार वह समय और शक्ति का सदुपयोग कर सकता है। इसके अतिरिक्त वास्त-विक और आदर्शवादी अध्ययनों के साधारणीकरणों में तर्क सम्बन्धी इतनी गहरी खाई है कि समय और स्थान की कोई भी निकटता उसे पाट नहीं सकती है। विज्ञान के नाते अर्थशास्त्र तर्क मात्र पर आधारित है, और हित-अहित पर विचार करने के लिए हमें विवेक के अतिरिक्त भावनाओं, संस्कारों, वातावरण, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक उद्देश्यों पर भी ध्यान रखना पड़ता है। इसलिए अर्थशास्त्र एक वास्त-विक विज्ञान मात्र है और अर्थशास्त्री का कर्तव्य कारण और परिणामों की व्याख्या करना है, उनकी वांछनीयता पर निर्णय प्रकट करना नहीं है।

क्या अर्थशास्त्री वांछनीयता पर निर्णय प्रकट नहीं कर सकता है ?

प्रोफेसर राबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है और आद विज्ञान नहीं है। उनके अनुसार अर्थशास्त्री का कार्य अनुसंधान करना और वास्त विकता को स्पष्ट करना है न कि समर्थन या विरोध करना। अर्थशास्त्री का का एक ऐसे विशेषज्ञ का है जो कि यह तो बतला सकता है कि किन्हीं क्रियाओं का क्य परिणाम होगा किन्तु उन क्रियाओं की वांछनीयता पर निर्णय प्रगट नहीं क सकता है।

किन्तु क्या राबिन्स का यह विचार उचित है ? क्या अर्थशास्त्री वांछनीयत पर निर्णय प्रगट नहीं कर सकता है ? क्या अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान नहीं है ?

वास्तव में राबिन्स का यह दृष्टिकोण, जैसा कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उनकी आलचोना करते हुए बताया, दोष पूर्ण है। हम अर्थशास्त्र को लक्ष्यों के प्रति तटस्थ नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वास्तव में समस्त क्रियाओं का अंतिम लक्ष्य केवल एक है—आवश्यकताओं की संतुष्टि या आवश्यकता रहित अवस्था—और एक लक्ष्य होने पर तटस्थता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार, मानव-व्यवहार का अध्ययन केवल तर्क के आधार पर ही नहीं किया जा सकता है। मानव-व्यवहार केवल तर्क के आधार पर ही नहीं चलता, वह भावनाओं, संस्कारों और वातावरण सभी से प्रभावित होता है और जब हम अपने अध्ययन में सापेक्ष हो जाते हैं तो अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान न रह कर आदर्श विज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य के भौतिक सुख या आर्थिक कल्याण को जब अर्थशास्त्र का उद्देश्य माना जाता है तो निश्चित् रूप से उसे आदर्श स्वीकार कर लेते हैं हम उन उपायों की खोज करते हैं जिनसे आर्थिक कल्याण में अधिकतम वृद्धि हो सके। फिर राबिन्स और पीगू जैसे कट्टर यथार्थवादी अर्थशास्त्री भी अपने विचारों को पूर्णतः निभा नहीं पाए हैं और पीगू के अनुसार अर्थशास्त्र प्रकाशदायक और फलकारक दोनों ही प्रकार का विज्ञान है। महात्मा गांधी ने ऐसे यथार्थवादी अर्थशास्त्र की तुलना मोम की रचना से की है जो जीवित प्रतीत होती है किन्तु जिसमें सजीव माँस के जीवन का अभाव है। इस प्रकार यह कहना कि वह कारण और प्रभावों का तो अध्ययन कर सकता है, किन्तु इन प्रभावों की अनुकूलता के आधार पर वह वांछनीयता या हित-अहित पर मत प्रगट नहीं कर सकता है, उचित नहीं है। यह अर्थशास्त्र के कार्य का दोष-पूर्ण विभाजन है।

अर्थशास्त्री प्राचीन काल से ही वांछनीयता और नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करते रहे हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन अर्थशास्त्री व्यापार की वृद्धि के समर्थक रहे हैं और उनमें से कुछ स्वतंत्र व्यापार नीति का प्रचार करते रहे। सभी अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक हित को बढ़ाने के लिए कुछ न कुछ सुझाव दिए हैं। कल्याण कारी अर्थशास्त्र के विकास के कारण यह जरूरी हो गया है कि अर्थशास्त्री को यह

अधिकार दिया जाय कि वह कल्याण की वृद्धि के उपाय बताये और कल्याण को कम करने वाले कार्यों का विरोध करे। आर्थिक नियोजन लक्ष्यों के निर्धारण और साधनों के अधिकतम उपयोग पर जोर देता है और नीति का होना आवश्यक कर देता है। औद्योगिक और व्यवहारिक समस्याओं को सुलझाने और उन पर निर्णय प्रगट करने का दायित्व भी अर्थशास्त्री का है। इस प्रकार यह आवश्यक हो गया है कि अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान भी माना जाए और अर्थशास्त्री तब वाछनीयता पर निर्णय प्रगट कर सकता है वास्तव मे अर्थशास्त्र की उपयोगिता इसी मे है कि हम केवल कार्यों के परिणामों का अध्ययन ही न करें, किन्तु यह भी बतायें कि ये कार्य वांछनीय है या नही। जब हम अर्थशास्त्र का अध्ययन करते है तो हमारा दृष्टिकोण एक दार्शनिक जैसा, जो ज्ञान को ज्ञान के लिए प्राप्त करता है, नही होता, वरन् एक चिकित्सक जैसा होता है जो रोगियों की सेवा करने के लिए ज्ञान प्राप्त करना चाहता है।

किन्तु एक अर्थशास्त्री एक ही समय दोनों ही कार्य नही कर सकता है। जब वह यह बतलाता है कि अमुक कार्य का अमुक परिणाम होगा, तब वह वास्तविक अर्थशास्त्र याने आर्थिक विश्लेषण का अध्ययन करता है और जब वह इन कार्यों की वांछनीयता पर निर्णय प्रगट करता है, तब वह आदर्शवादी अर्थशास्त्र अर्थात् आर्थिक नीति का अध्ययन करता है।

Q Theory of economics is a method rather than doctrine, an apparatus of mind and a technique of thinking which helps its possessor to draw correct conclusions." (—Keynes) Elucidate.
(Agra 1963 M A. Vikram 1962 M. A. Indore 1965 M. A)

प्रश्न—अर्थशास्त्र के सिद्धान्त एक सिद्धान्त की अपेक्षा एक प्रणाली है, मस्तिष्क का उपकरण एवं चिन्तन की विधि है जो अपने स्वामी को सही निष्कर्ष निकालने में सहायता करता है।" (कीन्स) इस कथन की विवेचना कीजिये।
(इन्दौर १९६५ एम० ए० आगरा १९६३ एम० ए० विक्रम १९६२ एम० ए०)

उत्तर—यह कहना अत्यन्त कठिन है कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान। यदि अर्थशास्त्रियों को इस समस्या पर विचार करने बिठा दिया जाए तो एक हिमखण्ड भी गल सकता है, किन्तु बहस के समाप्त होने की कोई सम्भावना नही है। प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्री और आधुनिक यथार्थवादी अर्थशास्त्री जिनमे ऐडम स्मिथ, से, सीनियर, केरनेस, पीगू और राबिन्स प्रमुख हैं अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानते हैं, जबकि अधिकांश जर्मन, अमरीकी, भारतीय और आधुनिक विकासवादी अर्थशास्त्री इसे आदर्श विज्ञान भी मानते है।

लार्ड कीन्स भी इसे एक वास्तविक विज्ञान मानते हैं और अपने विचारों को स्पष्ट करते हुये कहते हैं—

मानव का विज्ञान जटिल है और इसके नियम अनिश्चित अर्थशास्त्र के सिद्धांत ऐसे निश्चित निष्कर्षों का समूह प्रस्तुत नहीं करते जो तत्काल ही नीति में प्रयोग किये जा सकें। यह सिद्धान्त की अपेक्षा एक प्रणाली है, मस्तिष्क का उपकरण एवं चिंतन की विधि है जो अपने स्वामी को सही निष्कर्ष निकालने में सहायता करता है।" (जे० एन० कीन्स)

प्रत्येक समस्या के अनेक कारण है जो एक दूसरे पर इस प्रकार प्रभाव डालते हैं कि उन्हें भली प्रकार से समझना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए आज भारत के सामने बहुत सी जटिल आर्थिक समस्यायें हैं जैसे बेरोजगारी की समस्या, जनसंख्या की समस्या, खाद्य समस्या तथा गरीबी की समस्या। इन सभी समस्याओं का कोई एक कारण नहीं है। यह एक दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं और इनमें से प्रत्येक पर अलग-अलग विचार नहीं किया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक विज्ञान के नाते मानव की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाला हामरा यह विज्ञान अत्यन्त जटिल है।

जिस प्रकार अर्थशास्त्र एक जटिल विज्ञान है उसी प्रकार इसके नियम भी पूरी तरह सत्य नहीं हैं और न हो सकते हैं। अर्थशास्त्र के नियम वैज्ञानिक नियम तो केवल इस नाते हैं कि वे प्रत्येक वस्तु स्थिति के कारण और परिणाम का परस्पर संबंध बताते हुए एक सामान्य कथन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं परन्तु अन्य भौतिक विज्ञानों की भांति यह नियम न तो प्रत्येक परिस्थिति में सामान्य रूप से सही उतरते हैं और न इनकी सत्यता का मूल्यांकन यंत्रों की सहायता से किसी प्रयोगशाला में किया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि अर्थशास्त्र मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है जो समय, स्थान तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। अर्थशास्त्र का कोई ऐसा नियम नहीं हो सकता जो काल और स्थान के प्रभाव से विमुक्त हो और जो प्रत्येक परिस्थिति में समान रूप से सही उतरे। यह बात लगभग असम्भव सी प्रतीत होती है। अर्थशास्त्र के कुछ नियम जिनका सम्बन्ध प्रकृति से है इसके अपवाद माने जा सकते हैं। शेष सभी नियम जो सामाजिक प्रवृतियों की ओर संकेत करते हैं और जिनका सम्बन्ध मनुष्य के स्वभाव तथा उनकी मनोवैज्ञानिक स्थिति से है वे कभी पूर्णतः सत्य नहीं हो सकते। अर्थशास्त्र के नियम सदैव पूरी तरह सत्य नहीं उतरते और उनका लागू होना कुछ विशेष परिस्थितियों पर निर्भर होता है। इसलिए अर्थशास्त्र के प्रत्येक नियम के साथ 'यदि अन्य बातें समान रहें' का यह कथन, अर्थशास्त्र के नियम पूरी तरह सत्य नहीं हो सकते, उपयुक्त ही है।

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त और उनका व्यवहारिक प्रयोग

व्यवहारिक रूप से भी सही होना चाहिए परन्तु अर्थशास्त्र मे सिद्धांत तथा व्यवहार मे भारी अन्तर है। कीन्स के मतानुसार अर्थशास्त्र का कार्य किन्ही ऐसे दो सूत्रो अथवा नियमों को निर्धारित करना नही होता जो किसी भी जगह, किसी भी समय तथा किन्ही भी परिस्थितियों मे व्यवहारिक रूप से लागू किये जा सकें। प्रत्येक देश की आर्थिक समस्यायें समय और परिस्थितियो के अनुसार बदलती रहती हैं और उन पर अनेक तथा विविध प्रकार के कारणों का प्रभाव पड़ता है। उन समस्याओं के समाधान के लिए हमे उन तमाम परिस्थितियो पर विचार करना पड़ता है। केवल अर्थशास्त्र के कोरे सिद्धांत हमारी सहायता नही कर पाते। उदाहरण के लिए बेरोजगारी की समस्या को ही लीजिये। यह समस्या प्राय सभी देशों मे विभिन्न रूपो मे पाई जाती है यद्यपि प्रत्येक देश मे इसके कारण, इसका स्वरूप तथा इसका आकार एक समान नहीं है, अब अर्थशास्त्र के सिद्धांत हमे कोई ऐसे निष्कर्ष तथा उपाय नहीं सुझा सकते जिन पर अमर करके प्रत्येक देश मे रोजगारी की समस्या हल की जा सके। जैसे भारत एक कृषि प्रधान देश है यहाँ की अधिकांश जनसंख्या ग्रामों मे रहती है और कृषि के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करती है। दूसरे यहाँ जनसंख्या की अधिकता भी है। उधर जर्मनी एक औद्योगिक देश है वहाँ बेरोजगारी की समस्या का हल औद्योगीकरण के द्वारा ही हो सकता है। परन्तु भारत मे न तो इतने अधिक बड़े पैमाने के उद्योग लगाये जा सकते हैं जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार मिल सके और न इतनी बड़ी जनसंख्या को ग्रामों से हटाकर औद्योगिक नगरों मे बसाना सम्भव ही है। इसलिए भारत की परिस्थितियो को देखते हुए ग्राम उद्योगों का विकास ही बेरोजगारी की समस्या का एकमात्र तत्कालीन हल प्रतीत होता है। यही बात अन्य आर्थिक समस्याओं के बारे मे भी कही जा सकती है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिये कि अर्थशास्त्र के सिद्धांत का कोई व्यवहारिक महत्व है ही नहीं अथवा अर्थशास्त्र केवल एक वास्तविक विज्ञान है जिसका अध्ययन केवल हम सैद्धांतिक रूप से अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए करते है। यद्यपि कीन्स के उपरोक्त कथन से कुछ इस प्रकार का आभास मिलता है कि उन्होने अर्थशास्त्र को केवल ज्ञान मे वृद्धि करने वाला वास्तविक विज्ञान माना है किन्तु उनका यह कहना उपयुक्त नही है। वास्तव मे अर्थशास्त्र व्यवहारिक जीवन मे उपयोगी सिद्ध होने वाला विज्ञान है जिसका अध्ययन हम केवल मानसिक व्यायाम के रूप में ही नहीं करते वरन् इसके अध्ययन से हमें अनेक प्रकार के व्यवहारिक लाभ प्राप्त होते है। प्रो० पीगू ने ठीक ही कहा है कि "अर्थशास्त्र का प्रमुख महत्व न तो उसके मानसिक व्यायाम का एक रूप होने मे है और न केवल ज्ञान के लिए ही ज्ञान का संचय करने का साधन होने में है, उसका महत्व तो नीति-शास्त्र की परिचारिका और व्यवहारिकता का भृत्य होने मे ही है।"

Q. Does Prof. Robbins consider economics to be a Social Science ? Do you agree with him ? Give your views on the subject.

(Vikram 1963 M. Com. Agra 1956 M. Com.)

प्रश्न—क्या प्रोफेसर राबिन्स अर्थशास्त्र को एक सामाजिक विज्ञान मानते हैं ? क्या आप उनसे सहमत हैं ? इस विषय पर अपने विचार लिखिये ।

(विक्रम १९६३ एम० काम०, आगरा १९५६ एम० काम०)

उत्तर—प्रोफेसर राबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव-व्यवहार का उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले सीमित साधनों के सम्बन्ध के रूप में अध्ययन करता है ।

इस प्रकार प्रो० राबिन्स सामाजिक और असामाजिक मानव-व्यवहार मे कोई भेद नही करते हैं और न यही कहते हैं कि अर्थशास्त्र सामाजिक मनुष्य का अध्ययन करते हैं। स्पष्ट रूप से वे इस सीमा को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार अर्थशास्त्र मानव विज्ञान है और उनका अर्थशास्त्र सभी प्रकार के मनुष्यों का, चाहे वे सामाजिक, वास्तविक और सामान्य हों या नहीं, अध्ययन करता है। इस प्रकार राबिन्स अर्थशास्त्र को केवल सामाजिक विज्ञान नही मानते हैं। उनका मत है कि अर्थशास्त्र मे ऐसे मनुष्यों के प्रयत्नों का, जो कि सामाजिक, वास्तविक और सामान्य न हो, अध्ययन भी किया जा सकता है क्योंकि एक तो सभी मनुष्यों का आचरण मौलिक रूप से भिन्न-भिन्न नहीं होता और दूसरे इनके प्रयत्न भी उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले स्वल्प साधनों के सामजस्य से सम्बद्ध होता है। उनके अनुसार चुनाव की समस्या साधु सन्यासियों और महात्माओं के सम्मुख भी होती है क्योंकि इनके पास भी शक्ति और समय सीमित होता है। राबिन्स का कहना है कि जहाँ कही भी दुर्लभता है, वहाँ एक आर्थिक समस्या होगी। एक सामाजिक व्यक्ति की भाति एकाकी व्यक्ति के सामने भी वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधन चुनाव सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न करते हैं। प्रो० राबिन्स और अन्य अर्थशास्त्री यह भी मानते हैं कि विनिमय अर्थ-व्यवस्था के कार्यकलापो को विनिमय यन्त्र और एकाकी व्यक्ति के व्यवहार की व्याख्या करके अधिक अच्छी तरह स्पष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार ये अर्थशास्त्री यह दावा करते हैं कि अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान की अपेक्षा मानव विज्ञान है और केवल सामाजिक पहलू पर ही अधिक ध्यान देने से अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जाता है।

प्रोफेसर राबिन्स के इन विचारों के विपरीत मार्शल, पीगू और कीन्स जैसे अनेक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को आवश्यक रूप से एक सामाजिक विज्ञान मानते हैं उनके अनुसार अर्थशास्त्र सामान्य, वास्तविक और सामाजिक मनुष्यों के उन व्यक्तिगत और सामाजिक प्रयत्नो का अध्ययन करता है जो कि भौतिक सुख के साधनो की प्राप्ति और उपयोग से सम्बन्धित होते हैं, तथा उनका ध्येय सामाजिक कल्याण का वह भाग होता है जिसे मुद्रा से सम्बन्ध किया जा सके। इस प्रकार इनके अनुसार समाज मे न रहने वाले मनुष्यो का आचरण अर्थशास्त्र के बाहर है। साधु संयासियों का जीवन अर्थशास्त्र मे अध्ययन नही किया जाता। राबिन्स नक्रूसो ने एकाकी अवस्था मे जो कार्य किये वे अर्थशास्त्र के विषय मे नही है। ऐसे असामाजिक व्यक्तियों के कार्य कलाप हमें गलत निष्कर्षों की ओर मोड़ सकते हैं, बहकावे और भ्रम मे डाल सकते हैं और अनुचित नीतियाँ अपनाने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। सामाजिक मनुष्यों और एकाकी व्यक्तियो के आचरण मे मौलिक भेद होता है। एकाकी व्यक्ति का जीवन साधारणतः आत्मनिर्भर होता है और उसकी आवश्यकतायें इतनी कम होती हैं कि वह अपने साधनो से उन्हें पूरी कर लेता है, जबकि सामाजिक मनुष्यों का जीवन

अर्थशास्त्र मस्तिष्क का उपकरण तथा विचार की प्राविधि:—

जैसा कि लार्ड कीन्स के कथन से विदित है, अर्थशास्त्र कोई ऐसे सिद्धान्त अथवा नियम प्रदान नहीं करता जो तत्काल ही व्यवहारिक समस्याओं पर लागू हो सके वरन् यह अर्थशास्त्र के ज्ञाता को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह प्रत्येक बात को सही ढंग से सोच सके और सही निष्कर्ष निकाल सके। अर्थशास्त्र मानव व्यवहार के उस पहलू का अध्ययन करता है जो आवश्यकताओं और उसकी संतुष्टि के लिये उपलब्ध वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों से सम्बन्ध रखता है। मनुष्य की आवश्यकतायें, उनकी संतुष्टि, संतुष्टि के साधन, उत्पादन, उत्पत्ति के साधन, उनका संगठन, विनिमय मूल्य निर्धारण, बाजार, संतुलन, वितरण, राष्ट्रीयआय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापा व्यापार चक्र, लगान, मजदूरी, व्याज, लाभ, राजस्व, आर्थिक विकास, राजकीय हस्त आदि विभिन्न व्यक्तिगत एवं सामूहिक समस्याओं का सैद्धान्तिक विश्लेषण अर्थ में किया जाता है। यह सैद्धान्तिक विश्लेषण अत्यन्त विकसित रूप में उपलब्ध सूक्ष्म (Micro-economics) और व्यापक (Macro-economics) तथा (Static) और परिवर्तनशील (Dynamic) सभी प्रकार से आर्थिक वि समुन्नत दशा में है। आगमन और निगमन दोनों ही रीतियों से तथा यथ सांख्यिकी की सहायता से इन सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है। इस प्रकार ये सिद्धान्त मस्तिष्क के उपकरण और चिन्तन की पद्धति को प्रगट करते हैं ज्ञान इनके ज्ञाता को व्यवहारिक जीवन की विभिन्न समस्या पर सही ढंग और निष्कर्ष निकालने की योग्यता प्रदान करता है।

Q. Does Prof. Robbins consider economics to l Science ? Do you agree with him ? Give your views on t

(Vikram 1963 M. Com. Agra 1956

प्रश्न—क्या प्रोफेसर राबिन्स अर्थशास्त्र एक सामाजिक हैं ? क्या आप उनसे सहमत हैं ? इस

(विक्रम

उत्तर—प्रोफेसर

व्यवहार का उद्देश्यें

में

पर आधारित होता है और सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण उसे सामाजिक विज्ञान भी माना जा सकता है। सच तो यह है कि आधुनिक युग में अर्थशास्त्र दो अलग-अलग रूपों में विकसित हो रहा है—सूक्ष्म अर्थशास्त्र यानी माइक्रो इकानामिक्स और व्यापक अर्थशास्त्र याने मेक्रो इकानामिक्स। फिर भी दोनों ही अर्थशास्त्र सामाजिक प्रभावों से अपने को मुक्त नहीं करा पाये हैं और व्यापक अर्थशास्त्र तो सामाजिक व्यवहार पर ही पूर्णतः आधारित है।

विभिन्न साधनों के परस्पर सहयोग, निर्भरता और विनिमय पर आधारित होता है। आवश्यकतायें इतनी अधिक होती हैं कि अकेले उन्हें पूर्ण नहीं किया जा सकता। अतः एकाकी व्यक्ति के आचरण पर बनाये गये नियम सामाजिक मनुष्यों के आचरण पर लागू नहीं किये जा सकते। अतः हमारे अध्ययन का आधार सामाजिक व्यक्ति है और अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान है।

प्रोफेसर राबिन्स के इस विचार से कि अर्थशास्त्र एक मानव विज्ञान है सरलतापूर्वक सहमत हुआ जा सकता है, किन्तु यह मानना अत्यन्त कठिन है कि वह एक व्यक्तिगत विज्ञान है। यदि हम एकान्तवासी व्यक्ति के आचरण की तुलना एक सामाजिक व्यक्ति के आचरण से कर दें तो इसका अर्थ यह होगा कि हमने वातावरण के प्रभावों की बिल्कुल उपेक्षा कर दी है। अतः इस प्रकार का मिलान करना अनुचित है। दूसरे, एकान्तवासी या समाज से बाहर रहने वाले व्यक्तियों के आचरण का अध्ययन सामाजिक आचरण की जटिलता को स्पष्ट करता है, न कि आर्थिक क्रियाओं के कारण और प्रभावों को। तीसरे, असामाजिक व्यक्ति केवल काल्पनिक मनुष्य है और उस पर अध्ययन आधारित नहीं किया जा सकता। चौथे, असामाजिक व्यक्ति की आर्थिक समस्यायें नहीं होती है क्योंकि उसकी आवश्यकतायें न्यून हैं और वह स्वयं ही अपने साधनों द्वारा उन्हें संतुष्ट कर सकता है। पांचवे, आचरण केवल विवेक या तर्क पर आधारित नहीं होता, वह तो बहुत कुछ वातावरण, संस्कार, शिक्षा, स्वभाव एवं विचारों का परिणाम होता है, अतः सामान्य नियमों की प्रतिस्थापना सामाजिक मनुष्यों के अध्ययन द्वारा ही की जा सकती है। अन्त में, एकाकी व्यक्ति का आचरण, उसके उद्देश्य और साधन सामाजिक मनुष्यों के आचरण उनके उद्देश्यों और साधनों से भिन्न होते हैं। अतः एकाकी व्यक्ति के आचरण के निष्कर्ष समस्त व्यक्तियों पर प्रभावशील नहीं हो सकते है। सोमबर्ट के शब्दों में—"विशुद्ध आर्थिक और सामाजिक आर्थिक श्रेणियों में भेद करना अनुचित है और सभी आर्थिक श्रेणियां सामाजिक हुआ करती हैं।" अर्थशास्त्र का यह सामाजिक स्वभाव तब अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम यह अनुभव करते हैं कि सभी आर्थिक घटनायें आजकल सामाजिक घटनायें हैं। जब हम उपभोग, उत्पादन, विनिमय या वितरण के बारे में विचार करते हैं, तभी हमें सामाजिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इसी कारण कीन्स ने भी कहा है कि, 'वास्तविक आर्थिक जीवन का एक अत्यन्त प्रमुख लक्षण यह है कि विभिन्न व्यक्तियों के बीच परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध पाया जाता है। अतः अर्थशास्त्र आवश्यक रूप से सामाजिक जीवन के सामाजिक पहलू के रूप में आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है।'

निष्कर्ष :—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि अर्थशास्त्र एक मानव विज्ञान है और इस नाते किसी भी प्रकार के मनुष्य का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जा सकता है, तथापि आर्थिक व्यवहार का अध्ययन सामाजिक मनुष्यों के दृष्टिकोण

पर आधारित होता है और सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण उसे सामाजिक विज्ञान भी माना जा सकता है। सच तो यह है कि आधुनिक युग में अर्थशास्त्र दो अलग-अलग रूपों में विकसित हो रहा है—सूक्ष्म अर्थशास्त्र यानी माइक्रो इकानामिक्स और व्यापक अर्थशास्त्र याने मेक्रो इकानामिक्स। फिर भी दोनों ही अर्थशास्त्र सामाजिक प्रभावों से अपने को मुक्त नहीं करा पाये हैं और व्यापक अर्थशास्त्र तो सामाजिक व्यवहार पर ही पूर्णतः आधारित है।

———

विभिन्न साधनों के परस्पर सहयोग, निर्भरता और विनिमय पर आधारित होता। आवश्यकतायें इतनी अधिक होती हैं कि अकेले उन्हें पूर्ण नहीं किया जा सकता। अत एकाकी व्यक्ति के आचरण पर बनाये गये नियम सामाजिक मनुष्यों के आचरण प लागू नहीं किये जा सकते। अतः हमारे अध्ययन का आधार सामाजिक व्यक्ति है औ अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान है।

प्रोफेसर राबिन्स के इस विचार से कि अर्थशास्त्र एक मानव विज्ञान है सरलतापूर्वक सहमत हुआ जा सकता है, किन्तु यह मानना अत्यन्त कठिन है कि वह एक व्यक्तिगत विज्ञान है। यदि हम एकान्तवासी व्यक्ति के आचरण की तुलना एक सामाजिक व्यक्ति के आचरण से कर दें तो इसका अर्थ यह होगा कि हमने वाता वरण के प्रभावों की बिल्कुल उपेक्षा कर दी है। अतः इस प्रकार का मिलान करना अनुचित है। दूसरे, एकान्तवासी या समाज से बाहर रहने वाले व्यक्तियों के आचरण का अध्ययन सामाजिक आचरण की जटिलता को स्पष्ट करता है, न कि आर्थिक क्रियाओं के कारण और प्रभावों को। तीसरे, असामाजिक व्यक्ति केवल काल्पनिक मनुष्य है और उसे पर अध्ययन आधारित नहीं किया जा सकता। चौथे, असामाजिक व्यक्ति की आर्थिक समस्यायें नहीं होती है क्योंकि उसकी आवश्यकतायें न्यून हैं और वह स्वयं ही अपने साधनों द्वारा उन्हें संतुष्ट कर सकता है। पांचवे, आचरण केवल विवेक या तर्क पर आधारित नहीं होता, वह तो बहुत कुछ वातावरण, संस्कार, शिक्षा, स्वभाव एवं विचारों का परिणाम होता है, अतः सामान्य नियमों की प्रति-स्थापना सामाजिक मनुष्यों के अध्ययन द्वारा ही की जा सकती है। अन्त में, एकाकी व्यक्ति का आचरण, उसके उद्देश्य और साधन सामाजिक मनुष्यों के आचरण उनके उद्देश्यों और साधनों से भिन्न होते हैं। अतः एकाकी व्यक्ति के आचरण के निष्कर्ष समस्त व्यक्तियों पर प्रभावशील नहीं हो सकते है। सोमबर्ट के शब्दों में—"विशुद्ध आर्थिक और सामाजिक आर्थिक श्रेणियों में भेद करना अनुचित है और सभी आर्थिक श्रेणियाँ सामाजिक हुआ करती हैं।" अर्थशास्त्र का यह सामाजिक स्वभाव तब अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम यह अनुभव करते हैं कि सभी आर्थिक घटनायें आजकल सामाजिक घटनायें हैं। जब हम उपभोग, उत्पादन, विनिमय या वितरण के बारे में विचार करते हैं, तभी हमें सामाजिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इसी कारण कीन्स ने भी कहा है कि, 'वास्तविक आर्थिक जीवन का एक अत्यन्त प्रमुख लक्षण यह है कि विभिन्न व्यक्तियों के बीच परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध पाया जाता है। अतः अर्थशास्त्र आवश्यक रूप से सामाजिक जीवन के सामाजिक पहलू के रूप में आर्थिक जीवन से सम्बन्धित हैं।'

निष्कर्ष :—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि अर्थशास्त्र एक मानव विज्ञान है और इस नाते किसी भी प्रकार के मनुष्य का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जा सकता है, तथापि आर्थिक व्यवहार का अध्ययन सामाजिक मनुष्यों के अध्ययन

निगमन प्रणाली जिसमें अनुमान पहले और निरीक्षण बाद में होता है, और आगमन प्रणाली जो निरीक्षण से प्रारम्भ होती है।

निगमन प्रणाली (Deductive Method):—अध्ययन की इस प्रणाली के अनुसार हम सामान्य सत्य के आधार पर विशिष्ट सत्य का निरुपण करते है। सामान्य सत्य के आधार पर हम विशिष्ट सत्य का अनुमान लगाते है और तर्को के आधार पर उसका अनुमोदन होता है, तथा इस प्रकार जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं वही हमारे नियम होते हैं। इस प्रकार निगमन प्रणाली के अन्तर्गत मौलिक मान्यताओं और धारणाओं के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं और इन निष्कर्षों में तर्क अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम यह सत्य मानकर कि मनुष्य एक मरणशील प्राणी है, यह कहे कि, चूं कि अरुण एक मनुष्य है, इसलिये वह भी मरणशील प्राणी है, तो हम अध्ययन की निगमन प्रणाली का अनुसरण करेंगे। इसी प्रकार इस सत्य के आधार पर कि प्रत्येक मनुष्य अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है, हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य पहले उस वस्तु को खरीदेगा जिससे उसे अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो और वह वस्तु को तब तक खरीदेगा जब तक कि उसे अन्य वस्तु से उतनी ही उपयोगिता प्राप्त न हो, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य विभिन्न वस्तुओं से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त कर ही अधिकतम उपयोगिता प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार यह प्रणाली अनुमानों और कल्पनाओं पर आधारित है और इसे काल्पनिक प्रणाली (Hypothetical Method) भी कहा जा सकता है। इसे विश्लेषक (Analytical) और अमूर्त (Abstract) प्रणाली भी कहा जाता है।

यह प्रणाली आर्थिक विश्लेषण मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। माल्थस को छोड़कर प्रायः सभी प्रतिष्ठित (क्लसिकल) अर्थशास्त्रियो ने निगमन प्रणाली का उपयोग किया है। मानव-स्वभाव के सम्बन्ध मे की गई मान्यताओ के आधार पर उन्होने समस्त आर्थिक प्रवृत्तियो और मान्यताओ की विवेचना की है। मनुष्य के विवेकपूर्ण आचरण, स्वार्थी स्वभाव एव परिपक्व तथा स्वतन्त्र परिस्थितियो की मान्यताओ को आधार मानकर उन्होने उपयोगिता-ह्रास-नियम, उपभोक्ता की बचत, मांग और पूर्ति के नियम, उत्पादन-नियम, प्रतिस्थापन-सिद्धान्त, मूल्य-निर्धारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, लगान, मजदूरी, ब्याज और लाभ आदि सभी महत्वपूर्ण विषयो का विवेचन किया है। वास्तव मे आर्थिक विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण अंश निगमन प्रणाली का ऋणी है।

आर्थिक अध्ययन की इस प्रणाली के अनेक गुण हैं। सर्वप्रथम तो यही कि इसके निष्कर्ष तर्कशास्त्र के अधिक अनुकूल होते हैं। कार्य और कारण का सम्बन्ध स्पष्ट होता है और तर्कानुसार होने के कारण इसमे त्रुटियों की सम्भावना भी नहीं रहती। परिणामो की सत्यता के कारण यह प्रणाली विश्वसनीय भी होती है। दूसरे, इस प्रणाली के निष्कर्षों में निश्चितता रहती है क्योंकि हम सामान्य सत्यों के

विश्लेषण से इन्हें प्राप्त करते हैं। अतः अर्थशास्त्र जैसे अनिश्चित विज्ञान के लिये इस प्रणाली का अत्यन्त महत्व है। तीसरे, यह प्रणाली सर्वसाधारण के लिये सरल और उपयुक्त है, क्योंकि हर मनुष्य के पास इतनी शक्ति, साधन और समय नहीं होता कि वह समग्र मानव-व्यवहारों के निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण के आधार पर किसी निर्णय की प्रतिस्थापना करे। चौथे, यह प्रणाली भविष्यवाणी और अनुमान लगाने के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है। पांचवे, आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण में निगमन प्रणाली अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है क्योंकि आर्थिक घटनायें अत्यन्त जटिल, व्यापक एवं विभिन्न होती हैं और निरीक्षण के आधार पर आर्थिक समस्याओं का समुचित अध्ययन नहीं हो सकता। आर्थिक घटनायें अपने आप में अनेक सम्बन्धों, प्रभावों और विशिष्टताओं का समग्र होती हैं और अभी तक ऐसे उपकरण उपलब्ध नहीं हैं जो सबका अलग-अलग विश्लेषण कर सकें, किन्तु निगमन प्रणाली के अन्तर्गत सरलतापूर्वक आर्थिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। छठे, ऐसे निष्कर्ष सर्वमान्य और व्यापक होते हैं तथा निरपेक्ष होते हैं, क्योंकि वे सामान्य सत्य के तार्किक प्ररूपण होते हैं। फिर, इस प्रणाली के अन्तर्गत आंकड़ों का संकलन भी आवश्यक नहीं होता है। अन्त में, यह प्रणाली आगमन प्रणाली के निष्कर्षों का तार्किक अनुमोदन कर सकती है और उसकी पूरक कही जा सकती है।

उपरोक्त विशेषताओं को देखकर यह न मान लिया जाये कि निगमन प्रणाली दोषरहित है। वास्तव में, क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के बाद अनेक विद्वानों ने, विशेषकर ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों ने इस प्रणाली की कड़ी आलोचना की। निगमन प्रणाली के निष्कर्ष अवास्तविक, अपूर्ण एवं अव्यवहारिक सिद्ध हुए। आर्थिक मनुष्य की कल्पना तोड़ दी गई, मानव-व्यवहार में स्वहित के अतिरिक्त अन्य भावनाओं को भी स्थान दिया गया, आर्थिक घटनाओं की परिवर्तनशीलता को स्वीकार किया गया, विभिन्न परिस्थितियों के प्रभावों और आर्थिक घटनाओं की विभिन्नता, विविधता और जटिलता के विश्लेषण पर जोर दिया जाने लगा तथा मान्यताओं के स्थान पर वास्तविकताओं को आधार मानना आवश्यक समझा जाने

है। निगमन प्रणाली के ठीक विपरीत इसमें हमारा अध्ययन निरीक्षण से प्रारम्भ होता है, फिर उनमें अनुमान-अनुमोदन-विश्लेषण के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। विभिन्न व्यक्तियों को मृत्यु देखकर हम मनुष्य के मरणशील होने और अरस्तू के मरणशील होने का निष्कर्ष प्राप्त करते है। विभिन्न मांग-तालिकाओं का अध्ययन करके हमारा इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि मूल्य में वृद्धि के साथ मांग में कमी होती है, आगमन प्रणाली का ही उदाहरण है। इस प्रकार इस प्रणाली में अनुभवों के आधार पर नियम बनाये जाते है और इसीलिये इसे अनुभव प्रणाली भी कहा गया है। इसे प्रायोगिक (Experimental Method), सांख्यिकी प्रणाली (Statistical Method) और ऐतिहासिक प्रणाली (Historical Method) भी कहा जाता है, क्योंकि भूतकाल में विभिन्न घटनाओं और व्यवहारों के आंकड़ों के अध्ययन के आधार पर नियम इसी प्रणाली में बनाये जाते हैं। इसे वास्तविक प्रणाली (Realistic Method) भी कहा जाता है क्योंकि इसमें वास्तविकताओं के अध्ययन पर निष्कर्ष आधारित होते हैं और वे वास्तविकता से दूर भी नहीं होते।

आगमन प्रणाली निगमन-प्रणाली की प्रतिक्रिया है और उसे भी अर्थशास्त्र में उतना ही अधिक महत्व प्राप्त है। इस प्रणाली का प्रचार सर्वप्रथम जर्मनी के ऐतिहासिक अर्थशास्त्रियों ने, जिसमें सिसमोंडी (Sismondi) राश्चर, (Roscher), नीज (Knies) और हिल्डेब्रान्ड (Hildebrand) प्रमुख हैं, किया। क्लिफ लेस्ली (Cliffe Leslie) ने भी इस प्रणाली का समर्थन किया और कहा कि "अर्थशास्त्र अभी निगमन विज्ञान की स्थिति पर नहीं पहुँचा है। आर्थिक विश्व के भौतिक नियमों का ज्ञान अब भी बहुत अपूर्ण है और उन्हें धैर्यपूर्वक आगमन प्रणाली का अनुसरण करके ही जाना जा सकता है।" माल्थस (Malthus) नामक क्लासिकल अर्थशास्त्री ने अपनी जनसंख्या का सिद्धांत इसी पद्धति पर प्रतिपादित किया। इसके अतिरिक्त आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने जो अपूर्ण नियन्त्रित एवं विकासमान अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसका अधिकांश श्रेय इसी प्रणाली को है। रहन-सहन का स्तर, राष्ट्रीय आय, बचत, रोजगार, व्यापार चक्र और मूल्य-निर्धारण के आधुनिक सिद्धांत इसी प्रणाली के आधार पर विकसित हुए हैं।

आर्थिक अध्ययन की इस प्रणाली के गुण अत्यन्त स्पष्ट हैं। वास्तव में यह प्रणाली निगमन प्रणाली के दोषों को दूर करती है और इस प्रकार यह उसकी पूरक है। दूसरे, इसके निष्कर्ष वास्तविकता के अत्यधिक निकट हैं क्योंकि वे वास्तविकताओं के अध्ययन पर आधारित होते हैं। तीसरे, परिवर्तनशील परिस्थितियों पर उचित ध्यान दिया जा सकता है और इसलिए इस प्रणाली के निष्कर्ष अधिक व्यवहारिक, सत्य और सर्वमान्य होते हैं। चौथे, प्रत्येक नियम की मान्यताओं को *प्रयोगों व निरीक्षण द्वारा निश्चित कर लिया जाता है,* अतः त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती। फिर, इन निष्कर्षों की सत्यता की जाँच करना भी सम्भव रहता है।

किन्तु यह प्रणाली भी दोष रहित नहीं है। वास्तव में निगमन प्रणाली के लाभों से हम वंचित रह जाते हैं। सबसे पहले, यह प्रणाली अत्यन्त कठिन है क्योंकि तथ्यों को इकट्ठा करना और उनका विश्लेषण करके ठीक उपयोग करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। दूसरे, अन्वेषक निरपेक्ष रहकर निष्कर्ष नहीं निकालता है और इस प्रकार निष्कर्ष तर्क पर आधारित नहीं होते हैं। आर्थिक घटनायें इतनी विविध, विभिन्न, मिश्रित एवं जटिल होती हैं कि उनके निरीक्षण से हम सही निष्कर्ष नहीं प्राप्त कर सकते। अन्त में, ऐसे निष्कर्ष केवल उसी क्षेत्र में सत्य सिद्ध हो सकते हैं जिनके परीक्षण-निरीक्षण के आधार पर निष्कर्ष प्रतिपादित किये हैं। अन्य क्षेत्रों में उन्हें प्रभावशील और सर्वव्यापी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार निगमन प्रणाली के निष्कर्षों की तुलना में ये निष्कर्ष व्यापक, प्रभावशील और सम्पूर्ण सत्य कम होते हैं तथा अन्वेषक की विचारधारा से अधिक प्रभावित होते हैं। साथ ही, अनेक विषय ऐसे होते हैं जो केवल अमूर्त विचार होते हैं और निरीक्षण- परीक्षण सम्भव नहीं होता। ऐसे विचार सामान्य सत्य की स्वीकृति पर ही निर्भर होते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन की प्रचलित दोनों रीतियाँ आगमन और निगमन पृथक् पृथक् विशेषतायें रहती है। हम किसी एक प्रणाली को अपनाकर दूसरी प्रणाली के गुणों के लाभ से वंचित रह जाते हैं। विद्वानों में इस विषय पर मतभेद रहा है कि कौनसी प्रणाली अधिक श्रेष्ठ है ? किन्तु हमें यह मालूम होगा कि उस समय की और आज की परिस्थितियों में काफी अन्तर है। तब सांख्यिकी का विकास नहीं हुआ था और आर्थिक घटनाएं इतनी विविध, मिश्रित, जटिल एवं परिवर्तनशील नहीं थीं और समाज तथा सरकार का इतना प्रभाव भी नहीं था। अब तो आर्थिक मनुष्य का स्थान सामाजिक मनुष्य ने ले लिया है। स्वहित का स्थान सामाजिक हित ले चुका है। अब हम अर्थशास्त्र को केवल कृत्रिम (Formal) विज्ञान न मानकर मानव विज्ञान मानते हैं।

अर्थ शास्त्र के अध्ययन की वास्तविक पद्धति

प्रो० मार्शल ने लिखा है कि दूसरे विज्ञानों के समान अर्थशास्त्र का कार्य तथ्यों को एकमात्र करना, उसको क्रम से रखना, उनकी व्याख्या करना तथा उनसे नतीजे निकालना है। वैज्ञानिक पद्धति में 'कारण' और 'कार्य' (Cause and effect) के सम्बन्ध की खोज़ करने में जो जो तरीके काम में लाये जाते हैं वे सब अर्थशास्त्र में भी काम लाने पड़ते हैं। अर्थशास्त्र के अध्ययन की कोई एक रीति नहीं है जिसको कि हम अर्थशास्श की रीति कह सकें। आवश्यकतानुसार किसी भी पद्धति को अकेले अथवा दूसरी पद्धतियों के संयोग में काम में लाया जा सकता है।

आर्थिक छानबीन की कुछ शाखाओं में कुछ कारणों से नये तथ्यों की जानकारी की अधिक आवश्यकता होती है। इनमें पुराने तथ्यों को समझाने की कोई

अधिक आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत कुछ शाखाओं में इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसी घटना का जो कारण हम को साधारणतः दिखाई पड़ता है क्या वही अकेला वास्तविक कारण है या इसके और भी कारण हो सकते हैं। ऐसी खोज की शाखाओं में यह बात आवश्यक है कि हम उन तथ्यों के तर्कों के विषय में छानबीन करें जिनको कि हम पहले से ही जानते हैं।

प्रो० मार्शल का मत है कि अर्थशास्त्र में निगमन तर्क की लम्बी कड़ियों के लिये अधिक गुंजाइश नहीं है अर्थात् ऐसी कड़ियों के लिये जो अपने से पूर्व की कड़ी से तो सम्बन्धित हैं परन्तु जिसका व्यवहारिक जीवन की घटनाओं से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के तर्क ज्योतिष तथा भौतिक शास्त्र की अन्य शाखाओं में दिये जा सकते हैं क्योंकि इनमें मुख्य कारणों की प्रकृति तथा शक्ति का ज्ञान इतना पूर्ण होता है कि हम उनमें से किसी एक के प्रभाव के विषय में भविष्यवाणी कर सकते हैं तथा उससे उन सब के सामूहिक प्रभाव का भी अनुमान लगा सकते हैं। परन्तु यह बात अभी तक रसायन शास्त्र में नहीं की जा सकती क्योंकि बिना प्रयोग किये हम निश्चित रूप से यह नहीं बता सकते कि रसायन तत्वों के दो नये यौगिकों का क्या कार्य होगा। इसी प्रकार एक औषधि भिन्न-भिन्न लोगों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालती है। किसी नये रोगी को इसलिये औषधि की एक बड़ी खुराक नहीं देनी चाहिये कि इस औषधि ने किसी दूसरे रोगी को लाभ पहुंचाया है। औषधि शास्त्र के समान अर्थशास्त्र में भी अभी तक बहुत से अनिश्चित क्षेत्र हैं जिनकी छानबीन करनी आवश्यक है। इस प्रकार साख तथा बैंकिंग, मजदूर संघ अथवा सहकारिता के इतिहास को देखने से पता चलता है कि कार्य के जो ढंग एक देश तथा काल में सफलतापूर्वक अपनाये गये हैं वे दूसरे देशों में पूर्ण रूप से असफल रहे हैं। इसलिये पग-पग पर विश्लेषण की आवश्यकता होती है अर्थात् इस बात की आवश्यकता होती है कि हम प्रत्येक पेचीदा टुकड़े को लें तथा उसके विभिन्न भाग के पारस्परिक तथा उनका अन्य सब टुकड़ों से सम्बन्ध मालूम करें। ऐसा करने से हम निरन्तर निगमन व आगमन दोनों प्रणालियों का प्रयोग करते हैं।

चीजों का निरीक्षण करने में हमको इस बात का पता चल जाता है कि एक घटना दूसरी के साथ घटी है या एक दूसरे के आगे पीछे घटी है। परन्तु विश्लेषण और तर्क के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुंच सकते हैं कि कारण कौन है तथा उसका कार्य क्या है। यदि हम तर्क करने में जल्दी करते हैं तो हम गलती कर सकते हैं। हमारे अनुभव तथा सावधान जांच हमको यह बतायेंगे कि वे कारण, जिनसे कोई घटना घटी है, अकेले-अकेले, बिना दूसरे कारणों की सहायता के कोई कार्य सम्पादित नहीं कर सकें। हो सकता है कि वे कारण जो हमारी निगाह में आये हैं उस घटना को घटने से रोकते हों तथा वह घटना कुछ दूसरे कारणों से घटी हो जो कि हमारी निगाह में नहीं आये हैं। इसी कारण प्रो०

बोल्डिग (Boulding) ने कहा है कि अर्थ शास्त्र में प्रयोग का बहुत कम महत्व है। उदाहरण के लिये हम व्यापारियों को दो वर्गों में बांट कर तथा उनमें से एक वर्ग के व्यापारियों को नीची ब्याज दर के प्रभाव में रखकर तथा दूसरे वर्ग वालों को ऊंची ब्याज दर के प्रभाव में रखकर व्यापारियों के ऊपर ब्याज दर के परिवर्तन के प्रभाव का अनुमान नहीं लगा सकते। उन्होंने यह भी कहा है कि अर्थशास्त्र में सांख्यिकीय विधि पर भी अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ही नतीजे पर पहुंचने के लिये एक समय जो कारण काम करते हैं हो सकता है कि वे दूसरे समय न करें। उदाहरण के लिए हो सकता है कि आँकड़ों के आधार पर हमको पता चले कि चीनी की कीमत बढ़ जाने के कारण इसके उपभोग में कमी आ गई है। परन्तु इससे हम इस नतीजे पर नहीं पहुंच सकते कि उपभोग में कमी का कारण केवल कीमत में वृद्धि है। कीमत में वृद्धि न होने पर भी (और यहां तक कि कभी-कभी कीमत में कमी पर भी) उपभोग कम हो सकता है। उदाहरण के लिए, यह सब हो सकता है जबकि लोगों को चीनी के बदले कोई सस्ता स्थानापन्न पदार्थ मिल जाय अथवा लोगों में झूठे ही इस बात का प्रचार हो जाये कि चीनी खाने से बीमारी हो जाती है। प्रो० बोल्डिग का मत है कि सांख्यकीय विधि का सबसे खतरनाक प्रभाव यह है कि यदि हम किन्हीं दो चीजों को कुछ हालतों में एक ही स्थान पर देख लेते हैं तो हम समझ बैठते हैं कि वे अवश्य ही एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। जहां तक अर्थशास्त्र में इस विधि के प्रयोग का प्रश्न है उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक राशियों तथा सम्बन्धों का वास्तविक जगत बहुत पेचीदा होता है। इस कारण बिना पर्याप्त प्रशिक्षण के एक छोटी सी घटना के सहारे समस्त पेचीदा आर्थिक प्रभावों को समझना बड़ा कठिन होता है। ऐसी अवस्था में हम जो कार्य करते हैं वह यह है कि सबसे पहले हम अपने मस्तिष्क में कुछ ऐसी आर्थिक पद्धतियों की धारणायें कर लेते हैं जो वास्तविकता से कहीं सरल होती है। उसके पश्चात् हम इन पद्धतियों में निहित सम्बन्धों का पता लगाते हैं और तब उसमें अधिकाधिक पेचीदा धारणाओं का समावेश करते जाते हैं और अन्त में हम वास्तविकता का पता लगा लेते हैं। प्रो० बोल्डिग का मत है कि यह पद्धति शुद्ध गणितीय पद्धति के समान है जिसमें कि हम अत्यन्त सरल साध्यों को लेकर चलते हैं। उसके पश्चात् सबूत दे-दे कर हम ऐसे अधिक पेचीदा साध्यों की धारणा करते हैं जिनको हम देख नहीं सकते। इसी प्रकार शुद्ध अर्थशास्त्र में भी हम कुछ सरल धारणाओं से आरम्भ कर ऐसे नतीजे निकालते हैं जो कि वास्तविक जगत में सच्चे उतरते हैं।

यह तो रही वर्तमान घटनाओं की बात, यदि हम बहुत पुराने समय की घटनाओं पर भी विचार करते हैं तो भी हमें इस बात पर विचार करना पड़ता है कि घटना घटने से लेकर आज तक आर्थिक जीवन के स्वभाव में क्या-क्या परिवर्तन हो गये हैं। इसका कारण यह है कि एक मौजूदा समस्या देखने में भले ही किसी पुरानी

समस्या के सदृश्य लगती हो किन्तु यदि उसका वैज्ञानिक ढग से अध्ययन किया जाये तो दोनों के वास्तविक स्वभाव मे अवश्य ही अन्तर पाया जायगा। जब तक इस प्रकार का अध्ययन न किया जाय तब तक एक घटना से दूसरी के लिए कोई वास्तविक तर्क ग्रहण नहीं किया जा सकता।

प्रो० मार्शल का मत है कि क्रमबद्ध वैज्ञानिक तर्क ज्ञान की वृद्धि मे वही कार्य करता है जो कि मशीन वस्तुओं के उत्पादन मे करती है। इसका कारण यह है कि मशीनों का प्रयोग वहाँ पर किया जाता है जहाँ एक कार्य को बार-बार एक ही ढग से करना पड़ता है। यदि किसी चीज के बनाने मे बहुत सी छोटी-छोटी प्रक्रियाओं की आवश्यकता हो तो उस दशा मे चीज को हाथ से बनाना ही श्रेयस्कर होता है। इसी प्रकार ज्ञान के विषय मे भी यह बात है कि जब अनुसधान अथवा तर्क के किसी ढंग मे एक ही कार्य को बार बार तथा एक ही ढग से किया जाना आवश्यक है तब उस ढंग को एक पद्धति का रूप देना, तर्क के ढग को व्यवस्थित करना तथा साधारण नियम बनाना ही अच्छा होता है।

प्रो० मार्शल इसके पश्चात् कहते हैं कि आर्थिक समस्यायें नाना प्रकार की होती हैं। आर्थिक कारण विभिन्न ढंगों से एक दूसरे से इतने घुले मिले रहते है कि वैज्ञानिक तर्क पद्धति मे शायद ही हम गन्तव्य पर पहुँच सकें। परन्तु फिर भी हमारे लिये इस ढंग को न अपनाना मूर्खता की बात होगी। इसका जो थोडा उपयोग हो सकता है वही काफी है और किया जाना चाहिये। यह सोचना भी उतनी ही मूर्खता होगी कि केवल विज्ञान ही हमारे सब कार्य सिद्ध कर देगा और व्यावहारिक अंतः प्रेरणा तथा प्रशिक्षित सामान्य बुद्धि (Trained common sense) के लिये कोई कार्य न बचेगा। प्राकृतिक अंत.प्रेरणा शीघ्रता से उन विचारों को छाट लेती है तथा उनको उचित रूप से संयोजित कर देती है जिनका सम्बन्ध हमारी विचाराधीन समस्या से होता है। परन्तु यह छांटती है केवल उन्ही घटनाओं में से जो कि व्यावहारिक जगत में घटित होती हैं।

इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण करते समय हम मानव व्यवहार से सम्बन्धित बहुत सरल उपधारणायें करते हैं। तब हम इस बात को जानने का प्रयत्न करते हैं कि यदि ये उपधारणायें वास्तविक हों तो सारी आर्थिक पद्धति का क्या रूप होगा। इस प्रकार आर्थिक पद्धति को एक सीधी सादी तस्वीर बना सकते हैं। इस तस्वीर की पूर्ण रूप से जानकारी कर लेने के पश्चात् हम अपनी प्रारम्भ की गई उपधारणाओं में इस प्रकार के परिवर्तन करके, जिससे कि वे वास्तविक जगत् के समीप आ जायें, यह देखते हैं कि हमारी तस्वीर का कैसा रूप हो गया। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारी यह तस्वीर वास्तविक जगत का पूर्ण रूप मे दिग्दर्शन नहीं कर सकती क्योंकि वास्तविक जगत सदा ही अपनी तस्वीर से अधिक पेचीदा होता है इसी कारण विद्यार्थी कभी-कभी यह समझ बैठते हैं कि आर्थिक विश्लेषण वास्तविकता से दूर होता है। परन्तु यह बात सोचने का अर्थ अर्थशास्त्र के समस्त

स्वभाव को समझने में गलती करना है। आर्थिक विश्लेषण आर्थिक जीवन का पूर्ण चित्र नहीं होता, यह उसका एक मानचित्र होता है। जिस प्रकार हम यह आशा नहीं कर सकते कि मानचित्र प्रत्येक पेड़, मकान तथा नयनगोचर प्रदेश में एक-एक घास के तिनके को दिखायेगा उसी प्रकार हम यह आशा नहीं कर सकते कि आर्थिक विश्लेषण वास्तविक आर्थिक व्यवहारों से सम्बन्धित प्रत्येक छोटी-छोटी बात का दिग्दर्शन करायेगा। वह मानचित्र जिसमें बहुत अधिक छोटी-छोटी चीजें दिखाई जाती हैं मानचित्र के रूप में बेकार है। इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण में हमको छोटी-छोटी बातें देखने का प्रयत्न करना चाहिये।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि अर्थशास्त्र के अध्ययन की कोई एक रीति नहीं है। अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिये निगमन और आगमन दोनों ही रीतियों का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु दूसरे कुछ क्षेत्रों में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। प्रणाली का चुनाव समस्या के अनुसार किया जाता है। जिस क्षेत्र में आसानी से पर्याप्त सामग्री एकत्रित की जा सकती है, जहां प्रकृति का प्रभाव अधिक होता है, जहां घटना में परिवर्तन करके परिणाम पर विचार हो सकता है तथा जहां मनुष्य के निजी स्वभाव का अधिक महत्व नहीं होता, वहां पर आगमन प्रणाली ही अधिक लाभदायक होती है। उत्पादन के अध्ययन के लिये यह पद्धति बहुत ही उपयुक्त है। माल्थस का जनसंख्या का नियम, पूँजी संचय का नियम आदि आगमन प्रणाली के द्वारा बनाये गये हैं। इसके विपरीत, उपभोग की समस्याओं का अध्ययन करने के लिये निगमन प्रणाली उपयुक्त है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की मनोवृत्ति और स्थिति भिन्न होने के कारण उसका अवलोकन नहीं किया जा सकता। उपयोगिता ह्रास नियम, समसीमान्त उपयोगिता नियम, उपभोक्ता की बचत का नियम, आदि जो उपभोग सम्बन्धी मुख्य नियम हैं निगमन प्रणाली द्वारा ही बनाये गये हैं। विनिमय और वितरण की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए कहीं निगमन प्रणाली का प्रयोग किया जाता है तो कहीं आगमन प्रणाली का। ब्याज, मजदूरी, लगान आदि के नियम निगमन प्रणाली द्वारा बनाये गये हैं परन्तु इन नियमों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिये, रिकार्डो के लगान व मजदूरी के नियम आज के युग में सत्य नहीं हैं। आजकल के अर्थशास्त्री लगान का कारण भूमि की उर्वरा शक्ति में भिन्नता नहीं मानते वरन् भूमि की स्वल्पता मानते हैं। हमारे देश में लगान अभी तक तो रीति रिवाज के द्वारा ही तय होता आ रहा है। इसी प्रकार आजकल रिकार्डो का मजदूरी का यह नियम कि मजदूरी जीवन निर्वाह की सीमा से न कम हो सकती है और न अधिक, व्यावहारिक सत्य नहीं है। इसी कारण इन नियमों में आगमन प्रणाली के द्वारा आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया गया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए दोनों ही रीतियों का प्रयोग किया जाता है। जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सोमलर (Schomller) ने जिसका समर्थन मार्शल ने भी किया है, ठीक ही कहा है, आगमन और निगमन प्रणालियाँ दोनों ही वैज्ञानिक अध्ययन के लिये उसी प्रकार आवश्यक हैं जिस प्रकार चलने के लिये दायें और बायें पैर आवश्यक हैं। परेटो (Pareto) ने इस सम्बन्ध में कहा है कि रीति के ऊपर वाद विवाद केवल समय का नष्ट करना है। इस विज्ञान का ध्येय आर्थिक समरूपताओं (Economic uniformities) की खोज करना है और किसी भी उस मार्ग पर चलना अथवा किसी भी उस रीति का अनुसरण करना जिसके द्वारा ध्येय पूर्ति सम्भव है, सदा ही उपयुक्त है। जैसा हम कह चुके हैं प्रो० मार्शल ने भी कहा है कि वैज्ञानिक पद्धति से सम्बन्धित पुस्तकों में कारण और कार्य के बीच सम्बन्धों की खोज करने के लिये जो साधन काम में लाये गये हैं उनको अर्थशास्त्रियों को भी काम में लाना पड़ेगा। खोज की कोई ऐसी पद्धति नहीं है जिसको कि उचित रूप से अर्थशास्त्र की पद्धति कहा जा सके। प्रत्येक पद्धति का उचित स्थान पर, चाहे अकेले, चाहे अन्य के संयोग में, प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार अर्थशास्त्र का अध्ययन करने की सही प्रणाली का हल आगमन अथवा निगमन प्रणाली नहीं है वरन् आगमन और निगमन दोनों प्रणालियाँ हैं। यहाँ यह बात बताने योग्य है कि अर्थशास्त्रियों ने निगमन और आगमन प्रणालियों में जो भेद किया है वह केवल सिद्धान्त तक ही रहा है, व्यवहार में उन्होंने दोनों प्रणालियों का ही प्रयोग किया है। इस प्रकार, आर्थिक अध्ययन के लिए दोनों प्रणालियों का समुचित प्रयोग आवश्यक है।

है। अर्थशास्त्र के नियम भी इसी श्रेणी में आते हैं और इनकी गिनती वैज्ञानिक नियमों में होती है। उदाहरण के लिए मांग का नियम यह बतलाता है कि किसी वस्तु के मूल्य बढ़ जाने पर उसकी माँग घट जाती है। यहाँ वस्तु का मूल्य बढ़ जाना कारण और माँग घटना परिणाम है। इसी प्रकार उपयोगिता ह्रास नियम यह बतलाता है कि जैसे जैसे हम किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग करते जाते हैं, वैसे वैसे सीमान्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता घटती जाती है। यहाँ पर वस्तुओं की मात्रा में निरन्तर वृद्धि कारण और उपयोगिता घटना परिणाम है। अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक नियम पाये जाते हैं जो किसी आर्थिक घटना के कारण तथा परिणाम के परस्पर सम्बन्धों को बतलाते हैं। इन नियमों के कारण ही अर्थशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में रखा गया है।

प्रोफेसर अल्फ्रेड मार्शल ने अपनी पुस्तक प्रिन्सीपल्स ऑफ इकानामिक्स (अर्थशास्त्र के सिद्धान्त) में इन्हें सामाजिक नियम बतलाया है। वे कहते हैं—"आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन आचरण की उन शाखाओं से सम्बन्धित सामाजिक नियम हैं जिनमे मनोवृत्तियों की शक्ति मुद्रा-मूल्य द्वारा मापी जाती है।"[1] इस परिभाषा का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि यह निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है:—

आर्थिक नियमों की विशेषतायें

१. आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन मात्र हैं।
२. मनोवृत्तियों की शक्ति मुद्रा द्वारा मापी जा सकती है।
३. ये सामाजिक नियम हैं।
४. आर्थिक नियम सापेक्षिक होते हैं।
५. आर्थिक नियम मान्यताओं पर आधारित होते हैं।

(१) आर्थिक नियम आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन मात्र हैं। ये नियम केवल इतना ही बतलाते हैं कि किसी विशेष प्रकार की परिस्थितियों में मनुष्य के किस विशेष प्रकार के कार्य करने की सम्भावना है। दूसरे शब्दों में केवल सम्भावना का संकेत ही इन नियमों में होता है। यह आवश्यक नहीं कि ये परिणाम निश्चित और अनिवार्य रूप से घटित ही हों। समाज में रहने वाले मनुष्य की विचारधारा और उनकी परिस्थितियां परिवर्तनशील हैं, इसलिए प्रत्येक अवस्था में इन नियमों का समान रूप से घटित होना अनिवार्य नहीं है। ये नियम तो आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन मात्र होते हैं।

1. "Economic laws or statement of economic tendencies are those social laws which relate to branches of conduct in which the strength of motives chiefly concerned can be measured by money price."
—Marshall. Principles of Economics.

४

आर्थिक नियमों की प्रकृति

(*Nature of Economic Laws*)

Q. Discuss carefully the nature of Economic Laws How far in the light of your discussion, is it legitimate to call Economics a science.

प्रश्न — आर्थिक नियमों की प्रकृति का सावधानीपूर्वक विवेचन कीजिए। अपने इस विवेचन के प्रकाश में, कहां तक यह उचित होगा कि अर्थशास्त्र को एक विज्ञान कहा जाए ?

अथवा

Q. "The ,laws of economics are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation." (Marshall) Discuss fully the above statement.

(Agra M. A. 1947)

प्रश्न—"अर्थशास्त्र के नियमों की गुरुत्वाकर्षण के सरल और निश्चित नियम की अपेक्षा ज्वारभाटे के नियमों से तुलना की जा सकती है।"—मार्शल के उक्त कथन का पूर्ण विवेचन कीजिए।

(आगरा एम० ए० १९४७)

आर्थिक नियमों की प्रकृति

उत्तर—हमें अपने व्यवहारिक जीवन में अनेक नियमों से काम पड़ता है और स्वेच्छा से या अनिवार्य रूप से हम उन्हें मानते हैं, जैसे समाज द्वारा बनाये गये नियम, सरकार द्वारा बनाये गये नियम, अथवा नीतिशास्त्रों में बताये गये नियम। हमें देखना यह है कि अर्थशास्त्र के नियमों का स्वभाव कैसा है ?

हम अर्थशास्त्र को एक सामाजिक विज्ञान मानते हैं और प्रो० मार्शल के ब्दों में, प्रत्येक अन्य विज्ञान की भांति अर्थशास्त्र का कार्य भी तथ्यों को एकत्रित व्यवस्थित करना, उनकी व्याख्या करना तथा उससे निष्कर्ष निकालना र्थशास्त्र के नियम भी वैज्ञानिक नियम कहे जाते हैं। वैज्ञानिक अर्थ र्य उस सामान्य कथन से होता है जिसका उल्लेख किसी वस्तु- परिणाम का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए किया जाता

है। अर्थशास्त्र के नियम भी इसी श्रेणी में आते हैं और इनकी गिनती वैज्ञानिक नियमों में होती है। उदाहरण के लिए मांग का नियम यह बतलाता है कि किसी वस्तु के मूल्य बढ़ जाने पर उसकी मांग घट जाती है। यहाँ वस्तु का मूल्य बढ़ जाना कारण और मांग घटना परिणाम है। इसी प्रकार उपयोगिता ह्रास नियम यह बतलाता है कि जैसे जैसे हम किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग करते जाते हैं, वैसे वैसे सीमान्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता घटती जाती है। यहाँ पर वस्तुओं की मात्रा में निरन्तर वृद्धि कारण और उपयोगिता घटना परिणाम है। अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक नियम पाये जाते हैं जो किसी आर्थिक घटना के कारण तथा परिणाम के परस्पर सम्बन्धों को बतलाते हैं। इन नियमों के कारण ही अर्थशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में रखा गया है।

प्रोफेसर अल्फ्रेड मार्शल ने अपनी पुस्तक प्रिन्सीपल्स ऑफ इकानामिक्स (अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त) में इन्हें सामाजिक नियम बतलाया है। वे कहते हैं—"आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन आचरण की उन शाखाओं से सम्बन्धित सामाजिक नियम हैं जिनमें मनोवृत्तियों की शक्ति मुद्रा-मूल्य द्वारा मापी जाती है।"[1] इस परिभाषा का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि यह निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है:—

आर्थिक नियमों की विशेषतायें
१. आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन मात्र हैं।
२. मनोवृत्तियों की शक्ति मुद्रा द्वारा मापी जा सकती है।
३. ये सामाजिक नियम हैं।
४. आर्थिक नियम सापेक्षिक होते हैं।
५. आर्थिक नियम मान्यताओं पर आधारित होते हैं।

(१) आर्थिक नियम आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन मात्र हैं। ये नियम केवल इतना ही बतलाते हैं कि किसी विशेष प्रकार की परिस्थितियों में मनुष्य के किस विशेष प्रकार के कार्य करने की सम्भावना है। दूसरे शब्दों में केवल सम्भावना का संकेत ही इन नियमों में होता है। यह आवश्यक नहीं कि ये परिणाम निश्चित और अनिवार्य रूप से घटित ही हों। समाज में रहने वाले मनुष्य की विचारधारा और उनकी परिस्थितियां परिवर्तनशील हैं, इसलिए प्रत्येक अवस्था में इन नियमों का समान रूप से घटित होना अनिवार्य नहीं है। ये नियम तो आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन मात्र होते हैं।

1. "Economic laws or statement of economic tendencies are those social laws which relate to branches of conduct in which the strength of motives chiefly concerned can be measured by money price."

—Marshall: Principles of Economics.

(२) मनुष्यों की प्रवृत्ति की शक्ति मुद्रा द्वारा मापी जा सकती है। अन्य विज्ञान के कारण और प्रभावों का विश्लेषण करने के लिये भौतिक माप का सहारा ले सकते हैं, उसी प्रकार मार्शल ने आर्थिक नियमों की यह परिभाषा देते हुए मान लिया है कि अर्थशास्त्र में मानव आचरण की मनोवृत्तियों की शक्ति मुद्रा द्वारा सम्बन्धित है और धन सम्बन्धी क्रियाओं का निरूपण ही अर्थशास्त्र में होता है।

(३) आर्थिक नियम सामाजिक नियम हैं। अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, इसलिए वह समाज में रहने वाले साधारण और वास्तविक मनुष्यों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। आर्थिक नियम इस प्रकार सामाजिक नियम के एक अंश हैं।

(४) आर्थिक नियम सापेक्षिक होते हैं। उन पर देश, काल तथा परिस्थितियों का विशेष प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में ये नियम किसी दिये हुये समय तथा परिस्थितियों में ही सत्य सिद्ध हो सकते हैं। आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों की भाँति सर्वव्यापक नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, माँग के नियम के अनुसार, वस्तुओं के मूल्य बढ़ने पर माँग घटती है और मूल्य घटने पर माँग बढ़ती है। एक वस्तु की मांग, जो कि फैशन से बाहर होने के कारण निरुपयोगी हो गई हैं, मूल्य घटने पर भी नहीं बढ़ेगी। ठीक इसके विपरित युद्ध काल में युद्ध के साथ साथ वस्तु का मूल्य और उसको माँग दोनों ही बढ़ सकते हैं। स्वतन्त्र व्यापार की नीति भी सर्वत्र लाभदायक सिद्ध नहीं होगी। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में यह नीति देश को आर्थिक रूप से परतन्त्र बनाती है। किन्तु अर्थशास्त्र के सभी नियम सापेक्षिक नहीं होते, उनमें से कुछ सर्वव्यापक भी हैं। जो नियम मानव प्रकृति के आधारभूत तत्वों को ध्यान में रखकर बनाए गये हैं वे सर्वव्यापक है। इन नियमों पर देश, काल अथवा परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि मानव स्वभाव के आधारभूत तत्व सदा-सर्वत्र समान रहते है। जैसे उपयोगिता-ह्रास नियम, प्रतिस्थापना का सिद्धान्त, माँग और पूर्ति का नियम आदि। शेष नियम सापेक्षिक होते हैं, जो अन्य बातें समान रहने पर ही लागू होते हैं, जैसे विदेशी व्यापार, विदेशी विनिमय, मुद्रा, चलन और अधिकोषण से सम्बन्धित नियम।

(५) आर्थिक नियम काल्पनिक होते हैं। प्राय: आर्थिक नियम अन्य बातें समान रहने के वाक्यांश से संयुक्त होते हैं। किन्तु व्यवहारिक जीवन में अन्य बातें कभी समान नहीं रहती। उनमें परिवर्तन होता है। ये नियम विशेष और स्थिर दशाओं पर निर्भर रहते हैं और इसलिये इन्हें काल्पनिक कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में इन नियमों का कोई महत्व नहीं रह जाता। उपयोगिता ह्रास नियम के अन्तर्गत किसी वस्तु का अधिकाधिक प्रयोग कारण और प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता का घटना परिणाम है। किन्तु यह अनेक बातों के समान रहने पर ही ... है। उदाहरण के लिए, उपभोग की जाने वाली वस्तु की इकाई का बराबर

और पर्याप्त होना तथा एक इकाई के उपभोग के तत्काल बाद दूसरी इकाई का उपभोग होना आवश्यक है। आप एक रोटी अभी खायें और एक शाम को, तो स्वाभाविक रूप से बाद वाली रोटी की उपयोगिता अधिक होगी, किन्तु यहाँ पर उपयोगिता ह्रास नियम लागू नहीं होगा, क्योंकि अन्य बातें समान नहीं हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र के नियम मान्यताओं और कल्पनाओं पर आधारित होते हैं।

आर्थिक नियमों की उपरोक्त विशेषताऐं, मार्शल के अनुसार आर्थिक नियमों को भौतिक विज्ञान के नियमों से पृथक करती है। अर्थशास्त्र के नियम सामूहिक रूप से मनुष्यों के आर्थिक व्यवहार की ओर संकेत करते हैं, किन्तु व्यक्तिगत रूप से यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य उनके अनुसार कार्य करे। इसके विपरित प्राकृतिक नियम प्रत्येक दशा में समान रूप से सत्य उतरते हैं। इसी तरह अर्थशास्त्र के नियम सापेक्षिक होते हैं, किन्तु प्राकृतिक नियम सदैव सर्वव्यापक होते है। आर्थिक नियम कुछ मान्यताओं पर आधारित होते हैं और अत्यन्त जटिल होते हैं, जबकि प्राकृतिक नियम अत्यन्त सरल होते हैं और बहुत सी मान्यतायें उनके लिए आवश्यक नहीं होती। प्राकृतिक विज्ञानों का सम्बन्ध जड पदार्थों से होता है, जिनका विभाजन, निरीक्षण, परीक्षण तथा विश्लेषण प्रयोगशाला के अन्दर यन्त्रों और उपकरणों की सहायता से किया जा सकता है, इसलिये प्राकृतिक नियम अधिक निश्चित और सत्य होते हैं; जबकि अर्थशास्त्री की प्रयोगशाला मानवसमाज है और जीवित एवं सक्रिय मनुष्य ही उसके यन्त्र हैं और मनुष्य की मनोवृत्तियों का इस प्रकार विभाजन और विश्लेषण नहीं हो सकता, इसलिये उसके नियम अनिश्चित एवं अस्थिर होते हैं।

इस प्रकार प्रोफेसर मार्शल कहते हैं—आर्थिक नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के सरल और निश्चित नियम से न करते हुए ज्वारभाटे के नियमों से करनी चाहिए। इस प्रकार यद्यपि आर्थिक नियम वैज्ञानिक नियम है तथापि वे गुरुत्वाकर्षण के नियम की तरह सरल और निश्चित न होकर ज्वारभाटे के नियमों की तरह जटिल और अनिश्चित हैं। मार्शल के अनुसार ज्वारीय लहरों के नियम हमें निश्चयपूर्वक यह नहीं बतलाते कि सूर्य और चन्द्रमा के प्रभाव से जब ज्वार आते हैं तो लहरें किस प्रकार बनती हैं और इनका उतार-चढाव कैसा होता है? इन नियमों में सम्भवतः शब्द का प्रयोग किया जाता है जो कि इन नियमों की अनिश्चितता को सूचित करता है। हो सकता है कि सामुद्रिक वातावरण बदल जाने से ज्वार न आये, आये तो निश्चित समय से पहले या बाद में आये, और लहरें अधिक ऊँची न जायें। किन्तु गुरुत्वाकर्षण का नियम इस प्रकार अनिश्चित नहीं है। उसके अनुसार पृथ्वी में आकर्षण शक्ति होती है जिससे यदि हम वस्तु को ऊपर की ओर फेंकते हैं तो वह नीचे की ओर आती है। यह नियम सर्वत्र और सदैव व्यापक है। मार्शल अर्थशास्त्र के नियमों को जटिल और अनिश्चित बतलाते हैं, क्योंकि वे आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन मात्र हैं, उनकी घटना अनेक बातों के होने, न होने और स्थिर रहने पर

है तथा अर्थशास्त्रियों के पास ऐसी कोई प्रयोगशाला [illegible] नहीं है जो परिवर्तनशील जटिल सामाजिक जीवन का निरीक्षण [illegible] । चाहे उपयोगिता-ह्रास सिद्धान्त हो, चाहे मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त, अर्थशास्त्र के सभी नियम ऐसी प्रवृत्तियों को प्रकट करते हैं जिनका प्रभावशील होना अनेक बातों पर निर्भर करता है, और उनमें से एक में भी परिवर्तन होने पर उस नियम का प्रभाव कम हो जाता है । वास्तव में ये नियम अनिश्चित प्रवृत्तियों को प्रगट करते हैं । किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जाना चाहिये कि ये नियम अनिश्चित, असत्य एवं काल्पनिक ही होते हैं । यदि परिस्थितियाँ न बदलें तो ये नियम अनिवार्य और निश्चित रूप से लागू हो सकते हैं, इस नाते ये पूर्णतः सत्य और अटल हैं । किसी भी सामाजिक विज्ञान में परिस्थितियों का समान रहना सम्भव नहीं है, फिर भी उनके नियम वैज्ञानिक होते हैं क्योंकि ये कारण और परिणाम के सम्बन्धों पर आधारित होते हैं । इस प्रकार हम मार्शल के मत से सहमत हैं कि आर्थिक नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के सरल और निश्चित नियम की अपेक्षा ज्वारभाटे के नियमों से करनी चाहिये ।

किन्तु मार्शल के उपरोक्त निष्कर्ष की प्रो० राबिन्स ने कटु आलोचना की है ।

आर्थिक नियमों की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं—

"आर्थिक नियम असीमित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वैकल्पिक उपयोग वाले स्वल्प साधनों के उपयोग से सम्बन्धित मानव-व्यवहार की एकरूपताओं के कथन होते हैं ।"[1]

आर्थिक नियमों की उनकी यह परिभाषा उनके द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषा के अनुरूप है । उनके मतानुसार प्राकृतिक विज्ञानों की भांति अर्थशास्त्र भी एक वास्तविक विज्ञान है और आर्थिक नियमों को प्राकृतिक नियमों के समकक्ष माना जा सकता है । आर्थिक नियम भी उतने ही सर्वव्यापक, स्थिर, निश्चित एवं निरपेक्ष होते हैं जितने कि प्राकृतिक नियम । जिस प्रकार आर्थिक नियम काल्पनिक होते हैं, उसी प्रकार प्राकृतिक नियम भी होते हैं । जैसे, गुरुत्वाकर्षण नियम यह बतलाया है कि जब (हवा से भरी) वस्तु हवा में फेंकी जाएगी तो वह पृथ्वी पर गिरेगी । किन्तु जब एक गुब्बारा जो हवा से हल्का है, फेंके जाने पर नीचे गिरने की बजाय ऊपर उठता है, क्योंकि परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है । इसी प्रकार दो हिस्सा हाइड्रोजन और एक हिस्सा आक्सीजन मिलने पर पानी बनने का रासायनिक नियम भी साधारण तापक्रम और दबाव बदलने पर झूठा हो जाएगा । इससे

1. "Economic laws are statements of uniformities about human ehavior concerning of disposal of scarce means with alternative uses, for achievement of ends that are unlimited." —Robbins.

स्पष्ट है कि प्राकृतिक नियम भी उतने ही काल्पनिक हैं और अन्य बातें समान रहने पर ही सत्य हो सकते हैं और अर्थशास्त्र के नियमों से उनकी तुलना की जा सकती है।

फिर भी स्वीकार करना होगा कि मार्शल के इस कथन में कि आर्थिक नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के सरल और निश्चित नियम की अपेक्षा ज्वारभाटे के नियमों से करनी चाहिये, कुछ सच्चाई अवश्य है। निसन्देह दोनों प्रकार के नियम काल्पनिक हैं, परन्तु आर्थिक नियम अन्य नियमों की अपेक्षा अधिक काल्पनिक हैं, क्योंकि, एक तो, आर्थिक नियमों का सम्बन्ध मनुष्यों से है जो कि चेतन प्राणी है और आर्थिक शक्तियों के विरुद्ध कार्य कर सकते हैं जब कि प्राकृतिक विज्ञान का सम्बन्ध जड़ पदार्थों से होता है जो कि स्वयं अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकते; और दूसरे अन्य विज्ञानों के नियम प्रयोग के बाद बनाये जाते हैं, किन्तु अर्थशास्त्र में प्रयोग करना सदा सम्भव नहीं होता।

समाजशास्त्र, इतिहास और राजनीतिशास्त्र आदि अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में अर्थशास्त्र के नियम अधिक सत्य और निश्चित या कम काल्पनिक और अनिश्चित होते हैं। अर्थशास्त्र में मुद्रा के मापदण्ड की सहायता ली जा सकती है, जबकि अन्य सामाजिक विज्ञानों के पास ऐसा कोई निश्चित एवं सर्वमान्य मापदण्ड नहीं है। मार्शल की भाषा में, "जिस प्रकार रसायनशास्त्री की सही तराजू ने रसायनशास्त्र को अन्य पदार्थ विज्ञानों से अधिक सही बना दिया है, उसी प्रकार अर्थशास्त्री की तराजू (द्रव्य का मापदण्ड) भले ही वह रुक्ष एवं अपूर्ण हो, ने अर्थशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों से अधिक सही बना दिया है।"[1] वास्तव में काल्पनिक होने के कारण आर्थिक नियमों की उपयोगिता कम नहीं हो जाती है। ज्वारभाटे के नियमों के समान होते हुये भी उनकी उपयोगिता कम नहीं होती। अर्थशास्त्र के नियम साधारण प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं और ऐसा करने में वे पूर्ण सफल हैं। प्रो० चेपमेन ने कहा है कि यदि हम यह बात स्वीकार कर लें कि कुछ सामाजिक नियम प्राकृतिक नियमों की अपेक्षा कम व्यापकता लिये होते हैं तो इससे अर्थशास्त्र के विचार को कोई प्रत्यक्ष हानि नहीं होगी। इन सबको देखते हुए अर्थशास्त्र को आर्थिक नियमों के स्वभाव के बावजूद, विज्ञान माना जा सकता है। मार्शल के ही शब्दों में "अर्थशास्त्र विज्ञानों के समूह में स्थान पाता है, क्योंकि यद्यपि उसके मापदण्ड कभी भी पूर्ण निश्चित एवं अन्तिम नहीं होते हैं, तथापि वह सदैव उन्हें निश्चित बनाने और विषयों का क्षेत्र विस्तृत करने में क्रियाशील है, जिन पर कि कोई छात्र विज्ञान के अधिकार से चर्चा कर सके"

1. "Just as the chemist's fine balance has made chemistry more exact than most of other physical sciences, so this economist's balance (rod of money) rough and imperfect as it is, has made economics more exact than any other branch of social sciences" —Marshall.

५

सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र

(Micro-Economics and Macro-Economics)

Q. Distinguish between Micro-Economics and Macro-Economics. What is the relationship between the two and what is their individual significance in the study of modern economic problems. **(Agra, M. A. 1955, 1959, 1961)**

प्रश्न—सूक्ष्म-अर्थशास्त्र और व्यापक-अर्थशास्त्र में भेद कीजिये। इन दोनों में क्या सम्बन्ध है और आधुनिक आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में उनका क्या महत्व है ? (आगरा, एम० ए० १९५५, १९५९, १९६१)

"There is not really any opposition between micro and macro-economics. Both are absolutey vi tal and you are only hilf-educated if you understand the one while being gnorant of the other. (Paul Samullson). Discuss. **(Vikram 1961. M. Com.)**

"सूक्ष्म और व्यापक अर्थशास्त्र में परस्पर कोई विरोध नहीं है। वे दोनों पूर्णत: आवश्यक हैं और आप यदि एक के बारे में अनभिज्ञ है तो अर्द्ध शिक्षित हैं। (सेमुएलसन) विवेचन कीजिये। (विक्रम १९६१ एम. काम.)

Discuss the role of 'macro' and micro aspects of economic analysis. What are the dangers to be guarded against while using them. **(Vikram 1964, M. Com.)**

आर्थिक विश्लेषण के 'सूक्ष्म' और 'व्यापक' पहलुओं का महत्व प्रतिपादित कीजिये। उन्हें अपनाते समय किन खतरों से बचाव किया जाना चाहिये ?

(विक्रम १९६४ एम. काम.)

Distinguish between Micro and Macro economics and point out limitations of both kinds of analysis, **(Agra 1963 M. A.)**

सूक्ष्म और व्यापक अर्थशास्त्र में भेद कीजिए और दोनों प्रकार के विश्लेषण की सीमायें लिखिये। (आगरा १९६३ एम. ए.)

Distinguish between macro economics and micro-economics. the difficulties in macro-economic analysis ?

(Vikram 1966 M. A.)

सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र में भेद कीजिए। व्यापक अर्थशास्त्र की क्या कठिनाइयाँ हैं ? (विक्रम १९६६ एम. ए.)

सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र
(Micro-Economics and Macro-Economics)

आधुनिक अर्थशास्त्र में आर्थिक विश्लेषण के दो रूप पाये जाते है—सूक्ष्म विश्लेषण (Micro Analysis) और व्यापक विश्लेषण (Macro Analysis)।

सूक्ष्म अर्थशास्त्र (Micro-Economics) आधुनिक आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जो किसी अर्थ-व्यवस्था की किसी विशेष इकाइयों का, चाहे वे विशेष व्यक्ति, परिवार, फर्म या उद्योग हों या चाहे विशेष वस्तु के मूल्य, मजदूरी या आयो से सम्बन्धित हों, अध्ययन करती है। सूक्ष्म अर्थशास्त्र व्यक्तिगत उपभोक्ताओं और उत्पादकों की आर्थिक प्रवृत्तियों और आचरण का तथा व्यक्तिगत फर्म और उद्योग के सचालन के सिद्धान्तो का अध्ययन करता है।

किन्तु व्यापक अर्थशास्त्र (Macro-Economics) इसके विपरीत, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का उसके सम्पूर्ण रूप मे अध्ययन करता है, जैसे कुल राष्ट्रीय आय (National Income), कुल उपभोग और माग (Total Consumption), कुल बचत (Savings), विनियोग (Investment) और रोजगार (Employment)। प्रोफेसर बोल्डिंग (Boulding) के शब्दों मे, वह अर्थव्यवस्था की व्यक्तिगत मदों की अपेक्षा उसके बड़े समूहो और औसतों का अध्ययन करता है और उन समूहों को उपयोगी ढंग से परिभाषित करने और यह जाच करने का प्रयत्न करता है कि वे किस प्रकार सम्बन्धित हैं और किस प्रकार निर्धारित होते हैं।

इस प्रकार सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र आधुनिक आर्थिक विश्लेषण के दो विभिन्न पहलू हैं। एक में हम व्यक्तिगत इकाइयों का अध्ययन करते हैं और दूसरे में समूहों का। सूक्ष्म अर्थशास्त्र व्यक्तिगत उद्देश्यो और व्यवहार का विश्लेषण करता है और व्यापक अर्थशास्त्र सामूहिक कारण और प्रभावों का। सूक्ष्म अर्थशास्त्र के अध्ययन के द्वारा हम जान सकते हैं कि किसी वस्तु के उत्पादन, उपभोग और मूल्य मे क्यो और किस प्रकार परिवर्तन होते हैं। वह किसी विशेष फर्म और उद्योग मे होने वाले उतार-चढ़ावो की विस्तृत रूप से व्याख्या करता है। किसी उद्योग या फर्म मे समय-समय पर उतार चढाव क्यो आते है ? उनके आकार में संकुचन या विस्तार क्यो आता है ? और इन सब बातो का उद्योग या फर्म पर क्या प्रभाव पड़ता है ? यह सब सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण द्वारा बड़ी आसानी से जाना जा सकता है। किन्तु यदि हम यह जानना चाहते हैं कि किसी देश की राष्ट्रीय आय मे क्यों परिवर्तन होते है और उनका आर्थिक कल्याण पर क्या प्रभाव पड़ता है ? व्यापार-चक्र क्यों चलते हैं ? आर्थिक मन्दी या तेजी क्यो आती है ? आर्थिक विकास किस प्रकार सम्भव है ? पूर्ण रोजगार न होने के क्या कारण हैं ? कुल बचत और

विनियोग में किस प्रकार का सम्बन्ध होता है ? रहन-सहन के स्तर के निम्न या उच्च होने के क्या कारण है ? रोजगार का स्तर किस प्रकार निर्धारित होता है ? सामान्य मूल्य-स्तर में क्यों परिवर्तन होते हैं और उनका क्या प्रभाव पड़ता है आदि तो हमें व्यापक आर्थिक विश्लेषण की सहायता लेनी पड़ेगी।

सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र के भेद को प्रोफेसर अलवर्ट मेयर्स (Albert Meyers) की पुस्तक "एलिमेंट्स आफ माडर्न इकानामिक्स" (Elements of modern economics) के अध्ययन से आसानी पूर्वक समझा जा सकता है। उन्होंने अपनी पुस्तक के दो भाग किये हैं—सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र। सूक्ष्म अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उन्होंने आर्थिक प्रणाली में व्यक्ति, उपयोगिता, मांग, पूर्ति, प्रतिस्पर्धा बाज़ार-मूल्य, फर्म या उद्योग का सन्तुलन, आंशिक सन्तुलन, मजदूरी, ब्याज, लगान, लाभ, एकाधिकार, बहु-उत्पादन फर्म, साख-निर्माण, अधिकोषण, मुद्रा विनिमय की समस्याओं का विवेचन किया है। व्यापक अर्थशास्त्र में उन्होंने राष्ट्रीय आय, बचत और विनियोग का निर्धारण, पूर्ण रोजगार, उसका आय के आकार में वितरण से सम्बन्ध, उसके लिए मौद्रिक और आर्थिक नीति तथा व्यापारिक चक्रों का अध्ययन किया है।

इस प्रकार सूक्ष्म अर्थशास्त्र में यदि हम किसी वस्तु या सेवा के मूल्य का निर्धारण करते हैं तो व्यापक अर्थशास्त्र में यह देखते हैं कि कुल उत्पादन, कुल रोजगार और उत्पादन के साधनों में उत्पादन का वितरण किस प्रकार निर्धारित होता है। सूक्ष्म अर्थशास्त्र यदि हमें यह बतलाता है कि किसी धातु के मूल्य, उसकी माँग और उसके उत्पादन में किस प्रकार परिवर्तन होते हैं तो व्यापक अर्थशास्त्र हमें यह समझता है कि कुल रोजगार, कुल उत्पादन और उत्पादकों की आय किस प्रकार समय समय पर बदलती रहती है। एक प्रकार से यदि सूक्ष्म अर्थशास्त्र व्यक्तिगत उतार चढ़ावों का स्पष्टीकरण है तो व्यापक अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के उतार-चढ़ावों का। यदि शकर के भावों में मन्दी के कारणों का अध्ययन करना है तो उसके लिये सूक्ष्म अर्थशास्त्र उपयुक्त होगा, किन्तु १९३० की आर्थिक मन्दी का अध्ययन तो व्यापक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही किया जा सकेगा।

व्यापारवादी विचारधारा के लोग अपना संबन्ध सारी अर्थ-व्यवस्था से रखते थे। इसी कारण उनका अर्थशास्त्र व्यापक था। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का अर्थशास्त्र सूक्ष्म और व्यापक दोनों प्रकार का था। एडम-स्मिथ और उनके अनुयायी साधनों के कुल उपयोग तथा कुल उत्पत्ति को मानकर चले हैं। इस सीमा तक तो उनका अर्थशास्त्र व्यापक था। किन्तु इन बातों को मानते हुए भी उन्होंने कहा कि मनुष्य स्वहित से प्रेरित होकर कार्य करता है और ऐसा करने में उसको अधिकतम लाभ होता है। स्वहित के आधार पर उन्होंने बताया कि किस प्रकार उत्पत्ति के विभिन्न साधनों

आर्थिक विचारधारा के इतिहास में सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र की प्रगति

को एकमात्र किया जाता है तथा किस प्रकार किसी वस्तु का अन्तिम मूल्य निश्चित होता है तथा किस प्रकार उत्पत्ति को उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में बांटा जाता है। इन व्यक्तिगत समस्याओं का अध्ययन करने के कारण क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अर्थशास्त्र को सूक्ष्म अर्थशास्त्र कहा जाता है। परन्तु क्लासिकल अर्थशास्त्रियों में माल्थस एक ऐसा व्यक्ति था जो कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की इस बात से सहमत न था कि स्वःहित के द्वारा व्यक्तिगत उपभोक्ता अपने आपको सारे देश की अर्थव्यवस्था से सामजस्य स्थापित कर लेता है। इसके विपरीत माल्थस का विश्वास था कि समस्त मांग के लिये समस्त उत्पत्ति अपर्याप्त होती है। इसी कारण माल्थस को व्यापक अर्थशास्त्र में विश्वास रखने वाला कह सकते हैं। माल्थस का जनसंख्या का सिद्धांत आधुनिक व्यापक आर्थिक विश्लेषण का प्रारम्भ कहा जा सकता है। माल्थस की भांति मार्क्स ने भी सारी अर्थव्यवस्था की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है और उनके अध्ययन को भी हम व्यापक अर्थशास्त्र में सम्मिलित कर सकते हैं। किन्तु फिर भी सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण ने अत्यन्त प्रगति की। विद्वानों ने पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को आधार मानकर अपना ध्यान व्यक्तिगत व्यवहार के अध्ययन में ही केन्द्रित रखा और 'व्यापक' विश्लेषण की वे अपेक्षा करते रहे। वास्तव में यह स्वाभाविक भी था क्योंकि उन्नत एवं समृद्ध अर्थ-व्यवस्था उस समय सहज गति से कार्य कर रही थी, और ऐसी अवस्था में सामान्य अध्ययन अनावश्यक था क्योंकि रोजगार, आय और मूल्यों के सामान्य स्तर के अध्ययन का महत्व या तो अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में हो सकता है या अर्थव्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न होने पर ही समझा जा सकता है। यही कारण था कि सन् १६३० की आर्थिक मन्दी ने सबका ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। कीन्स (Keynes) ने पूर्ण रोजगार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, और अन्य अर्थशास्त्री भी सामाजिक कल्याण और आर्थिक विज्ञान की चर्चा करने लगे। परिणाम स्वरूप कीन्स के साथ ही पीगू (Pigou) मार्शल, (Marshal) वालरस, (Walras) विक्सेल, (Wicksell) और फिशर (Fisher) आदि अनेक आधुनिक अर्थशास्त्री भी व्यापक आर्थिक विश्लेषण की उन्नति में लग गए। कीन्स ने यह नहीं कहा कि सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण आपत्ति जनक है, किन्तु उसने उसकी दुर्बलताओं पर प्रकाश डाला और बताया कि जैसे ही पूर्ण रोजगार वाली अर्थव्यवस्था स्थापित हो जाती है, सूक्ष्म विश्लेषण प्रभावशील हो जाता है।

सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध :—

यद्यपि सूक्ष्म और व्यापक अर्थशास्त्र का कार्य क्षेत्र एक दूसरे से बिल्कुल पृथक है, फिर भी ये दोनों परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बंधित है। व्यापक अर्थशास्त्र की समस्याओं को सुलझाने में सूक्ष्म अर्थशास्त्र के अध्ययन की सहायता ली जाती है और सूक्ष्म अर्थशास्त्र की समस्याओं को सुलझाने में व्यापक अर्थशास्त्र का अध्ययन काम आता है।

विनियोग में किस प्रकार का सम्बन्ध होता है ? ब्याज-दर के स्तर के निम्न या उच्च होने के क्या कारण हैं ? रोजगार का स्तर किस प्रकार निर्धारित होता है ? सामान्य मूल्य-स्तर में क्यों परिवर्तन होते हैं और उनका क्या प्रभाव पड़ता है आदि तो हमें व्यापक आर्थिक विश्लेषण की सहायता लेनी पड़ेगी ।

सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र के भेद को प्रोफेसर अलबर्ट मेयर्स (Albert Meyers) की पुस्तक "एलिमेंट्स आफ माडर्न इकानामिक्स" (Elements of modern economics) के अध्ययन से आसानी पूर्वक समझा जा सकता है । उन्होंने अपनी पुस्तक के दो भाग किये हैं— सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र । सूक्ष्म अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उन्होंने आर्थिक प्रणाली में व्यक्ति, उपयोगिता, मांग, पूर्ति, प्रतिस्पर्धा बाज़ार-मूल्य, फर्म या उद्योग का सन्तुलन, आंशिक सन्तुलन, मजदूरी, ब्याज, लगान, लाभ, एकाधिकार, बहु-उत्पादन फर्म, साम्य-निर्माण, अधिकोषण, मुद्रा विनिमय की समस्याओं का विवेचन किया है । व्यापक अर्थशास्त्र में उन्होंने राष्ट्रीय आय, बचत और विनियोग का निर्धारण, पूर्ण रोजगार, उसका आय के आकार में वितरण से सम्बन्ध, उसके लिए मौद्रिक और आर्थिक नीति तथा व्यापारिक चक्रों का अध्ययन किया है ।

इस प्रकार सूक्ष्म अर्थशास्त्र में यदि हम किसी वस्तु या सेवा के मूल्य का निर्धारण करते हैं तो व्यापक अर्थशास्त्र में यह देखते हैं कि कुल उत्पादन, कुल रोजगार और उत्पादन के साधनों में उत्पादन का वितरण किस प्रकार निर्धारित होता है । सूक्ष्म अर्थशास्त्र यदि हमें यह बतलाता है कि किसी धातु के मूल्य, उसकी मांग और उसके उत्पादन में किस प्रकार परिवर्तन होते हैं तो व्यापक अर्थशास्त्र हमें यह समझता है कि कुल रोजगार, कुल उत्पादन और उत्पादकों की आय किस प्रकार समय समय पर बदलती रहती है । एक प्रकार से यदि सूक्ष्म अर्थशास्त्र व्यक्तिगत उतार चढ़ावों का स्पष्टीकरण है तो व्यापक अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के उतार-चढ़ावों का । यदि शकर के भावों में मन्दी के कारणों का अध्ययन करना है तो उसके लिये सूक्ष्म अर्थशास्त्र उपयुक्त होगा, किन्तु १९३० की आर्थिक मन्दी का अध्ययन तो व्यापक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही किया जा सकेगा ।

व्यापारवादी विचारधारा के लोग अपना संबन्ध सारी अर्थ-व्यवस्था से रखते थे । इसी कारण उनका अर्थशास्त्र व्यापक था । क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का अर्थशास्त्र सूक्ष्म और व्यापक दोनों प्रकार का था । एडम-स्मिथ और उनके अनुयायी

आर्थिक विचारधारा के इतिहास में सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र की प्रगति

साधनों के कुल उपयोग तथा कुल उत्पत्ति को मानकर चले हैं । इस सीमा तक तो उनका अर्थशास्त्र व्यापक था । किन्तु इन बातों को मानते हुए भी उन्होंने कहा कि मनुष्य स्वहित से प्रेरित होकर कार्य करता है और ऐसा करने में उसको अधिकतम लाभ होता है । स्वहित के आधार पर उन्होंने बताया कि किस प्रकार उत्पत्ति के विभिन्न साधनों

को एकमात्र किया जाता है तथा किस प्रकार किसी वस्तु का अन्तिम मूल्य निश्चित होता है तथा किस प्रकार उत्पत्ति को उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में बांटा जाता है। इन व्यक्तिगत समस्याओं का अध्ययन करने के कारण क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अर्थशास्त्र को सूक्ष्म अर्थशास्त्र कहा जाता है। परन्तु क्लासिकल अर्थशास्त्रियों में माल्थस एक ऐसा व्यक्ति था जो कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की इस बात से सहमत न था कि स्व.हित के द्वारा व्यक्तिगत उपभोक्ता अपने आपका सारे देश की अर्थव्यवस्था से सामजस्य स्थापित कर लेता है। इसके विपरीत माल्थस का विश्वास था कि समस्त मांग के लिये समस्त उत्पत्ति अपर्याप्त होती है। इसी कारण माल्थस को व्यापक अर्थशास्त्र में विश्वास रखने वाला कह सकते हैं। माल्थस का जनसंख्या का सिद्धांत आधुनिक व्यापक आर्थिक विश्लेषण का प्रारम्भ कहा जा सकता है। माल्थस की भांति मार्क्स ने भी सारी अर्थव्यवस्था की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है और उनके अध्ययन को भी हम व्यापक अर्थशास्त्र में सम्मिलित कर सकते हैं। किन्तु फिर भी सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण ने अत्यन्त प्रगति की। विद्वानों ने पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को आधार मानकर अपना ध्यान व्यक्तिगत व्यवहार के अध्ययन में ही केन्द्रित रखा और 'व्यापक' विश्लेषण की वे अपेक्षा करते रहे। वास्तव में यह स्वाभाविक भी था क्योंकि उन्नत एवं समृद्ध अर्थ-व्यवस्था उस समय सहज गति से कार्य कर रही थी, और ऐसी अवस्था में सामान्य अध्ययन अनाव-श्यक था क्योंकि रोजगार, आय और मूल्यों के सामान्य स्तर के अध्ययन का महत्व या तो अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में हो सकता है या अर्थव्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न होने पर ही समझा जा सकता है। यही कारण था कि सन् १९३० की आर्थिक मन्दी ने सबका ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। कीन्स (Keynes) ने पूर्ण रोजगार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, और अन्य अर्थशास्त्री भी सामाजिक कल्याण और आर्थिक विज्ञान की चर्चा करने लगे। परिणाम स्वरूप कीन्स के साथ ही पीगू (Pigou) मार्शल, (Marshal) वालरस, (Walras) विक्सैल, (Wicksell) और फिशर (Fisher) आदि अनेक आधुनिक अर्थशास्त्री भी व्यापक आर्थिक विश्लेषण की उन्नति में लग गए। कीन्स ने यह नहीं कहा कि सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण आपत्ति जनक है, किन्तु उसने उसकी दुर्बलताओं पर प्रकाश डाला और बताया कि जैसे ही पूर्ण रोजगार वाली अर्थव्यवस्था स्थापित हो जाती है, सूक्ष्म विश्लेषण प्रभावशील हो जाता है।

सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध :—

यद्यपि सूक्ष्म और व्यापक अर्थशास्त्र का कार्य क्षेत्र एक दूसरे से बिल्कुल पृथक है, फिर भी ये दोनों परस्पर घनिष्ट रूप से संबंधित हैं। व्यापक अर्थशास्त्र की समस्याओं को सुलझाने में सूक्ष्म अर्थशास्त्र के अध्ययन की सहायता ली जाती है और सूक्ष्म अर्थशास्त्र की समस्याओं को सुलझाने में व्यापक अर्थशास्त्र का अध्ययन काम आता है।

सूक्ष्म अर्थशास्त्र में हम विशिष्ट इकाईयों का अध्ययन करते हैं और ये विशिष्ट इकाईयां एक समूह की, और अन्ततोगत्वा अर्थ-व्यवस्था की, एक अंग होती हैं और उनका व्यवहार तथा आचरण समूह तथा अर्थव्यवस्था की अन्य दशाओं पर बहुत कुछ निर्भर होता है, अतः सूक्ष्म अर्थशास्त्र को व्यापक आर्थिक विश्लेषण के निष्कर्षों से सहायता लेनी ही पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति, फर्म या उद्योग का आचरण अन्य व्यक्तियों, फर्मों तथा उद्योगों के आचरण की अपेक्षा नहीं कर सकता है। किसी विशेष वस्तु की मांग, पूर्ति, और कीमत अन्य समस्त वस्तुओं की मांग, पूर्ति और कीमतों से, किसी विशेष फर्म या उद्योग का उत्पादन अन्य समस्त उद्योगों के उत्पादन से, किसी विशेष फर्म के मजदूरों की मजदूरी अन्य समस्त मजदूरों की मजदूरी से, किसी विशेष व्यक्ति की आय अन्य समस्त व्यक्तियों की आय से और व्यक्तिगत आर्थिक समस्यायें सामूहिक आर्थिक समस्याओं से किसी न किसी प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती है। उदाहरण के लिए हम यह जानना चाहते हैं कि किसी फर्म के श्रमिकों को क्या मजदूरी मिले ? किन्तु एक फर्म के श्रमिकों की मजदूरी दूसरे फर्मों की मजदूरी से सम्बद्ध है और उसी पर निर्भर भी करती है। वास्तव में किसी फर्म के मजदूरों की मजदूरी न, केवल फर्म की श्रमिकों की मांग पर निर्भर करती है किन्तु इस बात पर निर्भर करती है कि श्रमिकों की मांग उद्योग तथा सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था में कितनी है। इसी प्रकार एक फर्म या उद्योग को कितना उत्पादन करना चाहिये, यह रोजगार और आय के स्तर पर तथा सम्पूर्ण समाज की उस उत्पादन के लिये मांग पर निर्भर करेगा। प्रकार यह स्पष्ट है कि सूक्ष्म अर्थशास्त्र की समस्या को भली भांति समझने के लिये व्यापक आर्थिक विश्लेषण भी आवश्यक है।

जिस प्रकार सूक्ष्म आर्थिक समस्याओं में व्यापक आर्थिक विश्लेषण निहित है, उसी प्रकार व्यापक आर्थिक विश्लेषण सूक्ष्म-आर्थिक सिद्धांतों की सहायता के बिना असम्भव। समाज व्यक्तियों से, अर्थव्यस्था उद्योगों से, उद्योग फर्मों से और फर्म उत्पत्ति के विभिन्न साधनों से बनती है और हम सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली का उचित अध्ययन व्यक्ति, घर, फर्म या उद्योग के माध्यम से ही सम्भव है। समूह इकाईयों से ही बनते हैं और सामान्य व्यवहार अनेकों विशिष्ट व्यवहारों का व्यापक रूप होता है। अतः व्यापक अर्थशास्त्र के लिए सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिये व्यक्तिगत फर्मों के उत्पादन के योग से केवल उत्पादन का और व्यक्तिगत आयों के योग से राष्ट्रीय आय का निर्माण होता है। आर्थिक गतिविधि का स्तर, समाज में उपभोग, बचत और विनियोग का आकार, राष्ट्रीय और रोजगार की दशा आदि—ये सभी विशेष व्यक्तियों और फर्मों के असंख्य निर्णयों के परिणाम हैं। यद्यपि ये सभी निर्णय एक जैसे नहीं होते हैं, भिन्न २ व्यक्तियों और फर्मों ने विभिन्न वस्तुओं, दशाओं, कार्यों और दृष्टिकोणों से इन्हें भिन्न २ प्रकार से [illegible] किया है, तथापि उनका सामूहिक और सामान्य परिणाम हमसे

सामने इन्हीं रूपों में आता है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली को समझने के लिए उन प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों का अध्ययन आवश्यक है जो कि विशिष्ट व्यक्तियों और फर्मों के व्यवहार को शासित करते हैं। इस प्रकार व्यापक अर्थशास्त्र के अध्ययन में आवश्यक रूप से सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण निहित होता है।

सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र दोनों में, अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध होने पर भी, आधारभूत भेद हैं और एक के निष्कर्षों का उपभोग दूसरे में करते हुए हमें अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। एक व्यक्ति या विशिष्ट व्यक्ति के सम्बन्ध में सत्य हो, उसी का एक समूह या सामान्य के सम्बन्ध में सत्य होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति विशेष कागजी नोट पाकर धनवान हो सकता है, किन्तु एक राष्ट्र कागजी नोट छाप कर समृद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक व्यक्ति अपनी आय से कम या अधिक व्यय कर सकता है, किन्तु किसी अर्थव्यवस्था की कुल आय उसके कुल व्यय के बराबर, न कम और न अधिक, होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, सूक्ष्म अर्थशास्त्र के विषयों में, व्यक्तिगत व्यवहार में व्यापक अर्थशास्त्र के विषय सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की अपेक्षा परिवर्तन शील और सहज होते हैं। इसलिए हमें सावधानी रखनी चाहिए कि विशिष्ट निष्कर्षों को हम सामान्य न मान लें और सामान्य सत्यों के आधार पर व्यक्तिगत व्यवहार को अवास्तविक न समझ लें। फिर भी हमें यह तो मानना ही होगा कि सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र परस्पर निर्भर और सम्बद्ध है।

सूक्ष्म-अर्थशास्त्र और व्यापक-अर्थशास्त्र का महत्व

(Significance of Micro Economics and Macro Economics)

सूक्ष्म और व्यापक आर्थिक विश्लेषण दोनों ही किसी अर्थव्यवस्था का ठीक अनुमान लगाने के लिये आवश्यक होते हैं। आर्थिक समस्याओं के हल के लिये दोनों ही प्रकार का अध्ययन आवश्यक है।

सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण : उसकी सीमायें (Limitations of Micro Economic Analysis)—व्यक्तिगत और विशिष्ट आर्थिक समस्याओं का अध्ययन सूक्ष्म अर्थशास्त्र करता है। इस प्रकार सूक्ष्म अर्थशास्त्र व्यक्तियों, परिवारों, फर्मों और अन्य इकाइयों को अपने आर्थिक व्यवहार के सम्बन्ध में निर्णय करने में सहायता प्रदान करता है। सूक्ष्म अर्थशास्त्र व्यक्तिगत आय, व्यय, उपभोग, बचत, विनियोग के स्रोतों और स्वभावों का विश्लेषण करता है। किसी फर्म या उद्योग की कार्यक्षमता पर विचार करता है, उनकी समस्याओं का हल प्रस्तुत करता है और उसका स्वरूप निर्धारित करता है। किसी वस्तु का मूल्य या उत्पत्ति के किसी साधन का प्रतिफल किस प्रकार निर्धारित होता है, इस पर भी वह प्रकाश डालता है। संक्षेप में, सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। कीन्स के शब्दों में "वह

वैचारिक-यन्त्र का आवश्यक अंग है।" किन्तु सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण की दो सीमायें हैं—एक तो यह कि वह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सही चित्र प्रस्तुत नहीं करता और दूसरे वह पूर्ण रोजगार वाली अर्थव्यवस्था में ही लागू होता है। सूक्ष्मार्थिक विश्लेषण केवल इकाइयों का अध्ययन करने में व्यस्त होता है और इन इकाइयों का विशिष्ट व्यवहार उनके सामूहिक, सामान्य और औसत व्यवहार से बिल्कुल भिन्न होता है। इसी तरह यह पूर्ण रोजगार वाली अर्थव्यवस्था की कल्पना करता है, जबकि ऐसा होना आवश्यक नहीं हैं। ऐसा करने से, कीन्स के अनुसार, हम अनेक कठिनाइयों से बच जाते हैं। किन्तु हमें पूर्ण रोजगार, स्वःहित और पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा जैसी अवास्तविक मान्यतायें त्याग देनी चाहियें।

व्यापक आर्थिक विश्लेषण, सीमायें और उपयोग
(Macro-Economics, Limitations and Uses)

सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण

उपयोग

(१) व्यक्तिगत आर्थिक निर्णय में सहायता
(२) आय, व्यय, उपभोग, बचत, विनियोग के स्रोतों एवं स्वभाव का विश्लेषण
(३) व्यक्तिगत समस्याओं का निराकरण
(४) सामूहिक एवं व्यापक विश्लेषण में सहायक

सीमायें

(१) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सही चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ
(२) पूर्ण रोजगार वाली अर्थव्यवस्था में ही प्रभावशील।

व्यापक अर्थशास्त्र सामाजिक और सामान्य आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करता है। ऐसा करने में उसे प्रायः अपने सामान्य सिद्धान्तों के निर्माण में सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण के निष्कर्षों की सहायता लेनी पड़ती है और इस कारण व्यापक आर्थिक विश्लेषण में अनेक कठिनाइयाँ एवं भय उपस्थित रहते हैं। व्यापक आर्थिक विश्लेषण की निम्न सीमायें हैं :—

(१) व्यक्तियों एवं इनके लघु समूहों पर लागू होने वाले निष्कर्ष सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर भी लागू हों, ऐसा आवश्यक नहीं है।

(२) यह सम्भव है कि अध्ययन करते हुए उन भेदों पर ध्यान न दिया जाए जो कि एक समूह में स्वाभाविक रूप से विद्यमान हों।

(३) यह सम्भव है कि समूह की कुछ मदें अमहत्वपूर्ण हों।

(४) समूह की अपेक्षा समूह की रचना और उसके अंग अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

(५) समूह अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाली मदों से मिलकर बनता है। एकरूपता के अभाव में समूह का माप करना कठिन होता है।

वास्तव में जो बातें किसी एक व्यक्ति के सम्बन्ध में सत्य हों, वे सम्पूर्ण समाज के सम्बन्ध में असत्य हो सकती हैं। प्रो० बोल्डिंग के शब्दों में, "व्यापक अर्थशास्त्र में हमें अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर कोई सामान्य निष्कर्ष निकालते समय अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। अपने व्यक्तिगत अनुभवों से सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचने की हमें ऐसी आदत पड़ गई है कि हम प्राय ऐसा कर बैठते हैं। वास्तव में यह हमारे सामाजिक चिन्तन का एक महान् दोष है।" हमें पृथक-पृथक मदों के स्वभाव पर भी ध्यान देना चाहिए और उन्हें एक ही स्वभाव का नहीं मान लेना चाहिए। यही नहीं, समूह को बनाने वाली मदें परस्पर सम्बन्धित, रोचक एवं महत्वपूर्ण होनी चाहियें। समूह की रचना और उसकी इकाइयों की प्रक्रियाओं के अध्ययन के बिना कोई सामान्य निष्कर्ष प्रतिपादित नहीं करना चाहिये। इसके लिए सामान्य मापदण्ड अपनाया जाना चाहिये।

व्यापक आर्थिक विश्लेषण

महत्व

(१) जटिल अर्थव्यवस्था का अध्ययन
(२) आर्थिक नीतियों का आधार
(३) आर्थिक समस्याओं का निराकरण

सीमायें

(१) सामूहिक निष्कर्ष और वैयक्तिक हितों में विरोध
(२) वैयक्तिक भेदों की उपेक्षा
(३) अमहत्वपूर्ण मदें
(४) समूह की रचना अंगोपांग अधिक महत्वपूर्ण
(५) एकरूपता का अभाव।

इन सीमाओं और दुर्बलताओं के बावजूद भी व्यापक आर्थिक विश्लेषण अत्यन्त उपयोगी है।

आधुनिक अर्थव्यवस्था अत्यन्त जटिल है। वह किस प्रकार कार्य करती है, इसको समझने में व्यापक आर्थिक विश्लेषण अत्यन्त सहायक करता है, क्योंकि व्यक्तिगत एवं सूक्ष्म रूप से इस विशाल एवं जटिल अर्थव्यवस्था का अध्ययन करना असम्भव है। आर्थिक तत्व परस्पर सम्बद्ध होते हैं और उनका पृथक-पृथक अध्ययन अर्थव्यवस्था के वास्तविक एवं सामान्य स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सकता है। राष्ट्रीय आय, बचत, विनियोग, रोजगार, उपभोग और मूल्य-स्तर तथा आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण इन सभी के अध्ययन के लिये व्यापक आर्थिक विश्लेषण अत्यन्त उपयोगी होता है और किसी व्यक्ति, फर्म या मद का सूक्ष्म अध्ययन इसे स्पष्ट नहीं कर सकता है।

इस प्रकार एक विशाल एवं जटिल अर्थव्यवस्था का व्यापक विश्लेषण उचित आर्थिक नीतियों के निर्माण को भी सुगम कर देता है। किसी अर्थव्यवस्था की

जटिलताओं, विविधताओं और समस्याओं का अध्ययन उस अर्थव्यवस्था की सुनियोजित प्रगति के लिये नीति निर्धारित करने में सहायता करता है। प्रो० बोल्डिंग कहते हैं कि आर्थिक नीति के दृष्टिकोण से व्यापक अर्थशास्त्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि सरकार की आर्थिक नीतियाँ व्यक्तियों के समूहों से सम्बन्ध रखती हैं। वास्तव में आर्थिक दृष्टिकोण से राज्य एक व्यक्तियों का समूह है और इसलिये उसका अध्ययन व्यापक आर्थिक रूप से होना चाहिये। कोई देश अपनी राष्ट्रीय आय बढ़ाने, रोजगार के स्तर को सुधारने और सामाजिक कल्याण की वृद्धि के लिये किस प्रकार की आर्थिक प्रणाली अपनाये या अर्थव्यवस्था में क्या सुधार करे या अन्य कौन सी रीतियाँ एवं उपकरण प्रयुक्त करे इन सब बातों का निर्णय व्यापक अर्थशास्त्र की सहायता से ही किया जा सकता है। नियोजित अर्थव्यवस्था में भी राष्ट्रीय आय, रोजगार, उत्पादन एवं उपभोग के लक्ष्म, प्राथमिकताओं का क्रम, मूल्य-नियन्त्रण आदि समस्याओं पर व्यापक आर्थिक विश्लेषण ही प्रकाश डाल सकता है। इस प्रकार, आर्थिक नीतियों का निर्माण व्यापक अर्थशास्त्र की सहायता से ही हो सकता है।

वास्तव में व्यापक अर्थशास्त्र आधुनिक युग की विविध आर्थिक समस्याओं के समाधान में अत्यन्त सहायक हो सकता है। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि दो देशों में विकास के स्तर में इतनी अधिक असमानता क्यों है ? या रोजगार, उत्पादन एवं मूल्य के स्तर में इतने अधिक परिवर्तन क्यों होते हैं ? या आर्थिक प्रणाली को स्थिर, सूक्ष्म एवं प्रगतिशील बनाने के लिये क्या करना चाहिए ? तो इन समस्याओं पर सामूहिक रूप से ही विचार किया जा सकता है और व्यापक आर्थिक विश्लेषण ही इनमें सहायता कर सकता है। इस प्रकार व्यापक अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के निरूपण, आर्थिक नीतियों के निर्माण एवं आर्थिक समस्याओं के समाधान में सहायता करता है।

निष्कर्ष —

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आर्थिक विश्लेषण के दोनों ही प्रकार आर्थिक व्यवहार के समुचित निरुपण के लिए आवश्यक हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी उपयोगिता और अपना महत्व है तथा प्रत्येक की अपनी सीमायें भी हैं जिनका आर्थिक विश्लेषण के समय हमने समुचित ध्यान रखना चाहिये। अन्त में हम प्रोफेसर पाल सेमुएलसन (Paul Samuelson) के इस कथन को दोहराते हैं कि "सूक्ष्म अर्थशास्त्र और व्यापक अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों ही नितान्त आवश्यक हैं, और यदि एक से अनभिज्ञ रहकर आप दूसरे को समझते हैं तो आप अर्द्ध शिक्षित मात्र हैं।"

६

स्थिर एवं परिवर्तनशील अर्थशास्त्र

(Static and Dynamic Economics)

Q. Distinguish between Static and Dynamic Economics and examine critically the need for Dynamic Economics.

(Agra, M. A., 1955)

प्रश्न—स्थिर एवं परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में भेद कीजिये एवं परिवर्तनशील अर्थशास्त्र की आवश्यकता की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

(आगरा एम० ए० १९५५)

स्थिर एवं परिवर्तनशील अर्थशास्त्र

उत्तर—आधुनिक युग अर्थशास्त्र का अध्ययन दो रूपों में किया जाता है—स्थिर अर्थशास्त्र के रूप में और परिवर्तनशील अर्थशास्त्र के रूप में किन्तु अर्थशास्त्र के साथ ये विशेषण लगाना न तो उपयुक्त ही है और न ये सही तात्पर्य ही प्रगट करते हैं। वास्तव में, यद्यपि अर्थशास्त्र में इन शब्दों का प्रयोग दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है, फिर भी बहुत कम अवसरों पर इनका सही और उचित प्रयोग हुआ है। भौतिक विज्ञान में जिन अर्थों में इन शब्दों का प्रयोग होता है, उससे कहीं भिन्न अर्थ इनका आर्थिक विज्ञान में लिया जाता है। फिर हीक्स और कालेकी जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने भी इनको अलग-अलग अर्थों में प्रयोग किया है।

स्थिर अर्थशास्त्र स्थिर अर्थव्यवस्था का अध्ययन करता है और परिवर्तनशील अर्थशास्त्र परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था का। भौतिक विज्ञान की भांति अर्थशास्त्र में 'स्थिर' शब्द विराम की अवस्था का प्रतीक नहीं है और हमारा सम्बन्ध किसी मृतक या गतिहीन अर्थव्यवस्था से नहीं होकर एक ऐसी अर्थव्यवस्था से है जिसमें गति तो है किन्तु यह गति निरन्तर नियमित, निश्चित एवं शान्तिपूर्वक होती है। इसमें एकाएक अवरोध, टकराव या चढ़ाव नहीं होते और अनिश्चितता का, जो कि परिवर्तनों को जन्म देती है, नितान्त अभाव होता है। 'स्थिर' शब्द निष्क्रियता का प्रतीक न होकर अनिश्चितता के अभाव, नियमितता एवं निरन्तरता के अस्तित्व को प्रगट करता है। अर्थशास्त्र में विराम का आशय केवल इतना है कि विभिन्न मात्रायें स्थिर रहती हैं और इन निरन्तर मात्राओं से अर्थव्यवस्था कार्य करती रहती है। इस

सक्रिय किन्तु अपरिवर्तनशील प्रक्रिया को ही प्रो० मार्शल ने स्थिर अर्थशास्त्र का नाम दिया है। पीगू के शब्दों में जिन बूंदों से मिलकर झरना बनता है वे सदा बदलती रहती है, किन्तु झरने का रूप वही बना रहता है। इसी प्रकार स्थिरता की अवस्था में परिवर्तन तो होते हैं लेकिन वे महत्वपूर्ण नहीं होते।" टिम्बरजन के मतानुसार उन आर्थिक सिद्धान्तों को जो कि स्थिर अर्थव्यवस्था की कल्पना पर आधारित होते हैं स्थिर अर्थशास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है। प्रोफेसर मेकाईफ ने स्थिर अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में लिखा है—"कोई आर्थिक प्रणाली स्थिर अवस्था में तब होती है जबकि उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण को नियंत्रित करने वाले घटक समान होते हैं या समान मान लिये जाते हैं। जनसंख्या में न तो वृद्धि होती है, न कमी और न जनसंख्या की आयु रचना में ही कोई परिवर्तन होता है, उत्पादन की रीतियां और कुल उत्पादन वही रहते हैं और यदि जनसंख्या में परिवर्तन होता भी है तो उत्पादन में भी उसी अनुपात में परिवर्तन हो जाता है।" इस प्रकार प्रयोग की जाने वाली मात्रायें स्थिर रहती हैं और अर्थव्यवस्था सहज गति से कार्य करती रहती है। स्थिर अर्थशास्त्र ऐसी ही अर्थव्यवस्था का अध्ययन करता है।

इसके विपरीत परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था का अध्ययन होता है। परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था वह है जिसमें समय-समय पर आर्थिक जगत में, जैसे वस्तु के उत्पादन की मात्रा, उसके साधन और उसकी मांग आदि में, परिवर्तन हुआ करते हैं। प्रोफेसर हिक्स के अनुसार परिवर्तनशील अर्थशास्त्र से आशय आर्थिक सिद्धान्त के उन विभागों से होता है जिसमें प्रत्येक मात्रा का काल-निरुपण करना अत्यन्त आवश्यक होता है। ऐसी अर्थव्यवस्था में काल-निरुपण की समस्या स्पष्ट रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है और अर्थव्यवस्था का अध्ययन करने के लिये काल-निरुपण के सन्दर्भ में परिवर्तनों का अध्ययन आवश्यक होता है। हेरोड के अनुसार परिवर्तनशील अर्थशास्त्र आर्थिक समंकों में अनवरत परिवर्तनों का अध्ययन करता है। परिवर्तनशील स्थिति, फ्रिश के शब्दों में, वह है जिनमें कालावधि में होने वाले व्यवहार को विभिन्न समयों में होने वाले परिवर्तनों के परिणाम के रूप में अध्ययन किया जाता है। उत्पादन की दर में वृद्धि और ह्रास, हैरोड के अनुसार, परिवर्तनशील स्थिति का द्योतक है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बामौल ने परिवर्तनशील अर्थशास्त्र को समझाते हुए कहा है कि उसका सार वह भविष्यवाणी है जो एक घटना को उससे पूर्व की घटनाओं से सम्बन्द्ध करती है। इस प्रकार परिवर्तनशील अर्थशास्त्र गुजरी हुई और आगे आने वाली घटनाओं के सन्दर्भ में आर्थिक तथ्यों का अध्ययन करता है।

---

1. "The sum essence of economic dynamics is predictions, i e.. relating an event to the events and incidents preceeding it." —J- Baumal.

प्रोफेसर क्लार्क लिखते हैं कि परिवर्तनशील अर्थशास्त्र का साधारण विषय प्रचलन है और वह आर्थिक विश्व में प्रचलन की दिशा और गति का वर्णन करता है। उनके अनुसार जनसंख्या में वृद्धि होना, पूंजी में वृद्धि होना, उत्पादन-प्रणाली में सुधार होना, औद्योगिक संगठन में सुधार होना और उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं में वृद्धि होना एक परिवर्तनशील अर्थ-व्यवस्था के लक्षण हैं और ऐसी ही अर्थव्यवस्था का अध्ययन हम परिवर्तनशील अर्थशास्त्र के अन्तर्गत करते हैं।

स्थिर और परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में भेद

स्थिर अर्थशास्त्र	परिवर्तनशील अर्थशास्त्र
१. स्थिर अर्थशास्त्र का अध्ययन	१. आर्थिक परिवर्तनों का अध्ययन
२. संतुलन स्थिति का वर्णन	२. समायोजन प्रक्रियाओं का अध्ययन
३. ज्ञात समंकों का अध्ययन	३. समंकों में परिवर्तनों का अध्ययन
४. मान्यताओं पर आधारित	४. वास्तविकताओं पर आधारित
५. समय-निरपेक्ष	५. समय सापेक्ष
६. कुछ प्रवृत्तियों तक सीमित	६. सभी चलित घटकों और व्यवहार तक विस्तृत

स्थिर अर्थशास्त्र और परिवर्तनशील अर्थशास्त्र के भेद को स्पष्ट करते हुये प्रो० जे० के० मेहता लिखते हैं—स्थिर अर्थशास्त्र का उद्देश्य यह अध्ययन करना है कि ज्ञात समंकों में अर्थव्यवस्था किस प्रकार सन्तुलन को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थिर अर्थशास्त्र का सभोप यह स्वीकार करता है कि नई शक्तियों का प्रभाव हो सकता है। अब यह कहना कि नई शक्तियां दिये हुए समंकों में परिवर्तन उत्पन्न नहीं करती एक विरोधाभास उत्पन्न करती है जिसके लिये अभी खोज करनी चाहिए।

इसी बात को समझाते हुए प्रोफेसर मेहता लिखते है—

अर्थशास्त्र के अध्ययन में हमारा कार्य एक सस्थिति या सन्तुलन की स्थिति की खोज करना है। जब प्रारम्भिक समंक बदलते नहीं तो सन्तुलन की अन्तिम अवस्था समायोजनों द्वारा प्राप्त होती है और ऐसी दशा में हम उस मार्ग का अध्ययन कर सकते हैं जोकि सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त करने के लिए तय करना पड़ता है। इस अध्ययन को परिवर्तनशील अर्थशास्त्र कहते हैं क्योंकि इसका तात्पर्य काल विधि में समायोजनों का अध्ययन करना है। इस प्रकार, मेहता साहब के अनुसार, स्थिर अर्थशास्त्र एक अन्तिम स्थिति का वर्णन है, जबकि परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में समय की अवधि का महत्व है। फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में उन्हीं समायोजन प्रक्रियाओं

का अध्ययन करते हैं जो मूल्य समंको में परिवर्तन के कारण सन्तुलन की स्थिति को प्रभावित करती है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर स्थिर और परिवर्तनशील आर्थिक विश्लेषण का भेद लगभग स्पष्ट है। संक्षेप में हम उसे इस प्रकार प्रगट कर सकते हैं:—

(१) स्थिर अर्थशास्त्र में हम स्थिर अर्थव्यवस्था का अध्ययन करते है, जबकि परिवर्तनशील अर्थशास्त्र अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों पर आधारित होता है और ऐसे परिवर्तनों के कारण और परिणामों में सम्बन्ध स्थापित करता है।

(२) स्थिर अर्थशास्त्र संतुलन की स्थिति का वर्णन करता है, जबकि परिवर्तनशील अर्थशास्त्र उन संयोजन-प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जिनके द्वारा सतुलन की स्थिति प्राप्त होती है और वह ऐसी प्रक्रियाओं को कालावधि में होने वाले परिवर्तनों से सम्बन्धित करता है।

(३) स्थिर आर्थिक विश्लेषण ज्ञात संमकों के अध्ययन पर निर्भर होता है, किन्तु परिवर्तनशील आर्थिक विश्लेषण ऐसे संमकों में होने वाले परिवर्तनों और उनके कारणों के अध्ययन पर आधारित होता है।

(४) स्थिर आर्थिक विश्लेषण अनेक मान्यताओं पर, उदाहरणार्थ अन्य बातें स्थिर रहने की मान्यता पर निर्भर होता है, जबकि परिवर्तनशील अर्थशास्त्र समस्त सम्भावनाओं को ग्रहण करते हुए वास्तविकताओं पर आधारित होता है। साधारणतः स्थिर अर्थशास्त्र का स्वरूप निगमन प्रणाली पर निर्भर होता है, जबकि परिवर्तनशील अर्थशास्त्र आगमन प्रणाली का अनुसरण करता है।

(५) स्थिर आर्थिक विश्लेषण समय तत्व के प्रति निरपेक्ष होता है, उसका अध्ययन या तो किसी विशेष समय की दशाओं को या अत्यन्त दीर्घ समय की दशाओं को आधार मानता है, जबकि परिवर्तनशील आर्थिक विश्लेषण की प्रमुख समस्या काल निरूपण की होती है और कालावधियों के सन्दर्भ में वह परिवर्तनों की व्याख्या करता है।

(६) स्थिर अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाली विभिन्न मात्रायें स्थिर रहती हैं और इस प्रकार स्थिर अर्थशास्त्र का क्षेत्र कुछ प्रवृत्तियों के अध्ययन तक सीमित हो गया है। इसके विपरीत परिवर्तनशील अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है क्योंकि अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले सभी तत्वों की परिवर्तनशीलता और उनके प्रचलनों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्थिर अर्थशास्त्र और परिवर्तनशील अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की दो भिन्न-भिन्न शाखाएं हैं। प्रतिष्ठित विचारकों ने स्थिर अर्थव्यवस्था की कल्पना पर ही अपने आर्थिक विश्लेषण को आधारित किया था, किन्तु अब उस आधार की अव्यवहारिकता के कारण परिवर्तनशील स्थिति के आर्थिक विश्लेषण की रीतियों का विकास किया जा रहा है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों [illegible] सेमुएलसन, हैरोड हिक्स और काल्डॉर [illegible] प्रमुख रूप से इस परिवर्तनशील

आर्थिक विश्लेषण की रीति का विकास कर रहे हैं।

परिवर्तनशील अर्थशास्त्र की आवश्यकता—

प्रोफेसर हिक्स का कहना है कि परम्परावादी अर्थशास्त्र की अधिकांश महत्वपूर्ण विषय सामग्री स्थिर अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आ जाती है, जैसे लगान का सिद्धान्त, तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त, एकाधिकारी शोषण का सिद्धान्त इत्यादि को कालनिरूपण का विचार लिये बिना समझा जा सकता है। किन्तु पूँजी या ब्याज की समस्या या व्यापारिक परिवर्तन अथवा मौद्रिक परिवर्तन की समस्या का इस प्रकार अध्ययन करना सम्भव नहीं है, क्योंकि इनमें आर्थिक मात्राओं का समय तत्व महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। फिर भी वे मानते हैं कि सामान्य-विशेषण का उपयोग असाम्य की दशा में भी हो सकता है। वे कहते हैं, यदि अपेक्षाओं के लुप्त तत्व को सम्मिलित किया जाए तो साम्य विश्लेषण का उपयोग केवल दूरस्थ स्थिर दशाओं में ही नहीं किया जा सकता, जिसमें बहुत से अर्थशास्त्रियों ने अपने आप को पीछे ढकेला हुआ पाया है वरन् वास्तविक जगत के असाम्य में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

इसी प्रकार क्लार्क परिवर्तनशील अर्थशास्त्र के असीम महत्व को स्वीकार करने के बाद भी कहते हैं—"अर्थशास्त्र का यह विभाग चाहे कोई भी प्रचलन क्यों न खोज ले और समझा सके स्थैतिक नियमों का प्रभाव कभी समाप्त नहीं होगा। प्रचलन के सभी नियमों का वास्तविक ज्ञान स्थिरता के नियमों के समुचित ज्ञान पर निर्भर है।

इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण में दोनों ही, स्थिर और परिवर्तनशील आधारों पर अध्ययन आवश्यक है। स्थिर अर्थशास्त्र वास्तव में अत्यन्त उपयोगी है। स्वतंत्र, पूर्ण एवं परिपक्व अर्थव्यवस्था की सामान्य, स्थायी एवं नियमित प्रवृत्तियों का अध्ययन स्थिर अर्थशास्त्र की एक महत्वपूर्ण देन है। किसी अर्थव्यवस्था के मूल आधारों का विश्लेषण और निरूपण स्थिर अर्थशास्त्र में ही हो सकता है। प्रोफेसर रॉबिन्स ने जिस अर्थशास्त्र का प्रतिपादन किया है, वह भी स्थिर आर्थिक विश्लेषण पर ही आधारित है। यदि यों कहें कि स्थिर अर्थशास्त्र अर्थव्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करता है और परिवर्तनशील अर्थशास्त्र उसका चल-चित्र तो अनुपयुक्त न होगा। जिस तरह एक वायुयान की उड़ान को समझने के लिए उसके इंजिन का परीक्षण आवश्यक है, उसी प्रकार अर्थव्यवस्था की कार्य प्रणाली को समझने के लिए स्थिर अर्थशास्त्र आवश्यक है। फिर यह मानना भी गलत होगा कि परिवर्तन स्थिर अर्थशास्त्र के क्षेत्र से बिल्कुल परे है। वास्तव में एकबारगी होने वाले परिवर्तनों से उदय होने वाली समस्याओं का अध्ययन अर्थशास्त्र में सरलतापूर्वक किया जा सकता है। अब कोई एकबारगी परिवर्तन होता है तो स्थैतिक समीकरण ही नवीन स्थिति को स्पष्ट कर सकता है। प्रोफेसर मेहता के अनुसार परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न स्थैतिक स्तरों की कल्पना की जाय। हम परिकल्पना कर लेते हैं। हिक्स के शब्दों में कि, अर्थव्यवस्था में संतुलन प्राप्त

का अध्ययन करते हैं जो मूल
प्रभावित करती है ।

उपर्युक्त विवेचना के
पण का भेद लगभग स्पष्ट है ।

(१) स्थिर अर्थशास्त्र
परिवर्तनशील अर्थशास्त्र अर्थव्य
और ऐसे परिवर्तनों के कारण

(२) स्थिर अर्थशास्त्र स
वर्तनशील अर्थशास्त्र उन संयोजन
संतुलन की स्थिति प्राप्त होती है
वाले परिवर्तनों से सम्बन्धित करत

(३) स्थिर आर्थिक विश्ले
किन्तु परिवर्तनशील आर्थिक विश्ले
कारणों के अध्ययन पर आधारित

(४) स्थिर आर्थिक विश्ले
स्थिर रहने की मान्यता पर निर्भर
सम्भावनाओं को ग्रहण करते हुए व
स्थिर अर्थशास्त्र का स्वरूप निगमन
अर्थशास्त्र आगमन प्रणाली का अनु

(५) स्थिर आर्थिक विश्लेष
अध्ययन या तो किसी विशेष समय
को आधार मानता है, जबकि परिव
काल निरूपण की होती है और का
करता है ।

अपेक्षा समायोजन-प्रक्रियाओं का अध्ययन महत्वपूर्ण होता है और इस दृष्टि से परिवर्तनशील अर्थशास्त्र की उपयोगिता स्पष्ट है। किसी अर्थव्यवस्था के मूल तत्वों का अध्ययन जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही और उससे कहीं अधिक, उन तत्वों को प्रभावित करने वाले घटकों और उनकी प्रतिक्रियाओं का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इस प्रकार परिवर्तनशील अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है क्योंकि क्लार्क के शब्दों में, मानवमात्र के लिए महत्व की वस्तुओं में कदाचित कुछ ही ऐसी बातें हों जो अर्थशास्त्र के इस विभाग में अध्ययन से परे होंगी। वास्तव में विकासमान और कल्याणकारी अर्थव्यवस्था की समस्याओं का समाधान परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में ही मिल सकता है। अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों की उपेक्षा कर आर्थिक नियोजन के सिद्धांत नहीं बनाये जा सकते। अर्थशास्त्र का प्रत्येक तत्व परिवर्तनशील है और ऐसे परिवर्तनों के कारण उदय होने वाली आर्थिक समस्याओं का समाधान परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में ही मिल सकता है। मूल-स्तर, राष्ट्रीय आय और व्यक्तिगत आर्थिक समस्याएं सभी का निरूपण काल-निरपेक्ष होकर नहीं हो सकता। अतः अर्थव्यवस्था जब तक पूर्णता नहीं प्राप्त कर लेती, काल-सापेक्ष अनिवार्य है और ऐसी दशा में केवल परिवर्तनशील आर्थिक विश्लेषण ही उपयोगी हो सकता है।

फिर कुछ ऐसी आर्थिक समस्याएँ भी हैं जिनका विश्लेषण स्थिर अर्थशास्त्र द्वारा सम्भव नहीं है और उनके लिए परिवर्तनात्मक विश्लेषण आवश्यक है। उदाहरण के लिए दो प्रकार की समस्याओं का उल्लेख किया जा सकता है :—

(१) आंशिक सन्तुलन और निरन्तर परिवर्तन की समस्याएँ :—स्थिर अर्थशास्त्र एक सन्तुलन स्थिति से दूसरे सन्तुलन स्थिति के बदलने के मध्यान्तर में उदय हुई समस्याओं का अध्ययन करने में असमर्थ होता है। केवल परिवर्तनशील अर्थशास्त्र ही आंशिक सन्तुलन और बराबर होने वाले परिवर्तनों की समस्याओं को हल कर सकता है और उन शक्तियों के कार्य का अध्ययन कर सकता है जो कि दो सन्तुलन स्थितियों के मध्यान्तर में विद्यमान थीं और जो सन्तुलन वापस लाने में सहायक होती हैं।

(२) मानवीय मनोदशाओं पर निर्भर आर्थिक समस्याएँ :—ऐसी अनेक आर्थिक समस्याएँ होती हैं जो मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि पर आधारित होती हैं और स्थिर अर्थशास्त्र इनका समाधान नहीं कर सकता। परिवर्तनशील अर्थशास्त्र यहां पर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। वास्तव में चाक्रिक परिवर्तनों जैसी जटिल आर्थिक समस्याओं का बहुत ही उचित एवं वास्तविक विवरण इस प्रकार का अर्थशास्त्र प्रस्तुत करता है। फिर, परिवर्तनशील अर्थशास्त्र का विश्लेषण सभी सम्भावनाओं का निरूपण कर सकता है और अनेक स्थितियों पर विचार प्रगट कर सकता है। व्यापारिक चक्रों को समझने में यह विश्लेषण अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है।

करने की प्रवृत्ति होती है । [illegible] है [illegible] प्रतियोगिता की
स्थिति में [illegible] होगी । इस प्रकार मनुष्य के
[illegible] व्यवहार का अध्ययन [illegible] आर्थिक विश्लेषण के माध्यम से
किया जा सकता है ।

किन्तु 'स्थिर' शब्द के साथ साथ, इतनी [illegible] मान्यतायें जोड़ दी जाती हैं
कि स्थिर अर्थशास्त्र का क्षेत्र वास्तविक [illegible] परिस्थितियों के अध्ययन के
सम्बन्ध में अत्यन्त सीमित हो गया है । [illegible] कहते हैं—"एक
स्थैतिक समाज असम्भव है क्योंकि [illegible] जो एक सामाजिक स्थिति
व्यक्तियों को संगठित करती है, स्वयं समाज के रूप और कार्य प्रणाली को बद
देने की शक्ति रखती हैं । वास्तव में समाज का [illegible] प्रतिदिन विकसित होता जा
है और समय के अन्त तक यह होता ही रहेगा तथा यह उन्नति सामाजिक उन्नति को
सहनीय बनाती जायगी और नई सम्भावनायें उत्पन्न करेगी । साधारणतः पांच प्रकार
से परिवर्तन हो रहे हैं—जनसंख्या बढ़ रही है, पूंजी बढ़ रही है, औद्योगिक रीतियों
में परिवर्तन हो रहे हैं, संगठन की प्रणाली में सुधार हो रहा है और मानवीय
इच्छाओं में वृद्धि तथा परिष्कार हो रहे हैं । ये जो परिवर्तन हो रहे हैं वे स्वाभा-
विक हैं किन्तु वे स्थैतिक समायोजना को बिगाड़ देते हैं ।" इसीलिए एगवर्थ कहते हैं
कि तेजी से बदलने वाले संसार को स्थिर तथा परिवर्तनहीन मानकर चलना अत्यन्त
भ्रमपूर्ण है और इसी कारण अर्थशास्त्र में अनेक भ्रमपूर्ण और काल्पनिक विचारों
का जन्म हुआ है ।

अतः परिवर्तनशील अर्थशास्त्र का महत्व स्थिर अर्थशास्त्र से कुछ कम नहीं
है । क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के साथ में भी परिवर्तनशील अर्थशास्त्र को स्थिर
अर्थशास्त्र के समान महत्व प्राप्त था । रिकार्डो के वितरण सम्बन्धी नियम भी
परिवर्तनात्मक दृष्टिकोण रखते हैं । रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त के एक बड़े
भाग में परिवर्तनों का प्रभाव अंकित किया है और बचत को उन्होंने एक
परिवर्तनशील तत्व माना है । वह तो बाद में परिवर्तनात्मक सिद्धान्त स्वीकार
नहीं किये गये और आने वाले अर्थशास्त्रियों ने स्थिर अर्थव्यवस्था का ही विवेचन
किया । इस बात की चर्चा मार्शल ने स्वयं अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त में
की है ।

वास्तव में परिवर्तनशील अर्थशास्त्र की उपादेयता स्पष्ट रूप से [illegible]वीकार की
जानी चाहिये । अर्थव्यवस्था के वास्तविक स्वरूप को, उसके विभिन्न तत्वों में होने
वाले परिवर्तनों को, उन परिवर्तनों के कारण और परिणामों के समुचित निरूपण के
लिए परिवर्तनशील आर्थिक विश्लेषण का विकास अत्यन्त आवश्यक है । प्रत्येक
अर्थव्यवस्था प्रत्येक समय पूर्ण, परिपक्व, स्थिर और संतुलन की अवस्था में का[illegible]
करे यह कभी सम्भव नहीं है और ऐसी अपूर्ण अपरिपक्व और परिवर्तनशी[illegible]
अर्थव्यवस्था का अध्ययन परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में ही हो सकता है । सतुलन [illegible]

अपेक्षा समायोजन प्रक्रियाओं का अध्ययन महत्वपूर्ण होता है और इस दृष्टि से परिवर्तनशील अर्थशास्त्र की उपयोगिता स्पष्ट है। किसी अर्थव्यवस्था के मूल तत्वों का अध्ययन जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही और उससे कहीं अधिक, उन तत्वों को प्रभावित करने वाले घटकों और उनकी प्रतिक्रियाओं का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इस प्रकार परिवर्तनशील अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है क्योंकि क्लार्क के शब्दों में, मानवमात्र के लिए महत्व की वस्तुओं में कदाचित कुछ ही ऐसी बातें हों जो अर्थशास्त्र के इस विभाग में अध्ययन से परे होंगी। वास्तव में विकासमान और कल्याणकारी अर्थव्यवस्था की समस्याओं का समाधान परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में ही मिल सकता है। अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों की उपेक्षा कर आर्थिक नियोजन के सिद्धांत नहीं बनाये जा सकते। अर्थशास्त्र का प्रत्येक तत्व परिवर्तनशील है और ऐसे परिवर्तनों के कारण उदय होने वाली आर्थिक समस्याओं का समाधान परिवर्तनशील अर्थशास्त्र में ही मिल सकता है। मूल-स्तर, राष्ट्रीय आय और व्यक्तिगत आर्थिक समस्याएँ सभी का निरूपण काल-निरपेक्ष होकर नहीं हो सकता। अतः अर्थव्यवस्था जब तक पूर्णता नहीं प्राप्त कर लेती, काल-सापेक्ष अनिवार्य है और ऐसी दशा में केवल परिवर्तनशील आर्थिक विश्लेषण ही उपयोगी हो सकता है।

फिर कुछ ऐसी आर्थिक समस्याएँ भी हैं जिनका विश्लेषण स्थिर अर्थशास्त्र द्वारा सम्भव नहीं है और उनके लिए परिवर्तनात्मक विश्लेषण आवश्यक है। उदाहरण के लिए दो प्रकार की समस्याओं का उल्लेख किया जा सकता है :—

(१) आंशिक सन्तुलन और निरन्तर परिवर्तन की समस्याएँ :—स्थिर अर्थशास्त्र एक सतुलन स्थिति से दूसरे सन्तुलन स्थिति के बदलने के मध्यान्तर में उदय हुई समस्याओं का अध्ययन करने में असमर्थ होता है। केवल परिवर्तनशील अर्थशास्त्र ही आंशिक सतुलन और बराबर होने वाले परिवर्तनों की समस्याओं को हल कर सकता है और उन शक्तियों के कार्य का अध्ययन कर सकता है जो कि दो सतुलन स्थितियों के मध्यान्तर में विद्यमान थीं और जो सतुलन वापस लाने में सहायक होती हैं।

(२) मानवीय मनोदशाओं पर निर्भर आर्थिक समस्याएँ :—ऐसी अनेक आर्थिक समस्याएँ होती हैं जो मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि पर आधारित होती हैं और स्थिर अर्थशास्त्र इनका समाधान नहीं कर सकता। परिवर्तनशील अर्थशास्त्र यहां पर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। वास्तव में चाक्रिक परिवर्तनों जैसी जटिल आर्थिक समस्याओं का बहुत ही उचित एवं वास्तविक विवरण इस प्रकार का अर्थशास्त्र प्रस्तुत करता है। फिर, परिवर्तनशील अर्थशास्त्र का विश्लेषण सभी सम्भावनाओं का निरूपण कर सकता है और अनेक स्थितियों पर विचार प्रगट कर सकता है। व्यापारिक चक्रों को समझने में यह विश्लेषण अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है।

आधुनिक युग में परिवर्तनशील अर्थशास्त्र का महत्व और उपयोगिता इतनी अधिक बढ़ गई है कि कोई भी अर्थशास्त्री उसकी अवहेलना नहीं कर सकता है। प्रोफेसर राबिन्स ने भी परिवर्तनशील अर्थशास्त्र के चार महत्वपूर्ण कार्य स्वीकार किए हैं—

(१) आर्थिक सिद्धान्त की क्रियाशीलता की जांच करना और उसके प्रतिबन्धों पर प्रकाश डालना,

(२) अर्थशास्त्र के और अधिक सैद्धान्तिक विकास के लिए अतिरिक्त मान्यताओं की खोज करना व्यर्थ मान्यताओं को अलग करना,

(३) स्थैतिक अर्थशास्त्र को वर्तमान सिद्धान्त की रचना में लुप्त भाव का पता लगाने तथा अपनी मान्यताओं के व्यवहारिक परीक्षण करने में सहायता देना, और

(४) उन परिवर्तनशील तथ्यों पर, जो किसी दी हुई सम्भावित स्थिति में भविष्य वाणी कर सकते हैं, प्रकाश डालना ।

संक्षेप में, आर्थिक जीवन की समस्याओं को यथार्थ रूप से समझने एवं सुलझाने के लिए परिवर्तनशील अर्थशास्त्र का अध्ययन एक अनिवार्य आवश्यकता है। फिर भी, जिस तरह चलचित्र का महत्व चित्र के बिना नहीं होता, उसी तरह आर्थिक अध्ययन के लिए दोनों ही अर्थशास्त्र महत्वपूर्ण, और उपादेय आवश्यक हैं।

द्वितीय खण्ड

उपयोगिता–विश्लेषण

[UTILITY-ANALYSIS]

७

सम-सीमांत-उपयोगिता नियम

(Law of Equi-Marginal Utility)

Q. "A man who has a commodity capable of being put to several uses, tends to di tribute in such a way that the commodity has equal marginal utility in each of these uses."

Explain and illustrate the above statement.

(Agra 1951 M. A.)

प्रश्न—"यदि एक मनुष्य के पास ऐसी वस्तु है जिसके विभिन्न प्रयोग हो सकते हैं तो वह उसे विभिन्न प्रयोगों में इस प्रकार वितरित करता है कि प्रत्येक प्रयोग से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता समान रहे।"

उपरोक्त कथन को समझाइये। (आगरा १९५१ एम० ए०)

"The applications of the principle of substitution extend over almost every field of economic inquiry." (Marshall) Explain fully the statement. (Agra 1964 M. Com.)

"प्रतिस्थापन का सिद्धान्त आर्थिक जांच के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवहार्य है" (मार्शल)। इस कथन को पूर्णत: समझाइये। (आगरा १९६४ एम० काम०)

उत्तर—मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और इसलिए वह सदैव अधिकतम हित की भावना से कार्य करता है। अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के सम्बन्ध में भी वह यही प्रयत्न करता है कि अपने सीमित एवं वैकल्पिक उपयोग वाले साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करे। मनुष्य की इस प्रवृत्ति का अध्ययन अर्थशास्त्र में सम-सीमान्त उपयोगिता के अन्तर्गत किया जाता है। उसे समझाते हुए प्रोफेसर मार्शल कहते हैं:—

"यदि एक मनुष्य के पास ऐसी वस्तु है जिसके विभिन्न प्रयोग हो सकते हैं तो वह उसे उन विभिन्न प्रयोगों में इस प्रकार वितरित करता है कि प्रत्येक प्रयोग से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता समान रहे।"

(अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, पृष्ठ १९९)

सम-सीमान्त उपयोगिता के नियम

यह अर्थशास्त्र का एक आधारभूत नियम है और (राबिन्स के शब्दों में) दुर्लभ और वैकल्पिक उपयोग वाले साधनों और उद्देश्यों के सम्बन्ध के रूप में मानव-

उपर्युक्त चित्र में अ ध पर द्रव्य की इकाईयाँ तथा अ य पर विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त उपयोगिता प्रदर्शित की गई है। दी हुई तालिका के आधार पर हमको म'म' दूध के, म"म" फल के, म"'म"' चीनी के एवं म""म"" चाय के उपयोगिता वक्र प्राप्त होते हैं। इस चित्र में ग स रेखा सम-सीमान्त रेखा है। इस चित्र को देखने से साफ पता चलता है कि फलों पर द्रव्य की दो इकाईयाँ अधिक व्यय करने में जो लाभ होता है, वह चीनी पर दो इकाइयाँ कम व्यय करने से होने वाली हानि की तुलना में बहुत कम है। यह अन्तर निम्न चित्रों से और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा—

चित्र—२   चित्र—३

उपरोक्त विवेचन से मार्शल की यह व्याख्या उचित प्रतीत होती है कि यदि किसी वस्तु के विभिन्न प्रयोग हों तो मनुष्य उस वस्तु को विभिन्न प्रयोगों में इस प्रकार वितरित करेगा कि प्रत्येक प्रयोग से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। उनका यह विवेचन निश्चित रूप से गोसन के प्रतिपादन से श्रेष्ठ है, किन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से उसमें दो दोष हैं। एक तो यह कि उन्होंने यह मान लिया है कि मनुष्य इकाई-इकाई करके द्रव्य व्यय करता है और उसे अन्तिम रुपये की विभिन्न प्रयोगों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का ज्ञान होता है, जबकि ऐसा होना असम्भव है। दूसरे, उन्होंने यह भी मान लिया है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है और वास्तविकता यह है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होने पर उसकी सीमान्त उपयोगिता समान नहीं हो सकती। अतः मार्शल का दृष्टिकोण त्रुटि-पूर्ण है।

इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस प्रवृत्ति को दूसरे ढंग से समझाया है। उनके अनुसार किसी वस्तु से अधिकतम सन्तुष्टि तब प्राप्त होती है जबकि क्रय की जाने वाली वस्तुओं में से प्रत्येक के मूल्य और उसकी सीमान्त उपयोगिता के बीच प्रत्येक दशा में समान अनुपात हो। पिछले उदाहरण को दोहराते हुये हम उसे इस प्रकार प्रगट करेंगे—

चीनी और चाय पर व्यय कर सकते हैं। विभिन्न वस्तुओं का हमारे लिये महत्व अग्र तालिका से स्पष्ट हो जायगा :—

द्रव्य की इकाईयाँ	दूध	फल	चीनी	चाय
१	३५	२९	३२	२८
२	३०	२०	२७	२६
३	२८	११	१४	२०
४	२४	५	११	११
५	११	३	७	५
६	५	१	४	३

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि उदाहरण में दिये गये व्यक्ति को सबसे अधिक आवश्यकता दूध की है क्योंकि उससे ३५ उपयोगिता प्राप्त होती है। इसलिए वह पहली इकाई से दूध खरीद लेगा। किन्तु फिर वह दूध की अपेक्षा चीनी खरीदना पसन्द करेगा क्योंकि अब चीनी अधिक आवश्यक है, इसलिये दूसरी इकाई चीनी पर व्यय होगी। तीसरी इकाई वह दूध पर व्यय करेगा, किन्तु चौथी फल पर, पांचवीं चाय पर, छटी दूध पर, सातवीं चीनी पर आठवीं चाय पर, नवीं दूध पर, दसवीं फल पर, ग्यारहवीं चाय पर, बारहवीं चीनी पर, और शेष प्रत्येक पर व्यय करेगा। ऐसा करने से उसे अधिकतम उपयोगिता (३५+३२+३०+२९+२८+२८+२७+२६+२४+२०+२०+१४+११+११+११+११=१३५७) प्राप्त होगी। इस प्रकार वह दूध पर पांच, फल पर तीन, चीनी पर चार और चाय पर चार इकाईयाँ व्यय करेगा।

किन्तु यदि कहीं पर भी वह इस प्रकार प्रतिस्थापन न करे तो उसे प्राप्त होने वाली उपयोगिता कम हो जायेगी। उदाहरण के लिए वह चीनी की दो इकाईयाँ कम खरीद कर फल की दो इकाईयाँ अधिक खरीदे तो उसकी कुल उपयोगिता में उसे २३=(३१—८) की हानि उठानी होगी। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य अपने प्रतिस्थापन को उस सीमा पर स्थगित कर देता है जहां कि प्रत्येक वस्तु से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो इस नियम को हम इस व्यक्त कर सकते हैं:—
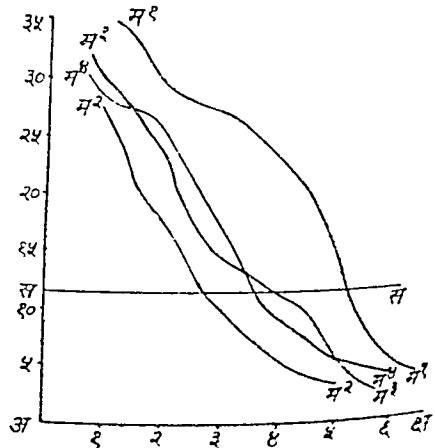
चित्र — १

उपर्युक्त चित्र में अ क्ष पर द्रव्य की इकाईयाँ तथा अ य पर विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त उपयोगिता प्रदर्शित की गई है। दी हुई तालिका के आधार पर हमको म¹म¹ दूध के, म²म² फल के, म³म³ चीनी के एवं म⁴म⁴ चाय के उपयोगिता वक्र प्राप्त होते हैं। इस चित्र में स स रेखा सम-सीमान्त रेखा है। इस चित्र को देखने से साफ पता चलता है कि फलों पर द्रव्य की दो इकाईयाँ अधिक व्यय करने से जो लाभ होता है, वह चीनी पर दो इकाइयाँ कम व्यय करने से होने वाली हानि की तुलना में बहुत कम है। यह अन्तर निम्न चित्रों से और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा—

चित्र—२ चित्र—३

उपरोक्त विवेचन से मार्शल की यह व्याख्या उचित प्रतीत होती है कि यदि किसी वस्तु के विभिन्न प्रयोग हों तो मनुष्य उस वस्तु को विभिन्न प्रयोगों में इस प्रकार वितरित करेगा कि प्रत्येक प्रयोग से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। उनका यह विवेचन निश्चित रूप से गॉसन के प्रतिपादन से श्रेष्ठ है, किन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से उसमें दो दोष हैं। एक तो यह कि उन्होंने यह मान लिया है कि मनुष्य इकाई-इकाई करके द्रव्य व्यय करता है और उसे अन्तिम रुपये की विभिन्न प्रयोगों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का ज्ञान होता है, जबकि ऐसा होना असम्भव है। दूसरे, उन्होंने यह भी मान लिया है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है और वास्तविकता यह है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होने पर उसकी सीमान्त उपयोगिता समान नहीं हो सकती। अतः मार्शल का दृष्टिकोण त्रुटि-पूर्ण है।

इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस प्रवृत्ति को दूसरे ढंग से समझाया है। उनके अनुसार किसी वस्तु से अधिकतम सन्तुष्टि तब प्राप्त होती है जबकि क्रय की जाने वाली वस्तुओं में से प्रत्येक के मूल्य और उसकी सीमान्त उपयोगिता के बीच प्रत्येक दशा में समान अनुपात हो। पिछले उदाहरण को दोहराते हुये हम उसे इस प्रकार प्रगट करेंगे—

$$\frac{\text{दूध की कीमत}}{\text{दूध की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{फल की कीमत}}{\text{फल की सीमान्त उपयोगिता}}$$

$$= \frac{\text{चीनी की कीमत}}{\text{चीनी की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{चाय की कीमत}}{\text{चाय की सीमान्त उपयोगिता}}$$

प्रतिस्थापन का सिद्धान्त
चार मुख्य मान्यतायें
(१) उपयोगिता ह्रास नियम
(२) उपयोगिता की ठीक माप
(३) मुद्रा की स्थिर सीमान्त उपयोगिता
(४) मनुष्य का विवेकपूर्ण आचरण

यदि मनुष्य अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है तो उसे इस नियम को अपनाना होगा और प्रत्येक वस्तु की कीमत और उसकी सीमान्त उपयोगिता का अनुपात समान रखना होगा और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वह एक वस्तु को दूसरी वस्तु से प्रतिस्थापित करता रहेगा। साम्य की स्थिति में ही उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के इस दृष्टिकोण के कारण अब हमें इकाई-इकाई करके द्रव्य की उपयोगिता मापने की आवश्यकता नहीं रही। हमारा सम्बन्ध प्रत्येक वस्तु की कीमत और उसकी सीमान्त उपयोगिता का अनुपात समान रखने से है, किन्तु हम प्रतिस्थापन से होने वाले हानि-लाभ को माप नहीं सकते हैं और उसके लिए मार्शल का सम्बोध ही अधिक उपयुक्त है।

आर्थिक जाँच के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिस्थापन का सिद्धान्त

—उपभोग—
सम सीमान्त उपयोगिता का नियम
(Law of Equi-marginal utility)

—उत्पत्ति—
सम सीमान्त उत्पत्ति का नियम
(Law of Constant Returns)

—विनिमय—
प्रतिस्थापना का नियम
(Law of Substitution)

—वितरण—
सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त
(Law of Marginal Productivity)

—राजस्व—
अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त
(Principal of Maximum Social Advantage)

इस प्रकार मार्शल ने सम-सीमान्त उपयोगिता-नियम की जो व्याख्या की है वह आर्थिक विश्लेषण में अत्यन्त महत्व रखती है, किन्तु हम इस तथ्य से भी इन्कार नहीं कर सकते कि यह नियम उपयोगिता-ह्रास-नियम, उपयोगिता की ठीक माप, मुद्रा की स्थिर सीमान्त उपयोगिता और मनुष्य के विवेकशील आचरण की मान्यताओं पर आधारित है और ये मान्यतायें उसे केवल सिद्धान्त बना देती हैं, किन्तु यह

सिद्धान्त आर्थिक विश्लेषण में आधारभूत महत्व रखता है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने तो यहां तक कहा है कि समस्त अर्थशास्त्र इसी एक नियम का विस्तृत रूप है। मार्शल ने भी स्वीकार किया है कि प्रतिस्थापना का सिद्धान्त आर्थिक जाँच के प्रत्येक क्षेत्र मे लागू होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वर्तमान और भविष्य की आय को समान रखने के लिये बचत करना है। अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिये उत्पादक का यही प्रयत्न होता है कि उत्पादन के विभिन्न साधनों को उत्पादन मे वह इस प्रकार लगाता है कि प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता बराबर रहे। यदि वह यह देखता है कि एक साधन की उत्पादकता अधिक है तथा दूसरे की कम, तो वह दूसरे के स्थान पर पहले का प्रयोग करेगा। विनिमय करते समय भी प्रत्येक व्यक्ति इस बात का ध्यान रखता है कि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और धन की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाये। इसी प्रकार राजस्व में भी अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त अपनाया जाता है और विभिन्न मदो पर इस प्रकार व्यय किया जाता है कि प्रत्येक मद से समान सीमान्त उपयोगिता (सामाजिक लाभ) प्राप्त हो और विभिन्न करों से होने वाला सीमान्त त्याग समान हो। वितरण मे आय भी प्रत्येक साधन में उसकी सीमान्त उत्पादकता के आधार पर वितरित की जाती है। इस प्रकार यह नियम उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण और राजस्व सभी क्षेत्रो में प्रभावशील है। इसी प्रकार यह नियम व्यक्ति, परिवार, कृषि, उद्योग, व्यापार, यातायात एवं वित्त सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्राथमिकताओं का निर्धारण और उद्देश्यों का चुनाव इसी नियम के अनुसार होता है और अपने सीमित साधनों का सर्वोत्तम उपयोग भी हम तभी कर सकते हैं जब हम उन्हें विभिन्न उद्देश्यो मे इस प्रकार प्रयोग करें कि प्रत्येक उद्देश्य से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो। ऐसा करने मे हमे कठिनाई हो सकती है क्योंकि वस्तुओं की विभिन्नता और अविभाज्यता, मूल्य और आय की परिवर्तनशीलता तथा विवेक की अपरिपक्वता ऐसी तुलनात्मक निर्णय की चेष्टा को असफल कर देते हैं। फिर भी हम प्रो० चैपमैन के इस कथन से सहमत है कि —'जिस प्रकार हवा में फेंका एक पत्थर पृथ्वी पर गिरने को बाध्य है, उस प्रकार तो हम अपनी आय का वितरण प्रतिस्थापन के नियम के अनुसार करने को बाध्य नहीं किये जाते, किन्तु वास्तव में हम कुछ ऐसा ही करते हैं, क्योंकि हम विवेकशील है।'' ?

---

1. ' We are not, of course, compelled to distribute our income according to the law of substitution or equi-marginal expenditure as a stone thrown in air is compelled in a sense, to fall back to the earth. But, as a matter of fact, we do it in a certain rough fashion because we are reasonable."

—Chapman : Outlines of Political Economy, p. 40.

८

उपभोक्ता की बचत

(Consumer's Surplus)

Q. Examine critically the Concept of consumer's Surplus. What is its signifiance in economic analysis.

(Agra, M. A. 1961, Nagpur M. A. 1962)

प्रश्न—उपभोक्ता की बचत के विचार का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये। आर्थिक विश्लेषण में उसका क्या महत्व है ?

(आगरा, एम० ए० १९६१, नागपुर १९६२)

उत्तर—उपभोक्ता की बचत एक विचार है और इस विचार को सर्वप्रथम सन् १८४४ में ड्यूपिट और जेवन्स ने प्रस्तुत किया, किन्तु १८७९ में प्रोफेसर मार्शल ने कूर्नो, वानथ्वेन और बेन्हम आदि अर्थशास्त्रियों से प्रभावित होकर गृह-मूल्यों के शुद्ध सिद्धान्त (Pure Theory of Domestic Values) का प्रतिपादन किया और उसी में स्वतन्त्र रूप से, ड्यूपिट के विचारों के बिना किसी सन्दर्भ के, उपभोक्ता की बचत के विचार का विश्लेषण किया। मार्शल को ही इस विचार का प्रवर्तक माना जाता है और इस विचार को वैज्ञानिक और लोकप्रिय भी उन्हीं ने बनाया है।

अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त (Principles of Economics) में उपभोक्ता की बचत को इस प्रकार परिभाषित किया है :—

"किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो मूल्य उस वस्तु के लिये देने को तत्पर होता है और जो वह वास्तव में देता है उसके अन्तर को ... की बचत (अतिरिक्त संतोष का आर्थिक माप) कहते हैं।"

...क्ता की बचत के विचार को समझाते हुये प्रो० मार्शल कहते हैं:—

"... किसी वस्तु के लिये जो मूल्य देता है, वह उस मूल्य से जो कि वह ...ु से वंचित रहने की अपेक्षा देने को तैयार होगा, कभी भी अधिक ... और कभी-कभी ही उसके बराबर होता है। परिणामस्वरूप जो ...के क्रय से प्राप्त करता है वह सामान्यत: उस (सन्तुष्टि) से अधिक ... इसके मूल्य के देने में खोता है। इस प्रकार वह क्रय से सन्तुष्टि की ...ता है।"

... की बचत के विचार को अन्य अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार

पेन्सन के अनुसार, "जो कुछ हम देने को तैयार है और जो कुछ हमको देना पड़ता है, इन दोनों के अन्तर को हम उपभोक्ता की बचत कहते हैं।"

टॉजिग के अनुसार, "समस्त उपयोगिता और समस्त विनिमय मूल्य को मापने वाली राशियों का अन्तर ही उपभोक्ता की बचत है।"

प्रोफेसर मेहता के शब्दों में, "किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली कुछ उपयोगिता और उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए व्यय किए हुए कुल मुद्रा की उपयोगिता के अन्तर को उपभोक्ता की बचत कहते हैं। इस प्रकार, किसी व्यक्ति को किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत उस वस्तु से प्राप्त होने वाले सन्तोष और उस त्याग के अन्तर के बराबर होती है जो उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए किया जाता है।"

प्रोफेसर सेन के अनुसार, "उपभोक्ता को उसकी खरीदारी से प्राप्त होने वाला अतिरिक्त सन्तोष उपभोक्ता की बचत कहलाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से उपभोक्ता की बचत का विचार बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। एक व्यक्ति जब कोई वस्तु खरीदता है तो दो बातें एक ही साथ होती हैं—जो वस्तु खरीदी गई है उसके रूप में उपभोक्ता को उपयोगिता अथवा सन्तोष प्राप्त होता है, परन्तु वस्तु को खरीदने के लिए जो मूल्य चुकाया जाता है उसके रूप में उपभोक्ता को त्याग करना पड़ता है साधारणतया प्राप्त हुई उपयोगिता किए गए त्याग से अधिक होती है। इस अतिरेक को ही हम उपभोक्ता की बचत कहते हैं। अधिकांशतः इसे मुद्रा के माध्यम से मापा जा सकता है। इस विचार को यों भी कहा जा सकता है कि प्राप्य उपयोगिता के कारण हम किसी वस्तु के लिए कोई मूल्य देने को तत्पर रहते हैं, जबकि वास्तव में चुकाए गए मूल्य के रूप में हमें त्याग करना पड़ता है और यह अन्तर उपभोक्ता की बचत कहलाती है। इस प्रकार यदि अपने मित्र को सन्देश भेजने के लिए हम दस रुपये व्यय कर सकते हैं और उस सन्देश की उपयोगिता इसके बराबर है, जबकि वह सन्देश वास्तव में पन्द्रह नये पैसे में पहुँच जाता है। इस प्रकार हमें नौ रुपये पचासी नये पैसे की उपभोक्ता की बचत हुई।

उपभोक्ता की बचत का विचार सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। यह नियम (*Law of Diminishing Marginal Utility*) बतलाता है कि जब हम किसी वस्तु की एक से अधिक इकाईयों का उपभोग करते हैं, तब उत्तरोत्तर इकाईयों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता घटती जाती है। किसी वस्तु का उपभोग हम उस सीमा तक करते हैं जबकि वस्तु की इकाई से प्राप्त उपयोगिता और इसको खरीदने के लिए दी जाने वाली द्रव्य की उपयोगिता बराबर हो जाती है। इस अन्तिम इकाई (Marginal Unit) से प्राप्त होने वाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) कहलाती है। हम वस्तु की प्रत्येक इकाई का मूल्य इस सीमान्त उपयोगिता के अनुसार ही देते हैं। किसी दशा में सीमान्त उपयोगिता से

वह यह स्पष्ट इंगित करती है कि उपभोक्ता उस वस्तु का अधिक मूल्य दे सकता है। अतिरिक्त इकाईयां उपभोग कर सकता है।

चित्र—१ चित्र—२

उपरोक्त चित्र उपभोक्ता की बचत के विचार की ओर भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं। चित्र एक मे आयतों द्वारा और चित्र २ मे रेखा के वक्र द्वारा उपभोक्ता की बचत प्रगट की गई है। अ ब रेखा पर पेन की इकाइयाँ और अ स रेखा पर पेन से प्राप्त होने वाली उपयोगिता मापी गई है। प्रत्येक आयत एक पेन से प्राप्त होने वाली उपयोगिता या सन्तोष को सूचित करता है। वक्र रेखा क ख उपयोगिता को प्रगट करती है। चित्र मे रंगीन भाग उपभोक्ता की बचत कहलाते हैं।

उपभोक्ता की बचत की मान्यतायें—उपभोक्ता की बचत का विचार प्रमुख रूप से दो मान्यताओं पर आधारित है।

एक तो यह है कि उपभोक्ता की बचत पर विचार उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है और इसलिये उस नियम की मान्यताएँ इस विचार मे भी लागू होती हैं। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत का विचार करते हुए मान लिया जाता है कि वस्तु की उपयोगिता उसकी पूर्ति पर ही निर्भर होती है अर्थात् प्रत्येक वस्तु को अन्य वस्तुओं से स्वतन्त्र माना जाता है। इसी तरह यह भी मान लेते है कि उस वस्तु का कोई अन्य स्थानापन्न (Substitute) नही है और आय, फैशन, रुचि और चैतन्यता मे कोई अन्तर नहीं होता है।

उपयोगिता ह्रास नियम

इस विचार की दूसरी मान्यता यह है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility of Money) सम्पूर्ण विनिमय के दौरान में स्थिर (Constant) रहती है। किन्तु यह दृष्टिकोण सही नहीं है। उपभोक्ता की बचत उस दशा मे भी होती है जब द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता बदलती रहती है। अन्तर केवल इतना होता है कि ऐसी दशा मे उपभोक्ता की बचत पहली दशा की अपेक्षा कम या अधिक होती है। चित्र २ इस आधार पर बनाया गया है कि द्रव्य

द्रव्य की स्थिर सीमान्त उपयोगिता

अधिक मूल्य नहीं दिया जाता । उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार सीमान्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता सबसे कम होती है और वह उस इकाई के मूल्य के बराबर होती है । अन्य इकाईयों की उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता से, अर्थात् उस इकाई के मूल्य से, अधिक होती है । अतः प्रत्येक इकाई के लिए समान मूल्य देने पर उपभोक्ता को सीमान्त इकाई के अतिरिक्त अन्य इकाईयों से उपयोगिताओं का लाभ मिलता है क्योंकि उपयोगिता के त्याग (मूल्य देने के कारण) की अपेक्षा उपयोगिता का लाभ (वस्तु का उपभोग करने के कारण) अधिक होता है । इस उपयोगिता के अतिरिक्त लाभ को उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus) या उपभोक्ता की तृप्ति की बचत (Consumer's Surplus of Satisfaction) कहते हैं ।

उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति के पास पाँच रुपये हैं और वह उनसे पाँच पेन खरीदता है । प्रत्येक पेन के लिये वह एक रुपया देता है, जबकि उनके सम्बन्ध में उसकी आवश्यकता, तीव्रता, उपयोगिता और तत्परता का विश्लेषण इस प्रकार है :—

पेन की इकाईयाँ (Units of Pens)	पेन की सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility	कुल उपयोगिता Total utility	वह मूल्य जो देने को तत्पर है (The price willing to pay)	उपयोगिता का लाभ (Surplus of Utility)	मूल्य का लाभ (Price Gain)

वह यह स्पष्ट इंगित करती है कि उपभोक्ता उस वस्तु का अधिक मूल्य दे सकता है या अतिरिक्त इकाईयां उपभोग कर सकता है।

चित्र—१ चित्र—२

उपरोक्त चित्र उपभोक्ता की बचत के विचार की ओर भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं। चित्र एक में आयतों द्वारा और चित्र २ मे रेखा के वक्र द्वारा उपभोक्ता की बचत प्रगट की गई है। अ ब रेखा पर पेन की इकाइयां और अ स रेखा पर पेन से प्राप्त होने वाली उपयोगिता मापी गई है। प्रत्येक आयत एक पेन से प्राप्त होने वाली उपयोगिता या सन्तोष को सूचित करता है। वक्र रेखा क ख उपयोगिता को प्रगट करती है। चित्र में रंगीन भाग उपभोक्ता की बचत कहलाते हैं।

उपभोक्ता की बचत की मान्यतायें—उपभोक्ता की बचत का विचार प्रमुख रूप से दो मान्यताओं पर आधारित है।

एक तो यह है कि उपभोक्ता की बचत पर विचार उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है और इसलिये उस नियम की मान्यताएँ इस विचार में भी लागू होती हैं। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत का विचार करते हुए मान लिया जाता है कि वस्तु की उपयोगिता उसकी पूर्ति पर ही निर्भर होती है

उपयोगिता ह्रास नियम अर्थात् प्रत्येक वस्तु को अन्य वस्तुओं से स्वतन्त्र माना जाता है। इसी तरह यह भी मान लेते हैं कि उस वस्तु का कोई अन्य स्थानापन्न (Substitute) नहीं है और आय, फैशन, रुचि और चैतन्यता मे कोई अन्तर नहीं होता है।

इस विचार की दूसरी मान्यता यह है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility of Money) सम्पूर्ण विनिमय के दौरान मे स्थिर (Constant) रहती है। किन्तु यह दृष्टिकोण सही नहीं है। उपभोक्ता की बचत उस दशा मे भी होती है जब द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता बदलती

द्रव्य की स्थिर सीमान्त उपयोगिता

रहती है। अन्तर केवल इतना होता है कि ऐसी दशा मे उपभोक्ता की बचत पहली दशा की अपेक्षा कम या अधिक होती है। चित्र २ इस आधार पर बनाया गया है कि द्रव्य

की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है। द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता के बदलने की दशा में चित्र में प द रेखा की दिशा बदल जायेगी और वह अ ब के समानान्तर न रह कर ऊपर या नीचे की ओर मुड़ जायेगी। साधारणतया यह रेखा ऊपर की ओर ही मुड़ेगी क्योंकि द्रव्य के व्यय के साथ साथ उसकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। ऐसी दशा में उपभोक्ता की बचत कम हो जायगी। चित्र ३ इस स्थिति को स्पष्ट करता है। किन्तु यदि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता यदि द्रव्य की मात्रा घटने के साथ-साथ बढ़ती जाए, यद्यपि ऐसी दशा असम्भव है, तो भी उपभोक्ता की बचत मापी जा सकती है। ऐसी दशा में प द रेखा नीचे की ओर झुकती जायेगी और परिणाम स्वरूप उपभोक्ता की बचत बढ़ती जाएगी। चित्र ४ इस स्थिति को स्पष्ट करता है। अतः हमें यह मानना होगा कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता का स्थिर रहना उपभोक्ता की बचत के अनुमान के लिये आवश्यक नहीं है।
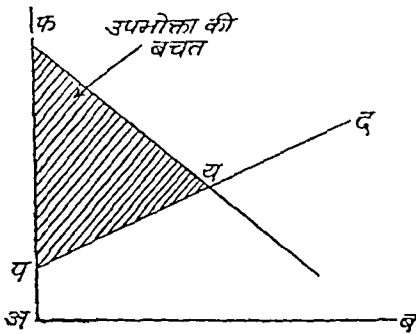
चित्र ३ चित्र ४
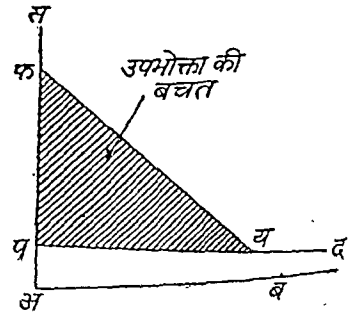
उपभोक्ता की बचत के विचार का आर्थिक विश्लेषण में महत्व :—
(Significance of the coucept of Consumer Surplus in Economic Analysis)

आर्थिक विश्लेषण में उपभोक्ता की बचत के विचार का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस विचार का अध्ययन सैद्धान्तिक (Theoretical) एवं व्यवहारिक (Practical) दोनों ही दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है अन्य शब्दों में हम इसे ज्ञान दायक और फल दायक विचार कह सकते हैं। वास्तव में बचत का यह विचार न केवल उपभोक्ता के व्यवहार के अध्ययन में उपयोगी है, किन्तु उत्पादकों के व्यवहार में, लगान और लाभ में उपयोगी सिद्ध हुआ है।

उपभोक्ता की बचत का विचार न केवल अपने आप में एक महत्वपूर्ण विचार है वरन्, आर्थिक विश्लेषण के अन्य विचारों में भी उससे सहायता मिलती है।

सर्वप्रथम, उपभोक्ता कि बचत के विचार का सैद्धान्तिक महत्व यह है कि यह धारणा वस्तुओं के उपयोग मूल्य (Value in use) और विनिमय मूल्य (Value in Exchange or price) के अन्तर को स्पष्ट करती है और हमारा ध्यान इस की ओर आकर्षित करती हैं कि किसी वस्तु के लिए दिया गया मूल्य उसके

प्राप्त सन्तुष्टि का सही माप (Exact measure) नहीं होता। मूल्य प्रायः सन्तोष से कम होता है और उपभोक्ता को बचत प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए हमारे दैनिक जीवन में हम अनेक ऐसी वस्तुओं का उपभोग करते हैं, जैसे—नमक, दियासलाई, समाचार पत्र, साधारण पत्र, पोस्टकार्ड, भोजन आदि, जिनसे प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि उस असन्तुष्टि से ही अधिक होती है जो इन वस्तुओं के मूल्य भुगतान के कारण होती है। अतः ऐसी वस्तुओं का उपयोग मूल्य इनके विनिमय मूल्य से बड़ा अधिक होता है।

आर्थिक विश्लेषण के अन्तर्गत यह विचार अत्यन्त महत्व रखता है। वह उपभोक्ता के व्यवहार के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालता है। वह उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य के अन्तर को स्पष्ट करता है और उनका सम्बन्ध निर्धारित करता है। कोई भी उपभोक्ता उन्हीं वस्तुओं का उपयोग करता है जिनमें उन्हें अधिकतम उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है और वह विनिमय भी तभी तक करता है जब तक उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य बराबर नहीं हो जाते।

उपभोक्ता की बचत का अध्ययन यह भी स्पष्ट करता है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों से कितना आर्थिक लाभ उठाता है। दूसरे शब्दों में, प्रो० सेन के अनुसार, उपभोक्ता की बचत हमारे चारों ओर की परिस्थितियों पर निर्भर होती है, यह हमारे सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक वातावरण पर निर्भर होती है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत का अस्तित्व परिस्थितियों से होने वाले आर्थिक लाभ को प्रगट करता है। यातायात, सदेशवाहन, समाचार पत्र, चिकित्सा आदि की इतनी बड़ी सुविधायें उपलब्ध होती हैं, जिनको प्राप्त करने के लिये बहुत कम व्यय करना पड़ता है और इन सबकी आवश्यकतायें इतनी अधिक महत्वपूर्ण होती हैं कि इन्हें प्राप्त करने के लिये हम बहुत अधिक व्यय करने को तत्पर रहते हैं। गांवों में भी बहुत सी ऐसी वस्तुयें होती हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिये व्यय कम करना पड़ता है और उनकी उपयोगिता बहुत अधिक होती है। अतः उपभोक्ता की बचत साधारणतः यह प्रगट करती है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों से कितना आर्थिक लाभ उठाता है।

उपभोक्ता की बचत आर्थिक दशा की प्रतीक होती है। रहन-सहन का स्तर उपभोक्ता की बचत से सम्बन्ध रखता है और उपभोक्ता की बचत जितनी अधिक होती है रहन-सहन का स्तर उतना ही ऊंचा होता है। इस प्रकार अन्य बातें समान रहने पर, उपभोक्ता की बचत के द्वारा हम समाज के विभिन्न वर्गों की आर्थिक दशा की तुलना कर सकते हैं। इस विचार के माध्यम से हमें विभिन्न समय, स्थान और वर्गों की आर्थिक उन्नति का तुलनात्मक बोध प्राप्त होता है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत सुख और समृद्धि की प्रतीक मानी जाती है और आर्थिक स्थिति के विश्लेषण में उससे सहायता मिलती है।

इसके [illegible] उपभोक्ता की बचत के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ मापा जा सकता है। दूसरे शब्दों में उपभोक्ता की बचत के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की [illegible] की जा सकती है। इस [illegible] वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य [illegible] उपभोक्ता की बचत है, वही दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ है। इस प्रकार किसी वस्तुओं पर जितनी अधिक उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है, उतना ही अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ होता है।

उपभोक्ता की बचत के विचार का [illegible] है।

उपभोक्ता की बचत का विचार कर-रोपण और सहायता प्रदान करने के सम्बन्ध में मार्ग दर्शन करता है। सरकार विभिन्न वस्तुओं पर कर लगाते समय यह ध्यान रखती है कि उपभोक्ता की बचत में कमी न हो और जो भी कमी हो वह करारोपण से होने वाली आय से अधिक न हो। जब किसी वस्तु पर कोई कर लगाया जाता है तो उस वस्तु की कीमत बढ़ जाती है और उससे प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत घट जाती है। अतः कर उन्हीं वस्तुओं पर लगाया जाना चाहिए जिनसे उपभोक्ता की बचत पर्याप्त मात्रा में मिलती हो और जो करारोपण के बाद भी इतनी रह जाए कि उपभोक्ता उसको खरीदने के लिए आकर्षित रहे। ऐसी दशा में कर उन्हीं वस्तुओं पर लगाया जाना चाहिये जिनसे कर आय (Tax Revenue) उपभोक्ताओं की बचत में होने वाली कमी से अधिक हो। यही बात उद्योगों को आर्थिक सहायता (bounty) देते समय ध्यान में रक्खी जानी चाहिये। उद्योगों को दी जाने वाली सहायता की अपेक्षा इन उद्योगों की उत्पत्ति वस्तुओं के उपभोग

उपभोक्ता की बचत का महत्व

(१) उपभोक्ता की बचत विनिमय मूल्य और उपभोग मूल्य के अन्तर को स्पष्ट करती है।
(२) उपभोक्ता के व्यवहार की व्याख्या करती है।
(३) परिस्थितियों से प्राप्त आर्थिक लाभ का बोध।
(४) विभिन्न समय, स्थान और वर्गों की आर्थिक उन्नति का तुलनात्मक बोध।
(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ मापा जा सकता है।
(६) करारोपण एवं आर्थिक सहायता की दिशा निश्चित करने में सहायता।
(७) मूल्य निर्धारण में सहायता और एकाधिकारी को लाभ निर्धारित करने में मार्ग दर्शन।
(८) मूल्य परिवर्तन के प्रभावों का अध्ययन।

में उपभोक्ताओं को प्राप्त होने वाली बचत अधिक होनी चाहिये। उपभोक्ताओं की बचत का प्रभाव उत्पादन की अलग-अलग दशाओं में अलग-अलग होता है और इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। जब उत्पादन लागत वृद्धि नियम या उत्पत्ति ह्रास नियम के अनुसार हो रहा है (Law of Decreasing Returns or Law of Increasing Costs) तब यह उचित होगा कि सरकार वस्तुओं के उत्पादन पर कर लगाये और उन्हें आर्थिक सहायता न प्रदान करे, क्योंकि ऐसी दशा में सरकार की आय उपभोक्ता को हुई हानि से अधिक होती है तथा सरकार द्वारा दी जाने वाली सहायता की तुलना में उपभोक्ताओं को बचत के रूप में कम मिलता है। इसके विपरीत उत्पादन वृद्धि नियम या लागत ह्रास-नियम (Law of Increasing Returns या Law of Decreasing Costs) की दशा में सरकार को कर नहीं लगाना चाहिये क्योंकि करारोपण के कारण उपभोक्ता की बचत में हानि अधिक होती है और सरकार को आय कम प्राप्त होती है। ऐसी दशा में उद्योग को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए क्योंकि उपभोक्ता की बचत में होने वाली वृद्धि सहायता से अधिक होती है। किन्तु जब लागत-समता-नियम या उत्पत्ति समता-नियम (Law of Constant Costs or Returns) लागू हो तो सरकार को न तो कर लगाना चाहिए और न सहायता ही प्रदान करनी चाहिए, क्योंकि उपभोक्ता की बचत पर इसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत का विचार कर-भार के विचार से घनिष्ट रूपेण सम्बद्ध है और सार्वजनिक वित्त के विश्लेषण में उससे सहायता मिलती है।

फिर, उपभोक्ता की बचत के विचार से मूल्य निर्धारण में भी सहायता मिलती है। सार्वजनिक उद्योगों में और एकाधिकार उत्पादकों व विक्रेताओं को वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में उपभोक्ता की बचत के विचार से बड़ी मदद मिलती है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, वस्तु का मूल्य बढ़ जाने से उपभोक्ता की बचत कम हो जाती है। अतः सरकारी कर्मचारियों, एकाधिकारी उत्पादकों और विक्रेताओं को अपनी वस्तुओं का मूल्य इतना ऊंचा नहीं रखना चाहिए, कि उपभोक्ता की बचत बिल्कुल शून्य हो जाय। यदि उन्होंने ऐसा किया, तो उपभोक्ताओं में असन्तोष उत्पन्न हो जायगा और वे सरकार से मूल्य नियंत्रण की माँग करेंगे तथा साथ ही विरोधी उत्पादकों को पनपने का अवसर मिल जाता है। अतः उपभोक्ता की बचत के विचार का लाभ उठाकर ही एक उत्पादक या एकाधिकारी उत्पादक अपनी वस्तु का मूल्य इस प्रकार निर्धारित करता है कि एक ओर तो उपभोक्ताओं को कुछ न कुछ अतिरिक्त बचत मिल जाय तथा दूसरी ओर उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। सामान्यतः जिन वस्तुओं में उपभोक्ता की बचत अधिक होती है उनका मूल्य अधिक सरलता से ऊंचा रखा जा सकता है किन्तु बहुत ऊंचा नहीं।

इसके अतिरिक्त उपभोक्ता की बचत का विचार मूल्य में होने वाले परिवर्तन

के प्रभावों का अध्ययन करने में सहायता करता है। मूल्य के घटने-बढ़ने के साथ-साथ उपभोक्ता की बचत में जो परिवर्तन होते हैं उनकी सहायता से हम यह निश्चय कर सकते हैं कि मूल्य के किसी दिए हुए परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त विवेचन से उपभोक्ता की बचत के विचार का सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक महत्व स्पष्ट है। किन्तु फिर भी इस विचार की अत्यन्त कड़ी आलोचना की गई है। इन आलोचनाओं के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं:

(१) उपभोक्ता की बचत का विचार सैद्धान्तिक रूप से उचित नहीं है।
(२) उपभोक्ता की बचत का सही माप सम्भव नहीं है और
(३) उपभोक्ता की बचत के विचार की कोई व्यवहारिक उपयोगिता नहीं है।

सैद्धान्तिक रूप से अनुचित—डा० मार्शल ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते समय यह मान लिया था कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता सदैव स्थिर रहती है। किन्तु प्रोफेसर निकलसन का कहना है कि यह मान्यता गलत है क्योंकि वस्तु की प्रत्येक खरीद के बाद मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाती। यह बात तब अधिक स्पष्ट हो जायेगी, जबकि हम द्रव्य को वस्तुओं और सेवाओं का प्रतीक मानें। ऐसी दशा में द्रव्य की उपयोगिता वस्तुओं और सेवाओं से उदय होती है। अतः किसी एक वस्तु पर व्यय बढ़ाने का अर्थ है, अन्य वस्तुओं के लिए कम द्रव्य रह जाना। अन्य वस्तुओं (अर्थात् मुद्रा) की उपयोगिता में निश्चित रूप से वैसे-वैसे वृद्धि होती जायेगी जैसे-जैसे कि उनसे अधिकाधिक द्रव्य हटाया जाता रहेगा।

(परन्तु मार्शल ने इस आलोचना का खण्डन यह कहकर किया है कि किसी एक वस्तु पर उपभोक्ता अपनी कुल आय का एक बहुत थोड़ा भाग ही व्यय करता है। उपभोक्ता की कुल आय के इस थोड़े से भाग के भीतर द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता में इतना मामूली अन्तर होता है कि उसे स्थिर ही मान लेने में कोई हानि नहीं है।)

मार्शल ने यह माना है कि प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से स्वतन्त्र है। आलोचकों का मत है कि यह मान्यता भी अव्यवहारिक है। कोई उपभोक्ता कपड़ा खरीदने पर जो द्रव्य व्यय करने के लिए तैयार होगा उसकी मात्रा न केवल कपड़े के लिए उसकी इच्छा पर वरन् उस धनराशि पर भी निर्भर होगी जोकि वह पहले ही किसी वस्तु पर व्यय कर चुका है। अतः यदि वह कपड़ा पहले खरीदता है तो उसे उपभोक्ता की जो बचत प्राप्त है वह उस बचत से भिन्न होगी जो कि उसे अनाज के बाद कपड़ा खरीदने से प्राप्त होती है।

मार्शल ने यह भी मान लिया है कि वस्तु का कोई स्थानापन्न नहीं है। परस्पर निर्भरता एवं स्थानापन्न के सम्बन्ध में मार्शल ने यह प्रस्ताव किया है कि ऐसी

वस्तुओं को एक ही माँग तालिका में शामिल कर लिया जाये। आलोचकों का मत है कि ऐसी माँग सूची बनाना न तो सम्भव है और न उचित ही। सम्बन्धित वस्तुओं (अर्थात् पूरक एवं प्रतिस्पर्धी वस्तुओं जैसे कि पेन और स्याही या चाय और कॉफी) का एक कल्पित माँग-चक्र नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार की सभी वस्तुओं के लिए ऐसी कोई माँग नहीं हो सकती है जोकि पूरक या प्रतिस्पर्धी वस्तुओं के मूल्य से स्वतन्त्र हो।

मार्शल ने इस आलोचना से बचने के लिए यह सुझाव दिया था कि सब वस्तुओं को एक ही वस्तु गिना जाय। किन्तु स्मरणीय है कि दो वस्तुओं (जिनमें परस्पर स्थानापन्नता का सम्बन्ध है) की कुल उपयोगिता उनकी पृथक्-पृथक् उपयोगिताओं के जोड़ से कहीं अधिक होगी। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति को न तो कॉफी मिलती है और न चाय, तो उसे केवल चाय न मिलने या केवल कॉफी न मिलने की दशा में उत्पन्न हुए असन्तोष से अधिक असन्तोष अनुभव होगा। लेकिन इस प्रकार की आलोचना को मार्शल के सुझावानुसार ऐसी सब वस्तुओं के लिए जो परस्पर स्थानापन्न है एक ही माँग तालिका बनाकर पूरा किया जा सकता है।)

इसके अतिरिक्त विभिन्न उपभोक्ताओं की आय में भी बड़ा भेद होता है, जिससे उन्हें एक ही वस्तु से भिन्न-भिन्न उपयोगिताएं मिलती हैं। मार्शल ने यह मान लिया है कि विभिन्न उपभोक्ताओं के व्यक्तिगत भेदों पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका विश्वास है कि जब समाज का सामूहिक रूप से विचार किया जाता है, तो व्यक्तिगत भेदों का बचत पर नगण्य प्रभाव पड़ता

उपभोक्ता की बचत के विचार की आलोचनायें

(१) उपभोक्ता की बचत का विचार सिद्धान्त रूप से अनुचित है क्योंकि निम्न मान्यतायें त्रुटिपूर्ण हैं —
(अ) द्रव्य की सीमांत उपयोगिता स्थिर रहती है।
(ब) प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से स्वतन्त्र है।
(स) वस्तु का कोई स्थानापन्न नहीं होता है।
(द) उपभोक्ताओं की आय में भेदों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।
(इ) यह एक वास्तविक विचार है।
(फ) माग सारिणी स्थिर होती है।
(ग) यह सिद्धान्त सभी आवश्यकताओं पर लागू होता है।
(२) बचत को सही माप सम्भव नहीं है।
(३) इस विचार की कोई व्यवहारिक उपयोगिता नहीं है।

है, क्योंकि अधिकांशतः वे परस्पर निष्प्रभावित हो जाते हैं।

(यह उल्लेखनीय है कि यदि इस मान्यता को त्रुटिपूर्ण ही माना जाय, तो भी इससे बचत के सिद्धान्त का खण्डन नहीं होता। हां! इस विचार को एक व्यक्ति की बजाय सारे बाज़ार पर लागू करना त्रुटिपूर्ण ही कहा जा सकता है।)

कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि उपभोक्ता की बचत बिल्कुल अवास्तविक विचार है और यह वास्तव में विद्यमान नहीं होता है। वे यह तर्क देते हैं कि जब कोई वस्तु खरीदी जाती है तो, यदि सन्तुष्टि का आधिक्य किसी वस्तु पर विद्यमान भी हुआ, तो उस बिन्दु पर ही खरीदारी समाप्त नहीं हो जायेगी वरन् उस समय तक जारी रहेगी जब तक कि यह आधिक्य बिल्कुल ही लुप्त न हो जाय। इसका कारण यह है कि जब तक आधिक्य बना रहेगा तब तक उस वस्तु पर व्यय करते रहना उपभोक्ता के लिए लाभदायक है।

कुछ आलोचक यह बताते हैं कि किसी वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों को खरीदने पर, पहले से खरीदी हुई इकाइयों की उपयोगिता कम हो जाती है। अतः हमें प्रत्येक नई इकाई की खरीद पर माँग मूल्यों की सूची के प्रारम्भिक भागों में परिवर्तन कर लेना चाहिए। चूंकि सारिणी में इस प्रकार परिवर्तन नहीं किया जाता है, इसलिए उपभोक्ता की बचत का ठीक ठीक माप नहीं हो सकता।

(मार्शल का विश्वास है कि उक्त आलोचना एक भ्रमपूर्ण धारणा पर आधारित है। मांग-मूल्य औसतन उपयोगिता पर नहीं वरन् सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर होते हैं। सीमान्त उपयोगिता वह उपयोगिता है जोकि एक अतिरिक्त इकाई द्वारा प्रदान की जाती है। चूंकि यह (सीमान्त) उपयोगिता कम होती जाती है इस लिए वस्तु के लिए बनाया गया वक्र-मांग भी झुकता जायेगा और चूंकि बाजार में वस्तु की कीमत उपभोक्ता को मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। इसलिये वे इकाइयां जो अधिक उपयोगिता रखती हैं उपभोक्ता को बचत प्रदान करती हैं।)

विभिन्न मूल्यों पर वस्तु की मांग क्या होगी इसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता अथवा यह बताना कठिन है कि साधारणतः बेची जाने वाली मात्राओं से बहुत भिन्न मात्राओं के लिये वस्तु के मांग मूल्य क्या होंगे। अतः माँग-मूल्यों की सूची बहुत ही अनुमानपूर्ण होगी। कोई भी व्यक्ति स्वयं से यह नहीं कहता कि बाजार में कोई वस्तु १० रु० में मिल रही है, और वह १५ रु० देने को तैयार है।

[मार्शल का विश्वास है कि यह कोई कठिन व्यवहारिक समस्या नहीं है। किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयों के लिये उन मूल्यों पर, जोकि विद्यमान बाज़ार मूल्य के निकटवर्ती हों, व्यक्तिगत माँग सूचियों की भविष्यवाणी करना सम्भव है।]

यह भी कहा जाता है कि यह सिद्धान्त अधूरा है, क्योंकि यह विलास-वस्तुओं और अनिवार्यताओं पर लागू नहीं होगा। विलास और शान-शौकत की वस्तुओं की

उपयोगिता उनके मूल्य ऊँचे रहने पर निर्भर होती है। यदि मूल्य कम हों, तो इनकी उपयोगिता समाप्त हो जायगी और उपभोक्ता की बचत भी नहीं रहेगी। अनिवार्यताओं के सम्बन्ध में तर्क इससे भिन्न है और यह है कि उनकी उपयोगिता बहुत अधिक होती है जबकि बाजार में उनका मूल्य बाहुल्यता के कारण कम होता है। अतः इनके लिये यदि उपभोक्ता की बचत मापी जाय तो वह बड़ी हास्यपद प्रतीत होगी। उदाहरण के लिये एक प्यासा अमीर व्यक्ति जो जंगल में भटक रहा है, एक गिलास पानी के लिये १००० रु० तक दे सकता है जबकि उसे पानी ६ न० पै० में ही मिल जाता है। ऐसी दशा में उसे ९९९.९४ की बचत हुई। इस प्रकार की गणना हास्यप्रद है।

इन कठिनाइयों को पैटन द्वारा सुझाये गये 'दुखमय' और 'सुखमय' अवस्था के भेद को अपनाकर हल किया जा सकता है। दुःखमय अवस्था का तात्पर्य उन वस्तुओं से है जो कि जीवन के लिये अनिवार्य हैं और जिनके उपभोग से कोई वास्तविक संतोष प्राप्त नहीं होता, वरन उनका अभाव ही बहुत दुख पूर्ण होता है। ऐसी दशाओं में बचत एक तरह का ऋणात्मक तत्व है जिसका तभी अनुभव होता है जबकि उपभोक्ता इस वस्तु के उपभोग से वंचित हो जाय। इसके विपरीत 'सुखमय अवस्था' का सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जिनके उपभोग से वास्तविक संतोष मिलता है। स्पष्टतः उपभोक्ता की बचत का विचार उन वस्तुओं पर लागू करना चाहिये जो कि सुखमय अवस्था के अन्तर्गत आती हैं। प्रोफेसर टॉजिग का भी यही विचार है।[1] कुछ भी हो उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त आरामदायक वस्तुओं पर तो अवश्य ही लागू किया जा सकता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वास्तव में उपभोक्ता की बचत का विचार काल्पनिक या त्रुटिपूर्ण नहीं है और ऐसी आलोचना का मुख्य सम्बन्ध सिद्धांत की मान्यताओं या मांगतालिका से है।

सही माप सम्भव नहीं—उपरोक्त आपत्तियों के अतिरिक्त अर्थशास्त्री यह भी कहते हैं कि उपभोक्ता की बचत की सही सही माप असम्भव है। इसके अनेक कारण बताये गये हैं। एक तो यह कि उपभोक्ता की बचत का विचार आत्मपरक या अनुभवगम्य (Subjective) है। दूसरे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता सब लोगों के लिए समान नहीं होती है और आय रुचि, आदत, संस्कार, फैशन आदि के कारण बदलती रहती है, इसलिए उपभोक्ता की बचत प्रत्येक स्थिति में भिन्न होगी। तीसरे मांग की सारिणी अनिश्चित होती है और उसका ठीक-ठीक बनाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह निर्णय करना असम्भव है कि किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा हम क्या मूल्य उस वस्तु के लिए देने को तैयार रहेंगे और इसलिये हमारी मांग

1. "Only where the stage has been reached of possible comfort of some choice in the direction of expenditure, can there be anything in the nature of a real surplus of satisfaction for the consumer." —Taussig.

तालिका अनुमान पर आधारित होती है। चौथे, स्थानापन्न वस्तुओं की उपस्थिति भी उपभोक्ता की बचत की सही-सही माप में कठिनाई उत्पन्न करती है क्योंकि स्थापनापन्नों के कारण वस्तु की कीमत बढ़ने पर उस वस्तु की मांग घट जाती है। मूल्य परिवर्तन के प्रभाव को हम ठीक-ठीक नहीं माप सकते। अतः उपभोक्ता की बचत भी सही-सही मापी नहीं जा सकती। किन्तु हिक्स ने उपभोक्ता की बचत को उदासीनता वक्रों से मापने की चेष्टा की है और ऐसी दशा में आत्मपरक होने के कारणों का निवारण किया जा सकता है।

व्यवहारिक उपयोगिता का अभाव—उपभोक्ता की बचत के विचार की यह कह कर भी आलोचना की जाती है कि इस विचार की कोई व्यवहारिक उपयोगिता नहीं है। यह एक विचार मात्र है और इस विचार की व्यवहारिक उपादेयता नहीं के बराबर है। प्रो० निकलसन का कहना है कि "आखिर यह कहने का क्या लाभ है कि इगलैंड में १००० पौंड की आय की उपयोगिता अफ्रीका में १००० पौंड की आय के बराबर है।" किन्तु मार्शल का कहना है कि जब हम दो देशों की आर्थिक उन्नति की तुलना करते हैं तो यह विचार काफी महत्व रखता है। यह हमें बतलाता है कि इंगलैंड में एक व्यक्ति १०० पौंड आय से उतना ही सुखी रह सकता है जितना कि वह अफ्रीका में १००० पौंड की आय होने पर रहेगा, क्योंकि उन्नत देशों में पिछड़े देशों की अपेक्षा उपभोक्ता की बचत अधिक होती है। उपभोक्ता की बचत की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक उपयोगिता को पहले ही समझाया जा चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न विद्वानों द्वारा उपभोक्ता की बचत के विचार की जो आलोचनायें की गई हैं, वे अधिक तत्व नहीं रखती हैं और उनसे इस विचार का आर्थिक विश्लेषण में जो महत्व है वह किसी भी प्रकार कम नहीं होता।

६

उदासीनता वक्र विश्लेषण

(Indifference Curve Analysis)

Q. How is the concept of indifference curve on improvement on the law of diminishing utility of the clessical economists? Give reasons.

Discuss the various uses of Indifference curves in economics
(Vikram 1966 M. A.)

प्रश्न—उदासीन वक्रों का प्रत्यय प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के उपयोगिता ह्रास नियम का संशोधित रूप किस प्रकार से है? कारण दीजिए। उदासीन वक्रों के अर्थशास्त्र में विभिन्न उपयोगों की व्याख्या कीजिए। (विक्रम १९६६ एम० ए०)

Q. Explain the concepts and properties of Indifference curves, Give diagrams. (Vikram 1964 M. A.)

प्रश्न—उदासीनता वक्रों के विचार एवं लक्षण समझाइये। रेखा चित्र भी दीजिए। (विक्रम १९६४ एम० ए०)

Q. Explain the principle of choice with the help of Indifference curves. What happens to the indifference curve technique when the relation between goods is one of complementarily?
(1961 I. A. S. Exam.)

प्रश्न—उदासीनता वक्रों की सहायता से चुनाव का सिद्धान्त समझाइये। वस्तुओं में पूरकता का सम्बन्ध होने पर उदासीनता-वक्र किस प्रकार प्रभावित होती है? (१९६१ आई० ए० एस०)

Q. Desscribe the Indifference Curve Analysis of Consumer's behaviour. (Agra 1960 M. A.)

प्रश्न—उपभोक्ता के व्यवहार के उदासीनता वक्र-विश्लेषण का वर्णन कीजिए। (आगरा १९६० एम० ए०)

उत्तर—उपरोक्त प्रश्न के उत्तर को हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(अ) उदासीनता-वक्र क्या होते हैं? उनकी विशेषतायें।

(आ) उनकी सहायता से चुनाव के सिद्धान्त का निरूपण।

(ङ) उपभोक्ता के व्यवहार की व्याख्या।
(ई) वस्तुओं की पूरकता का प्रभाव।

उदासीनता वक्र विश्लेषण:—

एक उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं को उनके महत्व के क्रम से वर्गीकृत कर अधिमानता के माप के अनुसार क्रय करता है। मार्शल और परम्परावादी अर्थशास्त्रियों ने इसे सीमान्त उपयोगिता के विचार के आधार पर समझाया है। किन्तु उनका यह विश्लेषण दो मान्यताओं पर अवलम्बित है – एक तो यह कि उपभोक्ता निरपेक्ष रूप से किसी वस्तु की उपयोगिता के अनुसार क्रय करता है और दूसरे यह कि वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता का माप द्रव्य के रूप में या गणित की सहायता से हो सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्री इन दोनों बातों का विरोध करते हैं और उनका कहना है कि उपयोगिता एक सापेक्षिक वस्तु है और उसकी निरपेक्ष माप असम्भव है। अत: उन्होंने सीमान्त उपयोगिता के विचार के स्थान पर सापेक्षिक अधिमानता का विचार प्रस्तुत किया और इसे स्पष्ट करने के लिए उन्होंने उदासीनता वक्र विश्लेषण का प्रयोग किया।

तटस्थता-वक्र या उदासीनता-वक्र की तकनीक सबसे पहले परैटो (Pareto) ने (१९०९) और रूसी अर्थशास्त्री स्लुत्स्की (Slutszky) (१९१५) ने बतलाई। इस तकनीक को एजवर्थ (Edgworth) ने भी बतलाया था, किन्तु इसके विकास में बाऊले (Bowley) वीजर (Wieser) चेम्बरलीन (Chamberlain) एलन (Allen) और हिक्स (Hicks) का प्रमुख महत्व रहा है। सन् १९३४ में डा० हिक्स और एलन ने इस रीति द्वारा मूल्य के सिद्धान्त को समझाने की चेष्टा की और डा० हिक्स ने अपनी पुस्तक अर्थ और पूंजी (Value and Capital) में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया। डा० जे० के० मेहता ने भी अपनी पुस्तकों में इसका वृत्तान्त दिया है किन्तु उन्होंने इस रीति की आलोचना भी की है।

उदासीनता-वक्र के विचार का आधार यह है कि उपभोक्ता किसी एक वस्तु की पृथक मांग की अपेक्षा विभिन्न वस्तुओं के प्रति एक निश्चित अनुराग रखता है। जहां कोई व्यक्ति यह आसानी से नहीं बतां सकता कि उसे किस वस्तु से कितनी उपयोगिता मिलती है, वहां वह यह आसानी से बतला सकता है कि दो अथवा दो से अधिक वस्तुओं में से किस वस्तु के लिए उसका अनुराग (Preference) किस प्रकार का और कितना है ? उपभोक्ता निरपेक्ष रूप से किसी वस्तु के प्रति अनुराग नहीं रखते वरन्, सापेक्षिक रूप से सामान्यत: परस्पर सम्बद्ध वस्तुओं के संयोग अथवा सम्मिश्रण (Combination) में रुचि रखते हैं इन अनुरागों का क्रम-तटस्थता-वक्र द्वारा प्रगट होता है।

"उदासीन-वक्र वह रेखा होती है जिस पर स्थित प्रत्येक बिन्दु दो वस्तुओं के ऐसे संयोग को प्रदर्शित करता है जिसमें कि किसी उपभोक्ता को समान तृप्ति मिलती

है। ईस्थम (Eastham) के शब्दों मे, यह वस्तुओं के उन जोड़ो को प्रदर्शित करने वाले बिन्दुओं का भाग होता है जिसके बीच व्यक्ति उदासीन रहता है। इसीलिए इसे उदासीनता की वक्र रेखा कहते हैं।" इसे हम यों भी कह सकते हैं कि तटस्थता-वक्र दो प्रक्षों (Axis of X and Axis of Y) के बीच खींची जानी वाली वक्र रेखायें हैं, जो अलग-अलग अक्षांश पर अलग-अलग वस्तुएँ दिखलाती हैं। ये दो वस्तुएँ मुद्रा अथवा अन्य पदार्थ कुछ भी हो सकते हैं लेकिन वे परस्पर विनिमय योग्य होने चाहिये। इस प्रकार तटस्थता-वक्र पर प्रत्येक बिन्दु दोनो वस्तुओं की कुछ मात्रा प्रदर्शित करता है। इसे खींचने के लिए दोनों वस्तुओं के विभिन्न सयोगो (जैसे ४ प्याले चाय और २५ समोसे या ५ प्याले चाय और २० समोसे) को लिया जाता है जो कि उपभोक्ता को एक समान मात्रा मे उपयोगिता प्रदान करते हैं। क्योंकि प्रत्येक संयोग से उपभोक्ता को बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है इसलिए वह इनके चुनाव में उदासीन या तटस्थ रहता है। जिन सयोगो के बारे मे वह इस प्रकार उदासीन है वे दोनों अक्षांशों के बीच खींची गई रेखाओं से मालूम किये जा सकते हैं।

इस प्रकार विश्लेषण की इस रीति के अन्तर्गत उपभोक्ता उपयोगिता की अपेक्षा अनुराग-क्रम (Scale of Preferences) को अपनाता है। अनुराग-क्रम दो वस्तुओं की विभिन्न मात्राओं के उन सयोगो को सूचित करता है जो उपभोक्ता को एक समान उपयोगिता प्रदान करते हैं और जिसके चुनाव मे उपभोक्ता तटस्थ होता है। इस अनुराग-क्रम के आधार पर एक उदासीनता–सूची (Indifference Schedule) बनायी जा सकती है। यह सूची उन सयोगो का सकलन है जो कि उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्रदान करते हैं। किन्तु कितनी सतुष्टि प्रदान करते हैं इसकी चर्चा ही इस रीति मे नहीं की जाती है क्योंकि इसकी ठीक-ठीक माप असम्भव है। इस प्रकार तटस्थता-वक्र अनुराग-क्रम को प्रगट करते है। दूसरे शब्दो मे, जब एक से अधिक वस्तुएं हों तो *अधिकतम लाभ के बिन्दु पर पहुँचने के लिये वह अनुराग-क्रम के* आधार पर बनाये गये तटस्थता-वक्र का सहारा लेता है। इस वक्र पर प्रत्येक बिन्दु दो वस्तुओं के संयोग प्रदर्शित करता है जो उपभोक्ता को समान सन्तोष देते हैं।

उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को चाय और समोसों के निम्न सयोगों से जो कि तटस्थता सूची में दिये गये हैं, समान उपयोगिता अथवा सतुष्टि प्राप्त होती है।

उदासीनता सूची
(Indifference Schedule)

क्रम सख्या	संयोग	प्रतिस्थापन की दर
१	१ प्याला चाय+५० समोसे	१ प्याला चाय=१२ समोसे
२	२ प्याला चाय+३८ समोसे	१ " " = ८ "
३	३ प्याला चाय+३० समोसे	१ " " = ६ "

४	४ प्याला चाय + २४ समोसे	१ प्याला चाय	= ४ समोसे
५	५ प्याला चाय + २० समोसे	१ " "	= ३ "
६	६ प्याला चाय + १७ समोसे	१ " "	= २ "
७	७ प्याला चाय + १५ समोसे	१ " "	= १ "
८	८ प्याला चाय + १४ समोसे	१ " "	= — —
—	— + —	— —	= — —
—	— + —	— —	= — —

उपरोक्त विभिन्न संयोगों को यदि ग्राफ पर अंकित कर दिया जाये तो जो वक्र रेखा खींची जायेगी उसे हम तटस्थता वक्र या उदासीनता वक्र (Indifference Curve) कहते हैं। संलग्न चित्र से इसे समझाया जा सकता है। चित्र में IC उदासीनता वक्र है। $P, P_1, P_2, P_3, P_4, P_5$, आदि उदासीनता वक्र पर विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करने वाले बिन्दु हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी व्यक्ति विशेष के लिए जिसके अनुराग क्रम को उदासीनता वक्र प्रस्तुत करता है, संयोग $OQ(=PN)$ ख वस्तु का + ON क वस्तु का, $OQ^{1}(=P^{1}N^{1})$ ख वस्तु का + ON^{1} क वस्तु का, $OQ^{2}(=P^{2}N^{2})$ ख वस्तु का + OO^{2} क वस्तु का, OQ^{3} $(=P^{3}N^{3})$ ख वस्तु का + ON^{3} क वस्तु का, $OQ^{4}(=P^{4}N^{4})$ ख वस्तु का और ON^{4} क वस्तु का आदि समस्त संयोग उपभोक्ता के लिए समान उपयोगिता रखते हैं।
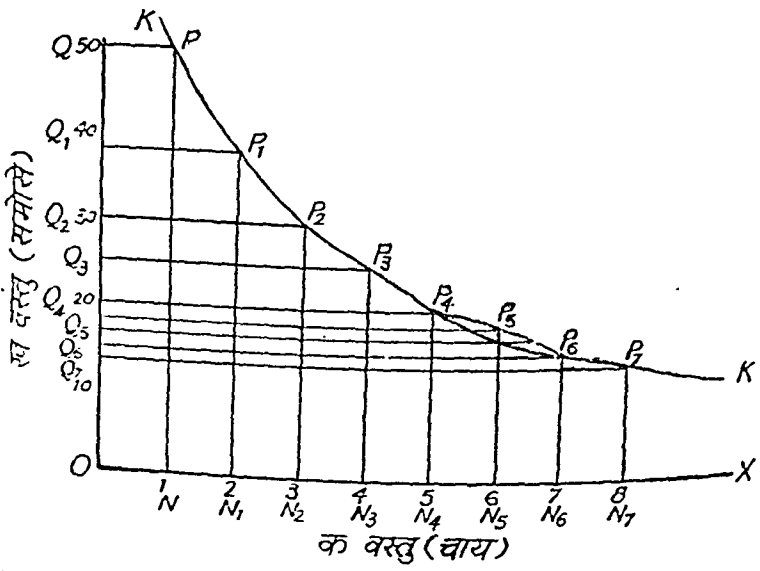
चित्र १—उदासीनता वक्र

इस प्रकार स्पष्ट है कि यह चित्र निरपेक्ष (Absolute) मात्रायें नहीं दिखलाता वरन्, केवल उन विभिन्न संयोगों को दिखलाता है जो कि समान संतुष्टि देंगे। वास्तव में एक उदासीनता वक्र एक सम-उपयोगिता वक्र (Iso-utility Curve) होता है, अर्थात् इस वक्र पर प्रत्येक बिन्दु उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्रगट करता है। किन्तु इन संयोगों में भी हमें प्रतिस्थापना के समय यह अनुभव होता कि एक वस्तु की वृद्धि होने पर हम दूसरी वस्तु का जो त्याग करते हैं, वह धीरे-धीरे घटता जाता है। प्रतिस्थापना की सीमान्त दर क्रमशः घटती जाती है। इस प्रकार उदासीनता वक्र का प्रत्यय प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के उपयोगिता ह्रास नियम एवं ऐसे ही अन्य निष्कर्षों पर एक महत्वपूर्ण सुधार है।

उदासीनता वक्रों की विशेषतायें

(Properties of Indifference Curves)

उदासीनता वक्र के अध्ययन से उनकी कुछ विशेषतायें स्पष्ट होती हैं। उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

(१) वक्र नीचे दायीं ओर गिरता है (Curve slopes downward to the right)—उदासीनता वक्र दो अक्षांशों के आधार पर उन संयोगों को प्रगट करता है जो कि समान उपयोगिता प्रदान करते हैं। ये संयोग प्रतिस्थापन की प्रक्रिया पर निर्भर रहते हैं। अर्थात् एक वस्तु की मात्रा बढ़ाने पर दूसरी वस्तु की मात्रा घटानी पड़ेगी। ऐसा करने पर तटस्थता वक्र बायीं ओर से दाहिनी ओर नीचे गिरेगी। किन्तु वक्र की वास्तविक गिरावट (actual slope) प्रतिस्थापना की दर से निश्चित होगी। चित्र में

> **उदासीन वक्र रेखा की विशेषतायें**
>
> (१) वक्र नीचे दाईं ओर गिरता है।
> (२) वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर होता है।
> (३) वक्र रेखायें परस्पर काट नहीं सकती।
> (४) उनका समानान्तर होना आवश्यक नहीं।
> (५) वक्र गोलाकार भी हो सकता है।
> (६) प्रत्येक उपभोक्ता के अनेक तटस्थता वक्र होते हैं।

OX अक्षांश पर चाय और OY अक्षांश पर समोसे बताये गये हैं चाय की मात्रा बढ़ाने पर समोसे की मात्रा घटानी पड़ती है। समोसे की मात्रा घटाने पर वक्र नीचे की ओर गिरता है और चाय की मात्रा बढ़ाने पर वह दाहिनी

ओर सरकता है। अतः स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक उदासीनता वक्र नीचे दाहिनी ओर गिरे।

(२) उदासीनता-वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर होता है (Curve is generally convex to the origin)— तटस्थता वक्र दो अक्षांशों के आधार पर विभिन्न वस्तुओं के संयोगों को प्रकट करते हैं। [illegible] OY
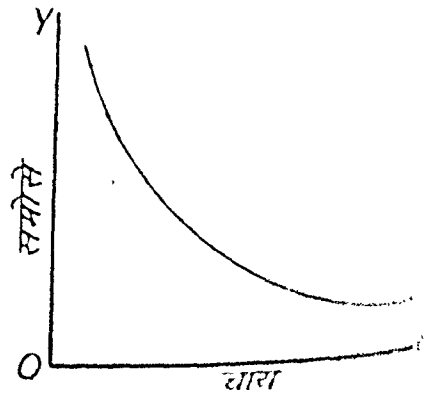
स्थानापन्न नही हों तो दोनों वस्तुओं के उपभोग को एक निश्चित मात्रा में बनाये रखना आवश्यक होता है क्योंकि एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का उपयोग नहीं
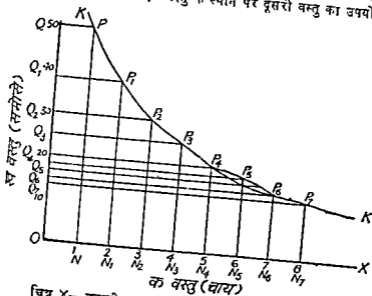
चित्र ४—उदासीन वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर होता है

किया जा सकता। ऐसी दशा में तटस्थता वक्र का जो रूप होगा वह चित्र ३ में प्रगट किया गया है।

(३) दो उदासीन वक्र परस्पर एक दूसरे को नहीं काट सकते (Indifference curves cannot cut each other)—प्रत्येक वक्र रेखा उपभोक्ता के लिये-

चित्र—५
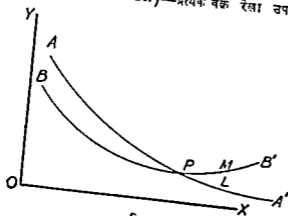
भिन्न-भिन्न उपयोगितायें सूचित करती है। अतः भिन्न भिन्न

अलग-अलग वक्र रेखायें होती हैं जो न तो एक दूसरे को काट सकती हैं और न स्पष्ट ही करती हैं। नीचे के चित्र से यह स्पष्ट हो जायगा। चित्र ६ में दो ऐसे वक्र A–A' और B–B' बताये गये हैं जो A और B उपयोगिता के लिये दो वस्तुओं के संयोग सूचित करते हैं। आगे A–A', वक्र B–B' की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्रकट करती है। ये वक्र न तो दूसरे को काटते ही हैं और न कहीं स्पर्श ही करते हैं। किन्तु मान लीजिये, जैसा कि चित्र ५ में प्रदर्शित है, ये दोनों वक्र एक दूसरे को P बिन्दु पर काटते हैं। L एक बिन्दु वक्र A–A' पर है जो कि मूल बिन्दु O से वक्र B–B' की अपेक्षा अधिक दूर है और M एक बिन्दु वक्र B-B' पर है जो
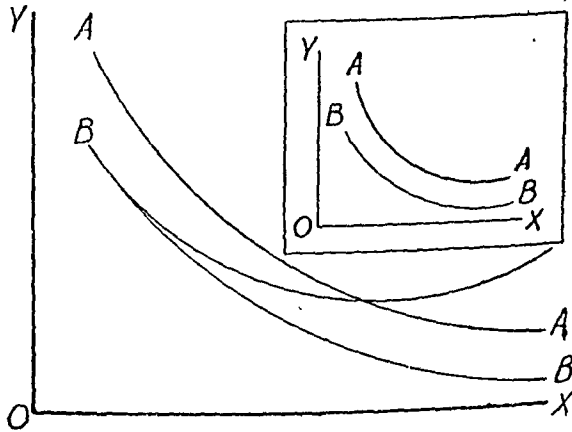
चित्र — ६

कि मूल बिन्दु O से वक्र A–A' की अपेक्षा अधिक पास है जबकि बिन्दु P मूल बिन्दु O से समान दूरी पर है। यह उस स्थिति को सूचित करता है जहाँ कि दोनों तटस्थ वक्रों की उपयोगिता एक समान हो जाती है, जोकि किसी भी दशा में सम्भव नहीं है। अतः यह कहा सकता है कि दो उदासीन-वक्र एक दूसरे को कभी भी नहीं काट सकते क्योंकि वे भिन्न-भिन्न उपयोगिता पर दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को प्रकट करते हैं।

(४) उदासीन वक्र का एक दूसरे के समानान्तर होना आवश्यक नहीं है (Curves need not be parallel to each other)—उपयोगिता के अलग-अलग स्तर पर खींचे गये तटस्थता-वक्र दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को सूचित करते हैं। उपयोगिता के प्रत्येक स्तर पर प्रतिस्थापन की दर एक समान भी हो सकती है और अलग-अलग भी। जब प्रतिस्थापन की दर वही होती है तो वक्र समानान्तर होंगे, और जब उसमें भिन्नता होगी तो वे समानान्तर नहीं होंगे। अतः तटस्थ वक्रों का एक दूसरे के समानान्तर होना आवश्यक नहीं है। चित्र १ में प्रकट उदासीन-

वक्र पर समानान्तर और असमानान्तर तटस्थता वक्र इस प्रकार बनाये जा सकते हैं।

यदि हम एक प्याला चाय और पचास समोसो से प्राप्त उपयोगिता से अधिक उपयोगिता चाहते हैं तो हम उन संयोगो की कल्पना कर सकते हैं जिनकी उपयोगिता दो प्याले चाय और पचास समोसो के बराबर हो सकती है। ऐसी दशा में प्रतिस्थापना की दर वही भी रह सकती है और अलग भी हो सकती है।

प्रथम वक्र के अवसर पर	अधिक उपयोगिता प्राप्त करने के लिए	
प्रतिस्थापना की दर	समान दर	अलग दर
	एक प्याला चाय बराबर समोसो के	
१२	१२	१२
८	८	१०
६	६	५
४	४	४
३	३	३
२	२	२
१	१	१

उपरोक्त प्रतिस्थापना की दर पर बनाए गए तटस्थता वक्र (२) तटस्थता वक्र (१) के समानान्तर होगा, जबकि तटस्थता वक्र (३) तटस्थता वक्र (२) के समानान्तर नहीं होगा।

कृपया स्पष्टीकरण के लिये पृष्ठ १२७ पर चित्र नं० ४ तटस्थता-वक्र क्रमांक (१) देखिये।
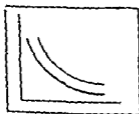
चित्र ७
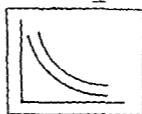
समानान्तर उदासीन-वक्र क्रमांक (२)

चित्र ८

असमानान्तर उदासीन वक्र क्रमांक (३)

(५) उदासीन-वक्र गोलाकार भी हो सकते हैं (Curves can be of a circular shape)—कभी-कभी वस्तुयें ऐसी होती हैं कि उनका असीमित मात्रा में उपभोग तभी सम्भव होता है जबकि उनकी उपयोगिता ऋणात्मक (Negative

utility) हो। ऐसी दशा में तटस्थता-वक्रों का आकार गोलाकार या अण्डाकार हो जाता है। उदाहरण के लिये निम्न चित्र को देखिए:—इस चित्र में OQ_1 वस्तु X की उस मात्रा को सूचित करता है और अक्षांश Y पर OP_1 भी Y वस्तु की उस मात्रा को सूचित करता है जो कि बिना ऋणात्मक उपयोगिता के उपभोग की जा सकती है। अब यदि X वस्तु की मात्रा OQ_1 से अधिक या Y वस्तु की मात्रा GP_1 से अधिक बढ़ाई जाती है तो हमें ऋणात्मक उपयोगिता प्राप्त होगी। X वस्तु की ऋणात्मक उपयोगिता को प्रभावहीन करने के लिए Y वस्तु की ऋणात्मक उपयोगिता को प्रभावहीन करने के लिए X वस्तु की मात्रा बढ़ाई जायेगी। इस प्रकार ऐसी दशा में तटस्थता-वक्र गोलाकार भी हो सकते हैं।
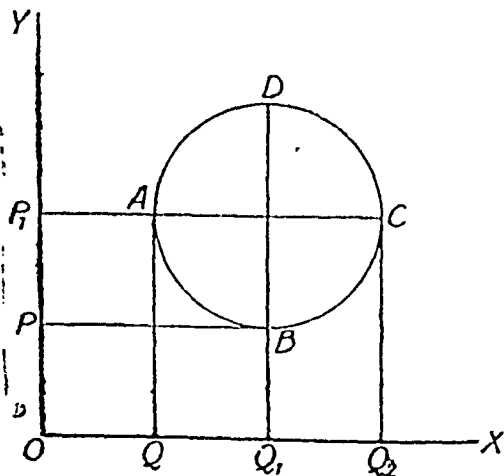
चित्र ९

(६) प्रत्येक उपभोक्ता के अनेक उदासीन-वक्र होते हैं (Every consumer has series of indifference curves)—तटस्थता-वक्र दो वस्तुओं के संयोग को प्रदर्शित करता है। ये संयोग अनेक हो सकते हैं और उपयोगिता या सन्तुष्टि का अलग-अलग स्तर सूचित करते हैं। अतः तटस्थता-वक्र भी अनेक हो सकते हैं। प्रत्येक उपभोक्ता के लिए तटस्थता-वक्रों की शृंखला होती है, क्योंकि संतोष या उपयोगिता के अनेक स्तर हो सकते हैं। दाहिनी ओर को प्रत्येक वक्र उत्तरोत्तर अधिक संतोष प्रदर्शित करता है। किन्तु ध्यान ...का मनुष्य की आय से ...व नहीं होता, ये केवल ...के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न संयोगों को सूचित तटस्थता-वक्रों की ऐसी
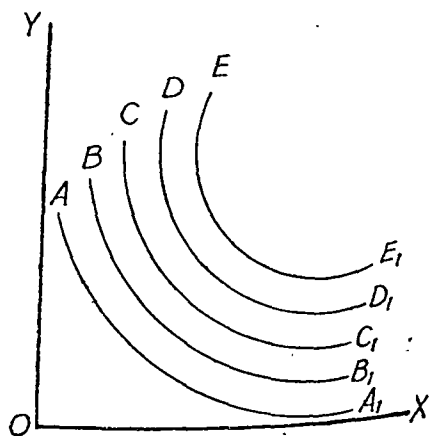
चित्र १०
उपभोक्ता के उदसीनवक्रों की शृङ्खला

शृङ्खला जिस चित्र में प्रकट की जाती है उसे तटस्थता-मानचित्र (Indifference Map) कहा जाता है।

उदासीन-वक्र द्वारा चुनाव के सिद्धान्त का निरूपण

(Explanation of the principle of choice through Indifference curves)

उदासीन-वक्रों के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह रीति किसी व्यक्ति के अनुराग-क्रम (Scale of Preferences) का, जबकि उसके सामने केवल दो विकल्प हों, अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है। बेन्हम (Benham) के अनुसार, उदासीनता वक्रों का किन्हीं दो विकल्पों के बीच किसी व्यक्ति के अनुराग-क्रम को प्रदर्शित करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, ये आय और अवकाश के बीच उसके अनुराग-क्रम को दिखाते हैं, जिससे यह मालूम हो जाता है कि वह प्रत्येक दिन अपने २० घण्टे कार्य और अवकाश के मध्य किस प्रकार वितरण करेगा। इसी प्रकार वर्तमान और भावी उपभोग, द्रव्य तथा आय सम्पत्तियों आदि के बीच उसका अनुराग क्रम प्रदर्शित करने के लिए भी इन्हें इस्तेमाल किया जा सकता है।[1] इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उदासीन-वक्र विश्लेषण की सहायता से चुनाव के सिद्धान्त (Theory of choice) को समझाने का प्रयत्न किया है। चुनाव का सिद्धान्त व्यापक रूप में यह स्पष्ट करता है कि अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए अपने सीमित साधनों का, जिनके वैकल्पिक उपयोग होते हैं, वह किस प्रकार चुनाव करता है? अर्थात्, यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि विभिन्न विकल्पों में से व्यक्ति किसे चुनता है। तटस्थता-वक्रों की सहायता से इस प्रश्न का उत्तर यों दिया जाता है कि व्यक्ति किसी एक विकल्प को न चुनकर एक से अधिक विकल्पों के संयोगों को चुनता है। एक अवसर की प्राप्ति के लिए दूसरे अवसर का त्याग करता है। इस प्रकार, प्रतियोगी वस्तुओं में से चुनाव करते समय मनुष्य उनके बीच अपने अनुराग-क्रम तय करता है और ये अनुराग-क्रम प्रतियोगी वस्तुओं की विभिन्न मात्राओं के बीच विचलन करते रहते हैं। किसी भी व्यक्ति के पास इनकी कुल मात्रा यह तय करती है कि वह उनके एक दूसरे के द्वारा किस प्रकार मूल्यांकन करता है।

---

1. "Indifference curves can be used to portray a person's scale of preferences between any two alternative, provided there ary only two. Thus, they can portray his scale of preferences as between income and leisure, showing how would he divide his twenty four hours each day between leisure and remunerated work at any given rate per hour, Again they can be used to show the scale of perferences between present and future, consumption between liquid and income. Yielding assets and so on," —Benham : Economics, p. 96-57

उपभोक्ता का व्यवहार
(Consumer's behaviour)

उदासीन वक्र विश्लेषण बहुत सी आर्थिक समस्याओं को समझाने के लिये एक बड़ा ही उपयोगी यन्त्र है। इसके द्वारा हम बता सकते हैं कि उपभोक्ता किस प्रकार अपनी आय को खर्च करे जिसको कि अधिकतम प्रत्याय प्राप्त हो। इसको समझने के लिये हम केवल दो ही वस्तुएं लेगे जिनमें एक मुद्रा तथा दूसरी कॉपियां होगी। आगे बढ़ने से पूर्व निम्नांकित उपधाराणाएं हैं :—

(१) उपभोक्ता एक तटस्थ मानचित्र है, जिसके ऊपर कि कॉपियों तथा मुद्रा के भिन्न भिन्न संयोगों के बीच उपभोक्ता की अधिमानता के पैमाने दिखाये गये हैं। अधिमानता का यह पैमाना सम्पूर्ण विश्लेषण के दौरान में पूर्ववत् रहता है।

(२) उसके पास जितना धन, सब का सब वह या तो कॉपियों के खरीदने में खर्च करता है या दूसरी चीजों के खरीदने में।

(३) वह सब चीजों की प्रचलित कीमतें जानता है तथा उसके अतिरिक्त बाजार में और बहुत से क्रेता होते हैं।

(४) अन्य सब चीजों की कीमत दी हुई तथा स्थिर रहती हैं।

(५) सब चीजें समावयव तथा विभाज्य हैं।

(६) उपभोक्ता विवेकशील हैं, तथा अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना चाहता है।

इन उपधारणाओं के आधार पर हम उपभोक्ता का एक तटस्थ वक्र मानचित्र बना सकते हैं, जिसका रूप निम्न दिये चित्र जैसा हो सकता है:—

चित्र ११

इनमें नं० एक कम तुष्टि का, नं० २ उससे अधिक तुष्टि का, नं० ३ उससे अधिक का व नं० ४ सबसे अधिक तुष्टि का है। इसमें सभी वक्र उपभोक्ता के व्यक्तिगत तुष्टि के सूचक हैं।

माना उपभोक्ता की आय OA है तथा वह उससे OB कॉपियां खरीदता है। यदि वह अपनी सारी आय को OB कॉपियों के खरीदने में लगा दे तो एक कॉपी की कीमत $\frac{OB}{BB}$ होगी। इसको हम निम्न चित्र द्वारा दिखा सकते हैं—
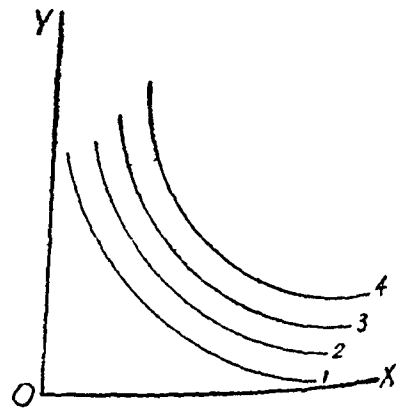
यहाँ पर आय OA है, तथा उपभोक्ता OB कॉपियां खरीदना चाहता है तो ऐसी स्थिति में कीमत-रेखा AB होगी। यह रेखा उन समस्त सुअवसरों को दिखाती हैं जो कि उपभोक्ता को OB कॉपियां खरीदने के लिये प्राप्त हैं। इसीलिये इस रेखा को कीमत सुअवसर रेखा भी कहा जाता है। इस रेखा पर कोई भी बिन्दु लेने से हमको इस बात का ज्ञान हो सकता है कि उपभोक्ता कितनी कॉपियां खरीदना चाहता है तथा इसके लिये उसको कितना धन देना पड़ेगा। उसके पास

चित्र १२

कितना धन अन्य चीजों को खरीदने के लिये बचेगा। उदाहरण के लिये यदि उपभोक्ता OQ कॉपियां खरीदना चाहता है तो उसको AL आय खर्च करनी पड़ेगी, तथा उसके पास OL आय शेष बचेगी। इसके विपरीत, यदि वह OS कॉपियां खरीदना चाहता है तो उसको AM आय खर्च करनी पड़ती है, तथा वह OM आय दूसरी चीजों को खरीदने के लिये बचाता है। उपभोक्ता, इस रेखा से ऊपर किसी बिन्दु पर नहीं जा सकता है, क्योंकि आय कम है और न वह इससे नीचे W बिन्दु पर ही रह सकता है, क्योंकि हम पहले ही उपधारणा कर चुके हैं कि वह सारी आय वस्तु खरीदने अथवा अन्य चीजों के खरीदने में खर्च कर देता है। इस प्रकार कीमत रेखा उन सारे सुअवसरों को दिखाती है, जो कि उपभोक्ता को उस समय प्राप्त होते हैं, जबकि हम उसकी आय तथा वस्तु की कीमत मानकर चलते हैं। उपभोक्ता को तभी सबसे अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है, जब सुअवसर रेखा तटस्थ वक्र को स्पर्श करती है।
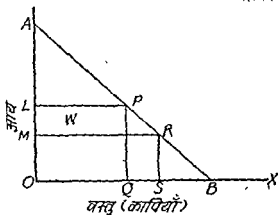
कीमत रेखा में परिवर्तन :—

कीमत रेखा में दो प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं—एक हालत में यह रेखा पूर्ण रूपेण अपने स्थान से हट कर इस स्थान के समानान्तर कोई स्थान ग्रहण करती है, दूसरी हालत में इस रेखा का सिरा अपने पूर्ववत् स्थान पर रहता है, तथा दूसरा पूर्व स्थान से हट जाता है, जिससे कि इस रेखा की नई स्थिति पूर्व स्थिति के साथ एक कोण बनाती है। चित्र नं० १३ पहली तथा चित्र नं० २ दूसरी स्थिति का परिचायक है। पहली स्थिति जब पैदा होती है जबकि विनिमय की दर पहले जितनी ही रहे लेकिन उपभोक्ता की आय में परिवर्तन हो जाय दूसरी वह जब विनिमय में परिवर्तन हो जाय किन्तु आय पूर्ववत रहे। इस बात को चित्र नं० १३ व चित्र नं० १४ में दिखाया है।

ऊपर के चित्र १८ में विनिमय दर पहले जितनी ही रहती है। परन्तु व्यक्ति की आय OR से घटकर OR_1 हो जाती है जिससे कि विनिमय की जाने वाली
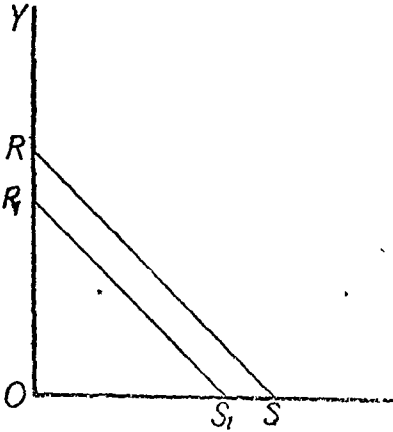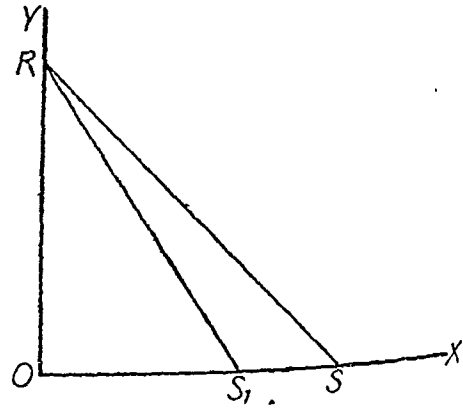
चित्र १३ चित्र १४

वस्तु मात्रा में भी समानुपातिक परिवर्तन आयेगा तथा वह OS मात्रा के बदले OS_1 मात्रा खरीदने लगेगा। अब कीमत रेखा RS के बदले R_1 S_1 हो जाती है R S रेखा R_1 S_1 के समानान्तर है। दूसरे चित्र में व्यक्ति की आय O R है। इस आय से पहले वह O S वस्तु खरीदता था जिसके कारण कीमत रेखा R S थी। परन्तु अब विनिमय दर में परिवर्तन आ गया है। यद्यपि आय पूर्ववत ही रहती है। इससे खरीदी जाने वाली वस्तु मात्रा पर ही इसका प्रभाव पड़ेगा। मान लिया कि विनिमय दर में परिवर्तन के फलस्वरूप अब उपभोक्ता केवल OS_1 वस्तु मात्रा खरीद पाता है तो अब कीमत रेखा R S से हटकर R_1S_1 हो गई।

यह बात जानने के पश्चात् कीमत रेखा क्या होती है तथा एक उदासीन वक्र के दायें ओर के सब वक्र अपने पूर्ववर्ती बायें वक्र से अधिक लाभप्रद जोगों के सूचक हैं यथा बायें ओर से वक्र अपने से दायें ओर के वक्रों से कम लाभप्रद जोड़ों के सूचक होते हैं। हमारे लिये यह बात समझनी सरल होगी कि उपभोक्ता संस्थिति को कैसे प्राप्त करता है। इसको हम चित्र नं० २० की सहायता से समझ सकते हैं। इसमें हमने AB को उपभोक्ता
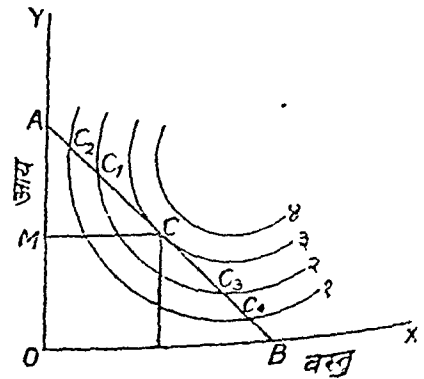
चित्र १५

की कीमत रेखा माना है। यह कीमत रेखा बिन्दु $C_2C_2C_1C_3$ तथा C_4 ने क्रमशः

गुजरती है। बिन्दु C_2 C_4 तटस्थ वक्र १ पर स्थित है। बिन्दु C_1 तथा C_3 वक्र २ पर स्थित है तथा बिन्दु C, वक्र ३ पर स्थित है। हमारी उपधारणा प्रारम्भ ही से यह है कि उपभोक्ता अपनी कुल तुष्टि को चरम बिन्दु पर पहुंचाना चाहता है। वह अपनी आय को इस प्रकार खर्च करता है कि उससे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो सके। इसलिए यह स्वाभाविक है कि वह उच्चतम तटस्थ वक्र पर पहुँचना चाहिए। लेकिन उसका यह प्रयत्न कीमत रेखा तक ही सीमित होगा। इस प्रकार हमारा उपयुक्त उपभोक्ता बिन्दु C_3 से प्राम्भ कर दायी ओर उच्चतर तटस्थ वक्रों पर जाता है और अन्त मे C बिन्दु पर पहुँच जाता है। स्पष्ट है कि अन्त मे C_2 बिन्दु पर आय तथा वस्तु को जोड़ा उसे प्राप्त होता था वह C_1 पर प्राप्त होने वाले जोड़े से घटिया था। इस प्रकार चलते हुए B बिन्दु पर पहुँचकर उपभोक्ता को अपने आय वस्तु के जोड़े से अधिकतम तुष्टि प्राप्त होगी। अत. इन सब जोड़ों में से व्यक्ति C को चुनेगा अर्थात् OL वस्तु खरीदेगा तथा AM आय खर्च करके OM आय अपने पास रखना चाहेगा। वह न इससे कम रखेगा और न अधिक। C_1, C_2, C_3, तथा C_4 बिन्दु तटस्थ वक्र ३ के बायी ओर के वक्रों पर है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसको इन जोड़ों के चुनने से C पर के जोडे से कम लाभ प्राप्त होगा। वक्र नं० ४ पर कोई बिन्दु न चुनेगा क्योंकि यह कीमत रेखा AB के बाहर है। अपनी दी हुई आय तथा बाजार की विनिमय दर के कारण वह C बिन्दु को ही चुनेगा। इस बिन्दु पर उसको सबसे अधिक लाभ प्राप्त होगा। यही उसकी सस्थिति है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सस्थिति वह होती है जहाँ पर कि कीमत रेखा तटस्थ वक्र को छूकर चलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तटस्थ वक्र विश्लेषण हमारे लिये बहुत उपयोगी है। इसके द्वारा हम सीमान्त ह्रासोन्मुखी तुष्टि तथा सम-सीमान्त तुष्टि आदि चीजों को बिना उपयोगिता की सहायता के लिये समझ सकते हैं। इनमें से पहली बात को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि जब एक उपभोक्ता चीजो के एक समूह को दूसरे समूह से अधिक पसन्द करता है तो यह स्पष्ट है कि इनमें से पहला समूह उसको दूसरे से अधिक तुष्टि प्रदान करता है। दूसरी बात को समझने के लिये हम तटस्थ वक्रों की सहायता लेते हैं। यदि हम देखते हैं कि एक व्यक्ति चीजों के दो समूह के बीच उदासीन है तो हम देखते है कि ये दोनों समूह उपभोक्ता के समान उपयोगिता प्रदान करते हैं। इनके अतिरिक्त, इन विश्लेषण को हम भिन्न प्रकार की आर्थिक समस्याओं को समझने के लिये काम मे ला सकते हैं।

अभी तक हम यह उपधारणा करके चले हैं कि उपभोक्ता की आवश्यकता, उसकी आय, वस्तु की कीमत आदि स्थिर है। परन्तु हम जानते हैं कि ये स्थिर नहीं रहते। अब हम यह देखेंगे कि यदि उपभोक्ता की आय अथवा कीमत मे परिवर्तन

हो जाय तो उपभोक्ता की संस्थिति में किस प्रकार का परिवर्तन आयेगा। इस चीज का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हम अपने विश्लेषण को तीन भागों में विभाजित करेंगे :—

(१) आय प्रभाव (२) स्थानापन्न प्रभाव तथा (३) कीमत प्रभाव।

(१) आय-प्रभाव (Income Effect)

उपभोक्ता की आय को हम दी हुई मानकर चले हैं परन्तु हम जानते हैं कि व्यवहार में आय स्थिर नहीं रहती वरन् वह घटती बढ़ती रहती है। जब उपभोक्ता की आय बढ़ जाती है तो उसके हाथ में अधिक क्रय शक्ति आ जाती है। जिसके फलस्वरूव वह अधिक माल खरीद सकता है। यदि खरीद जाने वाली वस्तु अथवा वस्तुओं की कीमत पहले जितनी ही रहती है तो भी उपभोक्ता अब पहले से अधिक माल खरीद सकेगा। इसके विपरीत, यदि उपभोक्ता की आय घट जाय तथा खरीदी जाने वाली चीजों की कीमत पहले जितनी ही रहे तो उपभोक्ता ऐसी हालत में पहल से कम माल खरीद सकेगा। इस प्रकार जब उपभोक्ता किसी दूसरी बात के प्रभाव से प्रभावित न होकर केवल आय में परिवर्तन होने के कारण पहले से कम या अधिक माल खरीद सकता है तो उसको आय का प्रभाव कहते हैं।

आय प्रभाव को जानने के लिए हम दो वस्तुऐं अनाज और कपड़ा ले सकते हैं। अब हम यह सकते हैं कि बाजारू कीमत पहले जितनी ही रहती है तथा उपभोक्ता की आय पहले की अपेक्षा बढ़ती रहती है। जिसके फलस्वरूप हमको पहले तटस्थता वक्र के दायी ओर कई तटस्थता वक्र प्राप्त होते हैं जैसा कि अग्र चित्र में दिखाया गया है—
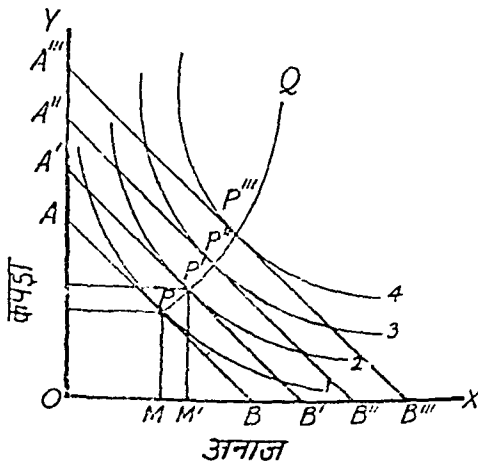
चित्र—१६

ऊपर के चित्र में OX पर अनाज तथा OY पर कपड़ा दिखाया गया है।

इस चित्र में उपभोक्ता की आय अनाज के रूप में OB है तथा कपड़े के रूप में OA है। AB कीमत रेखा है तथा नं० १ तटस्थ वक्र है। यह वक्र कीमत रेखा को P बिन्दु पर स्पर्श करता है। जैसा हम पहले बता चुके है, इसी कारण P बिन्दु संस्थिति को दिखाता है अर्थात् यदि उपभोक्ता की आय अनाज के रूप में OB हो तथा कपड़े के रूप में OA हो तो उपभोक्ता OM अपड़ा तथा OL कपड़ा अपने पास रखना पसन्द करेगा।

यदि उपभोक्ता की आय बढ़कर अनाज के रूप में OB हो जाय तथा कपड़े के रूप में OA हो जाय तो AB की कीमत रेखा होगी तथा नं०२ तटस्थ वक्र होगा। कीमत रेखा तटस्थ वक्र को P बिन्दु पर स्पर्श करती है। इसी कारण P संस्थिति बिन्दु होगा। दूसरे शब्दों में उपभोक्ता OM अनाज तथा OL कपड़ा रखना पसन्द करेगा।

इस प्रकार जब उपभोक्ता की आय कपड़े के रूप में OA" तथा अनाज के रूप में OB" होगी तो P" संस्थिति बिन्दु होगा। यदि हम चाहें तो इसी प्रकार के और बहुत से तटस्थता वक्र बनाकर अनेक संस्थिति बिन्दु प्राप्त कर सकते हैं। यदि P,P',P",P"' मिला दें तथा उसको आगे किसी बिन्दु Q तक बढ़ा दें तो P–P'–P"–P"'–Q रेखा होगी। इस रेखा को आय उपभोग वक्र (Income consumption curve) कहा जायेगा। यह रेखा समान आय-स्तरों के संस्थिति बिन्दुओं को दिखाती है। यह रेखा हमको दिखाती है कि यदि दो चीजों की कीमतें स्थिर रहें जैसा कि हमने मान लिया है तो आय के परिवर्तन के फलस्वरूप दोनों चीजों के उपभोग पर क्या प्रभाव पड़ेगा। परन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह रेखा केवल आय परिवर्तन के प्रभाव को ही दिखाती है। चित्र न० २१ में हम देखते है कि आय-उपभोग वक्र का ढाल दाहिने हाथ की ओर ऊर्ध्वग है। साधारणतः यह ऐसा ही रहता है। इस प्रकार का ढाल इस बात का सूचक है कि यदि उपभोक्ता की आय बढ़ जाती है तो वह दोनों चीजों को पहले से अधिक खरीदने लगता है। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि उपभोक्ता आय बढ़ने के कारण किसी चीज का उपभोग बढ़ाने के बजाय घटा देता है। जिनका उपभोग घटाया जाता है उनको निम्न श्रेणी की वस्तुएं (Inferior goods) कहते है। उदाहरण के लिये एक व्यक्ति की आय १०० रु० मासिक से बढ़कर ४०० रु० मासिक हो जाय तो वह व्यक्ति अनाज का उपभोग कम कर देता तथा उसके स्थान पर दूध, घी आदि के उपभोग को बढ़ा देगा। जब आय बढ़ने के कारण किसी निम्न श्रेणी की वस्तु का उपभोग को घटा देता। तो आय उपभोग वक्र का रूप बदल जाता है। यह निम्नांकित चित्र से स्पष्ट है :—
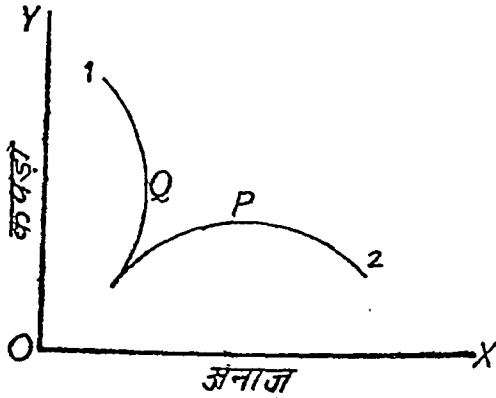
चित्र—१७

उपरोक्त चित्र में यदि आय-उपभोग वक्र नं० १ है तो अनाज निम्न श्रेणी की वस्तु है परन्तु यदि आय-उपभोग वक्र नं० २ है तो कपड़ा निम्न श्रेणी की वस्तु है। यदि अन्य उपभोग वक्र की ढाल दायें हाथ की ओर ऊर्ध्वग है तो आय का प्रभाव कपड़े तथा अनाज, दोनों के लिये धनात्मक (Positive) कहा जायगा। परन्तु यदि वक्र पीछे की ओर अथवा नीचे की ओर ढलता है तो हम यह कह सकते हैं कि एक बिन्दु पर पहुँचने के पश्चात् आय का प्रभाव एक वस्तु के लिये ऋणात्मक (Negative) हो जाता है। चित्र में कपड़े के लिये आय प्रभाव P बिन्दु के बाद ऋणात्मक हो जाता है। इसी प्रकार अनाज के लिये Q बिन्दु के पश्चात् यह प्रभाव ऋणात्मक हो जाता है।

स्थानापन्न प्रभाव
(Substitution Effect)

जब कभी किसी वस्तु की कीमत बाजार में घट बढ़ जाती है और उसके साथ-साथ उपभोक्ता की आय इतनी घट या बढ़ जाती है कि उपभोक्ता न पहले से खराब स्थिति में होता है और न अच्छी स्थिति में तो इस प्रकार के परिवर्तन को स्थानापन्न प्रभाव कहते हैं। जब किसी चीज की कीमत बाजार में गिरेगी तो उपभोक्ता पहले वाला धन खर्च करके पहले से अधिक चीज खरीद सकेगा। इस प्रकार यदि उसकी आय न घटे तो चीज की कीमत गिरने के कारण पहले से अच्छी स्थिति में आ जायेगा। परन्तु यदि कीमत गिरने के साथ-साथ उपभोक्ता की आय भी इतनी गिर जाय कि वह पहले से अच्छी स्थिति में न रहे तो इसको स्थानापन्न प्रभाव कहते हैं। परन्तु यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि उसकी प्रत्येक चीज की खरीद पहले जितनी नहीं रहेगी। कीमत में परिवर्तन होने के कारण उपभोक्ता सस्ती चीज को अधिक मात्रा में खरीदेगा तथा मंहगी चीज को कम मात्रा में। इस प्रकार चीज की कीमत गिरने तथा साथ-२ आय में कमी होने के कारण उपभोक्ता पहले वाले तटस्थता वक्र

है। यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय तथा अन्य बातें पूर्ववत् रहें तो किसी एक वस्तु की कीमत में ह्रास का अर्थ होगा, उपभोक्ता की वास्तविक आय (Real Income) में वृद्धि तथा उसकी कीमत में वृद्धि का अर्थ होगा उपभोक्ता की वास्तविक आय ह्रास। इसलिये कीमत-परिवर्तन के परिणामस्वरूप उपभोक्ता की संस्थिति में परिवर्तन होगा, वह या तो पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति में जायगा या पह से बुरी अवस्था को प्राप्त होगा। कीमत-परिवर्तन का प्रभाव वास्तव में दोहरा हो एक तो वास्तविक आय के दृष्टिकोण से उपभोक्ता या तो पहले से अच्छी स्थिति हो जायगा या बुरी, अर्थात् उसकी गति आय-उपभोग वक्र के सहारे होगी। दूसरा प्र होगा उसकी भिन्न-भिन्न वस्तुओं के क्रय की समायोजना के रूप में। जब अन्य बा के पूर्ववत् रहने पर किसी एक वस्तु की कीमत में ह्रास आता है, तो उपभोक्ता उ वस्तु को पहले की अपेक्षा कुछ अधिक मात्रा में खरीदेगा। जिन वस्तुओं की कीम पूर्ववत् हैं वे इस वस्तु की अपेक्षा मंहगी कही जा सकती हैं, चूंकि सीमान्त प्रत्य (तृप्ति) में असमानता पैदा हो गई है इसलिये संस्थिति प्राप्त करने के लिये उ भोक्ता सस्ती वस्तु को अपेक्षाकृत मंहगी वस्तु (या वस्तुओं) से स्थानापन्न करेगा अ यह तब करता जायगा जब तक कि उनके सीमान्त में समुचित तथा अभीष्ट स योजना नहीं हो जाती। इस प्रभाव को हम पूर्णतः जानते हैं, यह स्थानापन्न प्रभ है। इस प्रभाव का अर्थ होगा कि उपभोक्ता न केवल आय-उपभोग वक्र पर ग शील होगा, अपितु तटस्थता वक्र के सहारे भी उसकी गति होगी, अर्थात् यह इ सहारे ऊपर-नीचे जायगा। इन दोनों प्रभावों को संयुक्त-रूपेण तटस्थता वक्र मानि पर जो वक्र दिखाता है उसे हम कीमत उपभोग वक्र कहते हैं। इस चित्र को अग्र चित्र नं. २० पर दिखाते हैं :—

चित्र १९ में O X पर अनाज तथा O Y पर कपड़ा दिखाया गया है। माना कि उपभोक्ता को आय कपड़े के रूप में प्राप्त होती है तथा वह आय O·A के बराबर है। यदि उपभोक्ता O A आय से O B अनाज खरीदना चाहता है तो कीमत रेखा A B होगी। यह रेखा तटस्थ वक्र १ को P पर स्पर्श करती है। इस कारण P संस्थिति बिन्दु हुआ। अब यदि उपभोक्ता की आय तो A के बराबर ही रहे,

चित्र १९
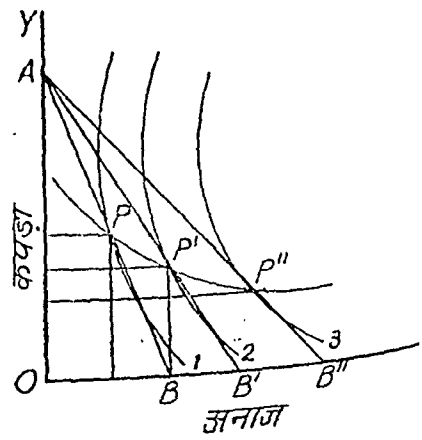
परन्तु अनाज की कीमत गिर जाय तथा उपभोक्ता OB के स्थान पर OB' अनाज खरीदने लगे तो नई कीमत रेखा AB' हो जायगी तथा उपभोक्ता तटस्थता वक्र २ पर आ जायगा जोकि पहले तटस्थता वक्र के दायीं ओर होने के कारण पहले से अच्छी स्थिति का द्योतक है। वक्र कीमत-रेखा AB को P' बिन्दु पर स्पर्श करता है। इस प्रकार P' नया संस्थिति बिन्दु हुआ। अनाज की कीमत के और अधिक गिरने के कारण P'' एक नया संस्थिति बिन्दु हो जायगा। यदि हम p–p'–p'' बिन्दुओं को मिलाकर प्राप्त वक्र को C बिन्दु तक बढ़ा दें तो हमको कीमत-उपभोग वक्र (Price consumption curve) प्राप्त हो जायगा। यह वक्र कीमत के प्रभाव को दिखाता है। यह उस मार्ग को दिखाता है जिस पर कि उपभोक्ता अनाज की कीमत गिरने से चलेगा बशर्ते कि कपड़े की कीमत तथा कपड़े के रूप में उपभोक्ता की आय पूर्ववत् रहे।

यदि उपभोक्ता का उदासीनता मानचित्र तथा इस पर दी गई दो चीजों की कीमतें दी गई हों तो हम उपभोक्ता का आय उपभोग वक्र तथा कीमत-उपभोग वक्र बना सकते हैं जैसा कि निम्न चित्र में दिखाया गया है:—
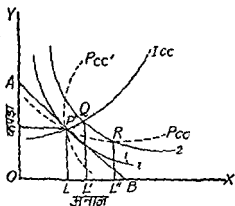
चित्र—२०

उपरोक्त चित्र में OX पर अनाज व OY पर कपड़ा दिखाया गया है तथा व्यक्ति की आय कपड़े के रूप में OA है। AB कीमत रेखा है। यह कीमत रेखा तटस्थता वक्र १ को P बिन्दु पर स्पर्श करती है। P संस्थिति बिन्दु है। तटस्थता वक्र २ (जोकि पहले वक्र के दायीं ओर है), पर एक दूसरा बिन्दु है जोकि पहले से अच्छी स्थिति को दिखाता है। P–Q बिन्दुओं से होकर खींची गई रेखा Icc आय उपभोग वक्र है। P बिन्दु से होकर Pcc कीमत-उपभोग वक्र खींचा गया है। यह वक्र तटस्थता वक्र २ को R बिन्दु पर काटता है। जोकि P बिन्दु से नीचे है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता अब पहले की अपेक्षा कपड़ा कम मात्रा में खरीदेगा तथा अनाज अधिक मात्रा में। P बिन्दु से होकर Pcc दूसरा बिन्दु खींचा गया है जोकि पहले वक्र से

[illegible]

[illegible] कीमत-उपभोग वक्र आय-उपभोग वक्र [illegible] वक्र २ के बीच में है। [illegible] कोई भी दो वस्तु [illegible] कीमत-उपभोग वक्र [illegible] (क्रमशः) [illegible] बिन्दुओं को [illegible] बिन्दुओं को प्रकट करता है।

चित्र [illegible] को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमको पता चलेगा कि जब अनाज की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता अनाज की खरीद अधिक तथा कपड़े की खरीद अपेक्षाकृत कम कर देता है। इस प्रकार वह P बिन्दु से R बिन्दु पर आ जाता है अर्थात् वह OL मात्रा के बदले OL'' खरीदने लगता है। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि उपभोक्ता जब OL मात्रा के बदले OL'' मात्रा खरीदने लगता है तो वह एकदम इस स्थिति में नहीं आ जाता। पहले वह P बिन्दु से Q बिन्दु पर आ जाता है अर्थात् अनाज की कीमत गिरने के कारण उसकी वास्तविक आय बढ़ जाती है, जिसके कारण वह पहले से दाये हाथ की ओर के तटस्थ वक्र पर स्थित बिन्दु Q पर आ जाता है। इसके फलस्वरूप वह OL अनाज की मात्रा खरीदने की अपेक्षा OL' मात्रा खरीदने की स्थिति में आ जाता है। यह कीमत गिरने का आय-प्रभाव हुआ। इसके पश्चात् उपभोक्ता Q बिन्दु से R बिन्दु पर जायेगा जोकि एक ही तटस्थ वक्र २ पर स्थित है। यह हम पहले बता चुके हैं कि एक ही तटस्थता वक्र पर जब उपभोक्ता एक ऊंचे बिन्दु से नीचे की ओर चलता है तो इस प्रकार के प्रभाव को स्थानापन्न प्रभाव कहते हैं। इस स्थानापन्न प्रभाव के कारण उपभोक्ता अनाज की L' L'' मात्रा अधिक खरीदता है। इस कारण अनाज की अधिक मात्रा जो कि उपभोक्ता अनाज की कीमत गिरने के कारण खरीदता है वह आय-प्रभाव तथा स्थानापन्न प्रभावों के कारण खरीदी जाती है।

उदासीनता वक्र और पूरकता
(Indifference curve and complementary)

साधारणतः उदासीनता वक्र के निरुपण के अवसर पर हम यह कल्पना कर लेते हैं कि दोनों वस्तुयें एक दूसरे की पूरक नहीं होती हैं। यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु की पूरक होती हैं तो हम सारे धन को किसी एक वस्तु पर व्यय नहीं कर सकते हैं। ऐसी वस्तुयें एक दूसरे के लिये प्रतिस्थापित नहीं की जा सकती हैं और उन्हें एक निश्चित अनुपात में उपयोग करना आवश्यक होता है। यह असम्भव होता है कि एक

विपरीत स्थिति को दिखाता है, अर्थात् यह वक्र दिखाता है कि कपड़े की कीमत कम हो गई है तथा उपभोक्ता कपड़ा अधिक तथा अनाज कम खरीदेगा। स्पष्ट है कि इस दूसरी अवस्था में उपभोक्ता की आय को अनाज के रूप में लिया गया है तथा उसे स्थिर मान लिया गया है।

चित्र को देखने से पता चलता है कि कीमत-उपभोग वक्र आय-उपभोग वक्र तथा प्रारम्भिक तटस्थता वक्र १ के बीच में है। चाहे उपभोक्ता कोई भी हो परन्तु इस स्थिति में कोई परिवर्तन न होगा। इसका कारण यह है कि कीमत-उपभोग वक्र कीमत रेखाओं में तथा संगत तटस्थ वक्रों के (क्रमिक) पारस्परिक स्पर्शक विन्दुओं को दिखाने वाले होते हैं। जबकि आय-उपभोग वक्र उन्हीं तटस्थ वक्रों तथा समान ढाल वाली क्रमिक कीमत रेखाओं के पारस्परिक स्पर्शक विन्दुओं को प्रकट करता है।

चित्र क्र० २५ को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमको पता चलेगा कि जब अनाज की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता अनाज की खरीद अधिक तथा कपड़े की खरीद अपेक्षाकृत कम कर देता है। इस प्रकार वह P विन्दु से R विंदु पर आ जाता है अर्थात् वह OL मात्रा के बदले OL'' खरीदने लगता है। परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि उपभोक्ता जब OL मात्रा के बदले OL'' मात्रा खरीदने लगता है तो वह एकदम इस स्थिति में नहीं आ जाता। पहले वह P विन्दु से Q विन्दु पर आ जाता है अर्थात् अनाज की कीमत गिरने के कारण उसकी वास्तविक आय बढ़ जाती है, जिसके कारण वह पहले से दांये हाथ की ओर के तटस्थ वक्र या स्थित विन्दु Q पर आ जाता है। इसके फलस्वरूप वह OL अनाज की मात्रा खरीदने की अपेक्षा OL' मात्रा खरीदने की स्थिति में आ जाता है। यह कीमत गिरने का आय-प्रभाव हुआ। इसके पश्चात् उपभोक्ता Q विन्दु से R विन्दु पर जायेगा जोकि एक ही तटस्थ वक्र २ पर स्थित है। यह हम पहले बता चुके हैं कि एक ही तटस्थता वक्र पर जब उपभोक्ता एक ऊंचे विन्दु से नीचे की ओर चलता है तो इस प्रकार के प्रभाव को स्थानापन्न प्रभाव कहते हैं। इस स्थानापन्न प्रभाव के कारण उपभोक्ता अनाज की L' L'' मात्रा अधिक खरीदता है। इस कारण अनाज की अधिक मात्रा जो कि उपभोक्ता अनाज की कीमत गिरने के कारण खरीदता है वह आय-प्रभाव तथा स्थानापन्न प्रभावों के कारण खरीदी जाती है।

उदासीनता वक्र और पूरकता
(Indifference curve and complementary)

साधारणतः उदासीनता वक्र के निरुपण के अवसर पर हम यह कल्पना कर लेते हैं कि दोनों वस्तुयें एक दूसरे की पूरक नहीं होती हैं। यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु की पूरक होती हैं तो हम सारे धन को किसी एक वस्तु पर व्यय नहीं कर सकते हैं। ऐसी वस्तुयें एक दूसरे के लिये प्रतिस्थापित नहीं की जा स[illegible] निश्चित अनुपात में उपयोग करना आवश्यक होता है।

वस्तु की इकाइयों को कम करके हम दूसरी वस्तु की इकाइयाँ बढ़ा दें और वही सन्तुष्टि प्राप्त करें। यहाँ पर सीमांत प्रतिस्थापना की दर अनन्त होती है और ऐसी वस्तुओं की तटस्थता-वक्र रेखा मूल के उन्नतोदर एक समकोण के रूप में, जैसा कि
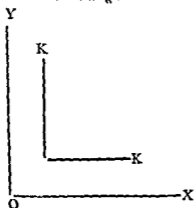
चित्र २१

चित्र में बताया गया है, होती है। ऐसी दशा में तटस्थता-वक्र के द्वारा उपभोक्ता के व्यवहार का विश्लेषण अत्यन्त कठिन और जटिल हो जाता है। किन्तु प्रोफेसर हिक्स ने इसे समझाने का प्रयत्न किया है। वे परेटों के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है कि पूरकता के कारण उदासीनता-वक्र का झुकाव प्रभावित होता है, क्योंकि ये वक्र कितने झुके होना चाहिये इसका अनुमान लगाना कठिन है एवं उपयोगिता मापी जाने वाली मात्रा नही है।

प्रोफेसर हिक्स के अनुसार उदासीनता-वक्र विश्लेषण वस्तुओं की पूरकता से प्रभावित नही होता है। उनके अनुसार, Y, X की पूरक है जबकि Y की मुद्रा के लिये सीमान्त प्रतिस्थापना की दर उस समय बढ़ जाये जबकि X को मुद्रा के लिए प्रतिस्थापन्न किया जा रहा हो। प्रो० हिक्स इसकी विपरीत अवस्था को प्रतियोगी अवस्था कहते हैं। इन दोनों को समझाते हुए वे कहते हैं:—

(१) X,Y और मुद्रा के बीच X,Y की पूरक है यदि X मुद्रा की प्रतियोगी हो और सम्बन्ध उत्काम्यता के (Perishability) के द्वारा Y भी मुद्रा के लिए प्रतियोगी हो।

(२) X, Y, Z और मुद्रा में सब एक दूसरे के लिए पूरक हो सकते है यदि प्रत्येक मुद्रा के लिए प्रतियोगी हो। प्रो० हिक्स के "पूरकता" और तटस्थता-वक्र-विश्लेषण के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं:—

(अ) यदि X का मूल्य गिर जाय तो वह X की माँग और अन्य वस्तुओं की माँग पर पड़ने वाले प्रभावों को आय-प्रभाव और प्रतिस्थापनीयता द्वारा दिखलायेगा।

(ब) जहाँ तक Y . . है प्रतिस्थापनीयता का प्रभाव बढ़ना चाहिये

१०

मांग की लोच

(Elasticity of Demand)

Q. "The elasticity of demand in a market is great or small according as the amount demanded increases much or little for a given fall in price, and diminishes much or little for a given rise in price." (Marshall)

Explain the above statement with the help of diagrams.

(Agra 1959 M. A.)

प्रश्न—"किसी बाजार में मांग की मात्रा के, दी हुई मूल्य में कमी के कारण अधिक या कम बढ़ने और दी हुई मूल्य में वृद्धि के कारण अधिक या कम घटने के अनुसार ही मांग की लोच भी अधिक और कम होती है।" (मार्शल) चित्रों की सहायता से समझाइये।

(आगरा एम० ए० १९५९)

"Elasticity of Demand is, therefore, a technical term used by economists to describe the degree of responsiveness of the demand for a fall in price." (Stonier and Hague)

Examine critically the statement. (Agra 1964 M. A.)

"मांग की लोच अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त एक प्राविधिक शब्द है जो किसी वस्तु की मांग की मूल्य-परिवर्तन के प्रति सापेक्षता को सूचित करता है।" (स्टोनियर और हेग) समीक्षा कीजिये।

(आगरा १९६४)

उत्तर—अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आवश्यकता से आशय उस इच्छा से होता है जो संतुष्ट की जा सकती हो, जिसे संतुष्ट करने के साधन उपलब्ध हों और जिसके लिए हम उन साधनों का त्याग करने को तत्पर हों। यही आवश्यकता जब मूल्य के सन्दर्भ में प्रकट की जाती है तो माग कहलाती है। यदि हमें एक साईकिल खरीदने की इच्छा है, उसको खरीदने के लिये हमारे पास द्रव्य है और उस द्रव्य का त्याग करने को यदि हम तत्पर हैं, तो हमें एक साईकिल की आवश्यकता होगी। किन्तु यदि हम यह कहें कि एक सौ बीस रुपये पर हम साईकिल खरीदना चाहते हैं तो हमें उसकी माग होगी। इसलिए किसी मूल्य पर किसी वस्तु की जितनी मात्रा खरीदने को तैयार हों, वह मात्रा उस वस्तु की मांग कहलाती है।

स्पष्ट है कि मांग और मूल्य में घनिष्ट सम्बन्ध है। मांग का नियम इसी सम्बन्ध को प्रगट करता है। वह यह बतलाता है कि मूल्य के बढ़ने पर मांग घटती

और आय-प्रभाव भी बढ़ेगा यदि यह घटिया वस्तु न हो।

(स) जहाँ तक अन्य सभी वस्तुओं की मांग का सम्बन्ध है प्रतिस्थापनीयता प्रभाव उसे कम कर देगा, और आय-प्रभाव उसे बढ़ा देगा।

(द) जहाँ तक Y की मांग का सम्बन्ध है प्रतिस्थापनीयता का प्रभाव उसे कम कर देगा, जब तक Y X की पूरक न हो और आय प्रभाव उसे बढ़ा देगा जब तक Y एक घटिया वस्तु न हो।

इस प्रकार, यदि Y, X के लिये बहुत अधिक पूरक है तो प्रतिस्थापनीयता-प्रभाव आय-प्रभाव को दबा देगा। यदि आय-प्रभाव महत्वपूर्ण हो और प्रतिस्थापनीयता प्रभाव की ही दशा में हो तो पूरक तत्व अत्यन्त साधारण होगा। अर्थात्, आय प्रभाव और प्रतिस्थापनीयता प्रभाव विररीत दशाओं में हो तो प्रतियोगी तत्व कम होता है, किन्तु प्रतिस्थापनीयता-प्रभाव के प्रभुत्व की दशा में यह तत्व महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार वस्तुओं के पूरक होने की दशा में यद्यपि साधारणतः उदासीन-वक्र अक्षों के समान्तर एक समकोण का रूप धारण कर लेते हैं, यद्यपि उनके पूरक-तत्व को उनमें से प्रत्येक की मुद्रा के लिए प्रतिस्थापनीयता दर का अध्ययन कर प्रतिस्थापनीयता प्रभाव और आय-प्रभाव की सहायता से समझा जा सकता है।

१०

मांग की लोच

(Elasticity of Demand)

Q. "The elasticity of demand in a market is great or small according as the amount demanded increases much or little for a given fall in price, and diminishes much or little for a given rise in price." (Marshall)

Explain the above statement with the help of diagrams.

(Agra 1959 M. A.)

प्रश्न—"किसी बाजार में मांग की मात्रा के, दी हुई मूल्य में कमी के कारण अधिक या कम बढ़ने और दी हुई मूल्य में वृद्धि के कारण अधिक या कम घटने के अनुसार ही मांग की लोच भी अधिक और कम होती है।" (मार्शल) चित्रों की सहायता से समझाइये।

(आगरा एम० ए० १९५९)

"Elasticity of Demand is, therefore, a technical term used by economits to describe the degree of responsiveness of the demand for a fall in price." (Stonier and Hague)

Examine critically the statement. (Agra 1964 M. A.)

"मांग की लोच अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त एक प्राविधिक शब्द है जो किसी वस्तु की मांग की मूल्य-परिवर्तन के प्रति सापेक्षता को सूचित करता है।" (स्टोनियर और हेग) समीक्षा कीजिये।

(आगरा १९६४)

उत्तर—अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आवश्यकता से आशय उस इच्छा से होता है जो संतुष्ट की जा सकती हो, जिसे संतुष्ट करने के साधन उपलब्ध हो और जिसके लिए हम उन साधनों का त्याग करने को तत्पर हों। यही आवश्यकता जब मूल्य के सन्दर्भ में प्रकट की जाती है तो माग कहलाती है। यदि हमें एक साईकिल खरीदने की इच्छा है, उसको खरीदने के लिये हमारे पास द्रव्य है और उस द्रव्य का त्याग करने को यदि हम तत्पर हैं, तो हमे एक साईकिल की आवश्यकता होगी। किन्तु यदि हम यह कहें कि एक सौ बीस रुपये पर हम साईकिल खरीदना चाहते हैं तो हमें उसकी माग होगी। इसलिए किसी मूल्य पर किसी वस्तु की जितनी मात्रा खरीदने को तैयार हो, वह मात्रा उस वस्तु की मांग कहलाती है।

स्पष्ट है कि मांग और मूल्य मे घनिष्ट सम्बन्ध है। माग का नियम इसी सम्बन्ध को प्रगट करता है। यह यह बतलाता है कि मूल्य के बढ़ने पर माग घटती

है और उसके घटने से मांग बढ़ती है। मूल्य में परिवर्तन होने के कारण मांग में परिवर्तन होता है, मांग की इस परिवर्तनशीलता को मांग की लोच कहा जाता है। प्रो० एस० के० रुद्र के शब्दों में, "मूल्य में अल्पतम परिवर्तन होने पर ही मांग में परिवर्तन हो जाने की क्षमता को लोच कहते हैं।"[1] डा० केर्नक्रास के अनुसार किसी वस्तु की मांग की लोच वह गति है जिस पर मांगी गई वस्तु की मात्रा मूल्य के आधार पर बदलती है।'[2] इस प्रकार मांग की लोच का विचार, बेन्हम के शब्दों में, मूल्य में अल्प परिवर्तन की मांग की मात्रा पर होने वाले प्रभाव से सम्बन्धित है।[3]

वास्तव में मांग की लोच मांग की परिवर्तनशीलता का माप है। प्रो० मेयर्स कहते हैं कि मांग की लोच किसी दिए मांग वक्र पर मूल्य में एक सापेक्षिक परिवर्तन के कारण क्रय की मात्रा में हुए सापेक्षिक परिवर्तन की माप है।[4] और, प्रो० बोल्डिङ्ग के अनुसार भी वह मूल्य में परिवर्तन के कारण मांग की मात्रा की प्रत्याचलनता को मापती है।[5] ईस्थम के शब्दों में भी मांग की लोच मूल्य में परिवर्तन के कारण मांग की मात्रा में होने वाले परिवर्तन के अनुपात के माप को कहते हैं। श्रीमती जोन राबिन्स के शब्दों में, मांग की लोच किसी दिये हुए मूल्य अथवा उत्पादन की मात्रा पर मूल्य में जरा से परिवर्तन प्रतिपादन मे मूल्य के अनुपातिक परिवर्तन से विभाजित किया हुआ वस्तु की खरीदी हुई मात्रा अनुपातिक परिवर्तन है। इन्हीं विचारों को अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक में स्पष्ट करते हुये प्रसिद्ध अर्थशास्त्री स्टोनिअर और हेग लिखते हैं कि माँग की लोच एक प्राविधिक शब्द है जो किसी वस्तु की माँग की मूल्य परिवर्तन के प्रति सापेक्षता को सूचित करता है।

इस प्रकार वस्तु के मूल्य में जिस अनुपात से परिवर्तन होता है, उसी अनुपात से वस्तु की मांग में भी परिवर्तन होता होगा, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है, और उक्त धारणा गलत है। प्रायः देखा जाता है, कि किसी किसी वस्तु के मूल्य में तनिक भी परिवर्तन होने पर उसकी मांग में बहुत परिवर्तन हो जाता है और किसी-किसी वस्तु के मूल्य में बहुत परिवर्तन होने पर भी उसकी मांग में बहुत मामूली या नहीं के बराबर ही परिवर्तन होने पर भी उसकी मांग में बहुत मामूली या नहीं के बराबर

---

1. "Elasticity of Demand is the capacity of demand to change with least change in price" —S. K. Rudra.

2. "The elasticity of demand for a commodity is the rate at which the quantity bought changes as the price changes." —Cairncross.

3. "The concept relates to the effect of a small change in price upon the amount demanded." —Benham.

4. "The elasticity of demand is a measure of the relative change in amount purchased in response to a relative change in price on a demand curve." —Meyers : Elements of Modern Economic.

5. "It measures the responsiveness of the quantity demanded to change in the price." —K. E. Boulding : Economic Analyssi.

ही परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए नमक की कीमत में जरा सा परिवर्तन होने पर भी हमारी माग मे परिवर्तन नही होता, किन्तु घड़ी की कीमत कम होने पर मांग मे अधिक परिवर्तन हो जाता है। अतः नमक की माग बेलोचदार व घड़ी की मांग लोचदार होगी। इससे स्पष्ट है, कि वस्तुओं की मांग एक समान लोचदार नहीं होती है। जितनी कीमत मे परिवर्तन होने पर मांग मे परिवर्तन होता है, उसी हिसाब से मांग की लोच नापी जाती है। इसीलिये प्रो० मार्शल ने कहा है "माग की लोच किसी बाजार में इसके अनुसार कम या अधिक होगी कि मूल्य में एक निश्चित कमी से मांग अधिक या कम बढ़ती है और मूल्य में एक निश्चित कमी से माग अधिक या कम बढती है और मूल्य में एक निश्चित वृद्धि से मांग अधिक या कम घटती है।"

कुछ वस्तुओं की माग अधिक लोचदार एवं कुछ वस्तुओं की माग कम लोचदार क्यों होती है, इसका कारण यह है, कि मांग की लोच पर मूल्य के अलावा अन्य कई बातों का प्रभाव पड़ता है, जो कि निम्न हैः—(i) वस्तु का स्वभाव (अर्थात् वह अनिवार्य है या आरामदायक) (ii) वस्तु के स्थानापन्न पाये जाना (iii) वस्तु के विभिन्न प्रयोगों का होना (iv) वस्तु के क्रेताओं का वर्ग (v) उपभोग के स्थान की सम्भावना (vi) वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (vii) संयुक्त मांग की वस्तु होना (viii) भावी मूल्य परिवर्तनो की आशंका आदि।

मांग की लोच के भेद

इस प्रकार किसी वस्तु को मांग मे परिवर्तन सदा इसके मूल्य के परिवर्तन की गति से तेज या धीमी हो सकती हैं। अर्थात् वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन का प्रभाव इसकी मांग पर अधिक या कम हो सकता है। वस्तु की मांग (i) लोचदार (ii) बहुत लोचदार (iii) पूर्णतः लोचदार (vi) साधारण लोचदार या बेलोचदार (v) पूर्णतः बेलोचदार हो सकती हैं। इस तरह मांग की लोच की पाच श्रेणियां हैं।

(i) लोचदार मांग (Elastic Demand) :—

यदि वस्तु ऐसी है कि इसके मूल्य में परिवर्तन से इसकी मांग मे परिवर्तन ठीक उसी अनुपात मे होता है, जिस अनुपात में इसके मूल्य में परिवर्तन हुआ है, तब इस प्रकार की वस्तु की मांग लोचदार कही जाती हैं। अवसर आरम्भ की वस्तुओं में इस प्रकार की विशेषता पाई जाती है। इस प्रकार की वस्तुओं का मूल्य दुगुना हो जाता है, तब इनकी मांग भी घट कर आधी रह जाती है, और यदि इनका मूल्य आधा हो जाता है, तब इनकी माग भी बढ़कर दुगुनी हो जाती है।

बहुत लोचदार मांग (Highly Elastic Demand) :—

जब वस्तु की मांग मे परिवर्तन, इसके मूल्य मे होने वाले परिवर्तन से अधिक अनुपात में होता है, तब वस्तु की मांग बहुत लोचदार कही जाती है। विलासिता

की वस्तुओं की मांग बहुत लोचदार कही जाती है। विलासिता की वस्तुओं मांग बहुत लोचदार हुआ करती है। इसको कार के उदाहरण द्वारा स्पष्ट कि जा सकता है। जैसे कार के मूल्य २५% कमी हो जाने पर मांग में ५०% वृद्धि जाय या इसके मूल्य में २५% वृद्धि होने पर मांग ५०% कम होने से इस मांग वहुत लोचदार कहते हैं।

(iii) पूर्णतः लोचदार मांग (Prefcctly Elastic Demand) : —

मूल्य के जरा से परिवर्तन से मांग में बहुत अधिक परिवर्तन हो जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तु का मूल्य वही बना रहने पर भी मांग बहुत अधिक घट या बढ़ सकती है, तो वह पूर्णतः लोचदार मांग कहलाती है। इस प्रकार की मांग काल्पनिक मानी जाती है। वास्तविक जीवन या हकीकत में ऐसा होते नहीं देखा गया है।

(iv) साधारणतः लोचदार या साधारण बेलोचदार मांग (Moderately elastic or moderately inelastic demand) :—

मांग में मूल्य से कम परिवर्तन होता है। इस प्रकार की मांग प्रायः अनिवार्यताओं में होती है। जैसे नमक के मूल्य में परिवर्तन होने पर भी मांग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं पाया जाता है। इसलिये नमक की मांग साधारण लोचदार मांग कही जाती है।

पूर्ण बेलोचदार मांग (Perfectly Inelastic Demand) :—

वस्तु के मूल्य में परिवर्तन हो जाने पर भी मांग में बिल्कुल परिवर्तन नहीं होता तो वह पूर्ण बेलोचदार माँग होती है। अतः मूल्य कितना भी घटे बढ़े माँग नहीं डिगती। पूर्णः लोचदार मांग के समान यह भी एक काल्पनिक बात है।

वस्तु की मांग देखने के लिये मूल्य के अनुसार मांग परिवर्तन को देखकर ही बताया जा सकता है कि अमुक वस्तु की माँग कैसी है।

मांग की लचक का चित्र द्वारा निरूपण

(i)

(ii)

(iii)

(iv) चित्र—१ (v)
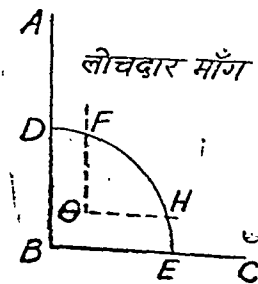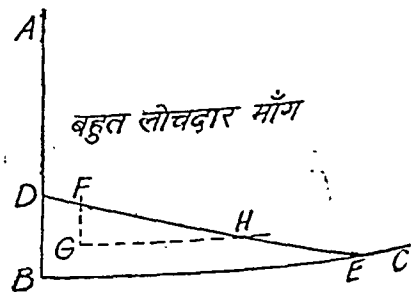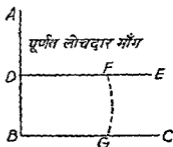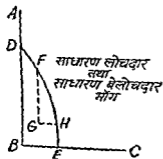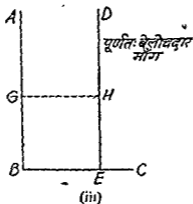
ऊपर दिए गए पाँचों चित्रों में BC प्रक्ष पर वस्तु की मात्रा तथा AB प्रक्ष पर इसका मूल्य दिखाया गया है। DE रेखा माँग वक्र को प्रगट करती है। FG बिन्दु रेखा मूल्य में परिवर्तन और GH बिन्दुदार रेखा में परिवर्तन होने के कारण वस्तु की माँग में जो परिवर्तन होता है उसे अंकित करता है। पहले चित्र में वस्तु की लोचदार माँग दिखाई गई है। इस प्रकार की माँग की वक्र रेखा अर्ध-लेटी (Semi horizontal) अर्ध खड़ी (Semi Vertical) होती है। दूसरे चित्र में वस्तु की बहुत लोचदार माँग दिखाई गई है। इस प्रकार की माँग की वक्र अधिक लेटी हुई (Horizontal) या चपटी (Flat) होती है और आधार रेखा के समानान्तर सी होने की प्रवृत्ति रहती है। तीसरे चित्र में वस्तु की पूर्णतया लोचदार माँग को प्रदर्शित किया गया है, जबकि माँग वक्र आधार रेखा के पूर्णतः समानान्तर होती है। चौथे चित्र में वस्तु की साधारण लोचदार या बेलोच माँग बताई गई है, जबकि माँग-वक्र की प्रवृत्ति लम्ब के समानान्तर-सी होने की होती है। पाँचवे चित्र में पूर्णतः बेलोच माँग को प्रगट किया गया है और माँग-वक्र लम्ब रेखा के समानान्तर हो गई है। इन पाँचों चित्रों के आधार पर एक सम्मिलित चित्र भी बनाया जा सकता है।
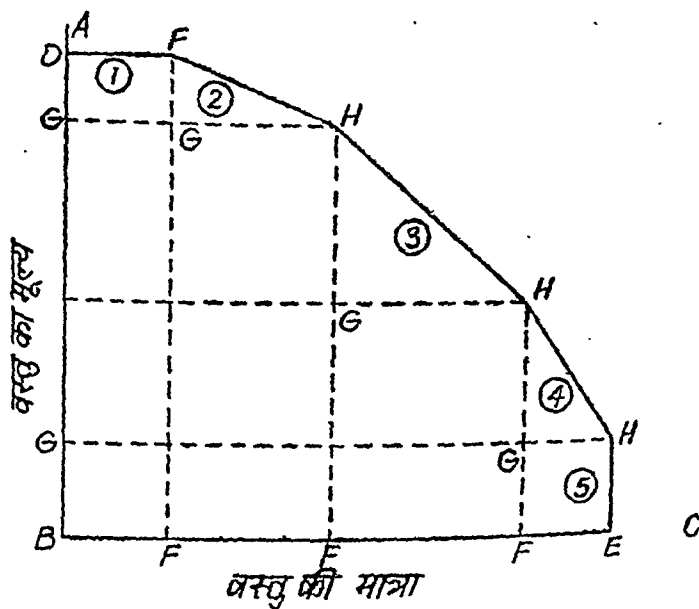
चित्र—२

मांग की लोच की विभिन्न दशायें

उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि पूर्णतया लोचदार मांग के अन्तर्गत मूल्य में परिवर्तन नहीं होने पर भी मांग में परिवर्तन हो जाता है और पूर्णतया बेलोच मांग के मूल्य में परिवर्तन होने पर भी मांग में परिवर्तन नहीं होता है। यदि मूल्य में अनुपात में कम परिवर्तन हो और मांग में अधिक परिवर्तन हो तो मांग को बहुत लोचदार कहा जाता है, जबकि मांग में कम और मूल्य में अधिक परिवर्तन हो तो मांग साधारणतया लोचदार या बेलोचदार होती है। किन्तु जितना परिवर्तन मूल्य में हो उसी अनुपात में मांग में परिवर्तन हो तो मांग को लोचदार कहते हैं। इस प्रकार, मार्शल का कहना ठीक ही है कि—

(अ) मांग की लोच अधिक होती है, जबकि वस्तु के मूल्य में कमी होने पर उसकी मांग में अधिक वृद्धि हो और वृद्धि होने पर उसकी मांग में अधिक कमी हो, तथा

(ब) मांग की लोच कम होती है, जबकि वस्तु के मूल्य में कमी होने पर मां

मांग में कम वृद्धि हो और मूल्य मे वृद्धि होने पर भी उसकी मांग में कम कमी हो।

किन्तु मार्शल का यह कथन केवल इस बात का वर्णन करता है कि मांग की लोच का कारण मूल्य मे परिवर्तन होने के कारण वस्तु की माग की मात्रा मे होने वाले परिवर्तन हैं और मूल्य परिवर्तन की तुलना मे मांग मे होने वाले परिवर्तनों का अनुपात मांग की लोच की कमी या अधिकता को सूचित करता है। इस प्रकार उन्होंने 'कम' और 'अधिक' जैसे तुलनात्मक शब्दों का प्रयोग किया है और माग की लोच के विचार को अनिश्चित बना दिया है। एक ओर उन्होंने यह बताने का प्रयत्न किया है कि मांग की लोच कम या अधिक क्यों होती है, किन्तु दूसरी ओर वे मांग की कम अथवा अधिक लोच का अर्थ समझा कर रह गये है। फिर भी इनके कथन की सत्यता कोई चुनौती नहीं दे सकता है।

Q. Explain Elasticity of Demand and show its importance in theoretical and practical problems. Illustrate Marballs method of measuring elasticity. (Indore 1965 M. A.)

प्रश्न—'मांग की लोच समझाइये और उसका सैद्धान्तिक व व्यवहारिक समस्याओं में महत्व बताइए। मार्शल की लोच मापने की रीति समझाइये।

(इन्दौर १९६५ एम० ए०)

Q. Explain full the 'Elasticity of Demand.' How wuld you measure it? Discuss its relation with—

(a) The determination of the value of a commodity.

(b) The incidence of taxation.

(Agra 1948 M. A.)

प्रश्न—'मांग की लोच' को समझाइये। आप इसे किस प्रकार मापेंगे? [अ] किसी वस्तु के मूल्य-निर्धारण और [ब] कर-भार के संबन्ध में मांग की लोच का महत्व बतलाइये? (आगरा, एम० ए०, १९४८)

मांग की लोच

(Elasticity of Demand)

उत्तर—मांग और मूल्य मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। माग का नियम इसी सम्बन्ध को प्रकट करता है। वह यह बतलाता है कि मूल्य के बढ़ने पर मांग घटती है और उसके घटने पर मांग बढ़ती है। मूल्य मे परिवर्तन होने के कारण मांग मे जो परि-

उपभोग न करने पर भी हमारी कार्य-शक्ति में कमी नहीं पड़ती, इसीलिये उनकी मांग आवश्यक वस्तुओं की तुलना में अधिक लोचदार होती है, किन्तु बहुत अधिक लोचदार नहीं। इनकी कीमत के घटने-बढ़ने से मांग की मात्रा में अन्तर तो पड़ जाता है, किन्तु लोच प्रायः औसत दर्जे की रहती है। (iii) विलास की वस्तुयें न तो हमारी कार्य-शक्ति को ही बढ़ाती हैं और न उसके उपभोग न करने से हमारी कार्य-शक्ति घटती है। वे प्राय अतिरिक्त आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। यही कारण है कि इनकी कीमत में थोड़ा सा परिवर्तन भी इनकी माग को बहुत बदल देता है और इसी कारण ऐसी वस्तुओं की माग अधिक लोचदार होती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि आवश्यक, आराम-दायक तथा विलास सापेक्षिक अथवा तुलनात्मक शब्द हैं। कोई भी वस्तु सभी के लिये आवश्यक नहीं होती। किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के लिये जो विलास की वस्तु है, वह दूसरों के लिये आवश्यक हो सकती है, इसलिये प्रत्येक वस्तु की मांग की लोच समाज के विभिन्न वर्गों के लिये विभिन्न प्रकार की होती है।

मांग की लोच को प्रभावित करने वाली बातें

१. वस्तु विशेष के गुण।
२. स्थानापन्न की सम्भावना।
३. वैकल्पिक प्रयोग।
४. कीमत की ऊंचाई।
५. ग्राहकों का वर्ग।
६. उपभोग के स्थगन की संभावना।
७. व्यय की मात्रा।
८. प्रसंयुक्त मांग की दशा।
९. समय का प्रभाव।
१०. सरकारी नियन्त्रण।
११. कीमतों का भावी अनुमान।

(२) स्थानापन्न की सम्भावना— यदि कोई वस्तु ऐसी है, कि उसके बदले में अन्य वस्तुओं का उपभोग हो सकता है, अथवा उसके स्थानापन्न मौजूद है, तो उस वस्तु की मांग अधिक लोचदार होगी। कीमत के बढ़ जाने से अन्य स्थानापन्न वस्तुओं का उपभोग बढ़ जायेगा और उस वस्तु की मांग कम हो जायेगी। इसके विपरीत ऐसी वस्तु की कीमत घट जाने पर अन्य वस्तुओं की अपेक्षा इसके सस्ता हो जाने के कारण उन वस्तुओं के स्थान पर भी इसका उपयोग होने लगेगा और इसी कारण इसकी मांग बढ़ जायेगी। चीनी, गुड़, बहुधा एक दूसरे के स्थान पर काम में लाये जा सकते हैं। चीनी के दामों के बढ़ जाने से गुड़ का उपयोग बढ़ जायेगा, और चीनी की मांग में कमी हो जायेगी। मोटर सवारी के किरायों में कमी हो जाने पर रेल से सफर करने वालों की संख्या कम हो जाती है, क्योंकि लोग मोटर में सफर करना अधिक पसन्द करने लगते हैं।

(३) विभिन्न उपयोगों का होना—जिस वस्तु के बहुत से उपयोग हो सकते

हैं, उसकी मांग अधिक लोचदार होती है। यदि कोई वस्तु कई कामों में आ सकती है तो बहुधा उसके सारे उपयोग समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं होते। कुछ उपयोग अधिक महत्व रखते हैं, और कुछ कम। जब ऐसी किसी वस्तु के दाम बढ़ जाते हैं, तो उसके कम महत्वपूर्ण उपयोग छूट जाते हैं, और इस प्रकार उसकी मांग में कमी हो जाती है। इसके विपरीत दाम घट जाने पर उपयोगों की संख्या में काफी वृद्धि हो जाती है, और मांग तेजी के साथ बढ़ जाती है। उदाहरणतः बिजली बहुत से कामों में लाई जा सकती है। इससे हम अपने कमरों में रोशनी करते हैं, अंगीठी जलाते हैं, पंखे चलाते हैं, कमरों को गर्म रखते हैं तथा रेफ्रीजरेटर में खाने की चीजों को ठण्डा करते हैं। इसी प्रकार के और भी बहुत सारे उपयोग बिजली के हो सकते हैं। यदि बिजली की प्रति इकाई की कीमत ऊंची होती है, तो बिजली का उपयोग मुख्यतः रोशनी के लिए ही होता है, किन्तु कीमत के घट जाने पर दूसरे उपयोग बढ़ जाते हैं, और मांग भी बहुत बढ़ जाती है।

(४) **कीमत की ऊंचाई**—जब कीमत बहुत ऊंची होती है, तो किसी वस्तु की मांग प्रायः अधिक लोचदार होती है। औसत दर्जे की कीमत पर मांग साधारण लोचदार होती है, और जब किसी वस्तु की कीमत बहुत नीचे होती है तो उसकी मांग बेलोच होती है। अधिक ऊंची कीमत पर किसी वस्तु को प्रायः धनी वर्ग के के लोग भी खरीदते हैं। कीमत में थोड़ी कमी हो जाने पर लोग पहले से बहुत अधिक मात्रा में उस वस्तु को खरीदेंगे। औसत दर्जे के दामों पर धनी तथा मध्यम वर्ग के लोग किसी वस्तु को खरीदते हैं। दामों के थोड़ा सा कम हो जाने पर ये लोग कुछ अधिक मात्रा में खरीदने लगते हैं तथा कीमत के थोड़ा बढ़ने पर मांग की मात्रा थोड़ी कम हो जाती है। जब किसी वस्तु के दाम पहिले से बहुत कम होते हैं तो गरीब अमीर सभी लोग उसे सुगमता से खरीद लेते हैं और दामों के थोड़ा बहुत घटने-बढ़ने का मांग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

(५) **ग्राहकों के वर्ग पर**—किसी वस्तु की मांग की लोच इस बात पर निर्भर होती है कि उसके अधिकांश ग्राहक किस वर्ग अथवा श्रेणी के हैं। जो वस्तुयें साधारणतः केवल धनी वर्ग के लोगों के उपयोग में आती हैं उनकी मांग बेलोच होती है, क्योंकि कीमत का थोड़ा बहुत अन्तर इनके लिए कुछ भी महत्व नहीं रखता है। इसके विपरीत उन सब वस्तुओं की मांग लोचदार होती है जिन्हें प्रायः गरीब लोग खरीदते हैं। निश्चय है कि कीमत का थोड़ा घटना बढ़ना भी इन लोगों के लिए बड़ा महत्वपूर्ण होता है।

(६) **यदि उपयोग टाला जा सकता है**—कुछ वस्तुयें इस प्रकार की होती हैं कि उनकी मांग कुछ समय के लिए टाली जा सकती है। वे ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं जो भविष्य के लिए उठाकर रखी जा सकती हैं। अतः यदि कीमत बढ़ जाती है तो हम इस आशा में कि शायद भविष्य में दाम गिर जायें अथवा इस

कारण से कि इसी समय इस आवश्यकता को पूरा करना आवश्यक नही है, अपनी मांग को बहुत कम कर देते हैं। यदि ऊनी कपड़ा बहुत महगा है तो हम यह सोच लेते हैं कि इस साल कोट नही बनवायेंगे, वरन् पुराने कोट से ही काम चला लेंगे। जिन वस्तुओं की मांग इस प्रकार टाली नहीं जा सकती उनकी मांग बहुधा बेलोच होती है।

(७) व्यय की मात्रा–जिन वस्तुओं पर हमारी आय का बहुत थोड़ा भाग व्यय होता है। उनकी मांग हमारे लिए बेलोच होती है। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु पर हमारी आय का बहुत बड़ा भाग व्यय होता है तो उसकी माग हमारे लिए बहुत लोचदार होगी।

(८) संयुक्त मांग की दशा—कुछ वस्तुओ की मांग संयुक्त मांग (Joint Demand) होती है, अर्थात् उनकी मांग किसी दूसरी वस्तु की मांग से सम्बन्धित होती है। उदाहरणस्वरूप स्याही की माग कलम की माग से सम्बन्धित है। ऐसी दशा मे वस्तु विशेष की माग बढ़ती है तो स्याही की माग अपने आप ही बढ जायगी और लगभग उतनी ही तेजी के साथ जितनी तेजी के साथ कलम की मांग बढ़ी है।

(९) समय का प्रभाव—किसी वस्तु की माग पर समय का भी प्रभाव पड़ता है। अल्पकाल में कीमतों के परिवर्तनों का वस्तु की माग पर लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है, परन्तु यदि वस्तु की कीमत मे परिवर्तन हो जाता है तो दीर्घ काल में उसके प्रतिस्थापन (Substitution) की सम्भावना बढ जाती है ऐसी दशा में मांग में तेजी के साथ परिवर्तन हो सकता है।

(१०) सरकारी नियन्त्रण—बहुत बार सरकार आर्थिक मामलों मे हस्तक्षेप करती है। मूल्य नियन्त्रण और विशेषकर राशनिंग (Rationing) के अन्तर्गत मांग के परिवर्तन को रोका जा सकता है। यह सम्भव है कि उपभोक्ताओं को एक निश्चित मात्रा से अधिक खरीदने का अधिकार ही न दिया जाय। ऐसी दशा मे बहुधा मांग बेलोच रहती है।

(११) कीमतों का भावी अनुमान माग की लोच इस बात पर निर्भर होती है कि भविष्य में कीमत के बढने या घटने की सम्भावना कैसी है। यदि भविष्य में किसी वस्तु की कीमतों के बढ़ने की आशा है अथवा यदि अनुमान यह है कि भविष्य मे वस्तु की पूर्ति घट जायेगी तो कीमत की थोड़ी सी भी कमी वस्तु की माग को बड़ी तेजी के साथ बढा देगी। इसके विपरीत यदि भावी अनुमान निराशाजनक है तो कीमत के घटने बढने का मांग पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ेगा।

मांग की लोच की माप

(Measurement of the Elasticity of Demand)

व्यवहारिक कार्यों के लिए केवल मांग की लोच होने का ज्ञान ही पर्याप्त

नहीं है वरन् यह भी मालूम होना आवश्यक है कि यह लोच कितनी है। अतः माँग की लोच को मापने का प्रश्न उदय होता है। प्रोफेसर मार्शल ने स्वयं दो रीतियां बतलाई हैं। ये रीतियां निम्नलिखित हैं।

(१) कुल व्यव की मात्रा की प्रणाली (Total Outlay Method) :— मार्शल ने यह सुझाव दिया है कि मांग की लोच का माप करने के लिए वस्तु की कीमत के परिवर्तन और फलस्वरूप खरीदी गई वस्तु की कुल मात्रा में तथा उस पर व्यय किये गए द्रव्य की कुल मात्रा में हुए परिवर्तन पर ध्यान देना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि मूल्य के किसी परिवर्तन के फलस्वरूप वस्तु पर व्यय की गई कुल मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है (अर्थात् यदि कुल व्यय स्थिर रहे) तो लोच एक Unity के बराबर होगी, यदि कुल व्यय अधिक है, तो यूनिटी से अधिक कही जायेगी और यदि कुल व्यय कम हुआ, तो वस्तु की मॉग की लोच यूनिटी से कम कहलायेगी।

मांग की लोच मापने की रीतियां

(१) कुल व्यय की मात्रा की प्रणाली
(२) बिन्दु प्रणाली
(३) आर्क प्रणाली
(४) फलक्स प्रणाली

(२) बिन्दु प्रणाली (Point Method)—मूल्य सम्बन्धी माँग की लोच का माप करने के लिए मार्शल ने एक अन्य फार्मूला भी बताया है। सरल रेखा—माँग वक्र (Straight line demand curve) AB पर मूल्यानुसार कोई बिन्दु P ले लिया जाय, तो माँग की लोच $(ep) = \frac{PB}{AP}$। इसे निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है :—
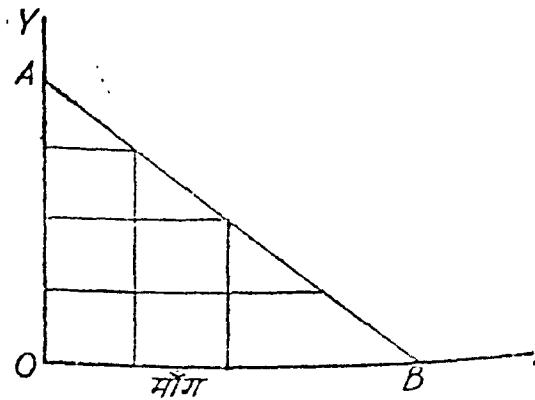
चित्र—३

उपरोक्त चित्र में AB एक सरल रेखा मांग वक्र है जो विभिन्न मूल्यों पर मांग की जाने वाली विभिन्न मात्राओं से प्राप्त बिन्दुओं को जोड़कर बनाया गया है। उक्त फार्मूले का प्रयोग करते हुए मांग वक्र के किसी भी बिन्दु P पर मांग की लोच $\frac{PB}{AP}$ हैं, हम अन्य किसी भी बिन्दुओं पर मांग की लोच मालूम कर सकते हैं।

यदि मांग व P पर मध्य बिन्दु है, तो मांग की लोच $= \frac{PB}{AP} = \frac{१\frac{१}{२}''}{१\frac{१}{२}''} = १$ (यूनिटी)।

यदि P मांग वक्र पर मध्य बिन्दु से ऊपर (मान लो कि १" और ऊपर) है, तो मांग की लोच $= \frac{PB}{AP} = \frac{२''}{१''} = २$ (एक या एक यूनिटी से अधिक)

यदि P मांग वक्र पर मध्य बिन्दु से नीचे है (मान लो कि १" नीचे है,) तो मांग की लोच $= \frac{P_3B}{A_3P} = \frac{१''}{२''} = \cdot ५$ (अर्थात् एक यूनिटी से कम)।

यदि P बिन्दु मांग वक्र पर मध्य बिन्दु बहुत ऊंचाई पर है (जहाँ कि वक्र Y—axis से मिलता है, तो मांग की लोच $= \frac{P_2B}{AP_2} = \frac{३''}{०} = \infty$ अर्थात् अनन्त होगी।

यदि P बिन्दु मांग वक्र पर मध्य बिन्दु से बहुत निचाई पर है) जैसे वहां जहां पर वक्र X—axis से मिलता है), तो मांग की लोच $= \frac{P_4B}{AP_4} = \frac{०}{३''} = ०$ अर्थात् शून्य है।

(नोट—P_2, P_1, P, P_3 एवं P_4 क्रमशः बहुत ऊंचे मूल्य, साधारण मूल्य, नीचे मूल्य एवं बहुत नीचे मूल्यों को सूचित करता है।)

(३) आर्क प्रणाली (Arc Method)—बिन्दु प्रणाली का प्रयोग तब अधिक उपयुक्त होता है जबकि हमें मूल्य एवं मांग में मामूली से मामूली परिवर्तनों का भी अध्ययन करना हो। किन्तु यह प्रणाली व्यावहारिक नहीं कही जा सकती है, क्योंकि मूल्यों एवं मांग में बारीक परिवर्तन वाले मात-शिड्यूल बहुत कठिनता से उपलब्ध

होते हैं। सामान्यतः ऐसे ही मांग-शिड्यूल उपलब्ध होते हैं जिनमें बड़ी कीमतों एवं मांग-परिवर्तनों का उल्लेख होता है। उदाहरण के लिए, मूल्य में १ रु० से बढ़कर १·५० रु० तक वृद्धि हो जाना एक बड़ा परिवर्तन है। ऐसी दशाओं में उपयुक्त रीति यह है कि कीमत एवं मांग की मात्रा दोनों ही दशाओं में पुराने व नये अंकों के बीच ही मध्य बिन्दु लिये जायें। इस रीति को आर्क प्रणाली कहते हैं। (आर्क का अभि- प्राय सम्पूर्ण मांग वक्र से न होकर उसके एक टुकड़े (Segment) से है। इस दशा में मांग की लोच को मापने का फार्मूला यह है :—

जिसमें

Q =माँगी हुई पुरानी मात्रा (१००)

Q_1 =परिवर्तन के बाद मांगी हुई मात्रा (१४०)

P =मूल कीमत (१०)

P_1 =परिवर्तन के बाद कीमत (८)

$$e_p = \frac{१०० - १४०}{१०० + १४०} \div \frac{१० - ८}{१० + ८} = \frac{-४०}{२४०} \div \frac{२}{८१} - १·५$$

(४) **फ्लक्स प्रणाली**—प्रो० फ्लक्स मांग की लोच को मापने के लिये मूल्य में होने वाले प्रतिशत परिवर्तनों की तुलना मांग में होने वाले प्रतिशत परिवर्तनों से करते हैं। यदि मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन मांग के प्रतिशत परिवर्तन से अधिक, बरा- बर या कम हो, तो माँग की लोच क्रमशः यूनिटी से अधिक, यूनिटी के बराबर या यूनिटी से कम होगी। इसको निश्चित व सही रूप से मापने के लिये निम्न फार्मूले का उपयोग किया जाता है।

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\text{मांग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{मूल्य मे प्रतिशत परिवर्तन}}$$

फ्लक्स की यह प्रणाली मार्शल की रीति की तुलना में अधिक श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि उसके परिणाम अधिक शुद्ध नहीं होते।

इस प्रकार स्पष्ट है कि माँग की लोच का विचार केवल सैद्धान्तिक कल्पना ही नहीं है, किन्तु आर्थिक विश्लेषण में एक मापनीय तथ्य के रूप में विशाल व्यवहा- रिक महत्व रखता है। वास्तव में मांग की लोच का आर्थिक विश्लेषण एवं नीति में असीम महत्व है। आर्थिक विश्लेषण के अन्तर्गत उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण एवं राजस्व के सभी विचार मांग की लोच के प्रभावों के अध्ययन के बिना अपूर्ण रहते हैं। उपभोक्ता का व्यवहार, उत्पादन के साधनों की मांग, उत्पादन का आकार एवं प्रवृत्ति, मूल्य-निर्धारण, आय, बचत एवं विनियोग, कुल उत्पादन का वितरण एवं करारोपण तथा सार्वजनिक व्यय सभी में मांग की लोच का अध्ययन ... रखता है। आर्थिक नीति के अन्तर्गत पारिवारिक आय-व्यय, मूल्य, आयात-

निर्यात, मुद्रा एवं साख तथा करारोपण और सार्वजनिक व्यय आदि से सम्बन्धित विषयों की उचित नीति मांग की लोच का अध्ययन करके ही बनाई जा सकती है। इन नीतियों की सफलता माग की लोच के सही एवं पूर्ण ज्ञान पर ही निर्भर है।

मांग की लोच का मूल्य निर्धारण में महत्व :—

यद्यपि किसी वस्तु का मूल्य उसकी माग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है और माग की लोच ही केवल मूल्य को नही प्रभावित करती है, तथापि किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण मे उसका अपार महत्व है। मांग की लोच माग वक्र को प्रगट करती है और मांग वक्र के अनुसार मूल्य निर्धारित होता है। बेलोच माग वाली वस्तु मे पूर्ति के बढ़ने पर मूल्य जितना घटता है, लोचदार माग, और बहुत लोचदार मागवाली वस्तुओं के मूल्य मे होने वाली कमी से अत्यन्त अधिक होता है। संलग्न चित्र मे प्रगट है कि पूर्ति वक्र S, S की तुलना मे पूर्ति वक्र S_1 S_1 अधिक पूर्ति प्रगट करता है। माग वक्र D-D, D_1 D_1 और D_2-D_2 क्रमशः लोचदार, बहुत लोचदार और कम लोचदार माग को प्रकट करते है। यदि पूर्ति वक्र S S की दशा मे है तो मूल्य P बिन्दु पर निर्धारित हुआ है किन्तु पूर्ति बढ़कर यदि S_1 S_1 की दशा मे हो जाती है तो मूल्य लोचदार माग दशा मे P_2 पर, बहुत लोचदार की दशा मे P_1 और कम लोचदार की दशा मे P_3 पर निर्धारित होगा P_1, P_2 और P_3 क्रमशः निम्नतम मूल्य निर्धारित करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्ति बढने पर कम लोचदार मांग वाली वस्तु का मूल्य बहुत गिर जाता है और पूर्ति घटने पर उसका मूल्य बहुत बढ जाता है। लोचदार मांग वाली वस्तु का मूल्य पूर्ति बढ़ने पर अपेक्षाकृत कम घटता है और मांग भी बढ़ती है, जबकि पूर्ति घटने पर मूल्य बढ़ता है और मांग घटती है। बहुत लोचदार मांग की पूर्ति बढने पर मूल्य अपेक्षाकृत और भी कम मांग घटती है क्योंकि मांग बहुत अधिक बढ जाती है जबकि मूल्य, पूर्ति घटने पर, कि थोड़ा सा ही बढ जाने पर मांग बहुत अधिक कम हो जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है यदि वस्तु की मांग लोचदार है तो पूर्ति मे वृद्धि या कमी वस्तु के मूल्य को लगभग उसी अनुपात मे घटा या बढा देगी। यदि मांग अधिक लोचदार है तो पूर्ति के परिवर्तन का प्रभाव कम पड़ेगा और यदि मांग कम लोचदार है तो पूर्ति के परिवर्तन का प्रभाव अधिक पड़ेगा। एक एकाधिकारी उत्पादक को चाहिये कि अपनी वस्तु का मूल्य निर्धारित करते समय उसकी मांग की लोच को ध्यान मे रखे। यदि वस्तु की माग अधिक लोचदार है तो वह वस्तु की पूर्ति में कमी करके मूल्य मे वृद्धि नही कर सकता, क्योंकि मूल्य मे वृद्धि होने पर मांग बहुत कम हो जायगी और इसका सम्बन्धित वस्तु की बिक्री एवं उत्पादन पर गहरा असर पड़ेगा। इसी प्रकार, यदि वस्तु की मांग बेलोच है तो पूर्ति मे कमी करके वह सरलता पूर्वक मूल्य में वृद्धि कर सकता है, क्योंकि मूल्य बढ़ने पर वस्तु की मांग कम नहीं होगी और न बिक्री पर ही असर

पड़ेगा। अन्य शब्दों में वेलोच माँग वाली वस्तुओं के मूल्य में पूर्ति कम करके, वृद्धि करना सरल होता है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि माग की लोच ही एकमात्र
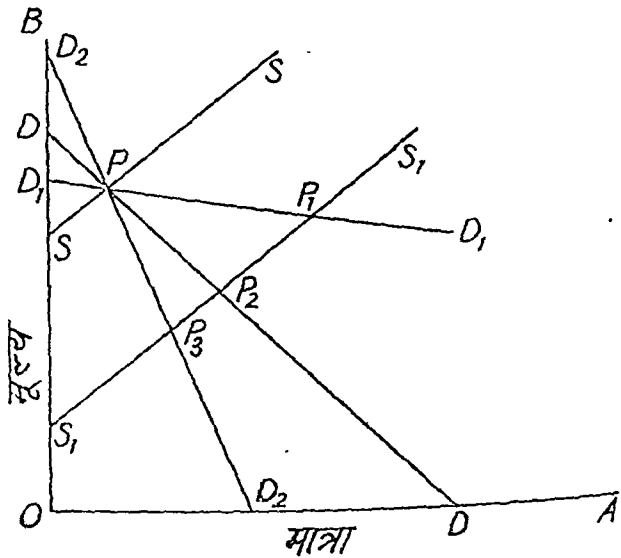
चित्र—४ माँग की लोच का मूल्य निर्धारण का प्रभाव

घटक नहीं है, जिसे एकाधिकारी उत्पादक को मूल्य में परिवर्तन करते समय विचार में लेना है वरन् उसे अन्य बातें भी (जैसे प्रतिस्पर्धाओं की मूल्य परिवर्तन के प्रति प्रतिक्रिया विचार में लेनी होगी।)

कीमत विभेद करने के लिये भी माँग की लोच का विचार बहुत उपयोगी है। इसका अर्थ है दो व्यक्तियों से, जो कि दो अलग-अलग वाजारों में रहते हैं, अलग-२ मूल्य लेना। यह तभी सम्भव है जबकि एकाधिकारी को उन वाजारों की मांग की लोच का ज्ञान हो। श्रीमति राविन्सन का कहना है कि "एक एकाधिकारी अपनी मंडियों की कीमत लोच के बढ़ते हुए रुख के अनुसार वनायेगा अर्थात् सवसे अधिक मूल्य सवसे कम लोचदार माँग वाले बाजार में और सवसे कम मूल्य सवसे अधिक लोचदार मांग वाले वाजार में होगा।" राशिपातन करते समय भी वह मांग की लोच को ध्यान में रखेगा।

मांग की लोच का कर भार पर प्रभाव :—

कर नीति के निर्धारण में भी सरकार को माँग की लोच का ज्ञान आवश्यक होता है, क्योंकि मांग की लोच का करों के प्रभाव से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेलोचदार मांग वाली वस्तुओं पर कर लगाने का भार उपभोक्ताओं पर तव की अपेक्षा अधिक । जब कि मांग लोचदार है। वस्तु की मांग वेलोच होने की दशा में कर लगाने मूल्य बढ़ने से उपभोक्ता अपनी मांग को कम नहीं कर सकते, अतः उनको ही कर देना का भार उपभोक्ताओं एवं उत्पादकों पर उनकी अन्य परिस्थितियों के अनुसार । क्योंकि कर लगने से मूल्य में वृद्धि होने के कारण वस्तु की मांग में कमी

जाती है। जिसके फलस्वरूप व्यापार में हानि होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। अत: उत्पादक एवं विक्रेता वस्तु को पहले के बराबर मूल्य पर ही बेचने के लिये कर की रकम को अपने लाभों में से ही चुकाने को तैयार हो जायेंगे, जिससे उपभोक्ताओं पर कर का भार नहीं पड़ेगा, या कम पड़ेगा। कर नीति का निर्धारण करते समय वित्त मन्त्री को दो बातों का ध्यान रखना चाहिये कि अतिरिक्त करों का भार किस वर्ग पर पड़ता है। यदि सरकार ने बेलोचदार माँग वाली वस्तुओं पर कर लगाया, तो उत्पादक एवं व्यापार उसका भार उपभोक्ताओं पर टाल देंगे और ऐसी दशा में गरीब उपभोक्ताओं को बहुत कम कष्ट उठाना पड़ेगा। इसके विपरीत लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर लगाये गये कर भार को इस प्रकार नहीं टाला जा सकता। उत्पादक, व्यापारी एवं उपभोक्ता सभी को उसमें भाग लेना पड़ता है। इसी समस्या पर एक अन्य दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। यदि सरकार लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर कर लगाती है, तो सम्भव है कि उसे पर्याप्त आय न हो, क्योंकि वस्तु का मूल्य बढ़ने से उसकी माँग कम होने का डर है तथा माँग के कम होने पर बिक्री और बिक्री कम होने पर कर की वसूली में कमी हो जायगी इसके विपरीत, बेलोचदार माँग वाली वस्तुओं पर कर लगाने से सरकार को अनुकूलतम आय हो सकती है, क्योंकि इनमें मूल्य बढ़ने पर भी वस्तु की माँग में कमी आने का भय नहीं है।
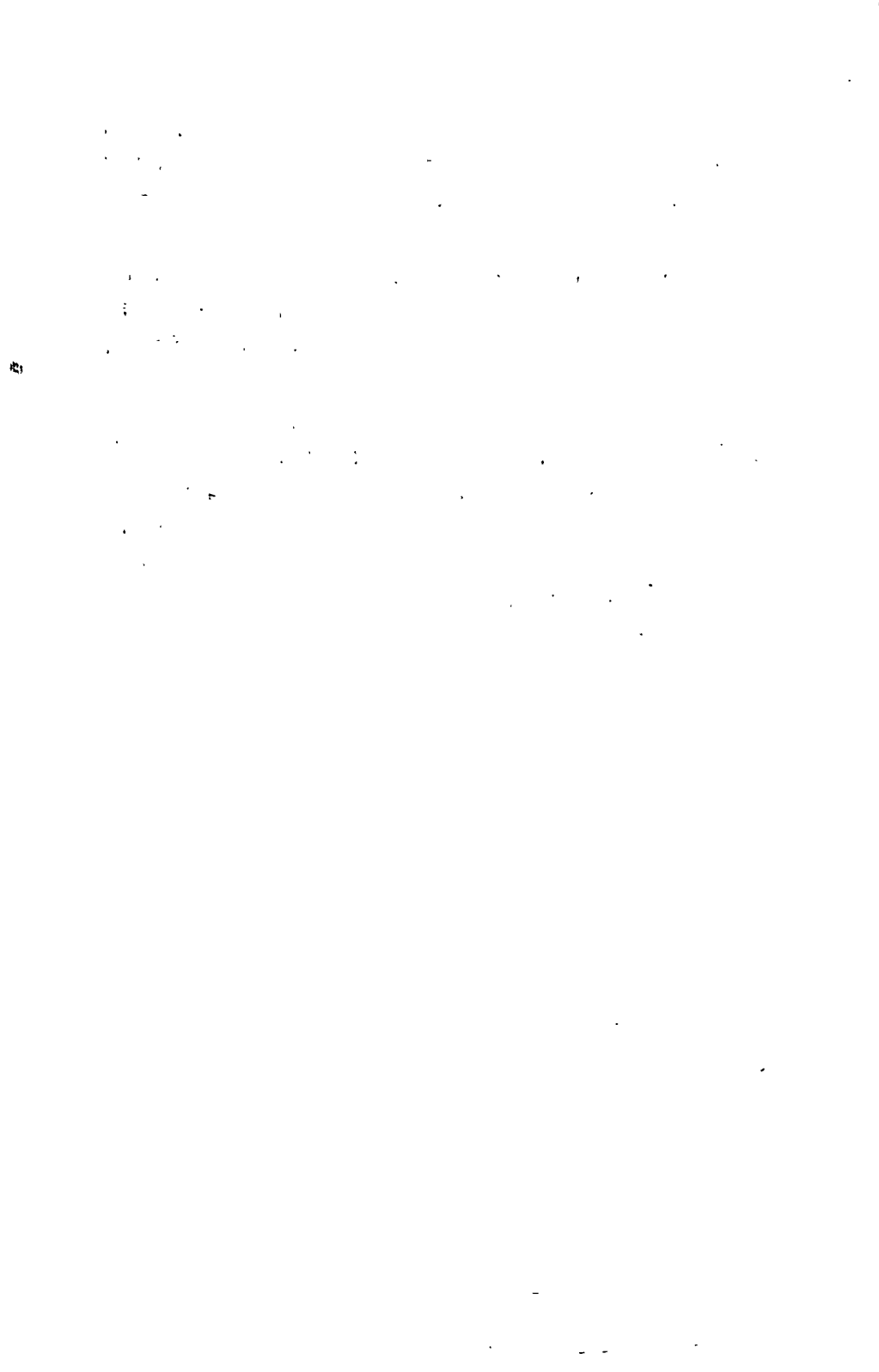
तृतीय खण्ड

उत्पादन

[PRODUCTION]

"From every point of view, man is the centre of the problem of production as well as that of consumption." —*A Marshall*-

"The laws of Increasing and constant Returns are only the temporary phases of Law of Diminishing Returns." —*Seligman.*

"The problem of population, as a whole, is not of mere size but of efficient production and equitable distribution." —*Seligman.*

"What is regrettable at present is not the decline of the birth rate in itself but the fact that the decline is the greatest in the best elements of population."

—*Bertrand Russel.*

११

उत्पत्ति के नियम

(Laws of Returns)

Q. "The Law of Diminishing Returns is merely a matter of logical necessity, but the Law of Increasing Returns is a matter of empirical fact ?" (Joan Robinson) Comment.

(Indore 1966 M. Com) (I. A. S· 1956; Agra M. A. 1960)

"उत्पत्ति-ह्रास-नियम तो एक तार्किक आवश्यकता का विषय है, किन्तु उत्पत्ति वृद्धि-नियम एक व्यवहारिक तथ्य का विषय है।" (जोन रॉबिन्सन) व्याख्या कीजिये। (इन्दौर १९६६ एम० काम०) (आगरा एम० ए० १९६०; आई० ए० एस० १९५७)

Q. "As equal increments of one input are added, The inputs of other productive sevices being held constant, beyond a certain point, the resultant increments of products will decrease, i. e, The marginal products will diminish" (Stigler) Elaborate this statement and Explain the conditions under which the law of Diminishing returns operates. (Vieram 1964 M. Com.)

"यदि अन्य उत्पादक सेवाओं के स्रोतों को स्थिर रखकर किसी साधन को समान मात्राओं में वृद्धि की जावे तो एक निश्चित बिन्दु के बाद परिणामत. बढ़ाने वाले उत्पादन, की मात्रा, अर्थात सीमान्त उत्पादन, घटती जाती है।" (स्टेगलर) इस कथन को समझाईये और उन दशाओं का उल्लेख कीजिए जबकि यह नियम लागू होता है। (विक्रम १९६४ एम० कॉम०)

उत्तर—उत्पत्ति के नियम अर्थशास्त्र में आधारभूत महत्व रखते हैं। प्रारम्भ से ही अर्थशास्त्र में उनकी चर्चा होती है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने वैसे तो उत्पादन-ह्रास, उत्पादन-स्थिरता और उत्पादन-वृद्धि की तीनों प्रवृत्तियों की क्रियाशीलता पर विचार किया है, किन्तु फिर भी उन्होंने उत्पत्ति-ह्रास-नियम पर सर्वाधिक बल दिया क्योंकि उनकी राय में उत्पादन-वृद्धि की प्रवृत्ति तो कुछ ही उद्योगों में दृष्टव्य थी। रिकार्डो का लगान सिद्धान्त और माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त उत्पत्ति-ह्रास-नियम के विचार पर ही आधारित थे। किन्तु औद्योगिक

क्रान्ति के उपरान्त सभी लोगों को धीरे-धीरे यह समझ में आने लगा कि उत्पत्ति में ह्रास, वृद्धि या स्थिरता किसी विशेष उद्योग की विशेषता न होकर सभी उद्योगों में दृष्टिगोचर हो सकती है।

उत्पादन का कार्य काम आने वाले साधनों (अर्थशास्त्र में इन्हें भूमि, श्रम, पूंजी, साहस और संगठन के नाम से जाना जाता है) के पारस्परिक सहयोग से चलता है। उत्पत्ति के नियमों की समस्या इस तथ्य पर निर्भर है कि विभिन्न साधनों के विभिन्न संयोगों से तीन प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न होती है। यदि एक विशेष साधन को स्थिर रखते हुए अन्य साधनों की मात्रा बढ़ाई जाती है तो कुल उत्पादन में जो वृद्धि होगी उसका अनुपात साधनों में हुई वृद्धि के अनुपात के बराबर, कम या अधिक हो सकता है। बराबरी की स्थिति में उत्पत्ति समता नियम, काम की स्थिति में उत्पत्ति-ह्रास-नियम और अधिक की स्थिति में उत्पत्ति-वृद्धि-नियम प्रभावशील होते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के नियम यह प्रगट करते हैं कि उत्पत्ति के किसी साधन की इकाईयों में निरन्तर वृद्धि करने पर जो अतिरिक्त उत्पादन होगा, उसमें किस प्रकार के परिवर्तन की सम्भावनायें हैं। इन सम्भावनाओं पर विचार करते हुए अर्थशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि साधारणतया उत्पादन में तब तक वृद्धि होती रहती है जब तक कि साधनों की इकाईयों में वृद्धि होने के कारण संगठन में सुधार होता है और उनकी उत्पादकता में वृद्धि होती है, फिर विपरीत प्रभावों के अभाव में यह वृद्धि स्थिर रहती है किन्तु यदि इन साधनों में वृद्धि करते ही चले जाऐं तो अन्ततः एक न एक समय ऐसी स्थिति आ ही जाएगी जब कि उत्पादन गिरने लगेगा। इसलिए श्रीमती जोन राबिन्स कहती हैं कि उत्पत्ति-वृद्धि-नियम एक व्यवहारिक तथ्य है, किन्तु उत्पत्ति-ह्रास-नियम एक तार्किक निष्कर्ष और व्यापक सत्य है। उनके इस कथन का औचित्य निर्णय करने के लिए आवश्यक है कि हम इन दोनों नियमों पर और उनकी विशेषताओं पर विचार करें।

उत्पत्ति-ह्रास-नियम

(Law of Diminishing Returns)

यह उत्पत्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नियम है और अर्थ शास्त्र के सिद्धान्तों में इसका बुनियादि महत्व है। लेखकों का विचार है कि मानव-जीवन की अधिकांश समस्याएं इसी नियम के कारण उत्पन्न होती, साथ ही उन्हें इस बात पर भी गर्व है कि अर्थशास्त्र का यह नियम सर्वमान्य, सर्वव्यापी और अटल है। शायद यही कारण है कि प्राचीन काल से ही अर्थशास्त्री इसके विषय में विचार करते रहे हैं। एडम स्मिथ, रिकार्डो और माल्थस जैसे क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने भी इसकी महत्ता स्वीकार किया और डा० बेन्हम के शब्दों में इन अर्थशास्त्रियों ने बतलाया कि यह नियम प्रमुखतया कृषि के सम्बन्ध में लागू होता है। "उन्होंने यह बताया था कि

यदि जनसंख्या बढ़ जाएगी तो अधिक कृषि उपज की आवश्यकता होगी। किन्तु भूमि की उत्पादन शक्ति सीमित है, अतः कृषि में जब अधिक मनुष्यों को काम में लगाया जाएगा तो प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन में कमी हो जाएगी। उदाहरण के लिये यदि कृषि कार्य में पहले की अपेक्षा दूने श्रमिक लगा दिये जायें, तो कुल उत्पादन दूने से कम बढ़ेगा। उन्होंने बताया है कि प्रवृत्ति को ज्ञान की प्रगति द्वारा केवल अल्पकाल के लिये रोका जा सकता है, किन्तु यह विद्यमान सदा ही रहती है।'[1] क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की इसी विचारधारा को सुधार कर प्रो० मार्शल ने भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस नियम की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

"यदि कृषि-कला में साथ ही साथ उन्नति न हो तो भूमि पर कृषि करने में लगाई गई श्रम व पूंजी की मात्रा में वृद्धि होने से साधारणतया कुल उत्पत्ति में अनुपात से कम वृद्धि होती है।" (अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, पृष्ठ १८९)[2]

मार्शल का दृष्टिकोण.—

मार्शल की उपरोक्त परिभाषा छः बातों पर विशेष जोर देती है.—

(१) यह नियम साधारणतः प्रभावशील होता है। (२) यह नियम मुख्य रूप से कृषि में लागू होता है। (३) भूमि की मात्रा में वृद्धि नहीं होती। (४) श्रम और पूंजी परिवर्तनशील तत्व है। (५) कृषि कला में साथ ही साथ सुधार न हो और (६) यह एक स्थिर नियम है। मार्शल ही उसे समझाते हुए कहते है—"यद्यपि कृषि कला में किसी उन्नति के होने से उत्पत्ति की मात्रा में जो कि भूमि में एक दी हुई मात्रा में पूंजी और श्रम लगाने पर साधारणतः मिलती है, वृद्धि हो सकती है और यदि किसी भूमि के टुकड़े पर लगाई गई पूंजी और श्रम की मात्रा इतनी अपर्याप्त है कि उससे भूमि का पूरी तरह शोषण नहीं हो रहा है, तो कृषि की प्रचलित रीति से अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है, तथापि एक प्राचीन देश में ऐसी दशाएँ कठिनता से पाई जाती है और केवल उस स्थिति को छोड़कर जबकि ये दशायें विद्य-

1. "The English classical economists considered this law in relation to agriculture. They said, that if the population increased, more agricultural produce would be demanded But the total output of land, they said, was fixed Therefore, as more men would tend to fall For example, if twice as many men were employed in agriculture, the average amount produced per man were employed on land the tot l amount of produce would be less than double This tendency, they said, might be counteracted for a time by the progress of knowledge, but it was always present." —Benham.

2. "An increase in the capital and labour employed in the cultivation of land causes, in general, a less than proportionate increase in the amount of produce raised unless it happens to coincide with an improvement in the art of agriculture" —Alfred Marshall : Principles of Economics p. 189.

मान हों, पूंजी और श्रम की मात्रा में वृद्धि करने पर अनुपात से कम उपज प्राप्त होती है, बशर्ते इस बीच में व्यक्तिगत कृषक की चतुराई में वृद्धि न हो। दूसरे, भविष्य में कृषि-कला में चाहे कितनी ही उन्नति हो जाय यदि भूमि पर पूंजी और श्रम की प्रयोग की जाने वाली मात्रा में वृद्धि होती रही तो अतिरिक्त उपज में कमी होने लगेगी।"[१] मार्शल के अनुसार कृषि में इस प्रवृत्ति के पाये जाने के दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह कि कृषक उत्पादन के साधनों को सही अनुपात में न लगाये और दूसरे यह कि भूमि की पूर्ति बढ़ाई नहीं जा सकती है। इन दोनों में से प्रवृत्ति के व्यापक होने में दूसरा कारण ही तार्किक है।

प्रोफेसर मार्शल का उपरोक्त दृष्टिकोण वास्तव में ठीक नहीं है। न तो यह नियम केवल कृषि में लागू होता है और न केवल भूमि की मात्रा स्थिर रहने मात्र के कारण यह प्रवृत्ति क्रियाशील होती है। यह प्रवृत्ति कृषि के अतिरिक्त खनिज, मत्स्य और निर्माणी उद्योगों में भी पायी जाती है और उत्पादन के किसी भी साधन के स्थिर और दुर्लभ होने पर देखी जा सकती है। बात केवल इतनी है कि कृषि में प्रकृति का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है और इसीलिये भूमि के सीमित होने के कारण यह नियम शीघ्र लागू हो जाता है जबकि अन्य उद्योगों में मनुष्य की बुद्धि का अधिक महत्व होता है और इसलिये यह देर से लागू होता है। उत्पादन के क्षेत्र में प्रकृति का भाग उत्पत्ति के घटने की प्रवृत्ति को प्रगट करता है और मनुष्य का भाग उत्पत्ति के बढ़ने की प्रवृत्ति को प्रकट करता है।"[२]

आधुनिक दृष्टिकोण—

यहाँ पर अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई इस नियम की परिभाषाओं पर विचार करना अनुपयुक्त नही होगा:—

---

1. "Although an improvement in the arts of agriculture may raise rate of return which land generally affords to any given amount of capital and labour already applied to any piece of land, may have been so inadequate or the development of its full powers, that some further expenditure on it even with the existing arts of agriculture would give a more than proportinate return, yet these conditions are rare in an old country, and except when they are present, the application of increased capital and labour to land will add a less than proportinate amount to the produce raised unless there be mean while an increase in the skill of individual cultivator. Secndly, whatever may be the future developments of the arts of agriculture, a continued increase in the application of capital and labour of land must ultimately result in a diminuation of the extra product which can be obtained by a given extra amount of capital and labour."

—Marshall

2. "While the part which Nature plays in production shows a tendency to diminishing returns, the part which man plays shows a tendency to increasing returns."

—Marshall

सिल्वरमेन—"एक निश्चित बिन्दु के बाद उत्पादन में लगाये गये श्रम और पूंजी की मात्रा मे वृद्धि करने से उत्पत्ति में अनुपात से कम वृद्धि होती है।"[१]

चेपमेन—'यह मानते हुये कि उत्पादन के किसी विशेष साधन की अतिरिक्त मात्राऐं प्राप्त नहीं की जा सकती है, किसी उद्योग का विस्तार करने से, जबकि अन्य बातें समान रहें, तत्काल हो या कुछ समय के पश्चात् उत्पत्ति के घटने की प्रवृत्ति उदय होती है।"

बेन्हम—"जैसे-जैसे उत्पत्ति के साधनों के सयोग मे किसी एक साधन का अनुपात बढ़ाया जाता है, एक बिन्दु के पश्चात्, उस साधन की सीमान्त और औसत उपज घटने लगेगी।"[३]

श्रीमती राबिन्सन—"उत्पत्ति-ह्रास-नियम, जैसा कि इसे साधारणत. वर्णित किया जाता है, यह बतलाता है कि उत्पत्ति के लिए किसी एक साधन की स्थिर मात्रा के साथ, अन्य साधनो की मात्रा मे क्रमानुसार वृद्धि करने से एक सीमा के पश्चात् कुल उपज में घटते हुए अनुपात मे वृद्धि होगी।[४]"

पाल सैमुएलसन—"यदि उत्पत्ति के स्थिर साधनो की अपेक्षा अन्य साधनों की मात्रा बढ़ाई जाए तो इससे उत्पत्ति मे भी वृद्धि होगी, लेकिन यह वृद्धि एक बिन्दु के बाद घटती हुई दर पर प्राप्त होगी। इसका कारण यह है कि जिन इकाइयो की मात्रा मे वृद्धि की जाती है, उन परिवर्तनशील इकाइयों को अब कम और कम स्थिर साधनों के सहयोग से काम करना पड़ता है।"[५]

केनेथ बोल्डिंग—"यदि उत्पत्ति की अन्य इकाइयो को स्थिर रखकर किसी

---

1. 'After a certain point, an increase in the capital and labour applied in production causes a less than proportionate increase in the amount of the produce." -Silverman.

2. "The expansion of an industry, provided that additional supplies of some agent in production, while is essential, cannot be obtained, is invariably accompanied at once or eventually by decreasing returns, other things being equal." -Chapman.

3. "As the production of one factor in a combination of factors is increased, after a point, the marginal and average product of that factor will diminish" -Benham (Economists, p 128)

4. "The law fo Diminishing Returns, as it is usually formulated states that with a fixed amount of any one factor of production, successive increases in the amount of other factors will after a point, yield a diminishing increment of the product." —Mrs. Joan Robinson.

5. An increase in some inputs relative to other comparatively fixed inputs will cause output to increase, but after a point the extra input resulting from the same additions of input will become less and less This falling of extra returns in consequence of the fact that the new 'doses' of the varying resources to work with." —Paul A. Samuelson

एक इकाई की मात्रा को जैसे-जैसे हम बढ़ाते हैं, उस परिवर्तनशील इकाई की सीमान्त भौतिक उत्पादकता क्रमशः घटती जाती है।"[1]

उत्पत्ति-ह्रास-नियम के मूल विचार :—

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के उत्पत्ति-ह्रास-नियम के सम्बन्ध में उपरोक्त विचार निम्नलिखित तथ्यों की ओर संकेत करते हैं :—

(१) यह प्रवृत्ति उत्पादन के किसी भी क्षेत्र में क्रियाशील हो सकती है।

(२) प्रवृत्ति एक विन्दु के बाद ही प्रगट होती है।

(३) उत्पादन के साधन स्थिर और परिवर्तनशील दोनों प्रकार के होते हैं और इनके संयोग से ही उत्पादन होता है।

(४) उत्पादन में वृद्धि करने के लिए परिवर्तनशील साधनों, उदाहरण के लिये श्रम और पूंजी की इकाईयां बढ़ाई जाती हैं।

(५) उत्पादन के साधनों के संयोग में परिवर्तनशील साधनों के अनुपात में वृद्धि होती है और स्थिर साधनों की मात्रा परिवर्तनशील साधनों की प्रति इकाई के पीछे घटती जाती है।

(६) इसलिए उस इकाई की सीमान्त भौतिक उत्पादकता घटती जाती है, परिणाम स्वरूप सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति दोनों ही घटती हैं।

(७) अर्थात्, कुल उत्पत्ति अवश्य बढ़ती है, किन्तु उसकी सीमान्त और औसत लागत में क्रमशः वृद्धि होती है।

(८) परिवर्तनशील साधनों की इकाइयों के अनुपात में परिवर्तन होने से उन इकाइयों की उत्पादनशीलता में परिवर्तन (सुधार) नहीं होता है, तभी उत्पत्ति-ह्रास का बिन्दु प्रारम्भ होता है।

उत्पत्ति-ह्रास-नियम की व्यापकता :—

इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्ति-ह्रास-नियम को एक सर्वव्यापी प्रवृत्ति का निरूपण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह नियम बतलाता है कि "किसी साधन की समान मात्राओं में वृद्धि करने पर, जबकि उत्पादन के अन्य साधनों की मात्रायें स्थिर रखी जायें, एक निश्चित विन्दु के पश्चात् उत्पादन

---

1. "As we increase the quantity of any one input which is combined with a fixed quantity of other inputs, the marginal physical productivity of the variable input must eventually decline." —Kenneth E. Boulding

में होने वाली वृद्धियाँ घटती जायेंगी, अर्थात्, सीमान्त उत्पादन घटेगा।"[1] उत्पादन के कुछ साधनों को स्थिर रखा जाय और कुछ साधनों में वृद्धि की जाय तो कुल उत्पादन में वृद्धि अवश्य होगी, किन्तु एक बिन्दु के उपरान्त, सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति घटने लगेगी तथा उत्पादन-लागत बढ़ जायेगी। इस प्रकार उत्पत्ति ह्रास-नियम केवल कृषि में ही क्रियाशील नहीं होता है, वरन् उत्पादन के सभी क्षेत्रों में प्रभावशील होता है। अन्तर केवल इतना है कि उत्पादन के उन क्षेत्रों में जहाँ प्रकृति की भूमिका अधिक प्रभावशील है जैसे कृषि, खनिज, वन, मत्स्य और भवन निर्माण आदि यह शीघ्रता से क्रियाशील हो जाता है क्योंकि साधनों के आदर्श संयोग को कायम रखना अत्यन्त कठिन होता है, साधनों की अविभाज्यता, प्राकृतिक प्रभाव और साधनों की सीमितता प्रतिस्थापन को असम्भव बना देते हैं और हम शीघ्र ही उस बिन्दु पर पहुँच जाते हैं जहाँ कि सीमान्त उत्पत्ति कम होने लगती है। उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में जहाँ प्रकृति की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण नहीं होती है, यह बिन्दु देर से प्रारम्भ होता है और साधनों के आदर्श संयोग को कायम रखा जा सकता है। किन्तु जल्दी या देर से जैसे भी हो सीमान्त उत्पत्ति के घटने की यह प्रवृत्ति उत्पादन के सभी क्षेत्रों में पाई जाती है और उत्पादन केवल एक बिन्दु तक ही बढ़ सकता है।

उदाहरण द्वारा निरूपण :—

उदाहरण के लिए यदि हम मान लें कि भूमि के किसी टुकड़े पर श्रम और पूंजी की विभिन्न इकाईयाँ लगाने पर निम्नलिखित उत्पत्ति होती है और श्रम और पूंजी की एक इकाई की लागत १०० रुपये है तो उपरोक्त प्रवृत्ति का निरूपण इस प्रकार होगा—

श्रम और पूंजी की इकाईयां	कुल उत्पत्ति	कुल लागत	सीमान्त उत्पत्ति	औसत उत्पत्ति	सीमात लागत प्रति इकाई
१	४००	२०० रु०	४००	४००	५० न. पै.
२	९००	३०० रु०	५००	४२५	२० न. पै.
३	१२००	४०० रु०	३००	४००	३३ न. पै.
४	१४००	५०० रु०	२००	३५६	५० न. पै.
५	१५००	६०० रु०	१००	३००	१०० न पै
६	१५८०	७०० रु०	८०	२६४	१२५ न पै
७	१६३०	८०० रु०	५०	२३३	२०० न पै.

1. "As equal increments of one input are added, the inputs of other productive sources being held constant, beyond a certain point the resulting increments of products will decrease, i. e., the marginal product will diminish.
—Stigler, The Theory of Price. p. 124.

उपरोक्त तालिका निम्न चित्र से और भी स्पष्ट हो जायेगी जो यह प्रदर्शित करता है कि श्रम और पूंजी की इकाईयाँ बढ़ाने पर क विन्दु के पश्चात् जहां कि
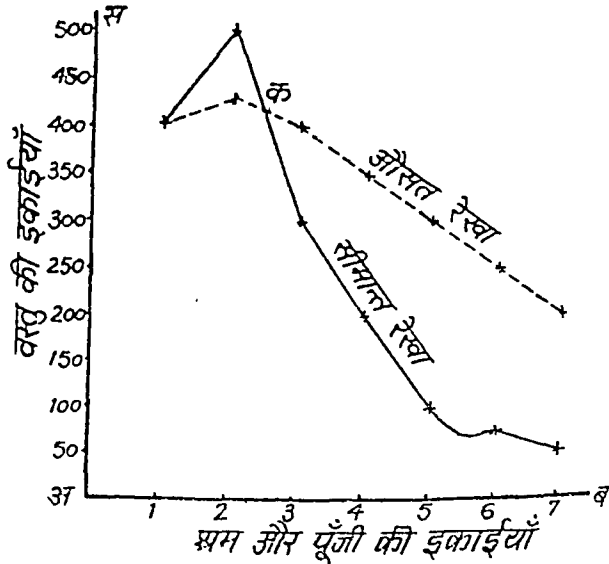
चित्र—१

सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति की रेखायें एक दूसरे को काटती हैं, उत्पत्ति घटने लगती है। परिणामस्वरूप वस्तु की सीमान्त लागत भी बढ़ने लगती है, जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट हो जायगा। उत्पादन की सीमान्त लागत में क विन्दु के उपरान्त वृद्धि प्रारम्भ होती है।
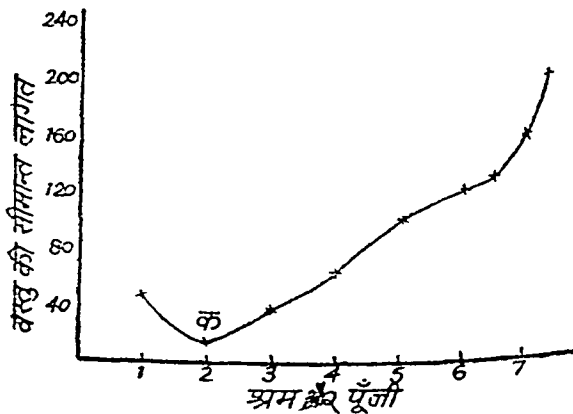
चित्र—२

उत्पत्ति-ह्रास-नियम एक तर्कजनित निष्कर्ष है—

इन निष्कर्षों पर यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो हमें यह मालूम होगा कि एक बिन्दु तक उत्पादन में वृद्धि इसलिए होती है कि साधनों में वृद्धि करने से आदर्श संयोग स्थापित होने में सहयोग मिलता है और उनकी उत्पादकता में वृद्धि होती है, किन्तु उसके उपरान्त उत्पत्ति में कमी इसलिए प्रारम्भ हो जाती है कि हमने श्रम और पूंजी की इकाइयां तो बढ़ाई हैं किन्तु भूमि की मात्रा स्थिर रखी है। यदि हम सभी साधनों की मात्रा दुगुनी कर दें तो उत्पत्ति भी दोहरी हो सकती है। किन्तु भूमि की मात्रा को स्थिर रखने की दशा में श्रम और पूंजी की इकाइयां बढ़ाने पर प्रत्येक इकाई को कम भूमि प्राप्त होगी। अतः स्वाभाविक रूप से ऐसी इकाई की सीमान्त उत्पत्ति कम होगी। इस प्रकार, सीमान्त उत्पत्ति-ह्रास-नियम किसी साधन की बेलोच पूर्ति का तर्कजनित निष्कर्ष है। यदि उत्पादन के एक साधन की पूर्ति बेलोच है अर्थात् उसकी मात्रा स्थिर है तो उत्पादन के अन्य साधनों की मात्रा में वृद्धि करने पर उत्पत्ति में अनुपात से कम वृद्धि होगी और लागत व्यय बढ़ जायेंगे। दूसरे शब्दों में, यह नियम बतलाता है कि एक साधन के स्थान में अन्य साधनों को काम में लाने की (अर्थात् साधनों के प्रतिस्थापन की) लोच असीमित नहीं है। यदि ऐसा होता तो हमें जनसंख्या के लिए भोजन की चिन्ता न करनी पड़ती। फिर यह लोच शून्य भी नहीं होती है। कुछ सीमा तक साधनों का प्रतिस्थापन सम्भव है। जिस सीमा तक प्रतिस्थापन सम्भव है वहां तक यह नियम कार्यशील नहीं होता है, किन्तु उसके पश्चात् इसका प्रभाव प्रारम्भ हो जाता है। श्रीमती राबिन्सन भी यही कहती हैं—"उपज के घटने का नियम यह बतलाता है कि उत्पत्ति के साधनों को स्थानापन्न करने की एक सीमा होती है, या अन्य शब्दों में, उत्पत्ति के साधनों के स्थानापन्न करने की लोच असीमित नहीं होती है।"[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि उत्पत्ति ह्रास नियम एक तर्क जनित निष्कर्ष है।

उत्पत्ति-वृद्धि-नियम
(Law of Increasing Returns)

यह तो कहा ही जा चुका है कि उत्पत्ति के साधनों में वृद्धि करने से यदि उत्पत्ति में अनुपात से अधिक वृद्धि हो तो उसे हम उत्पत्ति वृद्धि-नियम की संज्ञा देते हैं। प्रोफेसर मार्शल के शब्दों में, "श्रम और पूंजी में वृद्धि करने से, सामान्यतः संगठन-व्यवस्था अच्छी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप श्रम और पूंजी की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। अतः उन उद्योगों में जो कि कच्चा माल पैदा करने में संलग्न नहीं हैं, पूंजी और श्रम की वृद्धि करने से अनुपात से अधिक उपज प्राप्त होती है।

1. "The law of Diminishing Returns really states that there is a limit to the extent of which one factor of production can be substituted for another, or, in other words, that the elasticity of substitution between factors is not infinite."
—Mrs. Joan Robinson.

और उसके अतिरिक्त यह सुधरी हुई संगठन-व्यवस्था कच्चे माल की मात्रा बढ़ाने प्रकृति जो बढ़ती हुई बाधायें उपस्थित करती है उन्हें भी कम कर देती है या बिल्कु ही निष्प्रभाव कर देती है।"[1]

इस प्रकार मार्शल ने उत्पादन-वृद्धि की प्रवृत्ति को निर्माणी उद्योगों तक सीमित करने का प्रयत्न किया है। आधुनिक अर्थशास्त्री उनके इस दृष्टिकोण सहमत नहीं है। उनके मतानुसार यह प्रवृत्ति सभी प्रकार के उद्योगों में प्रभावशी होती है। प्रो० चेपमैन (Prof. Chapman) बहुत ही व्यापक परिभाषा देते हैं उनके अनुसार, "किसी उद्योग के विस्तार से, जिसमें उत्पादन के उपयुक्त साध का कोई अभाव नहीं है, अन्य बातों के समान रहने पर उत्पत्ति में वृद्धि होती है।" श्रीमती जॉन राबिन्स के अनुसार "जब किसी उत्पादन कार्य में उत्पादन के कि साधन की मात्रा बढ़ाई जाती है तो प्रायः ऐसा होता है कि संगठन में कुछ सुधा अथवा उन्नतियां हो जाती हैं, जिनके परिणामस्वरूप उस साधन की स्वाभाविक इकाइयां पहले की अपेक्षा अधिक निपुणता से कार्य करने लगती हैं। ऐसी दशा में उपज को बढ़ाने के लिए साधन की भौतिक मात्रा में अनुपातिक वृद्धि करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। यह नियम अथवा प्रवृत्ति उत्पादन-ह्रास-नियम की भाँति, उत्पादन के सभी साधनों पर समान रूप से लागू हो सकती है, किन्तु उत्पादन-ह्रास-नियम के विपरीत यह प्रत्येक दशा में लागू नहीं होती है। कभी तो साधनों की वृद्धि से कुशलता में सुधार हो जायेगा और कभी नहीं भी होगा।"[3]

उत्पत्ति-वृद्धि-नियम की क्रियाशीलता के कारण—

उपरोक्त दोनों परिभाषायें इस बात पर जोर देती हैं कि उत्पत्ति के साधनों

1. "An increase of labour and capital leads generally to improved organisation which increases the efficiency of the work of the labour and capital. Therefore, in those industries which are not engaged in raising raw produce, increase of labour and capital generally gives a return increased more than in proportion and further this improved organisation tends to diminish or even overside any increased resistance which nature may offer to raising increased amounts of raw produce." —Marshall.

2. "The expansion of industry, in which there is no dearth of suitable agents of production, tends to be accompanied, other things equal, by Increasing Returns." —Chapman.

3. "When an increased amount of any factor is devoted to a certain use, it is often the case that improvement in organisation can be introduced which will make natural units of factor more efficient so that an increase in output does not require a proportionate increse in the physical amount of the factor. This law, or rather, tendency, like the law of Diminishing Returns may apply to all the factors of production, but unlike the law of Diminishing Returns it does not apply in every case. Sometime an increse in factor will lead to improvements in efficiency and sometime it will not." —Mrs. Joan Robinson.

में वृद्धि करने पर उत्पत्ति मे अनुपात से अधिक वृद्धि होती है। किन्तु यह वृद्धि उसी अवस्था में होती है जबकि साधनों में वृद्धि होने के कारण उनके सयोग मे सुधार हो या साधनों की उत्पादनशीलता में वृद्धि हो। साधारणतया एक सीमा तक उत्पादन की सभी शाखाओं मे ऐसा होता है। यह सीमा अनेक बातो पर निर्भर होती है। सर्वप्रथम, उत्पादन के साधनों की कार्य कुशलता श्रम-विभाज, विशिष्टीकरण, प्रबन्ध एवं संगठन की रीतियो मे सुधार होने के कारण बढ़ जाती है। अतः जब तक साधनों की इकाइयां बढ़ाने से उनकी कार्य-कुशलता मे वृद्धि होती जायेगी, तब तक निश्चित रूप मे उत्पत्ति में भी अनुपात से वृद्धि होगी। दूसरे, मार्शल के अनुसार, उत्पत्ति के साधनों की इकाइयो में वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पादन का परिणाम बड़ा होता है और उद्योग को आन्तरिक और वाह्य बचत प्राप्त होती है। दूसरे शब्दो मे उत्पादन-लागत कम हो जाती है और उतनी ही लागत मे अनुपात से अधिक उत्पत्ति प्राप्त होती है। जिस सीमा तक वाह्य बचत और आन्तरिक बचत प्राप्त होती रहती है, उत्पत्ति-वृद्धि की प्रवृत्ति क्रियाशील होती है। तीसरे, उत्पादन के साधनों में कुछ तो स्थिर (Fixed, होते हैं और कुछ परिवर्तनशील (Variable) होते हैं तथा स्थिर साधनो की पूरी क्षमता का उपयोग तब ही सम्भव होता है जबकि परिवर्तनशील साधन एक विशेष अनुपात में हो, जब तक यह आदर्श सयोग कायम नहीं होता परिवर्तनशील साधनों की प्रत्येक वृद्धि के साथ उनकी उत्पादनशीलता मे भी वृद्धि होती है। वास्तव में साधनों की अविभाज्यता एक सीमा तक उनकी कार्यकुशलता को प्रभावित करती है। इसके कारण हम स्थिर साधनो मे वृद्धि किये बिना ही केवल परिवर्तनशील साधनो मे वृद्धि करके ही अतिरिक्त उत्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु यह स्थिर साधनो की उत्पादन-क्षमता द्वारा सीमित होती है।

उदाहरण द्वारा निरूपण—

यह निम्न तालिका और चित्रों मे और स्पष्ट हो जायगा—

श्रम और पूंजी की इकाई	कुल	सीमान्त उत्पत्ति की इकाईयां	औसत	सीमांत लागत नये पैसों मे
१	१००	१००	१००	१००
२	२२५	१२५	११२·५	८०
३	३९१·६	१६६·६	१३०·५	६०
४	५९१·६	२००	१४७·९	५०
५	७९१·६	२००	१५८·३	५०
६	९५७ २	१६६·६	१५९·५	६०
७	१०८७·९	१३०·७	१५५·४	७५

सम्भव होता है, जिसके परिणामस्वरूप संगठन में सुधार, कार्यकुशलता में वृद्धि, आन्तरिक और वाह्य वचत और साधनों की क्षमता का अधिकतम उपयोग सम्भव होता है। अतः उत्पत्ति अनुपात से अधिक बढ़ती है, सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति भी बढ़ जाती है तथा सीमान्त और औसत लागत घट जाती है। कृषि और अन्य प्रारम्भिक व्यवसायों में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है किन्तु स्थिर साधनों की प्रमुखता के कारण वह सीमा शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है जबकि साधनों की मात्रा बढ़ाने के लिये स्थित साधनों की मात्रा बढ़ाया जाना जरूरी होता है और यदि ऐसा नहीं किया जाए तो उत्पत्ति अनुपात में कम बढती है।

किन्तु हम यह भी नहीं भूल सकते कि उत्पत्ति वृद्धि की एक सीमा होती है और इसलिये उत्पत्ति ह्रास नियम की भांति प्रत्येक दशा में इस प्रवृत्ति का पाया जाना सम्भव नहीं है। साधनों की मात्रा बढ़ाने पर भी हो सकता है कि उनकी कार्य कुशलता में सुधार होने की जगह कमी हो, आन्तरिक और वाह्य वचत के स्थान पर उनकी लागत में वृद्धि हो जाय और परिवर्तनशील साधनों की क्षमता का अपव्यय हो। अतः यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक दशा में उत्पत्ति वृद्धि की प्रवृत्ति पायी ही जाय।

उत्पत्ति वृद्धि नियम एक व्यावहारिक तथ्य है—

फिर भी एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट ही है कि जब तक अविभाज्य इकाईयों का पूर्ण उपयोग न हुआ हो और साधनों की उत्पादनशीलता में वृद्धि की सम्भावना हो, अब तक साधनों की मात्रा में वृद्धि होने पर अनुपात से अधिक उत्पत्ति प्राप्त होती है। यह हमारे अनुभव की बात है और बुनियादी रूप से इस धारणा पर आधारित है कि साधनों को हम कितना बढ़ा सकते हैं और उनके बढ़ाने से उनकी कार्यकुशलता में कितना सुधार कर सकते हैं? इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उत्पत्ति वृद्धि नियम एक व्यवहारिक तथ्य (Empirical) का विषय है। इसे व्यवहारिक तथ्य मान लेना इसलिए भी आवश्यक है कि पूर्ण उपयोगिता में यह प्रवृत्ति कोई स्थान नहीं रखती। पूर्ण उपयोगिता की दृष्टि से उत्पत्ति वृद्धि नियम अप्रासंगिक प्रतीत होता है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में उत्पादक फर्म को आकार साम्य (Equilibrium) की दशा में अनुकूलतम (Optimum) होता है। अर्थात् स्थिर साधनों की क्षमता का पूर्ण उपयोग सम्भव हो चुका है और उसके आकार में वृद्धि करने की उत्पत्ति में समुचित वृद्धि नहीं होती है। और उत्पादन लागत बढ़ जाती है और साम्य खण्डित हो जाता है। परिणाम स्वरूप उत्पत्ति वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः क्रमागत वृद्धि नियम केवल अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में ही क्रियाशील होता है। स्पष्ट है कि सीमान्त उत्पत्ति की वृद्धि या सीमान्त लागत का कम होना व्यवहारिक तथ्य है। अतः श्रीमति राबिन्सन ने इसे ठीक ही व्यावहारिक तथ्य का विषय माना है।

चित्र—३

सीमान्त लागत की रेखा

चित्र—४

उत्पत्ति वृद्धि नियम की व्यापकता

> **क्रमागत-उत्पत्ति वृद्धि के कारण**
>
> (१) श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण और प्रबन्ध की रीतियों में सुधार के कारण कार्य कुशलता में वृद्धि।
>
> (२) उत्पादन के परिणाम में वृद्धि के कारण आन्तरिक व वाह्य वचत की उपलब्धि।
>
> (३) साधनों की अविभाज्यता और स्थिर साधनों की क्षमता का अधिकतम उपयोग।

स्पष्ट है कि उत्पत्ति वृद्धि नियम, उत्पत्ति ह्रास नियम की भांति ही उत्पादन की कमी भी शाखा में क्रियाशील हो सकता है। केवल निर्माण उद्योगों में ही वह लागू होगा यह जरूरी नहीं है। निर्माणी उद्योगों में उसके दृष्टिगोचर होने का कारण यह है कि उनमें स्थिर साधन कम होते हैं और उत्पादन के सभी साधनों की पूर्ति लोचदार होती है। परिणाम स्वरूप उद्योग का सरलता से विस्तार

सम्भव होता है, जिसके परिणामस्वरूप संगठन मे सुधार, कार्यकुशलता मे वृद्धि, आन्तरिक और बाह्य बचत और साधनों की क्षमता का अधिकतम उपयोग सम्भव होता है। अतः उत्पत्ति अनुपात से अधिक बढ़ती है, सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति भी बढ़ जाती है तथा सीमान्त और औसत लागत घट जाती है। कृषि और अन्य प्रारम्भिक व्यवसायों मे भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है किन्तु स्थिर साधनों की प्रमुखता के कारण वह सीमा शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है जबकि साधनों की मात्रा बढ़ाने के लिये स्थित साधनो की मात्रा बढ़ाया जाना जरूरी होता है और यदि ऐसा नहीं किया जाए तो उत्पत्ति अनुपात से कम बढ़ती है।

किन्तु हम यह भी नही भूल सकते कि उत्पत्ति वृद्धि की एक सीमा होती है और इसलिये उत्पत्ति ह्रास नियम की भांति प्रत्येक दशा में इस प्रवृत्ति का पाया जाना सम्भव नही है। साधनों की मात्रा बढ़ाने पर भी हो सकता है कि उनकी कार्य कुशलता मे सुधार होने की जगह कमी हो, आन्तरिक और बाह्य बचत के स्थान पर उनकी लागत में वृद्धि हो जाय और परिवर्तनशील साधनों की क्षमता का अपव्यय हो। अत. यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक दशा में उत्पत्ति वृद्धि की प्रवृत्ति पायी ही जाय।

उत्पत्ति वृद्धि नियम एक व्यावहारिक तथ्य है—

फिर भी एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट ही है कि जब तक अविभाज्य इकाईयों का पूर्ण उपयोग न हुआ हो और साधनों की उत्पादनशीलता में वृद्धि की सम्भावना हो, अब तक साधनो की मात्रा मे वृद्धि होने पर अनुपात से अधिक उत्पत्ति प्राप्त होती है। यह हमारे अनुभव की बात है और बुनियादी रूप से इस धारणा पर आधारित है कि साधनों को हम कितना बढ़ा सकते हैं और उनके बढ़ाने से उनकी कार्यकुशलता मे कितना सुधार कर सकते हैं? इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उत्पत्ति वृद्धि नियम एक व्यवहारिक तथ्य (Empirical) का विषय है। इसे व्यवहारिक तथ्य मान लेना इसलिए भी आवश्यक है कि पूर्ण उपयोगिता में यह प्रवृत्ति कोई स्थान नहीं रखती। पूर्ण उपयोगिता की दृष्टि से उत्पत्ति वृद्धि नियम अप्रासगिक प्रतीत होता है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में उत्पादक फर्म को आकार साम्य (Equilibrium) की दशा मे अनुकूलतम (Optimum) होता है। अर्थात् स्थिर साधनो की क्षमता का पूर्ण उपयोग सम्भव हो चुका है और उसके आकार में वृद्धि करने की उत्पत्ति में समुचित वृद्धि नहीं होती है। और उत्पादन लागत बढ़ जाती है और साम्य खण्डित हो जाता है। परिणाम स्वरूप उत्पत्ति वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः क्रमागत वृद्धि नियम केवल अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे ही क्रियाशील होता है। स्पष्ट है कि सीमान्त उत्पत्ति की वृद्धि या सीमान्त लागत का कम होना व्यवहारिक तथ्य है। अतः श्रीमति राबिन्सन ने इसे ठीक ही व्यावहारिक तथ्य का विषय माना है।

उत्पत्ति ह्रास नियम और उत्पत्ति वृद्धि नियम का सम्बन्ध : एक निष्कर्ष

इस विषय में कुछ पहले उत्पत्ति समता नियम (Law of Constant Returns) पर विचार कर लेना समीचीन होगा। यह नियम उस प्रवृत्ति को प्रगट करता है, जबकि उत्पत्ति के साधनों में वृद्धि करने पर उत्पत्ति भी समान अनुपात में बढ़ती है, अर्थात् सीमान्त और औसत उत्पत्ति एवं लागत स्थिर रहती है। मार्शल के अनुसार यह प्रवृत्ति अर्ध-निर्माणी उद्योगों में पाई जाती है किन्तु यह प्रवृत्ति भी तभी पाई जा सकती है जबकि उत्पादन के परिणाम में विस्तार होने के बावजूद साधनों की कार्यक्षमता में कोई परिवर्तन न हो।

उत्पत्ति-वृद्धि, ह्रास और समता की इन तीनों प्रवृत्तियों को उत्पत्ति के नियमों के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है। किन्तु इनमें से प्रत्येक नियम की क्रियाशीलता साधनों की प्रतिस्थापनीयता की लोच (Elasticity of substitution of factors) पर निर्भर है। फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि उत्पत्ति ह्रास नियम एक सर्व-व्यापी और सर्वमान्य नियम है। वीक स्टीड के शब्दों में वह उतना ही व्यापक है जितना कि जीवन का नियम है। वह नियम उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में और प्रतियोगिता की प्रत्येक दशा में लागू हो सकता है। यह एक दीर्घकालिक नियम है। किन्तु उत्पत्ति वृद्धि नियम और उत्पत्ति समता नियम एक निश्चित सीमा तक ही क्रियाशील होते हैं और एक प्रकार से उत्पत्ति ह्रास नियम के पूर्ववर्ती अंश हैं। वास्तव में श्रीमती राबिन्सन का कथन ठीक है कि उत्पत्ति ह्रास नियम तो एक तार्किक आवश्यकता का विषय है, किन्तु उत्पत्ति वृद्धि नियम व्यावहारिक तथ्य का विषय है।

Examine the significance of the Laws of returns in the theories of population and rent. **(Vikram 1964 M. A.)**

जनसंख्या एवं लगान के सिद्धान्तों में उत्पत्ति के नियमों के महत्व का परीक्षण कीजिए। **(विक्रम १९६४ एम० ए०)**

उत्पत्ति के नियम आर्थिक विश्लेषण में आधारभूत महत्व रखते हैं। संक्षेप में यह नियम उन प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हैं जो उत्पत्ति में नियोजित उत्पत्ति के साधनों में वृद्धि होने पर उत्पत्ति में पाई जाती हैं। सामान्यतः यदि उत्पत्ति में नियोजित साधनों की मात्रा में वृद्धि की जावे तो उसके कारण उत्पत्ति में उतनी ही या उससे अधिक या उससे कम वृद्धि होती है। इन प्रवृत्तियों को उत्पत्ति समता नियम, उत्पत्ति वृद्धि नियम और उत्पत्ति ह्रास-नियम के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

यदि उत्पत्ति के साधनों की मात्रा में वृद्धि होने पर उत्पत्ति में भी उसी नुपात में भी वृद्धि हो तो उसे उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत अध्ययन करेंगे।

ऐसी दशा में उत्पत्ति की सीमान्त और औसत लागत स्थिर रहेगी। ऐसा तभी संभव है जबकि साधनों की मात्रा में वृद्धि होने पर साधनों की कार्यक्षमता एवं उत्पादन की दशाओं में कोई परिवर्तन न हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति सामान्यतः परिपक्वता (Maturity) की अवस्था में अल्प समय के लिये पायी जा सकती है। संक्षेप में, यह एक आकस्मिक प्रवृत्ति है।

इसकी तुलना में उत्पत्ति वृद्धि नियम एक वास्तविक तथ्य है। उत्पत्ति के साधनों की मात्रा में वृद्धि करने पर उत्पादन अधिक तेजी से बढ़ता है और उत्पादन की औसत व सीमान्त लागत घटती जाती है, क्योंकि श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण एवं प्रबन्ध में सुधार के कारण साधनों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है उत्पत्ति का पैमाना बढ़ने के कारण आन्तरिक और बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं और अविभाज्य व स्थिर साधनों की क्षमता का पूर्ण उपयोग संभव होता है। इस प्रकार उद्योगों के अपरिपक्व व प्रारम्भिक विकास एवं अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। संसार की अधिकांश उत्पादन-क्रियाएँ आज भी इस श्रेणी में रखी जा सकती है। यही कारण है कि उत्पत्ति-वृद्धि-नियम को एक व्यवहारिक तथ्य कहा गया है।

उत्पत्ति-ह्रास नियम एक सर्वव्यापी और सर्वमान्य नियम है। वह एक तर्क-जनित निष्कर्ष है। यह उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र और प्रतियोगिता की प्रत्येक अवस्था में लागू हो सकता है। इस नियम के अनुसार केनेथ बोल्डिंग के शब्दों में, यदि उत्पत्ति की अन्य इकाईयों को स्थिर रखकर, किसी एक इकाई की मात्रा को जैसे-जैसे बढ़ाते हैं, उस परिवर्तनशील इकाई की भौतिक उत्पादकता क्रमशः घटती जाती है। किन्तु यह प्रवृत्ति एक सीमा के बाद ही लागू होती है। उसके पहले उत्पत्ति की वृद्धि की मात्रा में वृद्धि भी हो सकती है या स्थिरता भी पाई जा सकती है। इस प्रकार उत्पत्ति वृद्धि नियम और उत्पत्ति समता नियम उत्पत्ति ह्रास नियम के ही पूर्ववर्ती अंश हैं, और उत्पत्ति के तीनों नियम सम्मिलित रूप से उत्पत्ति ह्रास नियम को व्यापक और तर्कपूर्ण बनाते हैं।

उत्पत्ति के इन नियमों का आर्थिक विश्लेषण में आधारभूत महत्व है और आर्थिक जीवन का कोई भी पहलू इनसे अप्रभावित नहीं रहा है। सूक्ष्म और व्यापक व स्थिर एवं प्रावैगिक आर्थिक विश्लेषण के सभी घटकों को ये स्पर्श करते हैं। मांग, पूर्ति, मूल्य, बचत, विनियोग, आर्थिक विकास और जनसंख्या की सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक समस्याओं के निदान में उत्पत्ति के नियमों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। यहां हम उनके जनसंख्या और लगान के सिद्धान्तों में महत्व की चर्चा करेंगे।

उत्पत्ति के नियम और जनसंख्या के सिद्धान्त

जनसंख्या के सिद्धान्त इस बात का विवेचन करते हैं कि जनसंख्या में होने वाली वृद्धि का आर्थिक हितों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से दो सिद्धान्त अत्यन्त महत्व रखते हैं—माल्थस का सिद्धान्त और अनुकूलतम जनसंख्या का

सिद्धान्त। इन दोनों को आर्थिक साहित्य में [illegible] समझाया गया है। ये दोनों सिद्धान्त इस बात पर जोर देते हैं कि जनसंख्या आवश्यकता के रूप में उत्पत्ति के साधनों में वृद्धि करती है और उपभोक्ता के रूप में उत्पत्ति की मांग में वृद्धि करती है तथा उत्पत्ति में [illegible] है। स्पष्ट ही ऐसी दशा में यह उत्पत्ति के नियम या उत्पत्ति की प्रवृत्ति पर निर्भर करेगा कि जनसंख्या के बढ़ने पर उत्पत्ति बढ़ती है, घटती है या स्थिर रहती है।

माल्थस ने अपने जनसंख्या के सिद्धान्त में यह प्रतिपादित किया है कि जन-संख्या खाद्य सामग्री की अपेक्षा, यदि खाद्य सामग्री संख्यात्मक अनुपात में तो जनसंख्या गुणात्मक या ज्यामितीय अनुपात में अधिक तेजी से बढ़ती है और यदि जनसंख्या में वृद्धि मानवीय प्रयत्नों से नहीं रोकी गई तो पाप और प्रकोपों द्वारा प्रकृति मृत्यु दर बढ़ा कर स्वयं ही उस पर रोक लगा देगी क्योंकि जनसंख्या में वृद्धि आवश्यक रूप से जीवन निर्वाह के साधनों की उपलब्धता द्वारा सीमित होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त खाद्य सामग्री को जीवन निर्वाह के साधनों की सूचक मानकर खाद्य सामग्री के उत्पादन में वृद्धि की तुलना जनसंख्या की वृद्धि से करता है। माल्थस का यह विश्वास है कि खाद्य सामग्री का मुख्य स्रोत कृषि है और कृषि में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है। माल्थस के ही शब्दों में "जो लोग कृषि के सम्बन्ध में थोड़ा भी जानते हैं उन्हें यह स्पष्ट होगा कि कृषि के विस्तार के अनुपात में औसत उपज में जो वृद्धि होती है, वह शनैः शनैः और नियमित रूप से घटती जाती है।" इस प्रकार माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त स्पष्टतः इस मान्यता पर आधारित है कि कृषि उपज के सम्बन्ध में उत्पत्ति ह्रास नियम सक्रिय होता है और इसलिए खाद्य सामग्री के उत्पादन में जनसंख्या की अपेक्षा बहुत कम वृद्धि होती है। यद्यपि माल्थस ने उत्पत्ति ह्रास नियम को ठीक रूप से पूर्णतः समझने में भूल की और वे इस सत्य की उपेक्षा कर गये कि कृषि कला में उन्नति के कारण उपज तेजी से भी बढ़ सकती है, तथापि इस सत्य से हम इन्कार नहीं कर सकते कि माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के निरूपण में उत्पत्ति ह्रास नियम एक मूलभूत मान्यता है और उसी की नींव पर माल्थस ने पूरा विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त तो पूर्ण रूप से उत्पत्ति के नियमों के तार्किक विश्लेषण की देन कहा जा सकता है। हेनरी सिजविक की पुस्तक–प्रिंसीपल्स आफ पोलिटीकल इकानामी में इस कथन का प्रमाण मिल सकता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम माल्थस के सिद्धान्त के विरुद्ध एक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें उत्पत्ति के नियमों की कार्यशीलता पर विचार करने के उपरान्त यह बताया गया था कि उत्पादन कार्य में एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जबकि अधिकतम उत्पत्ति होती है और यह बात जिस प्रकार एक व्यक्ति के लिये सत्य सिद्ध होती है उसी प्रकार राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में भी सत्य है। एडविन केनन ने इन विचारों को त। जनसंख्या के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। केनन के शब्दों में, "किसी

दिये हुये समय पर किसी बिन्दु तक श्रम की मात्रा में वृद्धि वर्तमान अनुपात में उपज मे वृद्धि लाती है तथा उस बिन्दु के पश्चात् श्रम की मात्रा मे वृद्धि ह्रासोन्मुख अनुपात मे उपज मे वृद्धि लाने लगती है।" यह बिन्दु जिस पर अधिकतम उपज प्राप्त होती है, अनुकूलतम बिन्दु कहलाता है। इस प्रकार, राबिन्स के अनुसार, "वह जनसंख्या जिस पर अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है, अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्पत्ति-ह्रास-नियम ही अनुकूलतम जनसंख्या के विचार का आधार है।

उत्पत्ति के नियम और लगान का सिद्धान्त

उत्पत्ति के नियमों पर ही लगान के सिद्धान्तों का निरूपण आधारित है। रिकार्डो ने लगान की व्याख्या करते समय स्पष्ट रूप से उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता को लगान के उदय का कारण स्वीकार किया है। उन्ही के शब्दों में, भूमि की उत्पत्ति का वह भाग लगान कहलाता है जो कि भूमिपतियों को भूमि की मौलिक और अविनाशी शक्तियों के कारण अर्जित होता है। जब श्रम की अतिरिक्त मात्रा का प्रयोग किया जाता है और उसमे घटती हुई दर से उत्पादन बढ़ता है, तब ही लगान का उदय होता है।" रिकार्डो का लगान का विचार भूमि से सम्बन्धित है और सब भूमि के टुकड़े एक जैसे उपजाऊ नहीं होते हैं। भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ने पर यह आवश्यक हो जाता है कि कृषक कम उपजाऊ खेतों को भी काम मे लावें। यदि सब भूमि के टुकड़े एक जैसे उर्वर होते या भूमि के एक ही टुकड़े पर खेती कर सम्पूर्ण-जनसंख्या के लिए अनाज पैदा करना सम्भव होता तो लगान कदापि उदय नहीं होता। इस प्रकार रिकार्डो का लगान सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि भूमि की सीमित पूर्ति, भूमि की उर्वरता मे भिन्नता, जनसख्या मे वृद्धि ये तीनों लगान उत्पन्न करते है, किन्तु लगान उत्पत्ति ह्रास-नियम के क्रियाशील होने के कारण ही उत्पन्न होती है।

आधुनिक अर्थशास्त्री लगान के विचार को केवल भूमि के ही सम्बन्ध मे लागू न कर सभी उत्पत्ति के साधनों पर चरितार्थ करते हैं। उत्पत्ति का कोई भी साधन जिसकी पूर्ति सीमित हो और जिसकी पूर्ति माँग की तुलना मे बेलोच हो, लगान उत्पन्न करेगा। भूमि की पूर्ति प्रायः बेलोच होती है, जबकि श्रम और पूंजी आदि अन्य साधनों की पूर्ति अल्पकाली रूप से ही बेलोच होती है। यही नहीं, भूमि की भाँति ही अन्य साधनों की विभिन्न इकाईयो की उत्पादकता और कुशलता में भिन्नता होती है। इस प्रकार ये दोनों बातें लगान उत्पन्न करती है। किन्तु ये दोनों बातें उत्पत्ति ह्रास नियम को ही प्रगट करती है। अतः लगान का आधुनिक सिद्धान्त भी उत्पत्ति के नियमों की देन है।

—:—:—

१२

जनसंख्या : विश्लेषण एवं नीति

(Population : Analysis and policy)

Q. 1. "The Malthusian law of population has been so frequently refuted as to prove its validity," (Clark). Examine critically the statement and in this connection discuss the concept of optimum population.

(Agra 1960 M. Com. Indore & Vikram 1965 M. A.)

प्रश्न—माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का इतनी बार खण्डन किया गया है कि उससे उसकी पुष्टि होती है।" (क्लार्क) इस कथन की परीक्षा कीजिये और इस सम्बन्ध में "अनुकूलतम जनसंख्या" के विचार का विवेचन कीजिये।

(इन्दौर व विक्रम १९६५ एम० ए०, आगरा, एम० काम० १९६०)

Q. "Though the present generation might be prone to declare Malthus a false prophet, he was a great and original thinker of his times and certainly an architect of economic science." Comment and discuss if there is any element of truth in the Malthusian theory of Population.

(Agra 1964 M. Com.)

"यद्यपि वर्तमान पीढ़ी माल्थस को एक मिथ्या-प्रवक्ता घोषित करे तथापि वह अपने समय का एक महान् एवं मौलिक चिन्तक और निश्चयपूर्वक आर्थिक विज्ञान का निर्माता था।" टिप्पणी कीजिये और माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त में सत्यता का अंश विवेचन कीजिये।

(आगरा १९६४ एम० काम०)

उत्तर—

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त

आर्थिक विचारधारा के इतिहास में माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रो० जीड के शब्दों में, "एक शताब्दी के पश्चात् भी वाद-विवाद की यह प्रतिध्वनि समाप्त नहीं हुई है जो इस निबन्ध ने प्रारम्भ की थी।" माल्थस का यह सिद्धान्त, डेढ़ शताब्दी तक हुई टीका-टिप्पणियों, वैज्ञानिक प्रगति, जीवशास्त्र, प्रजनन-शास्त्र एवं जनसंख्या शास्त्र के अनुसंधान के बावजूद आज भी उतना ही लोकप्रिय है और आधुनिक युग में भी अर्थशास्त्रियों और समाज-शास्त्रियों की विशाल संख्या उस सिद्धान्त की सत्यता में विश्वास रखती है।

जनसंख्या की समस्यायें, मार्शल के अनुसार, सभ्यता से भी अधिक प्राचीन है।[1] जनसंख्या प्रारम्भ से ही शक्ति की प्रतीक रही है और सभी जाती, वंश, वर्ग, धर्म, राष्ट्र और राज्य जनसंख्या की वृद्धि पर जोर देते रहे। सन्तानोत्पत्ति सभ्यता के विकास की प्रतीक रही है। मनुस्मृति में कहा गया है—"मनुष्य पुत्र के द्वारा दूसरों पर विजय प्राप्त करता है पौत्र द्वारा अमरत्व का आनन्द लेता है और प्रपौत्र द्वारा सूर्यलोक प्राप्त करता है।" कुछ ऐसी ही और इसी मिलती-जुलती बातें अरस्तू प्लेटो, मूसा, कन्फ्यूशियस और अन्य प्राचीन महापुरुषों ने कही हैं। वास्तव में उस समय मानव जाति प्रगति के पथ पर थी और उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल था। यही कारण है कि प्राचीन व्यापारवादी (Mercantilist) और प्रकृतिवादी (Physiocrat) अर्थशास्त्रियों ने भी यह प्रतिपादित किया कि जनसंख्या की अधिकता लाभदायक होती है। स्ट्रेन्जलैण्ड के शब्दों में, "परन्तु उस समय साधारणतः रूप से बहुत जनसंख्या को लाभदायक समझा जाता था।" अत्यधिक जनसंख्या का कोई भय नहीं था, क्योंकि लोगों का यह विश्वास था कि जनसंख्या देश के जीविका के साधनों के द्वारा सीमित होती है।"[2] वास्तव में जनसंख्या श्रम की पूर्ति को प्रकट करती है और उत्पत्ति के साधन एवं साध्य के रूप में उसका असीम महत्व है। मनुष्य द्वारा प्रकृति पर प्राप्त की जाने वाली सफलताओं के कारण सभ्यता के उज्ज्वल भविष्य की ही कल्पना की जा सकती थी। इसीलिये उस समय के अधिकांश विचारक आशावादी थे। विलियम गाडविन और काण्डरसेट जैसे विचारक वैज्ञानिक प्रगति में बहुत अधिक आस्था रखते थे। विलियम गाडविन (William Godwin) ने अपनी पुस्तक "Political Justice" में प्रकट किया कि मनुष्य जाति एक स्वर्णयुग की ओर अग्रसर हो रही है। काण्डरसेट का विचार था कि विज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य की प्रसन्नता और तर्क-शक्ति का विकास होगा। दोनों ही का मत था कि सभ्यता का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है और जनसंख्या में वृद्धि किसी भी दशा में हानिकारक नहीं होगी।

किन्तु वास्तविक परिस्थितियाँ कुछ दूसरी ही कहानी कह रही थीं। पिछले कई वर्षों से राष्ट्र युद्धों में व्यस्त थे। भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ रहा था। खाद्यान्नों का उत्पादन कम हो रहा था। लोग कृषि-कार्यों को छोड़कर अन्य व्यवसाय अपना रहे थे। विदेशों से आयात बढ़ गये थे। मूल्य ऊँचे हो रहे थे। बेरोजगारी बढ़ रही थी। अनेक बार अकाल, दुर्भिक्ष, महामारी और प्राकृतिक प्रकोपों के कारण जनजीवन त्रस्त हो चुका था। सामाजिक असंतोष बढ़ रहा था। औद्योगिक क्रान्ति के कारण तो लोगों की निराशावादिता और भी बढ़ गई। श्रमिक और निर्धन वर्ग

---

1 The problems of population are older than civilization
—Marshall : Principles of Economics, p. 173,

2 "But a numerous population was usually regarded as advantageous, the fear of excess was never entertained in as much as it was believed that *number of people always be limited by the available means of subsistence."*
—Strange Land; Per Malthusian Doctrines.

का अत्यन्त शोषण होने लगा। समाज में गंदगी, पाप और कुरीतियाँ बढ़ गईं। माल्थस के शब्दों में, पाप (Vice) और कष्ट (Misery) सर्वव्यापी थे। साधारणतः जनजीवन पीड़ित, शोपित और निराश हो चुका था और लोगों को भय था कि कहीं सभ्यता समाप्त न हो जाय।

माल्थस के सिद्धान्त की पूर्व पीठिका—

एक ओर इस प्रकार की असन्तुष्ट मनः स्थिति और दूसरी ओर गाडविन की स्वर्ण युग की कल्पना करने वाली पुस्तक। माल्थस गाडविन के विचारों से सहमत न हो सके। माल्थस के पिता, श्री डेनियल माल्थस एक धनाढ्य और धार्मिक व्यक्ति थे। और इसलिए गाडविन के विचारों के समर्थक थे। माल्थस को गाडविन की पुस्तक एक चुनौती लगी और परिणाम स्वरूप उसके प्रत्युत्तर में सन् १७९८ में उन्होने 'अनाम' के नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की—एन एस्से आन दी प्रिन्सिपल आफ पापूलेशन इज इट अफेक्टट्स दी फ्यूचर इम्प्रूवमेंट आफ सोसाइटी (An Essay on the Principle of Population as it affects the Future Improvment of Society)। किन्तु माल्थस को इसके लिखने से ही सन्तोष नहीं हुआ। अपने विषय के अधिक स्पष्ट प्रतिपादन के लिए अधिक अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। बाद के चार वर्षों में उन्होंये यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों का भ्रमण किया, लोगों से वातचीत की, सूचनायें इकट्ठी कीं और अन्त में आकर १८०३ में उन्होंने अपनी पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित किया। इस बार उन्होंने पुस्तक पर अपना पूरा नाम, थामस राबर्ट माल्थस प्रकाशित किया और

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त

भूमिका–(१) प्राचीन, धार्मिक एवं नैतिक दृष्टिकोण तथा व्यापारवादी-प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों द्वारा जनसंख्या-वृद्धि का समर्थन

(२) गाडविन की पुस्तक "पोलिटिकल जस्टिस" और काण्डरसेट के अत्यन्त आशावादी एवं विकासवादी विचार

(३) औद्योगिक क्रान्ति, फ्रांसीसी क्रान्ति, तीव्र जनसंख्या वृद्धि, युद्ध दुर्भिक्ष, महामारी एवं खाद्यान्नों की कमी तथा सामाजिक असंतोष

(४) माल्थस (१७६६–१८३४)

१७८८ में केंब्रिज से बी० ए० (आनर्स) और पादरी का कार्य प्रारम्भ

१७९८ में 'अनाम' के नाम से एन एस्से आन दी प्रिंसिपल आफ दी पापूलेशन एज इट अफेक्ट्स दी फ्यूचर इम्प्रूवमेंट आफ सोसाइटी का प्रकाशन

१७९९–१८०२ योरोपीय देशों

का भ्रमण

१८०३ में इसी पुस्तक का द्वितीय संस्करण—एस्से आन दी प्रिंसिपल आफ पापूलेशन आर ए व्यू आफ इट्स पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट इफेक्ट्स आॅन ह्यूमन हेपीनेस

१८०७ से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कालेज में अर्थशास्त्र और इतिहास के प्राध्यापक तथा अपने निबन्ध के चार संस्करणों का प्रकाशन

सिद्धान्त की मूल बातें—

(१) जनसंख्या की वृद्धि आवश्यक रूप से जीवन निर्वाह के साधनों की उपलब्धता पर निर्भर होती है।

(२) जनसंख्या में वृद्धि—

(अ) मनुष्य की इन्द्रिय-लोलुपता यथा स्थिर है।

(ब) इन्द्रिय-लोलुपता और सतानोत्पत्ति में प्रत्यक्ष संबंध है।

(स) आर्थिक सम्पन्नता और संतानोत्पत्ति में धनात्मक सम्बंध है।

(द) जनसंख्या में ज्यामितिक वृद्धि होती है और जनसंख्या २५ वर्षों में दूनी हो जाती है।

(३) खाद्य-सामग्री में वृद्धि—

(अ) खाद्य-सामग्री के उत्पादन में ह्रास नियम क्रियाशील

उसका शीर्षक भी बदल दिया। बाद में इसी पुस्तक के, उनके जीवन काल में ही, चार संस्करण और प्रकाशित हुए। पुस्तक का नवीन नाम था—"Essay on the Principle of Poulation or a view of its Past and Present Effects on the human Happiness." इसमें उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पुस्तक किस प्रकार प्रकाशित हुई। अपनी पुस्तक के प्रथम संस्करण में उन्होंने लिखा—"यह पुस्तक उनके एक मित्र के साथ गाडविन की पुस्तक और उसके तत्वों पर हुई चर्चा का परिणाम है। चर्चा यहाँ से प्रारम्भ हुई कि समाज में सुधार होने की क्या सम्भावनायें हैं......।"[1] इस प्रकार माल्थस ने अपने सिद्धान्त मे इस विषय पर विचार प्रकट किये हैं कि सभ्यता का भविष्य कैसा है और मानव सुख को जनसंख्या ने भूतकाल और वर्तमान में किस प्रकार से प्रभावित किया है। उनका यह सिद्धान्त केवल माल्थस के विचारों का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता वरन् उस समय के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभावों, दृष्टिकोणों और आदर्शों को भी प्रकट करता है। माल्थस ने जो विश्लेषण और विचार प्रस्तुत किये है, वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

1 Thomas Robert Malthus : Essay on population, Preface.

होता है।

(ब) खाद्य-सामग्री में संख्यात्मक वृद्धि होती है।

(स) जनसंख्या में वृद्धि की तुलना में खाद्य सामग्री में धीरे-धीरे वृद्धि होती है।

(४) असन्तुलन—प्रकृति के नियम के अनुसार जनसंख्या और खाद्य—सामग्री में संतुलन होना अनिवार्य है। इस सन्तुलन के खंडित होने का परिणाम है—पाप, कष्ट और प्राकृतिक प्रकोप।

(५) सन्तुलन—भूतकाल में भी जनसंख्या खाद्य सामग्री की तुलना में तेजी से बढ़ी है और भविष्य में भी ऐसी ही संभावना है। किन्तु इस असन्तुलन पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध लागू होते हैं, जो जनसंख्या की वृद्धि की गति शिथिल कर देते हैं :—

१. नैसर्गिक या प्राकृतिक प्रतिबंध
२. मानवीय या निवारक प्रतिबन्ध

(६) निष्कर्ष—यदि मनुष्य ने विरोधात्मक उपायों द्वारा इस असंतुलन को नहीं रोका तो प्रकृति स्वयं इस प्रतिवृद्धि को देगी। अतः सभ्यता का भविष्य निराशाजनक है, क्योंकि आत्मसंयम अत्यन्त कठिन है।

इसीलिये प्रोफेसर जीड तो माल्थस को जनसंख्या-विज्ञान के संस्थापक (Founder of Demographic Science) मानते हैं। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उनके निबन्ध को एडम-स्मिथ की पुस्तक "An Enquiry into the Nature and causes of wealth of Nations" का प्रत्युत्तर माना जाता है और जेम्स बोनर कहते हैं कि उन्हें अपनी पुस्तक का नाम An Essay on the Causes of Poverty of Nations रखना चाहिये था। वास्तव में माल्थस का निबन्ध आर्थिक विचारधारा की दृष्टि से अत्यन्त क्रान्तिकारी था और उसने एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया है।

माल्थस का जनसंख्या-सिद्धान्त—उसके मूल विचार :—माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त यह बतलाता है कि जनसंख्या की वृद्धि आवश्यक रूप से जीवन-निर्वाह के साधनों की उपलब्धता पर निर्भर होती है। किन्तु प्रत्येक देश की जनसंख्या खाद्य-सामग्री की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ने की प्रवृति रखती है, क्योंकि जनसंख्या में गुणात्मक और खाद्य-सामग्री में संख्यात्मक वृद्धि होती है। भूतकाल में और वर्तमान में भी जनसंख्या खाद्य-सामग्री की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ी है, किन्तु इस तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या को यदि आत्मसंयम, और अन्य मानवीय निरोधों द्वारा नहीं रोका गया तो प्रकृति स्वयं ही दुर्भिक्ष, युद्ध, महामारी

दि प्राकृतिक अवरोधों द्वारा जनसंख्या की वृद्धि की गति को शिथिल कर ी है।

माल्थस के सिद्धान्त का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर हमें निम्नलिखित न विचार प्राप्त होते हैं—

(१) माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि जन ख्या की वृद्धि आवश्यक रूप से जीवन-निर्वाह के साधनों (Means of Subsista-ce) की उपलब्धता पर निर्भर होती है। वास्तव में उस समय के अधिकांश लोगों ा यह विश्वास था कि जनसंख्या, हमेशा उपलब्ध जीवन-निर्वाह के साधनों द्वारा ोमित होती है। किसी स्थान पर उतने ही मनुष्य रह सकते हैं जितनों को वहां ोवन-निर्वाह के साधन मिल सकते हैं। अतः यदि जीवन-निर्वाह के साधन उपलब्ध तो जनसंख्या की वृद्धि सम्भव है और जीवन-निर्वाह के साधनों में वृद्धि होने पर, दि शक्तिशाली और सचेत अंकुश नहीं लगाये गये तो जनसंख्या भी बढ़ जाएगी। ाल्थस के ही शब्दों में—'प्रकृति ने मेज को अतिथियों की सीमित संख्या के लिये ी लगाया है, अनिमंत्रित आने वालों को भूखा मरना होगा।"[1]

(२) माल्थस ने जनसंख्या में वृद्धि के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये हैं, वे नम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :—

(अ) मनुष्यों में तीव्र एवं स्थिर काम-वृत्ति या इन्द्रिय-लोलुपता (Sexual rge) होती है। माल्थस का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य में काम-वृत्ति या इन्द्रिय-ोलुपता कूट-कूट कर भरी हुई होती है। यह काम-वृत्ति अदमनीय होती है और थायिस्थिर विद्यमान होती है।

(ब) इस प्रकार, माल्थस मानते हैं, मनुष्य में सन्तान उत्पन्न करने की अपार ाक्ति है। अर्थात् उनके अनुसार सन्तानोत्पत्ति और काम-वृत्ति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और काम-वृत्ति की इच्छा (Desire for Sex) और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा (Desire for Children) में कोई फर्क नहीं है। काम-वृत्ति की भाँति सन्तानोत्पत्ति की इच्छा भी स्थिर रहती है और इससे जनसंख्या में तीव्रता से वृद्धि होती है।

(स) माल्थस यह भी मानते हैं कि जीवन-स्तर और जनसंख्या में सीधा धनात्मक सम्बन्ध है और जीवन स्तर बढ़ने पर मनुष्य की सन्तानोत्पादन की इच्छा भी बढ़ती है और उसके घटने पर घटती है।

(द) जनसंख्या में, इसलिए, अत्यन्त तीव्रता से वृद्धि होती है। माल्थस के ही शब्दों में, 'यह सुरक्षित रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है कि जनसंख्या, किसी रोक के अभाव में, प्रत्येक पच्चीस वर्षों में दुगुनी हो जाती है या ज्यामितिक अनुपात

1. "The table of nature is laid for limited number of guests, those who come uninvited must starve."

—T. R. Malthus : Essays On Population.

में बढ़ती है।"[1] माल्थस का अनुमान था कि विवाहित स्त्री-पुरुष कम-से-कम बच्चों को जन्म देते हैं जिनमें से दो मर जाते हैं, या विवाह ही नहीं करते या सन्तान-जनन के योग्य नहीं रहते हैं। इस प्रकार दो प्राणी (स्त्री-पुरुष) मिलकर ऐसे बच्चों को जन्म देते हैं जो आगे चलकर माँ-बाप बनते हैं। इस प्रकार जनसं पच्चीस वर्षों में दुगुनी हो जाती है और १:२:४:८:१६:३२:६४:१२८ के अनुपात बढ़ती है।

(३) खाद्य-सामग्री में वृद्धि के सम्बन्ध में माल्थस के विचार इस प्रकार थे

(अ) खाद्य-सामग्री से माल्थस का अभिप्राय: कृषि उपज से था और उन मान्यता थी कि कृषि-उपज घटती दर से प्राप्त होती है। इन्हीं के शब्दों में, " लोग कृषि के सम्बन्ध में थोड़ा भी जानते हैं उन्हें यह स्पष्ट होगा कि कृषि विस्तार के अनुपात में औसत उपज में जो वार्षिक वृद्धि होती है, वह शनैः शनैः नियमित रूप से घटती जाती है।"[2]

(ब) खाद्य-सामग्री और जीवन निर्वाह के साधनों में, इसलिए, संख्यात (arithmetical) अनुपात से अधिक वृद्धि सम्भव नहीं है। खाद्य-सामग्री में, उत की श्रेष्ठ दशाओं में भी, १:२:३:४:५:६:७:८ के अनुपात में ही वृद्धि सम्भव माल्थस कहते हैं—"यह प्रतिपादन उचित ही होगा कि पृथ्वी की वर्तमान अव पर विचार करते हुये, मानव-उद्योग के लिये अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों में जीवन निर्वाह के साधनों को एक समानान्तर अनुपात से अधिक तेजी से बढ़ सम्भव नहीं हो सकेगा।"[3]

(स) इस प्रकार माल्थस का यह मानना अत्यन्त ठीक है कि जनसंख्या-वृ की तुलना में खाद्य-सामग्री में धीरे-धीरे वृद्धि होती है। "पृथ्वी की मनुष्य के निव उत्पन्न करने की शक्ति," माल्थस के अनुसार, "की अपेक्षा जनसंख्या की शक्ति अ श्चित रूप से अधिक है। जनसंख्या, यदि रोकी न गई, तो ज्यामितिक या गुणात अनुपात में बढ़ती है और निर्वाह-साधन संख्यात्मक या समानान्तर अनुपात

---

1. "It may safely be pronounced, therefore, that population, wh unchecked, goes on doubling itself every twenty five years, or increases in geometrical ratio." —Ib

2. "It must be evident to those, who have the slightest acquaintan with agricultural subjects, that in proportion as cultivation is extended, t additions that could yearly be made to the former average produce must gradually and regularly diminishing." —Malthu

3. "It my be fairly pronounced, therefore, that, considering the prese average state of the earth, the means of subsistence under circumstances the most favourable to human industry, could not possible be made to increase faster than in an arithmetical ratio."

—Malthus : Essays on the Principle of Population.

बढ़ते हैं।"

वे और भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि, "जनसंख्या, रोक के अभाव में, ज्यामितिक वृद्धि से बढ़ती है जबकि खाद्य-सामग्री केवल समानान्तर वृद्धि से बढ़ती है अर्थात् जनसंख्या में वृद्धि, जब तक कि यह अन्य शक्तियों द्वारा सीमित न कर दी गई हो, देश में बढ़ने वाली खाद्य-सामग्री की अपेक्षा बहुत तेजी से होती है।"[1] उदाहरण के लिये यह वृद्धि इस प्रकार होती है—

जनसंख्या	१ : २ : ४ : ८ : १६ : ३२ : ६४ : १२८ : २५६
खाद्य-सामग्री	१ : २ : ३ : ४ : ५ : ६ : ७ : ८ : ९

इस प्रकार थोड़े ही समय में जनसंख्या खाद्य उत्पादन से बहुत आगे निकल जाती है। यद्यपि पुस्तक के दूसरे संस्करण में माल्थस ने स्वीकार किया है कि यह केवल इस बात का उदाहरण है कि जनसंख्या खाद्य-सामग्री की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ती है।

(४) जनसंख्या में खाद्य सामग्री की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होने के कारण असंतुलन उत्पन्न होता है। प्रकृति के नियम (Law of Nature) द्वारा, जिसने मनुष्य जीवन के लिए भोजन को आवश्यक बनाया है, इन दोनों शक्तियों को बराबर रखना आवश्यक है। समस्त जनसंख्या को खाद्य-सामग्री और जीवन-निर्वाह के न्यूनतम साधन उपलब्ध होना आवश्यक है यदि ऐसा न हुआ और खाद्य सामग्री और जनसंख्या के बीच संतुलन खंडित हो गया तो मृत्यु दर बढ जाएगी, बाढ, दुर्भिक्ष महामारी, युद्ध, हत्या, लूट-मार आदि पाप (Vice) और कष्ट (Miseries) बढ़ जायेंगे।

(५) माल्थस बतलाते हैं कि भूतकाल और वर्तमान में जनसंख्या खाद्य-सामग्री की तुलना में अत्यधिक तेजी से बढ़ी है और भविष्य में भी ऐसी ही सम्भावना है किन्तु इस तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध लागू होते हैं जो इसकी वृद्धि की गति शिथिल कर देते हैं—

(अ) नैसर्गिक या प्राकृतिक प्रतिबन्ध (Natural or Positive checks)

(ब) निरोधक या मानवीय प्रतिबन्ध (Preventive or Artificial checks)

प्रथम प्रकार के प्रतिबन्ध प्रकृति द्वारा लगाये जाते हैं और इनके द्वारा समाज में मृत्यु दर बढ़ जाती है। ये दुर्भिक्ष, महामारी, भुखमरी, युद्ध, बाढ़ और इसी प्रकार के अन्य प्राकृतिक प्रकोपों के रूप में होते हैं। माल्थस ने इन्हें कष्ट (Miseries) का नाम दिया है। यदि जनसंख्या के लिये पर्याप्त खाद्य सामग्री नहीं होती है तो

1. "The power of population is indefinitely greater than the power of the earth to produce subsistence for men, population, when unchecked, increases in a geometrical ratio and subsistence in an arithmetical ratio. —Ibid

प्राकृतिक प्रतिबन्धों द्वारा जनसंख्या स्वतः घट जाती है। माल्थस का कहना है कि—

"A man who is born into a world already possessed, if he can not get subsistence from his parents on whom he is a just demand, and if the society does not want his labour, has no claim of right to the smallest portion of food, and in fact, has no business to be where he is. At nature's mighty feast there is no vaccant cover for him. She tells him to be gone."

स्पष्ट है कि प्रकृति द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध अत्यन्त ही वीभत्स तथा भयानक होते हैं।

अतः माल्थस ने यह सुझाव दिया है कि मनुष्य को ही ऐसे उपाय काम में लाना चाहिये जिससे जनसंख्या में अधिक वृद्धि न हो। इन्हें उसने निरोधक या मानवीय प्रतिबन्ध कहा है और इनका उद्देश्य जन्म-दर घटाना होता है। इन प्रतिबन्धों को माल्थस ने दो भागों में बांटा है—आत्मसंयम (Moral Restraint) और पाप (Vice) आत्मसंयम (Self-Restraint) से माल्थस का आशय ब्रह्मचर्य, देरी से विवाह और संयम के पालन से है। वे कहते हैं:—

"By moral restraint, I would be understood to mean a restraint from marriage, from prudential motives with a conduct strictly moral during the period of restraint."

इस प्रकार वे देरी से विवाह या ब्रह्मचर्य के पक्षपाती थे, किन्तु वैश्यागमन से सहमत नहीं थे। पाप या Vice के अन्तर्गत माल्थस उन उपायों को सम्मिलित करते हैं जिनसे सन्तानोत्पत्ति रोकी जा सके। गर्भपात, मिश्रित समागम, तथा गर्भ निरोधक विधियों के प्रयोग आदि को वे पाप और बुराई मानते थे। उन्होंने इनका विरोध किया—

"Indeed I would always particularly reprotate any artificial and unnatural modes of checking population."

इस प्रकार माल्थस ने बतलाया—"एक देश अथवा विभिन्न देशों में जनसंख्या पर जो प्रतिबन्ध लागू होते देखे गये हैं उन्हें संयम (Moral Restraint): पाप (Vice) और कष्ट (Miseries) में विभाजित किया जा सकता और यदि हमें इन्हीं में से किसी को चुनना है तो शायद हमें यह निश्चय करते देर नहीं लगेगी कि हमारे लिए इनमें से कौन सबसे अच्छा है।" माल्थस ने अपनी पुस्तक के द्वितीय संस्करण में लिखा है—"इस लेख के प्रथम संस्करण में मेंने यह बतलाया था कि प्रकृति के नियम यह आवश्यक कर देते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि पर कोई न कोई रोक अवश्य होनी चाहिये। उत्तम तो यह है कि ऐसी रोक परिवार पर बढ़ने वाली परेशानियों व निर्धनता की विवशता से नहीं, वरन् इनसे बचने की दूरदर्शिता के विचार से मनुष्य स्वयं अपनी इच्छा से लगाये। ईसाइयों से मेरा कहना है कि धर्म ग्रंथ हमारे कर्तव्य के रूप

में हमें यह स्पष्ट निर्देश दे रहे हैं कि हमें अपनी वासनाओं को विवेक की सीमाओं में नियन्त्रित रखना चाहिये । यदि हम अपनी वासनाओं की पूर्ति इस ढंग से करते हैं जिसके बारे में हमारा विवेक बतलाता है कि वह हमें अनिवार्य कष्टों में ढकेल देगा तो ऐसा करना उक्त नियम का तिरस्कार करना ही है ।"[1]

माल्थस के जनसंख्या-सिद्धान्त का, इस प्रकार, निष्कर्ष यही है कि यदि मनुष्य ने अपने प्रयत्नों से जनसंख्या-वृद्धि पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया तो पाप और कष्ट बढ़ जायेंगे तथा प्राकृतिक आपत्तियों द्वारा सभ्यता का संहार हो जायगा। माल्थस इस प्रकार सभ्यता के भविष्य के प्रति आशावादी नहीं थे और उनका मत था कि सभ्यता केवल संयमित आचरण के द्वारा ही उन्नति कर सकती है । उनका विचार था कि निर्धनता और पतन का कारण जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि है ।

डा० अलकेंद्र मार्शल माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त को श्रम की माग और पूर्ति के संतुलन की सहायता से समझाते हैं । श्रम की मांग खाद्य-सामग्री की उपलब्ध मात्रा द्वारा निर्धारित होती है, और श्रम की पूर्ति जनसंख्या द्वारा होती है । श्रम की पूर्ति में वृद्धि होने पर श्रम की मांग मे भी वृद्धि होनी चाहिये । किन्तु श्रम की पूर्ति में श्रम की मांग की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होने के कारण यह संतुलन खण्डित हो जाता है । यदि मनुष्यों ने निरोधक उपायों द्वारा पूर्ति पर रोक न लगाई तो प्रकृति स्वयं इस पूर्ति को प्राकृतिक प्रकोपों द्वारा कम कर देगी । किसी देश में प्राकृतिक प्रतिबन्धों की उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि वहां जनाधिक्य है और इस जनाधिक्य पर नियन्त्रण होना ही चाहिये ।

माल्थस के जनसंख्या-सिद्धान्त की आलोचना—

माल्थस ने जनसंख्या के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये हैं, उनकी अत्यन्त जमकर आलोचना हुई है । प्रो० ग्रे के शब्दों में, "अभी तक किसी भी सम्माननीय नागरिक की इतनी बदनामी और आलोचना नहीं हुई है जितनी कि माल्थस की हुई है । प्रथम श्रेणी के लेखकों में भी माल्थस के बराबर घोर आलोचना का विषय कोई नहीं हुआ है ।"[2] उनकी इस कदर आलोचना का कारण यह था कि वह एक पादरी था और उसको परम्परा गत मान्यताओं के विपरीत सुनने को लोग

माल्थस के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ

(१) जनसंख्या की वृद्धि जीवन-निर्वाह के साधनों पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर नहीं है ।

(२) मनुष्य में काम-वृत्ति सदा स्थिर नहीं है ।

(३) कामवृत्ति और सन्तानोत्पत्ति का

1. Malthus T. R., Essay on the principle of population, 2nd edition.
2. "No respectable citizen has ever been so vilified and abused as Malthus, no writer of the first magnitude has been so often refuted." —Prof. Gray.

तैयार नहीं थे। उसने गाडविन के विचारों का, जो प्राचीन मान्यताओं और वैज्ञानिक उन्नति के अनुरूप सभ्यता के उज्ज्वल भविष्य पर जोर देते थे, विरोध किया था। गाडविन ने उसके विचारों का खण्डन किया और कहा कि "वह काला और भयानक राक्षस मानवता की आशाओं का संहार करने के लिए हमेशा तैयार है।"[1] फिर, लोगों का ध्यान जब जनसंख्या की समस्या की ओर आकृष्ट हुआ और इस सम्बन्ध में उनका अध्ययन अधिक विस्तृत और पूर्ण होने लगा तो उन्हें माल्थस के सिद्धान्त में अनेक दोष दिखलाई देने लगे। माल्थस के प्रत्येक कथन की लोगों ने कटु आलोचना की है। फिर भी बहुत से अर्थशास्त्रियों ने तथा समाज-सुधारकों ने उसके विचारों का समर्थन किया है और उसके प्रतिपादन की प्रशंसा की है। कोसा (Cossa), मार्शल (Marshall), टाजिग (Taussing), ऐली (Ely), पेटन (Patten), कारवर (Carver), प्राइस (Price), वोल्फ (Wolf), वाकर (Walker) और क्लार्क (Clark) आदि विद्वानों ने माल्थस के महत्व को स्वीकार किया है, किन्तु केनन (Cannan), निकलसन (Nicholson), माम्बर्ट (Mombort), इनग्राम और ओप-

प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है और वे अलग-अलग हैं।

(४) जीवन स्तर के बढ़ने पर सन्तानोत्पत्ति बढ़ती नहीं है, उनमें घनात्मक सम्बन्ध नहीं है।

(५) जनसंख्या में ज्यामितीक अनुपात से वृद्धि नहीं होती है। जनसंख्या २५ वर्षों में दूनी भी नहीं होती है।

(६) उत्पत्ति-ह्रास नियम को ठीक नहीं समझा है।

(७) खाद्य-सामग्री में संख्यात्मक वृद्धि की धारणा गलत है।

(८) माल्थस ने जनसंख्या और कृषि में सम्बन्ध स्थापित किया है।

(९) अनुभव द्वारा माल्थस के विचारों की पुष्टि नहीं होती है।

(१०) माल्थस ने जीव-विज्ञान को गलत समझा था।

(११) प्राकृतिक प्रतिबन्ध और कारणों से भी सम्भव है।

(१२) श्रम केवल साध्य ही नहीं साधन भी है।

(१३) जनसंख्या निर्धनता का कारण नहीं है।

(१४) उसका सिद्धान्त दीर्घकालिक है।

(१५) उसमें आगमन प्रणाली का उपयोग करते हुये सावधानी नहीं बरती।

(१६) जनसंख्या की समस्या केवल

1. "That black and terrible demon, that is always ready to strife the hopes of humanity." —Godwin.

नहम आदि ने इनके विचारों की आलोचना की है।

(१) माल्थस के सिद्धान्त की आलोचना यही से प्रारम्भ होती है कि उसका यह कहना गलत है कि जनसंख्या मे वृद्धि जीवन निर्वाह के साधनों की उपलब्धता पर निर्भर होती है।

आकार की ही नहीं, वरन् कुशल उत्पादन और न्यायोचित वितरण की भी है।
(१७) माल्थस की सिफारिशें अव्यवहारिक हैं।
(१८) जनसंख्या की समस्या सामाजिक उद्देश्यों की समस्या है।

आलोचकों का कहना है कि जनसंख्या मे वृद्धि का जीवन-निर्वाह के साधनों की उपलब्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों दो स्वतन्त्र बातें हैं। वास्तव मे माल्थस ने मानवता के विकास को गलत समझा है। जनसंख्या अपनी जीविका के साधनों को खुद ही खोजती और प्राप्त करती है। साधन उपलब्ध हो या न हो, जनसंख्या में होने वाली वृद्धि उसकी प्रतीक्षा नहीं करती।

(२) इसी प्रकार, माल्थस का यह कहना कि मनुष्यों में स्थिर रूप से तीव्र काम-वृत्ति होती है, काम-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान और वास्तविक अनुभवों के विपरीत है। मनुष्यों में काम वृत्ति न तो सदा स्थिर होती है और न हमेशा ही तीव्र होती है। काम-वृत्ति मनुष्य की आयु, स्वास्थ्य, वातावरण और मानसिक दशा के अनुसार बदलती रहती है।

(३) फिर, माल्थस की यह मान्यता भी ठीक नहीं है कि मनुष्य की काम-वृत्ति और सन्तानोत्पत्ति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। माल्थस कामेच्छा (Desire for sex) और सन्तानेच्छा (Desire for children) में कोई अन्तर नहीं मानते हैं, किन्तु वास्तव में ये दो पृथक-पृथक इच्छायें हैं और दोनों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। आलोचकों का कहना है कि सम्भोग की इच्छा एक प्राकृतिक इच्छा है और इसके विपरीत सन्तानेच्छा सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परम्पराओं पर आधारित एक कोमल भावना है। फिर यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक काम-वृत्ति का परिणाम सन्तानोत्पत्ति हो।

(४) चौथे, माल्थस की यह धारणा भी उचित नहीं है कि जीवन-स्तर बढ़ने पर सन्तानोत्पत्ति भी बढ़ती है, क्योंकि अनुभव यह बतलाता है, जैसा कि माम्बर्ट (Mombert) ने कहा, कि आरामदायक वस्तुयें तथा मनुष्य की समृद्धि जनसंख्या को रोकने में अच्छा कार्य करती है। मनुष्य का जीवन-स्तर बढ़ने पर जन्मदर घटती है क्योंकि मनुष्य की सन्तानोत्पत्ति की इच्छा भी घट जाती है। मनुष्य का आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और मानसिक विकास उसकी सन्तानोत्पत्ति की इच्छा को कम कर देता और मनुष्य का अपना स्तर कायम रखने के लिये देरी से विवाह करने या विवाहोपरान्त कम बच्चे उत्पन्न करने के लिये प्रेरित होता है। 'एक बच्चे या एक कार' (a baby or a car) में से ऐसे लोग कार को अधिक पसन्द करते हैं।

इस प्रकार, माल्थस की यह मान्यता यथार्थ और सत्य के विपरीत है कि जीवन-स्तर बढ़ने पर सन्तानोत्पत्ति भी बढ़ती है। सच तो यह है कि जीवन-स्तर घटने पर ही सन्तानोत्पत्ति में वृद्धि होती है, क्योंकि हीन जीवन-स्तर काम-वृत्ति और सन्तानेच्छा दोनों को ही बढ़ा देता है; जिससे कि अधिक सन्तान द्वारा वे अपनी आय बढ़ा सकें।

(५) पाचवें, माल्थस का यह प्रतिपादन भी त्रुटिपूर्ण है कि जनसंख्या की ज्यामितीय अनुपात में वृद्धि होती है और वह पच्चीस वर्षों में दुगुनी होने की प्रवृत्ति रखती है। आलोचकों का कहना है कि माल्थस अत्यन्त निराशावादी हो गया है और उसने होने वाले परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया है जनसंख्या सम्बन्धी आंकड़े उसकी इस धारणा की पुष्टि नहीं करते हैं। फिर, उसकी यह धारणा इस बात पर आधारित है कि एक विवाहित स्त्री-पुरुष छः सन्तानें, जिनमें से चार सन्तानें सन्तानोत्पत्ति में पुनः प्रवृत्त होती हैं, उत्पन्न करते है। माल्थस की यह धारणा भी उचित नहीं है। अन्त में माल्थस ने कहा कि जनसंख्या २५ वर्षों में दूनी हो जाती है। उनकी यह धारणा भी उचित नहीं है, पच्चीस वर्ष में कहीं भी न तो जनसंख्या दूनी हुई है और न हो सकती है। एक पूरी पीढ़ी को बढ़ने में पच्चीस वर्ष से अधिक समय ही लगेगा। प्रो० हक्सले का मत है कि जन्म दर जितनी अधिक होगी मृत्यु दर भी उतनी ही अधिक होती है। अतः जनसंख्या में ज्यामितीय वृद्धि तो असम्भव है।

(६) माल्थस ने उत्पत्ति के घटने की प्रवृत्ति को ठीक-ठीक नहीं समझा। कृषिकला में उन्नति होने पर उपज बहुत तेजी से बढ़ सकती है तथा श्रम और पूंजी की मात्रा बढ़ा कर, जो उपज में वृद्धि होती है उसका हमेशा ही घटना सम्भव नहीं है। वास्तव में माल्थस ने इस तथ्य की उपेक्षा की।

(७) फिर, इसलिए उनकी यह धारणा भी सही नहीं निकली कि खाद्य-सामग्री गणितीय, संख्यात्मक या समानान्तर (arithmati) अनुपात में बढ़ती है। वास्तव में खाद्य-सामग्री में इससे भी अधिक गति से वृद्धि होती है और वैज्ञानिक रीतियों एवं साधनों का प्रयोग कर इस गति को और भी बढ़ाया जा सकता है वास्तव में माल्थस का यह दृष्टिकोण अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है।

(८) फिर माल्थस ने केवल कृषि उपज पर ही विचार किया है खाद्य-सामग्री में यद्यपि कृषि-उपज प्रमुख होती है, लेकिन वही सब कुछ नहीं होती। आलोचकों का मत है कि अनेक ऐसी वस्तुयें भी हैं जो कृषि से प्राप्त नहीं होती, किन्तु जनसंख्या की खाद्य-सामग्री हैं। दूसरे यह कि केवल खाद्य-सामग्री पर विचार करना भी त्रुटिपूर्ण है। अनेक देशों में, जहाँ दूसरी वस्तुओं का बहुतायत में उत्पादन होता है, विदेशों से खाद्य-सामग्री आयात की जा सकती है। अनेक ऐसे देश हैं जहां कृषि-उत्पादन कम होते हुए भी विशाल जनसंख्या सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर

रही है। यही नहीं, वरन्, आज तो वे ही राष्ट्र समृद्ध और सुखी है जहाँ औद्योगीकरण हो चुका है।

(९) वास्तव में अनुभव द्वारा माल्थस के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है और उसकी भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध हुई हैं। प्रो० जीड और रीस्ट के शब्दों में, "इतिहास ने निश्चय ही उसके भय की पुष्टि नही की है। किसी भी देश ने ऐसा प्रगट नहीं किया कि वह जनाधिक्य से ग्रस्त है। कुछ मामलो में, उदाहरणार्थ फ्रांस में, जनसंख्या बहुत धीरे बढी है। बाकी मामलों में, वृद्धि अवश्य ही विचारणीय हुई किन्तु कही भी यह धन वृद्धि को पार कर पाई है।"[1] ससार के सभी राष्ट्रों मे जनसंख्या तो बढी हो है, उनकी आय, रहन-सहन का स्तर तथा समृद्धि मे भी वृद्धि हुई है।

(१०) माल्थस के त्रुटिपूर्ण निकर्षों का कारण यह है कि उन्होने प्राणिशास्त्र या जीवविज्ञान को गलत समझा। जीव-विज्ञान न तो कभी यह बतलाता है कि सन्तानोत्पत्ति काम वृत्ति के कारण होती ही है और न वह यही बतलाता है कि जीवन-स्तर मे वृद्धि होने पर उसकी गति बढती है। जीव-विज्ञान यह भी स्वीकार नही करता है कि जनसंख्या ज्यामितीय अनुपात मे बढती है। पर्ल के अनुसार वह एक लाजिस्टीक वक्र (Logistic Curve) में बढ़ती है। हक्सले कहते है कि यदि जन्म दर अधिक हो तो मृत्यु दर भी अधिक होती है।

(११) प्राकृतिक प्रतिबन्धों (Positive Checks) के सम्बन्ध मे भी माल्थस के विचार आलोचना के विषय बने हुए हैं। उनका विचार था कि किसी देश मे प्राकृतिक या नैसर्गिक प्रतिबन्धों की कार्यशीलता जनाधिक्य की सूचक होती है, किन्तु सच तो यह है कि अकाल, बाढ़, युद्ध महामारी और बेकारी आदि नैसर्गिक प्रतिबन्ध अन्य कई कारणो से भी हो सकते है। सच तो यह है कि जनसंख्या कम होते हुए भी देश में नैसर्गिक प्रतिबन्ध कार्यशील हों।

(१२) माल्थस ने, केनन के अनुसार, यह समझने मे भूल की है कि जो भी बच्चा इस ससार मे पैदा होता है, वह खाने के लिए मुंह लेकर ही आता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि वह काम करने के लिए दो हाथ भी साथ लाता है। जनसंख्या मे वृद्धि के साथ श्रमिकों की सख्या मे वृद्धि होती है, श्रमिको की अधिक सख्या से उत्पत्ति में वृद्धि होती है। इस प्रकार, जनसंख्या या श्रम की पूर्ति उत्पत्ति की साध्य ही नहीं साधन भी है।

(१३) इसलिए माल्थस का यह कहना गलत है कि देश की जनसंख्या मे वृद्धि निर्धनता का कारण होती है। किन्तु जैसा कि मार्क्सवादी विचारको का मत है, जनाधिक्य निर्धनता का कारण नही है। उत्पादन के साधनो का पूर्ण विदोहन न होना है, सम्पत्ति और आय का असमान वितरण होना और सरकार की नीति के कारण निर्धनता मे वृद्धि होती है, न कि जनसख्या मे वृद्धि के कारण।

1. Gide and Rist: History of Economic Thought.

(१४) माल्थस का सिद्धान्त एक दीर्घकालीन सिद्धान्त है और उन्होंने संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया है। माल्थस ने स्थैतिक अवस्था का अध्ययन किया है जबकि जनसंख्या प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रवैगिक या परिवर्तनशील मात्रा है। इस प्रकार माल्थस ने अपने विचारों का प्रतिपादन यथोचित ढंग से नहीं किया है।

(१५) इसी प्रकार माल्थस ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अध्ययन की आगमन प्रणाली को ग्रहण किया है, किन्तु उनका निरीक्षण कुछ देशों के कुछ काल तक के अध्ययन तक सीमित है, उन्होंने गलत मान्यताओं पर अपने निष्कर्ष आधारित किये हैं और ऐसे निष्कर्षों पर अपने विचार बनाये हैं जो अपूर्ण, अप्रासगिक एवं अवांछनीय हैं। शायद यही कारण है कि अनुभव ने इस प्रणाली के निष्कर्षों की पुष्टि नहीं की है।

(१६) प्रो० सेलिगमेन का कथन है कि "अनुकूल दशाओं में जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ सकती है, जबकि धन में तेजी से वृद्धि हो। वास्तव में जनसंख्या की समस्या केवल आकार की समस्या नहीं है, वरन्, कुशल उत्पादन एवं न्यायोचित वितरण की भी है। अर्थात् यह केवल संख्या की ही नहीं किन्तु धन की भी समस्या है।"[1] इस प्रकार माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त एकाँगी है, क्योंकि यह केवल जनसंख्या में वृद्धि के प्रभावों का अध्ययन करता है और इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि श्रम की कुशलता में वृद्धि होने से उत्पादन बढ़ाया जा सकता है और उत्पादन का न्यायोचित वितरण होने पर सम्पूर्ण जनसंख्या का उच्च स्तर पर भरण-पोषण हो सकता है।

(१७) इसी तरह डा० ज्ञानचन्द का कहना है कि, "जनसंख्या का प्रश्न केवल खाद्य की मात्रा के सम्बन्ध में संख्या या प्रतिव्यक्ति आय का प्रश्न नहीं है, वरन्, सामाजिक उद्देश्य से संख्या के समायोजन की समस्या है। यह सामाजिक नीति शास्त्र की समस्या है, एक स्तर की समस्या जिसे कि समाज अपने सदस्यों के जीवन भर चाहता है।"[2] अतः जनसंख्या की समस्या सामाजिक उद्देश्यों की समस्या भी है, किन्तु माल्थस ने इस पक्ष की उपेक्षा ही की है। उसने जनसंख्या के गुणों पर भी विचार नहीं किया है।

(१८) अन्त में, माल्थस ने जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिए जो सुझाव दिये हैं, उनकी व्यवहारिकता भी संदिग्ध है। स्वयं माल्थस ने स्वीकार किया था कि आत्मसंयम अत्यन्त कठिन है और काम वृत्ति अदमनीय है। इस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए संयम का उपदेश ही पर्याप्त नहीं है और उस पर अधिक शक्तिशाली अवरोधों की आवश्यकता है। वास्तव में जनसंख्या की समस्या का निदान केवल संयम आचरण ही नहीं, वरन् अधिक उत्पादन, यातायात के साधनों

1. Seligman; Economics.
2. Dr. Gyan Chand : India's Teeming Millions,

का विकास, न्यायोचित वितरण, समाज-सेवा विस्तार, जनसंख्या की गतिशीलता एवं जन्म-निरोध आदि अनेक उपायों में निहित है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्तों की आवश्यकता से अधिक आलोचना हुई है। उनकी मान्यताओं, धारणाओं और विवेचना को त्रुटिपूर्ण और असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु इन आलोचनाओं का गम्भीरतापूर्वक निरीक्षण करने पर प्रगट होता है कि—(अ) माल्थस का दृष्टिकोण संकुचित रहा है और उसने अपने सिद्धान्त में सारे विश्व की जनसंख्या के आकार, गुण और वितरण पर विचार न करते हुए, जनसंख्या को खाद्य सामग्री से सम्बन्धित कर दिया है। (ब) माल्थस का सिद्धान्त कृषि एवं जनसंख्या में होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में नहीं रखता है, अतः प्रावैगिक विषय को स्थैतिक रूप में प्रस्तुत करता है। (स) माल्थस के सिद्धान्त प्रतिपादन दोषपूर्ण है क्योंकि वृद्धि-सूत्रों, आगमन प्रणाली और भ्रामक परिकल्पनाओं का प्रयोग हुआ है।

किन्तु इन आलोचनाओं में कहीं भी इस प्रवृत्ति को असत्य नहीं घोषित किया गया है कि जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। वास्तव में माल्थस के सिद्धान्त में सत्य का एक महत्वपूर्ण अंश है। प्रो० हेने कहते है, "निस्सन्देह, माल्थस के तर्क की कुछ त्रुटियाँ क्षम्य है क्योंकि वे कथन को संक्षिप्त एवं प्रभावशाली बनाने के प्रयत्न में हुई हैं और जिसे कि उसके सिद्धान्त को गलत समझने का कारण माना जा सकता है।"

माल्थस के सिद्धान्त में सत्यता का अंश :—

माल्थस के सिद्धान्त का आज भी उतना ही महत्व है जितना कि उस समय था जबकि माल्थस की कलम में उसका जन्म हुआ था। माल्थस के इस सिद्धान्त का विश्लेषण कर वाकर (Walker) ने पाँच प्रवृत्तियों को सारांश में प्रस्तुत किया है—(१) सभी जाति व वर्ग के मनुष्यों में प्रबल, आवश्यक एवं दृढ़ प्रवृत्ति जीवन-निर्वाह के साधनों से अधिक जनसंख्या में वृद्धि करने की है। (२) प्रत्येक समुदायों में बहुत कम मनुष्यों ने पुनरुत्पादन को, भोजन, निवास एवं ईंधन के उच्चतम औसत के अनुसार, रोकने की क्षमता दिखाई है। (३) एक बार जब इस सीमा को लाँघ लिया जाता है तो उत्पादन-बल और भी तेजी से बढ़ता है। (४) यदि मितव्ययिता और श्रेष्ठता की इच्छा से जनसंख्या की वृद्धि को रोका नहीं गया तो बाद में अनिवार्यताओं को खोने का डर और कष्टों व सुख के अभाव का अनुभव भी उसे रोकने में असमर्थ होगा। (५) इस ढीठ वासना के राज्य में मनुष्यों के प्रत्येक वर्ग को कष्ट, गन्दगी और बीमारी से घसीट लिए जाने का भय है। यदि इन पर गम्भीरतापूर्वक मनन करें तो मालूम होगा कि माल्थस के ये निष्कर्ष वास्तविक सत्य को प्रगट करते हैं।

वास्तव में इस तथ्य से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता है कि यदि मनुष्य को स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया तो जनसंख्या अत्यन्त तीव्र गति से बढ़ेगी। प्राकृतिक

(१४) माल्थस का सिद्धान्त एक दीर्घकालीन सिद्धान्त है और उन्होंने संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया है। माल्थस ने स्थैतिक अवस्था का अध्ययन किया है जबकि जनसंख्या प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रवैगिक या परिवर्तनशील मात्रा है। इस प्रकार माल्थस ने अपने विचारों का प्रतिपादन यथोचित ढंग से नहीं किया है।

(१५) इसी प्रकार माल्थस ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अध्ययन की आगमन प्रणाली को ग्रहण किया है, किन्तु उनका निरीक्षण कुछ देशों के कुछ काल तक के अध्ययन तक सीमित है, उन्होंने गलत मान्यताओं पर अपने निष्कर्ष आधारित किये हैं और ऐसे निष्कर्षों पर अपने विचार बनाये हैं जो अपूर्ण, अप्रासंगिक एवं अवांछनीय हैं। शायद यही कारण है कि अनुभव ने इस प्रणाली के निष्कर्षों की पुष्टि नहीं की है।

(१६) प्रो० सेलिगमेन का कथन है कि "अनुकूल दशाओं में जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ सकती है, जबकि धन में तेजी से वृद्धि हो। वास्तव में जनसंख्या की समस्या केवल आकार की समस्या नहीं है, वरन्, कुशल उत्पादन एवं न्यायोचित वितरण की भी है। अर्थात् यह केवल संख्या की ही नहीं किन्तु धन की भी समस्या है।"[1] इस प्रकार माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त एकाँगी है, क्योंकि यह केवल जनसंख्या में वृद्धि के प्रभावों का अध्ययन करता है और इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि श्रम की कुशलता में वृद्धि होने से उत्पादन बढ़ाया जा सकता है और उत्पादन का न्यायोचित वितरण होने पर सम्पूर्ण जनसंख्या का उच्च स्तर पर भरण-पोषण हो सकता है।

(१७) इसी तरह डा० ज्ञानचन्द का कहना है कि, "जनसंख्या का प्रश्न केवल खाद्य की मात्रा के सम्बन्ध में संख्या या प्रतिव्यक्ति आय का प्रश्न नहीं है, वरन्, सामाजिक उद्देश्य से संख्या के समायोजन की समस्या है। यह सामाजिक नीति शास्त्र की समस्या है, एक स्तर की समस्या जिसे कि समाज अपने सदस्यों के जीवन भर चाहता है।"[2] अतः जनसंख्या की समस्या सामाजिक उद्देश्यों की समस्या भी है, किन्तु माल्थस ने इस पक्ष की उपेक्षा ही की है। उसने जनसंख्या के गुणों पर विचार नहीं किया है।

(१८) अन्त में, माल्थस ने जनसंख्या की स[illegible] हल करने सुझाव दिये हैं, उनकी व्यवहारिकता भी सं[illegible]
था कि आत्मसंयम अत्यन्त कठिन है और [illegible] है
संख्या की वृद्धि को रोकने के लिए संय[illegible]
अधिक शक्तिशाली अवरोधों की[illegible]
का निदान केवल संयम आचरण[illegible]

1. Seligman; Ec[illegible]
2. Dr. Gyan [illegible]

स्वीकार कर लें कि उत्पत्ति ह्रास नियम उतनी कठोरता से लागू नहीं होता जितना कि माल्थस ने समझा था और जनसंख्या का घटना सदा ही अच्छा नहीं होता क्योंकि जनसंख्या में जन्म दर घटने के साथ-साथ गुणात्मक पतन भी होता है। वास्तव में वाकर का मत सही है कि "वादविवाद के बीच भी माल्थसवाद अविचलित एवं अजेय ही रहा है।" क्लार्क के शब्दों में—"माल्थस के सिद्धान्त की इतनी आलोचना हुई है, कि उनसे उसकी पुष्टि ही होती है," माल्थस के सिद्धान्त का महत्व और उसकी व्यापकता प्रगट है।

पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि माल्थस यह मानते थे कि प्रत्येक देश में एक ऐसी सीमा होती है जिससे अधिक जनसंख्या में वृद्धि नहीं होनी चाहिए अन्यथा जनसंख्या को घोर कष्ट होता है। इस अधिकतम जनसंख्या के स्थान पर आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने अनुकूलतम या सर्वोत्तम या आदर्श जनसंख्या (Optimum Population) का विचार प्रस्तुत किया है।

वास्तव में आधुनिक अर्थशास्त्री माल्थस की इस बात को नहीं मानते कि जनसंख्या में वृद्धि सदैव हानिकारक या जनसंख्या में ह्रास हमेशा लाभदायक होता है। जनसंख्या में वृद्धि वांछनीय भी हो सकती है और अवांछनीय भी। जब तक किसी देश के साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है और आधुनिकतम उत्पादन की अवस्था नहीं प्राप्त होती है, तब तक जनसंख्या में वृद्धि वांछनीय है, किन्तु इस अवस्था के उपरान्त जनसंख्या में वृद्धि अहितकर है क्योंकि तब उत्पत्ति-ह्रास-नियम क्रियाशील होने लगता है। ऐसी जनसंख्या, जबकि उत्पादन अधिकतम होता है, अनुकूलतम जनसंख्या कही गई है। जनसंख्या न तो इससे कम होनी चाहिए और न अधिक, क्योंकि दोनों ही दशाओं में अधिकतम उत्पादन और उच्चतम जीवन स्तर सम्भव नहीं है।

सिजविक (Sidgwick) ने, यद्यपि अनुकूलतम शब्द का प्रयोग नहीं किया था, यह विचार सर्वप्रथम अर्थशास्त्र में प्रस्तुत किया। बाद में केनन (Cannan) ने इसे क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। डाल्टन,, राबिन्स और कार साण्डर्स ने इस विचार की व्याख्या की। केनन के शब्दों में, "किसी दिये हुए समय में किसी निश्चित बिन्दु तक श्रम की वृद्धि से उत्पत्ति में भी आनुपातिक वृद्धि होती है, किन्तु उस बिन्दु के बाद श्रम में वृद्धि आनुपातिक उत्पत्ति में कमी करती है।" कार साण्डर्स के मतानुसार "अनुकूलतम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। यद्यपि अधिकतम कल्याण प्रति व्यक्ति अधिकतम आय ही नहीं है, किन्तु व्यवहारिक उद्देश्यों के लिए उसे उसके समान माना जा सकता है।" डाल्टन भी यही कहते हैं। "अनुकूलतम जनसंख्या वह है जो अधिकतम प्रति व्यक्ति आय देती है।" किन्तु राबिन्स कहते हैं कि "वह जनसंख्या जिससे अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है, अनुकूलतम या सर्वोत्तम सम्भावित जनसंख्या

अवरोधा और मानवीय प्रयत्नों के वावजूद भी, संसार की जनसंख्या अत्यन्त तेजी से बढ़ रही है। हक्सले, पर्ल, ईस्ट और चन्द्रशेखर के अध्ययन प्रगट करते हैं कि जनसंख्या कितनी तेजी से वढ़ रही है।

और हम उत्पत्ति की घटती प्रवृत्ति से भी इन्कार नहीं कर सकते हैं। खाद्य सामग्री की पूर्ति को और कुल उत्पादन को एक सीमा तक ही बढ़ाया जा सकता है। उत्पादन के साधनों की प्रतिस्थापन-लोच सीमित होती है, अतः स्पष्ट है कि खाद्य-सामग्री की उत्पत्ति में वृद्धि अत्यन्त धीमी गति से होती है।

इसी तरह हम इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि यदि हमें जीवन-स्तर को कायम रखना चाहिए तो हमें जनसंख्या में होने वाली वृद्धि पर नियन्त्रण रखना चाहिये और संयम इसका श्रेष्ठ साधन है। यदि हमने जनसंख्या की वृद्धि पर रोक नहीं की तो गरीबी, भुखमरी, महामारी आदि के कारण मृत्यु-दर बढ़ जायेगी।

मालथस के सिद्धान्त में सत्यता का अंश

(१) जनसंख्या में तीव्र वृद्धि

(२) उपत्ति ह्रास नियम की व्यापकता

(३) जनसंख्या नियन्त्रण की आवश्यकता

मालथस के सिद्धान्त के इन सत्यों को दिय हम स्वीकार कर लेते हैं तो मालथस की हजार आलोचनायें हों उसकी मौलिक भावना पर कोई आंच नहीं आती। सच तो यह है कि इस सिद्धान्त ने समय के प्रभाव को सह लिया है। एडवर्ड ईस्ट ने अपनी पुस्तक में चेतावनी दी है कि "यदि **मनुष्यों की संख्या में इसी प्रकार वृद्धि होती रहेगी तो संसार के कृषि योग्य भाग में बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य-सामग्री की मांग को पूरा करने में असमर्थ हो जायेंगे।**" विश्व के अधिकांश अर्धविकसित राष्ट्रों में अति-जनसंख्या का खतरा अत्यन्त भयंकर रूप धारण कर चुका है। पिछले तीन सौ वर्षों में विश्व की जनसंख्या पांच गुनी और पिछले सौ वर्षों में तीन गुनी वढ़ गई है। स्पष्ट हैं कि जन्म-निरोधक प्रयत्नों के उपरान्त भी जनसंख्या की वृद्धि की दर भी निरन्तर वढ़ रही है। यही कारण है कि आधुनिक युग में समाज-शास्त्रियों का एक नवीन वर्ग, नव-माल्थसवादियों (Neo-malthusianists) के नाम से, अत्यन्त लोकप्रिय हो रहा है जो कि जन्म-निरोधक कार्यवाहियों का प्रबल समर्थक है। इंगलैंड में डा० मेरी स्टोप्स और अमेरीका में मारगरेट सैंगर ने सन्तति-निरोध और परिवार-नियोजन की विचारधारा का प्रचार किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संसार ने परोक्ष रूप से मालथस के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। मालथस का सिद्धान्त अब किसी एक देश या वर्ग के हितों की रक्षा करने वाला सिद्धान्त नहीं रहा है और उसकी मान्यतायें सर्वव्यापक हैं यदि हम यह

स्वीकार कर लें कि उत्पत्ति ह्रास नियम उतनी कठोरता से लागू नहीं होता जितना कि माल्थस ने समझा था और जनसंख्या का घटना सदा ही अच्छा नहीं होता क्योंकि जनसंख्या में जन्म दर घटने के साथ-साथ गुणात्मक पतन भी होता है। वास्तव में वाकर का मत सही है कि "वादविवाद के बीच भी माल्थसवाद अविचलित एवं अजेय ही रहा है।" क्लार्क के शब्दों में—"माल्थस के सिद्धान्त की इतनी आलोचना हुई है, कि उनसे उसकी पुष्टि ही होती है," माल्थस के सिद्धान्त का महत्व और उसकी व्यापकता प्रगट है।

पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि माल्थस यह मानते थे कि प्रत्येक देश में एक ऐसी सीमा होती है जिससे अधिक जनसंख्या में वृद्धि नहीं होनी चाहिए अन्यथा जनसंख्या को घोर कष्ट होता है। इस अधिकतम जनसंख्या के स्थान पर आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने अनुकूलतम या सर्वोत्तम या आदर्श जनसंख्या (Optimum Population) का विचार प्रस्तुत किया है।

वास्तव में आधुनिक अर्थशास्त्री माल्थस की इस बात को नहीं मानते कि जनसंख्या में वृद्धि सदैव हानिकारक या जनसंख्या में ह्रास सदैव लाभदायक होता है। जनसंख्या में वृद्धि वांछनीय भी हो सकती है और अवांछनीय भी। जब तक किसी देश के साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है और आधुनिकतम उत्पादन की अवस्था नहीं प्राप्त होती है, तब तक जनसंख्या में वृद्धि वाछनीय है, किन्तु इस अवस्था के उपरान्त जनसंख्या में वृद्धि अहितकर है क्योंकि तब उत्पत्ति-ह्रास-नियम क्रियाशील होने लगता है। ऐसी जनसंख्या, जबकि उत्पादन अधिकतम होता है, अनुकूलतम जनसंख्या कही गई है। जनसंख्या न तो इससे कम होनी चाहिए और न अधिक, क्योंकि दोनों ही दशाओं में अधिकतम उत्पादन और उच्चतम जीवन स्तर सम्भव नहीं है।

सिजविक (Sidgwick) ने, यद्यपि अनुकूलतम शब्द का प्रयोग नहीं किया था, यह विचार सर्वप्रथम अर्थशास्त्र में प्रस्तुत किया। बाद में केनन (Cannan) ने इसे क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। डाल्टन, रॉबिन्स और कार साण्डर्स ने इस विचार की व्याख्या की। केनन के शब्दों में, "किसी दिये हुए समय में किसी निश्चित बिन्दु तक श्रम की वृद्धि से उत्पत्ति में भी आनुपातिक वृद्धि होती है, किन्तु उस बिन्दु के बाद श्रम में वृद्धि आनुपातिक उत्पत्ति में कमी करती है।" कार साण्डर्स के मतानुसार "अनुकूलतम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। यद्यपि अधिकतम कल्याण प्रति व्यक्ति अधिकतम आय ही नहीं है, किन्तु व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए उसे उसके समान माना जा सकता है।" डाल्टन भी यही कहते हैं। "अनुकूलतम जनसंख्या वह है जो अधिकतम प्रति व्यक्ति आय देती है।" किन्तु रॉबिन्स कहते हैं कि "वह जनसंख्या जिसमें अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है, अनुकूलतम या सर्वोत्तम सम्भावित जनसंख्या

है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि अनुकूलतम जनसंख्या का विचार जनसंख्या के ऐसे आकार की कल्पना करता है जब कि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अधिकतम होगी और जनसंख्या के बढ़ने या कम होने पर यह प्रति व्यक्ति आय घट जाती है। इस प्रकार यह नियम उत्पत्ति-ह्रास-नियम के व्यापक सिद्धान्त पर आधारित है। जनसंख्या का इस अनुकूलतम जनसंख्या से कम या अधिक होना असन्तुलन को प्रगट करता है डाल्टन उसे निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त करते हैं।

$$M = \frac{A - O}{O}$$

उपरोक्त सूत्र में—(i) M = Mal-adjustment या असन्तुलन

(ii) O = Optimum population या अनुकूलतम जनसंख्या

(iii) A = Actual population या वास्तविक जनसंख्या

इस प्रकार असन्तुलन (Maladjustment) यदि शून्य है तो देश की जनसंख्या अनुकूलतम है, किन्तु यदि वह शून्य से अधिक है और धनात्मक (Positive) है तो जनाधिक्य (Over population) है तथा यदि ऋणात्मक है तो जनन्यूनता (Under population है। उदाहरण के लिये संलग्न चित्र में अनुकूलतम जनसंख्या ४० करोड़ है। अब यदि देश की वास्तविक जनसंख्या ४५ करोड़ है तो असन्तुलन +·१२५ होगा अर्थात् इतना जनाधिक्य है। यदि वास्तविक जनसंख्या ३६ करोड़ है तो असन्तुलन—·१ होगा और हम जन-न्यूनता की समस्या को हल करने के लिये जनसंख्या में वृद्धि को वांछनीय कहेंगे। इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिये कि 'अनुकूलतम जनसंख्या' एक प्रावैगिक विचार है और वह परिवर्तनशील
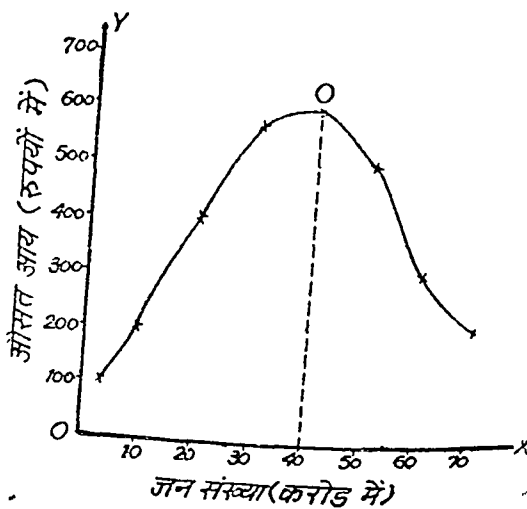
चित्र—१

है। वह देश के उत्पादन के साधनों, टेक्नालाजिकल ज्ञान, उत्पादन के सगठन, श्रम की कुशलता और ग्रायु के वितरण के सन्दर्भ में उस जनसंख्या का विचार है जो अधिकतम उत्पादन का कारण है। स्पष्ट है कि माल्थस के सिद्धान्त की तुलना में यह विचार अधिक आशावादी तो है ही, अधिक व्यापक, दोषरहित और व्यवहारिक भी है। यह खाद्य-सामग्री के स्थान पर सम्पूर्ण उत्पादन और वास्तविक आय पर जोर देता है तथा जनाधिक्य का सही लक्षण बतलाता है। यह श्रम की कुशलता पर भी जोर देता है, किन्तु यह विचार स्पष्ट नहीं करता कि जनसंख्या में वृद्धि क्यों और कैसे होती है तथा राष्ट्रीय आय के वितरण और आर्थिक वातावरण से होने वाले परिवर्तनों की उपेक्षा करता है।

Q. "A growing poplation is not necessarily a sign of disaster, it may be a signal of the improvement in conditions a challenge rather than a menace." Discuss.

(Agra, M. A., 1958)

प्रश्न—बढ़ती हुई जनसंख्या आवश्यक रूप से विपत्तियों की सूचक नहीं होती, वह परिस्थियों में सुधार की चिन्ह भी हो सकती—एक भय की अपेक्षा एक चुनौती।

(आगरा, एम. ए., १९५८)

उत्तर—मार्शल के शब्दों में, "जनसंख्या की समस्या सभ्यता से भी अधिक प्राचीन है।"[1] किन्तु इस सम्बन्ध मे जनसंख्या में वृद्धि वांछनीय है या नही, लोगों का दृष्टिकोण बदलता है। आर्थिक विचारधाराओं के इतिहास का अध्ययन दो विपरीत मत प्रस्तुत करता है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों का विचार था कि जनसंख्या मे वृद्धि वांछनीय है तथा जनसंख्या की वृद्धि से किसी देश की राजनीतिक और आर्थिक शक्ति मे वृद्धि होती है। प्रसिद्ध व्यापारवादी अर्थशास्त्री चाईल्ड के शब्दों मे, "जो बातें किसी देश की जनसख्या को घटाने का कार्य करती है वे उसे नष्ट करने के लिये दायी हैं। देश की समृद्धि और निर्धनता क्रमशः जनसंख्या की अधिकता एवं न्यूनता पर निर्भर होती है, न कि भूमि के उपजाऊपन और अनुपाऊपन पर।" निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियों का भी लगभग ऐसा ही विश्वास था, उनके विषय मे स्ट्रेन्जलेण्ड लिखते हैं कि *"उस समय बहुत जनसंख्या को लाभदायक समझा जाता था। अत्यधिक जनसंख्या का कोई भय नही था क्योंकि लोगो का विश्वास था कि जनसख्या देश के जीविका साधनों द्वारा सीमित होती है।"*[2]

किन्तु ऐसा नही है कि किसी भी अर्थशास्त्री ने बढती हुई जनसंख्या को भय की दृष्टि से नहीं देखा। निर्बाधावादी अर्थशास्त्री क्यूजने (Quesney) को

1. Marshall : Principles of Economics.
2. Strange Land : Per Malthusian Doctrines.

[illegible] की आवश्यकता को बढ़ाने की तुलना में [illegible] भूमि में वृद्धि करने पर अधिक ध्यान देना चाहिये, क्योंकि [illegible] भाग में अधिक [illegible] होता है [illegible] जनसंख्या [illegible] भाग में बढ़ जाती है और जीवन-निर्वाह के साधनों की [illegible] में बढ़ती है।" अतः, [illegible] और [illegible] का विचार भी यह था कि जहाँ बुद्धि का प्रयोग नहीं होता वहाँ जनसंख्या अधिक हो जाती है जिसके कारण आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन हो जाती है और मृत्यु-दर ऊँची हो जाती है।

वास्तव में, यद्यपि गॉडविन ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल जस्टिस' में और कान्डरसेट ने अत्यन्त आशावादी विचार प्रकट किये थे, तथापि उस समय जहाँ एक ओर जनसंख्या बढ़ रही थी वहाँ दुर्भिक्ष और मृत्यु दर भी बढ़ गई थी और गरीबी, भुखमरी, अकाल, बाढ़, युद्ध और बेकारी तथा शोषण के कारण त्राहि-त्राहि मच रही थी। इसलिये माल्थस ने गॉडविन की पुस्तक के प्रत्युत्तर में जो निबन्ध-पुस्तक[1] सन् १७९८ में अनाम के नाम से प्रकाशित की उसमें यह प्रतिपादित किया कि खाद्य-सामग्री की तुलना में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ती है और मनुष्य ने आत्म-संयम के उपायों द्वारा इस वृद्धि पर रोक नहीं की तो पाप और कष्टों के द्वारा यह वृद्धि प्राकृतिक रूप से रुक जायेगी क्योंकि जनसंख्या में वृद्धि जीवन-निर्वाह के साधनों की उपलब्धता द्वारा सीमित होती है। उसके मतानुसार दुर्भिक्ष, महामारी, बेकारी, निर्धनता, युद्ध तथा अन्य प्राकृतिक विपत्तियों की बारम्बारता अति-जनसंख्या दर्शाती है और वृद्धिशील जनसंख्या विपत्ति की सूचक है। माल्थस की पुस्तक के सभी संस्करणों में, जिसमें शीर्षक और विषय-प्रतिपादन में उसने संशोधन किया है, उसके ये विचार यथा-स्थिर रहे हैं। माल्थस के ये विचार सर्वाधिक प्रभावोत्पादक रहे हैं और बाकर के शब्दों में, घोर वादविवाद के बीच भी माल्थसवाद अविचलित और अजेय रहा है। माल्थस के सिद्धान्त की, क्लार्क के अनुसार, इतनी बार आलोचना हुई है कि उनसे उसकी पुष्टि होती है।[2] माल्थस के विचारों का बाकर, मार्शल, एली, पेटन, क्लार्क और अनेक अन्य अर्थशास्त्रियों ने समर्थन किया है और समाजशास्त्रियों के एक नवीन वर्ग का विकास हुआ है जोकि नवमाल्थसवादियों के नाम से प्रसिद्ध है। ईस्ट, पर्ल, हक्सले और अन्य जीव-वैज्ञानिकों का भी यही निष्कर्ष रहा है कि जनसंख्या जितनी तेजी से बढ़ती है, मृत्यु दर भी उतनी बढ़ जाती है। ईस्ट ने अपनी पुस्तक में चेतावनी दी कि "यदि मनुष्यों की जनसंख्या में इसी प्रकार वृद्धि होती रहेगी तो संसार के कृषि योग्य भाग जनसंख्या की बढ़ती हुई खाद्य-सामग्री की माँग

1. T. R. Malthus : Essay on the Principle of Population as it affects the future improvement of society.

2. For a detailed discussion, refer the preceeding answer.

–Carr Saunders : World Population, p. 330.

को पूरा करने में असमर्थ हो जायेंगे।"[3]वास्तव में संसार की कुल जनसंख्या पिछले ती सो वर्षों मे पांच-गुनी और पिछले सो वर्षों मे तीन गुनी और पिछले पचास वर्षों मे लगभग दो गुनी बढ़ी है। अर्थात् जन्मनिरोध के अविरल प्रयत्नों के उपरान्त भी जनसंख्या-वृद्धि की दर भी निरन्तर बढ़ रही है। अर्धविकसित राष्ट्रों मे तो वृद्धि की दर और भी अधिक है, भारत मे पिछले दस वर्षों मे २१ प्रतिशत से अधिक जनवृद्धि हुई है। यही कारण है कि संसार के अधिकांश जनसंख्याशास्त्री, जीवशास्त्री, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री दार्शनिक और राष्ट्रीय नेता जनवृद्धि के 'राक्षस' से अत्यन्त भयभीत हैं और हक्सले के शब्दों में यह एटम-बम से भी अधिक भयंकर है। विकास के नियोजित प्रयत्न भी असफल हो रहे हैं और बेकारी, भुखमरी और युद्ध की सम्भावनायें बढ़ रही हैं। परिणामतः जन-वृद्धि एक संकट की प्रतीक बन गई है और जन्म-निरोध तथा परिवार नियोजन के द्वारा उसे टालने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इसी बीच सिजविक, केनन, कार साण्डर्स, डाल्टन और राबिन्स ने जन-संख्या के अनुकूलतम सिद्धान्त के अन्तर्गत भी प्रतिपादित किया है कि अनुकूलतम आकार से अधिक जनसंख्या मे वृद्धि अवांछनीय है क्योंकि उच्चतम जीवन स्तर कायम रखना असम्भव है। इसी समय एक नयी दिशा मे लोगों का ध्यान गया है और बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे विद्वानों ने बतलाया है कि गुणवान जनसंख्या की अपेक्षा हीन जनसंख्या में ही तेजी से वृद्धि हो रही है और भय प्रगट किया है कि जनसंख्या की यह वृद्धि गुणसंम्पन्न जनसंख्या का लोप कर देगी।

अतः प्रगट है कि सभी लोगों ने जनसंख्या मे होने वाली वृद्धि को अनुचित माना है और इस प्रकार वृद्धिशील जनसंख्या विपत्तियो की सूचक मानी गई है, किन्तु इन विचारों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन यह भी प्रगट करता है कि सभी ने एक सीमा के उपरान्त ही इसे हानिकारक बतलाया है। इस सीमा के पहले जनसंख्या मे वृद्धि लाभदायक होती है क्योंकि तब वह राजनीतिक और आर्थिक सम्पन्नता मे वृद्धि करती है। अतः बढ़ने वाली जनसंख्या आवश्यक रूप से विपत्तियों की सूचक नहीं होती, कभी-कभी वह सुधार का भी चिन्ह होती है।

हमेशा ही बढ़ती हुई जनसंख्या विपत्ति की सूचक नहीं है अर्थात्, जनसंख्या में होने वाली वृद्धि कभी तो विपत्ति की सूचक हो सकती है और कभी नहीं। इस प्रकार, बढ़ती हुई जनसंख्या कभी-कभी सुधार की चिन्ह भी हो सकती है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों की मान्यता थी कि जनसंख्या श्रम की पूर्ति को बढ़ाती है और उसके बढ़ने से आर्थिक सम्पन्नता एव राजनीतिक शक्ति में वृद्धि होती है। जब तक जनसंख्या में वृद्धि से अधिक सम्पन्नता और राजनीतिक शक्ति का घटना प्रारम्भ नहीं होता तब तक वह विपत्ति की सूचक नहीं है और जब तक आर्थिक सम्पन्नता और राजनीतिक शक्ति में वृद्धि होती है वह सुधार की चिन्ह है। माल्थस का विचार

3 Edward East–Mankind 60 the Cross Roads.

भी यही था कि जनसंख्या में वृद्धि विपत्तिकारक तभी होती है, जबकि उसे जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध होते हैं। जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त इस विचार को और भी अधिक तर्कपूर्ण बना देता है।

जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि जब तक किसी देश के साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है और अधिकतम उत्पादन की अवस्था नहीं प्राप्त होती है जनसंख्या (श्रम की पूर्ति) में वृद्धि वाँछनीय है, किन्तु इस अवस्था के प्राप्त होने के उपरान्त जनसंख्या (श्रम की पूर्ति) में वृद्धि अहितकर है क्योंकि तब उत्पत्ति-ह्रास-नियम क्रियाशील होने लगता है। ऐसी जनसंख्या, जबकि उत्पादन अधिकतम होता है, अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है। जनसंख्या न तो इससे कम होनी चाहिए और न इससे अधिक क्योंकि दोनों ही दशाओं में अधिकतम उत्पादन और उच्चतम जीवन स्तर सम्भव नहीं हैं। कार साण्डर्स के शब्दों में, "अनुकूलतम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। यद्यपि अधिकतम कल्याण प्रतिव्यक्ति अधिकतम आय ही नहीं है, किन्तु व्यवहारिक उद्देश्यों के लिये उसे उसके समान माना जा सकता है।"[1] जनसंख्या का इस अनुकूलतम आकार से कम या अधिक होना असन्तुलन को प्रगट करता है और यह असन्तुलन ही विपत्ति का सूचक है, क्योंकि दोनों ही उत्पत्ति के गिरने को प्रगट करते हैं। इस प्रकार अनुकूलतम आकार से पूर्व गिरती हुई जनसंख्या भी अनुकूलतम आकार के उपरान्त बढ़ती हुई जनसंख्या की भांति, विपत्ति की सूचक हो सकती है। जैसा कि संलग्न चित्र में बतलाया गया है कि O बिन्दु अनुकूलतम जनसंख्या है और इसके दोनों ही ओर वक्र गिर रहा है। इस प्रकार अनुकूलतम जनसंख्या ही ऐसा आकार है जब उत्पत्ति अधिकतम होती है। इस आकार से यदि जनसंख्या कम हो तो वह भी विपत्ति अर्थात् कम उत्पत्ति की सूचक है और अधिक हो तो वह भी। यही चित्र यह भी प्रगट करता है कि अनुकूलतम अवस्था प्राप्त करने से पूर्व, अर्थात् OP से पूर्व, जनसंख्या में वृद्धि विपत्ति की सूचक नहीं है क्योंकि इस वृद्धि से उत्पादन कम नहीं होता है, वरन् वह बढ़ता ही है और इसलिये यह उत्पादन में सुधार की सूचक है। किन्तु OP के पश्चात् अर्थात् अनुकूलतम अवस्था प्राप्त करने के उपरान्त जनसंख्या में वृद्धि से उत्पादन घटता है अर्थात् यह विपत्ति की सूचक है।
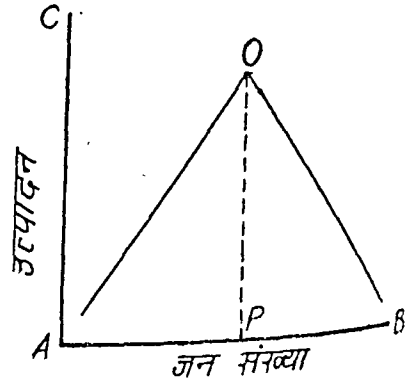
चित्र—२

1. Carr Saunders : World Population, p. 330.

वास्तव में बढ़ती हुई जनसंख्या हमेशा ही विपत्ति की सूचक नहीं होती। कभी-कभी ऐसा होता है कि देश के साधनों का समुचित उपयोग करने के लिये और उत्पादन को अधिकतम करने के लिये जनसंख्या में वृद्धि वांछनीय होती है। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है, हम देश के भूमि, वन, खनिज, जलशक्ति के अधिकतम उपयोग में सुविधा होती है और हम तेजी से उत्पादन बढ़ाते जाते हैं, फिर जैसे-जैसे श्रम की मात्रा बढ़ती है श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण, यंत्रीकरण और कुशल संगठन के कारण श्रम एवं पूंजी की उत्पादनशीलता में भी वृद्धि होती है और परिणामतः उत्पादन में और भी तेजी से वृद्धि होती है। औद्योगीकरण की गति तीव्र होती है तथा राष्ट्रीय आय में भी तेजी से वृद्धि होती है। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के साथ-साथ रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठता है और सामाजिक कल्याण अधिकतम हो जाता है। इस प्रकार अन्त में हम उस अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं जब उत्पादन के साधनों का अधिकतम उपयोग हो चुका होता है, अर्थात् जनसंख्या अनुकूलतम आकार को प्राप्त कर चुकी होती है, और इसके बाद उत्पादन में वृद्धि उस अनुपात में नहीं होती जिस अनुपात में कि जनसंख्या में वृद्धि होती है अर्थात् आर्थिक कल्याण की दशायें बिगड़ती जाती हैं। स्पष्ट है कि पहली अवस्था में बढ़ती हुई जनसंख्या आर्थिक कल्याण की दशाओं में सुधार की सूचक होती है, जबकि दूसरी अवस्था में वह आगत संकट की चेतावनी देती है। यदि किसी देश की जनसंख्या अनुकूलतम बिन्दु को पार कर चुकी है तो वह निश्चित रूप से आगत विपत्ति की एक चेतावनी है। ऐसी दशा में बढ़ती हुई जनसंख्या संकट की सूचक है क्योंकि उत्पादन की तुलना में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बढ़ती हुई जनसंख्या का विपत्ति की सूचक या उन्नति का चिन्ह होना इस तथ्य पर निर्भर रहता है कि जनसंख्या अनुकूलतम आकार से अधिक है या कम। अधिक होने पर वह विपत्ति की सूचक है और कम होने पर सुधार की चिन्ह। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ यदि प्रति व्यक्ति औसत आय में वृद्धि हो और उत्पादन के क्षेत्रों में श्रम की माग कायम हो तो ऐसी दशा में बढ़ती हुई जनसंख्या आर्थिक कल्याण की दशाओं में उन्नति की सूचक है, किन्तु इसके विपरीत जनसंख्या में वृद्धि के कारण बेकारी बढ़ रही हो, खाद्य-सामग्री, वस्त्र, निवास एवं चिकित्सा का अभाव बढ़ रहा हो, मृत्यु-दर बढ़ रही हो अर्थात् प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय वास्तविक रूप में घट रही हो तो बढ़ती हुई जनसंख्या संकट सूचक होती है। इसलिये जनसंख्या के सिद्धान्त इस कथन का समर्थन करते हैं कि बढ़ती हुई जनसंख्या कभी विपत्ति की सूचक हो सकती है और कभी उन्नति का चिन्ह। यह आवश्यक नहीं है कि हमेशा ही विपत्ति की सूचक हो, वह दशाओं में सुधार की चिन्ह भी हो सकती है और तब बढ़ती हुई जनसंख्या एक भय न होकर चुनौती होती है कि वृद्धिशील जनसंख्या की सहायता से और अधिक उन्नति की जाये। इस प्रकार

माल्थसवादी अन्धकार में भी यह कथन प्रकाश की किरण उज्जवलित करता है और हमें एलिस (Alice) की कहानी की अरुण रानी (Red Queen) की भांति रुकने के लिये दौड़ने और आगे बढ़ने के लिये और तेज दौड़ने को प्रेरित करता है।

Q. Examine the Optimum Theory of Population. Is optimum point static? Discuss fully. **(Agra M. A. 1957)**

प्रश्न—जनसंख्या के अनुकूलतम सिद्धान्त की परीक्षा कीजिए। क्या अनुकूलतम बिन्दु स्थिर है? पूर्ण विवेचन कीजिए। **(आगरा एम० ए० १९५७)**

State and explain critically the Optimum theory of Population and in this connection discuss the view of Dalton and Robbins. **(Agra 1964 M. A.)**

जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त बताइए और इस सम्बन्ध में डाल्टन व राबिन्स के विचार लिखिये। **(आगरा १९६४ एम० ए०)**

उत्तर—यद्यपि, मार्शल के शब्दों में, जनसंख्या की समस्या सभ्यता से भी अधिक पुरानी है, तथापि, आधुनिक आर्थिक सिद्धान्तों में प्रमुख रूप से माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त एवं अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त, संक्षेप में, यह प्रगट करता है कि जनसंख्या खाद्य सामग्री की अपेक्षा, यदि खाद्य सामग्री में गणितीय अनुपात में तो जनसंख्या ज्यामितिक अनुपात में, बहुत तेजी से बढ़ी है और यदि मानवीय प्रयत्नों द्वारा, आत्म संयम आदि से, जनसंख्या में वृद्धि नहीं रोकी गई तो पाप और कष्टों द्वारा प्रकृति, मृत्युदर बढ़ाकर स्वयं ही उस पर प्रतिबन्ध लगा देगी क्योंकि जनसंख्या में वृद्धि आवश्यक रूप से जीवन निर्वाह के साधनों की उपलब्धता द्वारा सीमित होती है। किन्तु माल्थस के इन विचारों से आधुनिक अर्थशास्त्री सहमत नहीं है और उसकी अत्यधिक आलोचना हुई है। माल्थस ने केवल जनसंख्या के आकार और खाद्य सामग्री की वृद्धि के सम्बन्ध पर विचार किया और उत्पादन के सम्पूर्ण प्रभावों तथा जनसंख्या की कुशलता की उपेक्षा की। दूसरे उसने स्थिर अवस्था की कल्पना की तथा उत्पादन एवं जनसंख्या में होने वाले परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया। तीसरे, उसने आगमन प्रणाली, वृद्धि सूत्रों और सामान्य धारणाओं का दोषपूर्ण उपयोग कर गलत ढंग से प्रतिपादन किया। अन्त में, वह अत्यन्त निराशवादी था और उसने यह मान लिया कि बढ़ती हुई जनसंख्या विपत्ति की सूचक होती है। अतः स्वाभाविक था कि जनसंख्या की समस्या पर नये दृष्टिकोण से विचार किया जाता जिसमें जनसंख्या के आकार और कुशलता तथा सम्पूर्ण उत्पादन में सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह बताया जा सके कि जनसंख्या में वृद्धि विपत्ति की नहीं उन्नति की सूचक हो सकती है। प्राचीन व्यापारवादी और प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री तो जनसंख्या वृद्धि को लाभदायक

मानते ही थे, किन्तु माल्थस ने भी स्वीकार किया था कि जीविका निर्वाह के साधन एक अधिकतम सीमा निर्धारित करते हैं जिससे अधिक जनसंख्या में वृद्धि नही होनी चाहिए अन्यथा जनसंख्या को घोर कष्ट होता है। इस अधिकतम जनसंख्या के स्थान पर आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने अनुकूलतम जनसंख्या का विचार प्रस्तुत किया है। यह विचार इस धारणा पर आधारित है कि जब तक देश के साधनों का पूर्ण उपयोग नही हो पाता है और अधिकतम उत्पादन की अवस्था नही प्राप्त होती है जनसंख्या (श्रम की पूर्ति) मे वृद्धि वाछनीय है, किन्तु इस अवस्था के प्राप्त होने के उपरान्त जनसंख्या (श्रम की पूर्ति) मे वृद्धि अहितकर है क्योंकि तब उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो जाता है। ऐसी जनसंख्या जब उत्पादन अधिकतम होता है अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है। जनसंख्या इससे न तो अधिक होनी चाहिए और न कम, क्योंकि दोनो ही दशाओं मे अधिकतम उत्पादन और उच्चतम जीवन स्तर सम्भव नहीं है।

सर्वप्रथम इस विचार को, सर एडवर्ड वेस्ट ने अपने १८१५ में प्रकाशित निबन्ध 'एन एसे आन दी एपलीकेशन आफ केपीटल टू लेण्ड'[1] मे प्रकट किया था। इस निबन्ध मे उसने बतलाया था कि जैसे जैसे जनसंख्या मे वृद्धि होती है वैसे वैसे वहाँ के श्रम मे विशिष्टी करण भी बढ़ता है और परिणामस्वरूप देश के औसत उत्पादन मे भी वृद्धि होती है। वेस्ट माल्थस के इस विचार मे भी सहमत था कि खाद्य सामग्री की बढ़ती हुई जनसंख्या की माग को पूरा करने के लिए जब कम उपजाऊ भूमि पर कृषि उत्पादन कार्य किया जाता है, तो प्रति इकाई औसत उत्पादन घटने लगता है। इसके पश्चात् इंगलैण्ड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हेनरी सिजविक ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सीपल्स आफ पोलीटिकल इकानामी'[2] मे माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के विरुद्ध एक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमे उत्पत्ति के नियमों की कार्यशीलता पर विचार करने के उपरान्त यह बताया गया था कि उत्पादन कार्य मे एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जबकि अधिकतम उत्पत्ति होती है और यह बात जिस प्रकार राष्ट्र की अर्थव्यवस्था मे सत्य सिद्ध होती है, उसी प्रकार व्यक्तियों के सम्बन्ध से भी सत्य सिद्ध होती है। किन्तु सिजविक ने कहीं भी अपनी पुस्तक में अनुकूलतम (Optimum) शब्द का प्रयोग नही किया था, अतः एडविन केनन ने, जनसंख्या सम्बन्धी विचारो को क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से एक सिद्धान्त के रूप मे अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त के नाम से प्रस्तुत किया। बाद में अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की समीक्षा की और कार साण्डर्स, डाल्टन और राबिन्स आदि प्रमुख अर्थशास्त्रियो ने इसका विवेचन किया।

प्रो० केनन का मत है कि "किसी दिये हुए समय पर किसी बिन्दु तक श्रम

1. Edward West : An Essay on Application of Capital to land.
2. Henry Sidgwick : Principles of Political Economy.

की मात्रा में वृद्धि वर्तमान अनुपात में उपज में वृद्धि लाती है तथा उस बिन्दु के पश्चात् श्रम की मात्रा में वृद्धि ह्रासोन्मुख अनुपात में उपज में वृद्धि लाने लगती है।[1]" यह बिन्दु जिस पर अधिकतम उपज प्राप्त होती है, अनुकूलतम बिन्दु कहलाता है। इस बिन्दु पर पहुँचने के उपरान्त भी यदि उत्पादन का क्रम जारी रखा जाये तो उत्पादन की दर में कमी होने लगेगी। जो बात एक उद्योग के लिए सत्य होती है, वह एक राष्ट्र के लिए भी सत्य होती है। किसी राष्ट्र में किसी विशेष समय होते हैं तथा कुछ शैल्पिक योग्यता होती है। इन शब्दों को ध्यान में रखते हुए हम उस जनसंख्या को अनुकूलतम कहेंगे जिससे कि अधिकतम प्रति व्यक्ति आय प्राप्त हो सके।

डाल्टन के शब्दों में भी, "अनुकूलतम जनसंख्या वह है जो अधिकतम प्रति व्यक्ति आय देती है।"[2] राबिन्स के अनुसार भी, "वह जनसंख्या जिससे अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है, अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है।"[3] किन्तु कार साण्डर्स का विचार है कि, "अनुकूलतम जनसंख्या वह जनसंख्या है, जो अधिकतम आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि अधिकतम आर्थिक कल्याण और अधिकतम प्रति व्यक्ति वास्तविक आय दोनों एक हैं किन्तु व्यवहारिक उद्देश्यों के लिए उन्हें एक ही माना जा सकता है।"[4] संयुक्त राष्ट्र के जनसंख्या विभाग की एक रिपोर्ट में, वोल्फ के अनुसार, कहा गया है कि "आर्थिक सर्वोत्तम जनसंख्या वह होती है जो कि किसी देश की वर्तमान में दी हुई टेक्नीकल तथा आर्थिक दशाओं में प्रति व्यक्ति अधिकतम उपज प्रदान करती है। जब किसी देश की जनसंख्या का उस देश के वर्तमान साधनों टेक्नॉलाजी आदि के साथ सबसे अच्छा अथवा वांछनीय अथवा आदर्श सम्बन्ध होता है तो साधारणतः उस देश की जनसंख्या अनुकूलतम कहलाती है।"[5]

अनुकूलतम जनसंख्या के सम्बन्ध में प्रकट किये गये उपरोक्त विचार चार तथ्य प्रस्तुत करते हैं :—

(अ) जनसंख्या में वृद्धि श्रम की पूर्ति में वृद्धि करती है।

---

1. "At any given time, increase of labour upto a certain point is attended by increasing proportionate return and beyond that point further increase of labour is attended by diminishing proportionate returns."
—Edwin Cannan : Wealth (3rd ed.) p. 56.

2. "Optimum population is that which gives maximum income per head." —Dalton.

3. "The population which fust makes the maximum returns is the optimum or best possible population." —Lionel Robbins.

4. Carr Saunders : World Population. P. 330.

5. Wolfe · American Journal : On the criterion of optimum population.

(ब) श्रम की पूर्ति में वृद्धि के कारण उत्पत्ति-ह्रास नियम क्रियाशील होता है।

(स) जनसंख्या की यह मात्रा, जब अधिकतम आर्थिक कल्याण अर्थात् उच्चतम जीवनस्तर, अर्थात् अधिकतम प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अर्थात् अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है, अनुकूलतम जनसख्या कहलाती है।

(द) किसी देश या समय की अनुकूलतम जनसंख्या उस देश या समय की टेक्नीकल और आर्थिक दशाओं पर, यानी कि जनसंख्या, साधन, टेक्नोलाजी, व्यवस्था और आय के वितरण आदि पर, निर्भर होती है।

स्पष्ट है कि आधुनिक अर्थशास्त्री माल्थसवादियों की भाँति निराशावादी और भयभीत नहीं है। वे यह स्वीकार करते हैं कि एक बच्चा केवल मुँह या पेट लेकर ही नहीं दो हाथ और पैर लेकर भी आता है। जनसंख्या मे वृद्धि होने पर श्रम की मात्रा मे भी वृद्धि होती है।

उत्पत्ति ह्रास नियम का आधार—

श्रम की मात्रा मे यह वृद्धि उत्पादन को प्रभावित करती है और आधुनिक अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध मे उत्पादन-ह्रास-नियम की क्रियाशील व्यापकता को स्वीकार करते हैं। वास्तव मे उत्पादन-ह्रास-नियम ही अनुकूलतम जनसख्या के विचार का आधार है। इस नियम के अनुसार उत्पत्ति विभिन्न साधनो के सहयोगपूर्वक सयोग का परिणाम है और अधिकतम उत्पत्ति के लिये सब साधनों का आदर्श अनुपात मे सयोग होना आवश्यक है। यदि सब साधनों को आदर्श अनुपात मे मिलाया गया है तो प्रत्येक साधन इतने परिमाण मे होगा कि उसका पूरा-पूरा उपयोग हो रहा होगा। किसी भी साधन मे निष्क्रियता नहीं होगी। परिणामतः उत्पादन अधिकतम होगा। चूंकि साधनो मे परस्पर प्रतिस्थापन की पूर्ण लोच नहीं होती है इसलिये यदि कोई साधन इस आदर्श अनुपात से कम है तो उत्पादन अधिकतम न होकर उससे कम होगा। किन्तु यदि इस कम अनुपात वाले साधन मे वृद्धि की जावेगी तो साथ-साथ उत्पादन की मात्रा भी बढने लगेगी और तब तक बढ़ती जावेगी जब तक कि सब साधन आदर्श अनुपात मे न हो जाएं। आदर्श अनुपात का स्तर ही अधिकतम उत्पत्ति की सीमा होती है। किन्तु इस सीमा के उपरान्त यदि उस साधन की मात्रा मे वृद्धि की जाय तो निरन्तर घटती हुई उत्पत्ति प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि किसी दिये हुये समय पर किसी दिये हुये बिन्दु तक श्रम की वृद्धि वर्तमान अनुपात मे उपज में वृद्धि लाती है, किन्तु इस बिन्दु के बाद श्रम की वृद्धि ह्रासोन्मुख अनुपात मे उपज में वृद्धि लाती है।

अनुकूलतम जनसंख्या—

उत्पत्ति-ह्रास-नियम का यही विचार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मे भी क्रियाशील

होता है। जनसंख्या की वृद्धि राष्ट्रीय उत्पादन की दृष्टि से श्रम की वृद्धि को प्रकट करती है। इसलिये, जिस समय जनसंख्या कम होगी तो देश के प्राकृतिक साधनों और उत्पादन कला का पूर्ण उपयोग नहीं हो सकेगा तथा औसत राष्ट्रीय उत्पादन भी कम होगा किन्तु जब जनसंख्या में वृद्धि होगी तो एक समय ऐसी दशा आ जायेगी जबकि वह अन्य साधनों के साथ सहयोग करके अधिकतम औसत उत्पादन करेगी। यदि इस दिशा, जिसे अनुकूलतम कहा जा सकता है, से जनसंख्या आगे बढ़ गई तो औसत उत्पादन पुनः घट जायेगा क्योंकि आदर्श अनुपात खण्डित हो जायेगा और जनसंख्या की प्रत्येक इकाई का अब पहले से कम उपयोग हो सकेगा।

इस प्रकार अनुकूलतम या आदर्श या सर्वोत्तम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो अधिकतम औसत उत्पादन को सम्भव बनाती है। अधिकतम औसत उत्पादन से भी अधिक उचित और व्यवहारिक विचार अधिकतम प्रति व्यक्ति वास्तविक आय का विचार है। अधिक व्यापक रूप से अधिकतम आर्थिक कल्याण और सामाजिक कल्याण शब्दों का भी प्रयोग किया जा सकता है। जनसंख्या का यह आकार अनुकूलतम आकार कहलाता है।

उदाहरण के लिए, निम्न तालिका से यह विचार और भी स्पष्ट हो जायेगा:—

कुल जनसंख्या (करोड़ों में)	कुल वास्तविक आय (करोड़ इकाइयां)	औसत वास्तविक आय (करोड़ इकाइयां)
३०	१५००	५०
३५	१९२५	५५
४०	२४००	७०
४५	२४७५	५५
५०	२५००	५०

उपरोक्त तालिका प्रगट करती है जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ साथ कुल वास्तविक आय में भी वृद्धि होती है। यहाँ तक कि जनसंख्या ३० करोड़ से बढ़कर ५० करोड़ हो जाती है तो आय भी १५०० करोड़ से बढ़कर २५०० करोड़ हो जाती है। आरम्भ में औसत आय भी जनसंख्या से साथ बढ़ती है और ४० करोड़ पर यह बढ़कर ६० करोड़ हो जाती है, किन्तु इसके पश्चात् वह घटती जाती है। स प्रकार ४० करोड़ ही ऐसी जनसंख्या है, जिसे अनुकूलतम जनसंख्या कहा जा है। निम्न चित्र इसे और भी स्पष्ट कर देगा :—

चित्र—३
अनुकूलतम जनसंख्या

इस चित्र में P बिन्दु, वास्तविक आय की औसत की सर्वोच्च सीमा को सूचित करता है PQ अनुकूलतम जनसंख्या को प्रकट करता है। जनसंख्या यदि इससे कम या अधिक हुई तो प्रति व्यक्ति वास्तविक आय कम हो जाती है।
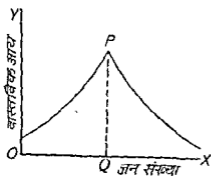
उपरोक्त विचार यह भी प्रकट करता है कि वास्तविक जनसंख्या अनुकूलतम जनसंख्या के बराबर होनी चाहिये। उससे न तो कम होना चाहिये और न अधिक। यदि किसी देश में जनसंख्या अनुकूलतम व बराबर नहीं तो वहाँ जनसंख्या असंतुलित है, जिसे डाल्टन "माल एडजस्टमेंट" (Mal-adjustment) कहते हैं और निम्न द्वारा प्रकट करते हैः—

$$M = \frac{A - O}{O}$$

इस सूत्र में M असन्तुलन या Mal-adjustment को, A वास्तविक जनसंख्या को और O अनुकूलतम जनसंख्या को बताया गया है। यदि देश की जनसंख्या अनुकूलतम के बराबर है तो M शून्य होगा, किन्तु यदि M ऋणात्मक है तो न्यून जनसंख्या और M धनात्मक है तो अति जनसंख्या है। उस देश की जनसंख्या असन्तुलित है। ऐसी दशा में अधिकतम वास्तविक आय सम्भव नहीं है। न्यून जनसंख्या (Under Population) की दशा में जनसंख्या में वृद्धि वांछनीय है, किन्तु अति-जनसंख्या (Over Population) की दशा में यह अवांछनीय है।

किन्तु जनसंख्या का अनुकूलतम बिन्दु स्थिर नहीं है। इसका कारण यह है कि जनसंख्या का अनुकूलतम आकार निर्धारित करने वाली टेक्नीकल और आर्थिक दशाएँ भी स्थिर नहीं है। कारसान्डर्स के अनुसार, "अनुकूलतम जनसंख्या (१) क्षेत्र के प्राकृतिक साधन, (२) लोगों की स्वाभाविक एवं प्राप्त आदतें, ज्ञान और निपुणता तथा (३) आर्थिक क्रियाओं के लिए देश के भीतर और बाहर अवसरों द्वारा निर्धारित होता है।"[1] दूसरे शब्दों में, किसी देश की अनुकूलतम जनसंख्या उस अवस्था को सूचित करती है जबकि उच्चतम स्तर पर औद्योगिक और अधिकतम उत्पादन सम्भव हो। यह अवस्था अनेक तत्वों पर निर्भर होती है। सर्वप्रथम, उस देश की जनसंख्या, आयु एवं सेक्स का विभाजन, स्वास्थ्य, शिक्षा, उत्पादन की योग्यता, आदतें, स्वभाव, विचार और कुशलता पर यह निर्भर होता है कि जनसंख्या की

1. Carr Saunders : World Population, p. 331.

वृद्धि का उत्पादन पर और आय में वृद्धि का आर्थिक कल्याण पर क्या प्रभाव होता है। दूसरे, यह देश के प्राकृतिक साधन और पूंजी पर भी निर्भर होता है कि बढ़ी हुई जनसंख्या को रोजगार दिलाने के लिये और आय आगे उत्पादन में कितनी वृद्धि होगी। तीसरे, टेक्नालोजी यह निर्धारित करती है कि देश के प्राकृतिक और मानवीय साधनों का हम कितना और किस रीति से उपयोग करके उत्पादन को कितना बढ़ा सकते हैं। अर्थात्, उत्पादन कला, उत्पादन के यन्त्र और साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग भी अधिकतम उत्पादन की सीमा को निर्धारित करते हैं। चौथे, देश के भीतर और बाहर आर्थिक क्रियाओं के संगठन और उत्पादन व्यवस्था भी यह निश्चित करते हैं कि उत्पादन की अधिकतम सीमा क्या होगी। श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध, मजदूरी, ब्याज और लाभ की प्रणाली, यातायात साधनों का विस्तार, व्यावसायिक संगठन का आकार और रूप, बैंकिंग, बीमा और विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राजकीय नियन्त्रण, आर्थिक नीति आदि अनेक बातें यह निर्धारित करती हैं कि बढ़ी हुई जनसंख्या समाज में कितनी उत्पत्ति को बढ़ा सकती है। पांचवें, क्योंकि अनुकूलतम जनसंख्या की कल्पना करते समय अधिकतम आर्थिक कल्याण या मानव-सुख का विचार करना चाहिये, इसलिये, आय के वितरण की भी हम उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। हम प्रति व्यक्ति अधिकतम वास्तविक आय पर इसीलिये जोर देते हैं।

स्पष्ट है कि अनुकूलतम जनसंख्या का अनुमान करते समय हम इन सभी बातों पर विचार करते हैं, इनमें से अधिकांश परिवर्तनशील होती हैं। अतः अनुकूलतम विन्दु सब के लिये स्थिर नहीं होता। यह हो सकता है कि जो जनसंख्या आज अनुकूलतम है, वह कल अनुकूलतम न रहे। उदाहरण के लिये आज हम विद्युत शक्ति के उपयोग के आधार पर अधिकतम उत्पादन की जो कल्पना करते हैं, वह अणुशक्ति के उपयोग पर काफी अपर्याप्त सिद्ध हो। जो जनसंख्या आज अनुकूलतम समझी जाती है, टेक्नोलाजी में सुधार होने पर या उत्पत्ति के नये स्रोत प्राप्त होने पर अनुकूलतम से अत्यन्त कम हो जायेगी और अनुकूलतम विन्दु आगे बढ़ जायेगा। जन्म दर, मृत्यु-दर, औसत आयु, आयु और लिंग-रचना, शारीरिक शक्ति, स्वास्थ्य, शिक्षा, ज्ञान, स्वभाव, आदत, उत्पादनशीलता, प्राकृतिक साधन, उत्पादन-कला, उत्पादन-यन्त्र, और व्यवस्था में परिवर्तन हो सकते हैं। देश की राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और आर्थिक परिस्थितियाँ भी वदल सकती हैं। इन सबका देश की वास्तविक आय में वृद्धि की सम्भावनाओं पर प्रभाव पड़ता है और इस कारण जनसंख्या का अनुकूलतम विन्दु स्थानान्तरित होता रहता है। श्री जे० बी० क्लार्क द्वारा पांच प्रकार के परिवर्तन बतलाये गये हैं—जनसंख्या में वृद्धि, पूंजी में वृद्धि, संगठन में परिवर्तन, उत्पादन कला में परिवर्तन और उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं में वृद्धि। ये पांचों प्रकार के परिवर्तन इस

संसार मे होते है और आर्थिक आंकड़े भी बदलते रहते हैं। आकस्मिक और मात्रा-रहित ये परिवर्तन इतने तेज व अविरल रूप से होते रहते हैं कि साधनो का उचित प्रयोग करने के लिये भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न जनसंख्या की मांग रहती है, अर्थात् अनुकूलतम बिन्दु मे आगे-पीछे परिवर्तन होते रहते हैं। इसी कारण किसी विशेष जनसंख्या को उस देश की अनुकूलतम कहना सन्देहपूर्ण है। श्रम-संचक विधियों के आविष्कार और प्रयोग पर किसी देश की अनुकूलतम जनसंख्या अति-जनसख्या हो जाती है। इसके विपरीत पूंजी-सचक विधियों के खोज और प्रयोग पर अनुकूलतम जनसख्या न्यून-जनसंख्या हो जाती है। इसीलिए चटर्जी ने ठीक ही कहा है—"इस आकस्मिक और प्रतिक्षण परिवर्तनीय संसार में, इसलिये, अनुकूलतम जनसंख्या को खोज, मृगतृष्णा की भांति, जो कि सदैव हमारी समझ में छल करके निकल जाती है, निष्फल रहेगी।"

Q. (a) "Optimum population is that which gives maximum income per head"—Dalton.

(b) The population which just makes the maximum returns possible is the optimum or best possible population." —Robbins.

Discuss fully the above statements;

(Agra M A 1949, 1958; Vikram. M., A. 1963)

प्रश्न (अ) अनुकूलतम जनसख्या वह है जो अधिकतम प्रति व्यक्ति आय देती है" —डाल्टन।

(ब) "वह जनसख्या जो अधिकतम उत्पत्ति को सम्भव बनाती है वह अनुकूलतम या सर्वोत्तम संभव जनसंख्या है"—राबिन्स।

उपरोक्त कथनो का पूर्ण विवेचन कीजिये।

(विक्रम एम० ए० १९६३, आगरा एम० ए०, १९४९, १९५८)

उत्तर—व्यापक आर्थिक विश्लेषण में जनसख्या को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यद्यपि जनसख्या की समस्या सभ्यता से भी अधिक पुरानी है, फिर भी प्रमुख रूप से जनसंख्या के दो सिद्धान्त आर्थिक विश्लेषण के अध्ययन में महत्वपूर्ण हैं—माल्थस का जनसख्या सिद्धान्त और अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त।

अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त यह प्रगट करता है कि जब तक किसी देश के साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाया हो, तब तक जनसंख्या में वृद्धि उस देश के औसत उत्पादन मे वृद्धि करती है, किन्तु इसके उपरान्त जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ औसत उत्पादन भी घटने लगता है। ऐसी जनसंख्या न तो इससे कम होनी चाहिये और न इससे अधिक, क्योंकि दोनो ही दशाओं में अधिकतम उत्पादन और उच्च जीवन स्तर सम्भव नहीं है।

सर्वप्रथम इस विचार को सर एडवर्ड वेस्ट ने, १८१५ में, अपने एक निबन्ध में प्रस्तुत किया था : बाद में हेनरी सिजविक ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स आफ पोलिटीकल इकानामी' में लिखा कि "उत्पादन कार्य में एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जबकि अधिकतम उत्पत्ति होती है और यह बात राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में उसी प्रकार सत्य सिद्ध होती है जिस प्रकार व्यक्तियों के सम्बन्ध में सत्य सिद्ध होती है।" किन्तु सिजविक ने कहीं भी अनुकूलतम शब्द का प्रयोग नहीं किया था। एडविन केनन ने इसलिए जनसंख्या सम्बन्धी इन विचारों को क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से एक सिद्धान्त की तरह-अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त के नाम से प्रस्तुत किया। बाद में अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का विवेचन किया, जिनमें कार साण्डर्स, डाल्टन और राबिन्स मुख्य हैं।

प्रो० केनन का मत है कि "किसी दिये हुए समय पर किसी बिन्दु तक श्रम की मात्रा में वृद्धि वर्तमान अनुपात में उपज से वृद्धि लाती है तथा उस समय बिन्दु के पश्चात् श्रम की मात्रा में वृद्धि ह्रासोन्मुख अनुपात में उपज में वृद्धि लाती है।"[2]

कार साण्डर्स के अनुसार, "अनुकूलतम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। ... यह तो नहीं कहा जा सकता है कि अधिकतम आर्थिक कल्याण और अधिकतम प्रति व्यक्ति वास्तविक आय दोनों एक ही हैं किन्तु व्यवहारिक उद्देश्यों के लिये उन्हें एक माना जाता सकता है।"

अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त की महत्वपूर्ण विशेषतायें इस प्रकार हैं—

(१) यह जनसंख्या का सम्बन्ध जीवन-निर्वाह के साधनों (Means of Subsitence) से न कर अधिकतम मानव-सुख से स्थापित करता है। खाद्य सामग्री की वृद्धि को जनसंख्या-वृद्धि की वांछनीयता का आधार न मानकर वास्तविक आय में वृद्धि को आधार मानता है।

(२) यह स्वीकार करता है कि जनसंख्या में वृद्धि श्रम की पूर्ति में भी वृद्धि करती है अतः जनसंख्या राष्ट्रीय उत्पादन का साधन है।

(३) यह जनसंख्या के आकार पर ही नहीं वरन् उसकी गुणात्मक विशेषताओं पर भी विचार करता है और प्रतिपादित करता है कि उत्पत्ति-ह्रास-नियम की मान्यताओं के अनुरूप जनसंख्या में वृद्धि होने पर उस सीमा तक जहां तक कि साधनों का पूर्ण उपयोग न हुआ हो, वृद्धिशील अनुपात में उत्पत्ति प्राप्त की जा सकती है। उस सीमा में उपरान्त जनसंख्या में वृद्धि होने पर ह्रासोन्मुख अनुपात में उत्पत्ति में वृद्धि होती है।

(४) जनसंख्या की वह मात्रा जब अधिकतम उत्पादन या अधिकतम प्रति व्यक्ति वास्तविक आय होती है, अनुकूलतम जवसंख्या कहलाती है। यदि जनसंख्या

1. Henry Sidgwick : Principles Economy.
2. Edwin Cannan : Wealth (3rd ed.) p. 56.

इससे कम या अधिक है तो अधिकतम उत्पादन सम्भव नहीं होगा और इसे हम जनसंख्या का असन्तुलन कह सकते हैं। जनसंख्या अनुकूलतम जनसंख्या से जब अधिक होती है तब अति जनसंख्या और जब कम होती है तब न्यून जनसंख्या पाई जाती है।

(५) जनसंख्या का यह अनुकूलतम विन्दु स्थिर नहीं रहता है, क्योंकि यह बिन्दु जिन आर्थिक और टेक्नीकल दशाओं पर निर्भर रहता है, वे सदा बदलती रहती हैं। कार साण्डर्स के शब्दों में "अनुकूलतम जनसंख्या (१) क्षेत्र के प्राकृतिक साधन (२) लोगों की स्वभाविक और प्राप्त आदतें, ज्ञान और निपुणता, तथा (३) आर्थिक क्रियाओं के लिये देश के भीतर और बाहर अवसरों द्वारा निर्धारित होती है।"[1] इन समकों में आकस्मिक और अविरल परिवर्तन अनुकूलतम जनसंख्या के बिन्दु को बदलते रहते हैं।

स्पष्ट है कि अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त का मुख विचार वह बिन्दु है जिससे अधिक या कम जनसंख्या नहीं होनी चाहिये। इसे कार-सॉण्डर्स अधिकतम कल्याण की स्थिति कहते हैं। किन्तु डाल्टन और राबिन्स दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रगट करते हैं।

डाल्टन के अनुसार, अनुकूलतम जनसंख्या वह है जिससे अधिकतम प्रति व्यक्ति आय प्राप्त होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि डाल्टन ने अनुकूलतम जनसंख्या पर प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होंने व्यक्ति और उसकी आय को अधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार जनसंख्या अनुकूलतम बिन्दु पर होती है जबकि देश में उपलब्ध प्रसाधनों एवं विद्यमान टेकनीक की सहायता से इतना उत्पादन करती है कि प्रति व्यक्ति अधिकतम आय प्राप्त हो। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुकूलतम बिन्दु से पहले प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है और जनसंख्या वृद्धि की दर उत्पादन-वृद्धि की दर से कम होती है, तथा उस बिन्दु के बाद प्रति व्यक्ति आय घटती हैं और जनसंख्या में उत्पादन की अपेक्षा अधिक तीव्र दर से वृद्धि होती है। इस बिन्दु पर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है। इस प्रकार डाल्टन औसत उत्पादन द्वारा जनसंख्या की अनुकूलतम अवस्था निर्धारित करते हैं।

राबिन्स के अनुसार "जो जनसंख्या अधिकतम उत्पादन को सम्भव बनाती है, वह अनुकूलतम या सर्वोत्तम सम्भव जनसंख्या है।" उनका आशय यह है कि यदि जनसंख्या उस सीमा तक बढ़ती रहे जब तक कि सीमान्त व्यक्ति से उत्पादन शून्य हो जाता है तो उसे अनुकूलतम जनसंख्या कहा जायेगा। राबिन्स यह मानते हैं कि अति-जनसंख्या का भय तब तक नहीं है, जब तक कि देश का प्रत्येक व्यक्ति लाभपूर्वक नियोजित है, अर्थात् जब तक वह समाज को उतना उत्पन्न करने में सहायता कर

1 Carr Saunders, World Population, p 330.

रहा है, जितना कि वह अपने जीवन-निर्वाह के लिये उपभोग करता है। यद्यपि ऐसा करने से दूसरे व्यक्तियों की आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और प्रति व्यक्ति आय घट जाती है, क्योंकि उत्पादन के साधनों के संयोग में पूर्ण सन्तुलन नहीं रहता है, तथापि इस सम्बन्ध में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या जितना उपभोग करती है, उतना या उससे अधिक उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार राबिन्स उस जनसंख्या को अनुकूलतम मानते हैं जहां पर सीमान्त उपभोग और सीमान्त आय बराबर हो जाती है। अन्य शब्दों में, वे अधिकतम सामाजिक उत्पादन पर विचार करते हैं। उन्होंने प्रति व्यक्ति औसत आय के स्थान पर औसत सामाजिक उत्पादन पर बल दिया है। यदि जनसंख्या में वृद्धि से औसत सामाजिक उत्पादन में थोड़ी सी भी वृद्धि होती हो, अर्थात् वह अपने उपभोग से अधिक उत्पत्ति करने में समर्थ हो, तो जनसंख्या की ऐसी वृद्धि वांछनीय है।

अब उदाहरण से डाल्टन और राबिन्स के दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट हो जायेगा :—

जनसंख्या (करोड़ों में)	उत्पादन कुल (करोड़ों में)	उत्पादन प्रति व्यक्ति	उपभोग कुल (करोड़ों में)	उपभोग प्रति व्यक्ति	अतिरिक्त उत्पादन (करोड़ों में)	रिमार्क
१०	८००	८०	७००	७०	१००	
२०	१८००	९०	१५००	७५	३००	
३०	३०००	१००	२४००	८०	६००	डाल्टन
४०	४४००	११०	३६००	९०	८००	विन्दु
५०	५०००	१००	४५००	९०	५०६	
६०	५४००	९०	५१००	८५	३००	
७०	४९००	७०	४९००	७०	०००	राविन्स
८०	४८००	६०	५६००	७०	−८००	विन्दु
९०	४५००	५०	६३००	७०	−१८००	

यह तालिका स्पष्ट करती है कि डाल्टन के अनुसार अनुकूलतम जनसंख्या जहाँ ४० करोड़ होगी क्योंकि प्रति व्यक्ति उत्पादन इसी अवस्था में अधिकतम रह सकता है, वहाँ राविन्स के अनुसार अनुकूलतम जनसंख्या ७० करोड़ होगी क्योंकि यही वह अवस्था है जब प्रति व्यक्ति उपभोग और उत्पादन बराबर, अतिरिक्त उत्पादन शून्य और कुल उत्पादन अधिकतम है। निम्न चित्र अनुकूलतम विन्दुओं को प्रगट करता है—

इस चित्र से प्रगट है कि P विन्दु अनुकूलतम जनसंख्या Q को, डाल्टन के अनुसार, प्रगट करती है क्योंकि तब प्रति व्यक्ति आय और प्रति व्यक्ति उपभोग दोनों

ही अधिकतम हैं। P बिन्दु से दाहिनी ओर बहुत परे P_1 बिन्दु अनुकूलतम जनसंख्या Q_1 को राबिन्स के अनुसार प्रगट करती है क्योंकि इस दशा में प्रति व्यक्ति उत्पादन
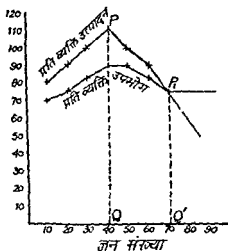
चित्र—४

और प्रति व्यक्ति उपभोग दोनों बराबर हैं और जनसंख्या अपने उपभोग के लिए आवश्यक उत्पादन करने में समर्थ है।

उपरोक्त उदाहरण निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत करता है—

(१) डाल्टन के अनुकूलतम बिन्दु से दाहिनी ओर राबिन्स का अनुकूलतम बिन्दु होता है, अर्थात् राबिन्स के विचार में अनुकूलतम जनसंख्या डाल्टन की जनसंख्या से अधिक होती है।

(२) डाल्टन की जनसंख्या-विचारधारा अनुकूलतम जनसंख्या की अवस्था के लिये अधिकतम प्रति व्यक्ति आय को आवश्यक मानती है, किन्तु राबिन्स इसे आवश्यक नहीं मानते।

(३) डाल्टन केवल श्रम की उत्पादनशीलता (या प्रति व्यक्ति आय) पर विचार करते हैं, किन्तु राबिन्स श्रम की उत्पादनशीलता की तुलना श्रम के उपभोग से करते हैं।

(४) डाल्टन की दृष्टि में प्रति व्यक्ति आय में कमी होना जनसंख्या की अधिकता या न्यूनता को प्रगट करता है, किन्तु राबिन्स के विचार में अति-जनसंख्या तभी होती है जबकि वह अपने उपभोग के लिये आवश्यक उत्पादन से कम उत्पन्न करती हो।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुकूलतम जनसंख्या के सम्बन्ध में डाल्टन

के विचार संकुचित और व्यक्तिवादी हैं। वे अनुकूलतम जनसंख्या के सम्बन्ध में ऐसी जनसंख्या की कल्पना करते हैं, जब प्रत्येक व्यक्ति की आय अधिकतम होती है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम जीवन-स्तर पर उपभोग करने और अधिकतम बचत के द्वारा समृद्ध होने के लिये स्वतन्त्र और समर्थ होता है। इससे अधिक जनसंख्या, भले ही यह अधिक जनसंख्या अपने उपभोग के लिये आवश्यक उत्पन्न करने में समर्थ हो, अवांछनीय है क्योंकि तब प्रति व्यक्ति आय घट जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उपभोग और बचत में होने वाली कमी, मनुष्य के जीवन-स्तर और समृद्धि के अवसरों में कमी हो जाती है।

किन्तु इस सम्बन्ध में राबिन्स के विचार अधिक व्यापक और उदार हैं। वे व्यक्ति पर विचार करते हुए सम्पूर्ण समाज पर विचार करते हैं। वे व्यक्ति की आय पर विचार न करते हुए इस बात पर विचार करते हैं कि उपभोग के लिये जितना उत्पादन आवश्यक है, वह कब तक उत्पन्न किया जा सकता है। उन्हें प्रति व्यक्ति आय में कमी होने पर भी बढ़ती हुई जनसंख्या से तब तक आपत्ति नहीं है जब तक कि—वह समाज पर भार नहीं होती, वह लाभपूर्वक कार्य-रत है और अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक उत्पादन से अधिक उत्पन्न करती है। राबिन्स द्वारा बताई गई अनुकूलतम जनसंख्या डाल्टन की अनुकूलतम जनसंख्या से कहीं अधिक होती है। राबिन्स जनसंख्या के रोज़गार पाने पर और कुल उत्पादन के अधिकतम होने पर ज़ोर देते हैं, किन्तु वे श्रम की अधिकतम उत्पादकता और उत्पादन के वितरण पर ध्यान नहीं देते। व्यवहारिक दृष्टिकोण से, इसलिये, राबिन्स के विचार उतने उपयोगी नहीं हैं, जितने कि डाल्टन के, यद्यपि वे अधिक वैज्ञानिक और उदार हैं।

Q. "The optimum theory of population may be called an improvement over the Malthusian Theory, but it does not provide a satisfactory explanation of the population problem" Discuss.
(Agra 1959 M. Com.)

OR

Q. Is Optimum Theory an improvement on the Malthusian Theory of Population. Give reasons.
(Vikram 1959 M. A.; Agra 1948, 1950; 1954, 1959 M. A.)

प्रश्न—"अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त को माल्थस के सिद्धान्त में सुधार कहा जा सकता है, किन्तु वह भी जनसंख्या की समस्या का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं करता है।" विवेचन कीजिये। (आगरा १९५९ एम० कॉम०)

या

प्रश्न— क्या अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त पर सुधार है ? कारण दीजिए।

(विक्रम १९६४ एम० ए०, आगरा १९४८, १९५०, १९५४, १९५६)

उत्तर—प्रत्येक व्यक्ति उतना ही देखता है जितना कि उसे अपने आसन से दीखता है—यह कहावत जनसंख्या के अध्ययन पर भी लागू होती है। यद्यपि, मार्शल के शब्दों में, जनसंख्या की समस्या सभ्यता से भी अधिक पुरानी है, तथापि आज तक कोई पूर्ण सन्तोषप्रद सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हो पाया है। प्रारम्भ में लोगों का विश्वास था कि जनसंख्या में वृद्धि से राजनीतिक और आर्थिक शक्ति में वृद्धि होती है। व्यापारवादी और प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री भी जनसंख्या की वृद्धि को लाभदायक ही समझते थे। किन्तु कष्ट और पाप के बढ़ते हुए वातावरण को देखकर माल्थस ने जो 'जनसंख्या का सिद्धान्त' प्रतिपादित किया, वह इस प्रकार की मान्यताओं के बिल्कुल विपरीत है। संक्षेप में, माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त यह प्रकट करता है कि—"जनसंख्या खाद्य सामग्री की अपेक्षा, यदि खाद्य-सामग्री गणितीय अनुपात में हो तो ज्यामितीय अनुपात में, बहुत तेजी से बढ़ती है और यदि मानवीय प्रयत्नों द्वारा, आत्म संयम आदि से, जनसंख्या में वृद्धि नहीं रोकी गई तो पाप और कष्टों द्वारा प्रकृति स्वयं ही मृत्यु दर बढ़ाकर उस पर प्रतिबन्ध लगा देगी क्योंकि जनसंख्या में वृद्धि आवश्यक रूप से जीवन निर्वाह की उपलब्धता द्वारा सीमित होती है।" इस प्रकार माल्थस ही पहला व्यक्ति था जिसने जनसंख्या की समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। उनके विचारों का प्रभाव न केवल अर्थशास्त्र पर पड़ा है वरन् डार्विन ने अपना प्राकृतिक चुनाव का सिद्धान्त भी माल्थस से ही ग्रहण किया है। माल्थस ने ही यह बतलाया कि जनसंख्या की अधिकता ही प्राकृतिक विपत्तियों, युद्ध, दुर्भिक्ष, निर्धनता तथा अन्य कष्टों का कारण है, इसलिये काम-वासना पर आत्म-संयम के द्वारा नियन्त्रण करके जन्म-दर को कम करना चाहिये। उन्होंने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये सांख्यिकी और आगमन-प्रणाली का प्रयोग किया। उन्हें ही जनसंख्या के प्रयोगिक विचार पर आर्थिक अध्ययन को आधारित करने का श्रेय दिया जाना चाहिये। इस प्रकार उनका सिद्धान्त आर्थिक विश्लेषण के लिये एक महत्वपूर्ण देन है। किन्तु इतना होते हुए भी माल्थस के विचारों की जितनी आलोचना हुई उतनी किसी की भी नहीं। पनार्क के शब्दों में, "माल्थस के सिद्धान्त की इतनी बार आलोचना हुई है कि उससे उसकी पुष्टि होती है।" वास्तव में माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त में अनेक दोष हैं। एक तो माल्थस ने जनसंख्या के आकार और खाद्य-सामग्री में वृद्धि के बीच सम्बन्ध पर ही विचार किया और उत्पादन के समस्त प्रभावों, उसके वितरण एवं जनसंख्या की विशेषताओं और उत्पादनशीलता की उपेक्षा की। दूसरे उसने उत्पत्ति-ह्रास-नियम को गलत समझा और स्थिर अवस्था की कल्पना कर उत्पादन एवं जनसंख्या में होने वाले परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया।

तीसरे, उसका यह मानना ठीक नहीं था कि प्राकृतिक प्रकोप, दुर्भिक्ष, युद्ध और निर्धनता अति-जनसंख्या के कारण हैं और जनसंख्या में वृद्धि को रोकने के लिये संयम ही एकमात्र उचित उपाय है। चौथे, उसने आगमन प्रणाली, वृद्धि-सूत्रों और सामान्य धारणाओं का दोषपूर्ण उपयोग कर गलत ढंग से सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। अन्त में, वह अत्यन्त निराशावादी था और उसका यह निष्कर्ष कि बढ़ती हुई जनसंख्या विपत्ति की सूचक होती है, अनुभव के विपरीत एवं अविवेकपूर्ण था।

इन्हीं सब बातों के कारण अर्थशास्त्री यह अनुभव कर रहे थे कि माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त पूर्ण एवं वैज्ञानिक नहीं है। इसलिये सर्वप्रथम एडवर्ड वेस्ट ने १९१५ में, माल्थस के सिद्धान्त के प्रकाशन के दस वर्षों बाद, अपने निबन्ध में प्रतिपादित किया किया कि जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे वहाँ के श्रम में विशिष्टीकरण भी बढ़ता है और परिणामस्वरूप देश के औसत उत्पादन में वृद्धि होती है।[1] इसके पश्चात् हेनरी सिजविक ने उत्पति के नियमों की कार्यशीलता पर विचार करने के उपरान्त यह बतलाया कि उत्पादन-कार्य में एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जबकि अधिकतम उत्पत्ति होती है और यह बात किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में उसी प्रकार सत्य सिद्ध होती है जिस प्रकार की व्यक्तियों के सम्बन्ध में सत्य सिद्ध होती है।[2] किन्तु जनसंख्या सम्बन्धी इन विचारों को क्रम-बद्ध एवं व्यवस्थित करके एडविन केनन ने अपनी 'सम्पत्ति' नामक पुस्तक में अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। बाद में, कार साण्डर्स, डाल्टन और राबिन्स जैसे अनेक अर्थशास्त्रियों ने इसका विवेचन और विश्लेषण किया।

प्रो० केनन का मत है कि "किसी दिये हुए समय पर किसी बिन्दु तक श्रम की मात्रा में वृद्धि वृद्धिमान अनुपात में उपज में वृद्धि लाती है तथा उस बिन्दु के उपरान्त श्रम की मात्रा में वृद्धि ह्रासोन्मुख अनुपात में उपज में वृद्धि लाती है।"[3] डा० कार साण्डर्स के अनुसार, "इसलिये, अनुकूलतम जनसंख्या वह है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि अधिकतम आर्थिक कल्याण और अधिकतम प्रति व्यक्ति आय एक ही है, फिर भी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिये उन्हें एक समान माना जा सकता है।"[4] डाल्टन भी कहते हैं, "अनुकूलतम जनसंख्या वह है जिससे अधिकतम प्रति व्यक्ति आय प्राप्त हो। राबिन्स के अनुसार, "जो जनसंख्या अधिकतम उत्पादन को सम्भव बनाती है, उसे अनुकूलतम या सर्वोत्तम सम्भव जनसंख्या कहा जाता है।" संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार, "आर्थिक अनुकूलतम जनसंख्या वह होती है जो किसी देश के वर्तमान में दी हुई टेक्नीकल और आर्थिक दशाओं में प्रति व्यक्ति अधिकतम उपज प्रदान करती है।"

1. Edward West : An Essay on Application of Capital to land.
2. Henry Sidgwick : Principle of Political Economy.
3. Edwin Cannan ; Wealth.
4. Carr Saunders : World Population.

इस प्रकार अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त यह प्रगट करता है कि जब तक किसी देश के प्राकृतिक और मानवीय साधनों का पूरा उपयोग नही हो जाता तब तक जनसंख्या (श्रम की पूर्ति) मे वृद्धि वांछनीय है क्योंकि यह वृद्धि औसत उत्पादन में वृद्धि करती है, किन्तु इसके उपरान्त जनसंख्या मे वृद्धि के साथ औसत उत्पादन घटने लगता है और वृद्धि वांछनीय नहीं है। ऐसी जनसंख्या जब उत्पादन अधिकतम होता है, अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है। जनसंख्या न तो इससे कम और न इससे अधिक होनी चाहिये क्योंकि दोनों ही दशाओं में अधिकतम उत्पादन और उच्चतम जीवन-स्तर सम्भव नही है। इस सिद्धान्त के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं :—

(१) जनसंख्या का लक्ष्य अधिकतम आर्थिक कल्याण होता है।
(२) जनसंख्या मे वृद्धि श्रम की पूर्ति में वृद्धि करती है, अत: जनसंख्या राष्ट्रीय उत्पादन का साधन है।
(३) राष्ट्रीय उत्पादन मे भी उत्पत्ति-ह्रास-नियम क्रियाशील होती है, अर्थात् एक सीमा तक जब तक कि साधनो और टेक्नालाजी का अधिकतम उपयोग न हुआ हो—जनसंख्या मे वृद्धि से वृद्धिशील अनुपात मे और उस सीमा के बाद ह्रासोन्मुख अनुपात में वृद्धि होती है।
(४) जनसंख्या की वह मात्रा जब अधिकतम उत्पादन या अधिकतम प्रति व्यक्ति आय प्राप्त होती है, अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है। जनसंख्या इससे कम या अधिक नही होनी चाहिये। कम होने पर जन-न्यूनता और अधिक होने पर जनाधिक्य की समस्या उत्पन्न होती है, दोनों ही असन्तुलन की दशायें हैं और अधिकतम से कम उत्पादन को प्रगट करती है।
(५) जनसंख्या का यह अनुकूलतम बिन्दु स्थिर नहीं रहता है क्योंकि यह बिन्दु आर्थिक और तकनीकी दशाओं पर जो कि बदलती रहती हैं, निर्भर होता है।

माल्थस का सिद्धान्त और अनुकूलतम सिद्धान्त :—

उपरोक्त विवेचन से माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त और अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त दोनों की ही विशेषतायें स्पष्ट है। वास्तव मे अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त पर एक उन्नति है और उसके दोषों का निराकरण करता है। वास्तव में माल्थस के सिद्धान्त की जितनी भी आलोचनायें की जाती हैं, उनसे बचने का यह एक रचनात्मक प्रयत्न है। संक्षेप मे माल्थस के सिद्धान्त की तुलना में अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त के निम्न गुण हैं :—

(१) यह सिद्धान्त अधिकतम आर्थिक कल्याण को जनसंख्या का लक्ष्य मानता है, जबकि माल्थस यह मानते थे कि जीवन-निर्वाह के साधनों की उपलब्धता पर जनसंख्या-वृद्धि निर्भर है।

(२) यह सिद्धान्त अधिकतम आय से जनसंख्या को सम्बन्धित करता जबकि माल्थस उसे केवल खाद्य सामग्री से सम्बन्धित करते थे।

(३) यह सभी प्रकार के उत्पादन पर विचार करते हैं, जबकि माल्थस केवल कृषि पर ही विचार किया।

(४) जनसंख्या के केवल आकार पर ही, इस सिद्धान्त में विचार नहीं हुआ है और जनसंख्या की स्वाभाविक और अर्जित आदतों, योग्यताओं, ज्ञान और निपुणता पर भी विचार किया है, जबकि माल्थस का सिद्धान्त केवल जनसंख्या आधार पर विचार करता है।

(५) यह सिद्धान्त जनसंख्या की उत्पादनशीलता पर भी विचार और उसे राष्ट्रीय उत्पादन का साधन मानता है, किन्तु माल्थस ने इस पक्ष प नहीं दिया था।

(६) इस सिद्धान्त में उत्पत्ति-ह्रास-नियम की सही और उचित व्या गई है, जबकि माल्थस ने उसे गलत समझा था।

(७) माल्थस ने स्थिर अवस्था की कल्पना की थी और उत्पादन ए संख्या में होने वाले परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया। किन्तु यह सिद्धान्त करता है कि जनसंख्या, उसके आकार, आयु एवं लिंग विभाजन, शारीरिक शिक्षा, ज्ञान और निपुणता में, प्राकृतिक साधनों में, आर्थिक क्रियाओं को प्र करने वाले और बाहरी अवसरों में, उत्पादन कला में, वितरण में और अन्य में परिवर्तन हो सकते हैं।

(८) यह सिद्धान्त न्यून जनसंख्या और जनसंख्या दोनों पर करता हैं, किन्तु माल्थस ने केवल अति-जनसंख्या पर ही विचार किया था। त यह प्राकृतिक प्रकोपों को अति जनसंख्या का कारण नहीं मानता। इस प्रकार, जनसंख्या की परख, माल्थस के सिद्धान्त की अपेक्षा, इस सिद्धान्त की वास्तविक, वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण है।

(९) यह सिद्धान्त जनसंख्या के असन्तुलन को वास्तविक जनसंख्या और कूलतम जनसंख्या के अन्तर द्वारा प्रगट करता है, जबकि माल्थस उसे जनसंख्य तुलना में खाद्य सामग्री में वृद्धि से करते हैं।

(१०) जनसख्या को रोकने के लिए माल्थस ने जो संयम आदि के वहारिक एवं कठिन उपाय बताये थे उनकी तुलना में इस सिद्धान्त द्वारा नि उपाय, जैसे कि उत्पादन के नये साधनों की खोज, उत्पादन कला में उन्नति, पूं वृद्धि और अधिक न्यायोचित वितरण आदि, अधिक सरल हैं।

(११) यह सिद्धान्त निगमन प्रणाली पर आधारित है और इसकी मा सही और उचित हैं, जबकि माल्थस का सिद्धान्त आगमन प्रणाली और अ परीक्षण पर आधारित था।

(१२) इस सिद्धान्त में माल्थस के सिद्धान्त की भांति आंकड़ों का, गणि सूत्रों का, यौन, जीव, सन्तति सम्बन्धी धारणाओं का उपयोग नहीं किया गया अतः यह इस सम्बन्ध में दोष रहित है।

(१३) अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त आशावादी है और माल्थस का सिद्धान्त निराशावादी। इस सिद्धान्त के अनुसार बढ़ती हुई जनसंख्या हमेशा ही विपत्ति की सूचक नहीं होती, वरन् वह दशाओं में सुधार या उन्नति की चिन्ह भी हो सकती है।

(१४) इस प्रकार, अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त की तुलना मे अधिक निर्देश, व्यापक, सरल और वैज्ञानिक है।

स्पष्ट है कि अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त से श्रेष्ठ है। एक प्रकाश स्तम्भ की भांति वह हमें न केवल प्रकाश प्रदान करता है, वरन् सही दिशा ज्ञान मे भी सहायता प्रदान करता है। प्रो० वैश्य के शब्दों में, "आधुनिक अर्थशास्त्रियों का अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त जनसंख्या विज्ञान में एक महत्वपूर्ण कदम है। यह माल्थस के सिद्धान्त में एक से अधिक विषयों में सुधार है। यह जीवन के तथ्यों और समस्याओं के प्रति इसकी अपेक्षा अधिक सजग है।"[1]

अनुकूलतम सिद्धान्त के दोष :—

किन्तु फिर भी यह सिद्धान्त जनसंख्या की समस्या का पूर्ण और सन्तोषप्रद स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं करता। जनसंख्या की समस्या के स्पष्टीकरण के लिये केवल यह विचार, कि अधिकतम औसत उत्पत्ति के लिए कितनी जनसंख्या आवश्यक होती है, पर्याप्त नहीं है। वास्तव मे जनसंख्या की समस्या इससे कहीं अधिक व्यापक और गम्भीर है। यह सिद्धान्त उत्पत्ति-ह्रास-नियम का ही एक व्यापक निरूपण है और श्रम की वृद्धि के राष्ट्रीय उत्पादन पर होने वाले प्रभावों को स्पष्ट करता है। किन्तु जनसंख्या की समस्या इतनी संकीर्ण, अमहत्वपूर्ण और आर्थिक ही नहीं है। इस प्रकार, जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त यद्यपि माल्थस के सिद्धान्त की अपेक्षा

अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त के दोष

(१) जनसंख्या में क्यों और कैसे वृद्धि होती है, इसे स्पष्ट नहीं करता है।
(२) यह कुल उत्पादन पर जोर देता है, किन्तु उसके वितरण पर विचार नहीं करता।
(३) उत्पादन बढ़ाने पर जोर देता है, किन्तु उत्पादन बढ़ाने की रीतियों पर विचार नहीं करता।
(४) सामाजिक एवं राजनीतिक उद्देश्यों की अवहेलना करता है।
(५) जनसंख्या-नियन्त्रण की रीतियाँ नहीं बतलाता है।
(६) अनुकूलतम जनसंख्या का विचार अव्यवहारिक व व्यर्थ है।

1. Prof. Vaish and Sundaram : Principles of Economics p. 193

(२) यह सिद्धान्त अधिकतम आय से जनसंख्या को सम्बं
जबकि माल्थस उसे केवल खाद्य सामग्री से सम्बन्धित करते थे।

(३) यह सभी प्रकार के उत्पादन पर विचार करते हैं, ज
केवल कृषि पर ही विचार किया।

(४) जनसंख्या के केवल आकार पर ही, इस सिद्धान्त में
है और जनसंख्या की स्वाभाविक और अर्जित आदतों, योग्यत
निपुणता पर भी विचार किया है, जबकि माल्थस का सिद्धान्त के
आधार पर विचार करता है।

(५) यह सिद्धान्त जनसंख्या की उत्पादनशीलता पर भी
और उसे राष्ट्रीय उत्पादन का साधन मानता है, किन्तु माल्थस ने
नहीं दिया था।

(.) इस सिद्धान्त में उत्पत्ति-ह्रास-नियम की सही और
गई है, जबकि माल्थस ने उसे गलत समझा था।

(७) माल्थस ने स्थिर अवस्था की कल्पना की थी औ
संख्या में होने वाले परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया। किन्तु
करता है कि जनसंख्या, उसके आकार, आयु एवं लिंग विभा
शिक्षा, ज्ञान और निपुणता में, प्राकृतिक साधनों में, आर्थिक
करने वाले और बाहरी अवसरों में, उत्पादन कला में, वितर
में परिवर्तन हो सकते हैं।

(८) यह सिद्धान्त न्यून जनसंख्या और जनसंख्
करता है, किन्तु माल्थस ने केवल अति-जनसंख्या पर ही वि
यह प्राकृतिक प्रकोपों को अति जनसंख्या का कारण नहीं म
जनसंख्या की परख, माल्थस के सिद्धान्त की अपेक्षा, इ
वास्तविक, वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण है।

(९) यह सिद्धान्त जनसंख्या के असन्तुलन को वार
अनुकूलतम जनसंख्या के अन्तर द्वारा प्रगट करता है, जबकि
तुलना में खाद्य सामग्री में वृद्धि से करते हैं।

(१०) जनसख्या को रोकने के लिए माल्थस ने
व्यवहारिक एवं कठिन उपाय बताये थे उनकी तुलना में इ
उपाय, जैसे कि उत्पादन के नये साधनों की खोज, उत्
वृद्धि और ... आदि अधिक स

कोण से वांछनीय भी हो सकती है। अधिकतम प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से अनुकूलतम जनसंख्या कम हो सकती है, किन्तु राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से यह अधिक होनी चाहिए।

पाँचवें, जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने या कम करने पर ध्यान नहीं देता, यह केवल उत्पादन में वृद्धि पर जोर देता है। वास्तव में जन वृद्धि की समस्या की गम्भीरता पर ध्यान नहीं देता है और जनसंख्या की समस्या का हल प्रस्तुत करने में यह असफल रहा है, क्योंकि अति जनसंख्या की दशा में उत्पादन तेजी से नहीं बढ़ाया जा सकता। जनसंख्या को कम करने, जन्म दर को कम करने जनसंख्या वृद्धि को रोकने के उपायों पर इस सिद्धान्त में विचार नहीं किया गया है और न इनके प्रभावों को ही स्पष्ट किया गया है।

अन्त में, अनुकूलतम जनसंख्या का अनुमान लगाना न केवल कठिन और अव्यवहारिक है, वरन् यह व्यर्थ भी है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि कुल जनसंख्या में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात, लोगों की आदतें, रुचियाँ, ज्ञान और निपुणता, देश के प्राकृतिक साधन, और आर्थिक क्रियाओं के भीतरी और बाहरी अवसर पूर्ववत् ही बने रहते हैं। किन्तु वास्तव में ये सब परिवर्तनशील हैं और इन परिवर्तनों के कारण अधिकतम उत्पादन के लिए भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न जनसंख्या की माँग रहती है। अतः किसी देश के लिए अनुकूलतम जनसंख्या का बिन्दु सदा बदलता रहता है और यह कहना अत्यन्त कठिन है कि किसी देश की अनुकूलतम जनसंख्या का बिन्दु सदा बदलता रहता है और यह कहना अत्यन्त कठिन है, कि किसी देश की अनुकूलतम जनसंख्या क्या होगी। किसी विकासवान देश में तो यह असम्भव है। फिर इस सिद्धान्त की यह धारणा कि जनसंख्या में परिवर्तन होता है, किन्तु ज्ञान परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं होता, इस सिद्धान्त की व्यावहारिक उपादेयता नष्ट कर देता है। प्रो० चटर्जी के शब्दों में, "इस आकस्मिक और प्रतिक्षण परिवर्तनीय संसार में, इसलिए अनुकूलतम जनसंख्या की खोज, मृग-तृष्णा की भाँति जो कि सदैव हमारी समझ से छल करके निकल जाती है, निष्फल रहेगी।"[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त ने माल्थस के सिद्धान्त के अनेक दोषों का परिष्कार किया है, तथापि वह जनसंख्या की समस्या का सन्तोषपूर्ण स्पष्टीकरण नहीं प्रस्तुत करता। इस प्रकार दोनों ही सिद्धांत आर्थिक विश्लेषण में महत्वपूर्ण हैं, जहाँ माल्थस का सिद्धान्त इस समस्या की गम्भीरता को प्रगट करता है, वहाँ अनुकूलतम सिद्धान्त उसकी व्यापकता को। व्यावहारिक दृष्टिकोण से माल्थस का सिद्धान्त और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अनु-

1. Prof. Chatterji : Modern Economics, p.63,

अधिक श्रेष्ठ है, तथापि उसमें जो दोष आ गये हैं उनके कारण उसकी व्यवहारिक उपयोगिता कम हो गई है।

सर्वप्रथम, देश की जनसंख्या में क्यों और कैसे वृद्धि होती है, उसे यह सिद्धान्त स्पष्ट नहीं करता है। जनसंख्या की समस्या का सन्तोषप्रद स्पष्टीकरण तभी सम्भव है जबकि यह बताया जा सके कि जनसंख्या किस प्रकार बढ़ती है। किन्तु जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त इस विषय में मौन है, वह केवल यह बतलाता है कि अनुकूलतम जनसंख्या क्या होती है और वास्तविक जनसंख्या के उससे भिन्न होने के कारण असन्तुलन का जन्म होता है। पर्ल के प्राणिशास्त्रीय सिद्धान्त[1] और कुजिन्सकी के "शुद्ध पुनरुत्पादन दर"[2] की भांति यह सिद्धान्त जनसंख्या की वृद्धि के कारण और स्वभाव पर प्रकाश नहीं डालता।

दूसरे, यह सिद्धान्त केवल उत्पादन पर ही जोर देता है किन्तु राष्ट्रीय आय के वितरण की इसमें उपेक्षा की गई है। सच तो यह है कि राष्ट्रीय आय के वितरण का प्रश्न उत्पादन की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसके न्यायोचित वितरण से देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है और उसके अनुचित और विषम वितरण से अनेक सामाजिक बुराइयों को जन्म मिलता है। अतः यह सम्भव है कि किसी देश में जनसंख्या के बढ़ने से औसत उत्पादन तो बढ़ रहा हो और फलस्वरूप प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ रही हो, किन्तु बढ़े हुए धन का कुछ मुट्ठी भर लोगों के पास केन्द्रीय-करण हो रहा हो, जिससे कि सामान्य जनता में अधिक गरीबी बढ़ रही हो और उसके कल्याण में कमी हो रही हो। इस दशा में जनसंख्या के बढ़ने को कदापि अच्छा नहीं कहा जा सकता।

तीसरे, यह सिद्धान्त केवल इस बात पर विचार करता है कि उत्पादन अधिकतम हो, किन्तु अधिकतम आय किस प्रकार प्राप्त की गई है इस पर यह सिद्धान्त ध्यान नहीं देता। संक्षेप में, यह सिद्धान्त अत्यन्त संकीर्ण और भौतिकवादी है। प्रो० व्हिपल के शब्दों में, "किसी देश का वास्तविक धन उस देश के भूमि, जल, वन, खनिज, पशु या डालरों में नहीं है वरन् उस देश के सुखी और सम्पन्न स्त्री, पुरुषों और बच्चों में निहित है।" केवल यही आवश्यक नहीं है कि वहाँ के लोगों की आय बढ़े, परन्तु उससे भी अधिक यह आवश्यक है कि वे लोग शरीर स्वस्थ, चरित्रवान् बुद्धिमान्, प्रतिभा सम्पन्न और सुखी हों।

चौथे, यह सिद्धान्त केवल आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करता है और सामाजिक उद्देश्यों की अवहेलना करता है। हम केवल उत्पादन में होने वाली वृद्धि से ही जनसंख्या की वृद्धि की वांछनीयता अवांछनीय पर विचार नहीं कर सकते। आर्थिक दृष्टिकोण से जो स्थिति वांछनीय है, वह राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि

1. Raymond Pearl : The Biology of Population Growth.
2. Kuczynski : Net Reproduction Rate : Balance of Births and Deaths p. 44.

वृत्ति और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा एक ही है। उसके अनुसार कामेच्छा एक प्राकृतिक वृत्ति है और उसका सन्तुष्ट किया जाना आवश्यक है, किन्तु सन्तानेच्छा एक मानवीय इच्छा है और उसका कामेच्छा से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार कामेच्छा का सन्तुष्ट होना आवश्यक है किन्तु सन्तानोत्पत्ति अनावश्यक हो सकती है। इसलिये, नवमाल्थसवादी माल्थस की भाँति केवल आत्मसंयम का सुझाव न देकर सन्तनि-निग्रह उपायों का और परिवार नियोजन का परामर्श देते हैं। ये लोग सन्तति-निरोध के प्रबल समर्थक हैं, जिसका उद्देश्य शारीरिक, रासायनिक, यान्त्रिक एवं शल्य चिकित्सात्मक उपायों द्वारा किसी स्वस्थ पुरुष-स्त्री के समागम पर भी गर्भधारण को रोकना है। इसके द्वारा मनुष्य की कामेच्छा को भी तृप्त किया जा सकता है और जनसंख्या की वृद्धि को भी रोका जा सकता है। परिवार-नियोजन इसी का परिष्कृत रूप है जो वांछित गुणवान और सम्पन्न जनसंख्या की वृद्धि पर जोर देता है। इनके अनुसार सन्तति-निरोध समाज के सभी व्यक्तियों के लिये आवश्यक है, क्योंकि इससे अविवाहित व्यक्तियों के सम्भोग-कर्म के दुष्परिणाम रोके जा सकते हैं, विवाहित दम्पति का जीवन अधिक सुखमय हो सकता है, आर्थिक सन्तुलन कायम रखा जा सकता है और राष्ट्र की उन्नति हो सकती है। किन्तु नवमाल्थसवादियों की इस विचारधारा का अनेक लोग विरोध करते हैं क्योंकि इसे वे अनैतिक, पाप, धर्मविरुद्ध और कृत्रिम मानते हैं। प्रो० जोड का कहना है कि माल्थस यदि आज जीवित होता तो वह नव-माल्थसवादी नहीं होता। वह अपने अनुयायियों को, प्रकृति द्वारा सौंपे गये दायित्वों से मुक्त होने के लिये मनुष्यों द्वारा वासनात्मक कपटों के व्यवहार के लिये कभी भी इच्छापूर्वक क्षमा नहीं करता। माल्थस ने केवल आत्मसंयम की सिफारिश की थी और गर्भ-निरोध को वह पाप समझता था। किन्तु माल्थस ने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्कर में जिन विवेकपूर्ण निरोधों की चर्चा की है, उसके अनुरूप, माल्थस का आशा दुराचार, वेश्यागमन या गर्भपात का विरोध करना था, न कि सन्तति-नि गर्भनिरोधक कार्यवाहियों का। फिर माल्थस स्वयं आत्मसंयम को अन कामेच्छा को अदमनीय मानते थे। अतः स्पष्ट है कि यदि मा नवमाल्थसवादियों के साथ होते और उनका समर्थन कर निरोध को समाज का श्रेष्ठ वर्ग ही अपनाता रहा तो ॰ जनसंख्या का एक दिन लोप हो जावेगा। श्रेष्ठ आवश्यकता नहीं है, जितनी की निम्न वर्ग में

जनसंख्या का

(Biologic

इस सिद्धान्त का निर्म

उन्होंने फल की मक्खियों पर कु

न्यूनतम सिद्धान्त जनसंख्या की समस्या का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं— बतलाता है, मकान में रहने वालों की संख्या बढ़ रही है जबकि अनुकूलतम के अनुसार उस मकान में पाँच व्यक्ति, न उससे कम और न उससे अधिक चाहिएं।

Q. **Write short notes on the following—**

(a) Neo-Malthusians

(b) Biological Theory of Population

(c) Net Reproduction Rate

(d) Family Planning

प्रश्न—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये—

(अ) नव-माल्थस-वादी

(ब) जनसंख्या का प्राणिशास्त्रीय सिद्धान्त

(स) शुद्ध पुनरुत्पादन-दर

(द) परिवार नियोजन

नव माल्थसवादी
(Neo Malthusians)

माल्थस ने अपने जनसंख्या के सिद्धान्त में प्रगट किया था कि जनसंख्या खाद्य सामग्री की तुलना में, यदि जनसंख्या ज्यामितीय, तो खाद्य-सामग्री गणितीय अनुपात में, बहुत तेजी से बढ़ती है। यदि मनुष्यों ने विवेक-पूर्वक निरोधक प्रयत्नों से, आत्मसंयम आदि के द्वारा इसे नहीं रोका तो प्राकृतिक प्रकोप मृत्यु दर बढ़ाकर इस वृद्धि पर प्रतिबन्ध लगा देंगे क्योंकि जनसंख्या जीवन निर्वाह के साधनों की उपलब्धता द्वारा सीमित होती है। यद्यपि माल्थस के इन विचारों की प्रचण्ड आलोचना हुई, किन्तु वाकर के शब्दों में, 'वादविवाद के बीच भी माल्थस [illegible] अविचलित और अजेय रहा है।" वास्तव में माल्थस के सिद्धान्तों में [illegible] अंश है। उसने जिस गम्भीरता से जनसंख्या की समस्या पर ध्यान देकर [illegible]

वास्तव में जनसंख्या की व्यक्तिगत और सामाजिक समस्या का परिवार-नियोजन के अतिरिक्त कोई अन्य श्रेष्ठ निराकरण नहीं है। परिवार नियोजन का उद्देश्य गर्भ निरोधक रीतियों की सहायता से परिवार के सदस्यों में वृद्धि को रोकना ही नहीं है, वरन् असमय प्रसूति के दुष्परिणामों से मातृत्व की रक्षा करना, वांछित समय पर स्वस्थ सन्तति की उत्पत्ति में सहायता करना, परिवार के रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करना और सन्तति के उत्तम पालन-पोषण की दशाओं को कायम रखना भी है। इस प्रकार यदि परिवार नियोजन व्यापक रूप से अपना गया तो वह देश की जनसंख्या के आकार को ही नियन्त्रण करने में सहायक नहीं होगा, वरन् गुणवान जनसंख्या में वृद्धि करने में तथा जीवन-स्तर में उन्नति करने में भी उपयोगी सिद्ध होगा

माल्थस ने भी यद्यपि गर्भरोधक उपायों के प्रयोग का परामर्श नहीं दिया, तथापि विवेकपूर्ण सन्तानोत्पादन पर बहुत अधिक जोर दिया था। माल्थस के बाद इस विचारधारा को बहुत बल मिला। माल्थसवादी लीग की स्थापना और नव-माल्थसवादी वर्ग का अभ्युदय इसी के चिन्ह हैं। डा० मेरी स्टोप्स, डा० मारगरेट सैंगर, डा० स्टोन तथा अन्य चिकित्सा-शास्त्रियों ने अनेक गर्भनिरोधक रीतियों का आविष्कार और प्रचार किया। पाश्चात्य देशों में तो इनका प्रयोग साधारणतः अत्यन्त लोक प्रिय है।

भारत में जनाधिक्य की स्थिति और प्रवृत्ति को देखते हुए इसका प्रचार-प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि गांधी जी इन गर्भरोधक उपायों को अनैतिक और धर्म विरुद्ध मानते थे, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। डा० चन्द्रशेखर का कहना है कि परिवार-नियोजन के विरुद्ध कोई धर्म नहीं है। हमारे धर्म ग्रन्थों में तो विवेकपूर्ण सन्तति का परामर्श दिया गया है।

भारत में सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही स्तर पर परिवार नियोजन को लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। तीसरी पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन के कार्यक्रम पर ५० करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत (१) परिवार नियोजन के लिये शिक्षा और प्रयोजन (२) सेवाओं की व्यवस्था (३) प्रशिक्षण (४) अपूर्तियाँ (५) सचार तथा प्रयोजन (६) जनसंख्या सम्बन्धी अनुसंधान और (७) चिकित्सा और जीव विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान सम्मिलित हैं। परिवार-नियोजन क्लिनिकों की संख्या १८०० से बढ़कर ८२०० हो जाने की सम्भावना है। इनमें से लगभग ६१०० क्लिनिक गाँवों में तथा २१०० शहरी क्षेत्रों में स्थापित होंगे।

भारत की आबादी को देखते हुए यह व्यवस्था पर्याप्त नहीं है। भारत की अधिकांश जनता गाँवों में रहती है और गाँवों में अशिक्षा, अन्ध विश्वास और चिकित्सा-सुविधाओं के अभाव के कारण परिवार-नियोजन को सफल बनाना कठिन

प्रो० पर्ल ने पता लगाया है कि जनसंख्या पहले तेजी के साथ बढ़ती है, फिर बढ़ने की गति धीमी हो जाती है, उसके पश्चात् वह धीरे-धीरे घटने लगती है और अन्त में तेजी के साथ घटती है। घटते-घटते यह एक बिन्दु पर पहुँच जाती है और वहाँ से फिर बढ़ने लगती है। विशेषता यह है कि घटने के पश्चात् भी जनसंख्या उससे ऊंची रहती है, जहाँ के वह बढ़ना प्रारम्भ हुई। विशेषता यह है कि घटने के पश्चात् भी जनसंख्या कभी घटती है और कभी बढ़ती है, किन्तु इसकी केन्द्रीय अथवा अन्तिम प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ते रहने की ही होती है। इस प्रकार जनसंख्या की रेखा का रूप अंग्रेजी भाषा के एस (S) अक्षर का सा होता है। इसे हम लाजिस्टिक वक्र कहते हैं। पर्ल का विचार है कि यही नियम मानव जनसंख्या पर भी लागू होता हैं।

नीचे का रेखाचित्र इस प्रवृत्ति को दिखाता है—

इस चित्र में र बिन्दु से जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़नी आरम्भ होती है। और फिर यह तेजी से बढ़ने लगत है। कुछ समय पीछे जनसंख्या गिराने लगती है और गिरते-गिरते ल बिन्दु प आ जाती है, परन्तु घट कर भी हय ऊंची रहती है। यह ल बिन्दु र बिन्दु से सदा ऊपर ही रहता है।

चित्र—६

आलोचना :—
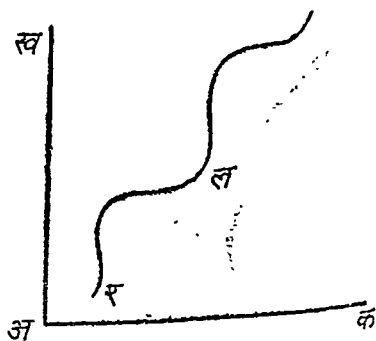
यह सिद्धान्त एक प्रकार माल्थस के सिद्धान्त की पुष्टि करता है। इसकी सत्यता के बारे में निश्चय करना कठिन है, क्योंकि जो नियम निम्न श्रेणी के जीवधारियों पर लागू होता है, उसका मनुष्यों पर लागू होना आवश्यक नहीं है। कुछ विद्वानों ने यह अवश्य दिखाने का प्रयत्न किया है कि समस्त संसार में मानव जनसंख्या की वृद्धि पर्ल के सिद्धान्त से भिन्न नहीं है।

शुद्ध पुनरुत्पादन दर

(Net Reproduction Rate)

शुद्ध पुनरुत्पादन दर से आशय:—

जनसंख्या की वृद्धि की दर का पता लगाने के लिये हम बहुधा किसी देश की जन्म और मृत्यु दरों के अन्तर का पता लगाते हैं। यदि १,००० व्यक्तियों के पीछे जन्म दर २५० है और मृत्यु दर २०० है तो जनसंख्या की वृद्धि दर ५० प्रति हजार। इस प्रकार की दर वास्तविक वृद्धि को नहीं दिखाती है। इंगलैंड और फ्रांस १९४० में इस प्रकार की वृद्धि दर क्रमशः ५ और २ प्रति हजार थी, जिसमें

ऐसा पता लगता था कि जनसंख्या बढ़ रही थी जबकि वास्तव में दोनों देशों की जनसंख्या घट रही थी। 'कुजिन्सकी का विचार है कि किसी देश में जनसंख्या की वृद्धि वास्तव में स्त्री जनसंख्या की वृद्धि दर पर निर्भर होती है, इसलिये जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि का पता लगाने के लिये हमें स्त्री जनसंख्या की वृद्धि दर मालूम करनी चाहिए। जिस दर पर स्त्री जनसंख्या का प्रतिस्थापन होता है, उसे ही हम शुद्ध पुनरुत्पादन दर कहते हैं।

उक्त दर को निकालने की विधि :—

शुद्ध पुनरुत्पादन दर को निकालने के लिये सबसे पहले तो हमें देश की मृत्यु दर का पता लगाना होता है। इसके पश्चात् हम यह पता लगाने का प्रयत्न करते हैं, कि स्त्रियों के सन्तान उत्पादन के जीवन-काल में प्रति वर्ष कितने बच्चे पैदा होते हैं। इस प्रकार के बच्चों में केवल लड़कियों की संख्या सम्मिलित की जाती है और लड़कों की संख्या निकाल दी जाती है। इसका कारण यह है कि केवल स्त्रियाँ ही सन्तानोत्पादन कर सकती हैं। दूसरे शब्दों में यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि स्त्री जनसंख्या अपना प्रतिस्थापन किस प्रकार करती है। नीचे की तालिका में शुद्ध पुनरुत्पादन दर को निकालने की विधि दिखाई गई है :—

आयु-वर्ग	प्रत्येक आयु-वर्ग में १,००० स्त्रियों के पैदा होने वाली लड़कियों की संख्या	पैदा होने वाली १,००० लड़कियों में से जीवित रहने वाली लड़कियों की संख्या	प्रत्येक आयु-वर्ग में जीवित रहने वाली लड़कियों की प्रतिशत	जीवित रहने वाली स्त्रियों की संख्या जो कि स्त्री जनसंख्या का प्रतिस्थापन करती है
१५–२०	१००	९००	९०	९०
२०–२५	४००	८००	८०	३२०
२५–३०	२००	७००	७०	१००
३०–३५	१५०	६००	६०	९०
३५–४०	१००	५००	५०	५०
४०–४५	५०	४००	४०	२०
	१,०००			७१०

इस तालिका में सन्तान उत्पादन की आयु १५ और ४५ के बीच मानी गई है। यह निश्चय है कि यदि स्त्रियाँ १,००० लड़कियाँ उत्पन्न करके अपना प्रतिस्थापन कर लेंगी, परन्तु उपरोक्त तालिका में १,००० स्त्रियों का प्रतिस्थापन केवल ७१० स्त्रियों द्वारा होता है। इस आधार पर शुद्ध पुनरुत्पादन दर ७१०÷१०० ...

होगी जो जनसंख्या के घटने को सूचित करती है। यह दर हमें यह दिखाती है कि स्त्री जनसंख्या कितनी तेजी के साथ सन्तान उत्पादन आयु-वर्ग की स्त्रियों का प्रतिस्थापन करती है। यदि कुल पुनरुत्पादन दर १ है तो जनसंख्या स्थिर रहेगी, अर्थात् वह न तो घटेगी और न बढ़ेगी। १ से अधिक दर जनसंख्या की वृद्धि को सूचित करती है और १ से कम दर जनसंख्या के घटने को।

संसार के कुछ देशों की पुनरुत्पादन दर :—

निम्न तालिका में संसार के कुछ देशों की पुनरुत्पादन दर को दिखाया गया है, जो कुजिन्सकी रीति से निकाली गई—

तालिका

देश	वर्ष	पुनरुत्पादन दर
रूस	१९३५	१·४०
जापान	१९३७	१·४४
यूक्रेन	१९२१	१·४०
इटली	१९३५–३७	१·१३
इंगलैंड	१९५१	०·८१
फ्रांस	१९५१	०·९०
जर्मनी	१९३६	०·९३
संयुक्त राज्य अमेरीका	१९५१	१·४२
आस्ट्रेलिया	१९५१	०·९५
स्वीडन	१९४१	०·८४

भारत में पुनरुत्पादन दर :—

भारत में पुनरुत्पादन दर के दो अनुमान लगाये गये हैं। राष्ट्रीय आयोजन समिति, सन् १९३८ ने पुनरुत्पादन दर का अनुमान १·४५४ लगाया था। प्रो० डी० घोष ने इस दर का अनुमान १·१ लगाया है। अनुभव तथा ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि प्रो० घोष का अनुमान अधिक सही हैं। कुजिन्स के सूत्र के अनुसार यह १·५ अनुमानित की गई है।

परिवार नियोजन
(Family Planning)

परिवार-नियोजन जनसंख्या-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण विचार है। परिवार-नियोजन का आशय, संक्षेप में, उचित कालावकाश से विवेकपूर्ण सन्तानोत्पादन से है और इस प्रकार यह जन्म-निरोधक रीतियों को सहायता से सन्तति-नियमन (Birth Control) का ही दूसरा रूप है।

वास्तव मे जनसंख्या की व्यक्तिगत और सामाजिक समस्या का परिवार-नियोजन के अतिरिक्त कोई अन्य श्रेष्ठ निराकरण नही है। परिवार नियोजन का उद्देश्य गर्भ निरोधक रीतियो की सहायता से परिवार के सदस्यों में वृद्धि को रोकना ही नही है, वरन् असमय प्रसूति के दुष्परिणामों से मातृत्व की रक्षा करना, वांछित समय पर स्वस्थ सन्तति की उत्पत्ति मे सहायता करना, परिवार के रहन-सहन के स्तर में वृद्धि करना और सन्तति के उत्तम पालन-पोषण की दशाओं को कायम रखना भी है। इस प्रकार यदि परिवार नियोजन व्यापक रूप से अपना गया तो वह देश की जनसंख्या के आकार को ही नियन्त्रण करने मे सहायक नही होगा, वरन् गुणवान जनसंख्या में वृद्धि करने मे तथा जीवन-स्तर मे उन्नति करने मे भी उपयोगी सिद्ध होगा

माल्थस ने भी यद्यपि गर्भरोधक उपायों के प्रयोग का परामर्श नहीं दिया, तथापि विवेकपूर्ण सन्तानोत्पादन पर बहुत अधिक जोर दिया था। माल्थस के बाद इस विचारधारा को बहुत बल मिला। माल्थसवादी लीग की स्थापना और नव-माल्थसवादी वर्ग का अभ्युदय इसी के चिन्ह हैं। डा० मेरी स्टोप्स, डा० मारगरेट सेंगर, डा० स्टोन तथा अन्य चिकित्सा-शास्त्रियो ने अनेक गर्भनिरोधक रीतियो का आविष्कार और प्रचार किया। पाश्चात्य देशों मे तो इनका प्रयोग साधारणतः अत्यन्त लोक प्रिय है।

भारत में जनाधिक्य की स्थिति और प्रवृत्ति को देखते हुए इसका प्रचार-प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि गांधी जी इन गर्भरोधक उपायों को अनैतिक और धर्म विरुद्ध मानते थे, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। डा० चन्द्रशेखर का कहना है कि परिवार-नियोजन के विरुद्ध कोई धर्म नही है। हमारे धर्म ग्रन्थों मे तो *विवेकपूर्ण सन्तति का परामर्श दिया गया है।*

भारत में सरकारी और गैर सरकारी दोनो ही स्तर पर परिवार नियोजन को लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न किये जा रहे है। तीसरी पंचवर्षीय योजना मे परिवार नियोजन के कार्यक्रम पर ५० करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत (१) परिवार नियोजन के लिये शिक्षा और प्रयोजन (२) सेवाओ की व्यवस्था (३) प्रशिक्षण (४) अपूर्तियाँ (५) सचार तथा प्रयोजन (६) जनसंख्या सम्बन्धी अनुसंधान और (७) चिकित्सा और जीव विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान सम्मिलित हैं। परिवार-नियोजन [illegible] ...० से बढकर ८२०० हो जाने की सम्भावना है। [illegible] गांवो में तथा २१००

शहरी [illegible]

[illegible] नही है। भारत की [illegible], अन्ध विश्वास और [illegible] को सफल बनाना कठिन

है। फिर, परिवार नियोजन का निर्धन लोगों द्वारा अपनाया जाना भी कठिन है इस कारण से डर यह है कि शिक्षित और श्रेष्ठ वर्ग की जनसंख्या तो निरन्तर घटती जायेगी और निर्धन, ग्रामीण और निम्न वर्ग की जनसंख्या बढ़ती रहेगी अतः यह आवश्यक है कि परिवार नियोजन को अधिकाधिक रूप से निर्धन, ग्रामीण और निम्न वर्ग में लोक प्रिय बनाया जावे।

Q. What is meant by a countiry Population Problem ? It quantitative or qualitative or both ? State, what, is your opnion i the Population Problem in India.

(Indore 1966 M. Com.)

प्रश्न—किसी देश की जनसंख्या समस्या से क्या समझते हैं ? वह संख्यात्मक या दोनों ? आपकी राय में भारत में जनसंख्या समस्या किस प्रकार की है ?

(इन्दौर १९६६ एम० काम०)

Q. Discuss fully the Indian Population Problem and examine criticaly the various remedies which have been suggested to solve this problem.

(Agra M. Com. 1954)

प्रश्न—भारतीय जनसंख्या-समस्या का विवेचन कीजिये और समस्या के है वा गुणात्मक हल के लिये जो उपाय सुझाये गये हैं, उनकी आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये।

(आगरा एम० काम० १९५४)

Q. What are the different senses in which the term over Population is used ? State with reasons which concepts appeals you most ?

(Indore 1966 M. Com.)

प्रश्न—जनाधिक्य के विभिन्न तात्पर्य समझाइये ? आप किसे ठीक समझते हैं ?

(इन्दौर १९६६ एम० काम०)

भारतीय जनसंख्या समस्या
(Indian Population Problem)

उत्तर—किसी देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रम की सफलता वहां की जनसंख्या पर निर्भर होती है। यही कारण है कि भारत में सबसे बड़ी समस्या जनसंख्या की है और जब तक उसका कोई सन्तोषप्रद हल नहीं खोजा गया, तब तक देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रम पूरी तरह सफल नहीं हो सकते। योजना आयोग ...ब्दों में, तीसरी पंचवर्षीय योजना की सफलता बहुत काफी हद तक जनसंख्या ...न्त्रण पर निर्भर करती है।

भारतीय जनसंख्या की समस्या इस तथ्य में निहित है कि भारत में जनसंख्या अधिक है और वह तेजी से बढ़ रही है। दूसरे शब्दों में—भारत में अति जनसंख्या की स्थिति और प्रवृत्ति दोनों ही पाई जाती हैं। संक्षेप में, भारतीय जनसंख्या की समस्या न केवल वर्तमान में जनाधिक्य के कारण उत्पन्न हुई है वरन् इस कारण और भी अधिक गम्भीर हो गई है कि जनसंख्या में तेजी से बढ़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

घनत्व—भारत एक सघन जनसंख्या वाला देश हैं। संसार की कुल जनसंख्या के सातवें अंश से अधिक लोग, चीन के बाद सबसे अधिक, भारत में ही रहते हैं। १९६१ में हमारे देश मे जनसंख्या का घनत्व ३८४ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। किन्तु हमारे देश के सभी क्षेत्रों में एक जैसा घनत्व नहीं है दिल्ली का घनत्व जहाँ ४६१४ व्यक्ति प्रति वर्गमील है, वहाँ राजस्थान का १५२ और अण्डमान निकोबार का २० व्यक्ति प्रति वर्गमील ही है फिर यह घनत्व भी निरन्तर बढ़ता ही रहा है और १९२१ में यह १९३ व्यक्ति प्रति वर्गमील था, जबकि १९६१ मे ८३४ व्यक्ति प्रति वर्गमील हो गया है।

वृद्धि : हमारे देश की जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। इसका अनुमान नीचे की तालिका से लगाया जा सकता है —

जन गणना का वर्ष	जनसंख्या (लाख में)	वृद्धि (+) अथवा कमी (—)	प्रतिशत वृद्धि (+) अथवा कमी (—)
१८९१	२३५९	—	—
१९०१	२३५५	— ४	— १ ३
१९११	२४९०	+१३५	+ ५·६
१९२१	२४८१	— ९	— ०·३५
१९३१	२७५५	+२७४	+ ११·०
१९४१	३१२८	+३७३	+ १४·३
१९५१	३५६९	+४४१	+ १३·३
१९६१	४३६५	+७९६	+ २१·४६

योजना आयोग ने जो जनसंख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में निम्नलिखित अनुमान लगाये थे, इन्हे संशोधित करने होंगे, क्योंकि पिछले दशक से जनसंख्या १·९% प्रतिवर्ष की गति से बढ़ रही है।

१९५१–६१ के दशक मे १२·५%
१९६१–७१ के दशक में १३·३%
१९७१–८१ के दशक में १४०%

जन्म और मृत्यु दर : हमारे देश में जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों ही अन्य देशों की तुलना में अधिक है, जैसा कि निम्न विवरण से प्रगट होता है—

देश	जन्म दर	मृत्यु दर (प्रति हजार)	बाल मृत्यु दर
भारत	३१·५	११·७	१११
लंका	३६·२	१०·४	७२
मिश्र	४४·८	१६·३	१२७
जापान	२०·१	८·२	४८·६
कनाडा	२८·७	८·२	३१·८
न्यूजीलैंड	२५·८	६·०	२४·१
संयुक्त राज्य अमेरिका	२४·६	६·२	२६·६
स्वीटजरलैंड	१७·६	१०·०	२७·२
युनाईटेड किंगडम	१५·६	११·४	२६·३
फ्रांस	१५·८	१२·०	४१·६
इटली	१७·६	६·२	५२·६

किन्तु हमारे देश में जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों ही धीरे-धीरे घट रही हैं, जैसा कि प्रकट है :—

दशक	जन्म-दर	मृत्यु-दर
१६०१–१०	३१	—
१६११–२०	३७	३४
१६२१–३०	३४	२६
१६३१–४०	३४	२३
१६४१–५१	२८	२०
१६६०–६१	२२·४	६·४

आयु विभाजन—हमारे यहाँ की जनसंख्या का आयु-विभाजन प्रकट करता है कि देश में शिशुओं और बच्चों की जनसंख्या अधिक है और वृद्ध लोग बहुत कम हैं, अर्थात् एक तो लोगों की औसत आयु कम है और वे वृद्ध होने से पहले ही मर जाते हैं और दूसरे युवा एवं प्रौढ़ लोगों को जो कि अनुपात में कम हैं, सारी जनसंख्या के भरण-पोषण का दायित्व निभाना पड़ता है। निम्न आंकड़ों से यह स्पष्ट है :—

आयु का वर्ग	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
४ वर्ष से कम	१३·५
५ से १४ वर्ष	२४·८
१५ से २४ वर्ष	१७·४

२५ से ३४ वर्ष	१५·६
३५ से ४४ वर्ष	११·६
४५ से ५४ वर्ष	८·५
५५ से ६४ वर्ष	५·१
६५ से ७४ वर्ष	२·२
७५ वर्ष से अधिक	१·०

स्त्रियां—भारतीय जनसंख्या में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां कम रही हैं, और उत्तर के क्षेत्रों में यह और भी कम है। प्रति हजार पुरुषों के पीछे १६०१ में ६७२, १६११ में ६३४, १६२१ में ६५५, १६३१ में ६५०, १६४१ में ६४५, १६५१ में ६४६ और १६६१ में ६४० स्त्रियां पाई गई है।

व्यवसाय—भारतीय जनसंख्या के व्यावसायिक विभाजन से प्रकट होता है कि भारत की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर निर्भर है। सन् १६५१ की गणना के अनुसार ७०% से अधिक लोग कृषि में लगे हुए थे, उद्योगों में १०%, वाणिज्य में ६%, परिवहन में २% और अन्य कार्यों में शेष लोग लगे हुए थे। इस प्रकार हमारी जनसंख्या का मुख्य आधार कृषि ही है। अन्य उन्नत देशों की तुलना में हमारे यहाँ औद्योगीकरण नगण्य है।

क्या भारत में जनाधिक्य है ?

भारतीय जनसंख्या के सम्बन्ध में दी गई उपरोक्त सूचनायें न केवल जनसंख्या के घनत्व, आयु विभाजन, लिंग विभाजन, व्यवसाय विभाजन, जन्मदर-मृत्युदर और वृद्धि-दर को प्रगट करती हैं, वरन् यह विचार भी उत्पन्न करती है कि भारत में अति-जनसंख्या या जनाधिक्य है। इसी कारण जनगणना-आयुक्त श्री आर० ए० गोपालस्वामी ने १६५१ की जनगणना रिपोर्ट में चेतावनी दी थी कि "यदि चमत्कार को संतति-निग्रह के उपायों का व्यापक प्रयोग करके सक्रिय नहीं बनाया गया तो दशा बहुत बिगड़ जायेगी और माल्थस का अति-जनसंख्या सम्बन्धी राक्षस, अकाल आदि साथियों सहित आकार देश की जनसंख्या पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेगा और सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच जायेगी।"

वास्तव में अति-जनसंख्या या जनाधिक्य (Over Population) एक सापेक्षिक शब्द है। माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के अनुसार जनाधिक्य जनसंख्या की उस स्थिति को प्रकट करता है जबकि (१) जनसंख्या के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक न्यूनतम साधन यानी खाद्य-सामग्री का अभाव होता है। (२) खाद्य-सामग्री की तुलना में जनसंख्या अत्यन्त तेजी से बढ़ती है। (३) जनसंख्या की इस वृद्धि को मानवीय निरोध रोकने में असफल रहते हैं और (४) प्रकृति अपने प्रकोपों, युद्ध, दुर्भिक्ष, बेकारी, महामारी आदि के द्वारा जनसंख्या पर प्रतिबन्ध स्थापित करती है। माल्थस के इन विचारों से अनेक आधुनिक अर्थशास्त्री सहमत नहीं और वे जनसंख्या

के अनुकूलतम सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार जब वास्तविक जनसंख्या अनुकूलतम जनसंख्या से अधिक होती है तब जनाधिक्य की अवस्था पाई जाती है। अनुकूलतम जनसंख्या वह होती है जो अधिकतम प्रति व्यक्ति आय देती है, अतः जनाधिक्य के प्रमुख लक्षण जनवृद्धि के साथ प्रति व्यक्ति आय का घटना है और बढ़ती हुई जनसंख्या को लाभदायक रोजगार न मिलता है।

यदि इन लक्षणों के अनुसार भारतीय जनसंख्या पर विचार किया जाय तो साधारणतः यह कहा जा सकता है कि भारत में जनसंख्या है। भारत में न केवल जनाधिक्य की स्थिति है, वरन् जनसंख्या की प्रवृति भी पाई जाती है। इस विषय में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :—

सर्वप्रथम, हमें यह स्वीकार करना होगा कि भारत में जनसंख्या का घनत्व अन्य देशों की तुलना में बहुत अधिक है। चीन के बाद भारत ही सर्वाधिक जनसंख्या वाला देश है। निम्न आँकड़े इसकी पुष्टि करते हैं :—

भारत में जनसंख्या के लक्षण

(१) जनसंख्या का अधिक घनत्व
(२) जनसंख्या-वृद्धि की तेज रफ्तार
(३) हीन-जीवन-स्तर
(४) खाद्य-सामग्री का अभाव
(५) प्रति व्यक्ति भूमि में कमी
(६) मानवीय निरोध की अनुपस्थिति
(७) नैसर्गिक अवरोधों की उपस्थिति
(८) लाभपूर्वक रोजगार का अभाव
(९) प्रति व्यक्ति आय

सन् १९३३ में जनसंख्या का घनत्व	(प्रति वर्गमील)
सं० रा० अमेरिका	५३
कनाड़ा	४
सोवियत संघ	२४
चीन	१५६
आस्ट्रेलिया	३
ब्राजील	१७
बर्मा	७३
भारत	३१६

जनसंख्या का घनत्व यहां औसत प्रकट करता है, किन्तु भारत में इसका वितरण भी समान नहीं है। दिल्ली में यह ४६१४; केरल में ११२५ और बंगाल में १०३१ है, जबकि अण्डमान-निकोबार में २० और राजस्थान में १५२ ही है। इससे जनाधिक्य की समस्या और भी अधिक गम्भीर हो गई।

दूसरे भारत में जनसंख्या-वृद्धि की रफ्तार भी बहुत तेज है। पिछले वर्षों में दिये हुए आंकड़ों से स्पष्ट है कि सन् १९२१ में भारत की जनसंख्या २५ करोड़ थी, वह १९६१ में बढ़कर ४४ करोड़ हो गई है, अर्थात् ४० वर्षों में ७६ प्रतिशत वृद्धि हुई है। पिछले दशक में जनसंख्या में ८ करोड़ की या २१·५ प्रतिशत वृद्धि हुई है, अर्थात् प्रति वर्ष २% की वृद्धि हुई है। वास्तव में किसी भी देश के लिए यह जन-वृद्धि की दर बहुत ऊंची है और जनाधिक्य की प्रवृत्ति को प्रकट करती है। -दर, मृत्यु-दर, प्राकृतिक वृद्धि दर और पुनरुत्पादन-दर के आंकड़े भी इसी प्रवृत्ति

की पुष्टि करते हैं। अन्य देशों की तुलना में हमारे यहां वृद्धि की ये दरें बहुत अधिक हैं। भारत की, कुजिन्सकी फारमूले के अनुसार शुद्ध पुनरुत्पादन-दर जहां १·५ है, वहां अन्य देशों में यह इस प्रकार है—

रूस	१.४	जर्मनी	०.६
जापान	१.४	यू० एस० ए०	१.४
इंगलैंड	०·८	आस्ट्रेलिया	०.६५
फ्रांस	०.६	भारत	१·५

तीसरे, भारत मे जनाधिक्य का प्रमुख लक्षण यहां के निवासियों का हीन-जीवन-स्तर है। हीन-जीवन-स्तर के कारण ही हमारे यहां औसत आयु बहुत कम है और मृत्यु-दर अधिक है। भारतीय जनसंख्या का जीवन स्तर अन्य देशों की तुलना में बहुत अधिक गिरा हुआ है। अधिकांश जनसंख्या अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं कर पाती है। न उन्हें आवश्यक भोजन व वस्त्र मिलता है, न उनके आवास के लिये कोई व्यवस्था है, न उनके स्वास्थ्य व शिक्षा का ही कोई प्रबन्ध है। शरीर को बनाये रखने के लिए न्यूनतम २,००० कैलोरीज भोजन मिलना अनिवार्य है, जबकि अधिकांश लोगों को २,०० कैलोरीज भी नहीं मिल पाता। अधिकांश जनसंख्या के लिए, चाहे वह गाँव में रहती हो या शहर मे, निवास की समुचित व्यवस्था नहीं है। भारत में ६ व्यक्तियों को एक चारदीवारी जिसे मकान कहा जाता है, उपलब्ध है। वास्तव में ये बस्तियां इतनी गन्दी और अस्वास्थ्यकर हैं कि इन्हें नरक से भी बदतर कहा जा सकता है। देश की अधिकांश जनसंख्या अशिक्षित है और उनके लिये स्वच्छता, पीने के पानी और स्वास्थ्य की व्यवस्था का अभाव है। इसे हम माल्थस के शब्दों मे, यों भी कह सकते हैं कि जीवन-निर्वाह के साधनों (Means of Subsistence) की तुलना मे जनसंख्या अधिक है।

भारत में जनाधिक्य होने का प्रमाण जनसंख्या के लिए पर्याप्त खाद्य-सामग्री का अभाव निरन्तर बढ़ना है। यद्यपि भारत की अधिकांश जनसंख्या कृषि में लगी हुई है, तथापि खाद्य-सामग्री में उस अनुपात मे वृद्धि नहीं हो रही है, जिस अनुपात मे जनसंख्या बढ़ रही है। अतः खाद्य-सामग्री का अभाव होना स्वाभाविक ही है। भारत से बर्मा, लंका और पाकिस्तान के अलग हो जाने पर यह अभाव और भी विकट हो गया है। जो देश १६२१ मे पूर्व खाद्यान्नों का निर्यात करता था, उसे खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। खाद्यान्नों का यह आयात भी निरन्तर बढ़ता रहा है। १६२१–२५ की अवधि मे खाद्यानों के आयात का वार्षिक औसत १·६ लाख टन था, वह १६३६–४० मे १३·८ लाख टन और १६४७–५२ मे बढ़कर ३२·७ लाख टन हो गया। १६५७ मे हमें ३६ लाख टन, १६५८ में ३२ लाख टन, १६५६ में ३८ लाख टन और १६६० मे ४८ लाख टन खाद्यान्न विदेशों से आयात करना पड़ा। सन् १६६०, ६२, ६३ और ६४ मे ये आयात निरन्तर बढ़ते रहे हैं।

सन् १९६५ में तो ४०० लाख टन से भी अधिक खाद्यान्न आयात हुआ। किन्तु इसके बावजूद भी हम जनसंख्या के लिए आवश्यक खाद्य-सामग्री नहीं जुटा पाये हैं और पिछले दस वर्षों में खाद्यान्नों की कीमतों में अनुचित वृद्धि हुई है। यह सब इस बात का प्रमाण है कि भारत में जनाधिक्य है।

इसका कारण यह है कि भूमि पर जनसंख्या का भार अधिक है। भारत में संसार का ४८वां अंश क्षेत्रफल है जबकि जनसंख्या का ७वां अंश है। प्रति व्यक्ति भूमि का क्षेत्र जहां भारत में २·३ एकड़ है, वहां वह रूस में ३०·५ एकड़, यू. एस. ए. में १२·६ एकड़ और चीन में ५ एकड़ है। यही नहीं, प्रति व्यक्ति जोती गई भूमि का क्षेत्रफल भी कम है। अमेरिका, रूस और योरोप के औद्योगिक क्षेत्र में भी प्रति व्यक्ति जोती गई भूमि ७४१, ४४८ और १५३ सैंटस है, किन्तु भारत में यह ९७ सैंटस ही था। फिर, यह क्षेत्र भी निरन्तर घट रहा है—१९२१ में यह १११ सैंटस था, वह १९३१ में १०४, १९४१ में ९४ और १९५१ में ८४ सैंटस रह गया। इसके अतिरिक्त हमारे यहां प्रति एकड़ उपज भी बहुत कम है। इन सबसे यही प्रगट होता है कि हमारे यहां के क्षेत्रफल को देखते हुए जनसंख्या अधिक है।

जनाधिक्य की यह प्रवृत्ति भारत में जन्म दर की उच्चता से भी प्रगट होती है जो कि मानवीय निरोधों की अनुपस्थिति की सूचक है। माल्थस का कहना था कि अति जनसंख्या वाले देशों में जन्मदर बहुत अधिक होती है और मानवीय निरोधक उपायों की अनुपस्थिति प्रगट होती है। अन्य देशों की तुलना में भारत में जन्मदर बहुत अधिक है क्योंकि हमारे यहां सभी लोग कम उम्र में विवाह करते हैं, तथा निरक्षरता, भाग्यवादिता, निर्धनता, संयुक्त परिवार प्रणाली, ऊँची बाल मृत्यु-दर, धार्मिक विश्वास, और सामाजिक विचारों के कारण अधिक से अधिक सन्तानोत्पादन करते हैं। साधारणत: लोग सन्तति निरोध में विश्वास नहीं करते हैं और गर्भ निरोध तथा परिवार नियोजन लोक प्रिय नहीं है। इस प्रकार, भारत में अति जनसंख्या निरोधक उपायों की अनुपस्थिति से भी स्पष्ट है।

निरोधक उपायों की अनुपस्थिति में नैसर्गिक अवरोधों का क्रियाशील होना भी भारत में अति जनसंख्या को प्रगट करता है। यही कारण है कि भारत में मृत्यु दर अन्य देशों की तुलना में बहुत अधिक है। यही नहीं हमारे यहां शिशु मृत्यु दर भी बहुत अधिक है। भारत में प्रति एक हजार बच्चों में से जहां १११ शिशुओं की मृत्यु हो जाती है, वहां इङ्गलैंड, अमेरिका, जापान, रूस, कनाडा, फ्रान्स आदि सभी देशों में यह ५० से भी बहुत कम है। हमारे यहां आयु की औसत अपेक्षा भी अन्य देशों की तुलना में आधी भी नहीं है। फिर, हमारे यहाँ हर वर्ष कोई न कोई प्राकृतिक विपत्ति, बाढ़, दुर्भिक्ष, महामारी और गृह युद्ध के रूप में आती ही है। मलेरिया, टायफाईड, चेचक, क्षय और हैजा हमारे यहाँ की स्थायी बीमारियाँ है, बाढ़ और अकाल स्थायी संकट, हड़ताल और उपद्रव, साधारण गतिविधियां, आत्म हत्या और

अपराध श्रेष्ठ उपाय। ऐसी दशाओं को देखते हुए यह धारणा बना लेना कि भारत में जनाधिक्य है, अनुचित नहीं कहा जा सकता।

अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त के सम्बन्ध में राबिन्स का विचार है कि जब तक लोगों को लाभपूर्वक रोजगार मिलता है, तब तक जनाधिक्य नहीं होता। भारत में बेरोजगारी अत्यन्त विकट रूप से फैली हुई है। १९६१ की जनगणना के आंकड़ों से स्पष्ट है कि प्रतिवर्ष कम से कम ४० लाख नए लोग काम करने योग्य हो जाते हैं, जबकि इस समय ८० लाख से अधिक लोग बेकार थे। इतने अधिक लोगों को भारत में रोजगार मिलना सम्भव नहीं है। वास्तव में बेकारों की यह बढ़ती हुई संख्या अति जनसंख्या की स्थिति को प्रगट करती है। जनसंख्या का कुल ७०% भाग कृषि पर निर्भर है। और इसमें से आधे लोगों को तो आधे समय बेकार रहना पड़ता है। काम करने वालों में जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग तो ऐसा है जिसे जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक आय प्राप्त नहीं होती, और अपने योग्य रोजगार भी उपलब्ध नहीं हैं। यह सब जनसंख्या के धनात्मक असन्तुलन को ही प्रगट करता है।

यद्यपि पिछले वर्षों में भारत में प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है किन्तु आय और सम्पत्ति के असमान वितरण के कारण यह समझ में नहीं आ रहा है कि बढ़ी हुई आय कहाँ गई? वास्तव में अधिकांश जनसंख्या, जोकि कृषक, और श्रमिक है, की वास्तविक औसत आय में कमी होती जा रही है। आवश्यक वस्तुओं के तथा सेवाओं के मूल्य बहुत अधिक बढ़ गये हैं और क्योंकि उनकी आय का अधिकांश भाग इसी में व्यय होता है इसलिये प्रति व्यक्ति आय में होने वाली वृद्धि के बावजूद प्रति व्यक्ति वास्तविक आय घट रही है। इस प्रकार, आर्थिक कल्याण में होने वाला यह क्रमगत ह्रास भारत में अति जनसंख्या को प्रगट करता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में अति जनसंख्या की स्थिति और प्रवृत्ति दोनों पाई जाती हैं और ऐसा मानने के कई ठोस कारण हैं। किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि भारत में अति जनसंख्या ऐसी कोई समस्या नहीं है। इन लोगों का कहना है कि हमारे देश का पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, अपने साधनों का हमने पूर्ण उपयोग नहीं किया है और हमारा पिछड़ापन ही हममें अति जनसंख्या का भय उत्पन्न करता है, किन्तु हमारे इस विशाल और सम्पन्न देश में जो गरीबी है उसे हम दूर कर सकते हैं।

वास्तव में ये लोग तो स्वीकार नहीं करते कि भारत में जनसंख्या का घनत्व अधिक है। इनका कहना है कि भारत एक प्राचीन देश है और इसकी तुलना मिश्र, इगलैण्ड, जापान और इटली से करनी चाहिये

> **जनाधिक्य न होने के कारण:—**
> (१) भारत में जनसंख्या का घनत्व अधिक नहीं है।
> (२) जनसंख्या अधिक तेजी से नहीं बढ़ रही है।

जहाँ की जनसंख्या का घनत्व १५००, ५३९, ६०९ और ४०५ व्यक्ति प्रति वर्गमील है। फिर ये लोग तो यह भी नहीं मानते कि जनसंख्या का घनत्व और सम्पन्नता में कोई सम्बन्ध है।

इसी प्रकार ये लोग यह भी नहीं स्वीकार करते कि जनसंख्या तेज़ी से बढ़ रही है। पिछले तीन सौ वर्षों में संसार की जनसंख्या यदि पाँच गुनी बढ़ी है तो भारत की जनसंख्या में केवल तीन गुनी वृद्धि ही हुई है। रेमण्ड पर्ल ने जनसंख्या में तेज़ी से वृद्धि करने वाले २५ देशों की सूची बनाई थी, उसमें भारत का नाम ही नहीं था। वास्तव में भारतीय जन वृद्धि की दर बहुत अधिक नहीं है। फिर जन्मदर भी निरन्तर घट रही है और वह ४० से घटकर २० ही रह गई है।

(३) ऊंची मृत्यु दर होने के अन्य कारण हैं।
(४) प्राकृतिक प्रकोप अति जनसंख्या के कारण नहीं होते हैं और उन पर नियन्त्रण भी किया जा सकता है।
(५) हीन जीवन स्तर के लिए आय का असमान वितरण और आर्थिक पिछड़ापन उत्तरदायी है।
(६) जीवन निर्वाह के साधनों का अभाव नहीं है, देश के साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हुआ है और देश में आर्थिक विकास की अपार समस्यायें हैं।
(७) प्रति व्यक्ति आय बढ़ रही है।

तीसरे, इन लोगों का विचार है कि भारत में ऊंची मृत्युदर होने का कारण अत्यधिक जनसंख्या न होकर जन स्वास्थ्य की समुचित व्यवस्था का अभाव है। यही कारण है कि पीने के शुद्ध पानी, पौष्टिक भोजन, स्वच्छता और चिकित्सा की व्यवस्था के कारण मृत्युदर भी ३०·४ से घटकर ९·४ रह गई है। और औसत जीवन की अपेक्षा २७ वर्ष से बढ़कर ३८ वर्ष हो गई है।

इसी तरह इन लोगों का विश्वास है कि प्राकृतिक प्रकोपों का कारण जनाधिक्य नहीं है। यह तो प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रिया है। बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष, सूखा या भूकम्प का जनसंख्या से कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर उन पर नियन्त्रण भी किया जा सकता है।

जीवन स्तर की हीन स्थिति के लिए आय और सम्पत्ति का असमान वितरण, यातायात और विपणन का अभाव तथा आर्थिक पिछड़ापन जनाधिक्य से अधिक उत्तरदायी है।

इन लोगों का विचार है कि खाद्य-सामग्री, वस्त्र, निवास, आय तथा रोज़गार का अभाव देश में उत्पत्ति के साधनों की कमी के कारण न होकर उनके पूर्ण उपयोग न हो पाने के कारण हैं। वास्तव में यदि देश के साधनों का अधिकतम उपयोग होने

लगे तो जीवन-निर्वाह के साधनों की कमी नहीं रहे। खाद, भूमि सुधार, सिंचाई यन्त्रीकरण और सहकारी खेती द्वारा अधिक खाद्यान्न उत्पन्न किया जा सकता है। वन सम्पदा और खनिजों का विदोहन करके नये उद्योग प्रारम्भ किये जा सकते हैं। अनेक निर्माण कार्य चालू किये जा सकते हैं। वास्तव में, देश में आर्थिक विकास की अपार सम्भावनायें और सुविधायें उपलब्ध हैं। इन्हें देखते हुए भारत को अति-जनसंख्या का भय नहीं रखना चाहिये। पिछले वर्षों में भारत में खाद्यान्न और औद्योगिक उपज में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

अन्त में, प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय भी निरन्तर बढ़ रही है। १९४८-४९ की कीमतों पर १९५०-५१ में यह २४६.३ रुपए थी, यह बढ़कर १९६४-६५ में ३०६.६ रुपये हो गई है। स्पष्ट है कि भारत में *अति-जनसंख्या की स्थिति नहीं है,* क्योंकि अभी तो प्रति व्यक्ति आय के बढ़ने की असीमित सम्भावनायें हैं। योजना आयोग के अनुसार १९७३-७४ में यह दुगुनी हो जावेगी।

उपरोक्त विवेचन से, जनाधिक्य के पक्ष और विपक्ष में दिये गये विचारों से, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्थिक विकास की गति में वृद्धि किये बिना जनसंख्या की वृद्धि को सम्हाला नहीं जा सकता। स्थिर अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से भारतीय जनसंख्या में अति-जनसंख्या की स्थिति और प्रवृत्ति दोनों पाई जाती हैं।

देश में अति-जनसंख्या की स्थिति को सुधारना और इसकी प्रवृत्ति को रोकना देश के आर्थिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा होने पर ही लोगों की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बढ़ सकती है और उनका रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो सकता है। अतः हमें इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या समझकर इसके उपाय सोचने चाहिये और इन उपायों को रचनात्मक रूप देना चाहिये। वास्तव में देश के सुनियोजित आर्थिक विकास के लिये एक प्रभावोत्पादक जनसंख्या नीति का अपनाया जाना आवश्यक है और इस नीति का उद्देश्य जनसंख्या में वृद्धि पर नियन्त्रण करना ही नहीं होना चाहिये, वरन्, जनसंख्या में गुणात्मक उन्नति करना, उसको रोजगार प्रदान करना और उसके जीवन-स्तर में वृद्धि करना भी होना चाहिए। इस सम्बन्ध में अनेक उपाय बताये गये हैं। इनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं :—

(१) आत्म संयम (Self-Restraint)—अनेक विद्वानों की राय यह है कि लोगों को अपनी कामेच्छा पर अंकुश लगाकर ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करना चाहिए। जनसंख्या की वृद्धि को रोकने का यह एक पवित्र एवं श्रेष्ठ उपाय है और संसार के सभी धर्म और विचार इसका समर्थन करते हैं। यही नहीं संयम का आचरण जनसंख्या को अधिक शक्तिशाली, प्रतापी, गुणवान और चरित्र सम्पन्न बनाती है। किन्तु यह उपाय अव्यवहारिक है, कामेच्छा का दमन करना न केवल असंभव

है, शारीरिक दृष्टि से भी हानिकारक है और आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अनेक मनोविकारों को जन्म देता है एवं मनुष्य जीवन को दुःखमय बना देता है।

भारत में जनसंख्या समस्या को हल करने के प्रमुख उपाय

(१) आत्म-संयम
(२) देरी से विवाह
(३) सन्तति निग्रह
(४) परिवार नियोजन
(५) शिक्षा का प्रचार
(६) स्वास्थ्य और स्वच्छता
(७) प्राकृतिक प्रकोपों पर नियन्त्रण
(८) अन्तर्राज्यीय प्रवास
(९) अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास
(१०) कानूनी व्यवस्था
(११) स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता
(१२) औद्योगीकरण
(१३) कृषि में सुधार
(१४) नियोजित आर्थिक विकास
(१५) रहन-सहन के स्तर में उन्नति
(१६) जनसंख्या नियोजन
(१७) अनुसंधान

(२) देरी से विवाह (Late Marriages)—कुछ लोगों का विचार है कि जनसंख्या वृद्धि को कम करने के लिए न केवल कुछ लोगों को विवाह नहीं करने चाहिये, वरन् जो लोग विवाह करें उन्हें बड़ी उम्र में और देर से विवाह करने चाहिये। इससे एक तो स्त्रियों का प्रजनन काल (Child-bearing age) कम हो जायेगा, वरन् श्रेष्ठ प्रजनन काल अविवाहित ही बीत जावेगा। इन दोनों बातों से जन्म-दर घट जावेगी। किन्तु विवाह की आयु में यह वृद्धि काफी बड़ी होनी चाहिए, क्योंकि थोड़ी-सी वृद्धि तो जन्म-दर को बढ़ा सकती है। भारत में शिक्षित लोगों में यह प्रवृत्ति बढ़ रही है, किन्तु इसका प्रभाव नगण्य ही है क्योंकि अधिकांश लोग अशिक्षित हैं। दूसरे देरी से विवाह के अनेक सामाजिक और नैतिक दुष्परि-णाम हो सकते हैं और अविवाहित व्यक्ति यौन सम्बन्धी अनेक समस्यायें उत्पन्न कर सकते हैं।

(३) सन्तति निग्रह (Birth Control)—अतः लोगों का सुझाव है कि लोग जन्म निरोध कार्यवाहियों को अपनायें। इन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है गर्भपात (abortions) और गर्भ निरोध (contraceptives)। गर्भपात को कुछ परिस्थितियों को छोड़कर, जनसंख्या में वृद्धि रोकने का उपाय नहीं माना जा सकता और न वह शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, कानूनी या धार्मिक दृष्टि से उचित ही है। गर्भ निरोध अवश्य ही जन्म-दर में कमी करने का [illegible] गर्भ निरोध से आशय शारीरिक, रासायनिक, यान्त्रिक और [illegible] उपायों द्वारा स्वस्थ स्त्री-पुरुष के समागम से होने वाले गर्भ धारण को रोकना है। पाश्चात्य देशों में इनका बहुत अधिक प्रचार है, क्योंकि उनके द्वारा [illegible]

सन्तुष्ट करने के बाद भी सन्तानोत्पत्ति का भय नही रहता है। इसके द्वारा अनैतिक यौन सम्बन्धों के दुष्परिणामो से भी बचा जा सकता है। गाधी जी, इसीलिए इनके विरोधी थे। भारत में भी धीरे-धीरे इनका प्रयोग बढ रहा है और इसे सभी लोग समर्थन दे रहे हैं, किन्तु इनका प्रचलन अधिकांशत. शिक्षित वर्ग में और उच्च वर्ग में ही सीमित है अतः भय है कि गुणवान जनसख्या तो कम हो जायगी और हीन जनसंख्या मे वृद्धि होगी।

(४) परिवार-नियोजन (Family Planning)—यह सन्तति निग्रह का ही परिष्कृत रूप है। परिवार नियोजन का अर्थ विवेकपूर्वक सन्तानोत्पादन से है। इसका उद्देश्य परिवार को इच्छानुसार जान-बूझकर सीमित करना, अदूरदर्शी मातृत्व को रोकना और सन्तति का उचित काल नियमन करना है। गर्भ-निरोधक (Contraceptives) का प्रयोग इसके लिये आवश्यक है। व्यक्ति और समाज दोनो के लिए ही यह महत्वपूर्ण है और जनसख्या की समस्या का, डा० चन्द्रशेखर के शब्दों मे, दूसरा कोई उपाय नही है। परिवार-नियोजन के द्वारा हम न केवल जन्म-दर घटा सकते हैं, वरन् मृत्यु-दर और शिशु मृत्यु-दर दोनों को घटा सकते हैं तथा सन्तानों का उत्तम पालन-पोषण भी सम्भव है। इस प्रकार यह उपाय न केवल आर्थिक दृष्टि से वरन् स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयोगी है। यह जनसंख्या की समस्या का स्थायी हल प्रस्तुत करता है। तीनो पचवर्षीय योजना में इसके लिए उचित व्यवस्था की गई, किन्तु लोगो के अज्ञान, संकोच एव निर्धनता के कारण यह लोकप्रिय नहीं हो पाया है और इसे हर परिवार द्वारा अपनाया जाना आवश्यक है।

(५) शिक्षा का प्रचार (Extension of Education)—प्रो० महालनवीस ने अपने अनुसधान मे बतलाया है कि शिक्षित व्यक्ति एक ओर तो देर से विवाह करते है और दूसरी ओर विवाह के पश्चात् कम बच्चे उत्पन्न कर परिवार का आकार छोटा रखना चाहते हैं जिससे वे अपना और अपने बच्चों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा रख सकें। अत. शिक्षा का प्रचार सन्तानोत्पत्ति को नियन्त्रित कर जनसंख्या को सीमित करने मे सहायता करेगा। यही नही शिक्षा का प्रचार जनसख्या की निपुणता मे भी वृद्धि करेगा और लोग अपने उत्तरदायित्व को भी समझ सकेंगे।

(६) स्वास्थ्य और स्वच्छता (Measures for improvement in health and cleanliness)—देश मे सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्वच्छता और चिकित्सा की व्यवस्था मे सुधार होने पर जन्म-दर और मृत्यु-दर घटेगी, शिशु-मृत्यु दर भी कम होगी, आयु की औसत अपेक्षा बढ़ेगी, परिणामस्वरूप जनसंख्या की वृद्धि कम हो जायेगी, लोगो का स्वास्थ्य अच्छा होगा और उनकी कार्य-क्षमता बढ़ेगी।

(७) प्राकृतिक प्रकोपों पर नियन्त्रण (Check on natural calamities)—साधारणत. प्राकृतिक प्रकोप जनाधिक्य के सूचक होते है और मृत्यु-दर को बढ़ाते है। प्राकृतिक प्रकोपो के कारण सार्वजनिक जनसख्या नष्ट होती है या उनकी कार्य-

क्षमता कम होती है। अतः यह आवश्यक है कि बाढ़, दुर्भिक्ष, महामारी और भूक आदि के नियन्त्रण की सख्त कार्यवाहियां की जावे।

(८) **अन्तर्राज्यीय प्रवास** (Inter-state Migration)—जनसंख्या अत्यधिक घनत्व को कम करने के लिए सुझाव दिया जाता है कि अधिक घनत्व वा क्षेत्रों से जनसंख्या को कम घनत्व वाले क्षेत्रों में स्थानान्तरित किया जाना चाहि एक तो जनसंख्या का इस प्रकार स्थानान्तरित होना अत्यन्त ही कठिन है और दू इससे कोई विशेष लाभ नहीं होने का।

(९) **अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास** (International Migration) को भी अपनाना अत्यन्त कठिन है। कोई भी राष्ट्र बाहरी जनसंख्या का स्वागत नहीं करता और वह तो शताब्दियों से बसी पुरानी जनसंख्या पर भी अत्याचार करने में नहीं चूकता। फिर भी जब तक कि अत्यधिक आर्थिक लाभ की सम्भावना न हो, कोई भी स्वदेश छोड़ने को तैयार न होगा।

(१०) **कानूनी-व्यवस्था** (Legal Help)—कुछ लोगों का विचार है कि इस समस्या को हल करने के लिये कानून की सहायता ली जानी चाहिये। इनमें से कुछ तो गर्भपात को वैधानिक करार देने की माँग करते हैं और शेष, अनिवार्य बन्ध्या-करण, सन्तति-कर और वैवाहिक आयु-निर्धारण के कानूनों पर जोर देते हैं। किन्तु कानून एक सीमा तक ही सहायक हो सकता है।

(११) **स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता** (Economic emancipation of women)—भी जनसंख्या-वृद्धि को रोकने में सहायक सिद्ध हो सकती है, क्योंकि आर्थिक रूप से स्वतन्त्र स्त्रियाँ देरी से विवाह करती हैं, पुरुष की काम-वासना का विरोध करने का साहस रखती हैं और सन्तानोत्पत्ति के आर्थिक दायित्वों के कारण और स्वतन्त्रता में होने वाले हस्तक्षेप के कारण सन्तति-निग्रह को अपना लेती हैं।

(१२) **औद्योगीकरण** (Industrialization)—ही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा देश के प्राकृतिक साधनों का और बढ़े हुए श्रम का अधिकतम उपयोग हो सकता है और उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय अत्यन्त तेजी से बढ़ सकती है जिससे कि जनाधिक्य की स्थिति को समाप्त किया जा सकता है तथा बेकारी की समस्या हल की जा सकती है।

(१३) **कृषि में सुधार** (Improvement in Agriculture)—से इस खाद्य सामग्री का अभाव पूरा किया जा सकता है। अतिरिक्त भूमि जोतकर, भूमि की उर्वरता बढ़ा कर, यन्त्रीकरण और वैज्ञानिक कृषि के ढंग पर, सिचाई आदि की व्यवस्था कर, कृषि-उपज बढ़ाई जा सकती है और जनाधिक्य का भय नष्ट किया जा सकता है।

(१४) आयोजित आर्थिक विकास (Planned Economic Development)—राष्ट्रीय आय में वृद्धि, आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन, उत्पादित वस्तुओं का न्यूनतम मूल्यों पर उपलब्ध होना तथा आय का न्यायोचित वितरण यह सब आयोजित आर्थिक विकास में ही सम्भव है। जनाधिक्य की समस्या का हल सन्तुलित आर्थिक विकास है, और आर्थिक आयोजन के बिना यह असम्भव है।

(१५) रहन-सहन के स्तर में उन्नति (Rise in the Standard of Living)—प्रो० महालनवीस के अध्ययन से निष्कर्ष निकला है कि जिन परिवारों का प्रति व्यक्ति व्यय बढ़ता है, उनमें कम बच्चे होते हैं। अत. विदेशों की भांति भारत में भी रहन-सहन के स्तर में उन्नति करके जनसंख्या वृद्धि को रोका जा सकता है।

(१६) जनसख्या-नियोजन (Population Planning)—जनसख्या की समस्या स्पष्ट रूप मे अत्यन्त विशाल और जटिल समस्या है और उसे किसी भी एक उपाय द्वारा हल नही किया जा सकता। उसके लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न आवश्यक हैं। इस पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिये और देश की जनसंख्या की नीति-निर्धारित करने और उसे व्यवहार में लाने के लिये एक स्वतन्त्र आयोग या मन्त्रालय होना आवश्यक है जो कि जनसख्या का उद्देश्यपूर्ण नियोजन कर सके।

(१७) अनुसंधान (Research)—जनसख्या के विभिन्न विषयो मे हमारा ज्ञान अपूर्ण एवं अविकसित है। इस सम्बन्ध मे अनुसधान की आवश्यकता है। अनुसंधान को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिये और ऐसी संस्थायें स्थापित की जानी चाहिये जहाँ कि इस सम्बन्ध मे कार्य किया जा सके।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जनसख्या की समस्या का सही हल किसी एक उपाय में न होकर विभिन्न उपायो के नियोजन मे है। जनसख्या-नियोजन और आर्थिक नियोजन दोनों एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध हैं और जनसख्या की समस्या नियोजित आर्थिक विकास और परिवार-नियोजन के व्यापक प्रसार से ही हल की जा सकती है। डा० ज्ञानचन्द्र के शब्दों में, "इसके बिना हम अपने को निराशा और विफलता के अथाह गर्त में डाल देंगे और इसकी सहायता से हम देश को मनुष्यो के रहने योग्य स्थान बना देंगे।"[1]

अन्त में, हम भारतीय जनगणना रिपोर्ट के शब्दों को दोहराते है—

"If we are not allowing ourselves to die naturally, we should not allow also birth naturally."[2]

---

1. Dr. Gyan Chand : India's Teeming Millions, p. 359.
2. Census of India Report, Vol. I. Pt.—A, p 219.

Q. Discuss the problems of population in relation to (a) development of agriculture (b) capital formation and investment (c) employment and (d) economic development.

(अ) कृषि का विकास (ब) पूंजीनिर्माण और विनियोजन (स) रोजगार और (द) आर्थिक विकास का जनसंख्या से सम्बन्ध निरूपित कीजिए।

जनसंख्या और कृषि का विकास

(Population and Development of Agriculture)

जनसंख्या और कृषि के विकास में प्रारम्भ से ही घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण कृषि की उत्तरोत्तर उन्नति हुई है। विस्तृत कृषि और गहन कृषि दोनों में ही उन्नति हुई है। कृषि ही जनसंख्या को जीवन-निर्वाह के साधन और खाद्य सामग्री उपलब्ध कराती है। यही कारण है कि हमेशा जनसंख्या की समस्याओं का निदान कृषि के विकास में खोजा गया है। माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त और रिकार्डो का लगान सिद्धान्त इन सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से निरूपित करते हैं। हवसने, पर्ल रीड और चन्द्रशेखर के अध्ययन भी इस दृष्टि से ही जनसंख्या की समस्या पर प्रकाश डालते हैं।

कृषि जनसंख्या का जीवन-निर्वाह का मुख्य साधन है। माल्थस के अनुसार जनसंख्या में वृद्धि जीवन-निर्वाह के साधनों द्वारा सीमित होती है। यद्यपि माल्थस का यह दृष्टिकोण पूर्णतः सही नहीं है, फिर भी इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि जनसंख्या में वृद्धि होने पर बढ़ी हुई जनसंख्या का एक भाग अपनी जीविका को कृषि की उन्नति के द्वारा ही प्राप्त करता है। जनसंख्या में वृद्धि होने पर लोग या तो भूमि के नये टुकड़ों पर खेती करते हैं या उसी भूमि पर अधिक श्रम और पूंजी लगाकर खेती करते हैं। सामान्यतः भूमि सीमित होती है, अतः जनसंख्या का दबाव भूमि पर बढ़ता है और लोग उसी भूमि पर अतिरिक्त श्रम एवं पूंजी की इकाईयाँ लगाकर खेती करना चुनते हैं। ऐसी स्थिति में कृषि कला का विकास होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक ओर तो उत्पादन का पैमाना बड़ा हो जाता है और दूसरे अतिरिक्त रोजगार की व्यवस्था के लिये कुल उत्पादन बढ़ाना भी जरूरी होता है।

बढ़ती हुई जनसंख्या को कम-से-कम खाद्य-सामग्री तो बढ़ती हुई मात्रा में चाहिये ही। ऐसे में जनसंख्या की वृद्धि पर खाद्योत्पादन में वृद्धि करने के प्रयत्नों से कृषि की उन्नति होती है। किन्तु इन सबका यह अर्थ-नहीं है कि कृषि का विकास जनसंख्या की वृद्धि के बिना संभव नहीं है। अनुभव तो यह बतलाता है कि अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों में कम जनसंख्या वाले क्षेत्रों की अपेक्षा कृषि अधिक पिछड़ी हुई है। किन्तु फिर भी संसार के विद्वान इस विचार में लगे हुए हैं कि कृषि के

विकास द्वारा जनसंख्या की समस्याओं को किस सीमा तक हल किया जा सकेगा।

जनसंख्या और पूंजी निर्माण व विनियोग

(Population and Capital Formation and Investment)

उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से जो सम्पत्ति या आय का भाग उत्पादन कार्यों मे लगाया जाता है उसे विनियोग कहते हैं। इस विनियोग के परिणाम-स्वरूप पूंजी मे जो वृद्धि होती है, उसे पूंजी-निर्माण कहा जाता है। यह पूंजी-निर्माण आर्थिक विकास का सार है। पूंजी निर्माण दो बातो पर निर्भर करता है—(१) बचत (२) विनियोग के अवसर। बचत दो प्रकार की होती है—आन्तरिक बचत और बाह्य बचत। पूंजी-निर्माण में वृद्धि करने के लिये बचत मे वृद्धि होना आवश्यक है।

जनसंख्या और पूंजी-निर्माण का सम्बन्ध इसी आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि जनसंख्या मे वृद्धि होने पर बचत और विनियोग मे कितनी वृद्धि होती है।

एक ओर तो जनसंख्या मे वृद्धि होने पर अतिरिक्त श्रमशक्ति रोजगार की खोज करती है। इस कारण नये रोजगार के अवसरों का निर्माण करने के लिये विनियोजन और पूंजी-निर्माण मे वृद्धि होती है। दूसरी ओर, अतिरिक्त जनसंख्या की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उत्पादन मे वृद्धि होती है, जिसके कारण भी पूंजी-निर्माण में वृद्धि हो सकती है।

इसके विपरीत जनसंख्या मे वृद्धि होने पर अर्थव्यवस्था पर जनसंख्या का भार बढ़ जाता है। परिणामतः उपभोग की प्रवृत्ति मे वृद्धि होती है और बचत व विनियोग घट जाते हैं।

प्रो० नर्क्से ने इस सम्बन्ध मे जो सुझाव अल्पविकसित राष्ट्रों को दिये हैं, वे उल्लेखनीय है। उनके अनुसार अल्पविकसित राष्ट्रों मे जनसंख्या का भार अधिक है और गुप्त बेरोजगारी विद्यमान है। अर्थात् उत्पादन में आवश्यकता से अधिक लगे हुए हैं। इन अतिरिक्त श्रमिकों की सीमान्त उत्पादन शून्य है। यदि इन अनुत्पादक आश्रितों को अन्य व्यवसायों मे काम दिया जावे और साथ ही कृषि-परिवार इनके हिस्से का अन्न इन्हें दे दें तो इस गुप्त बेरोजगारी को पूंजी निर्माण का रूप दिया जा सकता है। कृषि परिवारों से यह अन्न अनिवार्य खाद्य-प्राप्ति प्रणाली से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार नर्क्से के अनुसार उपभोग-स्तर घटाये बिना भी पूंजी-निर्माण सम्भव है। बचत को विनियोग का रूप देने के लिये वित्तीय सुविधाओं का विस्तार होना आवश्यक है। साथ ही प्रदर्शन-प्रभाव एवं अनुत्पादक व्ययों पर भी रोक लगाई जाना आवश्यक है। इस दृष्टि से, अल्प-विकसित राष्ट्रों में विदेशी पूंजी भी बहुत योगदान दे सकती है।

जनसंख्या और रोजगार
(Population and Employment)

अर्थव्यवस्था में श्रम की कुल पूर्ति और श्रम की कुल माँग रोजगार के स्तर को निर्धारित करती है। इस दृष्टि से जनसंख्या और रोजगार में घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि जनसंख्या का कार्यकारी भाग ही श्रम की पूर्ति करता है। जनसंख्या का यह कार्यकारी भाग ही प्रभावी श्रम पूर्ति कहलाता है और जन्म दर, मृत्युदर, आवासप्रवास, सामाजिक प्रथायें, स्त्रियों और बच्चों के प्रति दृष्टिकोण, श्रम-विधान, श्रमिकों की कार्यकारी आयु आदि अनेक बातों से निर्धारित होती है। सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर भारत की कुल ४४ करोड़ जनसंख्या में से १९ करोड़ कार्यकारी जनसंख्या या श्रमशक्ति मानी गई है। औसत रूप से कुल जनसंख्या का ४७%, पुरुष जनसंख्या का ६१% और स्त्री जनसंख्या का ३२% भाग श्रम शक्ति कहा जा सकता है। अब इनमें से कितने लोगों को रोजगार मिल सकता है, यह वस्तुओं और सेवाओं के कुल उत्पन्न से व्युत्पन्न श्रम की माँग पर निर्भर करता है। श्रम की कुल माँग विभिन्न व्यवसायों की मांग के योग के बराबर होती है, किन्तु किसी भी व्यवसाय में श्रम की मांग स्थिर पूंजी और परिवर्ती पूंजी के अनुपात पर निर्भर होती है क्योंकि पूंजी का श्रम से और श्रम का पूंजी से प्रतिस्थापन हो सकता है। यदि श्रम की माँग और श्रम की पूर्ति में साम्य स्थापित हो जाये तो पूर्ण रोजगार की स्थिति हो सकती है। किन्तु सामान्यतः यह अत्यन्त कठिन है। यद्यपि माल्थस के अनुसार जनसंख्या जीवन निर्वाह के साधनों (रोजगार) द्वारा सीमित होती है, किन्तु वह आवश्यक नहीं है कि सम्पूर्ण कार्यकारी जनसंख्या लाभदायक रोजगार प्राप्त कर ले। तृतीय पंचवर्षीय योजना के सन्दर्भ में अनुमान लगाया गया है कि १ करोड़ ४० लाख लोगों को रोजगार प्रदान करने के बाद भी उतनी ही कार्यकारी जनसंख्या फिर भी बेरोजगारी रहेगी, क्योंकि इसी योजनावधि में कार्यकारी जनसंख्या में दो करोड़ की वृद्धि हो जावेगी। इस प्रकार जनसंख्या में वृद्धि होने पर सामान्यतः रोजगार पर दो प्रभाव होते हैं—एक तो बेरोजगारी बढ़ती है, दूसरे रोजगार की लाभदायकता कम होती है। अल्पविकसित राष्ट्रों में गुप्त और आंशिक बेरोजगारी का विस्तार होता है। जनसंख्या में वृद्धि श्रम की मांग में वृद्धि तो जरूर करती है, किन्तु यह वृद्धि कितनी होती है यह देश में पूंजी-निर्माण की दशाओं पर निर्भर होता है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से जनसंख्या और रोजगार के सम्बन्धों पर विचार किया जा सकता है। कार्यकारी जनसंख्या का व्यवसायिक वितरण भी जनसंख्या की वृद्धि द्वारा प्रभावित हो सकता है। विकसित राष्ट्रों की तुलना में अल्पविकसित राष्ट्रों में प्राथमिक व्यवसायों पर जनसंख्या का अधिकतम भार होता है। यदि इस जनसंख्या का कुछ भाग द्वितीयक और तृतीयक व्यवसायों में स्थानान्तरित किया जा

सके तो लोगों को अधिक लाभदायक रोजगार उपलब्ध हो सकेगा।

जनसंख्या और आर्थिक विकास

(Population and Economic Development)

जनसंख्या और आर्थिक विकास में घनिष्ट व प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। केनन, डाल्टन और राबिन्स एवं कार साण्डर्स का अनुकूलतम जनसंख्या का विचार इस मान्यता की स्पष्ट पुष्टि करता है कि देश के अधिकतम आर्थिक विकास के लिये एक निश्चित परिमाण में गुणसम्पन्न जनसंख्या आवश्यक होती है। उस परिमाण से कम या अधिक जनसंख्या देश के लिए लाभदायक नहीं होती। ऐसी स्थिति में हम देश की ठीक प्रकार से प्रतिरक्षा करने एवं उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का श्रेष्टतम उपयोग करने में असमर्थ रहते हैं। क्योंकि जनसंख्या श्रमशक्ति के रूप में हमरी परिसम्पत्ति भी है और उपभोक्ता के रूप में दायित्व भी। यदि हमारे यहां न्यून जनसंख्या है या हम श्रमशक्ति को अधिक लाभदायक रोजगार दे सकते हैं तो जनसंख्या में वृद्धि हमारे लिए समृद्धि व विकास का कारण होगी। इसके विपरीत यदि जनसंख्या की दशा में गुप्त व आंशिक बेरोजगारी बढ़ती जाती है, श्रमशक्ति की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है और जनसंख्या की वृद्धि हमारे लिये सकट को सूचक होती है।

अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में, जहाँ आर्थिक विकास के लिये आयोजित प्रयत्न हो रहे हैं, जनसंख्या की समस्या अपने विभिन्न रूपों में विद्यमान है—(१) परिमाण की दृष्टि से (२) वृद्धि दर की दृष्टि से (३) गुणों की दृष्टि से (४) घनत्व व वितरण की दृष्टि से (५) रोजगार की दृष्टि से (६) सामाजिक दृष्टि से। इन इन देशों में, जैसा कि भारत के जनसंख्या समंकों से स्पष्ट है, न केवल जनसंख्या परिमाण में बहुत अधिक है, वरन् वह बहुत तेजी से बढ़ रही है यद्यपि मृत्यु-दर अधिक है, जन्म दर और औसत आयु कम है, तथा जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक है। स्वास्थ्य, शिक्षा, चरित्र और उत्पादकता की दृष्टि से गुणवान कम और गुणहीन अधिक हैं। मुख्य रूप से कृषि पर आश्रित है और बड़ी मात्रा में बेरोजगार हैं। स्पष्टतः उपभोग की प्रवृति अधिक और विनियोजन की सम्भावनायें कम है। खाद्य सामग्री और अनिवार्य वस्तुओं का अभाव है और रहन सहन का स्तर नीचा है। ऐसी दशा में आर्थिक विकास तभी सम्भव है जबकि अन्य उपायों के साथ ही साथ प्रभावपूर्ण जनसंख्या नियन्त्रण नीति अपनाई जावे, परिवार नियोजन प्रणाली का विस्तार हो और हमारे जनसंख्या सम्बन्धी अनुमान सही उतरें।

चतुर्थ खण्ड

विनिमय

"मूल्यांकन अर्थव्यवस्था का आधार है।"

MEN AND IDEAS

* "The word market signifies a state in which a commodity has a demand at a place where it is offered for sale."
—J, K. Mehta

* "Marginal uses and marginal costs do not govern value, but are governed together with value by the general conditions of demand and supply."
—A. Marshall

* "Time plays an important part in economic theories. It is of special importance in relation to the problem of value."
—Thomas

* "A representative firm is a firm that shows a tendency to expand or contract with the industry in the some manner."
—J. K. Mehta

* "The act of selling to some article produced under a single control at different prices to different buyers is known as Price Discrimination."
Mrs. Joan Robinson

* "The existence of oligopoly accounts for some of the price inflexibility that characterises our economy."
—Tarshis

* "The fundamental effect of mercantile speculation is to promote the establishment of equillibrium of supply and demand."
—Taussig

* "There is no penumbura of approbation round the theory of equillibrium. Equillibrium is just equillibrium."
—L. Robbins

EXCHANGE

१३

आर्थिक बाजार

Economic Markets

Q Explain the significance of the term 'Market' in Economic analysis. How would you distinguish between perfect and imperfest markets?

प्रश्न—बाजार का आर्थिक विश्लेषण में महत्व समझाइये। पूर्ण बाजार और अपूर्ण बाजार मे आप किस प्रकार भेद करेंगे?

उत्तर—आर्थिक विश्लेषण मे बाजार के विचार का बड़ा महत्व है। विनियम सिद्धान्तों मे इस विचार का विशेष महत्व है क्योंकि उसमें इस विचार से सम्बन्धित कई शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे —बाजार मूल्य, पूर्ण बाजार, अपूर्ण बाजार, विस्तृत बाजार, बाजार माँग, बाजार पूर्ति, इत्यादि। (ii) विनियम के सभी कार्य आरम्भ से ही बाजारों या बिक्री के केन्द्रों मे होते आये हैं। (iii) उद्योगीकरण की उन्नति उसी दशा मे हो सकती है, जबकि बाजारों का अधिक विकास हो चुका हो (iv) एडम स्मिथ ने श्रम-विभाजन की महत्वपूर्ण परिसीमा का उल्लेख किया है। उनका विचार है कि श्रम-विभाजन का विस्तार बाजार के विकास से सीमित होता है,[1] इसलिये मूल्य सिद्धान्त के अध्ययन मे पहले बाजार के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है।

साधारण बोलचाल मे 'बाजार' से अभिप्राय उस स्थान अथवा केन्द्र से होता है, जहाँ पर किसी वस्तु अथवा वस्तुओं के ग्राहक और विक्रेता जमा हो जाते हैं और खरीदने अथवा बेचने का कार्य करते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण गाँव की पेंठ अथवा हाट मे मिलता है। सप्ताह मे एक निश्चित दिन एक निश्चित स्थान पर विक्रेता और ग्राहक एकत्रित हो जाते हैं और बेचने-खरीदने का क्रम चलता रहता है। यही स्थान साधारण बोलचाल मे बाजार कहलाता है।

किन्तु अर्थशास्त्र मे बाजार शब्द का अर्थ साधारण अर्थ से थोड़ा भिन्न होता है। यहाँ पर एक कठिनाई है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द की

1. 'Division of labour is limited by the extent of the market.'—Adam Smith : An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations.

अलग-अलग परिभाषायें की हैं और इन परिभाषाओं में परस्पर अधिक विरोध पाया जाता है। अतः इस शब्द का अर्थ करते समय दो मुख्य दृष्टिकोणों की संतुष्टि करना आवश्यक है :—(i) जो भी परिभाषा की जाय वह इस प्रकार की हो कि बाजार सम्बन्धी दूसरे विचारों से इसका विरोध न हो। विशेष रूप से, मूल्य सिद्धान्त के तो यह परिभाषा अनुकूल ही होनी चाहिये और (ii) यह परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जो कि इस विचार की प्रारम्भिक आवश्यकता की पूर्णतया संतुष्टि करे। भिन्न-भिन्न लेखकों ने बाजार की परिभाषायें इस प्रकार की हैं :—

(१) सिजविक (Sidgwick) :—"बाजार मनुष्यों के उस समूह या समुदाय को सूचित करता है, जिसमें परस्पर इस प्रकार के वाणिज्य सम्बन्ध हो कि प्रत्येक को सुगमता से इस बात का पता चल जाय कि दूसरे मनुष्य समय समय पर कुछ वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय किन मूल्यों पर करते रहते हैं।"[1]

(२) कूरनों (Cournot) :—"बाजार कोई ऐसा विशेष स्थान नहीं कि जहाँ पर वस्तुयें बेची और खरीदी जायें, वरन् ऐसा कुल क्षेत्र है जिसमें विक्रेताओं और ग्राहकों के मध्य परस्पर इस प्रकार का सम्पर्क हो कि एक वस्तु की कीमत सुगमता तथा शीघ्रता से समान हो जाय।"[2]

(३) जेवन्स (Jevons) :—'बाजार" शब्द के सामान्य अर्थ किये गये हैं जिससे इसका अभिप्राय मनुष्यों के किसी ऐसे समुदाय से होता है, जिसके बीच घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध हों और जो किसी वस्तु में विस्तृत व्यवसाय करते हो"[3]

(४) ऐली (Ely) :—"बाजार वह साधारण क्षेत्र है, जिसके भीतर किसी वस्तु विशेष की कीमतों का निर्धारण करने वाली शक्तियाँ कार्यशील होती है।"

(५) प्रो० चैपमैन :—"बाजार शब्द का किसी स्थान की ओर संकेत करना आवश्यक नहीं है, परन्तु यह सदा वस्तु अथवा वस्तुओं और उनके ग्राहकों और विक्रेताओं की ओर संकेत करता है, जो कि प्रत्यक्ष एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं।"[3]

मार्शल ने बाजार की परिभाषा ही नहीं दी है पीगू ने जेवन्स के दृष्टिकोण को अपनाया है। उनके विचार में बाजार में प्रतियोगिता का होना आवश्यक नहीं है, केवल माँग और पूर्ति का ज्ञान होना पर्याप्त है। एकाधिकारी बाजार में ही होता है। और विक्रेताओं और ग्राहकों के बीच सभी प्रकार का व्यापार बाजार में ही होता है।

ध्यान पूर्वक देखने से पता चलता है कि ऊपर दी हुई बाजार की परिभाषाओं में परस्पर महान् अन्तर है। सिजविक के अनुसार बाजार का अर्थ विक्रेताओं के है,

1. Sidgwick,: Quoted by J K. Mehta : Advanced Economic Theory p. 87.
2. Cournot : Quoted by Marshall : Principles of Economics, p. 324.
3. Jevons : Theory of Political Economy, p. 84-85.

जिनके मध्य प्रतियोगिता का होना आवश्यक नही है, केवल पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। कूरनो (Cournot) के विचार मे बाजार एक प्रदेश को सूचित करता है, जहाँ पूर्ण प्रतियोगिता होनी चाहिये। जेवन्स का अभिप्राय उन विक्रेताओं से है, जिनके बीच प्रतियोगिता—सम्भव हो। ऐली का बाजार उस क्षेत्र को सूचित करता है जहा प्रतियोगिता का होना आवश्यक नही है। इसी प्रकार पीगू के विचार मे बाजार और एकाधिकारी दोनो एक साथ स्थिर हो सकते हैं। ये अन्तर इतने विशाल और महत्वपूर्ण हैं कि इन पर विचार न करना भूल होगी।

ऊपर दी हुई परिभाषाओं मे छ शब्दो का विशेष रूप से उपयोग किया गया है, जो इस प्रकार है— (१) स्थान या क्षेत्र, (२) ग्राहक और विक्रेता, (३) वस्तु, (४) प्रतियोगिता या स्पर्धा, (५) पूर्ण ज्ञान और (६) एक मूल्य। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन सब शब्दो मे से कौन कौन से शब्द किस अंश तक तथा किस प्रकार बाजार सम्बन्धी विचार से सम्बन्धित है।

सर्वप्रथम स्थान या क्षेत्र को ही लीजिए। यह बाजार का एक आवश्यक अंग नहीं है. यद्यपि साधारण बोलचाल में बाजार से अभिप्राय स्थान या जगह से ही होता है। आजकल ग्राहकों और विक्रेताओं का किसी स्थान पर एकत्रित होना आवश्यक नहीं है। यातायात और सम्वादवाहन के साधन अब इतने बढ़ गए हैं तथा क्रमबन्धन और निदर्शन के क्षेत्र मे इतनी उन्नति हुई है कि विक्रेताओं और ग्राहको के व्यक्तिगत सम्पर्क की कुछ भी आवश्यकता नही रही है। भारत का एक व्यापारी अपने देश से बाहर जाए बिना भी करोड़ो रुपये का माल विदेशो से माग सकता है।

ग्राहकों और विक्रेताओं के बिना बाजार नही बन सकता। बाजार की आवश्यकता विनिमय कार्य के लिए होती है और विनिमय के लिए सदैव दो पक्ष होते हैं अर्थात् विक्रेता और ग्राहक। किन्तु बेचने वालो और खरीदने वालो का किसी निश्चित संख्या में होना आवश्यक नही है और न ही इस बात की आवश्यकता है कि वे किसी विशेष स्थान पर स्थिर हो। जहां कही भी ग्राहक और विक्रेता होंगे, बाजार बन जाएगा।

यह विषय विवादग्रस्त है कि एक बाजार मे एक ही वस्तु होनी चाहिए या उस वस्तु के स्थानापन्नों को भी उसी बाजार मे सम्मिलित करना चाहिये। इस विषय मे बेनहम (Benham) का विचार अधिक ठीक ज्ञात होता है। उनका विचार है कि उन वस्तुओं को छोड़कर जो एक दूसरी का पूर्ण रूप से प्रतिस्थापन कर सकती हैं प्रत्येक वस्तु का बाजार पृथक् होगा।

प्रतियोगिता का होना भी बाजार के लिए आवश्यक नही है। पीगू का यह विचार कि एकाधिकारी भी बाजार मे ही होता है, अधिक ठीक है। प्रतियोगिता का अंश शून्य से लेकर अपरिमितता तक हो सकता है, अर्थात् यह भी सम्भव हो

सकता है कि प्रतियोगिता बिल्कुल भी न हो और यह भी सम्भव है कि पूर्ण प्रतियोगिता हो।

बाजार सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान का भी होना आवश्यक नहीं है। बाजार के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि ऐसे भी बाजार होते हैं कि जिनके विषय में विक्रेता और ग्राहक दोनों का ज्ञान अपूर्ण होता है। अनेक दशा में तो पूर्ण ज्ञान का होना असम्भव है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि उस दशा में बाजार ही नहीं होता।

एक बाजार में एक ही कीमत होने की प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। अधिक या कम कीमत के हो जाने पर माँग और पूर्ति में इस प्रकार परिवर्तन हो जाते हैं कि कीमत का परिवर्तन बहुत समय तक स्थिर न रह सकता।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक अर्थशास्त्र में बाजार शब्द किसी ऐसी वस्तु को सूचित करता है जिसके विक्रेताओं और ग्राहकों के बीच इस प्रकार की प्रतियोगिता हो कि जिससे उस वस्तु के मूल्य सभी स्थानों पर समान हो जाने की प्रवृत्ति हो।

प्रोफेसर मेहता के विचार—

बाजार के सम्बन्ध में प्रोफेसर मेहता ने एक नया ही दृष्टिकोण अपनाया है उनका कथन है कि "बाजार शब्द से अभिप्राय ऐसी दशा का है जिसमें किसी वस्तु की माँग उस स्थान पर है, जहाँ कि वह बेचने के लिए प्रस्तुत की जाती है।"[1] इस प्रकार जब केवल एक ही ग्राहक और एक ही बेचने वाला होता है, तब भी बाजार होता है, यदि ग्राहक के लिए बेचने वाले से खरीदना सम्भव हो। यह विचार 'बाजार' शब्द के साधारण अर्थ के भी अनुकूल है, क्योंकि बाजार शब्द बिकने वाली वस्तु को ही सूचित करता है। यहाँ पर पीगू और मेहता के विचारों में अधिक समानता है। इस परिभाषा की यह विशेषता है कि बाजार में इसके साथ क्षेत्र और प्रतियोगिता के विशेषण नहीं जोड़े गए हैं। प्रो० मेहता का कहना है कि विस्तृत और संकीर्ण बाजारों का विचार ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसे बाजारों का सम्बन्ध क्षेत्र से प्रतीत होता है, जो बाजार से सम्बन्धित नहीं है। इसी प्रकार पूर्ण और अपूर्ण बाजार के विचार में भी विरोध है क्योंकि बाजार में प्रतियोगिता का होना आवश्यक नहीं है।

पूर्ण बाजार और अपूर्ण बाजार—

बाजार का भेद तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है—(१) स्थान या क्षेत्र (२) समय (३) प्रतियोगिता। प्रतियोगिता के आधार पर बाजार को निम्न-

1. "The word market signifies a state in which a commodity has a demand at a place where it is offered for sale."
—J. K. Mehta : Advanced Economic Theory, p. 90.

निम्न दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—(१) पूर्ण बाजार (२) अपूर्ण बाजार।

(१) पूर्ण बाजार (Perfect Market)—ऐसा बाजार जिसमें पूर्ण प्रतियोगिता होने से किसी एक समय में किसी एक वस्तु का मूल्य एक सा हो, अर्थशास्त्र में पूर्ण बाजार कहलाता है। 'यह बाजार जितना अधिक पूर्ण होगा, उतना ही इस बाजार के लिए तमाम हिस्सों में किसी एक वस्तु के लिए एक समय पर एक ही मूल्य देने की तीव्र प्रवृत्ति पाई जायगी' (मार्शल) अतः इस प्रकार के बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता का होना अति आवश्यक है।

बैनहम (Benham) ने इस प्रकार के बाजार का काफी अच्छा स्पष्टीकरण किया है। उनके मतानुसार एक बाजार पूर्ण बाजार तब ही कहा जाता है जब इसमें किसी एक वस्तु के जितने ही खरीदने व बेचने वाले हों और सब ही खरीदने और बेचने वालों का जिस मूल्य पर सौदा हो रहा हो या जिस भाव पर अन्य बेचने वाले व खरीदने वाले क्रय-विक्रय करने को तैयार हैं, इसका तुरन्त पता चल जाता हो इस दशा में किसी एक वस्तु का, किसी एक समय पर, तमाम बाजार में एक ही मूल्य प्रचलित होने की प्रवृत्ति पाई जायगी।[1]

यदि किसी एक बाजार में किसी एक वस्तु का मूल्य भिन्न-भिन्न पाया जाय, तब सब ही खरीदने वाले ऐसे बेचने वालों से खरीदेंगे जो सबसे कम मूल्य पर बेच रहे हैं और सब ही बेचने वाले ऐसे खरीदारों को बेचेंगे जो सबसे ऊंचे मूल्य पर खरीदने के लिये तैयार हैं। इसका परिणाम यह होगा कि इस वस्तु के मूल्य का अन्तर शीघ्र ही समाप्त हो जायगा। अतः किसी एक वस्तु का ढुलाई व्यय व आयात कर के अतिरिक्त, एक ही मूल्य प्रचलित होना एक आर्थिक बाजार की विशेषता व निशानी है। पूर्ण बाजार में वस्तु के किसी एक समय पर समान मूल्य रहने की इस प्रवृत्ति को बाजार का नियम कहते हैं। ऐसे आर्थिक बाजार में यह बात कोई विशेषता नहीं रखती कि विक्रेता वस्तु किसे बेचता है और खरीदार किससे वस्तु खरीदता है क्योंकि वस्तुओं का मूल्य प्रत्येक स्थान पर समान है।

प्रोफेसर बैनहम की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि यदि बाजार का विस्तार इतना बड़ा है कि दो स्थानों पर, केवल यातायात व्यय या आयात कर के कारण एक ही समय पर मूल्य में अन्तर पाया जाय, तब भी यह बाजार पूर्ण बाजार की श्रेणी में ही रहेगा। पूर्ण बाजार का यह भी गुण है कि वस्तु को एक स्थान से

1. "A market is said to be perfect when all the potential sellers and buyers are promptly aware of the prices at which transactions take place and all the offers made by other sellers and buyers, and when any buyer can purchase from any seller and conversely. Under such conditions the price of a commodity will tend to be the same (after following for all costs of transport including import duties) all over the market." —Benham : Economics, p. 25.

एकाधिकारिक प्रतियोगिता (Monopolistic competition)	अल्पाधिकार (Oligopoly)	द्वयाधिकार (Duopoly)	एकाधिकार (Monopoly)

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्ण बाजार और अपूर्ण बाजार में निम्नलिखित अन्तर है—

पूर्ण प्रतियोगिता का बाजार	अपूर्ण प्रतियोगिता का बाजार
(१) जिस बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है उसे पूर्ण बाजार कहते हैं। यह बाजार वास्तविक जीवन में नही पाये जाने के कारण बहुत कुछ एक कल्पना-मात्र है।	(१) इस बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, उसे अपूर्ण बाजार कहते हैं। इस प्रकार का बाजार प्रायः वास्तविक जीवन में पाया जाता है।
(२) (अ) क्रेता-विक्रेता की कोई सी एक इकाई वस्तु के बाजार-मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव नही डालने पाती है क्योंकि कोई खरीदार या बेचने वाला कुल वस्तु की एक बहुत छोटी मात्रा का क्रय-विक्रय करता है।	(२) (अ) इस बाजार में प्रत्येक उत्पत्ति इकाई का वस्तु के मूल्य निर्धारण में काफी हाथ होता है क्योंकि ये काफी बड़ी मात्रा में वस्तु की उत्पत्ति करते हैं। उत्पादक वस्तु की मात्रा कम अधिक करके मूल्य में वृद्धि या कमी करने में सफल हो जाते हैं।
(ब) इस बाजार मे क्रेता-विक्रेता काफी बड़ी संख्या में होते हैं।	(ब) यहाँ खरीदारों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है, परन्तु ये वस्तु की पूर्ति का एक बहुत बड़ा भाग खरीदते है, इसी प्रकार बेचने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है। इसके कई कारण हो सकते हैं— (i) राज्य ने उत्पादकों की संख्या सीमित कर दी हो, (ii) कच्ची सामग्री के स्रोत निश्चित व सीमित हों, (iii) व्यवसाय में अत्यधिक मात्रा में पूंजी के विनियोग की आवश्यकता होने के कारण पूंजीपति इतनी बड़ी जोखिम उठाने के लिये तैयार न हों। कभी-कभी बड़ी मात्रा की उत्पत्ति बचत

दूसरे स्थान पर ले जाने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है। अतः एक पूर्ण बाज़ार की तीन बातें हैं—(i) बाज़ार में क्रेता विक्रेताओं में पूर्ण प्रतियोगिता का होना जिससे एक वस्तु का एक ही समय पर एक ही मूल्य पाया जाय। यदि वस्तु प्रमाणिक नहीं है तब मूल्य में अन्तर होने से ऐसा बाज़ार पूर्ण बाज़ार नहीं कहलायेगा। (ii) वस्तु का स्थानान्तर होने में किसी भी विघ्न का न होना। (iii) सस्ते व कुशल संवादवहन व यातायात के साधनों का उपस्थित होना आदि। हिस्सा बाज़ार ,सोना चाँदी बाज़ार आदि पूर्ण बाज़ार के लगभग समीप पहुंच जाते हैं। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता वाले पूर्ण बाज़ार का होना केवल एक कल्पना है, क्योंकि बाज़ार में वास्तव में पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव होता है।

अपूर्ण बाजार (Imperfect Market)—यदि एक बाज़ार ऐसा है जिसमें उक्त लिखित पूर्ण बाज़ार के गुण नहीं पाये जाते, तब अर्थशास्त्र में इसे अपूर्ण बाज़ार कहते हैं। वास्तव में, व्यवहारिक जीवन में हम ऐसे ही बाज़ार देखते हैं जिनमें बाजार का नियम लागू नहीं होता या इनके कार्यशील होने में अनेकानेक कठिनाइयाँ पड़ती हैं, जहाँ वस्तुओं के स्थानान्तर होने में अनेकानेक बाधायें होती हैं, जहाँ वस्तुओं के विक्रेता थोड़ी संख्या में ही पाये जाते हैं, जहाँ खरीदारों या बेचने वालों को या दोनों को अपनी अज्ञानता, विवेकहीन पसन्दगी आदि के कारण इस बात का ज्ञान नहीं होता कि दूसरे क्रेता-विक्रेता कितनी मूल्य पर वस्तु को खरीदने बेचने के लिये तैयार हैं, जहाँ एक ही वस्तु के एक ही बाज़ार में एक समय पर कई मूल्य प्रचलित होते है, जहाँ वस्तु के बेचने वाले थोड़ी संख्या में पाये जाते हैं जिनमें से प्रत्येक, वस्तु की कुल पूर्ति के एक बड़े भाग की पूर्ति करता है, आदि। इस प्रकार के बाज़ार को अर्थशास्त्र में अपूर्ण बाजार कहते हैं। साधारणतया फुटकर बाज़ार इसी का उदाहरण है क्योंकि इसमें सीमित प्रतियोगिता पाई जाती है जिससे विभिन्न दूकानदार एक ही प्रकार की वस्तु का भिन्न-भिन्न मूल्य ले लेते हैं।

साथ ही यह ध्यान रहे कि उक्त लिखित पूर्ण और अपूर्ण बाज़ारों की भी अनेकों श्रेणियाँ हैं। बाज़ार में जितनी अधिक क्रेता-विक्रेताओं में स्वतंत्र प्रतियोगिता पाई जायेगी, उतना ही अधिक यह बाज़ार पूर्ण बाज़ार के समीप होता जायगा और इस प्रतियोगिता में जितनी अधिक बाधायें होंगी उतना ही यह बाजार अपूर्ण बाज़ार के समीप होता जायगा। संक्षेप में बाज़ारों का प्रतियोगिता के आधार पर वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

बाज़ार
(Market)

पूर्ण प्रतियोगिता
(Perfect competition)

अपूर्ण प्रतियोगिता
(Imperfect competition)

एकाधिकारिक प्रतियोगिता (Monopolistic competition)	अल्पाधिकार (Oligopoly)	द्व्याधिकार (Duopoly)	एकाधिकार (Monopoly)

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्ण बाजार और अपूर्ण बाजार में निम्नलिखित अन्तर है—

पूर्ण प्रतियोगिता का बाजार	अपूर्ण प्रतियोगिता का बाजार
(१) जिस बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है उसे पूर्ण बाजार कहते हैं। यह बाजार वास्तविक जीवन मे नहीं पाये जाने के कारण बहुत कुछ एक कल्पना-मात्र है।	(१) इस बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, उसे अपूर्ण बाजार कहते हैं। इस प्रकार का बाजार प्रायः वास्तविक जीवन मे पाया जाता है।
(२) (अ) क्रेता-विक्रेता की कोई सी एक इकाई वस्तु के बाजार-मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालने पाती है क्योंकि कोई खरीदार या बेचने वाला कुल वस्तु की एक बहुत छोटी मात्रा का क्रय-विक्रय करता है।	(२) (अ) इस बाजार मे प्रत्येक उत्पत्ति इकाई का वस्तु के मूल्य निर्धारण में काफी हाथ होता है क्योंकि ये काफी बड़ी मात्रा में वस्तु की उत्पत्ति करते हैं। उत्पादक वस्तु की मात्रा कम अधिक करके मूल्य में वृद्धि या कमी करने में सफल हो जाते हैं।
(ब) इस बाजार मे क्रेता-विक्रेता काफी बड़ी संख्या मे होते हैं।	(ब) यहाँ खरीदारों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है, परन्तु ये वस्तु की पूर्ति का एक बहुत बड़ा भाग खरीदते हैं, इसी प्रकार बेचने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है। इसके कई कारण हो सकते है— (i) राज्य ने उत्पादकों की संख्या सीमित कर दी हो, (ii) कच्ची सामग्री के स्रोत निश्चित व सीमित हों, (iii) व्यवसाय में अत्यधिक मात्रा में पूँजी के विनियोग की आवश्यकता होने के कारण पूंजीपति इतनी बड़ी जोखिम उठाने के लिये तैयार न हों। कभी-कभी बड़ी मात्रा की उत्पत्ति बचत

पूर्ण प्रतियोगिता का बाजार	अपूर्ण प्रतियोगिता का बाजार
	तथा धंधों की पारस्परिक गला-काट प्रतियोगिता आदि के कारण बाजार में उत्पादकों की संख्या घटते-घटते केवल दो ही रह जाती है जबकि वस्तु के अपेक्षाकृत बहुत से खरीदार होते हैं। उत्पादन की ऐसी अवस्था को क्रयाधिकार कहते हैं।
(स) विक्रेताओं में पूर्ण प्रतियोगिता होने से इन्हें अपनी वस्तु उस मूल्य पर बेचनी पड़ती है जो किसी समय पर पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण बाजार में पाई जाती है।	(स) प्रत्येक विक्रेता वस्तु को कुछ स्वयं निर्धारित मूल्य पर ही बेचता है।
(द) यदि विक्रेता अपनी वस्तु का मूल्य तनिक सा कम कर दें, तब वह तमाम खरीदारों को आकर्षित कर सकता है। इसी प्रकार यदि वह दूसरे प्रतिद्वन्दी विक्रेताओं से वस्तु का मूल्य अधिक लेने लगे, तब वह अपनी वस्तु के लगभग तमाम खरीदारों को खो देता है।	(द) विक्रेता वस्तु का मूल्य तनिक सा कम करके तमाम खरीदारों को आकर्षित नहीं कर पाता है। वह वस्तु का बहुत ऊंचा मूल्य वसूल करने पर भी अपने ग्राहकों को हाथ से नहीं खोने पाता है। इसके कई कारण हो सकते हैं— (१) ग्राहकों को यह ज्ञान ही नहीं हो कि अन्य दूसरे विक्रेता कि[illegible] मूल्य पर बेच रहे हैं, (२) ढुलाई-व्यय का अन्तर [illegible] (३) ग्राहकों की किसी [illegible] विशेष वस्तु के उपभोग की इच्छा है। यह अवश्य है कि वस्तु का मूल्य [illegible] हो जाने पर ग्राहक इसका उपभोग [illegible] मात्रा में करने लगेंगे। इसी प्रकार वस्तु का मूल्य कम हो जाने पर, यह [illegible] है कि उसके पुराने ग्राहक अधिक [illegible] में वस्तु का उपभोग करने लगें, [illegible] वह इस मूल्य ह्रास से प्रतियोगी विक्रेताओं के ग्राहकों को तोड़कर [illegible]

पूर्ण प्रतियोगिता का बाजार	अपूर्ण प्रतियोगिता का बाजार
	नये ग्राहक बनाने पाता है क्योंकि ये तब ही इसके ग्राहक बन सकते है जब विक्रेता ढुलाई-व्यय आदि का ध्यान रखकर वस्तु का मूल्य अत्यधिक कम कर दें।
(३) इस बाजार मे एक खरीदार वस्तु को एक ऐसे विक्रेता से खरीदेगा जो इसे कम से कम मूल्य पर बेच रहा है।	(३) यह वह बाजार है जिसमें खरीदार वस्तु को अपनी अज्ञानता, विवेकहीन पसन्दगी या ढुलाई-व्यय आदि के कारण ऐसे विक्रेता से नहीं खरीदने पाता है जो इसे कम मूल्य पर बेच रहा है।
(४) यह वह बाजार है जिसमें उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को एक उपयोग मे जाने के लिये कोई बाधा नही पड़ती है जिससे इनकी सीमान्त उत्पत्ति समान हो जाती है।	(४) यहाँ साधनों की गतिशीलता पर प्राकृतिक या बनावटी बाधायें होती हैं जिनसे इनकी सीमान्त उत्पत्ति समान नहीं होने पाती है।
(५) बाजार मे जितनी अधिक पूर्ण प्रतियोगिता पाई जायगी, उतना ही मूल्य सीमान्त आय के बराबर पाया जायगा और अन्ततः पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे ये दोनों बराबर-बराबर हो जायेंगे। यहा पर यह कहने मे कोई तथ्य नही कि अन्ततः सीमान्त लागत मूल्य या सीमान्त आय के बराबर हो जाती है।	(५) बाजार में जितनी अधिक अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जायगी या एकाधिकार दशाओं का जितना अधिक प्रभाव होगा उतना ही मूल्य और सीमान्त आय मे या मूल्य और सीमान्त लागत में अन्तर पाया जायगा।
(६) विक्रेता को उसकी उत्पत्ति की माँग की रेखा पूर्ण रूप से लोचदार होती है। चूँकि वह कुल उत्पत्ति का कुछ भाग ही बनाता और बेचता है इसलिये वह वस्तु के मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालने पाता है। वह उत्पत्ति की मात्रा उस सीमा तक बढ़ाता है जिस पर वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त आय के बराबर हो जाता है।	(६) प्राय: विक्रेता को उसकी उत्पत्ति की मांग की रेखा अपेक्षाकृत बेलोचदार होती है। उसे अपनी और अधिक उत्पत्ति को बेचने के लिये वस्तु का मूल्य कम करना पड़ता है। जैसे-जैसे मूल्य कम किया जाता है, सीमान्त आय मूल्य से कम हो जाती है। अतः विक्रेता वस्तु का मूल्य उस स्थान पर तय करेगा जिस पर सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर हो जाती है।

पूर्ण प्रतियोगिता का वाजार

(७) इस वाजार में अपूर्ण वाजार की अपेक्षा व्यवसायिक इकाइयों या फर्मों में भिन्नता वहुत कम होती है। कुशल फर्म उत्पत्ति की मात्रा वढ़ाकर वस्तु को पूर्ववत् या लगभग पूर्ववत् मूल्य पर वेचकर लाभ उठाती है, परन्तु माँग की अपेक्षा पूर्ति वढ़ने पर अन्ततः मूल्य कम ही हो जाता है। जिससे कम कुशल फर्म को अपना उत्पत्ति-कार्य वन्द करना पड़ता है। अतः पूर्ण वाजार में केवल कुशल फर्मों के जीवित रहने की ही प्रवृति पाई जाती है।

(८) इस वाजार में पूर्ण साम्य की अवस्था में तमाम फर्में स्वर्णाकार आकार की होंगी। जो फर्म पर अत्यधिक कुशल आकार से छोटी होंगी उसमें प्रसार की प्रवृति स्थापित हो जायेगी और अन्ततः यह भी अन्य फर्मों की तरह स्वर्णाकार आकार प्राप्त कर लेगी।

अपूर्ण प्रतियोगिता का वाजार

(७) इस वाजार में फर्मों में भिन्न अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है। उपभोक्ता की अज्ञानता, अविवेकता, ढुलाई व्यय, वस्तु के वास्तविक या कल्पित भेद आदि के कारण, प्रत्येक फर्म का अपना-अपना लगभग स्वतन्त्र वाजार होता है। जिसके एक फर्म की दूसरी फर्म से कोई विशेष प्रतियोगिता नहीं होने पाती है। परिणाम यह होता है कि समाज में कुशल और अकुशल दोनों ही प्रकार की फ़र्म वस्तुओं की उत्पत्ति साथ-साथ करती रहती है। इस अपूर्ण प्रति-योगिता की दशा में कुशल फर्म अकुशल फर्मों को वाजार से वाहर निकालना न तो लाभप्रद समझती हैं और न निकालने में सफल ही होने पाती है।

(८) यहाँ फर्मों का स्वर्णाकार आकार की अवस्था में पाया जाना आव-श्यक नहीं है। वह फर्म जो अत्यधिक कुशल आकार से कम है, यह आवश्यक नहीं है, कि इसमें प्रसार की प्रवृति भी पाई जाय क्योंकि और अधिक उत्पत्ति को उसे कम मूल्य पर वेचना पड़ता है जिससे उत्पादक की लाभ की मात्रा वढ़ कम हो जाती है। अतः अपूर्ण प्रति-योगिता में अकुशल फर्म वरावर जीवित रहती है। इसीलिये तमाम फर्मों में स्वर्णाकार आकार को प्राप्त करने की प्रवृति नहीं पाई जाती है।

—:०:—

१४

पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य

(Value under perfect competition)

Q. "Perfect competition is a myth." Do you agree ? Give reasons for your answer.

(Agra 1952 M. A. Agra, 1956 M. Com.)

प्रश्न—"पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पना है" क्या आप इससे सहमत हैं ? अपने उत्तर के लिये कारण दीजिये।

(आगरा १९५२ एम० ए०, आगरा १९५६ एम० काम०)

"पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पना है"

पूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा—

उत्तर—पूर्ण प्रतियोगिता की एक संक्षिप्त किन्तु सही परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि "यह वह दशा है, जिसमें बाजार में प्रत्येक उत्पादन की उपज की मांग पूर्णतया लोचदार होती है।" दूसरे शब्दों में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत को थोड़ा बहुत घटा-बढ़ाकर एक विक्रेता अपनी उपज की मांग में असीमित अंश तक परिवर्तन कर सकता है। यदि एक उत्पादक कीमत को तनिक भी बढ़ाता है तो उसकी बिक्री घटकर शून्य तक गिर सकती है, और इसी प्रकार कीमत को बहुत थोड़ा सा घटाकर उत्पादक अपनी बिक्री असीमित अंश तक बढा सकता है। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता के होने के लिये निम्न दशाओं का होना आवश्यक है :—

(i) अधिक क्रेता व विक्रेता—व्यापार में ग्राहकों और विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक होनी चाहिये।

(ii) क्रय विक्रय की अल्प मात्रा :—प्रत्येक ग्राहक वस्तु की कुछ मात्रा का केवल एक छोटा भाग ही खरीदे और इसी प्रकार प्रत्येक विक्रेता कुछ मात्रा का एक छोटा सा भाग ही बेचता है।

पूर्ण प्रयोगिता होने के लिये आवश्यक ७ बातें

(१) अधिक क्रेता व विक्रेता
(२) क्रय-विक्रय की अल्प मात्रा
(३) सभी इकाइयाँ एक समान
(४) कीमत का पूर्ण ज्ञान
(५) पूर्ण गतिशीलता
(६) फर्मों की स्वतन्त्रता
(७) भावीवृत्तियों का अनुमान

(iii) सभी इकाइयां एक समान :—वस्तु की सभी इकाइयाँ पूर्ण रूप में समान होनी चाहिये, जिससे कि वस्तु की प्रत्येक इकाई, चाहे वह किसी भी विक्रेता द्वारा बेची जाय, किसी भी दूसरी इकाई का पूर्ण प्रतिस्थापन कर सके।

(iv) फर्मों की स्वतन्त्रता :— विभिन्न फर्मों को उद्योग में आने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

(v) कीमत का पूर्ण ज्ञान :—प्रत्येक ग्राहक को प्रत्येक विक्रेता द्वारा मांगी जाने वाली तथा प्रत्येक विक्रेता को प्रत्येक ग्राहक द्वारा दी जाने वाली कीमत का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिये।

(vi) पूर्ण गतिशीलता : – ग्राहकों और विक्रेताओं के लिये पूर्ण गतिशीलता होनी चाहिये, अर्थात् कोई भी ग्राहक ऊंची कीमत मांगने वाले विक्रेता का माल खरीदने से इन्कार कर सके और इसी प्रकार कोई भी विक्रेता नीची कीमत देने वाले ग्राहक को बेचने से इन्कार कर सके।

(vii) भावी प्रवृत्तियों का ज्ञान :— ग्राहकों और विक्रेताओं दोनों ही को मांग और पूर्ति की वर्तमान और भावी दशाओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। उनके लिये परिवर्तनों का अनुमान लगाना संभव होना चाहिये। दूसरे शब्दों में उन्हें व्यवसाय की भावी प्रवृत्तियों का सही अनुमान प्राप्त होना चाहिये।

पूर्ण प्रतियोगिता और मुक्त प्रतियोगिता

(Perfect Competition and Free Competition)

बहुत बार पूर्ण और मुक्त प्रतियोगिता दोनों को एक ही अर्थ में उपयोग किया जाता है। परन्तु वास्तव में दोनों एक ही नहीं है। मुक्त प्रतियोगिता का अर्थ सरकारी हस्तक्षेप का अभाव होता है, किन्तु पूर्ण प्रतियोगिता में किसी भी प्रक की बाधा अथवा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये।

पूर्ण प्रतियोगिता और शुद्ध प्रतियोगिता

(Perfect Competition and Pure Comptition)

कुछ लेखकों ने, मुख्यतया प्रो० चेम्बरलेन ने, पूर्ण तथा शुद्ध प्रतियोगिता के बीच भी भेद किया है। कहा जाता कि "पूर्ण प्रतियोगिता तो केवल कोरी कल्पना है, जिसका [illegible] से कोई संबंध नहीं है, परन्तु शुद्ध प्रतियोगिता वास्तविक
अ[illegible] ." ऊपर पूर्ण प्रतियोगिता की जिन दशाओं की गणना [illegible]ो अर्थात्, पूर्ण गतिशीलता तथा भावी माँग और पूर्ति [illegible] वास्तविक जीवन में असम्भव है। यदि इन दोनों शर्तों [illegible] प्रतियोगिता की दशा प्राप्त हो जायेगी, जो वास्तविक

क्या पूर्ण प्रतियोगिता पूर्णतया कल्पित है ?

पूर्ण प्रतियोगिता कल्पना मात्र :—

यदि हम उन मान्यताओं को ध्यानपूर्वक देखें तो हम निःसंदेह इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता का होना सम्भव नही है। यह तो एक कोरी कल्पना मात्र है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता के सभी तत्वों का बाजार में पाया जाना सम्भव नही है। वास्तव में पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यतायें अव्यवहारिक, अवास्तविक एवं काल्पनिक है और उसे गल्प या Myth कहा जा सकता है क्योंकि फिर भी वह तर्कपूर्ण है और आदर्श अवस्था को प्रगट करती है। उसे काल्पनिक कहने के अनेक कारण हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित है:—

(१) सभी बाजारों में अनेक क्रेता-विक्रेता नहीं होते—पूर्ण प्रतियोगिता यह धारणा लेकर चलती है कि बाजार में अनेक क्रेता और अनेक विक्रेता होते हैं, किन्तु वास्तविक जीवन में बाजार में बहुत-सी बार इतने अधिक क्रेता या विक्रेता नही होते। कभी-कभी तो एक क्रेता या एक विक्रेता ही होता है। उदाहरण के लिये सेवाओं के बाजार में यह बात बड़ी ही स्पष्टता से दृष्टिगोचर होती है। सेवायोजक बहुत कम होते हैं, जबकि काम चाहने वाले अनेको, ऐसी दशा में सेवायोजक अपनी मनमानी शर्तें पूरी करवा सकते हैं। इसी प्रकार बिजली घर एक होता है और बिजली उपभोक्ता अनेकों, इस्पात के कारखाने और पेट्रोल के विक्रेता इने-गिने होते हैं, किन्तु उनके ग्राहक अनेक। इस प्रकार अनेक ऐसे होते हैं जिनमे क्रेता और विक्रेता अनेक नही होते।

(२) सभी क्रेता और विक्रेता की मात्रायें अल्प नहीं होते—पूर्णप्रतियोगिता की एक धारणा यह है कि क्रेता और विक्रेता इतने अधिक होते हैं और प्रत्येक की मांग व पूर्ति इतनी अल्प होती है कि बाजार मे उनका स्थान नगण्य होता है, किन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नही होता। साधारणतः प्रत्येक विक्रेता दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है। विशिष्टीकरण के कारण पूर्ति तो प्रायः केन्द्रित होजाती है और उसकी मात्रा बाजार मे महत्वपूर्ण होती है। आर्थिक असमानताओं के कारण और उत्पादन के केन्द्रीयकरण के कारण कभी-कभी मांग भी, खासकर उत्पत्ति

> **पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पना है क्योंकि**
>
> (१) सभी बाजारों में अनेक क्रेता और विक्रेता नहीं होते।
>
> (२) सभी क्रेता और विक्रेता की मात्रायें अल्प नहीं होती।
>
> (३) सभी वस्तु की इकाइयां एक समान नहीं होती।
>
> (४) क्रेताओं की मनोवृत्ति को प्रभावित किया जा सकता है।
>
> (५) क्रेताओं और विक्रेताओं को मांग व पूर्ति का पूर्ण ज्ञान नहीं होता।

...न्य न होकर विशेष ... है।

(३) ...नी वस्तुओं की इकाइयां ... नहीं होतीं—पूर्ण प्रति-...ता में वस्तु की सभी इकाइयां ... होनी आवश्यक हैं किन्तु ... में अत्यधिक प्रमापीकरण और ...करण के यह बावजूद सम्भव न हो सका है। फिर भी बाजारों में ... का पाया जाना असम्भव है और उपभोक्ता वास्तविक और मनोवैज्ञानिक कारणों से वस्तु की विभिन्न इकाइयों में भेद करते हैं।

(४) क्रेताओं की मनोवृत्ति को प्रभावित किया जा सकता है—यद्यपि वस्तुओं की इकाइयों में कोई भेद नहीं होता है, किन्तु विज्ञापन, प्रचार, विक्रय-कला, प्रदर्शन, सम्पर्क और विशेष आकर्षणों के द्वारा क्रेताओं की मनोवृत्ति को प्रभावित किया जा सकता है, और इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता का व्यवहार में पाया जाना अत्यन्त कठिन हो गया है।

(६) उत्पादन के साधन पूर्ण गतिशील नहीं होते।
(७) नये उद्योगपतियों को प्रवेश और बहिर्गमन की स्वतन्त्रता नहीं होती।
(८) क्रेताओं में अविश्वास की भावना होती है।
(९) विक्रेताओं में भी तटस्थता नहीं होती है।
(१०) बाजार संस्थागत प्रभावों से युक्त नहीं होते हैं।
(११) मांग की लोच असीम नहीं होती है।
(१२) वस्तु का एक ही मूल्य नहीं पाया जाता है।

(५) क्रेताओं और विक्रेताओं को मांग व पूर्ति की दशाओं का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है—यद्यपि वर्तमान युग में यातायात एवं संदेश वाहन के साधनों ने अत्यधिक उन्नति की है, तथापि बाजार में समस्त क्रेता और विक्रेताओं को मांग और पूर्ति की दशाओं का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। वास्तव में यह जानना अत्यन्त कठिन है कि किस मूल्य पर कितनी मांग या पूर्ति है और इनमें किस प्रकार परिवर्तन होने की सम्भावना है। इस प्रकार भावी परिवर्तनों का अनुमान लगाना भी प्रायः सर्वथा असम्भव नहीं होता है।

...के साधन पूर्ण गतिशील नहीं होते हैं—भूमि तो उत्पत्ति ...न है ही, अन्य साधनों में भी, विशेषकर श्रम और पूंजी में ... पाई जाती है। एक उद्योग से दूसरे उद्योग में और एक स्थान ...ने में श्रम और पूंजी दोनों को ही हिचक होती है और उनमें ... आती है। इस प्रकार, यद्यपि साधनों की गतिशीलता पूर्ण नहीं ... पूर्ण प्रतियोगिता का पाया जाना अत्यन्त कठिन हो गया है।

(७) **नये उद्योगपतियों को प्रवेश एवं बहिर्गमन की स्वतन्त्रता नहीं होती**—प्रायः एक नया उद्योग प्रारम्भ करने में अत्यन्त कठिनाई आती है क्योंकि वर्तमान उद्योगपति उसका किसी न किसी प्रकार, चाहे मूल्य घटाकर या ग्राहकों को अधिक सुविधायें देकर, विरोध करते हैं। इसी प्रकार, एक चालू उद्योग का बन्द होना भी अत्यन्त कठिन होता है।

(८) **क्रेताओं में अविश्वास की भावना होती है**—वास्तव में कोई भी क्रेता किसी भी विक्रेता का सरलतापूर्वक विश्वास नहीं कर पाता है। इसलिये प्रायः क्रेता एक विश्वस्त विक्रेता से वस्तु खरीदना पसन्द करता है। कभी-कभी तो लोग इस धारणा के अनुसार कि सस्ती वस्तु खराब और महगी वस्तु बढ़िया होती है, अधिक मूल्य पर वस्तु खरीदते हैं और इस पर भी उन्हें पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं होता है।

(९) **विक्रेताओं में भी तटस्थता नहीं होती है**—साधारणतः हम देखते हैं कि विक्रेता भी तटस्थ नहीं रह पाते हैं और वे अपने विशेष ग्राहकों को बेचना पसन्द करते हैं या वस्तु को जल्दी ही बेचने को उत्सुक रहते हैं। वास्तव में विक्रेता प्रतिस्पर्द्धा का अनुसरण न करते हुये परम्पराओं और सम्बन्धों को निभाते हैं।

(१०) **बाजार संस्थागत प्रभावों से मुक्त नहीं होते हैं**—पूर्ण प्रतियोगिता में किसी भी प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव होना आवश्यक है। किन्तु क्रेता और विक्रेता अपने संघ बनाकर वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने के प्रयत्न करते हैं। श्रमिक संघ भी न केवल श्रमिकों की गतिशीलता में बाधा पहुचाते है वरन् मूल्य को भी प्रभावित करते है सहकारी सगठन भी बाजार की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। सगठित बाजार के नियम भी विनिमय और मूल्य पर नियन्त्रण करते है। सरकार भी वस्तुओं के उत्पादन और वितरण पर नियन्त्रण लगाती है और मूल्यों पर अंकुश रखती है। इसी प्रकार संघ और सरकार उत्पादन और उपभोग के लिये विशेष सहायता देती है।

(११) **मांग की लोच असीम नहीं होती है**—जैसा कि श्रीमती राबिन्सन मानती हैं कि मांग की लोच का असीम होना, पूर्ण प्रतियोगिता का मूल तत्व है—किन्तु वास्तविक जगत में बहुत कम ऐसी वस्तुयें होती हैं जिनकी मांग की लोच असीम हो, अर्थात्, पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पना मात्र है।

(१२) **वस्तु का एक ही मूल्य नहीं पाया जाता**—वास्तविक जगत में एक ही वस्तु को अलग-अलग क्रेता और विक्रेताओं द्वारा अलग-अलग मूल्य पर खरीदा व बेचा जाता है तथा वस्तु के मूल्य में अनेक अन्तर पाए जाते हैं। इस प्रकार, पूर्ण प्रतियोगिता में एक वस्तु के एक ही मूल्य होने की प्रवृत्ति, केवल कल्पना मात्र है और वास्तविक जगत में पायी नहीं जाती है।

उपरोक्त विवेचन में स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पना-मात्र है, किन्तु इससे उसका महत्व कम नहीं हो जाता है क्योंकि वह एक सैद्धान्तिक वास्तविकता है

और अर्थ व्यवस्था की जटिलताओं के सरलीकरण और विश्लेषण का महत्वपूर्ण आधार है।

Q· "Marginal uses and cost do not govern value but are governed together with value by the general conditions of demand and supply." (Marshall). Amplify.

(Agra, 1948, M. A. Raj. 1959, M. Com. Vikram 1964 M. A.

प्रश्न—"सीमान्त उपयोगिता और लागत, मूल्य का निर्धारण नहीं करते हैं वरन् मूल्य के साथ मांग और पूर्ति की साधारण दशाओं द्वारा निर्धारित होते हैं।" (मार्शल)। विस्तृत विवेचन कीजिए।

(आगरा १९४८, एम. ए. राजस्थान १९५९, एम. काम. विक्रम १९६४ एम. ए.

उत्तर—सीमान्त उपयोगिता से आशय वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता से होता है। किसी वस्तु में आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति को उपयोगिता कहा जाता है। किसी विशेष समय पर उपभोग की जाने वाली वस्तु की इकाइयों में से अन्तिम इकाई को सीमान्त इकाई कहा जाता है। इस प्रकार, यदि वस्तु की एक इकाई उपभोग की जा रही है तो उस इकाई से, दो इकाई उपभोग करने पर दूसरी इकाई से, तीन इकाई पर तीसरी से, चार इकाई पर चौथी से प्राप्त... इस तरह वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता कहलाती है।

सीमान्त लागत से आशय उत्पादन की अन्तिम इकाई पर होने वाले व्यय से है। इस व्यय में सामान्य लाभ सम्मिलित होता है। लागत शब्द उन खर्चों को प्रगट करता है जो कि किसी वस्तु के उत्पादन में होते हैं। इस प्रकार, सीमान्त लागत वस्तु की अन्तिम इकाई की लागत होती है।

कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु का मूल्य इसलिए देता है कि उस वस्तु में उपयोगिता होती है, किन्तु वह अधिक से अधिक इतना मूल्य दे सकता है जितनी कि उस वस्तु में उपयोगिता होती है, क्योंकि द्रव्य की भी उपयोगिता होती है और द्रव्य के रूप में वह उस उपयोगिता का त्याग करता है। वास्तव में कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु का जो मूल्य देता है वह उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है क्योंकि वह वस्तु को कब तक क्रय करता जाता है जब तक कि उसका मूल्य (द्रव्य की उपयोगिता) उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर न हो जाय। यदि वह ऐसा न करे तो उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त नहीं होगी।

कोई भी विक्रेता वस्तु का मूल्य इसलिये लेता है कि उसे उस वस्तु को प्राप्त करने, बनाने या बेचने में व्यय होता है और इसलिए वह कम से कम ले सकता है जो कि उस वस्तु की लागत के बराबर हो। साधारणतः

वह सीमान्त लागत और मूल्य को बराबर रखता है, क्योंकि अन्यथा अधिकतम लाभ सम्भव नहीं है।

मूल्य निर्धारण में सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत—

स्पष्ट है कि किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत से निर्धारित होता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि किसी वस्तु का मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है जबकि सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत बराबर होते हैं। इस प्रकार वस्तु का मूल्य सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत द्वारा निर्धारित होते हैं।

किन्तु यह विचार भ्रामक है और सही नहीं है। मार्शल के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता वह अधिकतम सीमा निर्धारित करती है जहाँ तक कि ग्राहक मूल्य दे सकता है। इसी प्रकार किसी वस्तु की लागत वह न्यूनतम मूल्य प्रगट करती है जिस पर कि वह वस्तु बेच सकता है। मूल्य इस अधिकतम और न्यूनतम के मध्य में कहीं भी माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। जिस बिन्दु पर माँग और पूर्ति बराबर होते हैं, वहाँ पर मूल्य निर्धारित होता है।

उदाहरण के लिये, एक वस्तु की माँग और पूर्ति इस प्रकार है :—

मूल्य	माँग	पूर्ति
१	१०००	२००
२	६००	४००
३	५००	५००
४	४००	६००
५	२००	१०००
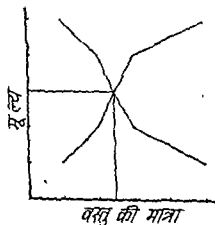
तो स्पष्ट है कि मूल्य ३ निर्धारित होगा क्योंकि इस दशा में माँग और पूर्ति बराबर हैं।

मूल्य

वस्तु की मात्रा

चित्र—१

मार्शल के इसी विचार को आधुनिक अर्थशास्त्री सीमान्त उपयोगिता (सीमान्त माँग) और सीमान्त लागत के आधार पर प्रगट करते हैं। उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति जो मूल्य देता है वह सीमान्त उपयोगिता के बराबर और जो मूल्य लेता है वह सीमान्त लागत के बराबर होता है। इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण में, १ मूल्य १०००वीं सीमान्त इकाई की उपयोगिता को और २००वीं इकाई की लागत को, २ मूल्य ६००वीं इकाई की उपयोगिता को और ४००वीं इकाई की लागत को, ३ मूल्य ५००वीं इकाई की उपयोगिता और लागत को प्रगट करते हैं। अर्थात् ३ मूल्य ५००वीं इकाई की सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत

के बराबर है और इसी कारण निर्धारित हुआ है। किन्तु वास्तव में किसी वस्तु का मूल्य सीमा पर निर्धारित होता है, सीमा के द्वारा नहीं। वस्तु का मूल्य सीमान्त इकाई की उपयोगिता और लागत के बराबर निर्धारित तो अवश्य होता है, किन्तु उसमें सभी शेष इकाइयों की उपयोगिता और लागत भी उतनी ही, बल्कि उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि वस्तु का मूल्य सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत के द्वारा निर्धारित नहीं होता है। सीमान्त उपयोगिता तो केवल उस मूल्य को प्रकट करती है जो कि कोई भी क्रेता देने को तैयार है और सीमान्त लागत वह मूल्य है जिस पर कि कोई विक्रेता वस्तु बेचने को तैयार है। वास्तव में मूल्य तो माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार विगत उदाहरण में मूल्य इसलिए नहीं निर्धारित हुआ कि सीमान्त आय और सीमांत लागत बराबर है, बल्कि इसलिए कि इस मूल्य पर माँग और पूर्ति में साम्य स्थापित हो गया है।

इस प्रकार मार्शल का यह मत ध्यान देने योग्य है कि सीमान्त उपयोग और सीमान्त लागत मूल्य को निर्धारित नहीं करते वरन् ये दोनों स्वयं ही मूल्य के साथ-साथ माँग और पूर्ति के सामान्य सम्बन्ध द्वारा निश्चित होते हैं।[1] मार्शल के इस मत में यह तो स्पष्ट है ही कि मूल्य सीमान्त उपयोग और लागत द्वारा निर्धारित नहीं होता है और मूल्य माँग और पूर्ति के सामान्य सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होता है, यह भी प्रकट है कि स्वयं सीमान्त उपयोग और सीमान्त लागत भी माँग और पूर्ति के सामान्य सम्बन्ध द्वारा निर्धारित होती हैं अभिप्राय यह है कि सीमान्त उपयोग और सीमान्त लागत भी माँग और पूर्ति पर निर्भर होते हैं माँग और पूर्ति के घटने-बढ़ने से उनमें भी परिवर्तन हो जाते हैं। दूसरी ओर मूल्य के परिवर्तन माँग और पूर्ति में जिस प्रकार परिवर्तन कर देते हैं, उसी प्रकार सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत को भी घटा-बढ़ा देते हैं। पिछले उदाहरण में स्पष्ट है कि माँग घटने पर मूल्य भी घटे हैं अर्थात् सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत भी बढ़ी है और मूल्य अर्थात् सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत बढ़ने पर माँग घटी और पूर्ति बढ़ी है। मार्शल का विचार है कि मूल्य का निर्धारण समस्त माँग और समस्त पूर्ति द्वारा होता है। माँग अथवा पूर्ति अथवा दोनों में कमी या वृद्धि होने की दशा में सन्तुलन मूल्य में परिवर्तन हो जाता है और इस परिवर्तन के द्वारा सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत में भिन्नता आ जाती है। निश्चय ही माँग के अधिक

1. "Marginal uses and costs do not govern value but are governed together with value by the general relations of supply and demand."

—Marshall : Principles of Economics, p. 410.

हो जाने से सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाती है और ठीक इसी प्रकार पूर्ति के बढ़ने से सीमान्त उत्पादन व्यय में भी परिवर्तन हो जाता है, अत: मूल्य के निर्धारण के साथ साथ सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत का निर्धारण भी माँग और पूर्ति के द्वारा होता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि मूल्य के घटने-बढ़ने से माँग और पूर्ति में जो परिवर्तन होते हैं, वे सीमान्त ग्राहक अथवा सीमान्त उत्पादक द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। सीमान्त ग्राहक अथवा उत्पादक का व्यवहार मूल्य पर निर्भर रहता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मूल्य को सीमान्त ग्राहक अथवा उत्पादक निश्चित करते हैं। सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त लागत की समानता मूल्य को केवल सूचित ही करती है, निर्धारित नहीं करती है। मूल्य तो समस्त ग्राहकों जिसमें सीमान्त ग्राहक भी सम्मिलित होता है तथा समस्त विक्रेताओं या उत्पादकों जिसमें सीमान्त उत्पादक भी शामिल होगा, द्वारा नियत होता है। इस प्रकार कुल माँग और कुल पूर्ति द्वारा ही मूल्य का निश्चय होता है।

मार्शल के उपरोक्त मत के सही होने में सन्देह नहीं है, किन्तु फिर भी सीमा (Margin) के विचार का आर्थिक विश्लेषण में बड़ा महत्व है। बेन्हम ने ठीक ही कहा है—"वे सब परिवर्तन जिनके कारण माँग और पूर्ति में बदले हुए सम्बन्ध दिखाई पड़ते हैं, सदा सीमा पर ही होते हैं। सीमान्त उत्पादन व्यय को ध्यान में रखकर ही पुराने उत्पादक उद्योग में बने रहने या उसे छोड़ देने की सोचते हैं तथा नये उत्पादक इस बात का फैसला करते हैं कि वे उद्योग विशेष में प्रवेश करें। ठीक इसी प्रकार उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के सीमान्त व्यय को देखकर ही एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन के उपयोग की बात सोची जाती है। उत्पत्ति कितनी करनी है या उत्पत्ति का पैमाना कितना बड़ा रखा जाय इसका निर्णय भी सीमान्त व्यय के अध्ययन के उपरान्त ही सम्भव है। इस विषय में सीमान्त ग्राहक का इतना अधिक महत्व नहीं है। प्रतियोगिता की दशा में क्रेताओं की संख्या बहुत अधिक होती है, इसलिए किसी भी एक ग्राहक का अधिक महत्व नहीं होता। हर एक का समान ही महत्व होता है। कुल माँग और कुल पूर्ति द्वारा ही मूल्य निर्धारित होता है। सीमान्त उपयोगिता केवल माँग की मात्रा को सूचित करती है। यह माँग को नियत नहीं करती। इसी प्रकार सीमान्त लागत पूर्ति की मात्रा को दिखाती है, उस का निर्धारण नहीं करती।

Q. "We might as reasonably dispute as whether it is the upper or the lower blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper, as whether value is governed by utility or cost of producolau." Discuss this statement. **(Raj. M. Com , 1959)**

1. "It is only at the margin that any these shifting by which the changed relations of demand and supply manifest themselves."

—Benham : Economics p. 224

मूल्य मांग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। किसी वस्तु की उपयोगिता और किसी वस्तु की पूर्ति उसकी उत्पादन-लागत पर निर्भर होती है। जिस बिन्दु पर मांग और पूर्ति बराबर होती है, वहाँ पर उस वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है।

कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु का मूल्य देने को तैयार रहता है क्योंकि उस वस्तु में उस व्यक्ति की आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति होती है। किन्तु वह उस वस्तु की उपयोगिता से अधिक उस वस्तु का मूल्य नहीं देगा, क्योंकि मूल्य के रूप में चुकाई जाने वाली मुद्रा की भी उपयोगिता होती है। अतः वह अधिक से अधिक उतना मूल्य देगा, जबकि चुकाई जाने वाली मुद्रा की उपयोगिता और प्राप्त होने वाली वस्तु की उपयोगिता बराबर हो जाये। किन्तु उपभोक्ता हमेशा इस अधिकतम सीमा से कम ही मूल्य देने की कोशिश करेगा।

कोई भी व्यक्ति जब वस्तु बेचता है तो एक मूल्य की मांग करता है, क्योंकि उस वस्तु को उत्पन्न करने, प्राप्त करने या रखने में उसे कुछ व्यय करना पड़ता है। अतः वह वस्तु को तभी बेचने को तैयार होगा, जबकि उसे उसकी उत्पादन-लागत मिलती हो। इस प्रकार उत्पादन-लागत वह न्यूनतम सीमा निर्धारित करती है, जिससे कम पर वह वस्तु को देने के लिये तैयार नहीं होगा।

इस प्रकार एक ओर तो प्रत्येक क्रेता की अधिकतम सीमा है जिससे अधिक वह मूल्य नहीं देगा और दूसरी ओर प्रत्येक विक्रेता की एक न्यूनतम सीमा है जिससे कम वह मूल्य नहीं लेगा। इन दोनों सीमाओं के बीच में ही वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। किन्तु मूल्य क्या निर्धारित होगा, यह मांग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा तय होता है क्योंकि विक्रेता अधिक से अधिक मूल्य लेना चाहता है और क्रेता कम से कम देना। यदि वस्तु-विक्रेता को विनिमय करने की अधिक आवश्यकता है और विनिमय-कला का ज्ञान कम है या ग्राहक को वस्तु की अधिक सख्त आवश्यकता नहीं है तो वह विक्रेता न्यूनतम मूल्य के आस-पास मूल्य पर ही वस्तु को बेच देगा। किन्तु यदि उसे बेचने की शीघ्रता नहीं है, वह विनिमय कला में निपुण है और ग्राहक को उसकी अत्यन्त सख्त आवश्यकता है तो वह अधिकतम मूल्य के आस-पास मूल्य पर बेच सकेगा। इस प्रकार मांग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा, उत्पादन व्यय की न्यूनतम सीमा और उपयोगिता की अधिकतम सीमा के बीच, उस स्थान पर तय होता है जहाँ कि मांग और पूर्ति दोनों बराबर होती है। इसे हम साम्य-बिन्दु *(Equilibrium point)* और इसके मूल्य को साम्य-मूल्य (Equilibrium price) कहते हैं।

उदाहरण के लिए, यदि किसी वस्तु की उत्पादन लागत १० नये पैसे है और उसकी उपयोगिता ५० नये पैसे है तो, मूल्य इन दोनों के बीच तय होगा। किन्तु यह इस बात पर निर्भर होगा कि मांग और पूर्ति की दशा क्या है।

मांग	मूल्य	पूर्ति
२००	१०	५०
१५०	२०	१००
१२५	३०	१२५
१००	४०	२००
५०	५०	३००

उपरोक्त तालिका में माँग वह मात्रा प्रगट करती है जो क्रेता विभिन्न मूल्यों पर खरीदने को तैयार है और पूर्ति वह मात्रा जो विक्रेता विभिन्न मूल्यों पर बेचने को तैयार है। किन्तु ३० नये पैसे मूल्य पर माँग और पूर्ति बराबर है, इसलिये इस अवस्था में ही मूल्य निर्धारित होगा। इससे अधिक मूल्य तय होने पर कुछ वस्तुयें बिक न पायेंगी और इसलिये मूल्य पुनः कम हो जायगा। कम मूल्य होने पर, वस्तु की मांग उसकी पूर्ति से अधिक होगी, अतः मूल्य अधिक हो जायेंगे। इस प्रकार मूल्य मांग और पूर्ति के सापेक्षिक सन्तुलन से निर्धारित होता है, जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट है :—
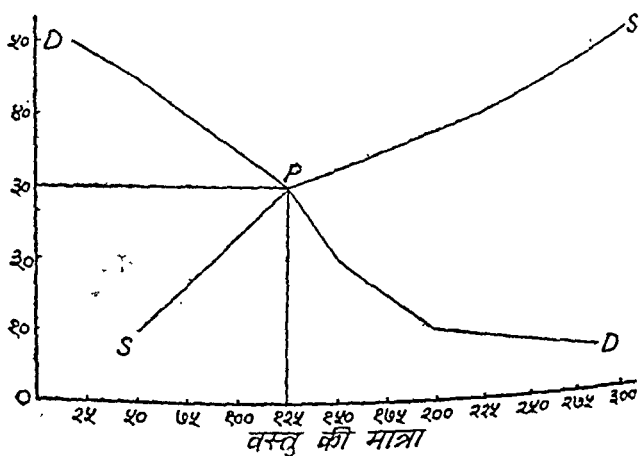
चित्र—१

उपरोक्त चित्र में S.S पूर्ति को और D.D माँग को प्रगट करती है और दोनों वक्र एक दूसरे को P विन्दु पर काटते हैं, अर्थात् मूल्य P विन्दु पर निर्धारित होगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन-लागत या उपयोगिता द्वारा निर्धारित न होकर मांग और पूर्ति के साम्य पर निर्भर होता है। किसी वस्तु की उत्पादन-लागत वह न्यूनतम मूल्य निर्धारित करती है, जिससे कम मूल्य पर विक्रेता बेचने को तैयार नहीं होगा और उस वस्तु की उपयोगिता

वह अधिकतम सीमा निर्धारित करती है जिससे अधिक मूल्य क्रेता देने को तैयार नहीं होगा। किन्तु इन दोनों सीमाओं के बीच मूल्य कहाँ निर्धारित होगा, यह मांग और पूर्ति की सापेक्षिक दशाओं पर निर्भर करता है। अन्य शब्दों में, किसी वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत से प्रभावित होता है।

किन्तु हम यह निश्चिततापूर्वक नहीं कह सकते हैं कि वस्तु के मूल्य निर्धारण में सीमान्त उपयोगिता का क्या महत्व है और सीमान्त लागत का कितना प्रभाव है मार्शल के शब्दों में—"हमारा यह वादविवाद करना कि मूल्य उपयोगिता द्वारा या उत्पादन की लागत द्वारा निर्धारित होता है, उतना ही उचित होगा, जितना कि यह कि कागज का टुकड़ा कैंची का ऊपर का फलक काटता है या नीचे का फलक। यह सत्य है कि जिस समय एक फलक को स्थिर रखा जाता है और काटने का कार्य दूसरे फलक से किया जाता है तो हम लापरवाही से यह कह सकते हैं कि काटने का कार्य दूसरे ने किया है, किन्तु यह कथन पूर्णतः सही नहीं है और तभी तक क्षम्य है जब तक कि यह जो होता है उसका सिर्फ एक प्रचलित न कि एक वैज्ञानिक विवरण होने का दावा करता है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि मूल्य न तो मांग ही निर्धारित कर सकती है और न पूर्ति ही। मूल्य के निर्धारण में दोनों का ही सम्मिलित महत्व है किन्तु एक का महत्व दूसरे से कम या अधिक हो सकता है। प्रो० मार्शल के अनुसार यह तो समय पर निर्भर करता है कि वस्तु के मूल्य पर उपयोगिता का अधिक प्रभाव पड़ता है या उत्पादन लागत का।

अत्यन्त अल्पकाल (Very Short Period) में, जबकि वस्तु की पूर्ति में तनिक भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, वस्तु का मूल्य मुख्य रूप से उसकी मांग द्वारा निर्धारित होता है। यदि वस्तु की मांग बढ़ जाती है तो उसका मूल्य भी उसी अनुपात में बढ़ जाता है और यदि मांग घट जाती है तो मूल्य भी घट जाता है, जैसा कि चित्र में स्पष्ट है—

चित्र में OM वह मात्रा प्रगट करती है जो कि पूर्ति के लिये उपलब्ध है। रेखा M S प्रगट करती है कि सभी मूल्यों पर यही मात्रा उपलब्ध है और इसमें कोई परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं है।

मांग वक्र D-D की दशा में मूल्य P पर तय होता है, किन्तु मांग बढ़ने पर D^1-D^1 की दशा में मूल्य भी बढ़कर P^1 हो जाता है और मांग घटने पर D^2–D^2 की अवस्था में मूल्य भी घटकर P^2 हो

1. "We might as reasonably dispute whether it is the 'upper blade or then lower blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper as whether value is governed by utility of cost of production. It is true that when one blade is held still and the cutting is effected by moving the other, we may say with careless bravity that the cutting is done by the second, but the statement is not strictly accurate, and is to be excused so long as it claims to be merely a popular and not a strictly scientific account of what happens."

—Marshall: Principles of Economics, P. 348.

जाता है।

साधारण अल्पकाल (Short Period) में, जबकि वस्तु की पूर्ति को विद्यमान यन्त्रों एवं साधनों का अधिक प्रयोग करके बढ़ाया जा सकता है, किन्तु पूर्ति में माँग के अनुसार पूर्णतः परिवर्तन सम्भव नहीं होता है, वस्तु का मूल्य यद्यपि माँग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है, तथापि मांग पूर्ति की अपेक्षा अधिक प्रभाव पूर्ण होती है। अत्यन्त अल्पकाल की तुलना में माँग बढ़ने पर मूल्य उस अनुपात में नहीं बढ़ता जिसमें कि माँग बढ़ी है। जैसा कि चित्र नं० ३ से स्पष्ट है-

चित्र--२

पूर्ति वक्र S-S स्थिर पूर्ति (अत्यन्त अल्पकाल पूर्ति) को प्रगट करता है। D-D माँग वक्र के अनुसार इस दशा में मूल्य P पर निर्धारित होता है।

पूर्ति वक्र S_1 S_2 अल्पकालीन पूर्ति को प्रगट करता है और D-D मांग वक्र की दशा में मूल्य P पर निर्धारित होता है।

दोनों ही दशाओं में P मूल्य पर वस्तु की पूर्ति O M रहती है।

अब यदि मांग बढ़ जाती है और मांग वक्र D_1 D_1 की स्थिति में हो तो स्थिर पूर्ति की दशा में मूल्य P_2 तक बढ़ना चाहिए। किन्तु क्योंकि किसी प्रकार पूर्ति O M_2 तक

चित्र—३

सकी है, अतः मूल्य P_2 से कम P_1 ही निर्धारित होगा।

काल (Long Period) में, पूर्ति को मांग के अनुसार बढ़ाया जा

सकता है। ऐसी दशा में पूर्ति वक्र की आकृति उत्पत्ति के नियमों या उत्पादन लागत पर निर्भर करती है। उत्पत्ति ह्रास नियम की दशा में पूर्ति वक्र ऊपर को उठेगा उत्पत्ति समता नियम मे O X अक्षाश के समानान्तर रहेगा और उत्पत्ति वृद्धि नियम में नीचे की ओर झुकेगा। ऐसी दशा मे मूल्य वही निर्धारित होगा, जहां मांग और पूर्ति मे साम्य होगा। किन्तु मूल्य पर मुख्यतः उत्पादन लागत का प्रभाव पड़ेगा। प्रत्येक स्थिति में मांग में उतना ही परिवर्तन होगा, जितना कि मूल्य मे हुआ है।

चित्र ४

यह चित्र प्रगट करता है कि यदि वस्तु की उत्पादन लागत वही रहती है क्योंकि उत्पत्ति समता नियम क्रियाशील है तो माग बढ़ने पर भी या मांग घटने पर भी वस्तु का वही मूल्य रहता है।

किन्तु यदि उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो तो उत्पत्ति की लागत बढ़ती जाती है और वक्र L P S के अनुसार अल्पकाल की तुलना में यद्यपि पूर्ति सरलतापूर्वक बढ़ाई जा सकती है, तथापि उत्पादन की लागत भी बढ़ती जाती है। इस लिये यद्यपि मूल्य, बढ़ने पर, D-D वक्र के D_1-D_1 की दशा मे आने मे, L P S, या लागत स्थिर रहने की अपेक्षा बढता है, किन्तु उतना नहीं, जितन कि अल्पकाल मे। यह चित्र ५ से स्पष्ट है।
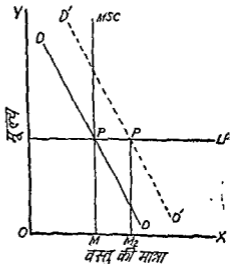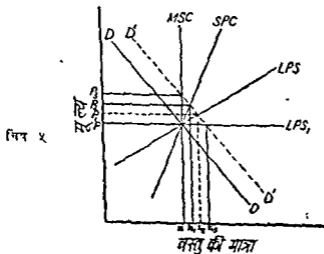
चित्र ५

इसी प्रकार दीर्घकाल [illegible] होने पर वस्तु की पूर्ति बढ़ने पर लागत घटती है किन्तु [illegible] मूल्य में [illegible] परिवर्तन होता है, जिसे कि आगत घटती है।

पर्युक्त चित्र इस ओर भी स्पष्ट कर देता है। माँग वक्र DD से बढ़कर $D_1 D_1$ की स्थिति में आ जाता है तो उत्पादन लागत के घटने से मूल्य भी P से घटकर P_1 हो जाता है और पूर्ति OM से बढ़कर OM_1 तक बढ़ जाती है।
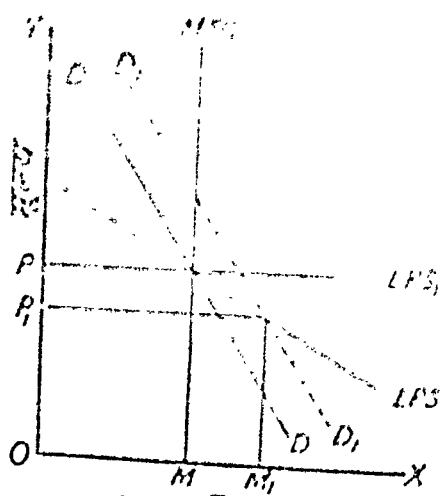
चित्र ६

इस प्रकार स्पष्ट है कि दीर्घकाल में मूल्य उत्पादन लागत से प्रभावित होता है।

अब हम कह सकते हैं कि अल्पकाल में मूल्य वस्तु की उपयोगिता द्वारा, और दीर्घकाल में उत्पादन लागत द्वारा मुख्य रूप से प्रभावित होता है। पहली दशा में, पूर्ति स्थिर रहने पर मूल्य में माँग के अनुसार परिवर्तन होता है और दूसरी दशा में पूर्ति परिवर्तनशील होने पर उत्पादन लागत के अनुसार मूल्य में परिवर्तन होता है। किन्तु मूल्य निर्धारण के लिये माँग और पूर्ति दोनों का होना उसी तरह आवश्यक है जिस तरह कागज काटने के लिये कैंची की दोनों पत्तियों का। न तो अकेली उपयोगिता मूल्य निर्धारित कर सकती है और न उत्पादन लागत ही। हाँ, मांग स्थिर रहने पर भी पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों के कारण और पूर्ति स्थिर रहने पर भी मांग में होने वाले परिवर्तनों के कारण मूल्य में परिवर्तन हो सकते हैं, और इसलिए हम कह सकते हैं कि मूल्य उपयोगिता या उत्पादन लागत में से किसी एक के द्वारा प्रभावित हुआ है, किन्तु हमारा यह कहना एक दम चालू और एकांगी है, और उसे हम किसी तरह वैज्ञानिक नहीं कह सकते हैं। वास्तव में जैसा कि मार्शल ने कहा है—'उत्पादन लागत, माँग की तीव्रता और मूल्य परस्पर एक दूसरे को शासित करते हैं।"

Q. Carefully explain Marshall's theory of value under com-n with special reference to the time factor.

(Vikram M. A. 1960)

श्न —सावधानी पूर्वक समय तत्व के विशेष संदर्भ सहित मार्शल के मूल्य ो समझाइये।

या

(विक्रम, एम० ए० १९६०)

Q. Examine critically Marshall's analysis of the theory of value. (Agra M. A. 1953)

(Vikram M. Com; 1958 Agra 1958, 1963, M. Com.)

प्रश्न—मार्शल के मूल्य सिद्धान्त के विश्लेषण की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिये। (आगरा १९५८ व १९६३ एम० काम०)

(आगरा एम० ए० १९५३, विक्रम एम० काम० १९५८)

Q. "In explaining normal value, Marshall tried to explain a perfect market situation by drawing inspiration from an imperfect market situation with the result that his theory did not explain value in either the one or the other situation satisfactory." —Comment.

(Indore M. Com. 1966)

प्रश्न—"सामान्य मूल्य के निरुपण में मार्शल ने अपूर्ण बाजार की दशा से प्रेरणा लेकर पूर्ण बाजार की दशा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। परिणामतः वे किसी भी एक दशा को सन्तोषपूर्वक नहीं समझा पाये हैं।" टिप्पणी कीजिये।

(इन्दौर १९६६ एम० काम०)

उत्तर—प्रोफेसर हेने लिखते हैं कि मार्शल रिकार्डो के पश्चात् सबसे महान अर्थशास्त्री हैं जिन्होंने अर्थशास्त्र के नवपरम्परावादी सम्प्रदाय की स्थापना की और अपने किसी भी पूर्ववर्ती की अपेक्षा समन्वित तर्कसंगत मूल्य एवं वितरण के सिद्धांत में अधिक उन्नति की।"

मार्शल के आर्थिक प्रतिपादन का जो महत्व उपभोग, उत्पादन, वितरण एवं प्रारम्भिक विचारों के क्षेत्र में है, वही और बल्कि उससे अधिक विनिमय के क्षेत्र में है। हेने के अनुसार, "मार्शल का अर्थशास्त्र मूल्य-निर्धारण की समस्या में केन्द्रित है जिसे कि वह विवेकतः मांग और पूर्ति की दोहरी शक्तियों के सन्तुलन की समस्या स्वीकार करते हैं।"[1] वास्तव में आर्थिक विचारों के इतिहास में मार्शल का मूल्य सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। मार्शल एक समन्वय में विश्वास करने वाले अर्थशास्त्री थे। इसीलिए उन्होंने प्रतिष्ठित (क्लासिकल) सिद्धान्त में जेवन्स के मानसपरक उपयोगिता सम्बन्धी विचारों को प्रविष्ट किया और मांग एवं पूर्ति दोनों की अन्तंक्रियाओं के परिणाम के रूप में मूल्य के सिद्धान्त का विवेचन किया। प्रोफेसर मार्शल ने अर्थशास्त्र में बाजार का महत्व इतना बढ़ाया कि उसे ही समस्त आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र बना दिया। उन्होंने मूल्य के सिद्धान्त में समय के तत्व का वर्णन करने के लिए अल्पकालीन और दीर्घकालीन सन्तुलन के सम्बोध बनाये, उत्पादन व्यय की व्याख्या प्राथमिक व्यय और पूरक व्यय के सम्बोधों से की, प्रतिनिधि फर्म का विचार प्रस्तुत किया और भविष्य के लिये नये अर्थशास्त्रियों को विचार करने की

1. "Marshall's economics centres in the problem of the determination of value, which he consistently regards as a problem of equilibrium of the dual forces of demand and supply. —Prof. Haney, History of Economic Thought.

दिशा प्रदान की । मार्शल ने यह भी संकेत किया कि वितरण मूल्यांकन का ही एक प्रकार है जो कि प्रतिस्थापना के सिद्धान्त के लागू होने से उत्पन्न होता है ।

मार्शल के मूल्य सिद्धान्त के निरूपण से पूर्व भी कुछ विचारकों ने उनके समान ही संकेत किये थे, परन्तु वैज्ञानिक विवेचन का श्रेय उन्हीं को मिला । एडम स्मिथ ने मूल्य को मानवीय उद्देश्यों की माप बतलाया जो एक ओर तो उन क्रेताओं की इच्छा को मापती है जो वस्तुयें खरीदना चाहते हैं और दूसरी ओर उन उत्पादकों के श्रम और त्याग का माप करती है जो उन वस्तुओं का उत्पादन और विक्रय करते हैं । रिकार्डो ने उपयोगिता और मांग को निश्चित मानकर केवल पूर्ति और उत्पादन व्यय को ही महत्त्व दिया । कार्ल मार्क्स ने मूल्य को रिकार्डो के समान ही उत्पादन व्यय का फल माना, परन्तु उस व्यय का अर्थ उनकी दृष्टि में केवल श्रम की लागत थी । उनके शब्दों में, "वस्तुओं के मूल्य उनके उत्पादन में लगने वाले श्रम की अवधियों के प्रत्यक्ष और नियुक्त श्रम की उत्पादन शक्तियों के विपरीत अनुपात में हो हैं ।"[1] जेवन्स और अन्य आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो के समान ही एकांगी विचार प्रस्तुत किये और प्रतिपादित किया कि मूल्य केवल उपयोगिता या मांग द्वारा निर्धारित होते हैं । जान स्टुअर्ट मिल ने यह स्थापित किया कि किसी वस्तु का मूल्य उसके विनिमय में दी जाने वाली वस्तु की तुलना में मापा जाता है । इस प्रकार मूल्य का सिद्धान्त मार्शल के हाथों में ही आकर पूर्णता प्राप्त कर सकता है, और इनका निरूपण आर्थिक विश्लेषण में अत्यन्त ही महत्व रखता है ।

अपने सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रोफेसर मार्शल लिखते हैं, कि 'न तो वह विवरणात्मक है और न वास्तविक समस्याओं का नियामक निरूपण है, वरन् यह हमारे उस ज्ञान की सैद्धांतिक रीढ़ को बनाता है जो मूल्य पर शासन करने वाले कारणों के सम्बन्ध में है । यह ज्ञान की उपलब्धि का नहीं वरन् उस शक्ति का लक्ष्य रखती है जो कि ज्ञान को प्राप्त करने और विन्यस्थ करने के लिये आवश्यक है—विशेषतः उन विरोधी शक्तियों के समूहों के सम्बन्ध में जो मनुष्य को आर्थिक क्रिया, और त्याग करने के लिये प्रेरित करते हैं और जो उसे इनके लिये रोकते हैं ।'

प्रो० मार्शल मूल्य के सिद्धान्त को लिखने से पहले बाजार की परिभाषाओं पर विचार करते हैं परन्तु क्षेत्र का अन्तर अनावश्यक मानते हैं । उनके अनुसार व्यापारी किसी कस्बे, या देश भर में बिखरे होने पर भी एक बाजार बनाते हैं यदि वे किसी भी प्रकार के एक दूसरे के घनिष्ठ सम्बन्ध में हों । उनके अनुसार जितना ही बाजार पूर्ण होगा उतना ही बाजार के सभी भागों में एक ही मूल्य दिए जाने की प्रवृत्ति प्रबल होगी ।

मार्शल का मूल्य सिद्धान्त :—

प्रोफेसर मार्शल मूल्य सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए समझाते हैं कि मूल्य

1. Karl Marx : Value, Price and Profit, p. 39.

सीमांत उपयोगिता या उत्पादन की लागत द्वारा निर्धारित नहीं होता है, वरन् मूल्य समेत ये दोनों वस्तु की मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होते हैं। इस प्रकार मार्शल परम्परावादी और आस्ट्रियन विचारों में समन्वय स्थापित करते हैं और प्रतिपादित करते हैं कि वस्तु का मूल्य मांग और पूर्ति के सन्तुलन के द्वारा निर्धारित होता है।

मार्शल के अनुसार कोई व्यक्ति किसी वस्तु का मूल्य इसलिये देता है कि उसके पास की वस्तु या मुद्रा की उपयोगिता उस वस्तु की उपयोगिता से कम है और वह वस्तु तब तक खरीदने के लिये तत्पर रहेगा जब तक कि वस्तु की उपयोगिता और मूल्य बराबर नहीं हो जाते हैं। किसी एक मूल्य पर एक व्यक्ति जितनी वस्तुओं को खरीदने को तैयार है उसे मांग और उस मूल्य को मांग-मूल्य कहा जाता है। यह मूल्य वह अधिकतम सीमा होती है जो कोई भी व्यक्ति मूल्य दे सकता है।

इसके विपरीत कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को इसलिये बेचने के लिये तैयार होता है कि उसे वस्तु से अधिक मुद्रा की उपयोगिता है और वह तब तक उस वस्तु को बेचता रहेगा जब तक कि उस वस्तु की उपयोगिता और मुद्रा की उपयोगिता बराबर न हो जाये। दूसरे अर्थ में वह वस्तु का मूल्य इसलिये चाहता है कि उसे उसके उत्पन्न करने या प्राप्त करने और संग्रह करने में कुछ व्यय होता है और इस व्यय से कम पर वह वस्तु को बेचने को तैयार नहीं होगा। यह मूल्य न्यूनतम सीमा होती है जिससे कम मूल्य तय नहीं हो सकता। जिस मूल्य पर विक्रेता वस्तु बेचने को तैयार है वह पूर्ति मूल्य और जितनी वस्तुयें बेचने को तैयार है उसे पूर्ति कहा जाता है।

मार्शल के अनुसार इन अधिकतम और न्यूनतम सीमाओं के बीच किसी वस्तु का मूल्य शटल-काक (Shuttle-cock) की भांति इधर-उधर उछलता रहता है, और मांग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के द्वारा निर्धारित होता है। जिस मूल्य पर मांग और पूर्ति बराबर हो जाते हैं उसे सन्तुलन-मूल्य (Equilibrium price) कहा जाता है और यही वस्तु का बाजार मूल्य होता है।

उदाहरण के लिये एक गांव के बाजार में अनाज बेचा जा रहा है। वहां सभी अनाज एक ही किस्म का है। प्रत्येक किसान (विक्रेता) अनाज बेचने के लिये तैयार है क्योंकि उसे धन की आवश्यकता है। उसे बाजार की वर्तमान एवं भावी दशाओं का ज्ञान है। प्रत्येक व्यक्ति बाजार में सही दशा का ज्ञान प्राप्त करता है और उसके अनुसार क्रय-विक्रय करता है। विभिन्न मूल्यों पर बाजार की मांग और पूर्ति इस प्रकार है—

मूल्य प्रति क्वीन्टल	अनाज की मांग क्वीन्टल	[illegible]की पूर्ति [illegible]टल
रु० ६०		
रु० ५८		
रु० ५६		
रु०		

इस प्रकार अनाज का मूल्य ५६ रुपये प्रति क्वीन्टल तय हो जावेगा। यद्यपि वे लोग जो कि इस मूल्य पर अनाज बेचने या खरीदने को तैयार हैं अपना निश्चय तत्काल नहीं प्रगट करेंगे, किन्तु धीरे या देर से यह मूल्य तय हो जावेगा क्योंकि मूल्य कम होने पर विक्रेता मांग बढ़ने की आशा में वस्तु बेचेंगे नहीं और मूल्य बढ़ने की प्रतीक्षा करेंगे और इसी प्रकार मूल्य अधिक होने पर क्रेता मांग घटने और पूर्ति बढ़ने की आशा में अनाज खरीदेंगे नहीं और मूल्य घटने की प्रतीक्षा करेंगे। अतः क्रेता और विक्रेता की अन्तः-प्रक्रिया के कारण मूल्य ५६ रु० प्रति क्वीन्टल पर स्थिर हो जावेगा। इस मूल्य पर मांग और पूर्ति में साम्य स्थापित हो जाता है, अर्थात्, इस मूल्य पर विक्रेता उतनी ही मात्रा बेचने को प्रस्तुत है जितनी कि क्रेता खरीदने को उत्सुक हैं।

मार्शल के मूल्य-सिद्धान्त की विशेषतायें—बाजार में मूल्य निर्धारित होने के समय यह मान लिया गया है कि बाजार में वस्तु की मांग और पूर्ति का स्वतन्त्र रूप से सन्तुलन होता है, व्यापारियों में आपस में किसी प्रकार के संयोग नहीं होते और पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान है। प्रत्येक व्यापारी को व्यापार सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान है जिसके कारण वह कम या अधिक मूल्य लेने या देने को तैयार नहीं होता।

मूल्य निर्धारण में उत्पादन की लागत एवं उपयोगिता का महत्व

इस प्रकार मार्शल ने यह स्पष्ट किया है, कि वस्तु का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा निर्धारित होता है। किसी वस्तु की मांग वास्तव में उपभोक्ता के अनुराग की माप है और यह उस उपयोगिता पर निर्भर करती है जो किसी उपभोक्ता को उस वस्तु का उपभोग करने से प्राप्त होती है। इसके विपरीत वस्तु की पूर्ति उसके उत्पादन की लागत पर निर्भर होती है और उत्पादन लागत उत्पादक द्वारा किये गये त्याग को सूचित करती है। इस प्रकार वस्तु के मूल्य-निर्धारण में न तो केवल उत्पादन लागत का हाथ है जैसा कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था, वरन् सत्यता इन दोनों के मध्य है, अर्थात् मूल्य के नियन्त्रण करने में उत्पादन की लागत और उपयोगिता दोनों ही महत्व रखती हैं। "कैंची के द्वारा कोई कागज काटने में उसके दोनों फल काम में आते हैं। यदि एक फल को स्थिर करलें और दूसरे को कागज काटने के लिये चलायें, तो देखने में यह लगता है कि कागज एक ही फल से कटा है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता दोनों फल की सहायता से ही कागज काटता है। कैंची के दो फलों की तुलना वस्तु की मांग और पूर्ति से करते हुये मार्शल कहते हैं, कि इनमें से एक को स्थिर रखते हुये यदि दूसरे में परिवर्तन हो और इस प्रकार वस्तु का मूल्य निर्धारण हो तो हम यह नहीं कह सकते कि वस्तु की कीमत के निर्धारण में एक ही ओर से प्रभाव पड़ा। बिना दोनों ओर के प्रभाव के किसी भी वस्तु की कीमत निर्धारित नहीं हो सकती।"

मूल्य निर्धारण में समय का प्रभाव :—मार्शल ने बड़ी बुद्धिमता पूर्वक प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों और आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों के मूल्य सम्बन्धी विचारों को मिला-

कर उनका एक वैज्ञानिक समन्वय प्रस्तुत किया है। इसके लिये उन्होंने 'समय तत्व' (Time element) के विचार का प्रयोग किया। उन्होंने बताया है कि किसी वस्तु के मूल्य पर उपयोगिता का प्रभाव अधिक पड़ता है अथवा उत्पादन लागत का इसका उत्तर समय की अवधि पर निर्भर है जोकि मांग एवं पूर्ति की शक्तियों को नवीन परिस्थितियों के अनुसार समायोजित होने के लिये मिलता है मार्शल का कहना है कि "सामान्यत. विचाराधीन अवधि जितनी छोटी होगी उतनी अधिक महत्ता मूल्य के सम्बन्ध में माग की होगी और यह अवधि जितनी लम्बी होगी मूल्य पर उतना ही अधिक प्रभाव उत्पादन लागत का होगा।"[1] किसी विशेष समय पर जो मूल्य वास्तव में प्रचलित हो, उसे बाजार मूल्य (Market Value) कहते हैं और यह अस्थायी एवं अल्पकालिक घटनाओं तथा कारणों से अधिक प्रभावित होता है लेकिन दीर्घकाल में ये अस्थायी कारण एक दूसरे के प्रभाव को समाप्त कर देते हैं और इस प्रकार केवल स्थायी घटनायें एवं कारण ही मूल्य पर प्रभाव डालने पाते है। सच तो यह है कि ये स्थायी कारण भी परिवर्तित हो जाते हैं। कारण यह है कि दीर्घकाल में उत्पादन के ढांचे मे आमूल परिवर्तन हो जाता है और विभिन्न वस्तुओं की सापेक्षित लागतें भी स्थायी रूप से बदल जाती है। दीर्घकाल के मांग एवं पूर्ति दोनो ही में अन्तर हो जाता है।

निम्न चित्रों में अल्पकाल और दीर्घकाल के अन्दर मूल्य पर मांग और पूर्ति के सापेक्षिक प्रभाव को प्रदर्शित किया गया गया है—

चित्र (अ) में, अल्पकाल के अन्दर, मूल्य का निर्धारण दिखाया गया है। आरम्भ में P बिन्दु पर मांग और पूर्ति का सतुलन था जिससे PM मूल्य पर OM मात्रा थी। यदि माग वस्तु की माग DD से D[1] D[1] हो जाती है और वस्तु की पूर्ति में किसी प्रकार की वृद्धि सम्भव नहीं होती है (क्योंकि समय इतना अल्प है कि पूर्ति बढी हुई मात्रा के अनुसार अपने को समायोजित नही कर पाती है) तो वह OM
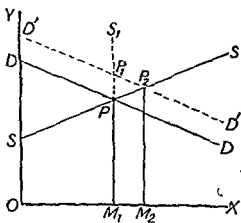
चित्र (अ)

1 "As a general rule" says Marshall, "The shorter the period which we are considering the greater must be the share of our attention which is given to the influence of demand on value, and the longer the period, the more important will be the influence of cost of production on value."

मात्रा MP मूल्य के वजाय MP^1 मूल्य पर विकेगी। इस दशा में नया पूर्ति वक्र SS^1 है जो P के आगे पूर्णतः बेलोच है। किन्तु नवीन स्थिति में (यह मानते हुए कि उत्पादन की टेकनीक अपरिवर्तित है!) दीर्घकालीन मूल्य $P^2 M^2$ होगा जिस पर OM_2 मात्रा वेची जावेगी।
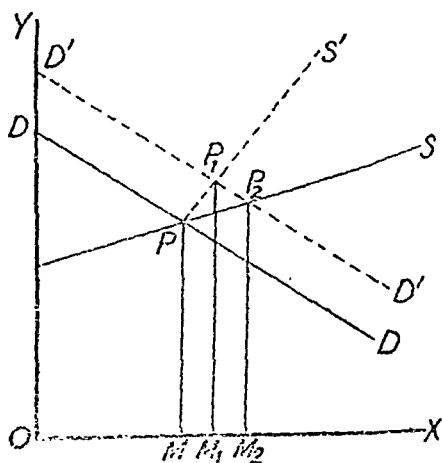
चित्र (ब)

दीर्घकाल एवं अल्पकाल में मूल्य निर्धारण

चित्र (ब) में दीर्घकाल के अन्दर का मूल्य निर्धारण दिखाया गया है जवकि चित्र (अ) में SS^1 बेलोच था इसका अर्थ यह हुआ कि माँग में DD से D^1 D^1 तक वृद्धि होने पर पूर्ति में वृद्धि हुई किन्तु उतनी नहीं जितना कि मांग में हुई। नवीन मूल्य P_2M_2 की तुलना में अधिक ही होगा। इसी प्रकार पूर्ति भी OM_1 तक बढ़ जाती है (वृद्धि MM_1) जो कि चित्र (अ) की OM मात्रा से अधिक किन्तु दीर्घकालीन मात्रा OM_2 से कम है।

उपरोक्त विश्लेपण से मार्शल के इस कथन की पुष्टि हो जाती है कि अल्पकाल में वस्तु के मूल्य पर उपयोगिता का और दीर्घकाल में उत्पादन लागत का प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार मार्शल ने अपने सिद्धान्त में समय के विचार को वड़ा महत्व दिया है और समय तत्व के संदर्भ में माँग और पूर्ति की स्थिति का वर्णन संक्षेप में उन्होंने निम्न शब्दों में किया है :—

"समय के दृष्टिकोण से बाजार में चार स्थितियां देखी जा सकती हैं। किन्तु प्रत्येक स्थिति में मांग और पूर्ति के सम्बन्धों द्वारा ही मूल्य का नियन्त्रण होता है। बाजार मूल्यों के सम्बन्ध में पूर्ति का आशय वस्तु के उस स्टाक से है जो वर्तमान पर पास में हो। उन सामान्य मूल्यों के सम्बन्ध में (जवकि 'सामान्य' शब्द का ... महीनों या १ वर्ष की अवधियों से होता है)। पूर्ति का आशय वस्तु की ... से है जो उस मूल्य पर विद्यमान प्लान्ट की सहायता से उत्पन्न की जा ... । उन सामान्य मूल्यों के सम्बन्ध में ऐसे क्रमिक एवं धीमे परिवर्तन भी होते ...न, जनसंख्या एवं पूंजी के धीरे धीरे बढ़ने तथा एक पीढ़ी में मांग और

पूर्ति में बदलती हुई दशाओं के कारण उदय हुआ करते हैं।[1]"

एक अन्य उदाहरण लेकर मार्शल के उपरोक्त मूल्य सिद्धान्त को समझा सकते हैं। मान लीजिए कि किसी विशेष समय पर कारों की मांग एवं पूर्ति से अस्थायी सन्तुलन होने से कारों का बाजार मूल्य PM निश्चित होता है (देखिए चित्र स)। SS पूर्ति वक्र PM मांग को P बिन्दु पर स्पर्श करते हुए PM ($=OO_2$) बराबर संतुलन मूल्य प्रस्तुत करता है। अब मान लीजिए कि मांग बढ़ जाती है जिसको D_1D_1 मांग वक्र द्वारा प्रदर्शित किया गया।

चित्र (स)
मांग एवं पूर्ति का सन्तुलन

नवीन संतुलन मूल्य P_1M_1 ($=OO_2$) होगा जो कि पुराने मूल्य की अपेक्षा O_1O_2 राशि से अधिक है। यदि मांग में वृद्धि किसी अस्थायी स्वभाव के कारण से हुई है तब तो यह कुछ समय पश्चात् लुप्त हो जायेगी और पुराना सतुलन मूल्य PM ($=O_1$) फिर से स्थापित हो जायेगा।

लेकिन मान लीजिये कि यह वृद्धि किसी स्थायी स्वभाव के कारण पैदा हुई है तो ऐसी दशा में बाजार मूल्य दीर्घ काल के भीतर किस प्रकार की प्रतिक्रिया दिखलाएगा ? दूसरे शब्दों में सामान्य मूल्य क्या होगा ? दीर्घकाल में मूल्य, स्थायी स्वभाव की अधिक मांग के प्रत्युत्तर में बाजार में आने वाली अधिक पूर्ति की सीमांत उत्पादन लागत निर्भर करेगा। कुछ समय तक तो उत्पादन के साधन, जो कार निर्माण उद्योग में पहले से ही लगे हुए हैं, कारो की पूर्ति को ओवर टाइम काम
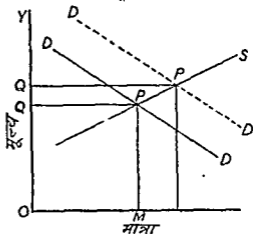
1. "Four classes stand out. In each Price is governed by the relations between demand and supply. As regards, market prices, supply is taken to mean the stock of the commodity in question which is on hand, or at all events in sight. As regards normal prices, when the term normal is taken to relate short periods of a few months or a year, supply means broadly what can be produced for the prices in question with the existing stock of plant, personal and impersonal in the given time. As regards normal prices, when the term normal is to refer to long period of several years, supply means what can be produced by plant which it self can be remuneratively produced and applied within the given time; while lastly, there are very gradual or secular movements of normal prices, caused by the gradual growth of knowledge, production and of capital and the changing conditions of demand and supply from one generation to another,"

करके बढ़ाने का प्रयास करेंगे। यदि ये साधन कुशल नहीं हैं तो कुछ समय के लिए सीमांत लागत बढ़ जायेगी और उस समय प्रचलित सामान्य मूल्य भी उस सामान्य मूल्य की अपेक्षा अधिक होगा जो दीर्घकाल में तब प्रचलित होता जबकि उत्पादन के नये साधन बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए उद्योग में संलग्न हो जावेंगे। इस समय पर पूर्ति की शक्तियों ने अपने आपको मांग की दशाओं के अनुकूल समायोजित कर लिया है इसलिए सामान्य मूल्य उत्पादन लागत के तुल्य होगा। इस प्रकार मार्शल के अनुसार दीर्घकाल में सामान्य मूल्य वस्तु के उत्पादन की सीमांत लागत द्वारा निर्धारित होता है।

मार्शल के दृष्टिकोण की आलोचनायें

मार्शल के मूल्य सम्बन्धी विचारों की कई आलोचनायें की गई हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) सीमान्त उत्पादन लागत द्वारा मूल्य निर्धारित होने की धारणा त्रुटिपूर्ण है—यह कहना सही नहीं है कि मूल्य सीमान्त लागत के तुल्य तय होता है। व्यावहारिक जगत में हमारा सम्बन्ध 'अल्पकाल' से है। 'दीर्घकाल' से नहीं। दीर्घकाल तो एक सैद्धान्तिक विचार है जो कि वास्तविक दुनिया में कभी भी साकार नहीं होता। लार्ड कीन्स के शब्दों में, 'दीर्घकाल में तो हम मर जाते हैं' (In the long period we are dead)। सरल शब्दों में, व्यावहारिक जगत में अल्पकाल का ही अस्तित्व होता है। ऐसी दशा में यह कहने में कोई सार नहीं है कि दीर्घकाल में सीमाँत लागत द्वारा मूल्य निर्धारित होता है क्योंकि दीर्घकाल का तो वास्तविक जगत में कोई अस्तित्व ही नहीं है। व्यावहारिक जगत में अल्पकाल का ही अस्तित्व होता है और अल्पकाल में मूल्य सीमान्त लागत द्वारा निर्धारित नहीं होगा।

मार्शल के मूल्य सिद्धान्त की तीन आलोचनायें

(१) सीमान्त उत्पादन लागत द्वारा मूल्य निर्धारण होने की धारणा त्रुटिपूर्ण है।
(२) सीमांत उपयोगिता द्वारा मूल्य निर्धारण होने की धारणा त्रुटिपूर्ण है।
(३) यह केवल स्थिर अर्थव्यवस्था की दशा में ही प्रभावशील होता है।
(४) मार्शल का मूल्य विश्लेषण अयुक्ति संगत है।

(२) मार्शल का मूल्य सिद्धान्त केवल स्थिर अर्थव्यवस्था को ही लागू होता है—मार्शल ने जिस ढंग से मूल्य सिद्धान्त की व्यवस्था की है। वह स्थिरात्मक (Static) है और इसको एक स्थिर अर्थव्यवस्था में ही लागू किया जा सकता है जहां पर आर्थिक विश्व के सभी कार्यकलाप सहज गति से होते रहते हैं पूर्ण प्रतियोगिता की दशायें विद्यमान होती हैं। किन्तु वास्तविक विश्व गतिशील (Dynamic) है। इसमें उत्पादन की कला में नित्य

सुधार व आविष्कार होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में भी मूल्य उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर नहीं होगा।

(३) यह कहना गलत है कि सीमांत इकाई की उपयोगिता मूल्य को निर्धारित करती है—वास्तव में सीमांत इकाई मूल्य का कारण नहीं है बल्कि मूल्य समेत सीमांत इकाई का निर्धारण मांग एवं पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा होता है। मार्शल के शब्दों में, "सीमांत उपयोगिता एवं लागतें मूल्य पर नियंत्रण नहीं करती है वरन् वे मूल्य समेत मांग एवं पूर्ति की सामान्य दशाओं द्वारा निर्धारित की जाती हैं।" सीमांत इकाई तो वह स्थान या बिन्दु सूचित करती है जहां पर मूल्य निर्धारित होगा किन्तु मूल्य निर्धारण में उसका कोई भाग नहीं होता। यदि पूर्ति अथवा मांग में कोई परिवर्तन हो जाये, तो सीमांत लागत अथवा सीमांत उपयोगिता की स्थिति में भी परिवर्तन हो जावेगा। स्पष्ट है कि ऐसे अनिश्चित स्वभाव वाली सीमांत लागतें एवं सीमांत उपयोगिता मूल्य का निर्धारण कदापि नहीं कर सकती है। वास्तव में मूल्य का निधारण कुल मांग (सीमांत इकाई की मांग अथवा उपयोगिता +अन्य इकाइयों की मांग जो कि सीमांत इकाइयां नहीं हैं) और कुल पूर्ति (सीमांत इकाई की उत्पादन लागत+उन इकाइयों की उत्पादन लागत जो कि सीमांत इकाइयां नहीं है) के मध्य संतुलन द्वारा होता है।

(४) मार्शल का मूल्य विश्लेषण अस्पष्ट है—मार्शल ने बाजार को पूर्ण प्रतियोगिता मानकर मूल्य सिद्धान्त का निरूपण किया है। मगर ऐसा करने में भी उनकी प्रेरणा का मुख्य स्रोत वास्तविक बाजार रहा है जो कि अपूर्ण प्रतियोगिता पर आधारित होता है। इस प्रकार मार्शल ने अपूर्ण बाजार के तथ्य पूर्ण बाजार पर लागू करने का प्रयत्न किया है। प्रतिनिधि फर्म और समय तत्व के निरूपण में उन की यह कोशिश देखी जा सकती है। ऐसे में वे न तो अपूर्ण बाजार को समझा पाये हैं और न पूर्ण बाजार को।

निष्कर्ष—

इतनी आलोचनाओं के होते हुए भी यह अविवादास्पद है कि मार्शल का मूल्य सम्बन्धी विश्लेषण आर्थिक अध्ययन में अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित हुआ है। इसके आधार पर अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में मूल्य निर्धारण सम्बन्धी बातों का अध्ययन करना सरल हो गया है। मूल्य विभेद की जटिल समस्याओं का अध्ययन करने में तो अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को इस विश्लेषण से बहुत पथ-प्रदर्शन मिला है।

Q. Examine the importance of time element in the determination of value. Give diagrams to illustsate your answer.
(Vikram M. A. 1959; Vikram M. A. 1965; Vikram M. A 1963 Agra M. A. 1957; Agra M. A. 1954; Agra M. Com. 1956)

प्रश्न—किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण में समय तत्व के महत्व की परीक्षा कीजिये। अपने उत्तर को आकृतियों से चित्रित कीजिये।

करके बढ़ाने का प्रयास करेंगे। यदि ये साधन कुशल नहीं हैं तो कुछ समय के लि सीमांत लागत बढ़ जायेगी और उस समय प्रचलित सामान्य मूल्य भी उस साम मूल्य की अपेक्षा अधिक होगा जो दीर्घकाल में तब प्रचलित होता जबकि उत्पादन नये साधन बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए उद्योग में संलग्न हो जावेंगे। समय पर पूर्ति की शक्तियों ने अपने आपको मांग की दशाओं के अनुकूल समायो कर लिया है इसलिए सामान्य मूल्य उत्पादन लागत के तुल्य होगा। इस प्रकार मा के अनुसार दीर्घकाल में सामान्य मूल्य वस्तु के उत्पादन की सीमांत लागत निर्धारित होता है।

मार्शल के दृष्टिकोण की आलोचनायें

मार्शल के मूल्य सम्बन्धी विचारों की कई आलोचनायें की गई हैं, प्रकार हैं :—

(१) सीमान्त उत्पादन लागत द्वारा मूल्य निर्धारित होने की धारणा त्रुटि यह कहना सही नहीं है कि मूल्य सीमान्त लागत के तुल्य तय होता है। व्य जगत में हमारा सम्बन्ध 'अल्पकाल' से है। 'दीर्घकाल' से नहीं। दीर् एक सैद्धान्तिक विचार है जो कि वास्तविक दुनिया में कभी भी साकार न लार्ड कीन्स के शब्दों में, 'दीर्घकाल में तो हम मर जाते हैं' (In the lo we are dead)। सरल शब्दों में, व्यावहारिक जगत में अल्पकाल का होता है। ऐसी दशा में यह कहने में कोई सार नहीं है कि दीर्घकाल लागत द्वारा मूल्य निर्धारित होता है क्योंकि दीर्घकाल का तो वास्त कोई अस्तित्व ही नहीं है। व्यावहारिक जगत में अल्पकाल का ही अ और अल्पकाल में मूल्य सीमान्त लागत द्वारा निर्धारित नहीं होगा।

मार्शल के मूल्य सिद्धान्त की तीन आलोचनायें

(१) सीमान्त उत्पादन लागत द्वारा मूल्य निर्धारण होने की धारणा त्रुटिपूर्ण है।

(२)

(२) मार्शल क केवल स्थिर अर्थ लागू होता है— से मूल्य सिद्धा है। वह है

दोनों ही अपने २ विचारों में ठीक है। यदि समय की बहुत अल्प विधि को विचार में लिया जाय, तो लगभग सही विवरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि मूल्य सम्पूर्ण उपयोगिता पर निर्भर होता है। लेकिन यह पूर्णतः सही विवरण नहीं है। यद्यपि अल्पकाल में मूल्य मांग की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है तथापि वर्तमान पूर्ति का भी कुछ प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार, उत्पादन लागत भी, केवल दीर्घकाल को छोड़कर मूल्य को प्रभावित नहीं करती है। अतः जब हम मूल्य को नियन्त्रित करने वाली शक्तियों का विवेचन करें तो हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि मूल्य के निर्धारण पर अल्पकाल के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है या दीर्घकाल के सम्बन्ध में।

मार्शल को समय तत्व पर सर्वप्रथम ध्यान देने का श्रेय—मार्शल के विचारों का महत्व इस बात में है कि उन्होंने अत्यन्त बुद्धिमानी से रिकार्डो और जेवन्स के विचारों का समन्वय करके उन्हें एक वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। इस सम्बन्ध में उन्हें समय तत्व के अध्ययन से बड़ी सहायता मिली है। वास्तव में, मूल्य-निर्धारण की समस्या में समय तत्व को सर्वप्रथम महत्व देने का श्रेय मार्शल को है। समय के महत्व को बताकर उन्होंने मूल्य सिद्धान्त से सम्बन्धित अनेक जटिल प्रश्नों को सुगम बना दिया। उन्होंने बताया कि वस्तुओं का मूल्य सदा मांग और पूर्ति के साम्य (Equilibrium) द्वारा निश्चित होता है। परन्तु मांग और पूर्ति की शक्तियों को साम्य की स्थिति तक पहुंचने में पर्याप्त समय लगता है और काफी समय तक अस्थायी (Unstable Equilibrium) बना रहता है। समय के बीतने पर अस्थायी साम्य स्थायी साम्य (Stable Edulbrium) में बदल जाता है और अन्त में स्थायी साम्य पूर्ण साम्य (Complete Equilibrium) में परिणित हो जाता है। यही कारण था कि मार्शल ने समय के प्रभाव को इतना अधिक महत्व दिया। मूल्य के निर्धारण में समय के महत्व को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने समय की अवधि को चार वर्गों में विभाजित किया है—(i) अति अल्पकाल जो एक दिन या एक सप्ताह हो सकता है, (ii) अल्पकाल जो कुछ महीना या एक वर्ष का हो सकता है; (iii) दीर्घकाल जो कई वर्षों का हो सकता है एवं (iv) अति दीर्घकाल कई पीढ़ियों तक विस्तृत हो सकता है।

अल्पकाल और दीर्घकाल में कोई स्पष्ट विभाजन वाली रेखा नहीं है—यह उल्लेखनीय है कि समय के उपरोक्त विभाजन का सम्बन्ध किसी निश्चित अवधि से नहीं है वरन् मांग में परिवर्तन के फलस्वरूप पूर्ति को समायोजित होने में जितना समय लगता है (इसे स्टिगलर ने Operational Period कहा है) उसके आधार पर उक्त विभाजन किया गया है। यह अलग-अलग उद्योगों में अलग-अलग हो सकता है। उदाहरण के लिये एक मोटर बनाने के उद्योग में एक वर्ष अल्पकाल माना जा सकता है जबकि फल उद्योग में ५ वर्ष का समय भी अल्प माना जाता है क्योंकि फलों की पूर्ति बढ़ाने के लिये इतना समय तो लग ही जाता है। प्रोफेसर

विक्रम एम० ए० १९६५, विक्रम एम० ए० १९५९, १९६३, आगरा एम० ए०, १९५४, १९५७,) (आगरा एम० काम १९५६)

Q. Examine the importance of time element in the determination of value. Does it affect demand and supply equally?

(Agra M. Com. 1959)

प्रश्न---किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण में समय तत्व की महत्ता प्रतिपादित कीजिये। क्या वह मांग और पूर्ति को समान रूप से प्रभावित करता है?

(आगरा एम० काम० १९५९)

Q. What important part does the element of time play in the detetmination of value? Explain by means of diagrams.

(Indore M. A. 1965)

प्रश्न–मूल्य निर्धारत में समय तत्व का क्या महत्व है? रेखा चित्रों द्वारा स्पष्ट कीजिये।

(इन्दौर एम० ए० १९६५)

प्रस्तावना:—

उत्तर---प्राचीन काल में पूर्व प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (विशेषत: रिकार्डो) का यह मत था कि किसी वस्तु का मूल्य पूर्णत: उसकी उत्पादन-लागत द्वारा निर्धारित होता है। यह सच है कि उन्होंने मूल्य पर उपयोगिता के प्रभाव को भी अस्वीकार नहीं किया। क्योंकि उनके अनुसार उपयोगिता होना मूल्य के लिये नितांत आवश्यक था किन्तु उसके अनुसार, वह मूल्य का माप (Measure) नहीं था। इस सम्बन्ध में रिकार्डो ने माल्थस को जो पत्र लिखा था उससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता हैं—"मैं अनाज अथवा अन्य वस्तुओं के मूल्य पर माँग के प्रभाव पर वाद–विवाद नहीं करता, किन्तु यह बताना चाहता हूँ कि पूर्ति इसके (मांग के) पीछे-पीछे चलती है और शीघ्र ही वह मूल्य नियन्त्रण की बागडोर अपने हाथ में ले लेती है और मूल्य का नियमन करते समय उत्पादित लागत द्वारा प्रभावित होती है।"[1] इसके विरुद्ध आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों ने यह मत प्रकट किया कि वस्तु की उपयोगिता ही मूल्य को निर्धारित करती है। इस सम्बन्ध में जेवन्स लिखते हैं---"बारम्बार के विचार एवं छानबीन से मैं अनोखे निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये प्रेरित हुआ हूँ कि मूल्य सम्पूर्णत: उपयोगिता पर ही निर्भर है।"[2] वास्तव में एक सीमा तक रिकार्डो और जेवन्स

1. "I do not dispute either the influence of demand on the price of all things, but supply follows close at its heal and soon takes the power of regulating price in his own hands in regulating it, he is determined by cost of production".
-Ricardo.

2. "Repeated reflection and enquiry have led me to some what novel opinion that value depends entirely upon utility." -Jevons

दोनों ही पक्षों के विचारों में मेल है। यदि समय की बहुत अल्प अवधि को विचार में लिया जाय, तो अत्यल्प काल की स्थिति के रूप में यह कहा जा सकता है कि मूल्य सम्पूर्ण उपयोगिता पर निर्भर होता है। लेकिन यह पूर्णतः सही विवरण नहीं है। यद्यपि अल्पकाल में मूल्य मांग की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है तथापि वर्तमान पूर्ति का भी कुछ प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार, उत्पादन लागत भी, केवल दीर्घकाल को छोड़कर मूल्य को प्रभावित नहीं करती है। अतः अब हम मूल्य को नियंत्रित करने वाली शक्तियों का विवेचन करें तो हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि मूल्य के निर्धारण पर अल्पकाल के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है या दीर्घकाल के सम्बन्ध में।

मार्शल को समय तत्व पर सर्वप्रथम ध्यान देने का श्रेय—मार्शल के विचारों का महत्व इस बात में है कि उन्होंने अत्यन्त बुद्धिमानी से रिकार्डो और जेवन्स के विचारों का समन्वय करके उन्हें एक वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। इस सम्बन्ध में उन्हें समय तत्व के अध्ययन से बड़ी सहायता मिली है। वास्तव में मूल्य-निर्धारण की समस्या में समय तत्व को सर्वप्रथम महत्व देने का श्रेय मार्शल को है। समय के महत्व को बताकर उन्होंने मूल्य सिद्धान्त से सम्बन्धित अनेक जटिल प्रश्नों को सुगम बना दिया। उन्होंने बताया कि वस्तुओं का मूल्य सदा मांग और पूर्ति के साम्य (Equlibrium) द्वारा निश्चित होता है। परन्तु मांग और पूर्ति की शक्तियों को साम्य की स्थिति तक पहुंचने में पर्याप्त समय लगता है और काफी समय तक अस्थायी (Unstable Equilibrium) बना रहता है। समय के बीतने पर अस्थायी साम्य स्थायी साम्य (Stable Edullbrium) में बदल जाता है और अन्त में स्थायी साम्य पूर्ण साम्य (Complete Equilibrium) में परिणित हो जाता है। यही कारण था कि मार्शल ने समय के प्रभाव को इतना अधिक महत्व दिया। मूल्य के निर्धारण में समय के महत्व को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने समय की अवधि को चार वर्गों में विभाजित किया है—(i) अति अल्पकाल जो एक दिन या एक सप्ताह हो सकता है, (ii) अल्पकाल जो कुछ महीना या एक वर्ष का हो सकता है; (iii) दीर्घकाल जो कई वर्षों का हो सकता है एवं (iv) अति दीर्घकाल कई पीढ़ियों तक विस्तृत हो सकता है।

अल्पकाल और दीर्घकाल में कोई स्पष्ट विभाजन वाली रेखा नहीं है—यह उल्लेखनीय है कि समय के उपरोक्त विभाजन का सम्बन्ध किसी निश्चित अवधि से नहीं है वरन् मांग में परिवर्तन के फलस्वरूप पूर्ति को समायोजित होने में जितना समय लगता है (इसे स्टिगलर ने Operational Period कहा है) उसके आधार पर उक्त विभाजन किया गया है। यह अलग-अलग उद्योगों में अलग-अलग हो सकता है। उदाहरण के लिये एक मोटर बनाने के उद्योग में एक वर्ष अल्पकाल माना जा सकता है जबकि फल उद्योग में ५ वर्ष का समय भी अल्प माना जाता है क्योंकि फलों की पूर्ति बढ़ाने के लिये इतना समय तो लग ही जाता है। प्रोफेसर

मार्शल के शब्दों में—

"दीर्घकाल और अल्पकाल में कोई स्पष्ट विभाजन करने वाली रेखा नहीं है। वास्तविक जीवन का आर्थिक परिस्थितियों में प्रकृति ने कोई इस प्रकार का विभाजन नहीं किया है और न व्यावहारिक समस्याओं का अध्ययन करते समय इसकी कोई आवश्यकता ही है। जिस प्रकार हम सभ्य एवं असभ्य जातियों में अन्तर बताते हैं और दोनों के विषय में अनेक सामान्य सिद्धान्त भी बताते हैं यद्यपि दोनों के मध्य में किसी प्रकार का स्पष्ट विभाजन करना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार हम अल्पकाल और दीर्घकाल में, उनके स्पष्ट विभाजन की चेष्टा किये बिना, भेद करते हैं।"[1]

मांग और पूर्ति का महत्व समय के साथ बदल जाता है—मार्शल का कहना है कि माँग और पूर्ति का महत्व समय के बदलने के साथ बदल जाता है। बाजार जितना अल्पकालीन होता है, मूल्य पर माँग का उतना ही अधिक प्रभाव पड़ता है और बाजार जितना दीर्घकालीन होता है मूल्य पर पूर्ति का उतना ही अधिक प्रभाव पड़ता है। मार्शल के शब्दों में—

"सामान्यत: जितना अल्पकाल होगा उतना ही अधिक हमारा ध्यान मूल्य पर मांग के प्रभाव की ओर होगा और जितना ही दीर्घकाल होगा उतना ही अधिक प्रभाव मूल्य पर होगा। किसी भी समय वास्तविक लागत (जिसे बहुधा बाजार मूल्य कहते हैं) पर उन कारणों की अपेक्षा जो निरन्तर काम करते रहते हैं, ऐसे कारणों का अधिक प्रभाव पड़ता है जो आवेशयुक्त और अल्पकालीन होते हैं परन्तु दीर्घकाल में आवेशयुक्त और अनियमित कारण आपस में एक दूसरे के प्रभाव को समाप्त कर देते हैं इसलिये दीर्घकाल में आग्रहयुक्त कारण मूल्य को निश्चित करते हैं। फिर भी अधिक आग्रहयुक्त कारणों में भी परिवर्तन हो सकता है, क्योंकि उत्पत्ति के सम्पूर्ण ढांचे में सुधार हो सकता है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन लागत में अनेक स्थायी परिवर्तन हो सकते हैं।"[2]

---

1. "Of course there is no hard and sharp line of divisio between 'long' and 'short' period. Nature has drawn no such lines in the economic conditions of actual life and in dealing with practical problems. They are not wanted. Just as we contrast civilized with uncivilized races and establish many general prepositions about either group, though no hard and fast division can be drawn between the two, so we contrast long and short periods without attempting and rigid demarcation between them." —Marshall.

2. "As a general rule, the shorter the period which we are considering, the greater must be the share of our attention, which is given to the influence of demand on value, and the longer the period the more important will be the influence of cost of production on value. The actual value, at any time the market value, as it is often called is often more influenced by passing events and by causes whose action is fitful and short lived, than by those which work persistantly. But in the long periods those fitful and irregular causes in large measure efface one another's influence, so that in the long run persistant cause dominate value completely. Even the most persistent causes are, however liable the change. For the whole structure of production is modified and the relative costs of production of different things are permanently altered from one generation to another." --Marshall

मार्शल के उपरोक्त विचार को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:—

(१) अति अल्पकाल (Very Short Period)—जब समय इतना कम हो कि उसके भीतर वस्तु की पूर्ति के तनिक भी परिवर्तन करना अत्यन्त कठिन हो, उसे 'अति अल्पकाल' (Very Short Period) कहते हैं। उदाहरण के लिए, उस समय से जब कि मछली की सम्पूर्ण मात्रा तालाबो से उठाकर बाजार मे पहुचा दी गई हो और जब तक कि उसकी नई मात्रा प्राप्त न हो तब तक का समय 'अति अल्पकाल' माना जायेगा क्योकि उसमे मछली की पूर्ति उपलब्ध स्टाक तक ही सीमित है और इस स्टाक मे किसी भी प्रकार की वृद्धि नही की जा सकती है।

ऐसी दशा मे, यदि माग बढ़ जावें, तो मछली के मूल्य मे भी उसी अनुपात मे वृद्धि हो जायेगी और यदि मांग घट जायें तो मछली के मूल्य मे भी उसी अनुपात मे कमी हो जायेगी। क्योंकि मछली विक्रेता मछली खराब हो जाने के भय से उन्हे उसी दिन बेचने की चेष्टा करेंगे। स्पष्ट है कि ऐसी दशा मे वस्तु के मूल्य पर केवल मांग का प्रभाव पड़ेगा, और आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों का कथन अति अल्पकाल मे मूल्य निर्धारण के लिये सत्य प्रमाणित होता है। आगे दिये हुये चित्र द्वारा यह बात अधिक स्पष्टता से समझी जा सकती है—

निम्न चित्र मे MSC बाजार पूर्ति का वक्र (Market Supply Curve) है। पूर्ति के अति अल्पकाल मे स्थिर रखने के कारण वह वक्र लम्ब रूप में प्रदर्शित किया गया है। DD वक्र

मूल्य निर्धारण में समय तत्व के प्रभाव की ४ मुख्य बातें

(१) अति अल्पकाल में पूर्ति केवल उपलब्ध स्टाक तक ही सीमित होती है। वस्तु के मूल्य पर केवल मांग का प्रभाव पड़ता है। वह मांग के अनुपात में बढ़ता घटता रहता है।

(२) अल्पकाल में पूर्ति उपलब्ध साधनो की अधिकतम क्षमता तक बढ़ाई जा सकती है। वस्तु के मूल्य पर मांग का अधिक व पूर्ति का प्रभाव कम पड़ता है। मूल्य मांग की अपेक्षा कम अनुपात में बढ़ता घटता है।

(३) दीर्घकाल में पूर्ति को नये साधनों द्वारा बहुत बढ़ाया जा सकता है। वस्तु के मूल्य पर केवल पूर्ति का प्रभाव पड़ता है। उत्पादन लागत मे विभिन्न नियमों की क्रियाशीलता से विभिन्न परिवर्तन होते है और मूल्य भी तदनुसार घटता बढ़ता है।

(४) अति दीर्घ काल मे मांग एवं पूर्ति दोनों में ही असीमित परिवर्तन हो सकते हैं। मूल्य निर्धारण के विषय में यही कहा जा सकता है कि वह मांग पूर्ति के सतुलन बिन्दु पर निर्धारित होगा।

मार्शल के शब्दों में—

"दीर्घकाल और अल्पकाल में कोई स्पष्ट विभाजन करने वाली रेखा नहीं है। वास्तविक जीवन की आर्थिक परिस्थितियों में प्रकृति ने कोई इस प्रकार का विभाजन नहीं किया है और न व्यावहारिक समस्याओं का अध्ययन करते समय इसकी कोई आवश्यकता ही है। जिस प्रकार हम सभ्य एवं असभ्य जातियों में अन्तर बताते हैं और दोनों के विषय में अनेक सामान्य सिद्धान्त भी बताते हैं यद्यपि दोनों के मध्य में किसी प्रकार का स्पष्ट विभाजन करना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार हम अल्पकाल और दीर्घकाल में, उनके स्पष्ट विभाजन की चेष्टा किये बिना, भेद करते हैं।"[1]

मांग और पूर्ति का महत्व समय के साथ बदल जाता है—मार्शल का कहना है कि माँग और पूर्ति का महत्व समय के बदलने के साथ बदल जाता है। बाजार जितना अल्पकालीन होता है, मूल्य पर माँग का उतना ही अधिक प्रभाव पड़ता है और बाजार जितना दीर्घकालीन होता है मूल्य पर पूर्ति का उतना ही अधिक प्रभाव पड़ता है। मार्शल के शब्दों में—

"सामान्यतः जितना अल्पकाल होगा उतना ही अधिक हमारा ध्यान मूल्य पर मांग के प्रभाव की ओर होगा और जितना ही दीर्घकाल होगा उतना ही अधिक लागत का प्रभाव मूल्य पर होगा। किसी भी समय वास्तविक लागत (जिसे बहुधा बाजार मूल्य कहते हैं) पर उन कारणों की अपेक्षा जो निरन्तर काम करते रहते हैं, उन कारणों का अधिक प्रभाव पड़ता है जो आवेशयुक्त और अल्पकालीन होते हैं परन्तु दीर्घकाल में आवेशयुक्त और अनियमित कारण आपस में एक दूसरे के प्रभाव को समाप्त कर देते हैं इसलिये दीर्घकाल में आग्रहयुक्त कारण मूल्य को निश्चित करते हैं। फिर भी अधिक आग्रहयुक्त कारणों में भी परिवर्तन हो सकता है, क्योंकि उत्पत्ति के सम्पूर्ण ढांचे में सुधार हो सकता है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन लागत में अनेक स्थायी परिवर्तन हो सकते हैं।"[2]

---

1. "Of course there is no hard and sharp line of division between 'long' and 'short' period. Nature has drawn no such lines in the economic conditions of actual life and in dealing with practical problems. They are not wanted. Just as we contrast civilized with uncivilized races and establish many general prepositions about either group, though no hard and fast division can be drawn between the two, so we contrast long and short periods without attempting any rigid demarcation between them." —Marshall

2. "As a general rule, the shorter the period which we are considering the greater must be the share of our attention, which is given to the influence of demand on value, and the longer the period the more influence of cost of production on value. The actual market value, as it is often called is often more by causes whose action is fitful and short persistantly. But in the long periods those measure efface one another's influence dominate value completely Even liable the change. For the who relative costs of production generation to another."

तुलना में अधिक होगा। यही कारण है कि अल्पकाल में मांग की वृद्धि के कारण मूल्य अल्पकाल की अपेक्षा कम बढ़ते है। इसी बात को आगे दिये चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:—

अग्र अंकित चित्र में MC प्रारम्भिक बाजार पूर्ति वक्र है और DD प्रारम्भिक माग वक्र है। उस समय वस्तु का मूल्य OQ के बराबर था। जब माँग में वृद्धि हुई तो DD माग वक्र D_1D_1 की स्थिति मे पहुँच गया। पूर्ति में भी कुछ वृद्धि हुई और वह SPS की स्थिति मे आ गई और इन दोनों के सम्मिलित बिन्दु के अनुसार अब वस्तु का मूल्य OQ_2 के बराबर हो गया है। अतिअल्पकाल मे पूर्ति वक्र

चित्र २—अल्पकाल में मूल्य निर्धारण

MSC की दशा मे तत्ववत् रहता और मांग वक्र DD से D_1D_1 मे बदलने पर इनके सम्मिलन बिन्दु (Point of interaction) के अनुसार मूल्य OQ_1 निर्धारित होगा। स्पष्ट ही OQ_1, OQ_2 की अपेक्षा अधिक है अर्थात् अल्पकाल मे भी वस्तु की माग अर्थात् उपयोगिता द्वारा प्रभावित होता है लेकिन इतना नहीं जितना कि अल्पकाल मे और मूल्य भी अनुपाततः कम बढ़ता है।

(३) दीर्घ काल (Long Period)—यदि समय इतना पर्याप्त हो कि बढ़ती हुई माँग के अनुसार पूर्ति मे भी वृद्धि करने के लिये नये साधन तैयार करके उनका इस्तेमाल पूर्ति बढ़ाने मे किया जा सकें, तो ऐसी समयावधि को 'दीर्घकाल' कहते हैं। स्पष्ट है कि दीर्घकाल मे पूर्ति को चाहे जितना बढ़ा सकते हैं। मान लीजिये, कि यदि मछली की मांग बाजार मे लगातार बढ़ती जाय, तो मछुये भी नई नावों और जालों का प्रयोग करके पूर्ति की मात्रा को बढ़ा सकते हैं। ऐसी स्थिति मे पूर्ति वक्र का आकार इस बात पर निर्भर होगा कि यह उत्पादन किस नियम के अन्तर्गत हो रहा

मांग वक्र (Demand Curve) है। जब वस्तु की माँग DD वक्र के अनुसार थी, तो वस्तु का मूल्य PM था, किन्तु जब माँग में वृद्धि होने पर DD वक्र D_2D_2 की स्थिति में पहुंच गया, तो मूल्य भी बढ़कर P_3M हो गया। जब माँग घट जाती है, तो DD वक्र भी D_1D_1 की स्थिति में आ जाता है और मूल्य भी तदनुसार P_2M से घटकर P_1M ही रह जाता है। यह भी चित्र से स्पष्ट है कि जिस अनुपात में मांग बढ़ी घटी है उसी अनुपात के मूल्य भी बढ़ा घटा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अति अल्पकाल में वस्तुओं के मूल्य पर [जिसे बाजार मूल्य (Market Price) कहते हैं] मांग का ही प्रभाव पड़ता है अर्थात् मूल्य का निर्धारण उपयोगिता द्वारा होता है उत्पादन द्वारा नहीं।
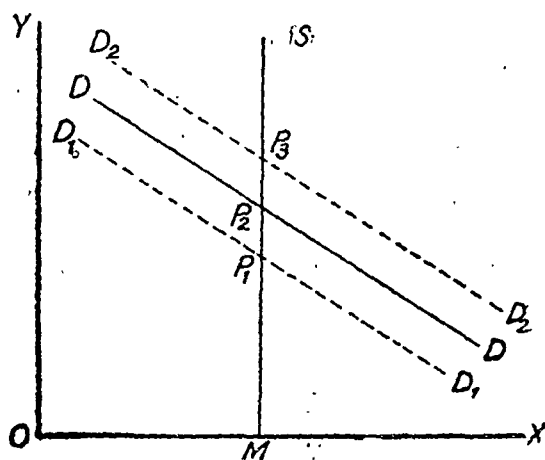
चित्र १—अति अल्पकाल में मूल्य निर्धारण

(२) अल्पकाल (Short Period)—जब समय इतना हो कि उसमें विद्यमान साधनों का प्रयोग करके वस्तु की पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है। किन्तु स्वयं विद्यमान साधनों में कोई परिवर्तन करना सम्भव नहीं है तो ऐसी दशा में समय की इस अवधि को 'अल्पकाल' कहा जायगा। अति अल्पकाल की तरह इस काल में पूर्ति बिल्कुल स्थिर नहीं होती है, वरन् उसे विद्यमान साधनों की अधिकतम क्षमता तक बढ़ाया जा सकता है। उदाहरण के लिये, यदि अल्पकाल में मछलियों की मांग बढ़ जाती है, तो मछुये अपने जालों (Nets) और नावों को, जो कि इस समय उनको उपलब्ध हैं, अधिक समय तक इस्तेमाल करके मछली की पूर्ति बढ़ा सकते हैं। किन्तु वे नये जाल व नावें बनवाकर और फिर उन्हें प्रयोग करके पूर्ति में वृद्धि नहीं कर सकते, क्योंकि समय इतना अल्प है कि इसके लिये पर्याप्त समय नहीं मिल सकता। इस दशा में भी मूल्य का निर्धारण मांग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा ही होगा लेकिन पूर्ति का भाग पहले की अपेक्षा सक्रिय होगा यद्यपि अधिक सक्रिय नहीं। मांग का भाग अति अल्पकाल की अपेक्षा कुछ कम होगा लेकिन फिर भी पूर्ति के भाग की

तुलना में अधिक होगा। यही कारण है कि अल्पकाल मे मांग की वृद्धि के कारण मूल्य अल्पकाल की अपेक्षा कम बढ़ते है। इसी बात को आगे दिये चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है:—

अग्र अंकित चित्र मे MC प्रारम्भिक बाजार पूर्ति वक्र है और DD प्रारम्भिक माग वक्र है। उस समय वस्तु का मूल्य OQ के बराबर था। जब मांग में वृद्धि हुई तो DD मांग वक्र D_1D_1 की स्थिति में पहुँच गया। पूर्ति में भी कुछ वृद्धि हुई और वह SPS की स्थिति मे आ गई और इन दोनो के सम्मिलित बिन्दु के अनुसार अब वस्तु का मूल्य OQ_2 के बराबर हो गया है। अतिअल्पकाल मे पूर्ति वक्र

चित्र २—अल्पकाल में मूल्य निर्धारण

MSC की दशा मे सम्भवत् रहता और मांग वक्र DD से D_1D_1 मे बदलने पर इनके सम्मिलन बिन्दु (Point of interaction) के अनुसार मूल्य OQ_1 निर्धारित होगा। स्पष्ट हो OQ_1, OQ_2 की अपेक्षा अधिक है अर्थात् अल्पकाल में भी वस्तु की मांग अर्थात् उपयोगिता द्वारा प्रभावित होता है लेकिन इतना नही जितना कि अल्पकाल मे और मूल्य भी अनुपाततः कम बढ़ता है।

(३) दीर्घ काल (Long Period)—यदि समय इतना पर्याप्त हो कि बढ़ती हुई मांग के अनुसार पूर्ति मे भी वृद्धि करने के लिये नये साधन तैयार करके उनका इस्तेमाल पूर्ति बढ़ाने मे किया जा सके, तो ऐसी समयावधि को 'दीर्घकाल' कहते हैं। स्पष्ट है कि दीर्घकाल में पूर्ति को चाहे जितना बढ़ा सकते हैं। मान लीजिये, कि यदि मछली की माग बाजार में लगातार बढ़ती जाय, तो मछुये भी नई नावों और जालों का प्रयोग करके पूर्ति की मात्रा को बढ़ा सकते हे। ऐसी स्थिति मे पूर्ति वक्र का आकार इस बात पर निर्भर होगा कि वह उत्पादन किस नियम के अन्तर्गत हो रहा

अनुसार वस्तु का मूल्य PM (अर्थात् OQ) के बराबर है माँग बढ़ने पर माँग वक्र DD_1 हो गया । पूर्ति बढ़ने पर (लागत ह्रास नियम के अन्तर्गत) नया पूर्ति वक्र LPS है जो कि ऊपर से नीचे की ओर आता है क्योंकि उत्पत्ति बढ़ने के साथ उत्पादन लागत मे कमी होती जाती है । नया सम्मिलन बिंदु P_1 है जिसके अनुसार मूल्य $P_1 M_1$ ($=O Q_1$) है । स्पष्ट ही $P_1 M_1$ ($=O Q_1$)$<$PM ($=$OQ) है । इस दशा मे भी माँग का प्रभाव मूल्य पर नही पड़ा है । पूर्ति का ही प्रभाव पड़ा है ।
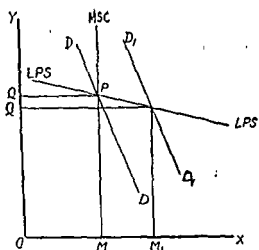
चित्र ४ ब दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण (उत्पत्ति वृद्धि नियम की दशा में)

दिए हुए चित्र स में उत्पत्ति ह्रास नियम अर्थात् लागत वृद्धि नियम) के अन्तर्गत दीर्घकालीन मूल्य का निर्धारण दिखलाया गया है । इस चित्र मे DD पुराना माँग वक्र और MSC पुराना पूर्ति वक्र है । इनके सम्मिलन बिंदु P के अनुसार वस्तु का मूल्य PM($=$OQ) है । माँग में वृद्धि होने पर माँग वक्र D_1D_1 हो गया । पूर्ति बढ़ाई जाने पर (चूंकि ऐसा लागत वृद्धि नियम के अन्तर्गत किया गया है) नया पूर्ति वक्र LPS नीचे से ऊपर को उठता दिखाया गया है । नये सम्मिलन बिंदु P_1 के अनुसार वस्तु का मूल्य P_1M_1 ($=OQ_1$) है । स्पष्ट ही P_1M_1 मूल्य से MP मूल्य अधिक है । यहाँ पर भी मूल्य पर माँग का प्रभाव नहीं पडा है । पूर्ति का ही मुख्य प्रभाव है । चूंकि पूर्ति बढ़ती हुई लागत पर बढ़ाई जा सकती है इसलिये मूल्य भी बढ़ गया है ।
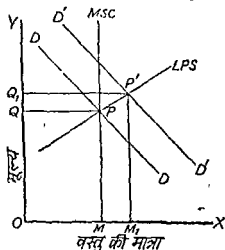
चित्र ५ स—दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण (उत्पत्ति ह्रास नियम की दशा में)

(४) अति दीर्घकाल (Very Long Period) :—यदि समय इतना अधिक हो कि वस्तु की उत्पत्ति के साधनों को उत्पन्न करने वाले साधनों' (Factors of productions of the factor of production) में परिवर्तन किया जा सकता है तो इसे अति दीर्घकाल कहेंगे। साधारणतः उत्पत्ति के पांच साधन हैं—श्रम, पूंजी, भूमि, प्रबन्ध और साहस। यदि उत्पत्ति बढ़ानी हो तो इन साधनों की मात्रा को बढ़ाना पड़ता है। अब उदाहरण स्वरूप श्रम को लीजिये। यह उत्पत्ति का एक साधन है। किन्तु श्रम को भी कुछ साधन उत्पन्न करते हैं—जैसे जन्म दर, शिक्षा प्रणाली आदि। यदि हम श्रम में परिवर्तन लाना चाहें, तो इसके लिए हमें वर्तमान पीढ़ी से उक्त साधनों में सुधार करना होगा। हो सकता है कि जन्म दर, शिक्षा प्रणाली आदि में सुधार करने में तीन चार पीढ़ियां लग जायें। यदि ऐसा परिवर्तन करने का समय हो, तो उसे अति दीर्घकाल कहा जायगा।

इतनी लम्बी अवधि में जब वस्तु की मांग बढ़ जाती है, तो उसके साथ ही वस्तु की पूर्ति भी बढ़ा ली जाती है। उत्पादन कला में सुधार, नई-नई रीतियों के आविष्कार के द्वारा वस्तु की लागत को गिरा दिया जाता है। इतनी दीर्घ अवधि में न तो मांग वक्र के विषय में कुछ कहा जा सकता है कि उसका आकार क्या होगा (क्योंकि मांग उपभोक्ताओं की आदत पर निर्भर करती है और आदतों के बदल जाने पर मांग वक्र भी बदल जाता है) और न पूर्ति वक्र के आकार के विषय में ही कुछ कहा जा सकता है (क्योंकि इतने लम्बे समय में उत्पादन कला में होने वाले परिवर्तनों का कुछ अनुमान नहीं लगाया जा सकता।) अतः वस्तु के मूल्य के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह उस बिन्दु पर निर्धारित होगा, जहाँ पर मांग और पूर्ति की शक्तियों का संतुलन हो जायगा।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समय का मूल्य निर्धारण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। मार्शल ने समय तत्व को विचार में लेकर मूल्य निर्धारण के विषय में प्रचलित एक दीर्घकालीन विवाद को सुलझाकर सराहनीय कार्य किया है। प्रोफेसर टॉमस ने मार्शल के मूल्य के सिद्धान्त का जोरदार शब्दों में समर्थन किया है उनका निष्कर्ष यह है कि मूल्य निर्धारण की समस्याओं के समय का महत्व के अनुसार अध्ययन करना चाहिये। उनके ही शब्दों में, "आर्थिक सिद्धान्तों में समय का महत्वपूर्ण स्थान होता है। उसका मूल्य के निर्धारण में विशेष महत्व होता है। यदि समाज गतिहीन होता और उसमें समय का कोई महत्व नहीं होता तो मूल्य वास्तविक उत्पादन लागत के बराबर होता परन्तु समाज परिवर्तनशील है, आदतें, पसन्द, फैशन लगातार बदलती रहती हैं तथा उत्पादन की विधि और मात्रा में भी बहुधा परिवर्तन होते रहते हैं।"[1]

---

1. 'Time plays an important part in economic theories. It is of special importance in relation to the problem of value If society were static, that is, if the time element were eliminated price would represent the real cost of prodution, ... ciety is dynamic- habits, tastes and fashions are continuously changing, ... thods and volumes of productions very frequently." —Thomas.

१५

प्रतिनिधि एवं साम्य फर्म

Representative and Equilibrium form

Q. Examine critically the implications of the concepts of Marshall's "Representative Firm" and Pigous "Equilibrium Firm" How far can the latter be called an improvement over the former.

(Agra M. Com. 1959)

प्रश्न—मार्शल के 'प्रतिनिधि फर्म' और पीगू के साम्य फर्म' के विचारों की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए। क्या दूसरे को पहले का सुधार कहा जाता सकता है ?

(आगरा एम० काम० १६५६)

Q. Discuss the importance and implication of the concepts of Marshall's Representative Firm and Pigou's Equilibrium Firm in the theory of value. (Agra M. A. 1960, Raj. M. Com.)

प्रश्न—मूल्य सिद्धान्त में मार्शल के 'प्रतिनिधि फर्म' और पीगू के साम्य फर्म' के विचारों की विशेषताओं एवं महत्व का विवेचन कीजिए।

(आगरा एम० ए० १६६०, राज० एम० काम० १६५६)

Q. Examine critically Marshall's concept of a Representative Firm

(Agra M. A. 1956, Agra M. Com. 1958, Raj. M. Com. 1957)

प्रश्न—मार्शल के प्रतिनिधि फर्म के विचार की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।

(आगरा एम० ए० १६५६, एम० काम० १६५८, राजस्थान एम० काम० १६५७)

Q. Examine critically Marshall's concept of Representative Firm and distinguish it from Pigou's Equilibrium Firm.

(Agra 1964 M. A. Agra Vikram, M. A. 1958)

Q. Write a critical Essay on the concepr of a Representative Firm. (Vikarm 1965 M. A.)

Discuss the Implications of Pigous Equilibrium Firm in the Theory of Value. (Vikrom 1964 M. Com.)

पीगू के साम्य फर्म का मूल्य सिद्धान्त में महत्व समझाइये।

(विक्रम १६६४ ए० काम०)

"Marshall's Representative Firm is a tool of mend rather than an analysis of the concrete." (N. Kaldor.) Discuss is Prof. Pigoue Equilibrium Firm Idea an improvemeut over Marshall's Representative Firm. (Vikram 1961 M. Com.)

मार्शल की प्रतिनिधि फर्म एक बौद्धिक उपकरण है, यथार्थ नही। (नि० काल्डोर) विवेचन कीजिये। क्या पीगू का साम्य फर्म का विकार मार्शल के प्रतिनिधि फ़र्म का कोई सुधार है? (विक्रम १९६१ एम० काम०)

प्रश्न—मार्शल के प्रतिनिधि फर्म के विचार की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए और पीगू की साम्य फर्म से उसका अन्तर स्पष्ट कीजिए।

(आगरा १९६४ एम० ए० आगरा, विक्रम १९५८)

प्रश्न—प्रतिनिधि फर्म पर निबन्ध लिखिये। (विक्रम १९६५ एम० ए०)

उत्तर—दीर्घकाल में मूल्य का निर्धारण वस्तु की सीमान्त लागत एवं सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होता है। लेकिन चूंकि उत्पादन-वृद्धि-नियम की क्रियाशीलता के कारण सीमान्त लागत लगातार गिरती चली जाती है तथा उत्पत्ति बढ़ती है, मूल्य को सीमान्त लागत से अधिक होना चाहिये। इन दशाओं में मूल्य फर्म की सीमान्त लागत के बराबर नहीं वरन् औसत लागत के बराबर रखा जाना चाहिये। किन्तु केवल यही मूल्य निर्धारण की समस्या का अन्त नहीं हो जाता। प्रश्न यह उठता है कि हम किस फर्म या सार्थ के उत्पादन व्यय और आगम की ओर संकेत कर रहे हैं? एक उद्योग में बहुत ही फर्में पाई जाती हैं, इसलिए यह बताना आवश्यक होता है कि किस फर्म की औसत उत्पादन लागत के द्वारा वस्तु का मूल्य निर्धारित किया जाना चाहिये। प्रवैगिक दशा में तो इस प्रश्न का उत्तर देना और कठिन होता है, क्योंकि उस दशा में फर्में भिन्न-भिन्न प्रकार की, पैमाने की और आर्थिक स्थिति की होती हैं, कुछ छोटी, कुछ बड़ी, कुछ पुरानी, कुछ नई, कुछ विकासमान कुछ ह्रास-मान, कुछ लाभदायक और कुछ हानिपूर्ण।

ऐसी दशा में तीन सम्भावनायें दीखती हैं—(i) या तो कीमत सीमान्त फर्म के उत्पादन व्यय के बराबर हो या (ii) सबसे कुशल फर्म के या (iii) औसत फर्म के व्यय के उत्पादन व्यय के बराबर हो। किन्तु इन तीनों में से कोई भी सम्भव नहीं हो सकता है। कारण यह है कि यदि कीमत सीमान्त फर्म के उत्पादन व्यय के बराबर हो तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अन्य सब फर्मों को लाभ हो रहा है तथा सबसे कुशल फर्म के बराबर होने पर शेष अन्य फर्मों को हानि हो रही होती है। और, औसत फर्म का पता लगाना तो असम्भव है, क्योंकि प्रवैगिक दशा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिये ऐसी किसी फर्म के उत्पादन व्यय का पता नहीं लगाया जा सकता है। तब फिर कौन से फर्म के उत्पादन व्यय द्वारा कीमत निर्धारित होती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म का, पीगू ने साम्य फर्म का और राबिन्सन ने अनुकूलतम फर्म का सुझाव प्रस्तुत किया है।

प्रतिनिधि फर्म
(Representative Firm)

प्रतिनिधि फर्म का विचार मूल्य सिद्धान्त के क्षेत्र में प्रोफेसर मार्शल की एक

अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है। मार्शल के अनुसार, दीर्घकाल मे मूल्य प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय के बराबर होती है।

प्रतिनिधि फर्म, जैसा कि नाम से प्रगट है, उद्योग का प्रतिनिधित्व करने वाली फर्म होती है, किन्तु मार्शल उसे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "प्रतिनिधि फर्म एक ऐसी फर्म होती है जो काफी समय से उत्पादन कर रही है और जिसे पर्याप्त सफलता मिल चुकी है, जिसका प्रबन्ध एक सामान्य योग्यता के व्यक्ति के द्वारा किया जाता है और जिसे सामूहिक उत्पत्ति की आभ्यान्तरिक और वाह्य बचत सामान्य रूप से प्राप्त है जबकि उत्पन्न वस्तुओं की किस्म, उनके विपणन की दशाओं और आर्थिक वातावरण को ध्यान में रखा जाता है।"[1] जबकि दूसरी फर्मों का विस्तार या सकुचन हो रहा हो तब भी यह फर्म न तो अपनी उत्पत्ति को बढायेगी और न घटायेगी। इस प्रकार की फर्म का प्रबन्ध न तो अत्यधिक योग्यता से होता है और न ही अत्यधिक अयोग्यता से। यह न तो बहुत पुरानी होती है और न बिल्कुल नई। इस को बड़े पैमाने की उत्पत्ति की साधारण बचत प्राप्त होती है। यह उद्योग विशेष का प्रतिनिधित्व करती है और एक प्रकार से उद्योग विशेष की एक सम-रूप (typical) फर्म होती है।

मार्शल ने अन्यत्र लिखा है कि "यद्यपि किसी एक फर्म का इतिहास उसी प्रकार पूरे उद्योग का इतिहास नहीं बन सकता जिस प्रकार की एक व्यक्ति का इतिहास सम्पूर्ण मानव-जाति का इतिहास नहीं बन सकता। लेकिन फिर भी मानव-जाति का इतिहास व्यक्तियों के इतिहास का फल होता है तथा किसी साधारण बाजार में प्रस्तुत किया हुआ कुल माल भिन्न-भिन्न फर्मों के उन हेतुओं का परिणाम होता है जिनसे उत्प्रेरित हो ये भिन्न-भिन्न अपने उत्पादन का विस्तार या सकुचन करते हैं।"[2] यही पर प्रतिनिधि फर्म का विचार उपयोगी सिद्ध होगा। हम ऐसी फर्म की कल्पना करते हैं जिसको उद्योग मे उस उत्पादन राशि के लिये प्राप्त वाह्य तथा आन्तरिक बचत भली प्रकार से उपलब्ध होंगी तथा जिसके उत्पादन उपकरण तथा जिसका आकार उद्योग की सामान्य प्रगति तथा विस्तार पर निर्भर होते है। किन्तु प्रोफेसर मार्शल कहते है कि फर्मे उठती और मिटती है किन्तु प्रतिनिधि फर्म का आकार सदा एक ही रहता है, जिस प्रकार कि एक अछूते वन मे एक प्रतिनिधि वृक्ष का आकार सदा समान रहता है। इस प्रकार मार्शल एक उद्योग की तुलना एक वन से करते हैं।

एक वन में सभी प्रकार के वृक्ष होते है। कुछ तो ऐसे होते हैं जो अभी-अभी उगे होते हैं और वे बढ़ रहे होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो पुराने होकर सूखने लगते हैं। और कुछ ऐसे भी होते हैं जो न तो सूख रहे होते हैं और न बढ रहे होते हैं। वास्तव मे ये वे परिपक्व वृक्ष होते हैं जो अपनी परिपक्वता को कायम रखे हुए हैं।

1. "But our repr[illegible] which has had a fairly [illegible]on with normal ability [illegible]nal, and internal, which [illegible] being taken of the class [illegible] them and the economic
—Marshall, Principles of Economics, p. 318

2. Ibid, 514.

ठीक इसी प्रकार एक उद्योग में भी तीन प्रकार की फर्में पाई जाती हैं। सर्वप्रथम, कुछ तो नई शिशु फर्में होती हैं जो कि तेजी से विस्तार करने में प्रवृत होती हैं और अत्यधिक आन्तरिक और वाह्य वचत प्राप्त करने की स्थिति में होती हैं। दूसरे, बहुत-सी पुरानी फर्में होती हैं जो कि संकुचन में प्रवृत्त होती हैं, जिनकी कार्य-क्षमता घट रही होती है और जो वचत को ठीक तरह प्राप्त नहीं कर सकती हैं। तीसरे, वे फर्में होती हैं जो कि न तो नई होती हैं और न वहुत पुरानी, न तो विस्तार करती हैं और न संकुचन, और सामान्य आन्तरिक और वाह्य वचत को प्राप्त करने में समर्थ होती हैं। इस प्रकार प्रतिनिधि फर्म तीसरे प्रकार की फर्म होती है। किन्तु इस प्रकार की सभी फर्में प्रतिनिधि फर्म नहीं होती।

प्रो० मार्शल का विचार है कि प्रतिनिधि फर्म एक ऐसी फर्म है जो सभी दृष्टिकोणों से सामान्य या औसत फर्म होगी। उनका तात्पर्य यह है कि ऐसी फर्म को औसत आन्तरिक और वाह्य वचतें प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण उद्योग के उत्पादन में वृद्धि और कमी के साथ इसके उत्पादन में वृद्धि और कमी होती है। प्रतिनिधि फर्म वास्तव में उद्योग की औसत फर्म होती है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि—"एक अर्थ में प्रतिनिधि फर्म औसत फर्म ही होती है। लेकिन व्यवसाय के सम्बन्ध में औसत शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं और प्रतिनिधि फर्म एक ऐसे प्रकार की औसत फर्म होती है, जिसे देखने की आवश्यकता इसलिये होती है कि यह जाना जा सके कि वड़े पैमाने के उत्पादन पर उद्योग में सामान्यतः कहाँ तक आन्तरिक और वाह्य वचतों में विस्तार हुआ है। यह वात किसी उद्योग की केवल एक या दो फर्मों के निरीक्षण के आधार पर नहीं देखी जा सकती। इसके लिये यह आवश्यक है कि समस्त फर्मों के व्यापक सर्वेक्षण के बाद हम एक ऐसी फर्म को चुन लें, (एक से अधिक चुनना उत्तम होगा) जो चाहे व्यक्तिगत अथवा संयुक्त स्कन्ध प्रबन्ध में हो, किन्तु हमारे विवेक के अनुसार इस विशेष औसत का प्रतिनिधित्व करती हो।"[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मार्शल के विचार में एक प्रतिनिधि फर्म की निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं :—

(१) यह एक औसत फर्म है और उद्योग की आर्थिक अवस्था की सूचक होती है। दूसरे शब्दों में वह यह प्रकट करती है कि उद्योग विशेष को बड़े पैमाने

1. "A representative firm is in a sense an average firm. But there are many ways in which the term average may be interpreted in connection with a business. And a representative firm is that particular sort of average firm at which we need to look in order to see how far the economics, internal and external, of production on a large scale have extended generally in the industry in question. We cannot see this looking at one or two firms taken at random; but we can see it fairly well by selecting after a broad survey a firm whether in private or joint stock management (or better still more than one) that represents to the best of our judgement particular average."

—Marshall : Principles, p. 205.

की उत्पत्ति से आन्तरिक और बाह्य बचत किस प्रकार प्राप्त है। इस प्रकार यह वह फर्म होती है जिसकी औसत उत्पादन लागत दीर्घकाल में वस्तु की कीमत के समान होती है।

(२) जब उद्योग साम्य में होता है तो यह फर्म भी साम्य में होती है और इसका उत्पादन न तो घटता है और न बढ़ता है। अर्थात्, इसका न विस्तार होता है, न संकुचन।

(३) इस फर्म को न तो लाभ होता है और न हानि, यह फर्म केवल वह सामान्य लाभ प्राप्त करती है जिसे कि उत्पादन-लागत में सम्मिलित किया जाता है।

(४) यह न बहुत नई होती है और न बहुत पुरानी।

किसी उद्योग में एक या एक से अधिक भी ऐसी फर्में पाई जा सकती हैं और वह व्यक्तिगत या संयुक्त स्कन्ध प्रबन्ध वाली कैसी भी फर्म हो सकती है।

निम्नलिखित चित्र इस विचार को और भी अधिक स्पष्ट करता है—

चित्र—१
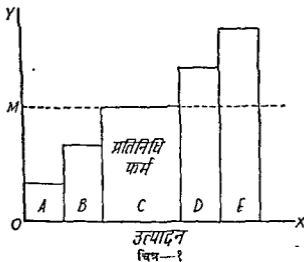
इस चित्र में A,B,C,D और E ये पाँच फर्में हैं और प्रत्येक की उत्पादन लागत भिन्न-भिन्न है। इन फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमत O M है। C फर्म की उत्पादन लागत इस कीमत के बराबर है, इसी फर्म को मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म कहा है। इसी फर्म की उत्पादन-लागत वस्तु का मूल्य निर्धारित करती है और दीर्घ-काल में वस्तु का मूल्य इसी फर्म की उत्पादन की लागत के बराबर होता है। इस-प्रकार इस फर्म को न तो लाभ होता है और न हानि। A और B फर्मों की उत्पादन लागत मूल्य से कम होती है और वे लाभ कमाती है। D और E फर्मों की उत्पादन लागत सामान्य मूल्य से अधिक होती है और वे हानि उठाती हैं। अब यदि वस्तु का मूल्य OM से अधिक हो जाता है तो A,B फर्मों का लाभ बढ़ जाता है और D,E

फर्मों की हानि कम हो जाती है, परिणाम-स्वरूप ये फर्में उत्पादन बढ़ती हैं। पूर्ति बढ़ने और मांग वही रहने के कारण मूल्य पुनः प्रतिनिधि फर्म की उत्पादन-लागत के बराबर हो जावेगा। इसी प्रकार यदि मूल्य OM से कम हो जाता है तो A,B फर्मों का लाभ कम हो जाता है और D,E फर्मों की हानि बढ़ जाती है, परिणाम-स्वरूप उत्पादन कम कर देती हैं। पूर्ति घटने और मांग वही रहने के कारण मूल्य पुनः बढ़ जाता है और प्रतिनिधि फर्म की उत्पादन लागत के बराबर हो जाता है इस प्रकार दीर्घकाल में मूल्य सदा प्रतिनिधि फर्म की उत्पादन लागत के बराबर होता है। दूसरे प्रतिनिधि फर्म में न तो विस्तार होता है और न संकुचन। तीसरे, प्रतिनिधि फर्म न तो लाभ कमाती है और न हानि। स्पष्टतः ऐसी फर्म न तो अधिक पुरानी ही हो सकती है और न बिल्कुल ही नई। साधारणतः यह एक औसत फर्म होती है।

प्रतिनिधि फर्म के विचार की आलोचना

मार्शल के प्रतिनिधि फर्म के विचार की आलोचनायें

(१) एक कोरी कल्पना है।
(२) तर्कहीन विचार है।
(३) दीर्घकाल में प्रत्येक फार्म प्रतिनिधि फर्म होती है।
(४) अनावश्यक विचार है।
(५) अस्पष्ट व अनिश्चित विचार है।
(६) प्रतिनिधि फर्म का पता लगाना असंभव है।
(७) स्थिर अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित
(८) अपूर्ण प्रतियोगिता में लागू नहीं होता है।

मार्शल के प्रतिनिधि फर्म के विचार की जितनी अधिक आलोचना हुई है, उतनी उसके किसी अन्य विचार की नहीं। राबिन्स, राबर्टसन और कालडोर उनके इस विचार के प्रमुख आलोचक हैं और उन्होंने इसे वास्तविक, अवैज्ञानिक, अनिश्चित और व्यर्थ बताया है।

सर्वप्रथम, अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार एक कोरी कल्पना है। जिस प्रकार रिकार्डो और एडम स्मिथ के आर्थिक मनुष्य का विचार एक अमूर्त और कृत्रिम विचार था, उसी प्रकार प्रतिनिधि फर्म का भी व्यवहारिक जीवन में कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी कोई फर्म सोची तो जा सकती है, किन्तु देखी नहीं जा सकती।

दूसरे, राबिन्स का कहना है कि प्रतिनिधि फर्म का विचार अनावश्यक (Unnecessary) है क्योंकि यद्यपि यह एक दीर्घकालीन विचार है तथापि मार्शल का कहना है कि यह एक औसत फर्म है। इससे प्रतीत होता है कि कुछ फर्में जो औसत फर्म से कम [illegible] हानि पर उत्पादन करेंगी। वास्तव में दीर्घकाल में कोई

भी फर्म हानि पर उत्पादन नही कर सकती और ऐसी दशा मे उत्पादन रुक जावेगा। इस प्रकार यह कहना कि औसत फर्म मूल्य का निर्धारण करती है बिल्कुल तर्कहीन है।

तीसरे, राबिन्स का विचार है कि दीर्घकाल में उत्पत्ति के सभी साधनों को सामान्य लाभ प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा साम्य मे स्थिरता नही आएगी और दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म का प्रतिनिधि फर्म होना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि यथार्थ मे सभी फर्म मार्शल की प्रतिनिधि फर्म के समान होगी और यदि ऐसा है तो फिर किसी एक फर्म को प्रतिनिधि फर्म कहने में क्या सार है ?

वास्तव में, राबिन्स के अनुसार, प्रतिनिधि फर्म के विचार की आवश्यकता ही नही है। उनका कथन है—"हमारे लिए प्रतिनिधि फर्म या प्रतिनिधि उत्पादक की मान्यता की उतनी ही आवश्यकता अधिक नही है जितनी की भूमि के एक प्रतिनिधि टुकडे, प्रतिनिधि मशीन अथवा प्रतिनिधि श्रमिक को मानने की आवश्यकता नही होती है।"

पांचवे, राबिन्स का यह कहना है कि यह विचार अस्पष्ट एवं अनिश्चित है क्योकि मार्शल ने यह नहीं बताया कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग के विस्तार का प्रतिनिधित्व करती है या व्यय का और वह आकार, तकनीकी उत्पादन इकाई, यन्त्र, व्यवसायिक सगठन आदि मे से किससे सम्बन्ध रखती है ?

कुछ अन्य आलोचकों का कहना है कि यह फर्म उद्योग की अन्य फर्मों का प्रतिनिनित्व नही कर सकती है और इस प्रकार वह उद्योग का भी प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। अत. वास्तव मे प्रतिनिधि फर्म का पता लगाना असम्भव है।

फिर प्रतिनिधि फर्म के विचार को मार्शल ने स्थिर अवस्था से ही सम्बन्धित किया है, जबकि यथार्थ मे संसार प्रवैगिक दशा मे ही रहता है क्योकि ससार मे प्रत्येक दिशा मे परिवर्तन होते रहते है। मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म के विचार की प्रवैगिक दशा मे उपयोगिता को स्पष्ट नही किया है। मार्शल की फर्म में विस्तार या सकुचन नही होता है और जब उद्योग मे सकुचन या विस्तार हो रहा हो, तब प्रतिनिधि फर्म उद्योग का प्रतिनिधित्व नही कर सकती है। इस प्रकार मार्शल ने जिस फर्म का विचार प्रस्तुत किया है, वह प्रतिनिधि फर्म का न होकर साम्य फर्म का है।

यदि प्रतिनिधि फर्म की उपरोक्त आलोचनाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो प्रगट होगा कि इनमें से अधिकांश सार पूर्ण नहीं हैं। राबर्टसन के अनुसार मार्शल ने स्पष्ट रूप से बताया है कि प्रतिनिधि फर्म से उनका अभिप्राय, उत्पादन लागत से है और प्रतिनिधि फर्म उन दावों की सूचक है जिनका कि वह पालन करती है। वास्तव में जैसा कि प्रो० मेहता ने बताया है, प्रवैगिक दशा मे इस विचार का न केवल व्यवहारिक महत्व ही है, वरन् इस प्रकार की फर्म का वास्तव मे पता भी लगाया जा सकता है। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि ये आलोचनाएँ स्थैतिक अवस्था से ही सम्बन्धित हैं। प्रवैगिक अवस्था में पूरे उद्योग मे

विस्तार या संकुचन हो सकता है। यदि विस्तार की प्रवृत्ति अधिक प्रबल है तो इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि वे शक्तियाँ जो नई फर्मों को उद्योग विशेष में खींचती हैं, उन शक्तियों की अपेक्षा अधिक बलवान हैं जो फर्मों को उद्योग विशेष से निकल जाने के लिए प्रेरित करती हैं। निश्चय है कि प्रगैगिक दशा में बहुत सी नई फर्में उद्योग में प्रविष्ट होती रहती हैं और बहुत सी पुरानी फर्में उद्योग को छोड़ती रहती हैं। साथ ही कुछ फर्में अपना विस्तार करती रहती हैं और कुछ संकुचन। अब यदि उद्योग का विस्तार होता है तो उद्योग में कोई भी ऐसी फर्म हो सकती है, जिसका कि विस्तार हो रहा हो। इसी प्रकार यदि उद्योग का संकुचन हो रहा है तो उद्योग में कोई ऐसी भी फर्म हो सकती है, जिसका साथ साथ संकुचन हो रहा हो। ऐसी फर्म को जो उद्योग की सामान्य प्रवृत्ति की द्योतक है, हम प्रतिनिधि फर्म कहते हैं। स्वयं डा० जे० के० मेहता के शब्दों में—"प्रतिनिधि फर्म से हमारा आशय उस फर्म से होता है जो कि उद्योग के साथ उसी ढ़ंग से विस्तार या संकुचन की प्रवृत्ति दिखाती है।"[1] जब इस प्रकार की प्रतिनिधि फर्म अपना विस्तार करती हुई होती है तो नई फर्म के उद्योग में दाखिल होती हैं और जब प्रतिनिधि फर्म का संकुचन होता है तो उस उद्योग विशेष में नहीं आती हैं, वरन् हो सकता है कि कुछ फर्म उद्योग को छोड़ दें।

नई फर्मों के आने के कारण से उत्पत्ति बढ़ जाती है और पूर्ति के बढ़ जाने के कारण मूल्य गिरता है, जिससे अन्त में उद्योग के विस्तार की गति कम होते होते रुक जाती है। प्रतिनिधि फर्म में विस्तार की प्रवृति समाप्त हो जाती है और मूल्य प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर हो जाता है। विपरीत दशा में, जब उद्योग में संकुचन होता है तो पूर्ति घट जाने के कारण कीमत बढ़ जाती है। प्रतिनिधि फर्म की संकुचन गति में शिथिलता आ जाती है और अन्त में यह संकुचन रुक जाता है। इस प्रकार, परिवर्तनों के होते हुए भी मूल्य प्रतिनिधि फर्म के औसत व्यय के बराबर रहता है यद्यपि स्वय प्रतिनिधि फर्म से उत्पादन व्यय में परिवर्तन हो सकते हैं। अतः प्रोफेसर मेहता के शब्दों में, **"यह कहना सम्भव है कि प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के द्वारा मूल्य का निर्धारण होता है।"[2]**

प्रोफेसर मेहता के अनुसार प्रतिनिधि फर्म के विचार का सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्व है। वे उन अर्थशास्त्रियों का विरोध करते हैं जो कि यह कहते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में सब फर्में समान होने के कारण प्रतिनिधि फर्म का विचार अनावश्यक है। उन्हीं के शब्दों में **"प्रतियोगिता की शुद्धता जिसमें क्रेताओं का विक्रेता से कोई सम्बन्ध नहीं होता इस बात की गारंटी करती हैं कि सब फर्मों को एक ही मूल्य लेना पड़ेगा। शुद्ध लेकिन अपूर्ण प्रतियोगिता में**

---

1. "We understand by such a firm one that shows tendency to expand or contract with the industry in the same manner,"
—J. K. Mehta; Advanced Economic Theory, P. 162.

2. "It is theerefore possible to say that the representative firm ...ines the price,"
—Ibid p. 1962.

सब फर्में एक समान नहीं होती और फिर भी उन्हें अपनी वस्तुओं के लिये एक ही मूल्य लेना पड़ता है। ऐसी स्थिति में फर्मों की असमानता सैद्धान्तिक उद्देश्य के लिये प्रतिनिधि फर्म के विचार को बना देती है तथा उसके उद्वारा निर्धारित एक मूल्य का अस्तित्व प्रतिनिधि फर्म को लाभदायक बनाता है।'[3] इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता में ही प्रतिनिधि फर्म का विचार लाभदायक नहीं है वरन् अपूर्ण प्रतियोगिता में भी उपयोगी है। प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय के आधार पर मूल्य तो निर्धारित होता ही है परन्तु नई फर्में प्रतिनिधि फर्म को ध्यान में रखकर ही उद्योग विशेष में दाखिल होने का निर्णय करती और ठीक इसी प्रकार इसी फर्म के आधार पर उद्योग के छोड़ने का निर्णय किया जाता है। व्यवहारिक जीवन में जिस फर्म को देखकर उद्योग में आने अथवा ।से छोड़ने का फैसला होता है, यथार्थ में वही प्रतिनिधि फर्म है।

मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार व्यवहारिक सत्य है, यह श्री सिडनी चैपमैन और श्री एशटन के लङ्काशायर टेक्सटाईल उद्योग के १९१४ के सर्वेक्षण से प्रगट हो चुका है। उन्हीं के शब्दों के—"सामान्यत. किन्हीं दी हुई परिस्थितियों में किसी उद्योग या उद्योग की पर्याप्त आकार की शाखाओं में एक ऐसा विशिष्ट या प्रतिनिधि आकार का अस्तित्व प्रतीत होता है जहा तक कि व्यवसायों में बढने की प्रवृति होती है ········जिस तरह मनुष्य के लिये एक सामान्य आकार और रूप होता है उसी तरह लेकिन कम स्पष्ट रूप से व्यापार के लिये भी सामान्य आकार और रूप होते हैं।"[1] यही बात श्री टासिग (Taussig) ने जो कि अमेरिका की मूल्य निर्धारण समिति के सदस्य थे बतायी कि प्रतिनिधि फर्म का विचार व्यवहारिक है। इस प्रकार प्रतिनिधि फर्म का विचार मूल्य के सिद्धान्त और वितरण के क्षेत्र में सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है और श्री बूल्क के ये शब्द इसे और भी स्पष्ट करते हैं—

"जो कुछ महत्वपूर्ण है यह यह है कि जब किसी प्रकार मांग में परिवर्तन होता है तो मूल्य में भी परिवर्तन हो सकता है और यह सब प्रतियोगिता के लिये एक

---

3. Purity of competition caused by the non-attachment of buyers to sellers guarantees that all the firms will have to charge the same price. In pure but imperfect competition then all the firms are not alike and yet have to charge the same price. In such a case the unlikeness of firms make the concept of the representative firm necessary for theoretical purposes and existence of one and the same price makes it useful."

—Ibid.

1. "Generally speaking, there would seem to exist in industries, or branches of industries of adequate size, under given set of conditions a typical or representative magnitude to which businesses tend to grow............As there is a normal size and for a man, so, but less markedly, there are normal sizes and firms for business—Sydney Chapman and Ashton.

—Statistical Journal, 1914, Quoted by Pigou

समान होता है। यहां हमारे पास कुछ फर्मों का एक समूह है जिसे उद्योग की संज्ञा देना स्वाभाविक प्रतीत होता है और यह उद्योग उन सब बाधाओं को दूर कर देता है जो श्रीमती जोन राबिन्स को अपूर्ण प्रतियोगिता में पूर्ति वक्र खींचने को व्याकुल कर देता है।"[1]

साम्य फर्म
(Equilibrium Firm)

पीगू ने, जो कि मार्शल के ही अनुयायी हैं, मार्शल के प्रतिनिधि फर्म के विचार में थोड़ा-सा संशोधन करके साम्य फर्म (Equilibrium Firm) का विचार प्रस्तुत किया है। पीगू का कथन है कि यह सम्भव है कि जब पूरा उद्योग साम्य की दशा में ही तब उसके अन्तर्गत सभी फर्म साम्य की दशा में न हो। अर्थात् जबकि उद्योग विशेष में न विस्तार ही होता है और न संकुचन, तब भी व्यक्तिगत रूप से कुछ फर्मों का विस्तार हो सकता है और कुछ का संकुचन। यह भी सम्भव है कि कोई फर्म विशेष साम्य की दशा में हो, अर्थात् न तो उसका विस्तार होता है और न संकुचन ही। ऐसी फर्म को साम्य फर्म कहते हैं। संक्षेप में, जब कोई उद्योग साम्य की दशा में हो तब जो फर्म साम्य की दशा में होती है, उसे साम्य फर्म कहते हैं। पीगू के शब्दों में—"**जब कोई पूरा उद्योग साम्य की दशा में हो अर्थात् जबकि वह एक सामान्य पूर्ति मूल्य ग पर एक निश्चित मात्रा क का उत्पादन करता है, तब एक फर्म ऐसी भी हो सकती जो व्यक्तिगत रूप से स्वयं भी साम्य की दशा में हो और**

तालिका

फर्म	उत्पत्ति प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष
A	१०	१५	२५
B	१५	२५	३०
C	२०	२०	२०
D	२५	१५	१२
E	३०	२५	१३
कुल उद्योग	१००	१००	१००

1. "What is important is that however price may change when demand changes, it will be still identical for all competitors. We have here a group of firms to which it appears natural to attach the name 'industry'. And this industry avoids all the pitfalls which beset Mrs. Joan Robinon's attempt to draw up a supp[illegible] [illegible]er imperfect competiton."

—J. N Wolfe: The Representative Firm. Economic Journal

एक निश्चित मात्रा 'स' का उत्पादन करती हो।"[1]

पीगू का विचार है कि ऐसी फर्म सैद्धान्तिक भी हो सकती है और व्यवहारिक भी। साथ ही ऐसी एक से अधिक फर्म भी हो सकती हैं। नीचे की तालिका मे ऐसी एक फर्म का उदाहरण दिया गया है—

उपरोक्त तालिका को देखने से पता चलता है कि पूरा उद्योग साम्य की दशा मे है क्योंकि कुल उत्पत्ति यथा स्थिर रहती है, किन्तु सब फर्म साम्य की दशा मे नही हैं फर्म A और B का विकास हो रहा है जबकि फर्म D और E का संकुचन, परन्तु C फर्म साम्य की अवस्था मे है क्योंकि उसकी उत्पत्ति यथा-स्थिर है। इसलिए C फर्म को साम्य फर्म कहा जा सकता है।

प्रोफेसर पीगू का कहना है कि साम्य फर्म को किसी प्रकार की बाह्य बचत एवं हानि नही होती और जहाँ तक आन्तरिक बचत एवं हानि का प्रश्न है उसका सम्पूर्ण उद्योग के पैमाने पर कोई प्रभाव नही पडता। उद्योग का पूर्ति मूल्य साम्य फर्म के पूर्ति मूल्य के बराबर होता है और साम्य फर्म का पूर्ति मूल्य उसकी सीमान्त लागत के बराबर होता है। यदि उद्योग का पूर्ति-मूल्य साम्य फर्म की सीमान्त लागत से कम होगा तो साम्य फर्म को हानि होगी और अधिक होगा तो लाभ होगा। दोनों ही स्थितियों मे साम्य फर्म साम्य फर्म का स्थान खो बैठेगी। अतः साम्य फर्म के लिये एक आवश्यक शर्त यह है कि उद्योग का पूर्ति मूल्य साम्य फर्म की सीमान्त लागत के बराबर होना चाहिये। पीगू के शब्दों मे —"किसी सम्पूर्ण उद्योग की दी हुई उत्पादन की मात्रा के लिये उस सम्पूर्ण उद्योग का पूर्ति-मूल्य अवश्य ही उस मूल्य के बराबर होगा जो कि उस समय के सम्पूर्ण उद्योग की उत्पादन मात्रा के साथ साम्य फर्म को साम्य की अवस्था में छोड़ देता है।"

इसके आगे प्रो० पीगू ने यह भी बतलाया कि साम्य फर्म के लिए दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि उद्योग का पूर्ति मूल्य साम्य फर्म की औसत लागत के बराबर भी होना चाहिये, क्योंकि यदि उद्योग का पूर्ति-मूल्य साम्य फर्म की औसत लागत से कम हुआ तो उसे हानि होगी और वह संकुचित होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करेगी तथा अधिक हुआ तो उसे लाभ होगा और वह विस्तार की प्रवृत्ति प्रदर्शित करेगी इस प्रकार दोनों ही दशाओं मे साम्य भंग हो जायेगा। इसका प्रभाव यह होगा कि पुरानी फर्में उद्योग को छोड़ने तथा नई फर्में उद्योग में शामिल होने का क्रम तब तक जारी रखेंगी, जब तक कि उद्योग का पूर्ति-मूल्य साम्य-फर्म की औसत लागत पर पहुँच कर अपने पूर्व की संतुलन की स्थिति को प्राप्त नही कर लेता। इसलिये किसी उद्योग का पूर्ति-मूल्य उसकी औसत लागत से न तो अधिक और न कम हो सकता है, बल्कि उसके बराबर होता है।

1 "It means that when there can be a firm which when the whole industry is in equilibrium, i. e, when at a general supply price of it produces a fixed quantity K, is itself in equilibrium producing a fixed quantity A."

—A. C. Pigou : Economics of Welfare, p. 790. IVth ed

मार्शल और पीगू के विचारों की तुलना करने से पता चलता है कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पीगू स्वयं भी इस बात को मानते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि उनका उद्देश्य मार्शल के विचारों का स्पष्टीकरण ही है और प्रतिनिधि फर्म साम्य फर्म की तरह ही कल्पना की गई है। लगभग सभी सब आलोचनाएँ जो प्रतिनिधि फर्म के विषय में की जाती हैं, साम्य फर्म पर और भी अधिक सही उतरती हैं। साम्य फर्म के आलोचकों में श्रीमती जॉन राबिन्सन का नाम प्रमुख है।

सर्वप्रथम, साम्य फर्म का विचार इस बात पर आधारित है कि एक उद्योग, उसमें सम्मिलित फर्मों के साम्य में न रहने पर भी, साम्य की अवस्था में रह सकता है। आलोचकों का कहना है कि यह बात उस स्थिति में सही सिद्ध हो सकती है जबकि उस उद्योग की विस्तार करने वाली फर्मों का बढ़ा हुआ उत्पादन संकुचित होने वाली फर्मों के घटे हुए उत्पादन के ठीक बराबर हो, जो कि अत्यन्त कठिन है। वास्तविकता में तो यही पाया जाता है कि किसी उद्योग में जिस मात्रा में विस्तार करने वाली फर्मों का उत्पादन बढ़ता है, उसी मात्रा में संकुचन करने वाली फर्मों का उत्पादन नहीं घटता है। पीगू के शब्दों में—"जब मांग स्थिर होती है तथा सम्पूर्ण उद्योग की मात्रा भी स्थिर होती है, ऐसी स्थिति में बहुत सी व्यक्तिगत फर्मों की उत्पादन मात्रा भी स्थिर होती है। सम्पूर्ण उद्योग साम्य की अवस्था में उसी समय होगा जबकि व्यक्तिगत फर्मों की विस्तार तथा संकुचन की प्रवृत्ति एक दूसरे के प्रभाव को निरस्त कर देगी। लेकिन यह निश्चित है कि बहुत सी व्यक्तिगत फर्में साम्य की अवस्था में न हों और यह भी सम्भव है कि कोई भी फर्म साम्य में न हो।"[1]

इस प्रकार कोई भी उद्योग उसी समय साम्य की अवस्था में होगा जबकि उस उद्योग में पाई जाने वाली सब फर्में साम्य की दशा में हो। किन्तु यदि उद्योग
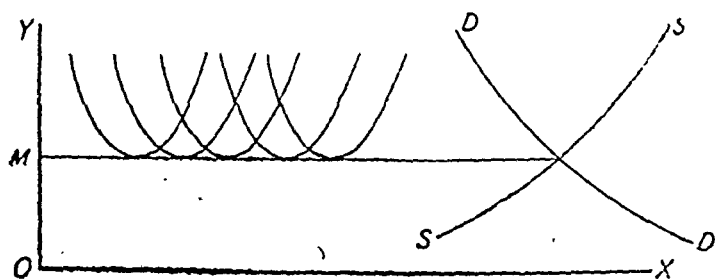
चित्र—२

1. "Even when the conditions of demand are constant, the output of an industry as a whole is a whole is correspondingly constant the output of many individual firm will not be constant The industry as a whole will be in a state of equilibrium; the tendency to expand or contract on the part of the individual firms will cancel out but will not themselves be in equilibrium and possibly that none will be.

—Pigou : Economics of Welf. re, Ap, endix II.

की सब फर्में साम्य की दशा में हो तो साम्य फर्म का कोई महत्व नही रह जाता। ऐसी दशा मे प्रत्येक फर्म की उत्पादन लागत कीमत के बराबर होती है, जैसा कि निम्न नं० २ से स्पष्ट है।

अतः प्रोफेसर जे० के० मेहता का यह विचार ठीक ही है कि किसी भी दशा मे पीगू के साम्य फर्म को मार्शल के प्रतिनिधि फर्म के ऊपर सुधार नही कहा जा सकता है क्योंकि मार्शल का प्रतिनिधि फर्म जबकि हर अवस्था मे महत्व रखता है, पीगू का साम्य फर्म का अस्तित्व उसी दशा में पाया जाता है जबकि उद्योग साम्य की दशा मे हो। लेकिन यह सब होते हुए भी साम्य फर्म और प्रतिनिधि फर्म दोनों ही विचार आर्थिक विश्लेषण में अत्यन्त महत्व रखते हैं क्योंकि वे किसी उद्योग की स्थिति के सूचक हैं और मूल्य-विश्लेषण में आदर्श फर्म के विचार का विकास करने करने की प्रेरणा देते हैं।

१६

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य

(Value Under Monopoly)

Q. Under what conditions is it desirable to control a monopoly ? How should the control be exercised ?

(Agra, 1956 M. A.)

प्रश्न—किन दशाओं में एकाधिकार पर नियन्त्रण करना वांछनीय है ? यह नियन्त्रण किस प्रकार होना चाहिये ? (आगरा १९५६ एम० ए०,)

उत्तर—एकाधिकार की परिभाषा :—एकाधिकार (Monopoly) शब्द यूनानी भाषा के Monopolein से बना है, जिसका आशय है केवल एक बेचने वाला (Single Seller) अत: एकाधिकार से अर्थ साधारणत: बाजार की उस स्थिति से लगाया जाता है, जिसके अन्तर्गत बाजार में केवल एक ही विक्रेता पाया जाता है जिनका बाजार मे वस्तु की पूर्ति पर पूरा-पूरा नियन्त्रण होता है और जो किसी अन्य उत्पादक को उद्योग मे प्रवेश नहीं करने देता है। कानूनी भाषा में एकाधिकार का आशय उस संस्था (व्यक्ति फर्म या एक विशेष समूह) से है जिसका किसी वस्तु की पूर्ति पर इतना पर्याप्त नियन्त्रण है कि वह मूल्य को प्रभावित कर सकता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने एकाधिकार की जो परिभाषायें दी हैं उनका उल्लेख नीचे दिया जाता है—

(१) प्रो० टॉमस—"विस्तृत रूप से एकाधिकार शब्द का प्रयोग पूर्ति या मांग दोनों में से किसी के भी दृष्टिकोण से वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रभाव पूर्ण मूल्य नियन्त्रण के लिये किया जाता है, किन्तु संकुचित रूप में इसका आशय व्यापारियों अथवा निर्माताओं के उस संगठन से होता है जो वस्तुओं अथवा सेवाओं की पूर्ति के मूल्य को नियन्त्रित करता है।"[1]

---

1. "Broadly, the term is used to cover any effective price control whether supply or demand, of services or of goods, narrowly it is used to mean a mbination of manufactures or merchants to control the supply price of com-odities or services."

(२) ट्रिफिन (Triffin)—"एकाधिकार ऐसी स्थिति का नाम है जिसमें कोई फर्म अन्य फर्मों के मूल्यों की अवहेलना करके सरलतापूर्वक अपनी वस्तु का इच्छानुसार मूल्य निश्चित कर सकती है।"[1]

(३) चैम्बरलिन—"एकाधिकारी का वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण एकाधिकार होना चाहिये।"[2]

(४) लर्नर —"एकाधिकार से अभिप्राय उस विक्रेता का है जिसकी वस्तु का मांग वक्र बेलोच होता है।"[3]

(५) प्रो० बोल्डिंग—"अतः शुद्ध एकाधिकारी वह फर्म है जोकि कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न कर रही है, जिसका किसी अन्य फर्म की उत्पादित वस्तुओं में कोई प्रभावपूर्ण स्थानापन्न नहीं होता। 'प्रभावपूर्ण' से यहां आशय यह है कि यद्यपि एकाधिकारी असाधारण लाभ कमा रहा है तथापि अन्य फर्म ऐसी स्थानापन्न वस्तुएं उत्पन्न करके, जोकि खरीदारों को एकाधिकारी की वस्तु से दूर कर सकें उक्त लाभों पर अतिक्रमण नहीं कर सकती है।"[4]

(६) सुमनर—"विशुद्ध एकाधिकार से आशय मांग की लोच के शून्य होने से है जबकि शुद्ध प्रतियोगिता में मांग की लोच असीमित होती है।"[5]

[यह उल्लेखनीय है कि अर्थशास्त्रियों ने 'एकाधिकार' शब्द के साथ 'विशुद्ध' (Pure) शब्द का प्रयोग किया है। कुछ लेखकों ने 'विशुद्ध' विशेषण का प्रयोग अल्पाधिकार अथवा द्वयाधिकार सम्बन्धी तत्वों की अनुपस्थिति का संकेत करने के लिये किया है। पियरो सराफा (Piero Saraffa) ने इसे 'निरपेक्ष एकाधिकार' (Absolute Monopoly) की संज्ञा दी है।]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि एकाधिकार से अभिप्राय एक अकेली फर्म का है, जिसका किसी वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण हो। यह वस्तु ऐसी होती है कि इसके कोई स्थानापन्न उपलब्ध नहीं होते। 'एकाधिकारी फर्म' और 'उद्योग' दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची होते हैं क्योंकि उद्योग के एक ही फर्म सलग्न होती है।

1. "Monopoly is a market situati[illegible] the firm is independent of of price changes in the products of [illegible]y other firm." —Triffin.
2. "Monopoly refers to [illegible]pply." —Chamberlin.
3. "A monopol[illegible] [illegible]onted with a falling demand curve for his product." —Lernar.
4. [illegible] producing a product which [illegible]rm, 'effective' in the sense [illegible]l normal profits, other firms [illegible] substitutes comodities which [illegible] of the Monopolist." —Kenneth E. Boulding.
5. [illegible] of demand in contrast to the [illegible] of pure competition." —John D. Sumner.

Y P DD O X

वस्तु की मात्रा

चित्र (अ)

Y DD O Q X

वस्तु की मात्रा
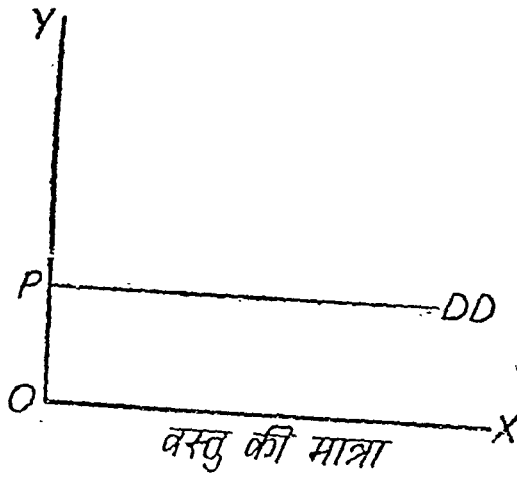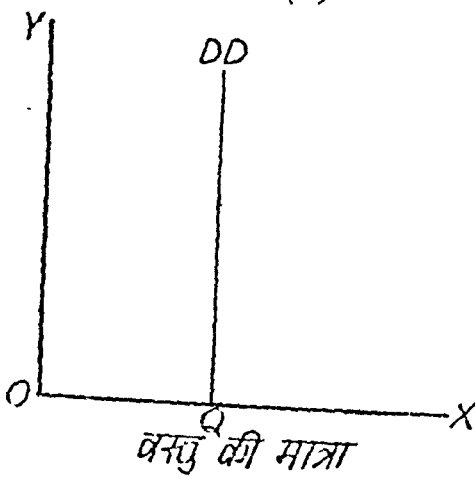
चित्र (ब)

चित्र १ — पूर्ण प्रतियोगिता एवं एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादक की स्थिति ।

दूसरे शब्दों में, वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकारी का पूर्ण नियन्त्रण होता है और इसके फलस्वरूप वह उस वस्तु के मूल्य को अपनी इच्छानुसार प्रभावित कर सकता है, क्योंकि उससे प्रतियोगिता करने वाले उत्पादकों का अभाव होता है। पूर्ण प्रतियोगिता एवं एकाधिकार में यही अन्तर है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में उत्पादक के लिये मूल्य मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, जिन (मांग एवं पूर्ति) पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता किन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादक (अकेला ही होने के कारण) पूर्ति पर नियन्त्रण रखकर मूल्य को स्वयं निर्धारित करता हैं। यह बात दिये हुए चित्रों द्वारा स्पष्ट की गई है।

उपरोक्त चित्र (अ) में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक उत्पादक की स्थिति दिखाई गई है जो कि OP मूल्य पर वस्तु की इच्छानुसार मात्रा बेच सकता है किन्तु OP मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। चित्र ब में एक एकाधिकारी की स्थिति को दिखलाया गया है, जो OQ पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, तथा इस पूर्ति को इच्छानुसार मूल्य पर बेच सकता है।

किसी उत्पादक को एक 'पूर्ण एकाधिकारी' तब कहा जा सकता है जबकि वह इतना शक्तिशाली हो कि सदा ही सभी उपभोक्ताओं की सम्पूर्ण आयों को ले सके चाहे उसकी उत्पत्ति की मात्रा कुछ भी हो। ऐसी परिस्थिति में एकाधिकारी के लिये मांग वक्र की 'इकाई लोच' (Unit elasticity) होती है और वह एक ऐसे स्तर पर होता है कि सभी उपभोक्ता अपनी सभी आय फर्म की वस्तु पर व्यय कर [illegible]

इकाई के बराबर होती है, इसलिये मूल्य पर उसकी वस्तु की उत्पादन लागत समान हो रहेगी। एक शुद्ध एकाधिकारी सदा ही सभी उपभोक्ताओं की आयो को ले लेता है। लेकिन व्यवहारिक दृष्टिकोण से शुद्ध एकाधिकारी का अब तक कोई अस्तित्व न तो रहा है और न रह सकता है। जिस प्रकार प्रतियोगिता अपूर्ण होती है उसी प्रकार एकाधिकार भी अपूर्ण ही होता है।

एकाधिकार का अस्तित्व होने के चिन्ह :—व्यवहार मे एकाधिकारी उद्योगों एव अएकाधिकारी उद्योगों के मध्य विभाजन की कोई स्पष्ट रेखा खीचना सम्भव नही है, क्योकि वास्तविक जगत मे पूर्ण प्रतियोगिता अथवा पूर्ण एकाधिकार की स्थिति किसी भी उद्योग मे नही पाई जाती है और इनके बीच मे ऐसी परिस्थितिया विद्यमान होती है जिनमे एकाधिकारी शक्ति की मात्रा मे केवल डिग्री का अन्तर होता है। फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनके आधार पर किसी उद्योग के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसमे एकाधिकार की प्रवृत्ति मौजूद है। ये बाते निम्नलिखित है:—

(१) स्थिर मूल्य एवं घटती बढ़ती उत्पत्ति का सहअस्तित्व :—एक प्रतिस्पर्धा वाले बाजार मे वस्तु का मूल्य मांग एव पूर्ति मे परिवर्तन होने पर परिवर्तित हो जाता है। जितनी अधिक प्रतिस्पर्धा होगी उतनी ही अधिक अस्थिरता मूल्य में बाजार की परिस्थितियो के प्रति होगी। अत्यन्त सगठित प्रतिस्पर्धा बाजारो में तो मूल्य प्रति मिनट बदला करते हैं। किन्तु इसके विपरीत एक एकाधिकारी अपनी इच्छानुसार मूल्य जितना अधिक निश्चित कर सकता है और उपभोक्ताओं को अपनी मांग उस मूल्य के अनुसार समायोजित करनी पडती है। इस प्रकार यदि बाजार मे मूल्य असाधारण रूप मे स्थिर रहते हो और उद्योग मे उत्पादन घटता बढ़ता है, तो यह इस बात का एक साक्ष्य है कि उस उद्योग मे एकाधिकारी शक्ति कार्यशील है।

(२) अधिकांश उत्पादन एक या कुछ विक्रेताओं में केन्द्रित होना :—जब किसी उद्योग मे उसके पास अधिकांश उत्पादन का एक अकेले उत्पादक के यहां अथवा दो चार फर्मो के पास केन्द्रित हो गया है, तो इस बात का सन्देह करने का एक उचित आधार बन जाता है कि उस उद्योग मे एकाधिकार का अस्तित्व है।

(३) विविध .—उपरोक्त चिन्हों के अलावा निम्न बातो से भी इस बात का अनुमान लगता है कि अमुक उद्योग में एकाधिकारी शक्ति क्रियाशील है या नही—(i) तथा कथित

> **एकाधिकार का अस्तित्व होने के तीन चिन्ह**
>
> (१) स्थिर मूल्य एवं घटती बढ़ती उत्पत्ति का सह अस्तित्व होना।
>
> (२) अधिकांश उत्पादन एक या कुछ विक्रेताओं के हाथ में केन्द्रित होना।
>
> (३) विविध जैसे मूल्य विभेद, बाजार विभाजन आदि।

कुछ स्वतन्त्र फर्मों द्वारा एक से टेण्डर प्रस्तुत किया जाना, (ii) एक ही वस्तु के लिये भिन्न-भिन्न ग्राहकों से विभिन्न मूल्य लिया जाना, (iii) विशेष उत्पादकों में बाजार का विभाजित होना; (iv) मूल्य बताने के लिये कोई आधार निर्धारित होना आदि।

किसी उद्योग में एकाधिकारी शक्ति कितने अंश (Degree) मे क्रियाशील है। इसका पता मुल्य एवं सीमान्त लागत के सम्बन्ध में लगाया जा सकता है। मूल्य एवं सीमान्त लागत में जितना अधिक अन्तर हो उतना ही अधिक एकाधिकार कहा जायगा। लर्नर ने एकाधिकारी शक्ति का माप करने के लिये निम्न सूत्र दिया है—

$$\frac{P-C}{P} \text{ OR } \frac{AR-MR}{AR}$$

जिसमें P = मूल्य अथवा आय AR = औसत आय

C = सीमान्त लागत MR = सीमांत आय

साधारण भाषा में एकाधिकारी शक्ति का अंश[1] मांग की लोच का विपरीत अनुमान होता है।

एकाधिकार के आर्थिक परिणाम एवं उसका नियमन

एकाधिकार के आर्थिक परिणाम :—अनेक देशों में जनता को एकाधिकार से भय व शंका का अनुभव होता है क्योंकि एकाधिकार के अनेक आर्थिक दुष्परिणाम हैं:—

(१) उपभोक्ताओं के हितों का बलिदान करके ऊंचे लाभ कमाते हैं:—एकाधिकारियों की सफलता ऊंचे एकाधिकार मूल्य वसूल करने व उत्पादन को सीमित रखने में निहित है। वास्तव में वे उपभोक्ताओं के हितों का बलिदान करके ऊंचे लाभ कमाते हैं। ऊंचे मूल्य रखे जाने व उत्पत्ति को सीमित करने से जनता के आर्थिक कल्याण में बहुत कमी हो जाती है।

(२) प्रसाधनों का अविवेक पूर्ण वितरण होने से समाज को हानि होती है :—उत्पादन को सीमित रख कर एकाधिकारी अपनी सुविधा जनक स्थिति को बनाये रखता है तथा उच्च स्तरीय लाभ अर्जित करता रहता है क्योंकि वह अन्य साधनों को उद्योग के क्षेत्र में प्रवेश होने से रोकने की सामर्थ्य रखता है और साधनों के

> **एकाधिकारों के ६ आर्थिक दुष्परिणाम**
>
> (१) उपभोक्ताओं के हितों का बलिदान करके ऊंचे लाभ कमाते हैं।
>
> (२) प्रसाधनों का अविवेक पूर्ण वितरण होने से समाज को हानि होती है।
>
> (३) नये आविष्कारों व नई रीतियों के विकास की अपेक्षा करते है। विकास की अपेक्षा करते हैं।
>
> (४) आर्थिक व्यवस्था में अस्थिरता लाते हैं।
>
> (५) एकाधिकार कायम रखने के लिए अनुचित उपाय प्रयोग कर हैं।
>
> (६) राजनीति में भी अड़ंगे लगाते हैं।

[1] Degree of Monopoly in inversely proportional to the elasticity of demand.

वितरण में खराबी पैदा हो जाती है क्योंकि प्रतिस्पर्धा वाले उद्योगों में आवश्यकता से अधिक साधन जमा हो जाते हैं। उदाहरण के लिये एकाधिकारी उद्योग में उत्पादन सीमित होने से बहुत सीमित मात्रा में किन्तु ऊंचे पारिश्रमिक पर श्रमिकों को काम दिया जाता है। बचे ,ये श्रमिक अन्य उद्योगों में कम पारिश्रमिक पर काम करने को तैयार रहेंगे। यह स्थिति सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से अहितकर है।

(३) नये आविष्कारों व नई रीतियों के विकास की उपेक्षा करते है — एकाधिकारी उद्योग उत्पादन विधियों में सुधार करने अथवा नये आविष्कारों को प्रोत्साहन देने की तनिक भी चेष्टा नही करते हैं क्योंकि उनका लाभ उत्पादन की प्रगति पर निर्भर नही होता। वे तो ऐसा भी करते है कि नये आविष्कारों को उचित अनुचित तरीके से खरीदकर 'शीत भण्डार' मे रख देते हैं ताकि वे उत्पादन की विद्य-मान परिस्थिति मे शान्ति न करने पावें। इस प्रकार एकाधिकारी नियोजित आर्थिक प्रगति मे रोडे अटकाते रहते हैं।

(४) आर्थिक व्यवस्था में अस्थिरता लाते हैं :—एकाधिकार अर्थ-व्यवस्था मे अस्थिरता को जन्म देने के लिये उत्तरदायी है। एकाधिकारी मे यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि अच्छे व्यापार की अवधि मे वे अपनी उत्पादित वस्तुओं का मूल्य स्थिर रखते हैं चाहे उत्पादन बढ रहा हो और लागत व्यय कम आ रहे हों। ऐसी नीति के फलस्वरूप व्यापार मे गडबड पैदा हो जाती है और मन्दी फैलने लगती है। यही नही, मन्दी के समय मे एकाधिकारी अपनी साधारण कीमतों को ही बनाये रखने की चेष्टा करते है व उस मूल्य पर कम इकाईया बेचते है जबकि उन्हे मूल्य घटाकर अधिक इकाईया बेचनी चाहिये थी। उनकी गलत नीति का परिणाम यह होता है कि श्रम व अन्य उत्पत्ति के साधनो मे बेरोजगारी फैलने लगती है, उपभोक्ताओ की क्रय शक्ति घट जाती है तथा उद्योगो के पास बिना बिके माल का स्टाक बढने लगता है तथा मन्दी भयानक रूप मे प्रस्तुत हो जाती है। अनेक अर्थशास्त्रियों ने यह दृढ मत प्रगट किया है कि जब तक अनेक उद्योगो पर एकाधिकारी नियन्त्रण चलता रहेगा, तब तक चक्करदार उतार चढावो को अर्थव्यवस्था मे समाप्त नही किया जा सकता।

(५) एकाधिकार की स्थिति को कायम रखने के लिए उचित व अनुचित सभी उपायों का प्रयोग करते है - एकाधिकारिक शक्ति प्राप्त करने के लिये और प्राप्त होने पर उसे बनाये रखने के लिये एकाधिकारियो ने उचित व अनुचित तरीके अप-नाये हैं। नयी फर्मों को नष्ट करने के लिये, सरकारी हस्तक्षेप रोकने के लिये, अधिक मूल्य वसूल करने के लिये, कर बचाने के लिये और विभिन्न रियायत प्राप्त करने के लिये ये एकाधिकारी सभी तरीके अपनाते है। कहा जाता है कि पालियामेंट के सदस्यों को व जजों को रिश्वते भी ये देते है ताकि वे सनियमों की व्याख्या इनके अनुकूल कर दें।

(६) राजनीति मे भी अड़गे डालते हैं :—अमेरिका जैसे देशो में तो

एकाधिकार की समस्या कुछ विशेष उद्योगों तक ही सीमित नहीं रही है वरन् सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था, सरकार एवं जनमत पर भी छा गई है। इन्होंने राजनीति में भी भाग लेना प्रारम्भ कर दिया है ताकि ऐसी शासन व्यवस्था विकसित हो जो उनके हितों के विरुद्ध कोई कार्यवाही न करें। सामान्यत: समाचार पत्रों, राजनीतिक संगठनों की वित्त व्यवस्था पर इनका प्रभुत्व होता है।

एकाधिकार पर नियन्त्रण रखने की रीतियां

एकाधिकार शक्ति को बढ़ने से रोकने के लिये तथा जहां बढ़ी है वहां उसको समाप्त करने के लिये निम्न रीतियों का प्रयोग किया जा सकता है :—

(1) **मूल्यों एवं उत्पादन पर नियन्त्रण** :—प्राकृतिक एकाधिकारों के सम्बन्ध में प्राय: इस रीति का प्रयोग किया जाता है। यदि ऐसे एकाधिकारों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय, तो वे जनता का शोषण करने के अपरिचित साधन बन जावेगी।

एकाधिकार पर नियन्त्रण रखने की मुख्य रीतियां

(१) मूल्यों एवं उत्पादन का नियन्त्रण
(२) सरकारी स्वामित्व एवं प्रबन्ध
(३) एकाधिकार विरोधी संनियमों का निर्माण
(४) क्रेताओं के संघों की स्थापना
(५) एकाधिकार सम्बन्धी सूचना का प्रकाशन
(६) सहकारी आन्दोलन एवं वितरण को प्रोत्साहन।

प्राकृतिक एकाधिकारों का नियमन तीन प्रकार से किया जा सकता है:— (१) मूल्यों का नियन्त्रण (२) उत्पादन का नियंत्रण (३) मूल्य एवं उत्पादन दोनों का नियंत्रण। सरकार एक रेट या मूल्य ट्रिब्यूनल (Rate or price Tribunal) नियुक्त कर सकती है। इस ट्रिब्यूनल को यह अधिकार होगा कि वह सार्वजनिक सेवा सम्बन्धी एकाधिकारी संस्थाओं द्वारा प्रदान की गई सेवा के लिये एक उचित मूल्य अनुसूची (Fair Price Schedule) निर्धारित कर दें विभिन्न देशों में रेलवे सेवा के लिये इस प्रकार के रेट ट्रिब्यूनल प्राय: नियुक्त किये गये हैं। अमेरिका का इन्टर स्टेट कामर्स कमीशन एक ज्वलन्त उदाहरण है। इन संगठनों का काम एकाधिकारियों की मूल्य अनुसूचियों का नियमन करना है। ऐसे संगठनों की उचित मूल्यों की गणना में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जैसे—(i) संयुक्त लागत वाली सेवाओं में औसत सेवा लागत की गणना करने की कठिनाई, (ii) एकाधिकारिक संस्थाओं को लाभ का कितना मार्जिन छोड़ा जाय इसका निर्णय करने की कठिनाई, (iii) अच्छे व बुरे वर्षों के लिये छूट की सीमा निर्धारित करने की कठिनाई आदि। रेट कमीशन निम्न में से मूल्य निर्धारण की कोई भी रीति अपना सकता है :—(i) नियंत्रण के अभाव में एकाधिकारी संस्था उत्पादन सीमित रखते हुए ऊँचा मूल्य रखकर अधिकतम लाभ उठाने की नीति अपनाती है। किन्तु मूल्य कमीशन एकाधिकारी संस्था को

यह निर्देश दे सकता है कि वह उस बिन्दु पर मूल्य निर्धारित करें जहां कि औसत आय और औसत लागत बराबर हो तथा जिस पर सम्बन्धित फर्मों को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है और साथ ही कमीशन यह भी निर्देश कर सकता है कि वह उतना उत्पादन अवश्य करें जो कि इस मूल्य पर बेचा जा सकता हो। (ii) रेट कमीशन उस बिन्दु पर मूल्य निर्धारित कर सकता है जहां कि उत्पादन की सीमान्त लागत एकाधिकारी की औसत आय के बराबर हो क्योंकि सामाजिक दृष्टिकोण से यह वांछनीय है कि उत्पादन में तब तक वृद्धि करते रहना चाहिये जब तक साधनों का सीमान्त मूल्य साधनों की सीमान्त लागत के बराबर न हो जाय।

मूल्यों पर नियंत्रण करने के लिए सरकार यह घोषणा कर सकती है कि एक एकाधिकारी अपनी वस्तु का अधिक से अधिक कितना मूल्य ले सकता है अथवा वह मूल्यों पर नियंत्रण न करते हुए यह घोषणा कर सकती है कि उसकी अनुमति के बिना एकाधिकारी मूल्यों में किसी प्रकार की कोई वृद्धि नहीं कर सकता।

(ii) **सरकारी स्वामित्व एवं प्रबन्ध**.—अनेक अर्थशास्त्रियों ने एक अन्य रास्ता यह बतलाया है कि प्राकृतिक एकाधिकारों पर सार्वजनिक स्वामित्व एवं नियंत्रण होना चाहिये। अनेक देशों में ऐसा मार्ग अपनाया भी गया है। अनेक पूँजीवादी देशों में भी कई सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं जैसे रेलें, सड़क, यातायात, बिजली, टेलीफोन, डाक व तार आदि पर केन्द्रिय व राज्यों सरकारों अथवा म्युनिसिपैलिटियों या अन्य स्थानीय संस्थाओं का स्वामित्व एवं नियन्त्रण हो गया है। यदि सरकार कुशलता से कार्य करें, तो इन सेवाओं के स्वामित्व एवं नियंत्रण द्वारा वह कुल सामाजिक कल्याण को अधिकतम सीमा तक बढ़ाने में निःसंदेह सफल हो सकती है। लेकिन सरकारी स्वामित्व एवं नियंत्रण के तीन गम्भीर दोष हैं :—

(१) **राजनैतिक भ्रष्टाचार एवं अनुकूल प्रबन्ध** :—विशेषतः अर्ध विकसित देशों में यह खतरा अधिक है क्योंकि वहां सरकारी कर्मचारियों को औद्योगिक संस्था के प्रबन्ध संचालन का अनुभव नहीं होता है और साथ ही उनका नैतिक बल भी पूर्ण नहीं होता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए स्वशासित निगमों की स्थापना की जा सकती है।

(२) **प्रसाधनों का दुरुपयोग**:—एकाधिकारिक सेवाओं का सरकारी स्वामित्व एवं नियंत्रण होने की दशा में प्रसाधनों के दुरुपयोग का भय रहता है। चूंकि इन सेवाओं का उत्पादन मांग के अनुमान के आधार पर किया जाता है इसलिए सरकार *या म्यूनिसिपैलिटी लाभ की आशा में भारी विनियोग कर दिया करती है*। इस बात की सम्भावना रहती है कि ये अनुमान सही न उतरें और संस्था को बहुत हानि उठानी पड़े। यदि ऐसा हुआ तो जनता पर ही उस हानि का बोझ पड़ेगा। किन्तु प्राकृतिक एकाधिकारों के विषय में इस प्रकार की हानि होने के आसार कम होते हैं।

(३) **आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण** :—यदि सरकार एक के बाद एक इसी

प्रकार एकाधिकार ग्रहण करती गई तो सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति सरकार के हाथों में ही केन्द्रित हो जाने का भय है जिसे नागरिकों की स्वतन्त्रता के लिए उचित नहीं कहा जा सकता ।

(III) एकाधिकार विरोधी संनियमों का निर्माण :—एकाधिकारों को नियन्त्रित करने के लिये विभिन्न देशों में (विशेषतः अमेरिका में जहाँ कि एकाधिकारों का बड़ा बोल बाला है) उपयुक्त संनियम बनाये गये हैं और इनकी सहायता से कुछ एकाधिकारों को अस्तित्व में आने से रोकने की तथा कुछ विद्यमान एकाधिकारों को भंग करके प्रतिस्पर्धी कम्पनियों में बाँटने की कोशिश की गई । अमेरिका में प्रेसीडेन्ट पद के चुनाव में एकाधिकारों के नियंत्रण को पार्टी के उद्देश्य घोषणा पत्र का एक नारा बनाया जाता है । इस बात से ही इस समस्या का महत्व स्पष्ट है । शर्मन ऐन्टी ट्रस्ट एक्ट, क्लेटन एक्ट, फैडरल कमीशन एक्ट, राबिन्सन पैटमैन एक्ट आदि का उद्देश्य एकाधिकारों को रोकना और उचित प्रतिस्पर्धा की स्थिति उत्पन्न करना था । लेकिन इन अनेक संनियमों के होते हुए भी वहाँ एकाधिकारों को भंग करने व उद्योग में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने की नीति में सरकार को कुछ विशेष सफलता नहीं मिली है । कुछ एकाधिकारों ने बड़ी चतुरता से अपने को कानून के शिकंजे से बचा लिया है और कुछ एकाधिकार कानून के शिकंजे में फंस कर भी अपने अनुचित कार्यकलापों के लिए दण्ड पाने से बच गये । जिन दशाओं में सरकार एकाधिकारों को भंग करने में सफल हुई वहाँ भी वह प्रतिस्पर्धा की स्थिति पैदा करने में असफल रही है । जब कोई एकाधिकार भंग हुआ, तो वह कई छोटी छोटी कम्पनियों में विभाजित हो गया और इससे अल्पाधिकार की स्थिति बन गई जो एकाधिकार की स्थिति से कोई विशेष अच्छी नहीं है । इसके अतिरिक्त, आधुनिक वर्षों में तो यह भी देखा गया है कि ट्रेड एशोसियेशनों के कार्यकलापों के फलस्वरूप अथवा बड़ी बड़ी फर्मों के गुप्त समझौतों के फलस्वरूप एकाधिकार बन गये हैं और उन पर नियन्त्रण करने में कठिनाई है । इन बातों से निष्कर्ष निकलता है कि एकाधिकार को भंग करना कोई उपयुक्त हल नहीं है और उनको नियमित करने की वैकल्पिक नीति भी अपनानी चाहिये ।

यह उल्लेखनीय है कि कुछ समय से, विशेषतः सन् १९२९ की महामन्दी के समय से, पश्चिमी देशों में एकाधिकारों के लाभों को अनुभव करते हुए उन्हें प्रोत्साहन देने की नीति कुछ सीमा तक अपनाई जाने लगी है । मन्दी के काल में जबकि मूल्य लगातार गिरते जाते हैं और अनेक प्रतिस्पर्धी फर्म असफल हो जाती हैं, एकाधिकारी अपने वित्तीय साधनों की सुदृढ़ता के आधार पर गिरते हुये मूल्य से उत्पन्न हानि को सहन करने में समर्थ होता है । वह न केवल वर्तमान मूल्य को स्थिर रखने की चेष्टा करता है वरन् कम मात्रा में वस्तु का उत्पादन व विपणन करके मूल्यों को ऊंचा रखने में सफलता प्राप्त करता है । विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में भी एकाधिकारी बहुत उपयोगी प्रमाणित हुए हैं क्योंकि वे विदेशी बाजारों पर कब्जा करने और फिर उन्हें अपने आधीन ही बनाये रखने में सफल हो जाते हैं ।

(IV) क्रेताओं के संघों का निर्माण :—एकाधिकारी के अनुचित कार्य कलापों से अपनी रक्षा करने के लिए क्रेता लोग मिलकर एक संघ बना सकते हैं इससे उन्हें एकाधिकारी की अत्यधिक लाभ कमाने की शक्ति का विरोध करने मे सुविधा हो जाती है। किन्तु पीगू का कहना है कि क्रेताओं के संघ अधिकतर सफल नही हो पाते। क्योंकि क्रेताओं की संख्या बहुत बड़ी होती है और वे एक विस्तृत क्षेत्र मे फैले हुए होते हैं।

(V) एकाधिकार सम्बन्धी सूचना का प्रकाशन :— एकाधिकारी की विनाशकारी प्रवृत्तियो पर प्रचार द्वारा नियंत्रण लगाया जा सकता है। यदि एकाधिकारी को समय-समय पर अपनी उत्पादन और मूल्य नीति सम्बन्धी रिपोर्ट प्रकाशित करनी पड़े, तो जनता को उसकी चालों का ज्ञान होने लगेगा। कोई भी एकाधिकारी उपभोक्ताओं की सहानुभूति को सहसा ठुकरा नही सकता, क्योंकि वह जानता है कि यदि वह अपनी वस्तु का बहुत ऊंचा मूल्य लेगा, तो उपभोक्ता उसके विरुद्ध हो जायेंगे और उसकी वस्तु का बहिष्कार कर सकते हैं। अमेरिका में फेडरल ट्रेड कमीशन एकाधिकारों का निरीक्षण करके अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करता है।

(IV)सहकारी उत्पादन एवं वितरण को प्रोत्साहन :—सहकारी समितियों के निर्माण को प्रोत्साहन देकर एकाधिकारी के प्रभाव को जनता से दूर रखने का प्रयास किया जा सकता है। इनके द्वारा उपभोक्ता अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं और सस्ते मूल्य पर वस्तुयें प्राप्त कर सकते हैं।

निष्कर्ष :—उपरोक्त एक या अधिक उपाय एक साथ ही एकाधिकारी को नियंत्रित करने के लिए अपनाये जा सकते हैं। जार्ज डब्लू स्टाकिंग ने एकाधिकार पर नियंत्रण रखने के लिए निम्न तरीके बतलाये हैं :—

(१) ऐसे नियमो की रचना जिनमे पूंजी को अधिक प्रोत्साहन मिले।

(२) छोटे-छोटे फर्मों को एक दूसरे से मिलने से रोकना, जिससे उनकी संख्या अधिक रहे तथा आकार मे वृद्धि न होने पाये।

(३) एन्टी ट्रस्ट को लागू कराने के लिए अधिक उपयुक्त धन राशि की पूर्ति करना।

(४) श्रमिक एकाधिकार की स्थापना करना, जिससे औद्योगिक सौदे बाजी समाप्त हो जाय। सौदे बाजी करने की इकाई एक फर्म होनी चाहिये। जिसका आकार नं० २ के समान ही सीमित हो।

(५) कम तथा थोड़े कर लगाना।

(६) यद्यपि मौद्रिक नीतियों मे सामान्य मूल्य मे स्थिरता आती है तथापि व्यक्तिगत फर्मों को आपस मे प्रतियोगिता करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये जिससे वे अपना कार्य स्वयं पूरा कर सकें, साधनों का उपयुक्त प्रयोग कर सके तथा आय का वितरण कर सकें।

संक्षेप में, स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था के लिये उचित वातावरण तैयार करना अति आवश्यक है। इसके द्वारा औद्योगिक स्थिरता की समस्या को हल करने में सुविधा होगी तथा प्रतियोगिता के लिए आवश्यक साधनों का इस्तेमाल आसानी से हो सकेगा।

Q. "The prima facie interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to the demand, not in such a way that the price at which he can sell his commodity shall just cover its expenses of production, but in such a way as to afford him the greatest possible net revenue." **(Marshall)**

Explain fully the above statement.

(Agra, M. A 1949, 50, 54, 57, Agra, M. Com. 1958, 63 Vikram M. Com., 1958, Raj. M. Com., 1958, 60)

प्रश्न—"एक एकाधिकार के स्वामी का मुख्य उद्देश्य पूर्ति का मांग से समायोजन इस प्रकार न करना होता है कि उत्पादन के व्यय वस्तु को बेचकर प्राप्त किये जा सकें, वरन् इस प्रकार कि, उसे अधिकतम सम्भावित शुद्ध आय प्राप्त हो सके।" (मार्शल)

उपरोक्त कथन को पूर्णतः समझाइये।

(आगरा, एम० ए० १९४९, ५४, ५७, आगरा, एम० काम० १९५८, ६३ विक्रम, एम० काम० १९५८ राजस्थान, एम० काम० १९५८ ६०)

उत्तर— प्रो० बोल्डिंग के शब्दों में 'शुद्ध एकाधिकारी' इसलिये वह फर्म है जो कि ऐसी उपज को उत्पन्न कर रही है जिसका कि अन्य फर्मों की उपज में कोई कार्य साधक स्थानापन्न नहीं है, "कार्य-साधक': इस अर्थ में कि, भले ही एकाधिकार अनियमित लाभ प्राप्त कर रहा हो, अन्य फर्में उसके इस लाभ पर अतिक्रमण स्थानापन्न वस्तुओं को उत्पन्न करके ही नहीं कर सकती जो कि क्रेताओं को एकाधिकारी की वस्तुओं के आकर्षण से दूर कर सके।"

अतः यह स्पष्ट है कि एकाधिकार की स्थिति में बाजार में एक ही विक्रेता होता है और यह विक्रेता ऐसी वस्तु का उत्पादक एवं विक्रेता होता है जिसका स्थानापन्न अन्य उत्पन्न नहीं करतीं। यह उत्पादक अथवा विक्रेता वस्तु की पूर्ति पर नियंत्रण रखकर वस्तु के मूल्य को इच्छानुसार प्रभावित किया करता है, कारण कि उसका कोई अन्य प्रतियोगी उत्पादक अथवा विक्रेता नहीं होता। पूर्ण प्रतियोगिता के उत्पादक तथा एकाधिकारी में यही प्रमुख अन्तर है कि प्रथम के लिये तो वस्तु का मूल्य मांग तथा पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। जिन पर (मांग और पूर्ति) उसका कोई नियंत्रण नहीं होता। जबकि एकाधिकार में वस्तु का मूल्य पूर्ति पर नियंत्रण रखकर स्वयं निर्धारित करता है।
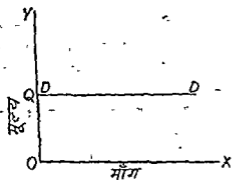
चित्र २—(अ)
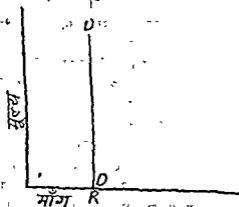
चित्र —२ (ब)

चित्र २ (अ) में पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक उत्पादक की स्थिति दिखाई गई है जो कि OQ मूल्य पर वस्तु की इच्छानुसार मात्रा बेच सकता है, किन्तु वह वस्तु के मूल्य में किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं कर सकता साथ ही वस्तु की माँग तथा पूर्ति पर भी उसका कोई नियन्त्रण नहीं है चित्र २(ब, में एक एकाधिकारी की स्थिति को दिखाया गया है जिस का OR की पूर्ति पर पूरा-पूरा नियंत्रण है तथा वह इस पूर्ति को अपनी इच्छानुसार किसी भी मूल्य पर बेच सकता है।

कोई भी उत्पादक उस समय शुद्ध एकाधिकारी कहा जा सकता है, जबकि उसका वस्तु की मांग तथा पूर्ति पर इतना नियन्त्रण हो कि बिना अपनी उत्पादन मात्रा पर ध्यान दिये वह उपभोक्ताओं की समस्त माँग को लेने में समर्थ हो। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी का माँग वक्र सम लोचदार होता है। यह वह स्थिति होती है जिसमें उपभोक्तागण उस एकाधिकारी की फर्म की बनी हुई वस्तु के लिये प्रत्येक मूल्य देने को तैयार रहते हैं, चाहे वह कितना ही ऊंचा क्यों न हो ? चूंकि एक पूर्ण एकाधिकारी की माँग वक्र की लोच इकाई के बराबर होती है, इसलिये प्रत्येक मूल्य पर उसकी उपज की कुल उत्पादन लागत बड़ी बनी रहती है। इस प्रकार पूर्ण एकाधिकारी का सदैव यही प्रयत्न रहता है कि किसी भी प्रकार वह उपभोक्ता की समान मांगों को ले ले। किन्तु व्यावहारिक जगत में पूर्ण एकाधिकार की स्थिति का अस्तित्व नहीं पाया जाता। यह उसी प्रकार एक कल्पना लोक की धारणा होती है जिस प्रकार कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति। अतः वास्तविक जगत में पूर्ण एकाधिकार के स्थान पर अपूर्ण एकाधिकार की स्थिति पाई जाती है।

एकाधिकारी का मूल्य उद्देश्य

एकाधिकार मांग के अनुसार पूर्ति को समायोजित करता है।

एकाधिकारी मूल्य उत्पादन लागत से अधिक होता है।

एकाधिकारी का मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है।

अर्थात्

एकाधिकारी मूल्य

उस बिन्दु पर निर्धारित होता है

जहां

सीमान्त आय और सीमान्त लागत दोनों बराबर होते हैं

या

एकाधिकारी

पूर्ति तब तक बढ़ाता जायेगा तब तक सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर न जाये।

अधिकतम लाभ कमाने की यह भावना केवल एकाधिकार में ही नहीं वरन् प्रतिस्पर्धी उत्पादक और अन्य सभी प्रकार के साहसियों में पायी जाती है।

एकाधिकारी का उद्देश्य-प्रत्येक विक्रेता अथवा उत्पादक का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ उठाना होता है। किन्तु पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य सामान्य लागत के बराबर होता है, इसलिये प्रत्येक उत्पादक को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है। और ये लाभ उत्पादन लागत के ही अंग होते हैं। किन्तु एकाधिकारी के हाथ में मूल्य रहता है, अतः वह इन्हीं सामान्य लक्ष्यों को लेने की कोशिश नहीं करता है वरन् इनमें कुछ अधिक ही लेने की चेष्टा करता है। यदि एकाधिकारी अपनी एकाधिकारिता का प्रयोग करके वस्तु के मूल्य को उसकी उत्पादन लागत से अधिक रखकर कुछ अतिरिक्त लाभ प्राप्त करती है, तो इन लाभों को 'एकाधिकारी लाभ' (Monoply gain) कहते हैं। प्रो० मार्शल ने एकाधिकारी लाभ को 'शुद्ध एकाधिकारी आय' (Net Monopoly Revenue) कहकर पुकारा है। वस्तु के मूल्य में से उत्पादन लागत को घटा देने के पश्चात् जो शेष बचे उसे एकाधिकारी लाभ या शुद्ध एकाधिकारी आय कहा जाता है। प्रत्येक एकाधिकारी का स्पष्ट उद्देश्य इसी शुद्ध एकाधिकारी लाभ को अधिकतम करने का होता है। मार्शल के शब्दों में—"स्पष्टतः एक एकाधिकारी का उद्देश्य पूर्ति को मांग के साथ इस प्रकार समायोजित करने का है कि जिस मूल्य पर वह अपनी वस्तु को बेचे वह न केवल उत्पादन-लागत के निकालने के लिये पर्याप्त हो अपितु उसे अधिकतम शुद्ध अधिकारी आय प्रदान करे।" यह सच है कि एकाधिकारी वस्तु का मूल्य वस्तु से अधिक कितना भी ऊंचा रखने के लिये स्वतन्त्र होता है लेकिन यह भी सच है कि वह उस मूल्य पर वस्तु खरीदने के लिये ग्राहकों को विवश नहीं कर सकता अर्थात् उसका मांग पर कोई नियन्त्रण नहीं है। अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये

भिन्न परिस्थितियों में कार्य करते हैं। साम्य की स्थिति दोनों के लिये एक ही है—सीमांत लागत और सीमांत आय की समानता। लेकिन पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों में मांग वक्र पूर्ण लोचदार होता है इसलिये सन्तुलन उत्पत्ति (Equilibrium output) के बिन्दु पर, जहां सीमांत लागत एवं सीमांत आय दोनों बराबर होती हैं, औसत लागत भी औसत आय व सीमांत आय दोनों के बराबर होती है। इसी कारण प्रतिस्पर्धी उत्पादकों को केवल सामान्य लाभ ही मिल पाता है। इसे निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

चित्र ४—प्रतियोगिता में मिलने वाले लाभ का निर्धारण

उपरोक्त चित्र में OQ मात्रा को PM मूल्य पर बेचा जाता है, जो कि औसत एवं सीमांत दोनों प्रकार की लागत के बराबर है। अतः उत्पादक को केवल उत्पादन लागत (सामान्य लाभ सम्मिलित करते हुये) ही वसूल हो पाती है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता है कि अधिकतम लाभ कमाने का जो उद्देश्य एकाधिकारी की प्रेरणा का स्त्रोत है वह प्रतिस्पर्धी उत्पादक में नहीं होता। वास्तव में अधिकतम लाभ कमाने की भावना तो सम्पूर्ण उत्पादन-व्यवस्था में व्याप्त है, केवल एकाधिकारी की ही विचित्रता नहीं है।

Q. 3. Explain the law of monopoly revenue, and show how the amounts of output would vary according to (a) the elasticity of demand (b) the particular law of production which may be operating.

(Indore M. A. 1965; Vikram M. A. 1959; Agra M. A. 1953)

प्रश्न ३—एकाधिकारी आय का नियम समझाइये और बतलाइये कि (अ) मांग की लोच और (ब) क्रियाशील उत्पत्ति के नियम के अनुसार उत्पादन की मात्रा में किस प्रकार परिवर्तन होगा?

(इन्दौर १९६५ एम० ए०; विक्रम एम० ए० १९५९ आगरा एम० ए० १९५३)

१(

एकाधिकार के अन्तर्गत मू(

(Value Under Monopol

Q. Under what conditions is it desirable to control monopoly ? How should the control be exercised ?

(Agra, 1956 M.

प्रश्न—किन दशाओं में एकाधिकार पर नियन्त्रण करना वांछनीय है ? नियन्त्रण किस प्रकार होना चाहिये ? (आगरा १९५६ एम० ए

उत्तर—एकाधिकार की परिभाषा :—एकाधिकार (Monopoly) यूनानी भाषा के Monopolein से बना है, जिसका आशय है केवल एक वेच (Single Seller) अतः एकाधिकार से अर्थ साधारणतः बाजार की उस ि लगाया जाता है, जिसके अन्तर्गत बाजार में केवल एक ही विक्रेता पाया जिनका बाजार मे वस्तु की पूर्ति पर पूरा-पूरा नियन्त्रण होता है और जो ि उत्पादक को उद्योग में प्रवेश नहीं करने देता है। कानूनी भाषा में एक आशय उस संस्था (व्यक्ति कर्म या एक विशेष समूह) से है जिसका वि पूर्ति पर इतना पर्याप्त नियन्त्रण है कि वह मूल्य को प्रभावित कर सकत अर्थशास्त्रियों ने एकाधिकार की जो परिभाषायें दी हैं उनका उल्ले जाता है—

(१) प्रो० टॉमस–"विस्तृत रूप से एकाधिकार शब्द का दोनों में से किसी के भी दृष्टिकोण से वस्तुओं तथा सेवाओं नियन्त्रण के लिये किया जाता है, किन्तु संकुचित रूप में इसका अथवा निर्माताओं के उस संगठन से होता है जो वस्तुओं अथवा मूल्य को नियन्त्रित करता है।"[1]

---

1. "Broadly, the term is used to cover any effective of supply or demand, of services or of goods, narrowl combination of manufactures or merchants to control th modities or services."

यह आवश्यक होता है कि वह अधिक से अधिक मूल्य पर बेचे। मूल्य को निर्धारित करने के लिये उसके हाथ में वस्तु की पूर्ति रहती है। अत: वह मांग को देखते हुये पूर्ति को ही इस प्रकार समायोजित करने की चेष्टा करता है कि उतना मूल्य निर्धारित हो जाय जो कि उस मांग पर अधिकतम लाभ दे सके।

एकाधिकारी मूल्य का निर्धारण—यदि वह इस पूर्ति (या उत्पादन की मात्रा मे) कोई वृद्धि करता है, तो उसे अतिरिक्त मात्रा का उत्पादन करने में जो अतिरिक्त लागत पड़ेगी वह अतिरिक्त प्राप्तियों से अधिक होगी। इसके विपरीत, यदि वह पूर्ति या उत्पादन को उक्त मात्रा से कम रखता है तो भी उसकी कुल शुद्ध आय कम हो जायगी। पूर्ति के उक्त अनुकूलतम बिन्दु पर सीमांत आय सीमांत लागत के बराबर होती है। एकाधिकारी सदा इस आदर्श स्थिति को बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। प्रो० नाईट के शब्दो में "एकाधिकारी को उस समय तक अपनी उपज की मात्रा तथा बिक्री को शून्य इकाई से आगे तब तक बढाते रहना चाहिये, जब तक कि अतिरिक्त इकाई से कुल आय मे वृद्धि कुल लागत के अतिरिक्त वृद्धि के बराबर नही हो जाती हैं"[1] दूसरे शब्दों में, एकाधिकारी अपनी सीमांत आय के साथ सीमांत लागत का सन्तुलन करके ही सही एकाधिकारी उत्पत्ति निश्चित कर सकता है। जब तक सीमांत आय सीमांत लागत से अधिक रहेगी वह उत्पत्ति बढायेगा और जब तक सीमांत आय सीमांत लागत से कम रहेगी, तब तक वह उत्पत्ति घटाता रहेगा। इस प्रकार उत्पत्ति को कुछ कम या कुछ अधिक करके वह उत्पत्ति की उस मात्रा को निश्चित कर लेने मे समर्थ हो जावेगा, जहाँ पर सीमांत आय और सीमांत लागत सन्तुलित हो जाती। यही वह बिन्दु है जहाँ पर एकाधिकारी लाभ अधिकतम होगा।

चित्रों द्वारा स्पष्टीकरण—इस बात को विभिन्न नियमों की कार्यशीलता के अन्तर्गत अग्र चित्रों द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है:—

चित्र ३ (अ)
लागत वृद्धि नियम की दशा में

चित्र ३ (ब)
लागत ह्रास-नियम की दशा में

1 ... es beyond ... more unit

चित्र ३ (स)
लागत-समता नियम की दशा में

एकाधिकारीमूल्य का निर्धारण

उपरोक्त चित्रों में :—
AR=औसत आय
MR=सीमांत आय
AC=औसत लागत
MC=सीमांत लागत
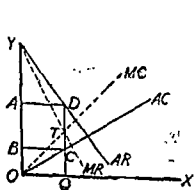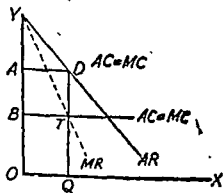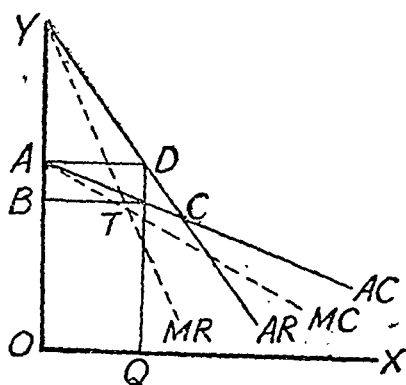
T बिन्दु पर MC (सीमांत लागत) और MR (सीमांत आय) बराबर हो जाती हैं।

OQ उत्पत्ति की मात्रा DQ मूल्य पर बेची जाती है। इस स्थिति में एकाधिकार की शुद्ध आय अधिकतम होती है। चित्रों में ABCD का क्षेत्र एकाधिकारी की अधिकतम शुद्ध आय को सूचित करता है। यदि एकाधिकार उपज की मात्रा को CQ से बांये या दांये और घटाता-बढ़ाता है तो उसे अधिकतम शुद्ध आय प्राप्त नहीं होती है। जैसा कि चित्र नं० ३ अ ब स में दिखाया गया है।

अत; यह दशा एकाधिकारी के लिये आदर्श होती है। वह इस पर ही जमे रहने की कोशिश करेगा। यदि परिस्थितिवश कभी उसे इससे हटाना पड़े तो वह जल्दी से जल्दी इस पर वापिस लौटने की कोशिश करेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि एकाधिकारी का उद्देश्य अपनी उपज को केवल उतने ही मूल्य पर बेचना नहीं होता जिससे कि उत्पादन लागत (सामान्य लाभ को सम्मिलित करते हुये) मिलती रहे वरन् वह अपनी उत्पत्ति को एक ऐसे मूल्य पर बेचने पर चेष्टा करेगा जिससे उसे अधिकतम सम्भव शुद्ध एकाधिकारी आय मिले।

एकाधिकार का उद्देश्य एक प्रतिस्पर्धा उत्पादक के दृष्टिकोण से भिन्न नहीं होता—प्रो० मार्शल के कथन से, जो कि प्रश्न में दिया गया है, यह ध्वनि निकलती है कि एकाधिकारी के स्वभाव की यह विचित्रता है कि वह अधिकतम शुद्ध एकाधिकारी आय प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित होता है। वास्तव में यह बात एकाधिकारी के सम्बन्ध में ही नहीं, एक प्रतिस्पर्धी उत्पादक के बारे में भी नोट की जाती है। प्रत्येक उत्पादक के मन में यही भावना होती है कि वह जिस क्षेत्र में कार्य कर रहा है वहां अपनी स्थिति के कारण जो भी अधिक से अधिक लाभ कमाया जा ा हो कमा ले। स्पष्ट ही एक प्रतिस्पर्धा उत्पादक भी एकाधिकार से अधिकतम कमाने की होड़ में पीछे नहीं रहता। बस अन्तर केवल इतना है कि वे भिन्न

भिन्न परिस्थितियों में कार्य करते हैं। साम्य की स्थिति दोनों के लिये एक ही है—सीमांत लागत और सीमांत आय की समानता। लेकिन पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों में मांग वक्र पूर्ण लोचदार होता है इसलिये सन्तुलन उत्पत्ति (Equilibrium output) के बिन्दु पर, जहां सीमांत लागत एवं सीमांत आय दोनों बराबर होती हैं, औसत लागत भी औसत आय व सीमांत आय दोनों के बराबर होती है। इसी कारण प्रतिस्पर्धी उत्पादकों को केवल सामान्य लाभ ही मिल पाता है। इसे निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

चित्र ४—प्रतियोगिता में मिलने वाले लाभ का निर्धारण

उपरोक्त चित्र में OQ मात्रा को PM मूल्य पर बेचा जाता है, जो कि औसत एवं सीमांत दोनों प्रकार की लागत के बराबर है। अतः उत्पादक को केवल उत्पादन लागत (सामान्य लाभ सम्मिलित करते हुये) ही वसूल हो पाती है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता है कि अधिकतम लाभ कमाने का जो उद्देश्य एकाधिकारी की प्रेरणा का स्रोत है वह प्रतिस्पर्धी उत्पादक में नहीं होता। वास्तव में अधिकतम लाभ कमाने की भावना तो सम्पूर्ण उत्पादन-व्यवस्था में *व्याप्त है, केवल एकाधिकारी की ही विचित्रता नहीं है।*

Q. 3. Explain the law of monopoly revenue, and show how the amounts of output would vary according to (a) the elasticity of demand (b) the particular law of production which may be operating.

(Indore M. A. 1965; Vikram M. A. 1959; Agra M. A. 1953)

प्रश्न ३—एकाधिकारी आय का नियम समझाइये और बतलाइये कि (अ) मांग की लोच और (ब) क्रियाशील उत्पत्ति के नियम के अनुसार उत्पादन की मात्रा में किस प्रकार परिवर्तन होगा?

(इन्दौर १९६५ एम० ए०; विक्रम एम० ए० १९५९ आगरा एम० ए० १९५३)

उत्तर—प्रोफेसर बोल्डिंग के शब्दों में "शुद्ध एकाधिकार इसलिये, वह फर्म है जो कि ऐसी उपज को उत्पन्न कर रही है जिसका कि अन्य फर्मों की उपज में कोई कार्य साधक Effective स्थानापन्न नहीं है, "कार्य साधक, इस अर्थ में कि भले ही एकाधिकारी अनियमित लाभ प्राप्त कर रहा हो, अन्य फर्में उसके इस लाभ पर अतिक्रमण स्थानापन्न वस्तुओं को उत्पन्न करके नहीं कर सकती जो कि क्रेताओं को एकाधिकार की वस्तुओं के आकर्षण से दूर कर सकें।"[1] साधारणतया पूर्ण प्रतियोगिता के उत्पादक तथा एकाधिकार के कार्य को संचालित करने वाले मौलिक विचारों में अधिक असमानता नहीं पाई जाती। एक एकाधिकारी की भांति एक प्रतियोगी उत्पादक का भी सदैव यही प्रयत्न रहता है कि किसी प्रकार बाजार की स्थिति से लाभ उठाकर लाभार्जन किया जाये किन्तु जिन स्थितियों तथा दशाओं में एक एकाधिकारी तथा पूर्ण प्रतियोगिता का उत्पादक उत्पादन कार्य करता है वे भिन्न भिन्न होती है। पूर्ण प्रतियोगिता में एक उत्पादक जो कुछ उत्पन्न करता है वह कुल उपज की मात्रा का एक छोटा सा भाग होता है। इसमें कुल उपज की मात्रा को उत्पन्न करने में कई उत्पादकों का हाथ होता है। इसलिये किसी एक उत्पादक का कुल उपज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके विपरीत एकाधिकार में एकाधिकारी का कुल उपज की मात्रा पर पूरा २ प्रभाव पड़ता है। चूंकि उत्पादन क्षेत्र में उसका कोई अन्य प्रतिद्वन्दी उत्पादक नहीं होता, इसलिये कुल उपज की मात्रा को वह अपनी इच्छानुसार संचालित किया करता है।

एकाधिकार की स्थिति में एकाधिकारी को अधिकतम आय प्राप्त करने का मूल कारण यह होता है कि इसमें सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत एक समान होती है। चूंकि उपज की मात्रा पर एकाधिकारी का पूरा-पूरा नियन्त्रण होता है, इसलिये उसकी माँग वक्र पूर्ण लोचदार होता है जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता में होता है। किन्तु जैसे-जैसे उपज की मात्रा को बढ़ाया जाता है, सीमान्त आय घटती जाती है और मांग वक्र की लोच पूर्ण लोचदार नहीं रह जाती। जब तक कि एकाधिकारी यह देखता है कि उपज की मात्रा में प्रत्येक अतिरिक्त बढ़ाई गई इकाई से प्राप्त होने वाली आय उस पर लगाई गई लागत से अधिक है तो वह अपनी उपज की मात्रा को बढ़ाता जाता है और उसका यह कार्य उस समय तक चलता रहता है जब तक कि

1. "A Pure Monopolist, is therefore a firm producing a product which has no effective substitutes among the products of any other firm, 'effective' in the sense that even though the monopolist may be making abnormal profits, other firms cannot encroach on these profits by producing substitute commodities which might entice purchasers away from the product of the monopolist."
—K. E. Boulding : Economic Analysis.

सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होती है। किन्तु उत्पादन में यह स्थिति सदैव नहीं बनी रहती जैसे-जैसे उपज की मात्रा मे वृद्धि की जाती है, सीमान्त आय घटती जाती है और सीमान्त लागत सामूहिक रूप से बढ़ती जाती है। इस प्रकार एक ओर तो सीमान्त आय के घटने की स्थिति होती है व दूसरी ओर सीमात लागत के बढ़ने की स्थिति। ये दोनों स्थितियां जैसे-जैसे एक दूसरे के निकट आती हैं, वैसे ही वैसे साम्य

चित्र ५ — अ

चित्र ५ — ब
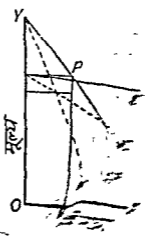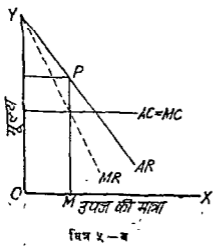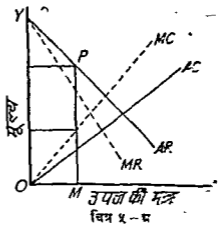
ा
म
म
ज
द्धि
वह
ान्त
और
सीमान्त
ुभव होने

पादन कार्य
ता नियम के
ाय के सिद्धान्त
वस्तु के मूल्य
इतनी कुशलता
प्रत्येक स्थिति में
के किसी विशेष

प्रभाव नहीं पड़ता। चित्र नं० ५ स उस स्थिति को प्रदर्शित करता है जिसमें उपज की वृद्धि के साथ-साथ लागत गिरती जाती है। इन चित्रों के प्रदर्शन का सार यह है कि कोई भी उत्पादन की मात्रा जो, OM से कम है, में सीमान्त आय वक्र सीमान्त लागत वक्र के ऊपर रहता है। जिसका अर्थ यह हुआ कि इस स्थिति में सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक रहती है और जब तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक रहेगी, एकाधिकारी उपज की मात्रा को बढ़ाता जायेगा और साथ ही अपने लाभ में वृद्धि करता जायगा। इसके विपरीत जैसे-जैसे उपज की मात्रा को OM से आगे बढ़ाया जाता है, सीमान्त आय सीमान्त लागत से कम होती जाती है। ऐसी स्थिति में उत्पादन कार्य करने से एकाधिकारी को हानि का सामना करना पड़ता है। इसलिये एकाधिकारी OM बिन्दु से आगे उपज की मात्रा को नहीं बढ़ायेगा।

एकाधिकारी आय को ज्ञात करने के लिये प्रयोग की गई उपरोक्त रीति के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यह रीति माँग वक्रों के आकार पर आधारित होने के कारण दोषपूर्ण एवं अनिश्चित है। कारण कि माँग वक्रों का आकार सदैव एकसा नहीं रहता। वह समय-समय पर बदलता रहता है। इन्हीं माँग वक्रों के आकार का

एकाधिकारी आय का नियम

एकाधिकारी की शुद्ध आय तब अधिकतम होती है जब वह वस्तु की पूर्ति और कीमत उस बिन्दु पर निर्धारित करे जहां कि सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर हो।

मांग की लोच और क्रियाशील उत्पत्ति-ह्रास नियम का प्रभाव—

(१) उत्पति वृद्धि नियम के क्रियाशील होने पर

(अ) लोचदार मांग वाली वस्तुओं का उत्पादन बढ़ता है।

(ब) बेलोच वस्तु का उत्पादन नहीं घटता है।

(२) उत्पत्ति-ह्रास-नियम के क्रियाशील होने पर

(अ) लोचदार वस्तुओं का उत्पादन नहीं बढ़ेगा।

(ब) बेलोच वस्तुओं का उत्पादन घटेगा।

(३) उत्पत्ति-समता-नियम के अन्तगर्त

(अ) लोचदार वस्तु का उत्पादन बढ़ेगा।

(ब) बेलोच वस्तु का उत्पादन घटेगा।

किन्तु उत्पादन कितना बढ़ेगा, या घटेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि मांग की लोच और उत्पत्ति की लागत दोनों में से कौन अधिक प्रभावोत्पादक है।

एकाधिकारी को पूर्ण ज्ञान नहीं होता। यहां तक कि कुशल से कुशल व्यवसायी के मस्तिष्क में भी इन मांग वक्रों का स्पष्ट आकार नहीं होता, जिनके साथ उसे अपने दैनिक जीवन में व्यवहार करना पड़ता है।

अंत. यह कहा जा सकता है कि कोई भी एकाधिकारी अपने उत्पादन को उस स्थान पर नहीं रोकेगा, जहा पर कि एकाधिकारी आय अधिकतम होती है। यह कार्य उसी दशा में सम्भव है जबकि एकाधिकारी को वस्तु की लागत तथा बाजार की दशाओं का ठीक ठीक एवं पूर्ण ज्ञान हो। लेकिन यदि कुछ समय तक मांग तथा पूर्ति की दशाएं स्थिर रहती है, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता तो क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के कारण उसे उपज की मात्रा की वृद्धि पर नियन्त्रण रखना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में मांग की लोच का विभिन्न परिस्थितियों पर विभिन्न प्रभाव पड़ेगा। यदि माग वक्र अत्यधिक लोचदार होता है तो एकाधिकारी उपज की मात्रा में वृद्धि कर देता है। इसके अतिरिक्त जिस दिशा में मांग की लोच मे परिवर्तन होता है, उसी दिशा मे एकाधिकारी की उपज की मात्रा मे भी परिवर्तन होता है। इसके विपरीत यदि माग वक्र बेलोच प्रकृति का होता है तो एकाधिकारी अपनी उत्पादन की मात्रा मे अधिक वृद्धि नहीं करता। वह वस्तु के मूल्य को बढ़ाकर अधिकतम लाभ प्राप्त करता है। एकाधिकारी उसी स्थिति मे आदर्श उत्पादन की मात्रा की स्थिति को प्राप्त कर सकता है जबकि वह सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत मे सतुलन लाने की क्षमता रखता हो। उसे मांग तथा पूर्ति के सम्बन्ध मे केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि किसी समय मे वह अपनी उपज एक निश्चित मात्रा से अधिक बेचता है तो उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। यदि अधिक उपज बेचने से उसके शुद्ध लाभ मे वृद्धि होती है तो उसे समझ लेना चाहिये कि उपज की मात्रा मे वृद्धि उसके लिए लाभदायक सिद्ध होगी। इसके विपरीत यदि एक निश्चित उपज से अधिक बेचने से उसका कुल लाभ घट जाता है तो उसे उपज की मात्रा मे वृद्धि नहीं करनी चाहिए। जब तक सीमान्त आय, सीमान्त लागत से अधिक होती है, वह अपनी उपज की मात्रा में वृद्धि करता जायेगा और जब सीमान्त आय सीमान्त आय सीमान्त लागत से कम होने लगती है तो वह उत्पादन को कम करेगा और अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है जहा पर कि सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर हो जाते हैं और उत्पादन कार्य मे साम्य का वातावरण अनुभव होने लगता है।

एकाधिकारी आय की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें उत्पादन कार्य चाहे उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत हो रहा हो अथवा उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत हो रहा हो। किसी भी नियम की कार्यशीलता एकाधिकार आय के सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नहीं लाती। एकाधिकार की स्थिति में एकाधिकारी वस्तु के मूल्य तथा उपज की मात्रा को स्वयं निर्धारित करता है। यह कार्य वह इतनी कुशलता से करता है जिससे उसे अधिकतम आय प्राप्त हो सके। उत्पादन की प्रत्येक स्थिति में एकाधिकारी को दो बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं। प्रथम, उत्पत्ति के किसी विशेष

नियम के अन्तर्गत बढ़ती हुई उपज की मात्रा का सीमान्त लागत पर क्या प्रभाव पड़ता है ? दूसरे, मांग की लोच पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है ?

उदाहरणार्थ, जब वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत हो रहा होता है तो उपज की मात्रा में वृद्धि के साथ साथ सीमान्त लागत गिरती जाती है। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी के लिए उपज की मात्रा में वृद्धि करना लाभदायक होता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में एकाधिकारी वस्तु को सस्ते मूल्य पर उत्पन्न करके अधिक मूल्य पर वेच कर अधिक लाभ प्राप्त करेगा। ऐसी स्थिति में यदि माँग वक्र भी लोचदार होता हैं तो उत्पत्ति वृद्धि नियम के प्रभाव के परिणाम स्वरूप उपज की मात्रा में वृद्धि होती है और उत्पादन लागत में गिरावट आती है। इसके विपरीत मांग वक्र वेलोंच होता है तो मांग की लोच व उत्पत्ति का नियम दोनों एक दूसरे के प्रतिकूल दिशा में कार्य करते हैं। एक ओर वेलोच मांग वक्र एकाधिकारी को वस्तु का उत्पादन कम करने के लिये प्रेरित करता है और दूसरी ओर उत्पत्ति वृद्धि नियम एकाधिकारी को उपज की मात्रा बढ़ाने के लिए प्रेरित करता है। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी अपनी उपज की मात्रा को घटायेगा अथवा बढ़ायेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि एकाधिकारी पर मांग की लोच का अधिक प्रभाव है अथवा उत्पत्ति के नियम का। वह स्थिति जिसमें उत्पत्ति वृद्धि नियम तथा माँग की लोच एक ही दिशा में कार्य करते हैं, नीचे एक चित्र द्वारा स्पष्ट की गई है :—

प्रस्तुत चित्र में सीमान्त लागत वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ दिखाई दे रहा है। जिसका यह अर्थ है कि उत्पादन में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होने के कारण उपज में वृद्धि हो रही है और सीमान्त लागत में गिरावट आती जा रही है। माँग वक्र (D_1) की अपेक्षा मांग वक्र (D_2) अधिक लोचदार है। जिसके फलस्वरूप एकाधिकारी की उपज की मात्रा में OM से OM' तक वृद्धि होती है। उपज की वृद्धि के साथ साथ वस्तु का मूल्य भी कम हो जाता है। जब उत्पादन की मात्रा OM थी तो वस्तु का मूल्य MP था, किन्तु जब उपज की मात्रा बढ़कर OM' हो जाती है तो वस्तु का मूल्य गिर कर M'P' हो ... ो कि MP मूल्य से कहीं कम है।
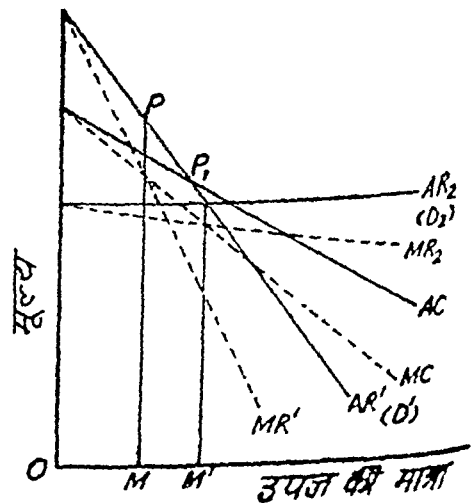
चित्र—६

इसी प्रकार जब उत्पादन में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है तो उपज की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ सीमान्त लागत में भी वृद्धि होती जाती है। उत्पादन मे उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने से एकाधिकारी अपनी उपज की मात्रा को कम करेगा। लेकिन मांग की लोच का एकाधिकारी की उपज की मात्रा पर विभिन्न परिस्थितियों मे विभिन्न प्रभाव पड़ेगा। यदि मांग वक्र बहुत अधिक लोचदार है तो एक ओर तो एकाधिकारी को अपनी उपज को बढ़ाने की प्रेरणा मिलेगी व दूसरी ओर उत्पादन में उत्पत्ति-ह्रास नियम उत्पादक अपनी उपज को घटाने के लिये प्रेरित करेगा। ऐसी स्थिति मे एकाधिकारी की आय का स्वरूप क्या होगा ? वह घटेगी, अथवा बढ़ेगी, यह उत्पत्ति-ह्रास नियम तथा माग की लोच के विभिन्न प्रभाव पर निर्भर होता है। यदि माग वक्र अधिक लोचदार है और मांग की लोच का एकाधिकारी पर अधिक प्रभाव है तो उपज की मात्रा मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि एकाधिकारी पर उत्पत्ति-ह्रास नियम का अधिक प्रभाव है तो उपज की मात्रा कम होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करेगी। इसी प्रकार जब उत्पादन पर उत्पत्ति-ह्रास नियम का प्रभाव होगा और साथ ही मांग वक्र भी अधिक बेलोच होगा तो उत्पत्ति के नियम तथा माग की लोच इन दोनों के मध्य का संघर्ष समाप्त हो जायेगा। उपज की मात्रा कम हो जायेगी और परिणामस्वरूप एकाधिकार-मूल्य भी बढ़ जायेगा। इसे नीचे दिए गए चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :—

बराबर के चित्र मे सीमान्त लागत वक्र ऊपर उठता हुआ दिखाई दे रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पत्ति-ह्रास नियम के कारण उपज मे जरा सी भी वृद्धि सीमान्त लागत को बढ़ा देती है। AP, लोचदार मांग वक्र की स्थिति को सूचित करता है और इस मांग वक्र पर उपज का मूल्य MP है और उपज की मात्रा OM है।
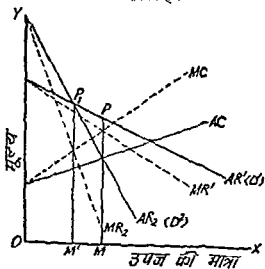
चित्र—७

लेकिन जब माग वक्र बेलोच होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है जैसा कि AR_2 (D^2) में दिखाया गया है तो एकाधिकारी उपज की मात्रा को घटा देता है। उपज की मात्रा OM से घटकर OM' हो जाती है और MP से बढ़कर M'P' हो जाता है।

यदि किसी वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत होता है, तो एकाधिकारी की उपज पर मांग की लोच का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि उसमें कमी अथवा वृद्धि मांग की लोच पर आधारित होती है। उत्पादन समता नियम के लागू होने की स्थिति में वस्तु की प्रति इकाई की लागत स्थिर रहती है, इसलिये उपज की वृद्धि अथवा कमी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि मांग वक्र लोचदार होता है तो एकाधिकारी उपज की मात्रा में वृद्धि करके वस्तु के मूल्य में कमी करके अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसके विपरीत यदि मांग वक्र बेलोच होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है तो एकाधिकारी उपज की मात्रा को कम कर देता है और वस्तु का मूल्य बढ़ा कर लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जैसा कि नीचे चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है :—

बराबर के चित्र में मांग वक्र D² मांग वक्र D¹ की अपेक्षा अधिक लोचदार है। जब मांग वक्र D¹ से D² हो जाता है तो उपज की मात्रा OM से बढ़कर OM' हो जाती है और वस्तु का मूल्य MP से घटकर M'P' हो जाता है। इसके विपरीत जब मांग वक्र कम लोचदार होता है अथवा बेलोच प्रकृति का होता है तो उपज की मात्रा पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है और वह घटने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करती है।
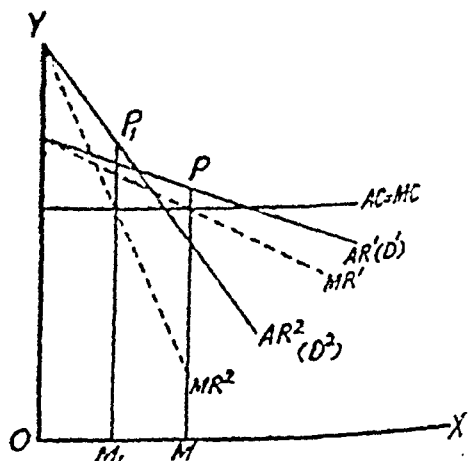
चित्र — ८

उपरोक्त बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वस्तु की लोचदार मांग उपज की मात्रा को बढ़ाने तथा कीमत को कम करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करती है। और वस्तु की बेलोच मांग उपज की मात्रा को घटाने तथा वस्तु के मूल्य को बढ़ाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करती है।

जहां तक उत्पत्ति के नियमों के प्रभाव का प्रश्न है, उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत एकाधिकारी अपनी उपज की मात्रा में वृद्धि करता है, क्योंकि उपज की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि सीमान्त लागत को कम करती है। उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत एकाधिकारी उपज की मात्रा को कम करता है, क्योंकि उपज की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि सीमान्त लागत के साथ साथ कुल लागत में भी वृद्धि करती है। उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत उपज की मात्रा का निर्णय एकाधिकारी मांग की लोच के द्वारा करता है। यदि मांग वक्र लोचदार होता है तो एकाधिकारी उपज की मात्रा में वृद्धि करता है। इसके विपरीत यदि मांग वक्र बेलोच होता है तो वह उपज की मात्रा में संकुचन करता है।

Q. Under what conditions is price discrimination possible, profitable and socially desirable ? Examine the effect of such discrimination on consumer's surplus. (Rajasthan M. A. 1960)

प्रश्न—किन दशाओं में मूल्य विभेद सम्भव, लाभदायक और सामाजिक रूप से वांछनीय है ? उपभोक्ता की बचत पर उसके प्रभावों की परीक्षा कीजिए। (राजस्थान एम०काम० १९६०)

Q Explain the conditions under which price discrimination is possible and point out the cases when it is advantageous to consumers. (Agra M. Com 1956)

प्रश्न—उन दशाओं को, जिनके कि मूल्य विभेद सम्भव है, समझाइये तथा वे परिस्थितियां बतलाइये जब कि उपभोक्ता को यह लाभदायक है। (आगरा एम० काम० १९५६)

उत्तर—श्रीमती राबिन्स के अनुसार "एक ही वस्तु को जो कि एक ही उत्पादन द्वारा उत्पादित की गई है विभिन्न ग्राहकों को विभिन्न मूल्यों पर बेचने की क्रिया 'मूल्य विभेद' कहलाती है"[1]

प्रो० टामस—"एकाधिकारी की नीति यह विशेषता है कि एक ही वस्तु या सेवा की पूर्ति में विभिन्न भागों के लिये उपभोक्ताओं से भिन्न-भिन्न मूल्य लिया जाता है। इस प्रकार का मूल्य विभेद व्यक्तियों, विभिन्न व्यापारों अथवा एक ही समाज के विभिन्न क्षेत्रों या विभिन्न समाजों के सम्बन्ध में किया जा सकता है।"[2]

मूल्य विभेद विभिन्न दशाओं में उदय हो सकता है जिनको संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(१) विभिन्न विक्रयों की परिस्थितियां समान होते हुए भी विभिन्न मूल्य लिए जायें;—जैसे, एक सेर शक्कर का मूल्य एक व्यक्ति से १ रु० और दूसरे व्यक्ति से १$\frac{1}{4}$ रु० लिया जाये।

(२) विक्रय की परिस्थितियों में कुछ भिन्नता के साथ मूल्य विभेद, जैसे एक सेर शक्कर के लिए थोक बाजार में १२ आना मूल्य लेना और फुटकर बाजार में १४ आना लिया जाय।

(३) विभिन्न व्यवहारों के सम्बन्ध में मूल्य विभेद यद्यपि सर्वत्र समान मूल्य

1. "The act of selling to same article produced under a single control at different prices to different buyers is known as price discrimination."
—Mrs Joan Robinson ; Economics of Imperfect Competition

2. "But a characteristic of monopolistic competition is that different prices are charged for the different positions of supply of same commodity or service Such price discrimination may be in respect of different persons, different trades or different areas in the same community or in the different communities." —Prof. S. E. Thomas ; Elements of Economics.

लिये जाते हैं जैसे उत्पादन केन्द्र एवं एक दूरस्थ बाजार दोनों ही स्थानों में एक समान मूल्य लेना तथा तातायात व्यय की उपेक्षा कर देना।

(४) एक ही वस्तु की विभिन्न किस्मों के लिए अलग-अलग ग्राहकों से अलग अलग मूल्य लेना और यह मूल्य भेद विभिन्न किस्मों की उत्पादन लागतों के अन्तर अनुपात अ अधिक हो। जैसे एक सस्ती बीड़ी के निर्माण की लागत १० नये पैसे प्रति बंडल और एक मध्य श्रेणी के बीड़ी के निर्माण की लागत १२ न० पै० प्रति बण्डल हो सकती है। किन्तु इन दोनों किस्मों को क्रमशः १५ न० पै० व २० नए पैसे प्रति वण्डल के हिसाब से बेचा जा सकता है।

(५) अन्धा धुन्ध मूल्य विभेद उस दशा में होता है जबकि वस्तुएं विशेष आर्डरों के अनुसार बेची जाती हों, ताकि क्रेताओं को यह मालूम नहीं होने पाता कि उसी वस्तु के अन्य क्रेताओं से क्या मूल्य लिए जा रहे हैं।

मूल्य विभेद का निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—

मूल्य विभेद चार प्रकार

(१) क्रय के अनुसार
(२ क्रेता के निवास स्थान के अनुसार
(३) उपभोक्ता की आय के अनुसार
(४) समय और प्रयोग के अनुसा

प्रो० पीगू के अनुसार

(१) प्रथम श्रेणी का मूल्य विभेद
(२) द्वितीय श्रेणी का मूल्य विभेद
(३) तृतीय श्रेणी का मूल्य विभेद

मूल्य विभेद अर्थात्

एक ही उत्पादक द्वारा एक ही वस्तु को अलग अलग ग्राहकों को अलग अलग मूल्य पर बेचना।

(१) क्रय के अनुसार मूल्य विभेद, जैसे चाय का छोटा पैकिट लेने पर १) और वड़ा पैकिट लेने पर जो कि लगभग तिगुने आकार का ढाई रु० मूल्य लेना।

(२) क्रेता के निवास स्थान के अनुसार मूल्य विभेद, जैसे लम्बी यात्रा के यात्रियों से रेलवे द्वारा प्रति-मील कम दर और थोड़ी दूर के यात्रियों से प्रति मील अधिक दर से किराया होना।

(३) उपभोक्ताओं की आय के अनुसार मूल्य विभेद, जैसे एक डाक्टर द्वारा अपने गरीब मरीज से जांच करने के ४ रु० लेना और धनी मरीज से ८ रु० प्रति जांच फीस लेना।

(४) समय और प्रयोग के अनुसार मूल्य विभेद जैसे—बिजली कम्पनी द्वारा कारखानों के लिए एवं घरेलू कार्यों के लिये अलग अलग दरों पर बिजली बेच लेना।

[illegible] पीगू ने मूल्य विभेद का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(i) प्रथम [illegible] मूल्य विभेद :—इस श्रेणी के कीमत विभेद में प्रत्येक उपभोक्ता से वही

कीमत ली जाती है जो कि वह देने की सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत प्राप्त नहीं होती है। उदाहरण के लिए, डाक्टर और वकील प्रायः अपनी सेवाओं की विभिन्न उपभोक्ताओं से उनकी क्षमताओं के अनुसार फीस लेता है अथवा एक उपभोक्ता उनकी उतनी ही फीस देता है जिसके बराबर उनकी सेवाओं की उपयोगिता उसे प्रतीत होती है। इस प्रकार के मूल्य विभेद के पीछे एकाधिकारी की यह भावना रहती है कि उसे प्रत्येक उपभोक्ता से अधिकतम आय प्राप्त हो सके। (ii) द्वितीय श्रेणी का कीमत विभेद - इस श्रेणी के मूल्य विभेद में एकाधिकारी एक ही वस्तु की विभिन्न इकाईयों के लिये विभिन्न मूल्य एवं विभिन्न ग्राहकों के लिए विभिन्न मूल्य नियत करती है। ये विभिन्न मूल्य अधिकतम दर पर नहीं वरन् कुछ निम्न दरों पर रखे जाते हैं ताकि उपभोक्ताओं कुछ बचत रहे। इसका उदाहरण हमें रेलो मे प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के डिब्बो के विभाजन के रूप मे मिलता है। बसो मे भी लोअर और अपर क्लासों मे सर्विस का विभाजन द्वितीय श्रेणी के मूल्य विभेद का ही उदाहरण है। (iii) तृतीय श्रेणी का मूल्य विभेद— इस प्रकार का मूल्य विभेद वास्तविक जीवन मे बहुत पाया जाता है। इसके अन्तर्गत एकाधिकारी क्रेताओं को विभिन्न श्रेणियो या बाजारों में बांट देता है और प्रत्येक बाजार मे माग की लोच के अनुसार उनमें विभिन्न मूल्य चार्ज करता है।

मूल्य विभेद की सफलता के लिए आवश्यक बातें – यह तो प्रारम्भ से ही स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक ही वस्तु की सब इकाईयाँ समान होनी हैं वह उनको एक ही मूल्य पर बेचता जाता है। ग्राहकों की जानकारी से यह बात छिपी नही रह सकती कि अमुक विक्रेता मूल्य विभेद की नीति अपना रहा है। यदि एक ग्राहक को यह मालूम हो जाय कि उससे एक अन्य ग्राहक की अपेक्षा अधिक लिया जा रहा है, तो वह उस विक्रेता को छोड़कर अन्य विक्रेता से खरीदना प्रारम्भ कर देगा। विक्रेताओं के दृष्टिकोण से भी उपयोगिता के अन्तर्गत मूल्य विभेद सम्भव नही है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत किसी प्रकार बाजार को कई भागों मे बांट लिया जाय, तो भी मूल्य विभेद विद्यमान नहीं रह सकता। पूर्ण प्रतियोगिता में बाजार के प्रत्येक हिस्से में मांग वक्र पूर्णतः लोचदार होने के कारण प्रत्येक विक्रेता अपनी वस्तु बाजार के उस हिस्से में बेचने का प्रयास करेगा जहाँ कि उसे अच्छा मूल्य मिल सकता है। प्रत्येक विक्रेता द्वारा ऐसा ही प्रयत्न किया जाने से मूल्य प्रतिस्पर्धात्मक स्तर तक गिरने के लिये विवश हो जायेगी और फलस्वरूप सारे बाजार मे एक ही मूल्य प्रचलित हो जाएगा। लेकिन जब बाजार में कुछ अपूर्णता हो, तो कुछ सीमा तक वहाँ मूल्य विभेद किया जा सकता है। किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत भी कुछ शर्तों की पूर्ति होने पर ही मूल्य विभेद सफल हो सकता है। ये शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(१) मूल्य विभेद के सम्भव होने के लिये सबसे पहली आवश्यक शर्त यह है कि मूल्य विभेद करने वाला विक्रेता एक एकाधिकारी होना चाहिये। यदि एक से

मूल्य-विभेद कब सम्भव है ?

जब—

(१) विक्रेता एकाधिकारी हो।

(२) वस्तु के लिये दो या दो से अधिक बाजार या क्रेताओं के वर्ग हों।

(३) वस्तुओं का कम मूल्य के बाजार से अधिक मूल्य के बाजार में हस्तान्तरण करना सम्भव न हो।

प्रो० मेहता के अनुसार—

(१) वस्तु की मांग की लोच भिन्न-भिन्न होना।

(२) बाजार पृथक पृथक होना।

अधिक विक्रेता हैं (जैसे मान लीजिये कि बाजार में अल्पाधिकार की स्थिति है), प्रतिस्पर्धी फर्मों को एक समान समान मूल्य नीति अपनानी चाहिये।

(२) वस्तु के लिये दो या अधिक बाजार अथवा क्रेताओं के वर्ग होना चाहिये :—मूल्य विभेद की नीति भी अपनाई जा सकती हैं जब कि सम्बन्धित वस्तु या सेवा के लिये दो या अधिक बाजार अथवा क्रेताओं के वर्ग हो। विभिन्न बाजारों को वहाँ के क्रेताओं की मांग की लोच के आधार पर वर्गित किया जाता है। बेलोच मांग वाले क्रेता उन क्रेताओं की अपेक्षा अधिक मूल्य दे सकेंगे जिनकी मांग लोचदार है। उदाहरण के लिये, एक डाक्टर अपने धनी रोगियों से अधिक फीस वसूल कर सकता है, क्योंकि वे अधिक फीस देने में समर्थ होते हैं। अतः अपने रोगियों को उनकी भुगतान क्षमता के आधार पर विभिन्न वर्गों में बाँटकर और उनसे विभिन्न दरों पर फीस लेकर वह डाक्टर अपनी आय अधिकतम कर सकता है।

(३) वस्तुओं को कम मूल्य के बाजार में से अधिक मूल्य के बाजार को हस्तांतरित करना असम्भव नहीं होना चाहिये:—जो व्यक्ति कम मूल्य देकर वस्तु को खरीदते हैं उनके लिये उस वस्तु को उन व्यक्तियों को पुनः बेचना सम्भव नहीं होना चाहिये जिनसे एकाधिकारी अधिक मूल्य लिया करता है। दूसरे शब्दों में, वस्तु को कम मूल्य बाजार से अधिक मूल्य बाजार हटना सम्भव नहीं होना चाहिये। यदि क्रेताओं के लिये ऐसा पुनः विक्रय सम्भव होगा, तो एकाधिकारी आधिक मूल्य वाले बाजार में वस्तु बेचने नहीं पायेंगे। इसी प्रकार आधिक मूल्य वाले बाजार में वस्तु खरीदने वाले धनी क्रेता कम मूल्य वाले बाजार में न आने चाहिये। वस्तु बाजार में विभेद सम्भव बनाने के लिये उत्पादकों को ब्रान्ड व विशेष पैकिंग की युक्तियों का समुचित प्रयोग करना चाहिये ताकि एक ही वस्तु को भिन्न रूपों में बनाया जा सके।

मूल्य विभेद के लिये सबसे आवश्यक बात यह है कि एक वस्तु जिसका सस्ते मूल्य पर क्रय किया गया हो उसका दुबारा विक्रय करना सम्भव नहीं होना चाहिये प्रोफेसर स्टोनियर तथा हेग के शब्दों में—

"यदि मूल्य विभेद को सफल होना है तो यह आवश्यक है कि एकाधिकारी के

बाजार के विभिन्न खण्डों में ग्राहकों के बीच किसी भी प्रकार का संदेशवाहन असम्भव हो अथवा बहुत कठिन हो। टेक्नीकल भाषा में, यह कह सकते हैं कि विवेचनात्मक नीति बरतने वाले एकाधिकार के विभिन्न बाजारों के मध्य में 'सन्दर्भ के लिये' कोई सम्भावना नहीं रहनी चाहिये।"[1]

निम्न परिस्थितियों में क्रेताओं के बीच इस प्रकार का संदेश वाहन असम्भव या कठिन होता है - (१) जबकि उपभोक्ताओं को यह विश्वास हो कि वस्तु का जो मूल्य वह दे रहा है उस पर उसे अच्छी किस्म की वस्तु या सेवा मिल रही है। (२) उपभोक्ताओं को यह मालूम ही न हो कि उससे अन्य उपभोक्ता की अपेक्षा अधिक मूल्य लिया जा रहा है। (३) कभी-कभी मूल्य विभेद इतना मामूली होता है कि उपभोक्ता उस पर ध्यान देना उचित नहीं समझते हैं। (४) कुछ वस्तुओं की प्रकृति ही ऐसी होती है कि उन्हें पुनर्विक्रय नहीं किया जा सकता जैसे नाई की सेवायें। (५) जबकि दो बाजार बहुत दूर हों अथवा प्रशुल्क प्रतिबन्धों द्वारा एक दूसरे से अलग कर दिया गया हो, तो ऐसी दशा में एकाधिकारी यातायात व्यय अथवा प्रशुल्क दर की सीमा तक मूल्यों में भेद रख सकता है, क्योंकि ऐसी दशा में सस्ते मूल्य पर खरीदने वाले ग्राहकों के लिये खरीदी हुई वस्तु को महंगे बाजार में बेचने से कोई लाभ नहीं होगा और वे पुनर्विक्रय नहीं करेंगे।

इस प्रकार प्रोफेसर टामस के शब्दों में "मूल्य विभेद की सफलता की एक आवश्यक शर्त यह है कि एकाधिकारी की वस्तु या सेवा एक बाजार से दूसरे बाजार से विनिमय योग्य नहीं होनी चाहिये, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा, तो व्यक्ति सस्ते बाजार में खरीदकर महंगे बाजार में बेचना प्रारम्भ कर देंगे।"[2]

प्रोफेसर जे० के मेहता का अनुमान है कि मूल्य विभेद की सफलता दो बातों पर आधारित होती है :—(१) समाज के विभिन्न वर्गों में एकाधिकारी की वस्तु की *माँग की लोच विभिन्न होनी चाहिये।* (२) भिन्न भिन्न बाजारों को बिल्कुल पृथक-पृथक रखना सम्भव हो।"[3]

श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के मतानुसार—मूल्य विभेद की नीति अपूर्ण प्रतियोगिता की कुछ *विशेष अवस्थाओं में ही* सफल हो सकती है। जिस वस्तु का *बाजार जितना अपूर्ण* होता है, मूल्य विभेद का क्षेत्र भी उतना ही अधिक होता है।

मूल्य विभेद का सिद्धान्त—एकाधिकारी का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना है इसके लिये वह उस समय तक उत्पादन करता रहता है जब तक कि सीमांत

1 Storier and Hague : A Text Book of Economic Theory, p. 173.

2. "*It is an essential condition of price discrimination that the commodity or service sold should not be transferable from one market to another, for if this were possible, people would buy in the cheap market and sell in the dear one.*" —Dr. Thomas, Elements of Economics.

3. Prof. J. K. Mehta Lectures on Advanced Economic Theory.

लागत सीमांत आय के तुल्य नहीं हो जाती है। इस उत्पत्ति के लिये जो मूल्य निश्चित होता है उसे 'एकाधिकारी के मूल्य' कहते हैं। यहाँ मूल्य प्रत्येक उपभोक्ता से लिया जाता है किन्तु यहाँ पर हमें इस बात पर विचार करना है कि कब कोई एकाधिकारी अपने विभिन्न बाजारों में मूल्य विभेद करना चाहता है? इसका उत्तर श्रीमती राबिन्सन ने निम्न शब्दों में दिया है :—

"यदि एक एकाधिकारी के लिए एक ही प्रकार की वस्तु को विभिन्न बाजारों में बेचना सम्भव है, तो यह स्पष्ट रूप से उसके हित में होगा कि वह विभिन्न बाजारों में विभिन्न मूल्य रखे किन्तु शर्त यह है कि उन विभिन्न बाजारों में माँग की लोच समान न हो। यदि वह एक ही मूल्य प्रत्येक बाजार में रखता है तो उसे मालूम होगा कि उस मूल्य पर प्रत्येक बाजार में बेची गई कुछ अधिक उत्पत्ति की मात्रा से प्राप्त होने वाली सीमान्त आय कुछ बाजारों में अन्य बाजारों की अपेक्षा अधिक है। अतः वह उन बाजारों में कम बेचकर जिनमें कि माँग की लोच और सीमान्त आय कम है और उन बाजारों में अधिक बेचकर जिनमें कि माँग की लोच तथा सीमान्त आय दोनों ही अधिक हैं अपने लाभ में वृद्धि कर सकता है। इस कारण वह अपनी बिक्री को इस प्रकार व्यवस्थित करेगा कि अतिरिक्त उत्पत्ति की मात्रा को किसी भी बाजार में बेचने पर प्रत्येक में सीमान्त आय वही रहे।"

अन्त में श्रीमती राबिन्सन कहती हैं कि, 'एकाधिकारी के लाभ उस समय अधिकतम होंगे जिस समय प्रत्येक बाजार की सीमान्त आय कुल उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होती है।'[1] इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

मान लीजिये कि आन्तरिक बाजार में १६) और विदेशी बाजार में २०) प्रति मन गेहूं की सीमान्त आय है। यदि आन्तरिक बाजार में से १ मन गेहूं हटाकर विदेशी बाजार में भेज दिया जाय। तो कुल आय में ४) की वृद्धि होगी, क्योंकि फर्म को १६) के स्थान में, अब २०) प्राप्त होंगे। आन्तरिक बाजार में से गेहूँ हटाकर विदेशी बाजार में पहुँचाने से आन्तरिक बाजार में मूल्य बढ़ने लगेगा और इसके फलस्वरूप वहाँ सीमांत आय में वृद्धि हो जायगी।
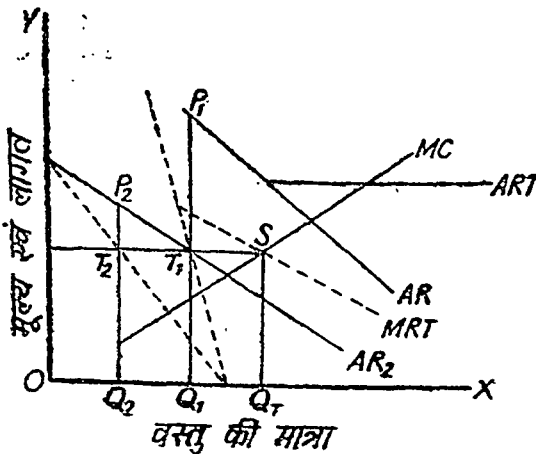
चित्र—९

1. "And his profits will be at a maximum when the marginal revenue in ...ct is equal to the marginal cost of the whole output."
—Mrs. Joan Robinson : Economics of Imperfect Competition, p. 181.

किन्तु साथ ही विदेशी बाजार मे मूल्य गिरने लगेगा और वहा की सीमान्त आय भी घटने लगेगी अन्त मे एक अवस्था ऐसी आ जायेगी जबकि दोनो बाजारो मे प्राप्त होने वाली सीमान्त आय बराबर हो जायेगी। ऐसी अवस्था आने पर गेहू का उक्त प्रकार से स्थानान्तर करना भी लाभदायक न रहेगा। मूल्य विभेद की टेकनीक यह है कि एकाधिकारी इन विभिन्न बाजारों मे इतनी मात्राओ मे विक्रय करे कि कुल उत्पादन की सीमान्त लागत विभिन्न बाजारों की सीमान्त आयों के जोड के बराबर हो। इस बात को निम्न चित्र की सहायता से अच्छी तरह समझाया जा सकता है.—

आन्तरिक बाजार	विदेशी बाजार	संकेत विवरण
OQ_1	OQ_2	बाजार मे बेची गई मात्रा
P_1Q_1	P_2Q_2	बाजार मे मूल्य
AR_1	AR_2	मांग वक्र
MR_1	MR_2	सीमान्त आय वक्र

चित्र मे दोनों बाजारो मे बेची गई कुल OQT है। दोनो बाजारों का सम्मिलन मांग वक्र ART और सम्मिलन सीमान्त आय वक्र MRT है। चूंकि मूल्य विभेद का उद्देश्य एकाधिकारी शुद्ध आय को अधिकतम करना है और चू कि ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जबकि उत्पादन की सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर हो, इसलिये OQT उस बिन्दु पर निर्धारित हो जाती है जहां कि MC कुल सीमान्त आय वक्र MRT को काटता है। इस बिन्दु (S) से Y-axis पर लम्बवत् RS रेखा खींचने से पृथक-पृथक बाजारों के सीमान्त मांग वक्रों की कुल सीमान्त लागत के साथ समानता मालूम हो जायगी। (देखिये - S_1 T_2 और T_1 तीनो बराबर है) T_1 और T_2 बिन्दुओं से लम्ब खींचकर X-axis और मांग वक्रो को मिलाने से हमें एकाधिकारी द्वारा विभिन्न बाजारो मे बेची गई मात्रा तथा लिया गया मूल्य मालूम हो जाता है।

मूल्य विभेद की नीति के परिणाम :—जब मूल्य विभेद की नीति अपनाई जाती है, तो उसके निम्न प्रभाव होते हैं :—

(१) एक वस्तु के कई मूल्यों का प्रचलन:—मूल्य विभेद के अन्तर्गत बाजारों मे वस्तु या सेवा के लिये एक अकेला मूल्य प्रचलित होने के स्थान मे कई मूल्य चालू होते हैं तथा एक क्रेता उस मूल्य से कम पर वह वस्तु या सेवा नही खरीद सकता है जो कि उसके लिये एकाधिकारी ने निर्धारित कर दिया है।

मूल्य विभेद के प्रभाव
(१) एक वस्तु के अनेक मूल्यों का प्रचलन
(२) एक विशुद्ध एकाधिकारी की अपेक्षा अधिक लाभ
(३) कुल उत्पादन में वृद्धि और
(४) विक्रेता को एकाधिकारी शक्ति में वृद्धि

(२) एक विशुद्ध एकाधिकारी की अपेक्षा अधिक लाभ :—विभेदात्मक मूल्य नीति को अपनाने वाले एकाधिकारी को एक विशुद्ध एकाधिकारी की

तुलना में अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है। यही कारण है कि एक एकाधिकारी सदैव विभेदात्मक मूल्य रखने की चेष्टा करता है।

(३) कुल उत्पत्ति में वृद्धि :—मूल्य विभेद की नीति के अन्तर्गत कुल उत्पत्ति का आकार एक विशुद्ध एकाधिकारी के उत्पादन की अपेक्षा प्रायः अधिक होता है।

(४) एकाधिकारिक शक्ति में वृद्धि :—कुछ प्रकार के मूल्य विभेद ऐसे होते हैं कि उन्हें अपनाने से एकाधिकारी की शक्ति में वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिये राशिपातन की नीति के द्वारा देश-विदेश के प्रतिस्पर्धियों को समाप्त करके एकाधिकारिक शक्ति में वृद्धि हो जाती है। मूल्य विभेद की नीति उपभोक्ता व समाज के लिये कहाँ तक लाभदायक है ?

वर्तमान युग 'जनतन्त्र का युग' है। इस युग में समानता को उच्च स्थान दिया जाता है और किसी भी प्रकार के भेदभाव को बुरा समझा जाता है। अतः मूल्य विभेद, जो कि भेदभाव के आधार पर अपनाई गई नीति है, सम्भवतः जनता को पसन्द न आये। वास्तव में बीते हुये समय में मूल्य विभेद के कुछ दुष्परिणाम भी देखने को मिले हैं। वित्तीय रूप से सुदृढ़ कम्पनियों ने बाजारों में अत्यन्त कम मूल्य लेकर छोटी एवं दुर्बल कम्पनियों को खदेड़ने की कोशिश की है और इस प्रकार कम मूल्य लेने से हुई अपनी हानि को उन क्षेत्रों में अधिक मूल्य लेकर पूरी की है। जहाँ उन्हें एकाधिकारी प्राप्त था। एक साधारण व्यक्ति इस सन्दर्भ में मूल्य विभेद को सदा ही बुरा समझने लगा है। किन्तु वास्तव में सभी दशाओं में मूल्य विभेद का उद्देश्य एकाधिकारिक शक्ति में वृद्धि करना नहीं होता है। मूल्य विभेद उचित है या अनुचित इसका उत्तर तो इस बात पर निर्भर करेगा कि मूल्य विभेद उपभोक्ताओं और समाज के लिये लाभदायक है अथवा हानिकारक। इसके लिये हमें अग्र बातों पर विचार करना चाहिये :—

(१) कुछ दशाओं में उत्पादन मूल्य विभेद के अन्तर्गत ही सम्भव है:—चूंकि सरल एकाधिकारी की तुलना में विभेदात्मक एकाधिकारी के अन्तर्गत औसत आय अधिक आय होती है, इसलिये ऐसी परिस्थितियाँ प्रस्तुत हो सकती हैं, जिनमें मूल्य विभेद की नीति को अपनाये बिना कोई उत्पादन सम्भव न होगा। यदि किसी वस्तु या सेवा का औसत लागत वक्र उस वस्तु या सेवा के माँग वक्र से ऊंचा है, तो ऐसी वस्तु या सेवा को एक मूल्य नीति के अन्त- लाभ पर उत्पन्न नहीं किया जा ।। किन्तु, यदि लागत वक्र भले

मूल्य-विभेद कब लाभदायक होता है ?

(१) जब उत्पादन मूल्य-विभेद के अन्तर्गत ही सम्भव हो और विक्रेता समाज के दृष्टिकोण से उचित लाभ लेता हो।

(२) जब निर्धन उपभोक्ताओं से कम मूल्य लिया जाता हो।

(३) राशिपातन के अन्तर्गत उत्पत्ति

ही उसका अधिकार भाग माँग वक्र के ऊपर रहे, का कुछ भाग मूल्य विभेद के अन्तर्गत किसी बिन्दु पर माँग वक्र के नीचे आ सके तो कुछ उत्पत्ति लाभ पर करना सम्भव हो जायेगा। बिना

बढ़ा कर लागत कम की जा सकती हो।
(४) उत्पत्ति की वृद्धि होती हो और साधनों का कुवितरण नहीं होता हो।

मूल्य विभेद के ऐसा उत्पादन करना सम्भव नही हो सकता था। उदाहरण के लिये यदि मूल्यों में भेद-भाव बरतना सम्भव न होता तो एक डाक्टर समुचित रूप से प्रैक्टिस नही कर सकता था। ऐसी दशाओं में मूल्य विभेद उपभोक्ताओं एव समाज के लिए लाभकारी है, क्योंकि एकाधिकार की औसत आय उपभोक्ताओं को मिलने वाली औसत उपयोगिता से अधिक नही हो सकती है। यदि औसत आय औसत लागत से अधिक भी है तो औसत उपयोगिता भी अधिक होगी तथा विनियोग करने से समाज को लाभ होगा। किन्तु समाज की दृष्टि से एक ऐसी संस्था द्वारा मूल्य विभेद किया जाना लाभप्रद नही होगा, जिसमें भूतकाल मे बहुत दीर्घकालीन विनियोग किया जा चुका है और जो यह अनुभव करती है कि, माग मे कमी होने के कारण, मूल्य विभेद सम्भव होने पर ही सामान्य लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं।

(२) गरीब उपभोक्ता के प्रति मूल्य कम रखे जाने से कुल पर समाज लाभान्वित होता है:—एक सरल एकाधिकारी की तुलना मे विभेदात्मक एकाधिकारी इस दृष्टि से अनुचित कहा जा सकता है कि यह उन क्रेताओं के लिये लाभप्रद है जिनके लिये मूल्य कम रखा गया है और उनके लिये हानिकारक है जिनके लिये यह अधिक रखा गया है। किन्तु सामान्यतः कम मूल्य गरीब वर्ग के लोगो के लिये रखे जाते हैं जबकि धनिकों से अधिक मूल्य वसूल किये जाते हैं। यदि ऐसा है तो कुल पर समाज को मूल्य विभेद से लाभ ही होगा, क्योंकि मूल्य विभेद से गरीबों को होने वाला लाभ धनिकों को होने वाली हानि की अपेक्षा अधिक होता है। इस तर्क को तब अधिक बल मिलता है जब हम यह विचार करें कि यदि एकाधिकारी ने सभी ग्राहको से ऊँचे मूल्य चार्ज किये होते, तो गरीब व्यक्ति को उस वस्तु या सेवा के उपभोग से वंचित ही रहना पड़ता।

(३) राशिपातन के अन्तर्गत उत्पत्ति को वृद्धि सस्ती कीमत पर करना सम्भव होता है :—मूल्य विभेद के विरुद्ध एक तर्क यह दिखाया जाता है कि एकाधिकारी देशी बाजार मे अधिक मूल्य और विदेशी बाजार में कम मूल्य रखने के लिये प्रेरित हो सकता है। वास्तव मे गम्भीरता से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि एक सीमा तक एक लाभप्रद भी प्रमाणित हो सकता है। मान लीजिये कि एक एकाधिकारी उद्योग पर उत्पादन वृद्धि अथवा घटती हुई लागत का नियम क्रियाशील है। विदेशी बाजार के अभाव मे, एकाधिकारी केवल थोड़ी मात्रा में ही उत्पत्ति करेगा और देशी बाजार में बेच सकेगा तथा इसकी उत्पादन लागत आवश्यक रूप से अधिक होगी, लेकिन जब उसके पास विदेशी बाजार भी हो, तो वह देशी बाजार

के लिये सम्पूर्ण उत्पत्ति कम मूल्य पर ही उत्पन्न कर सकेगा, अतः देशी बाजार में अब वह जो मूल्य लेगा वह पहले की अपेक्षा आवश्यक रूप से कम होगा। इस प्रकार राशिपातन भी आर्थिक दृष्टिकोण से उचित प्रमाणित हो सकता है।

(४) **उत्पादन वृद्धि की सीमा तक लाभदायक है किन्तु साधनों के कुवितरण की दृष्टि से हानिप्रद है**:—एक सादे एकाधिकारी की अपेक्षा जब मूल्य विभेद द्वारा अधिक उत्पादन किया जा सकता है, तो यह समाज के लिये लाभप्रद है, क्योंकि अधिक उत्पादन होने का अर्थ है अधिक आर्थिक कल्याण। लेकिन साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि मूल्य विभेद के अन्तर्गत उत्पत्ति को सीमित रखा जाता है और इसी कारण विभिन्न प्रयोगों में साधनों के कुवितरण की जटिल समस्या उठ खड़ी होती है। इस दृष्टि से मूल्य विभेद को उचित नहीं ठहराया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल्य-विभेद एक व्यवहारिक आर्थिक नीति है और कुछ विशेष दशाओं में ही सम्भव और लाभदायक है। किसी देश के लिये यह वांछनीय है या अवांछनीय, यह उन उद्देश्यों और कार्यक्रमों पर निर्भर करता है, जिन्हें कि वे अपनाये। निरपेक्ष रूप से वह एक आर्थिक तथ्य है और उसकी वांछनीयता उसके उद्देश्य पर निर्भर करती है।

———

अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य

(*Value Under Imperfect Competition*)

Q. Distinguist perfect and imperfect competition. How value is determined under imperfect competition.

(Vikram 1966 M. A. Agra 1960 & 1964 M. Com., Agra 1955 M.A.)

पूर्ण और अपूर्ण प्रतियोगिता मे भेद कीजिये । अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ?

(विक्रम १९६६ एम० ए०, आगरा १९६० एम० काम० व १९६४, आगरा १९५१, १९५५ एम० ए०)

Q. What are the elements which make competition imperfect ? Briefly point out the difference between Mrs. Joan Robinson's and Prof. Chamberlin's views on this point. (Raj. 1959 M. A.)

अपूर्ण प्रतियोगिता के तत्व कौन से हैं ? इस विषय पर श्रीमती जोन राबिनसन और प्रो० चेम्बरलीन के विचारों का अन्तर संक्षेप में स्पष्ट कीजिये ।

(राज० १९५९ एम० ए०)

Q. How are prices determined under conditions of imperfect competition. (Agra, Vikram M. A. 1958)

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ?

(आगरा, विक्रम १९५८ एम० ए०)

Q. Explain the concept of imperfect competition. How is value determiend under it ? Will the out put of a firm under imperfect competition be smaller than under perfect competition ?

(Indore 1966 M. A.)

अपूर्ण प्रतियोगिता का प्रत्यय समझाइये । उस दशा में मूल्य कैसे निर्धारित होता है क्या अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म का उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में काम होता है ? (इन्दौर १९६६ एम० काम०)

Q. What is imperfect competition ? How the value of a commodity is determined under it ? (Indore 1965 M. A.)

अपूर्ण प्रतियोगिता क्या है ? उसके अन्तर्गत वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? (इन्दौर १९६५ एम० ए०)

के लिये सम्पूर्ण उत्पत्ति कम मूल्य पर ही उत्पन्न कर सकेगा, अतः देशी बाजार में अब वह जो मूल्य लेगा वह पहले की अपेक्षा आवश्यक रूप से कम होगा। इस प्रकार राशिपातन भी आर्थिक दृष्टिकोण से उचित प्रमाणित हो सकता है।

(४) उत्पादन वृद्धि की सीमा तक लाभदायक है किन्तु साधनों के कुवितरण की दृष्टि से हानिप्रद है:—एक सादे एकाधिकारी की अपेक्षा जब मूल्य विभेद द्वारा अधिक उत्पादन किया जा सकता है, तो यह समाज के लिये लाभप्रद है, क्योंकि अधिक उत्पादन होने का अर्थ है अधिक आर्थिक कल्याण। लेकिन साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि मूल्य विभेद के अन्तर्गत उत्पत्ति को सीमित रखा जाता है और इसी कारण विभिन्न प्रयोगों में साधनों के कुवितरण की जटिल समस्या उठ खड़ी होती है। इस दृष्टि से मूल्य विभेद को उचित नहीं ठहराया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल्य-विभेद एक व्यवहारिक आर्थिक नीति है और कुछ विशेष दशाओं में ही सम्भव और लाभदायक है। किसी देश के लिये यह वांछनीय है या अवांछनीय, यह उन उद्देश्यों और कार्यक्रमों पर निर्भर करता है जिन्हें कि वे अपनाये। निरपेक्ष रूप से वह एक आर्थिक तथ्य है और उसकी वांछनीयता उसके उद्देश्य पर निर्भर करती है।

———

ने अपने ख्याति प्राप्त लेख द्वारा ध्यान आकर्षित न किया। इस लेख का शीर्षक था The Laws of Returns under Comperative Conditions. और यह दिसम्बर १९२६ के Economic Journal मे प्रकाशित हुआ था। इस लेख मे विद्वान लेखक ने पूर्ण प्रतियोगिता एवं पूर्ण एकाधिकार के परम्परावादी विचारो के विरुद्ध सावधानी का बिगुल बजाया और यह बताया कि विभिन्न उद्योगों मे वास्तविक परिस्थितियों का अध्ययन करने में उक्त दोनों की त्रुटिपूर्ण मान्यताओं मे कोई सुविधा नहीं होती है, क्योंकि वास्तविक संसार मे उद्योग न तो पूर्ण प्रतियोगिता मे सगत रखते हैं और न पूर्ण एकाधिकार से वरन् इनके मध्यवर्ती क्षेत्र से अपूर्ण प्रतियोगिता सम्बन्धित है। अत. उसने अर्थशास्त्रियों से यह अनुरोध किया कि वे परम्परावादी मान्यताओं को छोड़कर वास्तविक परिस्थिति के अनुसार, जो कि अपूर्ण प्रतियोगिता मे निहित है। आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन करें।[1]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अपूर्ण प्रतियोगिता ही वास्तविक जीवन में विद्यमान होती है। प्रतिस्पर्धा की अपूर्णता का कारण उन शर्तों मे से किसी एक या दोनों का ही विद्यमान न होना है जो कि पूर्ण प्रतियोगिता के लिये आवश्यक बनाई गई है। यह सम्भव है कि बाजार मे किसी वस्तु के अनेक क्रेता एवं विक्रेता विद्यमान हों लेकिन पूर्ण बाजार तो बिल्कुल ही विद्यमान नहीं होता। अतः अन्य शब्दों में अपूर्ण प्रतियोगिता एकाधिकार एवं पूर्ण प्रतियोगिता दोनों के मध्य की स्थिति है। प्रोफेसर जे० के० मेहता ने भी लिखा है—

"अब यह बात भली प्रकार प्रत्यक्ष हो गई है कि विनिमय की प्रत्येक स्थिति वह स्थिति है जिसे अपूर्ण एकाधिकार की स्थिति कहा जा सकता है और आंशिक एकाधिकार को यदि दूसरी ओर से देखा जाये, तो यह अपूर्ण प्रतियोगिता की ही स्थिति है।

वास्तव मे पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार इन तीनों में प्रमुख अन्तर केवल अश का है। यदि किसी वस्तु को बेचने वाले थोड़े हों, तो अपूर्ण प्रतियोगिता और अनेक बेचने वाले हों, तो पूर्ण प्रतियोगिता कही जायगी। विक्रेताओं की संख्या के आधार पर इस प्रकार भेद करने का तरीका वैज्ञानिक नहीं है। एक दूसरा तरीका इनमे भेद करने का स्पर्धा के आधार पर है। यदि बाजार में क्रेताओं और विक्रेताओं में स्पर्धा नहीं है तो एकाधिकार, स्पर्धा बहुत अधिक है

1. "Of course! when we are supplied with theories in respect of the two extreme cases of monopoly and competition as part of the equipment required in order to undertake the study of the actual conditions in the different industries, we are warned that these generally do not fit exactly one or other of the categories, but will be found scattered along the intermediate zones, and that the nature of an industry will approximate more closely to the monopolistic or the comperative system according to its particular circumstances."

—Piero Sraffa.

उत्तर- पूर्ण प्रतियोगिता के विचार का बहुत समय तक आर्थिक सिद्धान्तों के अध्ययन में महत्व रहा है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सभी सिद्धान्तों में इसकी झलक दिखाई देती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इस विचार को इतना सुविधाजनक पाया कि वे इस सीमा तक अपनाने लग गये कि उनके सिद्धान्त यथार्थवादी न रहकर काल्पनिक बन गये। उनकी इस मान्यता के कारण ही उनके सिद्धान्तों की बाद के अर्थशास्त्रियों ने कटु आलोचना की। पूर्ण प्रतियोगिता सम्बन्धी परम्परावादी मान्यता की जो कि वास्तविक विश्व में शायद ही विद्यमान पाई जाय, निम्न दो शर्तें है : (१) इसके अन्तर्गत इतनी अधिक संख्या में उत्पादक पाये जाते हैं कि यदि उनमें से किसी की भी उपज की मात्रा में कुछ परिवर्तन हो जायें तो उसका वस्तु की सम्पूर्ण उत्पत्ति पर नगण्य प्रभाव पड़ता है (२) पूर्ण प्रतियोगिता होने के लिये यह भी आवश्यक है कि एक पूर्ण बाजार (Perfect Market) होना चाहिये। बहुत सम्भव है कि पहली शर्त अर्थात् बहुत अधिक संख्या में विक्रेता होने वाली शर्त प्रायः पूरी हो जाय लेकिन एक पूर्ण बाजार की विद्यमानता वाली शर्त वास्तविक ससार मे पूरी होना बहुत ही कठिन है। इसका कारण यह है कि पूर्ण बाजार का विचार इस मान्यता पर आधारित है कि सभी ग्राहक विभिन्न विक्रेताओ द्वारा चार्ज किये जाने वाले विभिन्न मूल्यों के अन्तर के प्रति एक समान प्रतिक्रिया दिखलाते है और जो विक्रेता सस्ते मूल्य पर बेच रहे हैं उनका ही माल बाजार में सबसे पहले बिकता है किन्तु वास्तविक ससार में ऐसा नहीं होता। जिन मूल्यों पर विभिन्न उत्पादक अपनी वस्तुयें बेच रहे हैं उनके अतिरिक्त भी अनेक बातें ग्राहकों द्वारा विचार में रखी जाती है। कोई ग्राहक सभी विक्रेता से तेज मूल्य पर ही क्यों खरीदने को तैयार हो जाता है और ये कारण विभिन्न ग्राहकों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। अज्ञानता एक ऐसा कारण है जो कि प्रत्येक ग्राहक को एक विक्रेता से दूसरे विक्रेता के पास, उनके मूल्यों में अन्तर होने पर भी, जाने से रोकता है। इसके अतिरिक्त, यातायात व्यय, किस्म सम्बन्धी गारन्टी, विभिन्न विक्रेताओं द्वारा प्रदान की गई सेवायें, विक्रय चातुर्य एवं विज्ञापन आदि अन्य बातें हैं जो कि ग्राहकों को प्रभावित करती है। प्रतिद्वन्द्वी उत्पादक इन बातों के द्वारा ग्राहकों को अपने पक्ष में प्रभावित करने के लिये भरसक चेष्टा करते हैं ताकि वे ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। इन परिस्थितियों में पूर्ण बाजार की विद्यमानता असम्भव हो जाती है। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता एक यथार्थता न होकर कल्पना की चीज रह जाती है।

जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा का विचार बहुत प्राचीन है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का विचार आर्थिक सिद्धान्तों के लिए एक नवीन बात है। अभी तक आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन या तो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत किया जाता था अथवा पूर्ण एकाधिकार के अन्तर्गत। लेकिन ये दोनों ही दशायें वास्तविक संसार से मेल नहीं रखती हैं। अर्थशास्त्रियों ने इन दोनों सीमाओं के बीच में विद्यमान एक व्यापक क्षेत्र पर तब तक बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया जब तक कि इस ओर पियरो सराफा ने सन् १९२६

ने अपने ख्याति प्राप्त लेख द्वारा ध्यान आकर्षित न किया। इस लेख का शीर्षक था The Laws of Returns under Comperative Conditions. और यह दिसम्बर १९२६ के Economic Journal मे प्रकाशित हुआ था। इस लेख में विद्वान लेखक ने पूर्ण प्रतियोगिता एवं पूर्ण एकाधिकार के परम्परावादी विचारों के विरुद्ध सावधानी का बिगुल बजाया और यह बताया कि विभिन्न उद्योगो में वास्तविक परिस्थितियों का अध्ययन करने मे उक्त दोनों की त्रुटिपूर्ण मान्यताओ से कोई सुविधा नही होती है, क्योंकि वास्तविक संसार मे उद्योग न तो पूर्ण प्रतियोगिता से सगत रखते हैं और न पूर्ण एकाधिकार से वरन् इनके मध्यवर्ती क्षेत्र से अपूर्ण प्रतियोगिता सम्बन्धित है। अतः उसने अर्थशास्त्रियों से यह अनुरोध किया कि वे परम्परावादी मान्यताओं को छोड़कर वास्तविक परिस्थिति के अनुसार, जो कि अपूर्ण प्रतियोगिता में निहित है। आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन करें।[1]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अपूर्ण प्रतियोगिता ही वास्तविक जीवन में विद्यमान होती है। प्रतिस्पर्धा की अपूर्णता का कारण उन शर्तों मे से किसी एक या दोनों का ही विद्यमान न होना है जो कि पूर्ण प्रतियोगिता के लिये आवश्यक बनाई गई है। यह सम्भव है कि बाजार में किसी वस्तु के अनेक क्रेता एवं विक्रेता विद्यमान हो लेकिन पूर्ण बाजार तो बिल्कुल ही विद्यमान नही होता। अतः अन्य शब्दों मे अपूर्ण प्रतियोगिता एकाधिकार एवं पूर्ण प्रतियोगिता दोनो के मध्य की स्थिति है। प्रोफेसर जे० के० मेहता ने भी लिखा है—

"अब यह बात भली प्रकार प्रत्यक्ष हो गई है कि विनिमय की प्रत्येक स्थिति वह स्थिति है जिसे अपूर्ण एकाधिकार की स्थिति कहा जा सकता है और आंशिक एकाधिकार को यदि दूसरी ओर से देखा जाये, तो वह अपूर्ण प्रतियोगिता की ही स्थिति है।

वास्तव मे पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार इन तीनों में प्रमुख अन्तर केवल अंश का है। यदि किसी वस्तु को बेचने वाले थोड़े हों, तो अपूर्ण प्रतियोगिता और अनेक बेचने वाले हों, तो पूर्ण प्रतियोगिता कही जायगी। विक्रेताओं की संख्या के आधार पर इस प्रकार भेद करने का तरीका वैज्ञानिक नही है। एक दूसरा तरीका इनमें भेद करने का स्पर्धा के आधार पर है। यदि बाजार मे क्रेताओं और विक्रेताओं में स्पर्धा नहीं है तो एकाधिकार, स्पर्धा बहुत अधिक है

1. "Of course ! when we are supplied with theories in respect of the two extreme cases of monopoly and competition as part of the equipment required in order to undertake the study of the actual conditions in the different industries, we are warned that these generally do not fit exactly one or other of the categories, but will be found scattered along the intermediate zones, and that the nature of an industry will approximate more closely to the monopolistic or the comperative system according to its particular circumstances."

—Piero Sraffa.

तो पूर्ण प्रतियोगिता और इससे कम है तो अपूर्ण प्रतियोगिता कही जा सकती है। किन्तु इन दोनों तरीकों से भी अधिक श्रेष्ठ तरीका इनमें मांग की लोच के आधार पर भेद करना है। यदि किसी उत्पादक की मांग ऐसी है कि वस्तु के मूल्य में परिवर्तन करके कम या अधिक क्रेताओं को आकर्षित नहीं किया जा सकता तो ऐसी स्थिति को एकाधिकार कहा जायेगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रतियोगिता नहीं होती तथा मांग वक्र खड़ाकार होता है अर्थात् मांग की लोच शून्य होती है। इसके विपरीत, यदि किसी उत्पादक की वस्तु की मांग ऐसी हो कि उसके मूल्य में जरा सी कमी या वृद्धि करने से उसकी मांग में अपरिमित मात्रा में वृद्धि या कमी हो जाती है तो इसे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति कहते हैं। ऐसी दशा में मांग पूर्ण लोचदार होती है और मांग वक्र का आकार क्षितिज के समानान्तर होता है ये दोनों स्थितियां शायद ही कभी विद्यमान हों। वास्तव में एक मध्यवर्ती स्थिति ही विद्यमान पाई जाती है। इस दशा में वस्तु की मांग अधिक लोचदार नहीं होती और मांग वक्र का आकार भी ऊपर से नीचे गिरता हुआ होता है। यह स्थिति अपूर्ण प्रतियोगिता कहलाती है। इस प्रकार वास्तविक जगत में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति पाई जाती है। वस्तु के अनेक क्रेता विक्रेता होते हैं और ये विक्रेता अपने-अपने तरीके से अपनी अधिक वस्तुयें बेचने की कोशिश करते हैं। जिनसे कभी-कभी घटिया वस्तु को बढ़िया की अपेक्षा अधिक महत्व मिल जाता है। ऐसी दशा में प्रत्येक विक्रेता का अपना अलग मांग वक्र होता है, किन्तु इसका आकार उसके ग्राहकों के स्वभाव और वस्तु के मूल्य पर निर्भर करेगा। यदि ग्राहक स्थायी स्वभाव के हैं, तो विक्रेता का मांग वक्र बेलोच प्रकृति का होगा और ग्राहक स्थिर स्वभाव के नहीं है तो वह लोचदार प्रकृति का होगा।

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य का निर्धारण

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण की टेकनीक वही है जो कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होती है, जिसमें मूल्य का निर्धारण सीमांत आय और सीमांत लागत के आधार पर होता है। अपूर्ण प्रतियोगिता में भी किसी फर्म को साम्य की अवस्था में तभी माना जाता है जबकि वह वस्तु की उतनी ही मात्रा उत्पन्न करे जितनी पर उत्पत्ति की सीमांत आय सीमांत लागत के बराबर हो जाय। उत्पत्ति की इस आदर्श मात्रा पर मांग वक्र की ऊंचाई उस मूल्य की ओर इशारा करती है जो कि वह फर्म अपनी वस्तु के लिये लेगी। इस मूल्य से नीचे या ऊपर जितने भी मूल्य होते हैं वे अल्प कालीन और अस्थाई होते हैं, क्योंकि जो मूल्य होते हैं वे अल्प कालीन और अस्थाई होते हैं, क्योंकि मूल्य में कमी करने या वृद्धि करने पर उत्पादक को उत्पत्ति की मात्रा में भी वृद्धि या कमी करनी पड़ती है जिससे उसका कुल लाभ म हो जाता है अथवा उसे हानि भोगनी पड़ती है। अतः कोई भी फर्म इस आदर्श

मूल्य से पीछे या आगे नहीं हटेगा। यदि परिस्थिति वश वह ऐसा करने के लिये विवश हो जाय, तो बहुत जल्द आदर्श स्थिति पर लौटने का यत्न करेगी।

किन्तु पूर्ण प्रतियोगिता की एक ऐसी विशेपता है जो कि अपूर्ण प्रतियोगिता में नही पाई जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साम्य की स्थिति में (जब कि उत्पत्ति की मात्रा आदर्श होती है) औसत आय भी सीमांत आय के तुल्य ही होती है (क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता में मांग वक्र पूर्ण लोचदार होता है), किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता मे मांग वक्र पूर्ण लोचदार नही होता है, इसलिये सीमांत आय वक्र उत्पत्ति की आदर्श मात्रा तक नही पहुंचने पाता, अतः अपूर्ण प्रतियोगिता मे केवल सीमात लागत और सीमांत आय ही एक दूसरे के बराबर होती हैं। यह बात निम्न चित्रों मे स्पष्ट की गई है।

बरावर मे दिये चित्र मे OQ उत्पत्ति की आदर्श मात्रा है और PQ वस्तु का मूल्य है जो कि फर्म चार्ज करेगी। जब उत्पत्ति की मात्रा OQ है, तो सीमात लागत MC और सीमात आय MR बराबर होती है इसके अतिरिक्त, इस स्थल पर औसत आय AR भी सीमांत लागत के बराबर होती है। यह पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति है। यह विशेपता अपूर्ण प्रतियोगिता मे नही पाई जाती है।
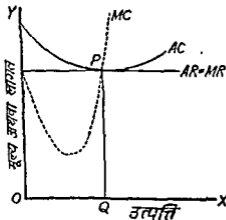
चित्र—१ पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य निर्धारण

बरावर में दिए चित्र में OQ उत्पत्ति की आदर्श मात्रा है और ARSO क्षेत्र अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होने वाला लाभ सूचित करता है। अपूर्ण प्रतियोगिता मे वस्तु का मूल्य मांग वक्र के द्वारा निर्धारित होता है। QP रेखा को सीमान्त लागत वक्र एवं सीमान्त आय वक्र काटते हैं इस स्थिति में उत्पादक को जो लाभ होता है वह पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे नहीं

चित्र २—अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य का संतुलन

सीमांत आय, औसत लागत और सीमांत लागत पूर्ण प्रतियोगिता में एक ही होते हैं। अतः फर्म अपना उत्पादन लागत-वक्रों के आधार पर निश्चित करती है। किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे प्रत्येक फर्म का बाजार की स्थिति मे एक विशेष स्थान होता है। बाजार मे मूल्य भी विभिन्न हो सकते हैं और प्रत्येक फर्म की संस्थिति भिन्न होती है। ऐसी दशा मे उत्पादन उस बिंदु तक बढ़ाया जा सकता है, जहा पर सीमांत लागत सीमांत आय के बराबर होती है। अतः यह कहना कठिन है कि अपूर्ण प्रतियोगिता और पूर्ण प्रतियोगिता मे से किस दशा में फर्म का उत्पादन कम होगा ? किन्तु सामान्यत. एक फर्म का पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा अपूर्ण प्रतियोगिता में उत्पादन कम होता है ?

Q. Distinguish between Duopoly and Oligopoly with particular reference to the determination of output and prices.
(Vikram M. A. 1963; Agra-Vikram M. Com. 1958; Agra M. A. 1951)

प्रश्न—द्वैयाधिकार और अल्पाधिकार मे, मूल्य और उत्पत्ति निर्धारण के विशेष सन्दर्भ सहित, भेद कीजिए। (विक्रम एम० ए०; आगरा-विक्रम एम० काम० १९५८; आगरा एम० ए० १९६१)

द्वैयाधिकार बाजार की वह स्थिति है, जिसमे वस्तु के केवल दो ही विक्रेता अथवा उत्पादक होते हैं। ये दोनों उत्पादन कार्य मे पूर्ण रूप से होते हैं। यदि वे दोनो मिलकर उत्पादन या विक्रय का कार्य करने लगें, तो फिर द्वियाधिकार के स्थान पर एकाधिकारी के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, यद्यपि केवल इसी बात के आधार पर उक्त स्थिति को पूर्ण एकाधिकार नही कह सकेंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वियाधिकार के अन्तर्गत दो उत्पादक अथवा विक्रेता पूर्ण स्वतन्त्र रहकर (आपस मे कोई समझौता किये बिना) कार्य करते है।

इसके विपरीत अल्पाधिकार बाजार की वह स्थिति है जिसमे पूण प्रतियोगिता की भांति बहुत अधिक संख्या मे विक्रेता अथवा उत्पादक नही पाये जाते हैं फिर भी उनकी सख्या दो से तो अधिक होती ही है। ये विक्रेता पूर्णतः प्रमाणित वस्तुएं (Standardised goods) ही बेचते हैं और कुल उत्पादन का काफी भाग उत्पन्न करते हैं। एक विक्रेता अथवा उत्पादक के मूल्य और उत्पादन की मात्रा का बाजार के अथवा अन्य उत्पादकों के मूल्य एवं उत्पादन की मात्रा पर गहरा प्रभाव पडता है।

द्वैयाधिकार एवं अल्पाधिकार में भेद—इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि द्वैयाधिकार अल्पाधिकार का ही एक बदला हुआ रूप है अतः अल्पाधिकार के मूल्य निर्धारण की रीति को समझने के लिये पहले द्वैयाधिकार की स्थिति मे मूल्य निर्धारण के तरीके को समझना आवश्यक हैं। द्वैयाधिकार एवं अल्पाधिकार प्रत्येक की दो श्रेणियाँ हैं। द्वैयाधिकार की एक स्थिति तो वह है जिसमें दो उत्पादक

एक समान (Homogeneous) वस्तु का उत्पादन करते हैं और दूसरी स्थिति वह है जिसमें वे पृथक पृथक रूप, रंग, गुण, किस्म और आकार की वस्तुयें उत्पन्न करते हैं। अल्पाधिकार की दो स्थितियां निम्न हैं—प्रथम, जिसमें विभिन्न उत्पादक एक समान वस्तु का उत्पादन करते हैं और दूसरे जिसमें वे अलग-अलग किस्म की वस्तु का निर्माण करते हैं।

यद्यपि द्वयाधिकार अल्पाधिकार का ही एक संक्षिप्त एवं परिवर्तित रूप है तथापि इन दोनों स्थितियों को एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि इनमें दो मुख्य अन्तर हैं। ये अन्तर निम्नलिखित हैं :—

(१) द्वयाधिकार की स्थिति में बाजार में केवल दो ही विक्रेता अथवा उत्पादक पाये जाते जबकि अल्पाधिकार की स्थिति में बाजार में दो से अधिक विक्रेता एवं उत्पादक पाये जाते हैं।

(२) द्वियाधिकार में दोनों विक्रेता एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र होते है व उनमें स्पर्धा चला करती है लेकिन अल्पाधिकार में इससे भी अधिक प्रतियोगिता होती है क्योंकि उसमें अधिक विक्रेता होते हैं।

इस प्रकार, अल्पाधिकार एवं द्वयाधिकार बाजार की दो भिन्न भिन्न स्थितियां है। दोनों में मूल्य निर्धारण का अध्ययन पृथक किया जाना चाहिये।

द्वयधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण:—

द्वयाधिकार में मूल्य कैसे निर्धारित होता है, इस विषय में अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न विचार प्रगट किये है। उदाहरण के लिये, कुछ विद्वानों का कहना है कि दो प्रतिद्वन्दी उत्पादकों वाली स्थिति में एकाधिकार मूल्य होगा जबकि अन्य विद्वानों के अनुसार प्रतियोगी मूल्य भी हो सकता है। मूल्य निश्चित भी हो सकता है और अनिश्चित भी। निरन्तर परिवर्तनशील भी हो सकता है। इन मतों का सारांश यह है कि द्वयाधिकार में विभिन्न दशाओं में उत्पत्ति की मात्रा और मूल्य विभिन्न होता है। जैसे जब दोनों उत्पादक एक दूसरे पर आश्रित हों, तो उत्पत्ति का मूल्य व मात्रा उस दशा में उत्पत्ति के मूल्य व मात्रा से भिन्न होता है जब कि वे दोनों स्वतन्त्रता पूर्वक (किसी व्यावसायिक समझौते बिना) कार्य करते हों।

जब दोनों उत्पादक आपस में एक दूसरे के साथ मूल्य और उत्पत्ति की मात्रा सम्बन्धी समभौता करके बाजार का विभाजन कर लेते है तो यह स्थिति बहुत कुछ एकाधिकार से मिलती जुलती हैं। ऐसी स्थिति में दोनों उत्पादक मिल कर एकाधिकार के समान, उस बिन्दु पर मूल्य निर्धारित करते हैं जहां कि उत्पत्ति की सीमांत आय और सीमांत लागत बराबर हों। किन्तु इस प्रकार का संतुलन तभी सम्भव है जब कि दोनों उत्पादकों की वस्तुओं की मांग स्थायी और लोचदार हो तथा लागतें भी एक समान हों। यदि दोनों उत्पादकों की लागत एक समान नहीं हैं, तो जिस उत्पादक की लागत कम होगी, उसका ही वस्तु के मूल्य पर पूरा पूरा नियन्त्रण होगा। अधिक लागत वाला उत्पादक भी पहले उत्पादक द्वारा निर्धारित मूल्य पर ही वस्तुएं बेचने को बाध्य होता है, क्योंकि अधिक मूल्य रखने से उसे ग्राहकों से हाथ धोना

पड़ेगा । इन बातों को निम्न चित्र की सहायता से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है ।

चित्र में MC_1, पहले उत्पादक का सीमान्त लागत वक्र है और MC_2 दूसरे उत्पादक का सीमान्त लागत वक्र है। पहले उत्पादक की सीमान्त लागत दूसरे उत्पादक की सीमान्त लागत से कम है। चूंकि ये दोनों एक ही जैसी वस्तु का निर्माण व विक्रय करते हैं इसलिये दोनो की सीमान्त आय (Marginal Revenue) एवं औसत आय (Average Revenue) एक सी होनी चाहिये (जैसा कि MR एवं AR वक्र दोनों प्रदर्शित करते हैं) तथा

चित्र—४

(द्वियाधिकार की स्थिति में मूल्य निर्धारण)

फलस्वरूप दोनो का मूल्य भी समान बराबर होगा। यदि दूसरा उत्पादक एकाधिकारी लाभ प्राप्त करने की भावना से उत्पत्ति की मात्रा को OQ से घटाकर OQ_1 कर देता है, तथा मूल्य भी PQ से घटाकर P_1Q_1 कर देता है, तो उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं होगी, क्योंकि पहले उत्पादक का मूल्य कम होने से उसके उनके ग्राहक छूट जायेंगे। फलतः दूसरे उत्पादक को विवश होकर अपना मूल्य कम करना होगा।
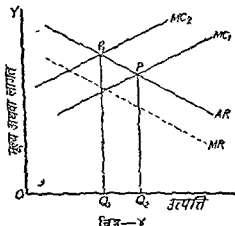
द्वयाधिकार में उत्पत्ति की मात्रा का निर्धारण :—

दोनों ही स्थितियों में जब कि उनकी लागतें समान हैं अथवा असमान, प्रत्येक उत्पादक या विक्रेता इस बात का प्रयास करता है कि उसका लाभ अधिकतम व हानि न्यूनतम हो जाय। वह यह भी देखता है कि उसके कार्य और निर्णय का कुल मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि इन दोनों उत्पादकों में कुल की मात्रा का विभाजन किस प्रकार होगा, जिससे मूल्य में कोई परिवर्तन न हो। यह बात अगले पृष्ठ पर चित्र द्वारा स्पष्ट की जा सकती है—

प्रस्तुत चित्र में यह दिखलाया गया है कि A और B दो उत्पादक मिल कर एकाधिकार की दशाओं के अन्तर्गत OQ_1 मात्रा में उत्पत्ति करते हैं और उसे Q_1P मूल्य पर बेचते हैं (जबकि प्रतियोगिता की दशा में वे OQ_3 मात्रा में उत्पत्ति करते और उसे P_3Q_3 मूल्य पर बेचेंगे)। मान लीजिये कि कुछ समय पश्चात् वे आपसी समझौते को तोड़ देते हैं और एक दूसरे से प्रतिद्वन्दिता करने लगते हैं। ऐसी दशा में उत्पादक B अधिकतम लाभ करने के लिये उत्पत्ति की मात्रा को OQ_2 तक बढ़ाने व उसे P_2Q_2 मूल्य पर बेचने की चेष्टा करता है।

वह यह चाहता है कि वह उत्पादन की इसी स्थिति में बना रहे क्योंकि इस स्थिति में उत्पत्ति की मात्रा बढ़ने से तथा मूल्य Q_1P से घट कर Q_1P_1 रह जाने से उसके कुल लाभ की मात्रा बढ़ जायेगी। किन्तु उत्पादक A की शुद्ध आय कम हो जाती है। इस हानि से बचने के लिये वह यह कोशिश करेगा कि उसकी उत्पत्ति Q_1P मूल्य पर ही बिके। यह तभी सम्भव है जबकि दोनों उत्पादकों की उपज की मात्रा OQ_1 से अधिक न होंवे जो कि बाजार की माँग के अनुरूप है। अतः जबकि उत्पादक B ने उत्पत्ति की मात्रा को बढ़ाने का प्रयास किया है। उत्पादक A उसे घटाने की चेष्टा करेगा। उत्पादन घटाने बढ़ाने का यह संघर्ष दोनों के मध्य तक चलता रहेगा जब तक कि दोनों की उत्पत्ति मिलकर OQ_1 मात्रा के बराबर स्थिर न हो जाय और इसका विभाजन A के पक्ष में OQ_1 मात्रा व B के पक्ष में OQ_1 मात्रा न हो जाय।
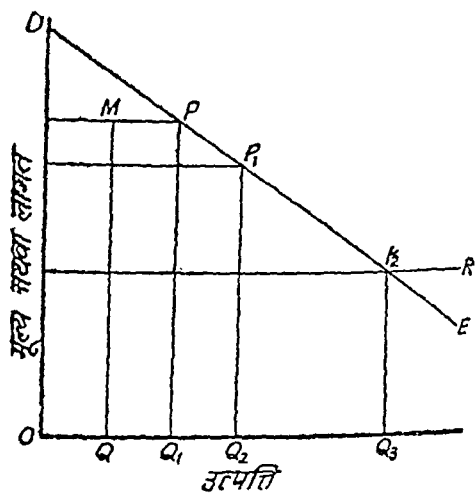
चित्र ५—द्वयाधिकार की स्थिति में उत्पादन की मात्रा का निर्धारण

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि द्वयाधिकार की स्थिति में जब दो उत्पादक एकाधिकारी की भांति उत्पादन का कार्य करते हैं तो एकाधिकारी लाभ का विभाजन दोनों उत्पादकों में समान रूप से होगा। उत्पत्ति की मात्रा भी दोनों के लिये बराबर बराबर होगी। इन परिस्थितियों में उत्पत्ति के मूल्य में भी कोई परिवर्तन नहीं होंगे। अतः दोनों उत्पादकों का हित इसी में है कि मिलकर एक समझौते के अनुसार काम करें।

अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण—

साधारणतः जो सिद्धान्त द्वयाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में लागू होता है वही सिद्धान्त अल्पाधिकार में भी मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में लागू होता है। चूंकि अल्पाधिकार एवं द्वयाधिकार की स्थितियां कुछ भिन्न होती हैं इसलिये मूल्य निर्धारण सिद्धान्त में भी कुछ भिन्नता आ गई है। दोनों स्थितियों में निम्न भिन्नतायें हैं :—

(१) अल्पाधिकार में विक्रेताओं की संख्या कुछ अधिक होने के कारण उनमें व्यावसायिक समझौतों को संभावना कम होती है।

(२) अल्पाधिकार में वस्तु की माँग का स्वरूप द्वयाधिकार में वस्तु की माँग

के स्वरूप से कुछ भिन्न होना है । अल्पाधिकार में, यदि वस्तु का मूल्य प्रचलित मूल्य से कुछ अधिक है, तो वस्तु की मांग बहुत लोचदार होती है और यदि प्रचलित मूल्य से कम है तो मांग बेलोच प्रकृति की होती है । चूंकि इसमें वस्तु की सब इकाइयाँ समान होती हैं, इसलिये यदि कोई उत्पादक अपनी वस्तु का मूल्य प्रचलित मूल्य से अधिक रखता है, तो ग्राहक उसकी ओर आकर्षित होगा । परिणामस्वरूप हानि से बचने के लिये अन्य उत्पादकों को भी अपनी वस्तु का मूल्य गिराना पड़ेगा। इस प्रकार अल्पाधिकार में कोई भी उत्पादक वस्तु के मूल्य में परिवर्तन न करके अधिक समय तक लाभ नहीं कमा सकता ।

(३) अल्पाधिकार में वस्तु का मूल्य परिवर्तनशील नहीं होता, क्योंकि वस्तु की मांग तथा उत्पत्ति की मात्रा में कमी व अधिकता का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । इस स्थिति में, यदि वस्तु की मांग बढ़ जाय, तो भी कोई उत्पादक वस्तु के मूल्य में इस भय से कमी नहीं करेगा कि कहीं अन्य उत्पादक वस्तु का वही मूल्य न बना रहने दें । यदि उन्होंने ऐसा किया, तो उसके ग्राहक छूट जायेंगे । इसके विपरीत, यदि वस्तु के उत्पादन में वृद्धि होती है, तो कोई उत्पादक मूल्य कम नहीं करेगा, क्योंकि इससे उन्हें अपने लाभों में कमी आने का डर रहता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि अल्पाधिकार में वस्तु के मूल्य एवं उत्पादन की मात्रा पर लागत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । टारसीज के शब्दों में :—

"वास्तविक संसार में अल्पाधिकारिक घटक न केवल मूल्य निर्धारण में वरन् सक्रिय नीति, मजदूरी नीति व अन्य मामलों में भी महत्वपूर्ण भाग लेते हैं । अतः यह सम्भव है कि मांग एवं लागत के बार-बार परिवर्तित होते रहने पर भी मूल्य में कोई परिवर्तन न हो अथवा बहुत कम परिवर्तन हो ।"[1]

द्वियाधिकार की भांति अल्पाधिकार भी दो प्रकार का होता है :—प्रथम, जिसमें सब उत्पादकों की उत्पत्ति एक समान होती है और दूसरे, जिसमें सब उत्पादकों की उत्पत्ति एक समान नहीं होती है । ऊपर अल्पाधिकार के जिस मूल्य का वर्णन किया गया है वह प्रथम स्थिति वाले अल्पाधिकार से सम्बन्धित है । किन्तु द्वितीय स्थिति में, जब कि दोनों उत्पादकों की वस्तुओं में अन्तर होता है, यह आवश्यक नहीं है कि दोनों की वस्तुओं का मूल्य एक समान हो अर्थात् जब एक उत्पादक अपनी वस्तु के मूल्य को कम कर देता है तो उसके प्रतिद्वन्दी उत्पादकों की बिक्री का क्षेत्र बिल्कुल ही समाप्त नहीं हो जाता । यदि पहले उत्पादक की वस्तु दूसरे उत्पादक की पूर्ण स्थानापन्न (Perfect and Substitute) होती है तो दूसरे उत्पादक के ग्राहक बहुत अधिक संख्या में उसे छोड़कर पहले उत्पादक से वस्तु खरीदने लगेंगे । यदि

1. "In the real world, however, oligopolistic considerations are an important factor, not only in price decision but also in decisons on selling policy, wage policy and other matters. Thus it is qui e possible for cost to chawge frequently and yet to pooduce no change, or at nay rate very few changes, in price. Thus the existence of oligopoly accounts for some of the price inflexbility that characterises oua economy."

पहले उत्पादक की वस्तु दूसरे उत्पादक की वस्तु की पूर्णस्थानापन्न नहीं है, तो दूसरे उत्पादक के थोड़े ग्राहक ही पहले उत्पादक की ओर आकर्षित होंगे। अतः वस्तु के पूर्ण स्थानापन्न होने की दशा में पहला उत्पादक बहुत अधिक मूल्य गिराकर दूसरे उत्पादक के अधिक से अधिक ग्राहकों की अपनी ओर आकर्षित करके अपना लाभ अधिकतम करने की चेष्टा करेगा। किन्तु वस्तु के पूर्ण स्थानापन्न न होने की दशा में वह अपनी वस्तु का मूल्य कम कर देता है, तो दूसरे उत्पादक के अधिक से अधिक ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करके अपना लाभ अधिकतम करने की चेष्टा करेगा। किन्तु वस्तु के पूर्ण स्थानापन्न न होने की दशा में वह अपनी वस्तु का मूल्य बहुत अधिक कम नहीं करेगा। जब एक उत्पादक अपनी वस्तु का मूल्य कम कर देता है, तो दूसरे उत्पादकों पर क्या प्रतिक्रिया होगी ? स्पष्टतः दूसरा उत्पादक भी अपना मूल्य कम करेगा ताकि वह अपने खोये हुये ग्राहकों को पुनः पा सके। यदि दूसरा उत्पादक यह जानता है कि उसकी वस्तु पहले उत्पादक की वस्तु की बहुत कम स्थानापन्न है, तो वह मूल्य को अधिक नहीं गिराता, क्योंकि पहले उत्पादक के मूल्य गिरने से दूसरे उत्पादक की बिक्री पर बहुत मामूली या नहीं के बराबर ही प्रभाव पड़ता है।

अल्पाधिकार में जब सब उत्पादक एक ही समान वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, तो एक उत्पादक द्वारा किया गया मूल्य बढ़ता है, तो उसे अपने ग्राहकों से हाथ धोना पड़ेगा और यदि मूल्य कम करता है, तो अन्य उत्पादकों को भी अपने ग्राहकों को बनाये रखने के लिये मूल्य कम करना पड़ता है। लेकिन जब अल्पाधिकार में विभिन्न उत्पादकों की वस्तुओं में समानता नहीं होती है, तो ऐसी दशा में किसी उत्पादक के लिये मूल्य में कमी या वृद्धि करना कठिन नहीं होता।

यदि कोई उत्पादक अपनी वस्तु के मूल्य में कमी या वृद्धि करता है, तो ग्राहकों पर क्या प्रतिक्रिया होगी ? अल्पाधिकार में जब विभिन्न उत्पादक विभिन्न किस्म की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, तो ग्राहक अपनी रुचि के अनुसार किसी एक उत्पादक की वस्तु खरीदना पसन्द करता है। जब तक यह उत्पादक अपनी वस्तु का मूल्य बहुत अधिक न बढ़ा दे, तब तक ग्राहक उसी की वस्तु खरीदते रहेंगे। ऐसी दशा में थोड़ी मूल्य वृद्धि का ग्राहकों की मांग या उत्पादक की बिक्री पर कोई प्रभाव नहीं होता। यदि वह उत्पादक अपनी वस्तु का मूल्य अधिक कर दें तो ग्राहक उसकी वस्तु को खरीदने के लिये आकर्षित नहीं होंगे क्योंकि उनकी रुचि दूसरे उत्पादक की वस्तु के प्रति है।

निष्कर्ष—

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्वयाधिकार और अल्पाधिकार की दशा में, जब तक उत्पादक एक समान वस्तु का उत्पादन करते हैं, तो एकाधिकार मूल्य सिद्धान्त के आधार पर मूल्य और उत्पत्ति की मात्रा निर्धारण करना लाभदायक होता है। लेकिन असमान वस्तुओं के उत्पादन की दशा

में, इस सिद्धान्त के अनुसार चलने में कोई विशेष लाभ नहीं है। ऐसी दशा में विभिन्न उत्पादकों की उपज का मूल्य भी भिन्न भिन्न होता है।

Q. What would be types of price adjustments and output adjustments consequent upon a few sellers accepting (a) are among temselves as a leader and (b) the whole group bound together by tacit agreement. (I. A. S. 1960)

प्रश्न—यदि कुछ विक्रेता अपने में से किसी एक को नेता मान लें या सम्पूर्ण समूह गर्हित अनुबन्ध द्वारा बन्धित हो तो उत्पादन और मूल्य में किस प्रकार के समायोजन होंगे ? (आई० ए० एस० १९६०)

Q. What is oligopoly ? Can you measure it with and without product differentiation? (I. A. S. Exam. 1958)

प्रश्न—अल्पाधिकार क्या है ? उत्पादन-विभेद के अभाव और सार में उसे आप कैसे मापेंगे ? (आई० ए० एस० १९ ५८)

Q. Explain how price is determined under the conditions of oligopolistic comptition (I. A. S. Exam 1956)

प्रश्न—अल्पाधिकार की दशाओं में मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? (आई० ए० एस० १९५६)

अल्पाधिकार (Oligopoly)

उत्तर—अल्पाधिकार बाजार की उस अवस्था को कहते हैं जहां विक्रेताओं की संख्या इतनी कम होती है कि प्रत्येक विक्रेता की पूर्ति का बाजार की कीमत पर प्रभाव पड़ता है तथा प्रत्येक विक्रेता इस बात को जानता है साधारणतया विक्रेताओं की संख्या दो से बीस के बीच में होती है। इनमें से प्रत्येक विक्रेता यह जानता है कि यदि उसने अपनी कीमत तथा विक्रय-नियोजन अथवा वस्तु की उपयोगिता या विज्ञापन-व्यय अथवा स्वनियन्त्रित अन्य किसी परिवर्तनशील तत्व में कोई परिवर्तन किया तो उसके प्रतिद्वन्दियों पर उसकी प्रतिक्रिया होगी तथा वे उसका प्रत्युत्तर देंगे। अल्पाधिकार की अवस्था में कार्य करने वाले फर्म अन्यान्योश्रित होते हैं। उनका विक्रय, क्रय, उत्पादन विज्ञापन सम्बन्धी नियोजन इसी अन्तर्निर्भरता को ध्यान में रखकर किया जाता है। प्रत्येक फर्म की क्रियाओं का प्रभाव बाजार पर व्यक्त हो जाता है, जिससे कि उसके प्रतिद्वन्दी उसका प्रत्युत्तर दे सकते हैं।

अल्पाधिकार दो प्रकार से व्यवहार में आ सकता है—एक तो उद्योग में बहुत से फर्म प्रारम्भ में रहे हों, लेकिन कतिपय कारणों से फर्मों की संख्या में निरंतर कमी होती गई हो और अब केवल कुछ ही फर्म क्षेत्र में रह गये हों। दूसरे, प्रारम्भ से ही उद्योग में फर्मों की संख्या सीमित हो। जब उद्योग में बहुत से फर्म काम करते हों, लेकिन उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत हो रहा हों, तो फर्मों को अपने विस्तार करने की प्रेरणा मिलेगी। लेकिन उत्पादन में परिवर्तन

लाकर उसे बड़े पैमाने पर करने के लिये अधिक पूंजी, योग्यतर प्रबन्धक तथा अधिक साहस की आवश्यकता होगी । जिन फर्मों के पास ये साधन पर्याप्त रूप में होंगे, वे बड़े पैमाने पर उत्पादन कर अपनी लागत को कम कर सकेंगे । फल यह होगा कि कमजोर फर्मों को इन शक्तिशाली फर्मों का मुकाबला करना असम्भव हो जावेगा। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से शक्तिशाली फर्मों की औसत लागत गिरेगी जिससे कि वे अपनी वस्तु की कीमत कम करके भी लाभ उठा सकेंगे । लेकिन कमजोर फर्मों को इससे हानि होगी क्योंकि उनकी लागतें तो पूर्ववत रहेंगी, जबकि कीमत कम हो जाने से उन्हें घाटा उठाना पड़ेगा । फलतः दीर्घकालीन अवधि में कमजोर फर्में उद्योग से निकल जायेंगी तथा कुछ शक्तिशाली फर्में शेष रहकर अल्पाधिकार की परिस्थिति का निर्माण करेंगे ।

यही नहीं कि शक्तिशाली फर्म कमजोर फर्मों को अपनी मौत मरने दें। वे विभिन्न उपायों से अपने प्रतिद्वन्दियों को नष्ट करने की चेष्टा करते रहते हैं । लाभ को उच्चतम बनाने तथा प्रतिद्वन्दियों को पराजित करने की रीतियां, कीमत में हेरफेर के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी हैं, जैसे वस्तुविभेद तथा विज्ञापन द्वारा । इसके अतिरिक्त कभी-कभी बड़े पैमाने पर उत्पादन से लाभ उठाने के लिये कई फर्मों का एक में विलीनीकरण कर दिया जाता है । फर्म अपनी-अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न ग्राहकों अथवा ग्राहकवर्गों से भिन्न कीमतें लेते हैं । जहां प्रतिद्वन्दी अधिक होते हैं, वहां कुछ तथा अन्यत्र कुछ कीमतें ली जाती हैं । यह कीमत विभेद स्पष्ट रूप से किया जा सकता है, और गुप्त रूप से भी। अपने प्रतिद्वन्दियों के लुप्तिकरण के लिए कुछ शक्तिशाली फर्मों ने कीमत युद्ध को भी अपनाया है, अर्थात् शक्तिशाली फर्में अपनी कीमतों को इतना कम करते जाते हैं कि निर्बल प्रतिद्वन्दियों के दिवाले निकलने लगते हैं, और वे उद्योग को छोड़ने पर विवश हो जाते हैं । जब प्रतिद्वन्दी कम हो जाते हैं, तो पुनः कीमत ऊंची करके शक्तिशाली फर्म अपना घाटा पूरा कर सकती है । अल्पाधिकार को बनाए रखने के लिये जहाँ तक सम्भव होता है ऐसे उपाय अपनाये जाते हैं, जो प्रतिद्वन्दियों से गुप्त रखे जा सकें ।

अल्पाधिकार की अवस्था में फर्म अपनी कीमत को घटाने से डरता है, क्योंकि उसके प्रतिद्वन्दी भी ऐसा ही करेंगे, और उसे अपनी कीमत घटाने से कोई लाभ नहीं होगा । इसलिये फर्में प्रायः कीमत को छोड़ कोई अकीमत (non-price) तरीका ढूंढते हैं, जिससे कि वे अपने विक्रय को बढ़ाकर अधिकाधिक लाभ कमा सकें । ऐसे तरीकों में दो प्रमुख हैं (१) अधिकाधिक विज्ञापन एवं (२) वस्तु विभेद । वस्तु-विभेद एकाधिकारिक परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है । फर्म क्रेताओं की दृष्टि में अपनी वस्तु को उसी प्रकार की अन्य उपलब्ध वस्तुओं से भिन्न बनाने तथा सिद्ध करने का प्रयत्न करता है ।

अल्पाधिकार का प्रादुर्भाव दूसरी तरह प्रारम्भ ही से थोड़े से फर्मों के

साथ हो सकता है ऐसी हालत में उद्योग में प्रारम्भ ही से फर्मों की संख्या सीमित तथा अल्प होती है। इस प्रकार की अवस्था का जन्म भी भिन्न-भिन्न कारणों से हो सकता है कि प्रारम्भ में इतनी पूंजी की आवश्यकता हो कि छोटे फर्म 'उद्योग' में प्रवेश करने की हिम्मत न कर सकें जैसे लोहे तथा इस्पात के उत्पादन के लिये। कभी २ सरकार लाइसेंस द्वारा किसी वस्तु के उत्पादन को नियन्त्रित कर सकती है, जिससे कि कुछ थोड़े ही फर्मों को लाइसेंस प्राप्त होता है। पेटेन्ट तथा कॉपीराइट भी विक्रयाधिकार की सहायता करते हैं। ऐसा भी सम्भव है कि वस्तु विशेष के उत्पादन के लिये किसी परमावश्यक ससाधन के पूर्ति-श्रोत पर कुछ अन्य ही लोगों का अधिकार हो।

अल्पाधिकार का वर्गीकरण :—

किसी प्रकार की खोज में वर्गीकरण का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है। तर्क की आगमन तथा निगमन, दोनों प्रणालियों में वस्तु-विषय को समझने के लिये वर्गीकरण आवश्यक होता है। अल्पाधिकार की उपर्युक्त स्थूल परिभाषा के बाद यह आवश्यक है, कि इसके वर्गीकरण की भी हम चेष्टा करें। वर्गीकरण के लिये कोई आधार आवश्यक होता है। अल्पाधिकार का वर्गीकरण हम कई प्रकार से कर सकते हैं।

(१) बन्द तथा खुला अल्पाधिकार :—

बन्द अल्पाधिकार से तात्पर्य ऐसी अवस्था से है जहां 'उद्योग' में नये फर्मों के प्रवेश पर किसी न किसी प्रकार की रोक अथवा कोई नियन्त्रण है जिससे कि नयी फर्म 'उद्योग' में प्रवेश नहीं कर सकते। सरकार द्वारा लगाई गई रोक कॉपीराइट, पेटेन्ट आदि के आधार पर नये फर्मों के प्रवेश पर निषेध अथवा पुराने फर्मों द्वारा उत्पन्न की गई बाधायें और कभी-कभी प्रवेश के लिये आवश्यक पूंजी के बहुत बड़ी होने पर आदि अवस्थायें बन्द अल्पाधिकार को जन्म देती हैं।

खुला अल्पाधिकार वह अवस्था है जबकि 'उद्योग' का द्वार नये फर्मों के प्रवेश के लिये खुला होता है।

(२) शुद्ध तथा विभेदित अल्पधिकार :—

यह वर्गीकरण उत्पादित वस्तु के गुण धर्म के आधार पर किया गया है। जब 'उद्योग' के सभी फर्मों द्वारा उत्पादित (अथवा बेची जाने वाली) वस्तु समावयव होती है तो अल्पाधिकार शुद्ध कहा जाता है। यदि प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु केतामों की दृष्टि में भिन्नता लिये होती है, अर्थात् यदि उद्योग के फर्म अपनी अपनी वस्तुओं में वास्तविक अथवा 'कृत्रिम' कोई विभेदन पैदा कर देते हैं तो अल्पाधिकार विभेदित कहलाता है। विभेदन की दशा में फर्मों द्वारा उत्पादित (तथा बेची जाने वाली) वस्तुयें समावयव नहीं होती। बोल्डिंग ने शुद्ध तथा विभेदित अल्पाधिकार को क्रमशः पूर्ण तथा अपूर्ण अल्पाधिकार कहा है।

प्रत्येक फर्म का लाभ पहले की अपेक्षा कम हो जायेगा। यदि फर्मों की संख्या बढ़ती गई तो प्रत्येक फर्म का यह शुद्ध लाभ घटते-घटते शून्य की अवस्था पर पहुंच जायेगा तथा यदि फर्मों की संख्या काफी अधिक हो गई तो अल्पाधिकार प्रतियोगिता में परिणत हो जायेगा।

अब हम एक दूसरी सम्भावना पर विचार करेंगे। यदि उत्पादित वस्तुयें तो समरूप हों, किन्तु फर्मों के बीच परस्पर कीमत अथवा उत्पादन-मात्रा या दोनों के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं है, तो क्या होगा? यह स्पष्ट है कि यदि ऐसी हालत में कोई फर्म अपनी कीमत प्रचलित कीमत-स्तर से नीचे ले आता है तो उसके प्रतिद्वन्दी के सब ग्राहक उसकी ओर खिंच आयेंगे बशर्ते कि इस फर्म में सब ग्राहकों की, इस घटाई हुई कीमत पर, आवश्यकता पूरी करने की क्षमता है, लेकिन ऐसी दशा में उसके प्रतिद्वन्दी सम्भवतः चुप न बैठे रहेंगे। अपनी बिक्री कम होते देख वे भी अपनी कीमतें कम कर देंगे जिससे कि फर्म को कीमत घटाने से कुछ अधिक लाभ नहीं होने पायेगा। इसके स्थान पर, यदि वह फर्म अपनी कीमत में प्रचलित कीमत से वृद्धि करता है तो स्पष्ट है कि ग्राहक अन्यत्र चले जायेंगे क्योंकि वही वस्तु उन्हें वहाँ पर कम कीमत में मिलेगी। इस फर्म के कीमत घटाने पर जहाँ अन्य फर्मों ने भी कीमतों को घटाया होता वहाँ इसके द्वारा कीमत बढ़ाये जाने पर अन्य फर्में अपनी कीमतें सम्भवतः नहीं बढ़ायेंगे या बढ़ायें भी तो इस फर्म की अपेक्षा कम बढ़ायें। अतः यह कहना उचित है कि जहाँ वस्तु समरूप होती है और सब फर्मों के पास अतिरिक्त उत्पादन क्षमता विद्यमान हैं तो किसी फर्म द्वारा कीमत में कटौती किये जाने पर अन्य फर्म भी उसके प्रत्युत्तर स्वरूप अपनी-अपनी कीमतें घटा देंगे, लेकिन यदि कोई फर्म कीमत में वृद्धि करते हैं तो उसे यह भरोसा बिल्कुल भी नहीं रखना चाहिये कि अन्य फर्म भी उसका अनुसरण करेंगे। यह बताना अत्यन्त कठिन है कि किसी फर्म द्वारा कीमत परिवर्तन उसके प्रतिद्वन्दियों में क्या तथा कितनी प्रतिक्रिया पैदा करेगा। इस अनिश्चय के कारण किसी ऐसे सामान्य स्तर का पता लगाना जिस पर की अल्पाधिकार की स्थिति में कीमतें स्थिर होंगी असम्भव सा है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि अल्पाधिकार में अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों अवधियों में कीमत अनिर्धारणीय होती है, भले.ही हम उसकी उच्चतम और निम्नतम स्थिति का पता लगा लें, किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता कि कीमत इन बिन्दुओं के बीच कहाँ स्थिर होगी?

इस प्रकार अल्पाधिकारिक अवस्था में कीमत-निर्धारण अत्यन्त जटिल है। चेम्बरलिन ने कतिपय उपधारणाओं के आधार पर अल्पाधिकार के अन्तर्गत संस्थिति की खोज करने का प्रयत्न किया है। यह बात नहीं है कि वे पूर्ण सफल हो गये हैं। वास्तव में, अल्पाधिकार की इतनी अधिक अवस्थायें हो सकती हैं कि इसकी संस्थिति (साम्य) के विषय में कोई साधारणीकरण सम्भव नहीं है। बाजार में फर्मों के बीच गुप्त अथवा खुले समझौते हो सकते हैं। ये समझौते बहुत से प्रकार के हो सकते हैं।

कीमत-नेतृत्व
(Price Leadership)

हो सकता है कि उद्योग के सब फर्म कीमत-निर्धारण में अपने में से किसी एक नेता का अनुसरण करें। यह आवश्यक नहीं है कि उसके लिये कोई स्पष्ट समझौता हो। वास्तव में किसी एक फर्म की कीमत निर्धारण सम्बन्धी नीति को किसी कारण वश अन्य फर्म एक प्रतिमान सा मान लेते हैं तथा उसी का अनुसरण करते हैं। नेता फर्म प्राय: पर्याप्त रूप से बड़ा तथा प्रबन्धित होता है। यह फर्म अपनी कीमत को एकाधिकारिक बनाने की चेष्टा करेगा, किन्तु शायद उसकी एकाधिकारिक ऊंचाई कभी नहीं पा सकेगी। यदि बाजार में कीमत नेतृत्व हुआ तो कीमत में फर्मों की होड़ समाप्त हो जावेगी। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं कि फर्म अपनी-अपनी बिक्री बढ़ाने की चेष्टा ही नहीं करेंगे। वास्तव में, इस परिस्थिति में अ-कीमत (Non-Price) क्षेत्र में संघर्ष होगा। विक्रय लागतों और विज्ञापनों द्वारा फर्म अपनी अपनी बिक्री या प्रसार करने का प्रयत्न करेंगे। लेकिन इस क्षेत्र में भी एक फर्म की कोशिशें अन्य फर्मों की कोशिशों से बेकार कर दी जाती हैं।

कीमत-नेतृत्व में कीमतें ऊंची और स्थायी तो रहेंगी ही इसके अतिरिक्त विक्रय लागतों की इसमें प्रधानता होगी, और जो प्रमुख बात है वह यह है कि कीमत-नेतृत्व की प्रवृत्ति उद्योग में अतिरिक्त क्षमता (Excess Capasity) की स्थिति उत्पन्न कर देती है, अर्थात् बहुत से फर्म अपनी उत्पादन क्षमता का पूरा प्रयोग ऊंची कीमत होने के कारण नहीं कर पाते। जो फर्म अपनी उत्पादन-क्षमता का जितना ही अधिक उपयोग कर सकेंगे, उन्हें उतना ही अधिक अतिरिक्त लाभ प्राप्त होगा।

कीमत नेतृत्व में सबसे बड़ा दोष यह है कि बहुत से अकुशल फर्म, जो कि प्रतियोगिता होने पर समाप्त हो गये होते, उद्योग में बने रहते हैं क्योंकि कीमत के हेर-फेर द्वारा प्रतिद्वन्दी उन्हें नहीं निकाल सकते।

कीमत-अभिसंधि
(Price Collusion)

अल्पाधिकार में कीमत अभिसंधि की प्रेरणा भी बड़ी बलवती होती है। इसके अन्तर्गत अल्पाधिकारी फर्म स्पष्ट रूप से कीमत के सम्बन्ध में परस्पर समझौता कर लेते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सबकी कीमतें समान हों। वस्तु-विभेद की अवस्था में ऐसा सम्भव नहीं होगा। शर्त केवल यह होती है कि कोई फर्म स्वीकृत कीमत में बिना औरों की सलाह के परिवर्तन न कर सकेगा। कीमत-अभिसंधि प्रत्येक हालत में अल्पाधिकारी फर्मों के लिये लाभदायक होती है। सिद्धान्त में कम करने के लये भी इस प्रकार की संधि फर्मों द्वारा की जा सकती है, किन्तु ऐसा प्राय: कीमतों

को ऊँचा करने और उन्हें मौजूदा स्तर पर कायम रखने के लिए ही किया जाता है। *सिद्धान्ततः फर्म इस अभिसंधि द्वारा ऐसी कीमत निश्चित करते हैं जो अधिकतम एकाधिकारिक लाभ दे सके।* अर्थात्, वे एकाधिकारी की भाँति ही कीमत निर्धारित करते हैं। लेकिन व्यवहारिक रूप से यह कहना कठिन है। बहुत से फर्म, जो कीमत के सम्बन्ध में अभिसंधि करते है ऐसा महसूस करते हैं कि दीर्घकालीन अवधि में उन का लाभ उच्चतम नहीं हो रहा है। हम यह कह सकते है कि कीमत अभिसंधियों का प्रायः लक्ष्य यह होता है कि फर्मों को पर्याप्त' लाभ प्राप्त होता रहे, न कि यह कि कीमतों को इतना ऊँचा उठाया जाय जितना कि बाजार वहन कर सके। फिर उस का उद्देश्य कीमत-कटौती के युद्ध को रोकना होता है। उच्चतम कीमत निर्धारित *करने में फर्म केवल नैतिक विचारों का ख्याल नहीं करती, वरन् उन्हें यह भी भय* रहता है कि कहीं वे कानूनी शिकंजे में आ न जायें क्योंकि बहुत से देशों में इस प्रकार की अभिसंधि अवैध है।

कीमत अभिसंधि की हालत में भी विक्रय-लागतें बड़े महत्व की होती है। तरह-तरह के विज्ञापनों और विक्रय के नये-नये तरीकों द्वारा फर्म अपनी बिक्री बढ़ाने का प्रयत्न करती रहती हैं। कीमत-अभिसंधि के विरुद्ध भी यह आरोप बहुत कुछ सही है कि यह तमाम अकुशल फर्मों को त्राण देकर कार्य-कुशलता को हतोत्साह करती है। फिर कीमत-अभिसंधि इस बात की गारण्टी नहीं दे सकती कि दीर्घकालीन अवधि में फर्मों को यही लाभ सदैव मिलता रहेगा। अधिक लाभ की संभावना से उद्योग में नये फर्मों का प्रवेश होता रहेगा जो पुराने फर्मों के लाभ को स्वयंमेव कम कर देगा।

बाजार विभाजनका समझौता
(Market Allocation Agreement)

स्थूल रूप से यह तीसरी प्रकार का समझौता है जो अल्पाधिकार के अन्तर्गत काफी प्रचलित हो सकता है। उद्योग के फर्म बाजार का बंटवारा कर लेते हैं। इसके कई रूप हो सकते हैं। हो सकता है कि प्रत्येक का कोटा (Quota) निर्धारित कर दिया जाये उन्हें वितरण के अलग-अलग भौतिक क्षेत्र दे दिये जायें।

इस प्रकार के बंटवारे का नतीजा यह होता है कि फर्म एक दूसरे के क्षेत्र को छोड़ देते हैं। आपसी होड़ समाप्त हो जाती है। प्रत्येक फर्म अपने क्षेत्र में एकाधिकारी सदृश्य होता है। बाजार का बंटवारा एक बार निश्चय हो जाने के बाद बाजार सुचारू रूप से चलने लगता है तथा प्रत्येक फर्म अपने क्षेत्र में अधिकतम लाभ अर्जित करने का प्रयत्न करती है।

कभी-कभी बाजार बंटवारे का समझौता कीमत-अभिसंधि का ही एक अंग होता है। बाजार का बंटवारा इस प्रकार भी हो सकता है कि प्रत्येक फर्म अपनी उत्पादित वस्तु को एक सही संगठन को बिक्री के लिये सौंप दें, अर्थात् सभी फर्मों द्वारा वस्तु पूल (*Pool*=एकत्रित) की जाकर एक संगठन द्वारा बेची जावे।

स्पष्ट है कि प्रत्येक फ़र्म निर्धारित-कोटे के अनुसार उत्पादन करेगा तथा संगठन से अपना लाभांश प्राप्त करेगा। कभी-कभी व्यापारिक संगठन भी बाजार का बंटवारा भिन्न-भिन्न उपायों से करने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी समझौता हो सकता है कि उत्पादन यन्त्र किस हिसाब से कार्य करेगा या कच्चे माल का वितरण किस प्रकार होगा? समझौतों के पालन न करने पर जुर्माना देने का विधान भी होता है।

लेकिन इस प्रकार के समझौतों के आर्थिक परिणाम कुछ अनिश्चित से हैं और ये कीमत-अभिसंधि के सहायक के रूप में ही अधिक सफल हो सकते हैं।

अल्पाधिकार के अन्तर्गत साम्य : चेम्बरलिन मण्डल—

श्री एडवर्ड चेम्बरलिन ने अपनी पुस्तक के पांचवे अध्याय में[1] अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण की समस्या का अध्ययन किया है। उसी के आधार पर हम यहाँ यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

यह उपधारणा कर ली जाती है कि अल्पाधिकार में कार्य करने वाले सभी फर्मों के बीच बाजार बराबर-बराबर बंटा हुआ है तथा वे समावयव वस्तु का उत्पादन कर रहे है। इनमें से किसी एक फर्म के समक्ष मांग वक्र कैसा होगा, यह इन दो प्रश्नों पर निर्भर है।

(१) क्या यह फर्म अन्य फर्मों के बराबर ही कीमत वसूल करता है।

(२) क्या यह फर्म बिना किसी प्रतिक्रिया के भय के अपनी कीमत कुछ सीमा के भीतर घटा-बढ़ा सकता है। जबकि अन्य फर्में अपनी कीमतें स्थिर रखते हैं।

यदि फर्म उतनी ही कीमत ले रहा है जितनी की उसके अन्य प्रतिद्वन्दी, तो सब फर्मों का मांग-वक्र समान होगा तथा उसका आकार प्रकार एक होगा। यदि अन्य फर्मों की कीमत जब स्थिर रहे और हमारा यह फर्म अपनी कीमत घटा सके तो इसका मांग-वक्र औरों से भिन्न होगा।

अब हम पहली हालत को लेते हैं। हम मान लेते हैं कि अल्पाधिकार के अन्तर्गत फर्मों की संख्या स है। हमारे फर्म की कीमत भी उतनी ही है जितनी कि अन्य (स—१) फर्मों की। इस फर्म की मांग कुल मांग की $\frac{१}{स}$ होगी। चित्र—६ में फर्म का मांग वक्र म म है मान लिया कि अ की इस फर्म की संस्थिति कीमत है तथा म संस्थिति की वस्तु मात्रा। फर्म अ की कीमत पर अ म बेचकर संस्थिति में है। चूंकि सभी फर्मों की कीमतें समान हैं, अतः सभी फर्म संस्थिति में होंगे। यह संस्थिति तब तक स्थिर बनी रहेगी जब तक कि कोई फर्म अपनी कीमत में कटौती नहीं करता है तथा उद्योग में नये फर्म न तो प्रवेश करते है, न पुराने फर्म उद्योग से निकलते हैं है। चित्र में औसत फर्म की औसत लागत की वक्र है। स्पष्ट है कि फर्म अतिरिक्त लाभ कमा रहा है।

1 Edward Chamberlin : Theory of Monopolistic competition.

यदि कोई फर्म इस अतिरिक्त लाभ से उत्प्रेरित हो उद्योग मे प्रवेश करता है तो अब बाजार स+१ फर्मों के बीच बँटेगी तथा इस फर्म का माँग वक्र म म कुछ बायीं ओर हटेगा। जैसे जैसे नये फर्म आते जायेंगे, बाजार मे फर्मों की संख्या बढ़ती जायगी तथा इस फर्म का माँग वक्र बायीं ओर खिसकता जायगा। जब यह माँग वक्र म¹ म¹ स्थान पर पहुँच जायगा जहाँ कि औसत लागत वक्र इसका स्पर्शक हो जाता है तो इस वक्र का ओर बाँये जाना रुक जायगा अन्यथा फर्म को हानि होने

चित्र—१

लगेगी। म¹ म¹ अवस्था मे फर्म का अतिरिक्त लाभ शून्य होगा। कीमत म की १ हो जायेगी और उत्पादन मात्रा म म¹। यहां नये फर्मों का आना रुक जायगा। इसलिये फर्म की यही संस्थिति होगी, बशर्ते कि कोई फर्म कीमत मे कटौती न करे।
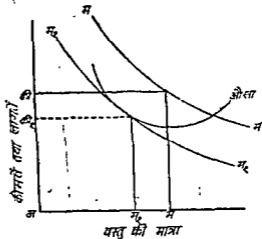
चित्र—२ में हमने दूसरी अवस्था पर विचार किया है। मान लिया जाय कि हमारा फर्म यह सोचता है कि उसकी कीमत कम होने से भी अन्य फर्म अपनी-अपनी कीमतों को स्थिर रखेंगे। इस उपधारणा के आधार पर माँग-वक्र दूसरा रूप धारण करेगा। यह माँग-वक्र चित्र—१ मे संस्थिति बिन्दु १ से गुजरेगा चित्र—२ मे हमने यही अवस्था दिखाई है। म¹ म¹ पूर्ववत है। की¹ संस्थिति का बिन्दु है। अब हम यह मान लें कि फर्म का माँग-वक्र म मृ है जो संस्थिति बिन्दु से गुजरता है। यह फर्म यह उपधारणा कर सकता है कि यदि वह म'' म'' माँग वक्र के सहारे दांयी ओर जाता है तो यद्यपि इसे कीमत कुछ कम करनी पड़ेगी लेकिन चूं कि वह कीमत औसत लागत से फिर भी अधिक होगी इसलिये कम कीमत पर अधिक वस्तु मात्रा वेचकर वह लाभ उठायेगा। लेकिन यदि ऐसा करना हमारे फर्म के लिये लाभदायक हो सकता है तो औरों के लिये भी ऐसा ही होगा।

अब यदि सभी फर्म अपनी कीमत हमारे फर्म का अनुसरण करके काटें तो, सभी फर्म म'' म'' के सहारे न जाकर म' म' माँग वक्र पर ही नीचे खिसकेंगे और हमारे फर्म का म'' म'' वक्र भी म' म' के सहारे नीचे खिसक आयेगा। इसका फल यह होगा कि सभी फर्मों को हानि उठानी पड़ेगी, क्योंकि की'' बिन्दु से नीचे कीमत औसत लागत से कम हो जायेगी। इस हानि के कारण बहुत से फर्म इस उद्योग को छोड़कर बाहर जाने लगेंगे। फर्मों के बाहर जाने से माँग वक्र म' म' दायी ओर को

उठेगा। ऐसा तब तक होगा जब तक कि म' म' हटकर $म_2$ $म_2$ की अवस्था पर नहीं पहुँच जाता। क'' पर स्थायी संस्थिति पाई जा सकती है। जहाँ कि $म_2$ $म_2$ औसत लागत वक्र को काटता है तथा $म''_1$ $म''_1$ वक्र उसे स्पर्श करता है। यहाँ अतिरिक्त लाभ शून्य है, जिससे कि न तो नये फर्म उद्योग में पदार्पण करेंगे तथा न किसी फर्म द्वारा और कीमत कटौती ही सम्भव है। अतः मू $की'_1$ स्थिर संस्थिति कीमत तथा मू $म'_1$ संस्थिति उत्पादन मात्रा होगी।
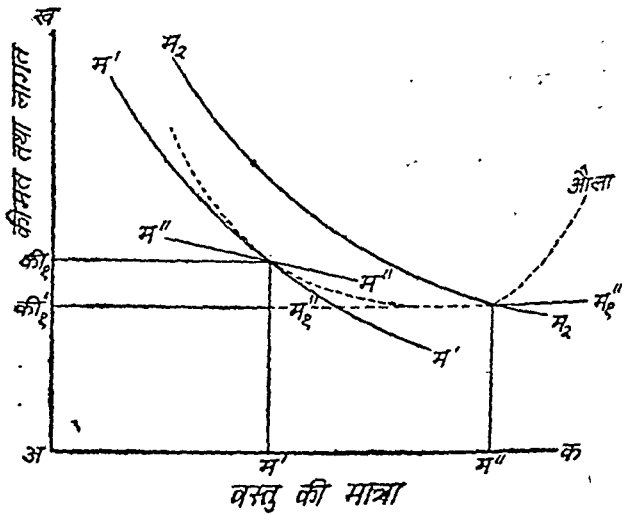
चित्र—२

इस विश्लेषण में बहुत सी त्रुटियाँ हैं। पहली बात तो यह है कि बाजार का बराबर बराबर बंटवारा सम्भव नहीं। सब फर्म समान परिस्थितियों में कार्य नहीं करते। फिर यदि कोई एक फर्म अपनी कीमत में परिवर्तन करता है तो उसका प्रभाव अन्य फर्मों पर समान नहीं पड़ेगा जैसा कि चेम्बरलिन ने उपधारणा की है। सब फर्मों के मांग वक्रों में स्थानान्तरण भी भिन्न भिन्न मात्रा में होगा। अन्य ऐसी बहुत सी असंगतियाँ चेम्बरलिन के विश्लेषण में और हैं, लेकिन फिर भी यह विश्लेषण अपने पूर्ववर्ती इस विषय पर समस्त विश्लेषणों से श्रेष्ठ है तथा इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

वस्तु विभेदन तथा संथस्तिः—

अल्पाधिकार में भी फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएं प्रायः समावयव नहीं होती। उनमें विभेद रहता है। चाहे वह विभेद वास्तविक हो अथवा कृत्रिम।

मान लिया कि प्रत्येक फर्म उसी वस्तु का भिन्न ब्रांड बेच रहा है।

चित्र नं० (३) में हमारे फर्म की औसत लागत का वक्र औ ला है। मान लिया कि वह अपना ब्रांड मू की कीमत पर बेच रहा है, जो कीमत अन्य सब फर्म भी अपने-अपने ब्रांड की ले रहे हैं। इस कीमत पर मान लिया कि हमारे फर्म द्वारा बेचे जाने वाले ब्रांड की मांग मु $म_1$ है तो फर्म की कुल लागत बराबर है, मू $म_1$

उ की, के साथ उसकी वास्तविक आय बराबर है उसकी की, के। अब मान लिया कि यह फर्म अपनी वस्तु को और अच्छी किस्म का बनाकर इसी कीमत पर इसकी माग बढ़ाना चाहता है। वस्तु को और अच्छा बनाने के लिये अधिक लागत लगानी पड़ेगी। मान लिया कि फर्म अपनी वस्तु को और अच्छी बनाता है, तथा उसका औसत लागत वक्र औ ला से उठाकर औ ला, पर चला जाता है। हम यह उपधारणा बना लेते है
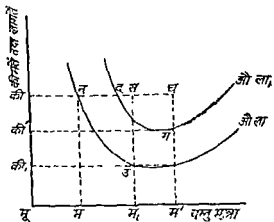
चित्र—३

कि इससे बड़े पैमाने पर उत्पादन की कोई मितव्ययता अमितव्ययता फार्म को प्राप्त नहीं होती। औसत लागत बढ़ जाने का फल यह हुआ कि प्रति इकाई लाभ कम हो गया। लेकिन पहले की अपेक्षा अच्छी हो जाने के कारण इसकी माँग बढ़ गई। यह बढ़ी हुई माँग चित्र मे म, म' द्वारा दिखाई गई है।

अब फर्म की कुल लागत मू म' ग की' तथा वास्तविक आय ग घ की की' है। यह वास्तविक आय पहले से अधिक है या कम—यह इस बात पर निर्भर है कि घटी हुई औसत आय के कारण जो कमी आती है, वह बढ़ी हुई मांग से पूरी हो जाती है कि नहीं। प्रतियोगिता के कारण अपनी स्थिति को बचाने के लिये फर्म को निरन्तर अपनी वस्तु को श्रेष्ठतर तब तक बनाये रहना पड़ेगा जब तक कि औसत लागत बढ़कर इतनी नहीं हो जाती कि वास्तविक आय शून्य हो जाय क्योंकि जब तक किसी फर्म को वास्तविक आय (या अतिरिक्त लाभ) होता रहेगा, नये फर्म नये-नये बाडो के साथ उद्योग में प्रवेश करते रहेंगे, पुराने बाडों की माग कम होती रहेगी इसलिये पुराने फर्मों के मांग वक्र बायी ओर हटते रहेंगे जब तक कि फर्म की औसत लागत कीमत के बराबर नहीं हो जाती। यही सस्थिति की अवस्था होगी। *यहाँ मांग वक्र औ ला, को द बिन्दु पर स्पर्श करेगा।*

चेम्बरलिन केवल वस्तु को श्रेष्ठतर बनाये जाने की स्थिति ही पर विचार करते है। लेकिन इसी विश्लेषण के आधार पर हम ऐसी स्थिति की भी कल्पना कर सकते हैं जब दी हुई कीमत पर अपनी मांग बढ़ाने के लिये फर्म अपनी वस्तु को कुछ घटिया बना देता है। यदि हम मान लें कि उसका औसत लागत वक्र पहले औ ला, था और वस्तु को घटिया बनाने पर वह औ ला हो जाता है तो स्पष्ट है कि

(यदि कीमत पूर्ववत रही तो) संस्थिति की अवस्था में फर्म मू म वस्तु उत्पादित करेगा तथा उसका मांग वक्र औ ला को न बिन्दु पर स्पर्श करेगा।

Q: How are prices determined when they are jointly produced and the elasticity of their demand is different ?

(Vikram M. A. 1960 and 1966)

प्रश्न—जब वस्तुयें संयुक्त रूप से उत्पादित हों और उनकी मांग की लोच भिन्न-भिन्न हों तो उनका मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ?

(विक्रम एम० ए० १९६०) एवं १९६६)

Q. How are prices of commodities determinded when they are jointly produced under imperfect competition.

(Agra M. A. 1956, 1963 Raj. M. Com., 1957)

प्रश्न—अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत संयुक्त रूप से उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य कैसे निर्धारित होते हैं ? (आगरा एम० ए० १९५६ व १९६३) राजस्थान एम० ए० १९५७)

कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनकी उत्पत्ति एक साथ ही हो सकती है, अलग अलग नहीं। मार्शल के अनुसार संयुक्त पूर्ति उन वस्तुओं की होती है जो सरलतापूर्वक अलग अलग उत्पन्न नहीं की जा सकती हैं तथा जिनकी उत्पत्ति का आदि कारण एक ही होता है।[1] जैसे, भेड़ का गोश्त, खाल और ऊन, गेहूं और भूसा, कोयला और कोयले की गैस, रुई और बिनौला साधारणतः आजकल कोई भी ऐसा उद्योग नहीं है जहाँ कि संयुक्त उत्पत्ति न होती हो।

ऐसी वस्तुओं की प्रमुख विशेषता यह होती है कि दूसरी को उत्पन्न किये बिना एक की उत्पत्ति नहीं होती है और बहुधा यह भी देखने में आता है कि किसी एक को निश्चित मात्रा में उत्पन्न करने पर अन्य वस्तुयें भी निश्चित मात्रा में उत्पन्न हो जाती हैं।

संयुक्त रूप से उत्पन्न वस्तुओं का मूल्य निर्धारण एक विशिष्ट और जटिल समस्या उत्पन्न करता है, क्योंकि इस दशा में हम प्रत्येक वस्तु का पृथक पृथक उत्पादन व्यय ज्ञात नहीं कर सकते हैं। यही नहीं सीमान्त विश्लेषण में भी अनेक कठिनाइयां आती हैं।

सीमांत विश्लेषण के प्रयोग की कठिनाई

अर्थशास्त्रियों का विचार है कि एक बड़े अंश तक संयुक्त मांग और संयुक्त पूर्ति की दशाओं में समानता है। जिस प्रकार संयुक्त मांग की दशा में उपयोगिता संयुक्त रूप से ज्ञात होती है, उसी प्रकार संयुक्त पूर्ति की दशा में संयुक्त उत्पादन

---

1. Marshall : Principles of Economics, p 88.

व्यय ज्ञात होता है। सीमान्त विश्लेषण (Marginal analysis) की सहायता से हम प्रत्येक संयुक्त पूर्ति की वस्तु का अलग अलग सीमान्त उत्पादन व्यय निकाल सकते है। किन्तु इस दशा में एक कठिनाई है। यह सही है कि संयुक्त पूर्ति की अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी पारस्परिक अनुपात को बदला जा सकता है, जिनके कारण उन पर सीमांत विश्लेषण लागू हो सकता है, किन्तु कुछ वस्तुयें ऐसी भी हैं कि जिनका पारस्परिक अनुपात हम इस प्रकार नही बदल सकते और ऐसी दशा में सीमान्त विश्लेषण का प्रयोग असम्भव हो जाता है। अत: संयुक्त पूर्ति के अन्तर्गत हम दोनो प्रकार की दशाओं का अध्ययन करेंगे।

अनुपात बदले जा सकने की दशा में—

संयुक्त पूर्ति वाली प्रत्येक वस्तु की मांग का मूल्य और मांग की रेखायें तो ज्ञात होते हैं, किन्तु यद्यपि सयुक्त उत्पादन व्यय का बोध होता है तथापि प्रत्येक वस्तु का अलग २ उत्पादन व्यय मालूम नही होता। यदि संयुक्त पूर्ति की वस्तुयें (उदाहरण स्वरूप, भेड़ का मांस और ऊन) ऐसी हैं कि उनके अनुपात को बदला जा सकता है, तो प्रत्येक का अलग अलग सीमान्त उत्पादन व्यय सरलता से ज्ञात हो जाएगा। कल्पना कीजिए कि पहले 'अ' नस्ल की भेडो को लिया जाता है, जिसकी एक भेड़ की कीमत १२ रुपये है और जिससे १० इकाई गोश्त और ५ इकाई ऊन प्राप्त होता है। अब यदि 'ब' नस्ल की भेड से, जिसकी कीमत ११ रुपये हैं, ९ इकाई गोश्त और ५ इकाई ऊन प्राप्त होता है। तो एक इकाई गोश्त का सीमात उत्पादन व्यय एक रुपया होगा। ठीक इसी प्रकार हम एक इकाई ऊन का सीमान्त व्यय भी निकाल सकते हैं। इसके पश्चात मूल्य निर्धारण की समस्या अत्यन्त सरल होगी, क्योंकि मांग और पूर्ति दोनों ही वक्र रेखायें सरलता से खींची जा सकेगी।

अनुपात बदले न जाने की दशा में—

यदि अनुपात को नहीं बेचा जा सकता है तो समस्या का रूप दूसरा ही होगा यहाँ पर सीमान्त विश्लेषण अनुपयोगी सिद्ध होगा। उदाहरण के लिए सभी प्रकार की कपास में रुइ और बिनोले एक ही अनुपात मे निकलते हैं। यह सम्भव नही है कि दो अलग अलग प्रकार की कपास लेकर रुइ और बिनौलें का पृथक पृथक उत्पादन व्यय मालूम किया जा सके। तो फिर मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होगा?

(अ) अल्पकालीन मूल्य—ऐसी वस्तुओं के बाजार मूल्य या अल्पकालीन मूल्य के निर्णय मे कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। अल्पकाल मे मांग और पूर्ति की सामान्य दशा के द्वारा संयुक्त उपज का मूल्य निर्धारित होता है। अल्पकालीन मूल्य निर्धारण मे पूर्ति निष्क्रिय होती है क्योंकि वह स्थिर होती है। इसकी विपरीत मांग सक्रिय होती है और मांग की तीव्रता के अनुसार ही मूल्य निर्धारित होते हैं। मांग के अधिक होने की दशा में मूल्य अधिक होगा और कम होने की दशा में कम। अल्पकाल मे मांग की अवस्था के अनुसार उत्पादक को लाभ भी हो सकता है और, हानि भी। विक्रेता को बहुधा दो प्रकार का व्यय करना पड़ता है:—निर्माण

उत्पादन का व्यय (२) बिक्री का व्यय, जिसमें वस्तु को बेचने तक के व्यय सम्मिलि होते हैं, यथा विज्ञापन, यातायात, पेकिंग, बिक्री कर, विक्रेता का कमीशन आदि अल्पकाल में माँग के बहुत गिर जाने के कारण मूल्य इतना घट सकता है कि उत्प दक को उत्पादन या निर्माण व्यय का कोई भी भाग न मिल सके, परन्तु उसे क से कम बिक्री व्यय वसूल होना चाहिये अन्यथा वस्तु को बाजार तक लाने की अपेक्ष उसे फेंक देना ही श्रेयस्कर होगा।

(ब) **दीर्घकालीन मूल्य** – किन्तु दीर्घकालीन मूल्य निर्धारण इतना सरल न है। दीर्घकाल में पूर्ति और माँग दोनों का ही समान महत्व होता है और अन्त सीमान्त में उत्पादन व्यय द्वारा मूल्य नियत होता है। रुई और बिनौले का अल अलग सीमान्त व्यय निश्चित नहीं हो सकता। अतः यहाँ मूल्य के निर्णय में कठि नाई नहीं होती है। इस सम्बन्ध में तथापि निम्न तथ्य विचारणीय है[1]—

(i) रुई और बिनौला दोनों का कुल मूल्य दोनों के संयुक्त औसत व्यय बराबर होना चाहिये। मूल्य इससे कम या अधिक नहीं हो सकता क्योंकि दीर्घका में मूल्य औसत उत्पादन व्यय के बराबर होता है। रुई और बिनौले को बेचकर प्राप्त होने वाले मूल्य का कपास के उत्पादन व्यय के बराबर होना आवश्यक है।

(ii) किसी भी एक वस्तु का मूल्य संयुक्त उत्पादन व्यय से अधिक नहीं ह सकता। अकेली रुई की कीमत कपास उत्पन्न करने और रुई निकालने के व्यय से अधिक नहीं होगी, क्योंकि यदि हम यह भी मान लें कि बिनौले का कुछ भी मूल्य नहीं है और उसे फेंक ही दिया जाता है, तब भी केवल रुई बेचकर कपास की लागत वसूल की जा सकती है।

(iii) संयुक्त उपज का कम से कम मूल्य उसको बिक्री के लिये तैयार करने के प्रत्यक्ष व्यय से कम नहीं होगा, अन्यथा जिस वस्तु से वह तैयार की जाती है, वह फेंक दी जावेगी। उदाहरण स्वरूप, यदि बिनौले के तेल से इतना भी मूल्य वसूल नहीं होता जितना कि बिनौले से तेल निकालने पर व्यय किया गया है तो तेल निकाला ही नहीं जावेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त उपज की कम से कम और अधिक से अधिक कीमत निश्चित हो सकती है और मूल्य इन दोनों के बीच में किसी स्थान पर निश्चित होगा।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—

मार्शल ने संयुक्त उपज की वस्तुओं के मूल्य निर्धारण को एक रेखा चित्र द्वारा समझाया है। इसमें उन्होंने गोश्त और चमड़े के उदाहरण को लिया है और यह मान लिया है कि गोश्त और चमड़े के अनुपात को बदला नहीं जा सकता है। मार्शल के इस निरूपण को हम रुई और बिनौले पर भी लागू कर सकते हैं। नीचे का

1. Fundamentals of Economics, edited by J K. Mehta. pp: 397—93, 2nd edition,

रेखाचित्र इसी आधार पर खींचा गया है—

इस चित्र में प प' कपास की कुल उत्पादन व्यय की रेखा है। द द' रुई की मांग रेखा है।

हम यह मान लेते हैं कि रुई और बिनौले का अनुपात निश्चित है और बदला नहीं जा सकता है।

म, अ क अक्ष पर कोई बिन्दु है जिससे म च रेखा अ ख के समानान्तर खींची गई है जो द द' च बिन्दु को पर काटती है, फिर म च रेखा को व बिन्दु तक बढ़ाया गया है। निश्चित है कि च म मूल्य पर रुई की अ म मात्रा होती है।
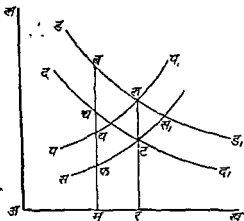
चित्र—६

मान लीजिये कि च ब बिनौले की अ म इकाईयो का मूल्य है। ड ड' रेखा ब का बिन्दु पथ (Locus) है। स्वाभाविक है कि ब म कपास की अ म मात्रा का मूल्य होगा। इस प्रकार ड ड' संयुक्त मांग की रेखा है।

ड ड' प प' रेखा को ल बिन्दु पर काटती है।

ल से अ क पर ल र लम्ब रूप खींचा गया है, जो द द' एक रेखा को ट बिन्दु दर काटता है। इस दशा में कपास की अ र इकाईयां उत्पन्न की जाती हैं और ल र कीमत पर बिकती है। साम्य की दशा में ट र इस कपास से निकली हुई रुई की कीमत होगी और ल ट उसी से निकले हुये बिनौले की। इस प्रकार रुई और बिनौले की अलग-अलग कीमत नियत हो जाती है।

स स' रेखा स्पष्टीकरण के लिये खींची गई है। प प' और ब म एक दूसरी को य बिन्दु पर काटती हैं। ऐसी दशा में फ बिन्दु रुई की व्युत्पादित पूर्ति रेखा (Derived Supply Curve) पर होगा। इस प्रकार स स' रुई की पूर्ति की रेखा होगी और रुई की मांग और पूर्ति की रेखायें जहाँ एक दूसरे को काटती हैं, वहाँ पर रुई का मूल्य नियत होगा। इस प्रकार रुई का मूल्य ट र निश्चित होता है।

संयुक्त पूर्ति में एक वस्तु की मांग बढ़ने का प्रभाव –

संयुक्त उपज की एक वस्तु की मांग बढ़ने का दूसरी वस्तु के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? उदाहरण के लिये, मान लीजिए कि रुई की मांग बढ़ती जाती है।

ऐसी दशा में रुई की कीमत बढ़ जावेगी और यदि यह अवस्था कुछ समय तक रही तो रुई की उत्पत्ति भी बढ़ जावेगी, किन्तु स्मरण रहे साथ ही साथ बिनौले की उत्पत्ति भी बढ़ जावेगी। ऐसी दशा में तीन प्रकार की सम्भावनायें हो सकती हैं:— (१) या तो बिनौले की माँग भी बढ़ जाये; (२) या बिनौले की माँग वही बनी रहे या; (३) बिनौले की माँग पहले से भी कम हो जावे। पहली दशा में तो सम्भव है कि बिनौले की बढ़ी हुई मात्रा की पहली कीमत पर ही खपत हो जावे, किन्तु दूसरी दशा में पूर्ति के माँग से अधिक होने के कारण बिनौले का मूल्य गिरेगा और तीसरी दशा में तो वह और भी अधिक तेजी से गिरेगा।

———

१८

समाजवादी अर्थव्यवस्था में मूल्य-निर्धारण

(PRICE-CALCULUS IN A SOCIALIST ECONOMY)

Q. What is the position of price-calculus in a fully planned economy? (I. A. S. Exam, 1953)

एक पूर्णतः नियोजित अर्थव्यवस्था में मूल्य-गणक की क्या स्थिति है ? (आई० ए० एस० १९५३)

Discuss the problem of the price determination in a socialist economy. (Bombay 1960 M A.)

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण की समस्या का विवेचन कीजिए। (बम्बई १९६० एम० ए०)

उत्तर—समाजवादी आर्थिक व्यवस्था योजनाबद्ध होती है । जो नियोजन पूंजीवादी व्यवस्था मे व्यक्ति अथवा फर्म करते हैं, वह समाजवादी व्यवस्था मे समाज, राज्य करता है क्या, कितना किस मात्रा या परिमाण मे तथा कहां उत्पादित किया जाय तथा फिर इस उत्पादन का वितरण कैसे किया जाय आदि बातो का निर्धारण समाजवादी व्यवस्था मे राज्य द्वारा होता है। व्यक्तिवादी पूंजीवाद में व्यक्ति अपनी आय द्वारा अधिक उपयोगिता प्राप्त करने की कोशिश करता है, समाजवादी व्यवस्था मे सम्पूर्ण समाज को एक इकाई के रूप में मानकर राज्य इस सम्पूर्ण द्वारा प्राप्त की जाने वाली उपयोगिता (जिसमे उसके भविष्य की सम्भावनायें भी शामिल होती हैं) को उच्चतम करना चाहता है, सामाजिक कल्याण की वृद्धि करना चाहता है।

समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार होता है, उत्पादन तथा वितरण भी प्रायः राज्य के हाथ में होते हैं। पूर्णरूपेण समाजवादी व्यवस्था तो अभी आदर्श से अधिक कुछ नही, किन्तु इस दिशा में साम्यवाद कुछ अग्रसर होने का दावा करता है। साम्यवाद का लक्ष्य भी समाजवाद के आदर्श पर पहुंचना है। संसार मे अभी तक रूस ही केवल ऐसा देश है जो साम्यवादी जलवायु मे पला है तथा रूस की आर्थिक उन्नति भी पर्याप्त मात्रा मे हुई है, साम्यवादी देशों की व्यवस्था अभी बिल्कुल अव्यवस्थित है, उनके आर्थिक ढांचों की रूपरेखा बनने में अभी

समय लगेगा । इस प्रकार केवल रूसी आर्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ही इस विषय में अब विचार किया जा रहा है ।

वास्तव में, रूस की जनक्रान्ति के बाद ही विवाद शुरू हुआ । आज जनतंत्र-वादी देशों के लिये भी कीमत निर्धारण का प्रश्न उसी तरह आवश्यक हो गया है क्योंकि आज की जनकल्याण की पोषक सरकारें अधिकाधिक उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण कर रही हैं । जिन उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण किया गया है उनमें भी संसाधनों के वितरण तथा कीमतों का निर्धारण किसी हद तक उसी प्रकार की समस्या प्रस्तुत करते हैं जिस प्रकार कि यह समस्या समाजवादी देशों में पाई जाती है । पूंजीवादी व्यवस्था में बाजार मांग पूर्ति, उत्पादन तथा वितरण का क्रीड़ास्थल और इस प्रकार कीमत निर्धारण का यन्त्र स्वरूप होता है । भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादक उत्पादन के संसाधनों को क्रय करने में आपस में होड़ लगाते हैं, संसाधन उसी ओर जायगा जिधर उसे अधिक पारितोषिक अधिक प्राप्त होगा । अधिक पारितोषिक वही उत्पादक देगा जो उस संसाधन के प्रयोग से अधिक प्रत्याय पाता है । इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादित वस्तु की कीमत उत्पादन-लागत के आधार पर निश्चित की जाती है, कहीं यह कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है, कहीं औसत लागत के तथा कहीं इनमें से किसी के बराबर नहीं होती । किन्तु प्रत्येक दशा में कीमत निर्धारण का पथ-प्रदर्शन बाजार रंगमंच पर लागत करती है ।

इसी आधार पर सन् १९२० ई० में आस्ट्रिया के अर्थशास्त्री Professor Mises ने समाजवाद पर कड़ा प्रहार किया । उनके मन्तव्य से कीमत-निर्धारण के प्रश्न समाजवाद की बाजार-विहीन आर्थिक व्यवस्था में कहीं सुलझाये ही नहीं जा सकते । उनका कहना है कि संसाधनों तथा उत्पादित वस्तुओं (Production Goods) का समुचित मूल्य बाजार-विहीन व्यवस्था में निर्धारित करना असम्भव है, क्योंकि इन संसाधनों तथा उत्पादनों वस्तुओं का स्वामित्व तथा प्रबन्ध राज्य के हाथ में होता है और इस प्रकार इनके विनिमय का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । "चूंकि कोई उत्पादन वस्तु कभी विनिमय की पात्र नहीं बनेगी इसलिये इनका मौद्रिक मूल्य निर्धारित करना असम्भव होगा । उत्पादन वस्तुओं के मूल्य निर्धारण के मुद्रा जो कार्य प्रतियोगिता वाली समाज में सम्पादित करती है वह कार्य वह समाजवादी राज्य में सम्पादित न कर सकेगी । मौद्रिक इकाइयों में यह हिसाब लगाना असम्भव होगा इस बात का निश्चय करने का कोई माध्यम न होगा कि विवेकपूर्ण क्या है और इस प्रकार यह साफ जाहिर है कि उत्पादन कभी आर्थिक विचारों से उत्प्रेरित व प्रभावित न होगा ।[1] इस प्रकार विचारधारा के अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी कहा है कि समाजवादी नियम स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य न कर सकेगा, लगान तथा ब्याज, जो पूंजीवाद व्यवस्था में उत्पादन लागत के प्रमुख अंग हैं, समाजवादी व्यवस्था में सुप्त प्रायः हो जायेंगे । मजदूरी निर्धारण भी किसी

1. Ludwi[illegible]es, quoted by M. Dobb : Economic Theory and Socialism." p.

आर्थिक नियम के अनुसार न होकर किसी सरकारी कौंसिल के हाथ में होगा। इस प्रकार लागत बाजार की जिन प्रति क्रियाओं द्वारा निर्धारित होती है, वे समाजवादी व्यवस्था में अनुपस्थित होंगी और कीमत निर्धारण लागत के सदर्भ में न हो अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर होगा। वस्तुओं तथा संसाधनों की मांग-पूर्ति में संस्थिति कभी आ ही न पायेगी और यदि आयेगी भी तो कई सन्स्थितियाँ होंगी जिनके बीच यह चुनाव करना कठिन होगा कि कौनसी संस्थिति इष्टतम है। पुनः किसी उचित संस्थिति पर पहुंचने के लिये नियोजन आयोग को हजारों 'समीकरण' हल करने पड़ेंगे जो असम्भव प्राय होगा।

ये आलोचना रूस की अपूर्व आर्थिक उन्नति को दृष्टिगत रखते हुये, कुछ अधिक जोरदार नहीं रह गई है। लेकिन उपर्युक्त आलोचक तथा उनके अनुयायी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में ऊपर बताई हुई अड़चनों को अब भी रोड़ा अटकाते हुये पाते हैं। यद्यपि वे अब इस बात से इन्कार नहीं करते कि साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था में संसाधनों के विवेकपूर्ण वितरण की सम्भावना सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से है लेकिन इस समय समस्या के व्यवहारिक हल के बारे में उन्हें सदेह है।

मार्क्स का मूल्य का 'श्रम-सिद्धान्त' इन भ्रान्तियों के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है। किन्तु यह हमें नहीं भूलना चाहिये कि जिस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का आधार तथा उसकी प्रेरणा उपभोक्ता है, उसी प्रकार समाजवादी व्यवस्था में भी उत्पादन को उपभोक्ताओं के सदर्भ में सोचा गया है। यह बात नहीं कि समाजवाद में उत्पादन पर उपभोक्ता की इच्छाओं का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। मार्क्स ने एक स्थान पर कहा कि उपभोग, उत्पादन की प्रेरणा उसका उद्देश्य तथा पथ-प्रदर्शक होता है। अब रही बाजार की स्वाभाविक क्रियाशीलता की बात, तो आज यह बात स्पष्ट है कि पूंजीवादी व्यवस्था में भी पूर्ण प्रतियोगिता तथा मांग पूर्ति के नियम की प्रभूकता कल्पना मात्र के अतिरिक्त न और कुछ रही और न है। फिर अब तो राज्यों का हस्तक्षेप जाने अनजाने सर्वत्र होने लगा है।

यह धारणा अत्यन्त व्यापक बन चुकी है कि आर्थिक विकास तथा जन-कल्याण सम्बन्धी प्रमुख नीतियों पर राज्य का नियन्त्रण होना आवश्यक है संसाधनों के वितरण की समस्याओं का निदान भी पूंजीवादी व्यवस्था ही की भांति समाजवादी व्यवस्था में होना सम्भव है। उत्पादन तथा संसाधनों के वितरण की इष्टतम या आदर्श अवस्था क्या है तथा जन-कल्याण अपने आदर्श पर कब पहुँच सकता है इन प्रश्नों का हल करने का न कोई मशीनवत् तरीका पूंजीवाद ही में है न समाजवाद ही में। इष्टतम तथा आदर्श कोई बिन्दु अथवा छोर नहीं, यह एक क्षेत्र है जिसमें कई स्थितियां आदर्श हो सकती हैं। इसका चुनाव समाजवादी व्यवस्था में अपेक्षाकृत अधिक सुविधाजनक होगा। फिर उपभोक्ताओं के किसी चुनाव में उसकी आय का सबसे बड़ा हाथ होता है। समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में वास्तविक आय वैषम्य

1 Cr. Oscar Large and F. N. Teyla : Economic Theory of Socialism

को न्यूनतम कर दिया जाता है, इसलिये यह व्यवस्था जन-कल्याण की अधिक पोषक होगी और उपभोक्ताओं की इच्छायें विकृत तथा दूषित न हों जन-कल्याण के वहीं मार्ग की सूचक होगी।

किसी भी समाज में उत्पादन के संसाधन सीमित मात्रा में पाये जाते हैं। समाजवादी व्यवस्था में भी यह बात सही है। अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति का विधान इन्हीं सीमित संसाधनों के समुचित प्रयोग तथा वितरण द्वारा किया जाता है। समुचित प्रयोग और वितरण के लिये यह आवश्यक होता है उन पर कीमत ली जाय। इसी प्रकार उत्पादित वस्तुओं की कीमत लेना भी अनिवार्य है। फिर यह सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है कि जिस वस्तु के उत्पादन में जितनी ही अधिक लागत लगी है, उसकी कीमत उतनी ही अधिक रक्खी जाय।

समाजवादी व्यवस्था की एक अन्य विशिष्टता भी ध्यान देने योग्य है। पूंजीवादी व्यवस्था मे लोगों की आय होती है उत्पादनों के साधनों के विक्रय से। मजदूर की आय मजदूरी, भूमि के स्वामी का लगान, पूंजी लगाने वाले की ब्याज तथा जोखिम उठाकर उत्पादन करने वाले की आय लाभ कहलाती है। समाजवादी व्यवस्था में मजदूरी को छोड़कर तीन प्रकार की आय राज्य के हाथ में आ जाती है। मजदूरी या श्रम का पारितोषिक भी राज्य के अधिकारियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। ऐसी व्यवस्था में काम न करने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। राज्य प्रत्येक काम करने योग्य व्यक्ति को काम करने पर विवश कर सकता है जबकि पूंजीवादी व्यवस्था में किसी आदमी को काम करने के लिये उत्प्रेरित किया जा सकता। साफ जाहिर है कि पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूरी तब तक नहीं बढ़ाई जायगी जब तक कि इसके फलस्वरूप कम से कम इस वृद्धि के बराबर प्रत्याय की आशा न होगी। अतिरिक्त मजदूरी को तभी काम दिया जा सकेगा जब उसके कार्य द्वारा कम से कम आय में उतनी वृद्धि होने की सम्भावना है जितना अतिरिक्त व्यय उस पर किया गया है। दूसरे शब्दों में, मजदूरी की संख्या, उनका पारितोषिक (अथवा उनकी आय) पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में उत्पादनीयता से सम्बद्ध होते हैं। लेकिन समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में आय तथा उत्पादनीयता के बीच यह सम्बन्ध नहीं होता। आय दूसरी भाँति निर्धारित की जाती है, उत्पादनीयता से नहीं। लोगों की आय मजदूरी के रूप में या इसके अन्य रूप में प्राप्त होती है, ह योग्यता आदि के हिसाब से लोगों को अतिरिक्त भत्ता मिलता है और इस प्रकार काम के हिसाब से व्यक्तियों के बीच वेतन की दर में अन्तर होता है, पर यह अन्तर औसत से अधिक दूर नहीं जाता।

ऊपर हम बता चुके हैं कि माईजेस तथा उसके अन्य साथियों ने कहा है कि समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में समुचित मूल्य या कीमत निर्धारित करना असम्भव होगा। उनकी धारणा यह थी कि समाजवादी व्यवस्था में बाजार पूर्ति मांग आदि अनुपस्थित होंगे और इनकी अनुपस्थिति में विवेकपूर्ण ढंग से कीमत निर्धारण असम्भव है।

इस बात का उत्तर समाजवादी विचार वाले अर्थशास्त्री ने (जिनमे डिकिन्सन तथा लेन्ज प्रमुख हैं) देने की चेष्टा की। यही उत्तर दो प्रकार से दिया गया। प्रथम, यह स्वीकार किया गया कि विवेकपूर्ण कीमत निर्धारण के लिये बाजार का होना आवश्यक है। लेकिन यह कहना गलत है कि समाजवादी व्यवस्था मे विवेकपूर्ण कीमत निर्धारण सम्भव नही, क्योकि यह कथन इस भ्रान्त कल्पना पर आधारित है कि समाजवादी व्यवस्था मे बाजार का कोई स्थान नही। लेकिन यह बात गलत है, समाजवादी आर्थिक व्यवस्था तथा बाजार एक दूसरे के विरोधाभास नही। सक्षेप मे, इन अर्थशास्त्रियो का तर्क यह है कि समाजवादी व्यवस्था में भी बाजार कार्य कर सकते हैं और इस प्रकार उनकी सहायता से कीमत निर्धारण किया जा सकता है। कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने एक कदम और आगे बढ़ाया और कहा कि बिना बाजार के अस्तित्व के भी कीमत निर्धारण सम्भव है। इस प्रकार डा० लेन्ज ने कहा है कि कीमतो के लिये बाजार की आवश्यकता नही। हिसाब-किताब की कीमतें पर्याप्त हैं। ये कीमतें केवल हिसाव-किताव की बहियों में दिखाई जाए तथा उनके लिये आवश्यक नही कि वस्तु विनिमय वास्तव में हो ही।

प्रथम विचार वालो में डिकिन्स प्रमुख है। उनके अनुसार विवेकपूर्ण कीमतें निर्धारण मे बाजार का तो होना आवश्यक है, किन्तु यह बात गलत है कि समाजवादी व्यवस्था मे बाजार हो ही नही सकता। जहाँ तक तैयार उपभोग वस्तुओ का प्रश्न है, उनके लिये खुदरा बाजार ही रहेगा। समाजवादी व्यवस्था मे भी उपभोक्ताओं के हाथ क्रय शक्ति होगी तथा चुनाव करने की स्वतन्त्रता उन्हे होगी कि उत्पादित माल मे कौन-सा और कितना खरीदे, उनकी माग के हिसाब से ही फिर भविष्य मे वस्तुओं के उत्पादन का नियोजन होगा। इन वस्तुओं की कीमत निर्धारित करते समय दो बातों का ध्यान रक्खा जायगा—एक तो यह कि किसी वस्तु की कीमत इतनी रक्खी जायगी कि उसकी माँग को (मौजूदा पूर्ति के अनुसार) नियन्त्रित रखा जा सके, जिससे कि न तो वस्तु पूर्ति मे कमी हो न वह बचे ही। दूसरे, यह कि कीमत इतनी रहेगी कि उस वस्तु के उत्पादन के लिये आवश्यक अतिरिक्त लागत वस्तु विक्रय से वापस आ जाय। अर्थात् वस्तु कीमत को सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त लागत के बराबर निर्धारित किया जायगा। प्रश्न उठता है माध्यमिक माल तथा उत्पादन के साधन जैसे कच्चा माल, पूंजी, भूमि तथा मशीनो की कीमत का निर्धारण किस प्रकार किया जा सकता है। डिकिन्सन के अनुसार वस्तुओं तथा कच्चे माल आदि संसाधनो का बाजार भी समाजवादी व्यवस्था मे सम्भव है। New Economic Policy के अन्तर्गत रूस में कुछ हद तक ऐसे बाजार थे। इसके सुचारु रूप से कार्य करने के लिये उद्योग धन्धों के प्रबन्धकों को आर्थिक मामलो में स्वतन्त्र इकाईयों का रूप दे दिया जाना चाहिए।

उनको इस बात का आदेश होना चाहिये कि वे अपने उत्पादन मे जिन ससाधनों अथवा मशीनो का उपयोग करें उनको मूल्य देकर खरीदें। इस प्रकार वे

इन संसाधनों, माध्यमिक मालों अथवा मशीनों को साधारण बाजार की दशा में खरीदेंगे तथा उनके खरीदने में एक दूसरे से उसी प्रकार प्रतियोगिता करेंगे जैसे पूंजीवादी व्यवस्था में बाजारों में होता है। राज्य के उद्योग धन्धे भी इस प्रकार प्रतियोगिता का खेल रचा सकेंगे तथा बाजार और कीमतें यन्त्र को समाजवादी ढांचे में भी बनाये रख सकेंगे। अब प्रश्न उठता है कि क्रय के लिये उद्योग धन्धों को मुद्रा चाहिये। इसके लिये केन्द्रिय अधिकारी प्रत्येक उद्योग धन्धों को प्रतियोगितापूर्ण व्याज दर पर कर्ज देगा। प्रत्येक उद्योग धन्धे को यह स्वतन्त्रता होगी कि वह जितना चाहे उतना, अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन ऋण ले सकता है, लेकिन प्रत्येक प्रबंधक उतना ही ऋण लेगा जितने का वह प्रचलित व्याज, व्याज दर तथा वस्तु कीमत पर उपयोग कर सकेगा। इस सब का फल यह होगा कि संसाधनों, मशीनों, शक्ति या ईंधन आदि वस्तुओं की कीमत अपने तल स्वयं ढूंढ लेगी। इस तल पर मांग पूर्ति संतुलित हो जायेंगे। बाजार यन्त्र समाजवादी व्यवस्था में अधिक सफलता तथा कुशलता से कार्य पायेगा। अधिकाधिक लाभ कमाने की चेष्टा का समाजवाद में कोई स्थान नहीं, न आय वैषम्य का भयावह अभिशाप ही यहाँ पाया जाता है। इस प्रकार पूंजीवाद में बाजार यन्त्र को दूषित करने वाले ये दो अभिशाप समाजवाद में लुप्त होंगे, इसलिये बाजार यन्त्र समाजवादी व्यवस्था में अधिक कुशलतापूर्वक कार्य कर सकता है। इसमें उपभोक्ताओं की इच्छायें तथा वस्तु पूर्ति स्थितियों का वास्तविक दिग्दर्शन होगा।

आलोचना—उपर्युक्त विचार परम्परावाद की सीमा के अन्तर्गत ही है। बाजार की अपरिहार्यता का समर्थन कर इन अर्थशास्त्रियों ने समाजवादी व्यवस्था को भी पूंजीवाद की अनिश्चितता, संसाधनों की बर्बादी आदि अवगुणों से बोझिल बनाने का प्रयत्न किया है। उत्पादन क्षेत्र में अराजकता वैसे ही रह जाती है जैसे वह पूंजीवादी व्यवस्था में पायी जाती है, समाजवादी आर्थिक व्यवस्था भी परमाणुविक सिद्धान्त पर कार्य करेगी जिसमें प्रत्येक उत्पादन-इकाइयां एक दूसरे की प्रतियोगी होंगी, जैसा पूंजीवादी व्यवस्था में होता है। ये बातें नियोजित आर्थिक व्यवस्था की बिल्कुल प्रतिगामी है। भिन्न-भिन्न उद्योग धन्धों का सुसंगठित तथा समन्वित रूप से कार्यान्वित होना समाजवादी व्यवस्था का मूल सिद्धान्त है, जिससे कि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को एक इकाई के रूप में समुन्नत बनाया जा सके। इन उद्योग धन्धों में प्रतियोगिता पैदा करने का अर्थ आर्थिक नियोजन का परिहास करना होगा। समाजवाद प्रारम्भ में आर्थिक व्यवस्था की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिए विनियोग की दर को अत्यन्त ऊंची रखने का प्रयत्न करेगा जो बात उपर्युक्त मत से मेल नहीं खायेगी। प्रो० डाब का यह मत है कि यदि उत्पादित माल के लिये खुदरा-बाजार [illegible]दि के लिये भी बाजार की उपस्थिति को स्वीकार कर लिया जाय तो माध्यमिक [illegible]ों तथा पूंजी आदि के लिये भी बाजार का होना आवश्यक नहीं क्योंकि इन [illegible] की कीमतें तो उत्पादित उपभोग माल से ही निर्धारित होती हैं।

उपर्युक्त विचार का संशोधित रूप, जिसकी रूप रेखा को प्रमुखतः प्रो० लेन्ज ने प्रस्तुत किया है, यह है कि अन्तिम उपभोग-वस्तुओं को छोड़ और किसी वस्तु का सम्पादन के लिये न तो वास्तविक बाजार की, न वास्तविक कीमतों की आवश्यकता है। इस मत के अनुसार आर्थिक व्यवस्था की बहुत कुछ गणना कागजी होगी। नियोजन अधिकारी आर्थिक तालिकाओं तथा अनुसूचियों के आधार पर उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का अन्दाजा पहले से ही लगा लेते हैं।

बहियों पर दिखाई जाने वाली कीमतें धीरे-धीरे भूल-चूक होते-होते समायोजित हो जायगी और इन्हीं हिसाब-किताब की कीमतों के आधार पर उद्योग धन्धों के प्रबन्धक उत्पादन तथा विनियोग सम्बन्धी निर्णय करेंगे। किसी साधन आदि के प्रयोग के लिये वास्तव में कोई भुगतान न करनी होगी, केवल बहियों में उनके हिसाब में उनकी कीमतों को जमा दिखा दिया जायगा। इन किताबी कीमतों को ऊपर-नीचे तब तक किया जायगा जब तक कि मांग तथा पूर्ति में सन्तुलन नहीं आ जाता। इस सन्तुलन की अवस्था ही कीमत परिस्थिति होगी। इस स्थिति पर पहुँच कर प्रबन्धकों को दो बातों का ध्यान होगा, एक तो वे अपने उत्पादन विधि को इस प्रकार नियोजित करें कि उत्पादन की औसत लागत निम्नतम हो, दूसरे अपनी उत्पादन-मात्रा को वह इस प्रकार निश्चित करें कि दी हुई किताबी-कीमतों के आधार पर वस्तु की सीमान्त लागत वस्तु की कीमत के बराबर हो।

आलोचना—इस मत का भी खास दोष यह है कि आर्थिक व्यवस्था के भिन्न-भिन्न अंगों में सुसंगठक तथा समन्वित कार्य प्रणाली का अभाव रहेगा। समाजवादी व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य होता है उद्योग धन्धों का समन्वित विकास। तमाम उद्योग धन्धों के सम्बन्ध में एक साथ ही निर्णय करना पड़ता है। यह ठीक है कि समायोजना में किसी त्रुटि को किताबी-कीमतों को घटा-बढ़ा के ठीक किया जा सकता है, लेकिन यह तभी सम्भव है जब त्रुटि के परिणाम सामने आ जायें। हो सकता है कि विनियोग किसी टिकाऊ मशीन के खरीदने में किया गया हो तथा वह इतने बड़े पैमाने पर हो कि किताबी-कीमतों के समायोजन से इस सम्बन्ध में कोई त्रुटि शीघ्र न सुधारी जा सके। प्रत्येक मास तो इन कीमतों में परिवर्तन किया नहीं जायगा। इस प्रकार हम जब देख सकते हैं कि विनियोग में काफी गड़बड़ी पड़ सकती है। विनियोग में व्यतिक्रम समस्त आर्थिक व्यवस्था की कीमतों में तेजी-मन्दी पैदा करेगा—जो पूंजीवादी व्यवस्था की सबसे बड़ी व्याधि है और जिससे बचना समाजवाद का प्रमुख लक्ष्य है और आज भी शायद ही कोई इस बात को स्वीकार न करे कि समाजवादी ही नहीं नव-स्वतन्त्र देशों की सरकारें भी विनियोग-नियोजन को आर्थिक उन्नति की कुंजी मानती हैं। राज्य किसी प्रकार के स्वतः सचालित यंत्र के भरोसे न छोड़, विनियोग की मात्रा को ही नहीं उसकी दिशा तथा अन्य बातों को दूरदर्शिता के साथ निश्चित करेगा। उपर्युक्त मत के अनुसार ब्याज दर में हेर-फेर से विनियोग पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता।

तथा भविष्य के अनुमान पर वितरण, संसाधनों तथा मशीनों आदि की कीमतों के प्रश्न को योजना आयोग हल करेगा। कीमत निर्धारण में सीमान्त लागत के सिद्धांत को सर्वदा पालन करना ठीक न होगा। जैसी आवश्यकता तथा परिस्थिति होगी उसी हिसाब से काम करना होगा। संसाधन तथा माध्यमिक मालों की कीमतें स्वेच्छापूर्वक निर्धारित करना होगा। प्रत्येक उपभोग वस्तु की सीमान्त उपयोगिताओं के अनुपात को सब उपभोक्ताओं के लिये सम करने की चेष्टा की जायगी। प्रत्येक परिस्थिति के लिये कोई एक फार्मूला तैयार नहीं किया जा सकता। कीमत निर्धारण के उपर्युक्त दो तरीके भी समय-समय पर सहायक सिद्ध हो सकते हैं। लेकिन यह सब निर्भर करता है समाजवाद की रूप रेखा पर। समाजवादी व्यवस्था की अपनी परिस्थिति के अनुसार योजना बनाना होगी और योजना मांग पूर्ति की बाजार शक्तियों पर नहीं मानव दूरदर्शिता तथा विवेक पर टिकी होनी चाहिये।

१६

सट्टा
(Speculation)

Q. "The fundamental effect of mercantile speculation is to promote the establishment of the equilibrium of supply and demand." (Taussig)

Explain fully the above statement with special reference to the economic functions of speulation in modern markets.

(Vikram 1965 M. A) (Vikram 1960 M. Com.) (Agra 1948. 51, 55, M. A.) (Agra, 1963 M Com)

Q. Discuss the effects of speculation on price fluctuations in modern markets. How far is it desirable or practicable to control speculation ? Explain clearly. (Agra M. A. 1957)

प्रश्न "व्यापारिक सट्टे का मूल प्रभाव पूर्ति और मांग के साम्य की स्थापना को प्रोत्साहित करना है।" (टासिग)। आधुनिक बाजार में सट्टे के आर्थिक कार्यों के सन्दर्भ में उपरोक्त कथन को पूर्णतः समझाइये। (विक्रम १९६६ एम० ए०) (विक्रम १९५० एम० काम०) (आगरा १९६३ एम० काम०) (आगरा (एम० ए० १९४८, १९५१, १९५५)

या

प्रश्न —आधुनिक बाजारों में मूल्य-परिवर्तनों पर सट्टे के प्रभावों का विवेचन कीजिए। क्या सट्टे पर नियन्त्रण करना वांछनीय या व्यवहारिक है? स्पष्टत: समझाइये। (आगरा एम० ए० १९५७)

Discuss the functions of a speculator in modern times. How far is it practicable and desirable to control speculation.

(Agra 1964 M. Com.)

आधुनिक समय में परिकल्पक के कार्यों का विवेचन कीजिए। परिकल्पना या सट्टे पर नियन्त्रण करना कहां तक वांछनीय या व्यवहारिक है।

(आगरा १९६४ एम० काम०)

डा० एस० ई० व्यास के शब्दों में, "सट्टा प्रारम्भिक रूप में वह व्यापारिक साहस है जो मूल्यों में वृद्धि या कमी की अपेक्षा में किया जाता है। इसका मूल किसी एक वस्तु का, किसी एक समय पर इस हेतु क्रय (या विक्रय) करना ... उसको साधारणतया उसी बाजार में किसी दूसरे समय पर विक्रय ... लाभ

कर सकता है और बिना उसके प्रभाव के कीमत स्वतन्त्रता पूर्वक बढ़ने अथवा घटने जा रही है और जो, कीमत के इस उतार चढ़ाव से लाभ उठाने के प्रयत्न मे क्रय विक्रय करता है तो इस व्यक्ति के कार्य को साधारण अथवा प्रतियोगी सट्टा कहा जाता है। इस प्रकार का सटोरिया सस्ती कीमतों पर क्रय करता है तथा उसे महंगी कीमतों पर विक्रय करता है और ऐसा करके लाभ उठाता है। यह उन जगहो से भी जहा वस्तु सस्ती होती है खरीदकर उन जगहों पर बेचता है जहाँ पर वस्तु महंगी होती है। वस्तु सस्ती वहीं होती है जहां पर कि पूर्ति अधिक होती है और महगी वहीं होती है जहा पूर्ति कम होती है। इस प्रकार यह अपने कार्य के द्वारा पूर्ति का समान वितरण करता है।

(२) एकाधिकारी सट्टा (Monopolistic Speculation) :—प्रोफेसर लरनर का कहना है कि वास्तविक जीवन मे प्रतियोगी सट्टे के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का सट्टा पाया जाता है जिसको उन्होंने आंगल भाषा में Aggeressive Speculation अथवा एकाधिकारी सट्टा (Monopolistic Speculation) के नाम से पुकारा है। इस प्रकार के सट्टे मे अधिक पूंजी वाले सटोरिये कीमतों को अपनी रुचि के अनुसार बदल देते हैं। वे कीमतों के बीच अधिकतम अन्तर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। यह समाज के लिये बहुत हानि—कारक है क्योंकि इसमें कीमतों के उतार चढ़ाव को जानबूझकर बराबर करने की अपेक्षा अधिक किया जाता है।

सट्टे के लिये उचित वस्तुयें (Commodities Suitable for Speculation): कोई भी वस्तु इसके पहले कि वह सट्टे के लिये उचित हो उसमें चार निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है :—

(१) उस वस्तु की मांग बहुत अधिक होनी चाहिये। जितनी अधिक मांग होगी उतनी ही उचित वह वस्तु सट्टे के लिये होगी।

(२) मांग में अधिक अस्थिरता (Fluctuation) होनी चाहिये और उस वस्तु की पूर्ति (Supply) ऐसी होनी चाहिये कि उसमे शीघ्रता से परिवर्तन न हो सके। परिणाम यह होगा कि उस वस्तु की कीमतें कभी तो बहुत अधिक होंगी और कभी बहुत कम।

(३) वस्तु का स्पष्ट रूप से वर्गीकरण किया जा सकता हो। ऐसा होना अति आवश्यक है अन्यथा सौदा करते समय वस्तु की किस्म (Quality) को देखना पड़ेगा।

(४) उस वस्तु की कोई न कोई प्रमाणिक माप होनी चाहिये।

सट्टे के आर्थिक कार्य (Economic functions of Speculation) :—आर्थिक जगत में सट्टा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वास्तव मे किसी अर्थ व्यवस्था की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय सट्टे को दिया जा सकता है। सट्टे के द्वारा न केवल व्यापार की वृद्धि होती है, वरन् सट्टा मूल्यों मे स्थिरता कायम रखने, आर्थिक जोखिम का वितरण करने, उत्पादन बढाने, पूँजी विनियोग में वृद्धि करने

लगाता है तथा उसी माँग के अनुसार उत्पादन करता है। इसमें जोखिम, यदि कुशल साहसी हो तो वहुत कम हो जाता है।

(२) वैध सट्टा अथवा उचित सट्टा :—इसके अन्तर्गत पूंजी का विनियोग उस साहस में किया जाता है जिसके जोखिम का किसी को पता नहीं होता है। इस प्रकार के सट्टे में केवल प्रवीण व्यक्ति ही आते हैं। वे वैज्ञानिक रूप से मांग तथा पूर्ति को प्रभावित करने वाली सब शक्तियों का अध्ययन करते हैं और भावी कीमत का अनुमान करते हैं। यदि यह देखता हैं कि भविष्य में फसल के अच्छे होने से पूर्ति बढ़ जायेगी और कीमत के गिरने की सम्भावना है तो वह तुरन्त ही अपने पास के सब माल को इस आशा में वेच देगा कि भविष्य में जब कीमत गिरेगी तब उसको पुनः खरीद लेगा। यदि वह अनुमान लगाता है कि कीमत बढ़ने जा रही है तो वह माल को तुरन्त इस आशा में क्रय कर लेगा कि जब कीमत अधिक बढ़ जायेगी तब इसको बेचकर वह लाभ प्राप्त करेगा। थामस के शब्दों में "इस प्रकार एक सटोरिया मांग की भविष्यवाणी करता है और भावी पूर्ति को आँकता है, और इस प्रकार वह एक वैध तथा उपयोगी कार्य करता है।"[1] टाजिग ने इस प्रकार के सट्टे को व्यवसायी सट्टा कहा है।

(३) अवैध सट्टा या जुआ:—इस प्रकार का सट्टा वह सट्टा होता है जिसमें अज्ञानी सटोरिये काम किया करते हैं। इनको बहुधा पूर्ति तथा मांग को प्रभावित करने वाली शक्तियों का ज्ञान भी नहीं रहता है और वे भावी कीमत का अन्दाज भी गलत लगाते हैं। परिणाम यह होता है कि वह भावी कीमत के गलत अनुमान में सौदे कर लेते हैं और बाद में काफी हानि उठाते हैं और बहुधा अपने आपको बर्बाद कर लेते हैं। इसलिये यह एक प्रकार का जुआ है। यह कीमतों के चढ़ाव-उतार को और अधिक बढ़ा दिया करते हैं। थामस के शब्दों में, 'वैध सट्टा कीमतों के उतार-चढ़ाव को बराबर करता है और जुआ बहुधा कीमतों के उतार-चढ़ाव को बढ़ाता है।"

यह बात यहां बताने योग्य है कि वैध अथवा अवैध सट्टे में केवल अन्तर सटोरियों की प्रवीणता में है। यदि सटोरिया भावी कीमत के अनुमान में प्रवीण है तो उसके कार्य को वैध सट्टा कहेगें और यदि वह अपने कार्य में अयोग्य है तो उसके सट्टे को जुआ अथवा अवैध सट्टा कहेंगे।

कभी कभी सट्टे का वर्गीकरण (१) साधारण अथवा प्रतियोगी सट्टा (Simple or Competitive Speculation) (२) एकाधिकारी सट्टा (Monopolistic Speculation) में भी किया जाता हैं।

(१) साधारण अथवा प्रतियोगी सट्टा (Simple or Competitive Speculation):—यदि एक व्यक्ति यह देखता है कि वह कीमत को बिल्कुल प्रभावित नहीं

1. "A speculator makes it his business to forecast demand and to estimate future sudplies and in this respect he performs a legitimate and useful function."
—S. E. Thomas : Elements of Economics, p. 132

कर सकता है और बिना उसके प्रभाव के कीमत स्वतन्त्रता पूर्वक बढ़ने अथवा घटने जा रही है और जो, कीमत के इस उतार चढ़ाव से लाभ उठाने के प्रयत्न में क्रय विक्रय करता है वो इस व्यक्ति के कार्य को साधारण अथवा प्रतियोगी सट्टा कहा जाता है। इस प्रकार का सटोरिया सस्ती कीमतों पर क्रय करता है तथा उसे महंगी कीमतों पर विक्रय करता है और ऐसा करके लाभ उठाता है। यह उन जगहो से भी जहां वस्तु सस्ती होती है खरीदकर उन जगहों पर बेचता है जहां पर वस्तु महंगी होती है। वस्तु सस्ती वहीं होती है जहां पर कि पूर्ति अधिक होती है और महगी वही होती है जहां पूर्ति कम होती है। इस प्रकार वह अपने कार्य के द्वारा पूर्ति का समान वितरण करता है।

(२) एकाधिकारी सट्टा (Monopolistic Speculation) :—प्रोफेसर लरनर का कहना है कि वास्तविक जीवन में प्रतियोगी सट्टे के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का सट्टा पाया जाता है जिसको उन्होंने आंग्ल भाषा में Aggeressive Speculation अथवा एकाधिकारी सट्टा (Monopolistic Speculation) के नाम से पुकारा है। इस प्रकार के सट्टे में अधिक पूंजी वाले सटोरिये कीमतों को अपनी रुचि के अनुसार बदल देते हैं। वे कीमतों के बीच अधिकतम अन्तर रखने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। यह समाज के लिये बहुत हानि—कारक है क्योंकि इसमें कीमतों के उतार चढ़ाव को जानबूझकर बराबर करने की अपेक्षा अधिक किया जाता है।

सट्टे के लिये उचित वस्तुयें (Commodities Suitable for Speculation): कोई भी वस्तु इसके पहले कि वह सट्टे के लिये उचित हो उसमे चार निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है :—

(१) उस वस्तु की मांग बहुत अधिक होनी चाहिये। जितनी अधिक मांग होगी उतनी ही उचित वह वस्तु सट्टे के लिये होगी।

(२) मांग में अधिक अस्थिरता (Fluctuation) होनी चाहिये और उस वस्तु की पूर्ति (Supply) ऐसी होनी चाहिये कि उसमे शीघ्रता से परिवर्तन न हो सके। परिणाम यह होगा कि उस वस्तु की कीमतें कभी तो बहुत अधिक होंगी और कभी बहुत कम।

(३) वस्तु का स्पष्ट रूप से वर्गीकरण किया जा सकता हो। ऐसा होना अति आवश्यक है अन्यथा सौदा करते समय वस्तु की किस्म (Quality) को देखना पड़ेगा।

(४) उस वस्तु की कोई न कोई प्रमाणिक माप होनी चाहिये।

सट्टे के आर्थिक कार्य (Economic functions of Speculation) :—आर्थिक जगत में सट्टा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वास्तव मे किसी अर्थ व्यवस्था की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय सट्टे को दिया जा सकता है। सट्टे के द्वारा न केवल व्यापार की वृद्धि होती है, वरन् सट्टा मूल्यों मे स्थिरता कायम रखने, आर्थिक जोखिम का वितरण करने, उत्पादन बढ़ाने, पूंजी विनियोग मे वृद्धि करने

एवं अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने में भी सहायता करता है।

व्यापारिक सट्टे का मूल प्रभाव मांग और पूर्ति का साम्य स्थापित करना (Fundamental effect of speculation establishment of the equilibrium of demand and supply)—

प्रोफेसर टाजिग का विचार है कि "व्यवसायिक सट्टे का मूलभूत प्रभाव माँग और पूर्ति के साम्य की स्थापना को प्रेरित करना है।" सट्टे के व्यवहार सैद्धान्तिक रूप में कृत्रिम माँग और पूर्ति की वृद्धि करते हैं। जब वस्तु का मूल्य कम होता है तब तेजड़िये (Bulls) भविष्य में मूल्य वृद्धि की अपेक्षा में वस्तु को क्रय करने लगते है और इस प्रकार बाजार में उस वस्तु की मांग बढ़ जाती है और मूल्य कम नहीं होने पाते हैं। जब वस्तु के मूल्य बढ़ने लगते हैं तो वे अपनी खरीद को बेचने लगते हैं, इस तरह वस्तु की पूर्ति बढ़ जाती है मूल्य बढने नहीं पाते हैं। परिणाम यह होता है कि सट्टे की मांग और पूर्ति वस्तु की माँग और पूर्ति में साम्य बनाये रखती है। यही काम मन्दड़िये (Bears) भी करते हैं। जब वस्तु की मीमतें अधिक होती हैं तो ये लोग बेचने लगते हैं और पूर्ति बढ जाने के कारण कीमतें बढ़ नहीं पाती है। जब कीमतें कम हो जाती हैं तो ये अपनी बिक वाली के लिये खरीदने लगते हैं और माँग बढ़ जाने के कारण कीमतें कम नहीं हो पाती है।

> **सट्टे का मूल प्रभाव-मांग और पूर्ति को साम्य की ओर प्रवृत्ति**
>
> (१) मांग और पूर्ति में कृत्रिम वृद्धि द्वारा।
> (२) मूल्यों में स्थिरता द्वारा।
> (३) अन्तर्सम्बन्ध द्वारा।
> (४) मूल्य परिवर्तन की जोखिमों का विभाजन।
> (५) माँग और पूर्ति के काल परिवर्तन के प्रभावों की निष्क्रियता।
> (६) माँग और पूर्ति का साम्य सटोरियों के अनुमान और विवेक की सफलता पर निर्भर।

इस प्रकार, व्यवसायिक सट्टा मूल्यों में स्थिरता कायम रखने में सहायता करता है। सटोरिये जब यह देखते हैं कि कीमतें बढ़ती जा रही हैं तो वे खरीदना शुरू कर देते हैं। उनकी खरीदी से वस्तु की माँग बढ़ जाती है और कीमतें कम होने के बजाय बढ़ने लगेगी। कीमत बढ़ने पर वस्तु का उपभोग कम होने लगेगा, और बचा हुआ माल भविष्य में भी पूर्ति को घटते नहीं देगा और कीमतें अधिक ऊंची नहीं होने पायेंगी। किन्तु जब सटोरिये यह देखते हैं कि कीमतें ज्यादा हैं तो वे अपने पास के माल को बेचना शुरू कर देते हैं, फलतः पूर्ति बढ़ जाती है और कीमतें बढ़ने के बजाय घटने लगती हैं। पूर्ति बढ़ने के कारण उपभोग भी बढ़ जाता है और भविष्य के लिये पूर्ति कम हो जाती है और मूल्य अधिक कम नहीं होने पोते हैं। इस प्रकार मूल्य लगभग स्थिर रहते हैं और उनमें जो भी परिवर्तन होते हैं वे माँग और

पूर्ति में साम्य स्थापना या सामान्य मूल्य की ओर प्रेरित करते हैं, जैसा कि निम्न चित्र से प्रगट है:—
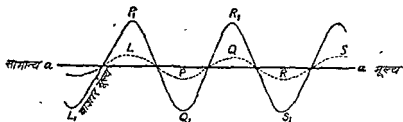
चित्र—१

रेखा a-a सामान्य मूल्य को, $L_1P_1Q_1R_1S$, सट्टे के अभाव मे बाजार मूल्य को और LPQRS सट्टे के बाद बाजार मूल्य को प्रगट करती हैं। स्पष्ट है कि सट्टे के कारण मूल्यों मे उच्चावचन कम हो जाते हैं।

सटोरियों के कार्य से केवल वर्तमान मांग या पूर्ति ही प्रभावित नहीं होते वरन् वे भावी मांग और पूर्ति को भी प्रभावित करते हैं। वास्तव मे वर्तमान मांग और भावी मांग में घनिष्ट सम्बन्ध है, और इस कारण मूल्यों में सदा एक-सा स्तर रहता है। उदाहरण के लिये, यदि गेहूँ के वर्तमान मूल्य कम हैं तो तेजड़िये खरीदी करने लगेंगे, मांग बढ़ जायेगी और मूल्य अधिक हो जायेंगे। परिणामत उपभोग कम हो जायेगा, भविष्य की पूर्ति बढ जायेगी और भविष्य मे मूल्य अधिक नहीं बढने पायेंगे।

माग और पूर्ति मे साम्य की स्थापना का एक कारण यह भी है कि मूल्य परिवर्तन से होने वाली हानि का बीमा हो जाता है। फेयरचाइल्ड के शब्दों में, सट्टा वही कार्य करता है जो कि बीमा करता है, अर्थात् वह उन घटनाओं को जिनके विरुद्ध वह कार्य करता है, कम कर देता है।

टॉजिग का कहना है कि व्यवसायिक सट्टा दैनिक बाजार मूल्य को मौसमी बाजार मूल्य (Seasonal Market Price) के अनुरूप करने का प्रयास करता है और मौसमी बाजार मूल्य को इस प्रकार बनाता है कि उस पर समस्त मौसमी पूर्ति की बिक्री हो जाती है। वास्तव मे मूल्य पर अस्थायी कारण प्रभाव नही डाल पाते हैं। फसल के समय साधारणतः वस्तु की पूर्ति बढ़ जाती है, किन्तु सट्टे के कारण मूल्य अधिक नहीं गिरने पाते क्योंकि मूल्य कम होने पर सटोरिये खरीदी करना प्रारम्भ कर देते हैं। गैर फसल के समय में जब कीमतें ज्यादा होती हैं ये सटोरिये बेचना शुरू कर देते हैं और मूल्य अधिक नही बढ़ पाते हैं। इसी प्रकार, सटोरिये उस स्थान पर खरीदते हैं जहां मूल्य कम हो और उस स्थान पर बेचते हैं, जहां मूल्य अधिक हो। परिणामतः सभी स्थानों पर लगभग एक ही मूल्य स्थापित होने की प्रवृत्ति होती है।

किन्तु सट्टे की सफलता सटोरियों के सही अनुमान और उचित कार्यवाहियों पर निर्भर है। यदि सटोरियों के अनुमान सही नहीं निकलें या सटोरियों की कार्यवाही गलत हो तो मूल्य घटने के स्थान पर बढ़ सकते हैं और बढ़ने के स्थान पर घट सकते हैं। पूर्ति और मांग में साम्य की स्थापना न होकर, विषम स्थिति अधिक जटिल हो सकती है। किसी ने सही ही कहा है—सट्टा प्रज्ञा का संयोग से संघर्ष है।

सट्टे के अन्य आर्थिक लाभ—

(१) **उत्पादकों को जोखिम से मुक्ति**—सट्टे से उद्योगपतियों तथा उत्पादकों को बड़ा लाभ होता है। सट्टेबाज कच्चे माल की कीमतों के परिवर्तनों को कम कर देते हैं, जिससे उत्पादक के व्यवसाय की अनिश्चितता दूर हो जाती है और हानि का भय कम हो जाता है। उत्पादक बहुधा तैयार माल को निश्चित मूल्य पर भविष्य में बेचने का वायदा करता है, परन्तु हो सकता है कि भविष्य में कच्चे माल के दाम बढ़ जाएं। ऐसी दशा में उत्पादक को हानि होती है। इससे बचने के लिये उत्पादक किसी सट्टेबाज से भविष्य में कच्चा माल देने का वायदा ले लेता है, अर्थात् वह वायदा करते समय द्वैध रक्षण ठेका (Hedging Contract) कर लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादक को स्वयं जोखिम नहीं उठानी पड़ती। यह काम उसके लिये सट्टेबाज करता है। इस प्रकार उत्पादक का लाभ यथा स्थिर रहता है। कच्चे माल की कीमतों के ऊपर चढ़ जाने की जोखिम सट्टेबाज के कन्धों पर पड़ती है। स्मरण रहे कि भविष्य में यह भी सम्भव हो सकता है कि कच्चे माल के दाम बढ़ने की अपेक्षा घट जाएं। ऐसी दशा में उत्पादक और सट्टेबाज दोनों ही लाभ कमाते हैं। तात्पर्य यह है कि सट्टे के कारण उत्पादक को उत्पादन की ही जोखिम उठाना पड़ती है, अन्न जोखिम से वह बच जाता है।

> **सट्टे के अन्य आर्थिक लाभ**
>
> (१) उत्पादकों को जोखिम से मुक्ति।
> (२) भावी उत्पादन के स्वरूप को निश्चित करने में सहायता।
> (३) पूंजी के उचित विनियोग को प्रोत्साहन।
> (४) उपभोक्ताओं को लाभ-मूल्यों में स्थिरता द्वारा पारिवारिक बजट बनाने में सहायता।
> (५) समाज को लाभ-आर्थिक जीवन में निश्चितता।
> (६) जनता को मितव्ययिता की चेतावनी।
> (७) बेरोजगारी में कमी।
> (८) परोक्ष प्रभाव।

(२) **भावी उत्पादन के स्वरूप को निश्चित करने में सहायता**—सट्टे द्वारा ...ष्य के उत्पादन में सहायता मिलती है। सट्टे के बाजार का रूख देखकर ही इस बात का निर्णय किया जाता है कि भविष्य के लिये कौनसी वस्तु का

उत्पादन किया जाय और कितनी मात्रा में। एक किसान अथवा औद्योगिक उत्पादक के लिये उसी वस्तु का उत्पादन अधिक लाभदायक होता है, जिसके दामों की भविष्य में चढ़ जाने की सम्भावना होती है, अर्थात् जिसकी मांग भविष्य में अधिक होगी। यदि कपास का भावी बाजार ऊपर जा रहा है और चीनी का नीचे तो गन्ने के स्थान पर कपास का पैदा करना ही किसान के लिये हितकारी होगा।

(३) पूंजी के उचित विनियोग को प्रोत्साहन—स्टाक् एक्सचेंज मे अच्छी कम्पनियों के हिस्सों के दाम ऊंचे रहते हैं, अर्थात् जिन कम्पनियों के भविष्य मे लाभ कमाने की सम्भावना होती है, उनके शेयरस् तथा ऋण-पत्रो के वायदे के भाव ऊपर चढ़ जाते हैं। इसके विपरीत जिन कम्पनियो मे प्रबन्ध की त्रुटियों अथवा अन्य कारणों से घाटे की सम्भावना रहती है, उनके शेयरस् के दाम गिर जाते है। उद्योगों मे रुपया लगाने वाले व्यक्तियों (Investors) के लिये स्टाक् एक्सचेंज के भावों का ज्ञान बड़ा महत्वपूर्ण होता है। रुपया सदा ऐसे उद्योगो मे लगाया जाता है, जहा लाभ की आशा रहती है।

साथ ही स्टाक् एक्सचेंज के द्वारा शेयरस् और ऋण-पत्रो का सरलतापूर्वक हस्तान्तरण हो जाता है। एक व्यक्ति एक कम्पनी के शेयर बेचकर दूसरी के शेयर खरीद सकता है या नकद रुपया पा सकता है। इससे कम्पनियो पर विश्वास बना रहता है और उन्हें यथेष्ट धन मिलता रहता है।

(४) उपभोक्ताओं को लाभ—स्थिर कीमतें उपभोक्ताओ के दृष्टिकोण से बहुत अच्छी होती हैं। ऐसी दशा मे मांग और पूर्ति मे साम्य रहता है और उपभोग मे अधिकतम सन्तोष प्राप्त होता है। कीमतो के तीव्र परिवर्तन इस बात को सूचित करते हैं कि मांग और पूर्ति में साम्य स्थापित नही हो रहा है। जब दाम तेजी से बदलते रहते हैं तो उपभोक्ता को पारिवारिक बजट बनाने में कठिनाई होती है और वह व्यय की कार्यवाहक योजना नही बना सकता है क्योंकि आय और व्यय का अनुमान पूर्णतया सही नही होता है।

(५) आर्थिक जीवन में निश्चितता—स्थिर कीमतें आर्थिक जीवन में निश्चितता लाती हैं। अनिश्चितता सदा ही बुरी होती है। यदि कीमतो के जल्दी-जल्दी बदलने की आशा नही रहती तो आर्थिक जीवन जो सुचारु रूप से चलाया जा सकता है और उत्पत्ति, रोजगार इत्यादि के विषय मे सही अनुपात लगाये जा सकते हैं।

(६) जनता को मितव्ययिता की चेतावनी—अपनी क्रियाओ के द्वारा सट्टेबाज जनता का ध्यान भविष्य मे वस्तु की पूर्ति की कमी की ओर आकर्षित कर देते हैं और इस प्रकार जनता को पहले से चेतावनी दे देते हैं। इसका एक परिणाम यह होता है कि वस्तु का अपव्यय नही होता। जनता ऐसी वस्तु के उपभोग में अधिक मितव्ययिता से काम लेती है। अब यदि वह वस्तु ऐसी है कि इसका देश के उपभोग में महत्वपूर्ण स्थान है, जैसे खाद्य-पदार्थ, तो देश को बड़ा भारी लाभ होगा।

(७) सट्टा देश में बेरोजगारी को कम करता है क्योंकि बहुत से व्यक्ति भावी कीमतों की भविष्यवाणी करके जीविका उपार्जन कर लेते हैं। इस प्रकार यह रोजगार भी देता है।

(८) इसका परोक्ष प्रभाव भी बहुत अधिक है। इसके प्रभाव से वस्तुओं का श्रेणीकरण तथा वर्गीकरण करने की उत्पादकों को प्रेरणा मिलती है। कारण कि वही वस्तुएं सट्टे के लिये उचित होती हैं जिनका वर्गीकरण तथा श्रेणीकरण हो चुका हो।

सट्टे के दोष—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि सट्टे से अनेक लाभ होते हैं, किन्तु यथार्थ में सट्टा भी एक प्रकार का जुआ ही है। इससे उत्पत्ति की वृद्धि नहीं होती है। यदि किसी एक व्यक्ति को लाभ होता है तो उसके साथ दूसरे को हानि होती है और इस प्रकार पूरे समाज को लाभ नहीं होता है। कभी-कभी अनुचित सट्टेबाजी भी की जाती है, जिससे लाभ के स्थान पर उलटी हानि ही होती है। कहने का मतलब यह है कि सट्टे का अनुचित उपयोग हो सकता है और बहुधा किया भी जाता है।

सट्टे की प्रमुख बुराइयां निम्न प्रकार हैं—

(१) **कीमतों की अस्थिरता**—जब सट्टे द्वारा कीमतों के परिवर्तन कम हो जाते हैं तो सट्टे से लाभ होता है, परन्तु बहुत बार सट्टेबाज मूल्य परिवर्तन को कम करने के बजाय उल्टा बढ़ा देते हैं। सट्टेबाज नकली तेजी वाले अथवा मन्दी वाले उत्पन्न कर देते हैं और इस प्रकार लोगों को धोखा देकर स्वयं तो लाभ कमा लेते हैं और मूल्य में बड़ी तेजी से परिवर्तन करके दूसरे सट्टे बाजों तथा जनता को भारी हानि पहुंचाते हैं।

(२) **कीमतों में अकारण उच्चावचन**—जब अनिपुण तथा बिना अनुभव के लोग सट्टा करते हैं तो उनके सट्टे तथा जुए में कोई अन्तर नहीं होता है और इस प्रकार के सट्टे में जुए की सभी हानियां उपस्थित रहती हैं। ये लोग झूठी अफवाहों तथा गलत अनुमानों के आधार पर सट्टा लगाते हैं और कीमतों में अकारण ही तीव्र उच्चावचन पैदा कर देते हैं।

(३) **धोखेबाजी**—जब निपुण और अनुभवी सट्टेबाज ईमानदारी तथा होशियारी के साथ भावी दामों का अनुमान लगाकर काम नहीं करते, वरन् अपनी जेबें भरने का प्रयत्न करते हैं तो सट्टा समाज के लिये अभिशाप बन जाता है। ऐसी दशा में वस्तु की पूर्ति को छिपाने का प्रयत्न किया जाता है। यह दिखाकर कि पूर्ति की कमी है, दामों को ऊपर चढ़ा दिया जाता है और फिर इस छिपाई हुई पूर्ति को ऊंचे दामों में बेचकर अनुचित लाभ उठाया जाता है। ऐसे लोग समाज का भारी अहित करते हैं।

(४) **जुआरी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन**—सट्टा जनता में जुआ खेलने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। इस दिशा में अनुचित सट्टा बड़ा महत्व रखता है। यह प्रवृत्ति

दीर्घकालीन दृष्टि से हानिकारक होती है, क्योंकि इसके फलस्वरूप वास्तविक उत्पादकों के स्थान पर ऐसे लोगों की संख्या बढ़ जाती है, जो जुआ खेलकर अनार्थिक कार्य करके जीविका चलाते हैं।

इस प्रकार अनुचित सट्टा हानिकारक होता है। जुआरी सट्टेबाजों में भेड़चाल होती है, अर्थात् वे जैसा दूसरों को करते देखते हैं वैसा ही स्वयं भी बिना अधिक सोचे समझे करने लगते हैं। यहां पर सट्टे का आर्थिक महत्व शेष नहीं रहता है। इस प्रकार जुआरी सट्टा समाज के लिये हानिकारक होता है। इस सम्बन्ध में लार्ड कीन्स ने ठीक ही लिखा है "उपक्रम की नियमित धारा की सतह पर बुलबुलों के रूप में सम्भव है कि सट्टे से कोई हानि न होती हो, परन्तु जब सारा उपक्रम ही सट्टे के भंवर का बुलबुला बन जाता है तो स्थिति बहुत भयकर बन जाती है। जब देश में पूंजी का विकास सट्टेबाज की कार्यवाहियों का एक अविशिष्ट पदार्थ मात्र रह जाता है तो यह निश्चय है कि यह विकास समुचित रूप में नहीं हो सकेगा।"[1]

सट्टे पर नियन्त्रण (Control on Speculation)—सट्टे की बुराइयों को दूर करने के लिये यह प्रश्न उठता है कि क्या सट्टे बाजार पर सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाया जाना चाहिये। आधुनिक युग की लगभग सभी देशों की सरकारें इस बात पर सहमत हैं कि अनुचित सट्टे को रोकना चाहिये, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां हैं—

(१) सट्टे को रोकने के लिये जो कानून बनाये जाते हैं अथवा जिन तरीकों को अपनाया जाता है वे बहुधा अधूरे होते हैं। इनमें कुछ न कुछ त्रुटियां ऐसी रह जाती हैं जिनके कारण पूर्ण रूप से उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती है।

(२) कानूनों में ढील-पोल (Loopholes) निकाल कर या दूसरे प्रकार की सट्टे की रीतियों को अपनाकर सट्टे के काम को जारी रखा जाता है।

(३) जुए के रूप में जो सट्टा होता है, उसका बन्द हो जाना ही देश और समाज के लिये अच्छा है, परन्तु कठिनाई यह है कि उचित और अनुचित सट्टे में भेद करना सदैव सम्भव नहीं होता है, इसलिये नियन्त्रण के सही उपाय बताना कठिन काम है।

प्रोफेसर टॉजिग ने स्टाक एक्सचेंज के सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिये हैं—(१) एक्सचेंज द्वारा बनाये गये नियमों में सरकार को उचित परिवर्तन करके इन नियमों को लागू करना चाहिये। (२) स्टाक के व्यवसाय के सम्बन्ध में सूचनाओं का देना। (३) पूरे उद्योग पर नियन्त्रण लगाना, परन्तु स्मरण रहे कि इससे सट्टा तो अवश्य रुक जायगा, परन्तु औद्योगिक उन्नति में बाधा पड़ जायगी। (४) उद्योग के नैतिक स्तर को ऊंचा उठा कर सट्टे के विरुद्ध बलशाली जनमत का तैयार करना।

---

1 [illegible]

कुछ दूसरे उपाय इस प्रकार के हो सकते हैं—(अ) उत्पादन नियमित समय पर नियमित ढंग पर करके कीमतों के परिवर्तन को कम किया जा सकता है, जिससे सट्टे का आधार ही समाप्त हो जायगा।

(ब) जैसा कि लरनर ने सुझाव दिया है, अनुचित सट्टे को बन्द करने के लिये उसका प्रतिद्वन्दी सट्टा (Counter Speculation) खड़ा कर देना चाहिये। यह काम तब हो सकता है, जबकि सरकारी सूत्रों के द्वारा उचित मूल्य की सूची बनाई जाय और जनता को उचित मूल्य का ज्ञान दिया जाय।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में माँग और पूर्ति के साम्य को उत्पन्न एवं स्थिर करने के लिये सट्टा या परिकल्पना एक आवश्यक एवं उपयोगी उपकरण है। किन्तु इसके कुछ खतरे ऐसे हैं कि जिन पर समुचित नियन्त्रण होना न केवल वांछनीय ही है, वरन् व्यवहारिक एवं संभव भी है।

२०

साम्य-विश्लेषण

(Equilibrium Analysis)

Q. Discuss the meaning and functions of equilibrium economic analysis. (1952 I. A. S.)

साम्य आर्थिक विश्लेषण के तात्पर्य एवं कार्यों का विवेचन कीजिये। (१९५२ आई. ए. एस परीक्षा)

What do you understand by economic equilibrium? Distinguish between general and particular equilibrium. (Raj. 1959 M. A.)

आर्थिक साम्य से आप क्या समझते हैं। सामान्य और विशेष साम्य का भेद स्पष्ट कीजिये। (राज० १९५९ एम. काम.)

Distinguish between partial and general equilibrium analysis. What are the respective merits of each. (Raj. 1960 M. Com.)

आंशिक साम्य विश्लेषण एव सामान्य साम्य विश्लेषण में भेद कीजिये। प्रत्येक के गुण क्या हैं? (राज० १९६० एम. ए.)

Explain the concept of economic equilibrium and clearly bring out the difference between general and particular equilibrium. (Indore 1965 M. A)

आर्थिक साम्य की संकल्पना समझाइए और सामान्य एवं विशिष्ट साम्य में भेद पूर्णतः स्पष्ट कीजिए। (इन्दौर १९६५ एम. ए.)

साम्य
(Equilibrium)

जब किसी वस्तु को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ परस्पर सन्तुलन के कारण वस्तु को प्रभावित नहीं कर सकती हैं तो वह वस्तु साम्य या सस्थिति की अवस्था में कही जा सकती है। 'साम्य' का यद्यपि शाब्दिक अर्थ सन्तुलन, सम-भार या तटस्थता होता है, किन्तु इसका प्रयोग मुख्यतः यान्त्रिकी, भौतिकी, गणित, शरीर क्रिया विज्ञान और रसायन शास्त्र में होता रहा है और वहीं से यह शब्द अर्थशास्त्र में भी ग्रहण किया गया है। यान्त्रिकी (Mechanics) में इसका तात्पर्य ऐसी स्थिति से है जहाँ किसी भौतिक पिण्ड पर कार्य करने वाली विभिन्न शक्तियों का परस्पर संतु-

लन हो जाता हैं। वह व्यक्ति जो साईकल चलाता है, इसी अवस्था में, अर्थात् साम्य कायम रखकर ही, साईकल चला सकता है। भौतिकी (Physics) का भी यही आशय है कि जब दो समान परन्तु विरोधी शक्तियाँ एक दूसरे के बल का खण्डन कर देती है तो पदार्थ गतिहीन होकर यथा स्थिर रह जाता है। गुरुत्वाकर्षण के कारण, जो बेलून वायु में टिक जाता है और न ऊपर उठने की प्रवृत्ति रखता है न नीचे आने की, साम्य या संस्थिति की अवस्था में होता है। शरीर-क्रिया-विज्ञान में संस्थिति या साम्य का अर्थ मनुष्य द्वारा शरीर का सीधी अवस्था में नियन्त्रण होता है और इसी के कारण मनुष्य चलने-फिरने- दौड़ने और गुरुत्वाकर्षण शक्ति का विरोध करने में समर्थ होता है। रसायनशास्त्र में कोई वस्तु रासायनिक संस्थिति में तब पाई जाती है जबकि उसके किसी अवयव में रासायनिक परिवर्तन की प्रवृत्ति पाई न जावे। रासायनिक संस्थिति स्थिरता की दशा नहीं है, यह ऐसी अवस्था है जिसमें किसी दिशा में प्रतिक्रिया का वेग उसकी विरोधी दिशा में प्रतिक्रिया के वेग के बराबर होता है।

आर्थिक विश्लेषण में 'साम्य' या 'संस्थिति' शब्द का प्रयोग कहाँ से लिया गया यह कहना तो अत्यन्त कठिन है, किन्तु साम्य शब्द का आर्थिक तात्पर्य वही है जो इन सब विज्ञानों में ग्रहण किया है। वास्तव में अर्थव्यवस्था (economy) अनेक तत्वों और शक्तियों द्वारा प्रभावित होती हैं, किन्तु जब इनके प्रभावों के कारण उसमें कोई परिवर्तन नहीं होते तो हम उसे साम्य की अवस्था में कहते हैं। इस प्रकार आर्थिक साम्य से आशय, यदि हम राबिन्स की 'आर्थिक' शब्द की व्याख्या का प्रयोग करें तो यह कह सकते हैं, उस अवस्था से है जबकि मनुष्य के उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों में संतुलन स्थापित हो जाता है। अर्थात्, आर्थिक साम्य की अवस्था अधिकतम संतुष्टि की, और इस प्रकार, अधिकतम उत्पादन की, अवस्था होती है। अन्य शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वस्तुओं और उत्पत्ति के साधनों की माँग और पूर्ति में जब संतुलन स्थापित हो जाता है तो उसे हम आर्थिक साम्य की स्थिति कहते हैं। यह अधिकतम आर्थिक कल्याण की अवस्था होती है और इस स्थिति को प्राप्त करना ही मानव-व्यवहार का लक्ष्य है।

आर्थिक साम्य का विचार वास्तव में अर्थशास्त्रियों के उन प्रयत्नों का परिणाम है जो उन्होंने एक सामान्य मूल्य सिद्धान्त, जो कि पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकार आदि सभी अवस्थाओं में मूल्य निर्धारण को स्पष्ट कर सके, के निरुपण के लिए किये थे। जब किसी वस्तु की माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित हो जाता है, तो उसे हम 'साम्य' की स्थिति कहते हैं। ऐसी अवस्था में जो मूल्य निर्धारित होता है उसे साम्य मूल्य (Equilibrium Price) और जो पूर्ति निर्धारित होती है उसे साम्य-उत्पादन (Equilibrium output) कहते हैं। इसी विचार का विस्तार आर्थिक साम्य के विश्लेषण के विकास का कारण है।

आर्थिक साम्य—इस प्रकार आर्थिक साम्य विनिमय-साम्य का ही एक निष्कर्ष

है। क्योंकि माग और पूर्ति की दो अलग-अलग शक्तियां मूल्य को अपनी ओर विपरीत दिशाओं मे खींचती हुई दिखाई पड़ती है, मूल्य वही स्थिर होता है, जहां ये शक्तियां एक दूसरे के बल को नष्ट कर देती हैं। इसी अवस्था को साम्य की अवस्था कहा जाता है। जब एक वस्तु के बाजार मे साम्य स्थापित होता है तो हम उसे बाजार साम्य (Market Equilibrium) कहते हैं और जब अर्थव्यवस्था की समस्त वस्तुओं, सेवाओं और उत्पादन के साधनों की मांग और पूर्ति मे सन्तुलन स्थापित हो जाता है तो हम उसे आर्थिक साम्य या सामान्य साम्य (General Equilibrium) कहते हैं। यह साम्य ऐसी अवस्था को प्रगट करता है, जबकि प्रत्येक उपभोक्ता अधिकतम सन्तोष प्राप्त करता है, प्रत्येक उत्पादक अधिकतम उत्पादन प्राप्त करता है, प्रत्येक ग्राहक को अधिकतम बचत और विक्रेता को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है, प्रत्येक श्रमिक को अधिकतम मजदूरी, प्रत्येक पूंजीपति को अधिकतम ब्याज, प्रत्येक भूमिपति को अधिकतम लगान और प्रत्येक साहसी को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है, प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है और इस प्रकार कुल आर्थिक प्रणाली इस स्थिति मे होती है कि अधिकतम आर्थिक कल्याण सम्भव होता है और इस स्थिति से हटने का अर्थ साधनों और उद्देश्यों मे स्थापित सन्तुलन को तोड़कर आर्थिक कल्याण में कमी करना होता है। किन्तु यह आर्थिक साम्य स्थापित हो सकता है जबकि प्रत्येक उपभोक्ता, उत्पादक, श्रमिक, भूमिपति, पूंजीपति, साहसी या उद्योग सन्तुलन की स्थिति में हो। मेयर्स के अनुसार यह एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें कि आर्थिक उद्देश्य या प्रेरक तत्वों (Motives) का अभाव होता है।[1] इस प्रकार आर्थिक साम्य वह अवस्था होती है, जबकि उपभोक्ता अपने माग-वक्र में या उत्पादक अपने पूर्ति-वक्र मे परिवर्तन नहीं करना चाहता है। साम्य की यह अवस्था किसी वस्तु या सेवा के सम्बन्ध मे भी जितनी प्रभावशील है, उतनी ही उत्पत्ति के साधन के सम्बन्ध मे, जितनी किसी एक उद्योग या बाजार मे, उतनी ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध मे।

आंशिक या व्यक्तिगत आर्थिक साम्य (Partial or particular economic equilibrium)—उस आर्थिक साम्य को कहा जाता है जो किसी वस्तु या सेवा या उत्पत्ति के साधन के बाजार से सम्बद्ध होता है। जब हम गेहूं के बाजार का अध्ययन करते हैं तो गेहूं की मांग और पूर्ति मे जिस मूल्य पर साम्य स्थापित होगा वह साम्य आंशिक साम्य होगा। इस प्रकार से किसी भी बाजार, फर्म या उद्योग का साम्य आंशिक या विशिष्ट साम्य होता है। आंशिक साम्यों की सहायता से ही अर्थशास्त्रियों ने उपभोक्ताओं, उत्पादकों, विनिमय कर्ताओं और उत्पत्ति के साधनों के साम्यों को स्पष्ट किया है और मूल्य सिद्धान्त को निरूपित किया है। यदि हम यह अध्ययन करते है कि एक उपभोक्ता अधिकतम सन्तोष किस प्रकार प्राप्त करते हैं तो हमें यह देखना होगा कि वह विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपयोगिता में या

1. A. L. Meyers: Elements of Modern Economics.

उनके प्रति अपने अनुराग-क्रम में किस प्रकार सन्तुलन स्थापित करता है। यदि हम यह अध्ययन करते हैं कि एक उत्पादक अधिकतम उत्पत्ति किस प्रकार प्राप्त करता है तो हमें यह देखना होगा कि विभिन्न साधनों से प्राप्त होने वाली उत्पादकता में वह किस प्रकार सन्तुलन स्थापित करता है। जब हम यह देखते हैं कि मूल्य किस प्रकार निर्धारित होते हैं तो हमें यह देखना पड़ता है कि उस वस्तु की मांग और पूर्ति में किस मूल्य पर साम्य स्थापित होता है। इसी प्रकार, जब हम वितरण की समस्याओं पर विचार करते हैं तो हम यह देखते हैं कि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन की मांग और पूर्ति में किस लाभांश पर साम्य स्थापित होता है। इस प्रकार से हम सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था का अध्ययन न कर उसके किसी अंग का अध्ययन करते हैं तो उस अवस्था में हम आंशिक साम्य का अध्ययन करते हैं।

सामान्य आर्थिक साम्य (General Economic Equilibrium) इसके विपरीत, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में साम्य की स्थिति को प्रगट करता है। ऐसी अवस्था में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में आर्थिक प्रेरकों (motives) का अभाव होता है अर्थात उद्देश्यों और साधनों में साम्य स्थापित हो चुका होता है और तब आर्थिक कल्याण में वृद्धि करने की सम्भावना नहीं रहती है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है, प्रत्येक फर्म इष्टतम उत्पादन करता होता है, उद्योग अपने विकास की चरम स्थिति में होते हैं, जनसंख्या अनुकूलतम होती है, उत्पादन के प्रत्येक साधन को अधिकतम लाभांश प्राप्त होता है प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अधिकतम होती है, और मूल्य दीर्घकालिक संस्थिति में होते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली अधिकतम कार्यक्षमता प्राप्त करके सर्वाधिक लाभदायक और अनुकूलतम अवस्था में पहुंच जाती है और परिवर्तन का कोई हेतुक या उद्दीपक नहीं रह जाता है। वालरस (Walras) के अर्थ में संस्थिति या साम्य का प्रत्यय सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये प्रयुक्त होता है। किसी आर्थिक प्रणाली में साम्य की अवस्था होगी जब प्रत्येक उत्पादक और उपभोक्ता अलग-अलग साम्य की अवस्था में होगा। वालरस के शब्दों में—"आर्थिक संस्थिति इस बात से निर्धारित होती है कि समस्त सम्बन्धित पक्षों और समस्त आर्थिक प्रणाली की संयुक्त उपयोगिता अधिकतम हो।[1]" किन्तु सामान्य साम्य के लिये यही पर्याप्त नहीं है कि प्रत्येक उपभोक्ता या उत्पादक संस्थिति में हो। प्रत्येक फर्म की संस्थिति सामान्य संस्थिति तभी ला सकती है जब कि आर्थिक व्यवस्था में शुद्ध तथा पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्थायें पाई जाती हों। साधारणतः ऐसी अवस्थायें नहीं पाई जाती और अपूर्ण अर्थव्यवस्था में सामान्य साम्य स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक फर्म न केवल संस्थिति में हो, बल्कि इन फर्मों का एक दूसरे से, उपयोगिता संसाधनों से, तथा सम्पूर्ण उपभोक्ताओं से विशिष्ट, निश्चित सम्बन्ध हो।

1. Walras : Paper relating to Political Economy, Vol. II,

किन्तु प्रो० शुम्पीटर सामान्य आर्थिक संस्थिति के इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति प्राप्त होने से पहले ही कुछ बाधायें उत्पन्न हो जाती है आर्थिक घर्षण (Economic frictions) के कारण गति मे परिवर्तन हो जाता है उनके अनुसार, साम्य सदैव गतिशील है और वह एक वर्तुलाकार प्रवाह (Circular flow) होता है, जिसमें हम पिछले अनुभव को भविष्य के आचरण का आधार बना सकते हैं। प्रो० फ्रेन्क एच० नाईट का भी विचार है कि सामान्य साम्य की दशा मे समस्त भविष्यवाणिया की जा सकती हैं। इसलिये तात्कालिक स्थापना के द्वारा व्यवस्था वस्तुओं (Anticipation) के साथ साम्य की दशा में लाई जा सकती है, क्योंकि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था वस्तुओं व उत्पत्ति के साधनों के एक दूसरे पर आधारित मूल्यों से ही बनी है।

इस सम्बन्ध मे यहां यह स्पष्ट कर दिया जाना उचित होगा कि 'साम्य' फिर अवस्था का एक विचार मात्र नही है। वास्तव मे, जिस प्रकार से किसी वस्तु की मांग और पूर्ति मे साम्य स्थापित होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में भी साम्य स्थापित हो सकता है और समस्त आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य इसी साम्य की स्थापना करना होता है। फिर यह भी आवश्यक नहीं है कि साम्य स्थिर ही हो, वह परिवर्तनशील या प्रवैगिक भी हो सकता है। साम्य सदैव समय से सम्बन्धित होता है। साम्य का वर्णन समय के ही सन्दर्भ में होता है। क्लार्क के अनुसार, जो साम्य निश्चित समय के उपरान्त भी बना रहता है, वह स्थिर साम्य (Static Equilibrium) कहलाता है, परन्तु निश्चित समय के पश्चात् भग हो जाता है तो उसे प्रवैगिक, चल या परिवर्तनशील साम्य (Dynamic Equilibrium) कहते हैं।[1] उदाहरण स्वरूप यदि हम एक सप्ताह का समय लेते हैं तो यदि सप्ताह के आरम्भ का साम्य सप्ताह के अन्त और उसके बाद के सप्ताहों मे भी बना रहता है तो उसे हम स्थिर साम्य कहते हैं, किन्तु यदि यह साम्य सप्ताह के अन्त मे भंग हो जाता है और नया साम्य बनने लगता है तो वह प्रवैगिक अथवा चल साम्य है। यदि हम एक वस्तु की मांग और पूर्ति को लें, तो स्पष्ट ही मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होगा जब माग और पूर्ति बराबर होगी। स्थिर अर्थव्यवस्था में मांग और पूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता है, इसलिये मूल्य इसी बिन्दु पर स्थिर रहेगा। किन्तु परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था में माग या पूर्ति में परिवर्तन हो सकता है। ऐसी दशा में मूल्य पुनः किसी नये बिन्दु पर जहां कि नई मांग और नई पूर्ति मे साम्य स्थापित होगा, निर्धारित होगा। अल्पकाल मे साम्य प्रायः परिवर्तनशील होते हैं क्योकि किसी भी तत्व में होने वाले परिवर्तन के प्रभाव को विपरीत प्रभाव से समायोजित या निरस्त नहीं किया जा सकता है। यदि किसी वस्तु की मांग ही बढ जाये तो अल्पकाल में उसी लागत पर पूर्ति बढ़ाना असम्भव है। ऐसी दशा मे स्वाभाविक ही साम्य खण्डित हो जाये और नया साम्य स्थापित हो। वास्तव में अर्थव्यवस्था इतनी जटिल, मिश्रित

1. J. B. Clark : Essentials of Economic Theory.

एक जानकारी होती है कि साम्य का स्थिर रहना आवश्यक होता है। प्रो० पीगू ने तीन प्रकार के साम्य बतलाये हैं :—अस्थिर, तटस्थ और स्थिर। स्थिर साम्य में कोई अर्थव्यवस्था तब होती है जब, यदि कोई थोड़ा व्यतिक्रम हुआ तो तुरन्त ऐसी शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं जो साम्य की स्थापना पुनः कर देती हैं। यदि इस व्यतिक्रम के बाद प्रारम्भिक स्थिति में ले जाने वाली शक्तियाँ तो प्रकट नहीं हुईं, लेकिन साथ ही साथ व्यतिक्रम उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ भी उत्पन्न नहीं होतीं जिसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था पहले व्यतिक्रम के बाद जिस अवस्था में पहुँची थी उसी पर टिकी हुई है तो अर्थव्यवस्था तटस्थ साम्य में कही जायेगी। यदि प्रारम्भिक व्यतिक्रम होने के बाद ऐसी शक्तियाँ अधिकाधिक प्रकट होती चली गईं कि अर्थव्यवस्था साम्य से अधिकाधिक दूर होती है तो वह अस्थिर साम्य में होगी। पीगू ने उदाहरण भी दिया है। कोन पर रखा हुआ लम्बमान स्थिर साम्य की स्थिति में, करवट पर पड़ा हुआ अण्डा तटस्थ साम्य की स्थिति में और एक सिरे पर टिकाया हुआ अण्डा अस्थिर साम्य की स्थिति में होगा।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक साम्य केवल स्थैतिक अर्थशास्त्र का ही विचार नहीं है, वरन् परिवर्तनशील अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिये भी महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है। वह एक विचार ही नहीं वरन् अत्यन्त महत्वपूर्ण आर्थिक घटना है। इस आर्थिक घटना का कारण उद्देश्य और साधनों में संतुलन स्थापित करना और परिणाम अधिकतम आर्थिक कल्याण प्राप्त करना है।

आर्थिक विश्लेषण में साम्य का विचार

(Significance of the Equilibrium in Economic Analysis)

मानव जीवन एक संघर्ष है और यह संघर्ष असन्तुलन के कारण उत्पन्न होता है। मनुष्य अपने अनन्त उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोग वाले सीमित साधनों में साम्य स्थापित करने के लिये जो सघर्ष करता है, वह अर्थशास्त्र की विषय सामग्री है। इस प्रकार साम्य का विचार समस्त आर्थिक क्रियाओं का हेतु है। इस दृष्टि से 'साम्य' के विचार का आर्थिक विश्लेषण में अत्यन्त आधारभूत महत्व है। मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का कारण असन्तुलन (Disequilibrium) होता है और वे सदैव साम्य की खोज में लगे रहते हैं—ऐसी दशा में अनेक आंशिक साम्य स्थापित करते हैं, भंग करते हैं और नये साम्यों की खोज जारी रहती है। वास्तव में साम्य का विचार ही समस्त आर्थिक क्रियाओं का हेतु है। इस दृष्टि में साम्य आर्थिक विश्लेषण मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार का निरुपण करता है। मनुष्य के उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण सम्बन्धी क्रियाओं को स्पष्ट करने में यह अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकता है। वैयक्तिक और सामूहिक संस्थितियों की सहायता से मानव व्यवहार का निरुपण इस प्रकार के आर्थिक विश्लेषण की एक

---

1. Pigou : Economics of Welfare, b. 794-795.

महत्वपूर्ण देन है। यही नहीं, साम्य आर्थिक विश्लेषण की सहायता से हमें चुनाव करने और निश्चय करने में भी मार्ग दर्शन मिल सकता है। वास्तव में साम्य की स्थिति एक महत्वपूर्ण आर्थिक घटना होती है और उसके तथ्य (data) हमारे भावी आचरण को तय करने में सहायता देते हैं।

साम्य आर्थिक विश्लेषण का महत्व

(१) साम्य का विचार आर्थिक क्रियाओं का हेतु है।
(२) मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार का निरूपण
(३) भावी आचरण को निश्चय करने में सहायता।
(४) मूल्य निर्धारण का एक सामान्य सिद्धान्त।
(५) उपभोग, उत्पादन और वितरण के सिद्धान्तों का निरूपण।
(६) आर्थिक समस्याओं के निराकरण और आर्थिक नीति के निर्धारण में सहायता।
(७) विभिन्न सम्बन्धों में विचलन के प्रभावों में एकरूपता की खोज।
(८) प्रक्रिया का आर्थिक विश्लेषण।

साम्य विश्लेषण का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि इसकी सहायता से हम किसी भी प्रकार के बाजार के मूल्य निर्धारण का अध्ययन कर सकते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता अपूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकार सभी दशाओं में किसी वस्तु का मूल्य साम्य विश्लेषण के अनुसार ही होता है चाहे बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता हो या अपूर्ण प्रतियोगिता, चाहे विक्रय का अधिकार हो या क्रय का अधिकार, चाहे बाजार अल्पकालीन हो या दीर्घकालीन—किसी भी बाजार में मूल्य माग और पूर्ति के साम्य द्वारा ही निर्धारित होता है। इस प्रकार साम्य आर्थिक विश्लेषण एक सामान्य मूल्य सिद्धान्त का निरूपण करता है और इस दिशा में साम्य का विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

साम्य का विचार केवल मूल्य निर्धारण में ही नहीं, वरन् उपभोग, उत्पादन और वितरण में भी उपादेय सिद्ध हुआ। वास्तव में हमें किस प्रकार उपभोग करना चाहिये कि अधिकतम सन्तोष प्राप्त हो, किस प्रकार उत्पादन करना चाहिये कि न्यूनतम लागत हो, और विभिन्न साधनों में किस प्रकार लाभाश वितरण करना चाहिये इसका हल भी साम्य विश्लेषण प्रस्तुत करता है। वास्तव में उपभोक्ता की संस्थिति, उत्पादक की संस्थिति, साधन बाजार संस्थिति, साधन के उपभोक्ता की संस्थिति, साधन के उत्पादक की संस्थिति आदि की सहायता से हमें उपभोग, उत्पादन और वितरण की समस्याओं को हल करने का एक सामान्य माध्यम प्राप्त हो गया है और इस दृष्टि से साम्य विश्लेषण का महत्व और भी बढ़ गया है।

वास्तव में साम्य का विचार समस्त आर्थिक समस्याओं के निराकरण में हमारी सहायता करता है। उत्पादन की वृद्धि करनी चाहिये या नहीं, किसी वस्तु का कितना

उपभोग करना चाहिए, मूल्य कितना बढ़ाया जा सकता है, अधिक पूंजी लगाना चाहिये या नहीं, आदि जितनी भी हमारी आर्थिक समस्यायें हैं उनका निराकरण साम्य के विचार के बिना असम्भव है। साम्य विश्लेषण आर्थिक समस्याओं के निराकरण में और उस सम्बन्ध में नीति निर्धारित करने में हमारी सहायता करता है।

एक आर्थिक प्रणाली अत्यन्त जटिल, मिश्रित एवं गतिशील सम्पूर्ण होती है। उसकी प्रत्येक इकाई अपने आप में अनेक सम्बन्धों का रूप होती है और सब इकाईयों में भी अनेक सम्बन्ध होते हैं। एक सम्बन्ध में होने वाला विचलन अन्य दूसरे सम्बन्धों को भी प्रभावित करता है। इस तरह प्रत्येक सम्बन्ध में विचलन होते रहते हैं और वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं साम्य विश्लेषण इन प्रभावित करने वाले तत्वों के साम्य की एकरूपता (Consistency) की खोज करता है।[1] इस दृष्टि से साम्य विश्लेषण एक आधारभूत समस्या को हल करने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि 'साम्य' एक पद्धत्यात्मक (Methodological) प्रत्यय है, वस्तुओं को देखने को एक विधि है। या यों कहें कि उन शक्तियों को देखने की एक विधि है जो आर्थिक जगत में स्थिरता ले आती हैं। वास्तव में साम्य का अध्ययन अर्थशास्त्र में आर्थिक विश्लेषण की एक प्रणाली के रूप में किया जाया है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि चूंकि वास्तविक जगत में पूर्ण साम्य की अवस्था कभी भी नहीं आ सकती, अतः चिन्तन उपकरण के रूप में भी इसका प्रयोग बेकार है। लेकिन अर्थशास्त्र में, प्रवैगिक परिस्थितियों के अन्तर्गत साम्य की अन्तिम अवस्था से हमारी दिलचस्पी उतनी नहीं है जितनी कि उन शक्तियों से है जो साम्य की प्रवृत्ति को जन्म देती हैं। हमारी दिलचस्पी उस प्रक्रिया से है जो कि इन शक्तियों को अर्थव्यवस्था को साम्य की ओर ले जाने के लिये प्रेरित करती हैं। वास्तव में साम्य आर्थिक विश्लेषण इस प्रक्रिया का निरूपण करता है।

साम्य-विश्लेषण का यह महत्व दो प्रकार के साम्य-विश्लेषण का परिणाम है—विशिष्ट या आंशिक साम्य विश्लेषण और सामान्य साम्य विश्लेषण विशिष्ट या आँशिक साम्य विश्लेषण में हम किसी एक बाजार का अध्ययन करते हैं और साधारण साम्य विश्लेशण में हम सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन। आंशिक साम्य विश्लेषण वैयक्तिक संस्थितियों के अध्ययन से सम्बन्धित है और सामान्य साम्य सामूहिक संस्थिति से। इस प्रकार आंशिक साम्य सूक्ष्म या व्यष्टि अर्थशास्त्र का और सामान्य साम्य व्यापक या समष्टि अर्थशास्त्र का विषय है। अर्थशास्त्र में दोनों की यद्यपि उपयोगिता अलग-अलग है, फिर भी अर्थशास्त्रियों में इस विषय-पर मतभेद है कि सामान्य साम्य विश्लेषण और आंशिक विश्लेषण में से किसे अपनाया जाये। हिक्स ऐलन, सेमुएलसन और लर्नर के अनुसार आंशिक साम्य बाजार की स्थितियों के वर्णन में असमर्थ है और इसलिये उन्होंने सामूहिक संतुष्टि के आधार पर ही ब्याज, लाभ, मूल्य, विनियोग, बचत, नियन्त्रण, नियोजन और आर्थिक प्रणालियों का

1. K. E. Boulding : Economic Analysis, p 639.

अध्ययन किया है। इस प्रकार अनेक अर्थशास्त्री, जिनमें विकसेल, हेरोड, न्यूमेन, मिश मोहलीन, बीन्स, हेवरलर, और ल्यूनटीफ, लॅग, राबिन्स, राबिन्सन, क्लार्क और हिक्स प्रमुख हैं, सामान्य साम्य-विश्लेषण को आंशिक साम्य विश्लेषण की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ मानते हैं।

"सच तो यह है कि आंशिक साम्य-विश्लेषण और सामान्य साम्य विश्लेषण दोनों का आर्थिक विश्लेषण में अपना अपना महत्व है और हम किसी एक को दूसरे का विकल्प नहीं मान सकते।

आंशिक साम्य विश्लेषण के गुण—आंशिक साम्य विश्लेषण की सहायता से हम किसी एक उपभोक्ता या उत्पादक के व्यवहार का और किसी एक बाजार का अध्ययन कर सकते हैं। एक उपभोक्ता अधिकतम सतुष्टि, एक उत्पादक अधिकतम उत्पादन और न्यूनतम लागत, एक साधन अधिकतम आय किस प्रकार प्राप्त करता है और उपभोग, उत्पादन, विनिमय की मात्रायें तथा वस्तुओं और साधनों के मूल्य किस प्रकार से निर्धारित होते हैं इन्हें आंशिक साम्य ही समझा सकते हैं। वास्तव में यह प्रणाली अत्यन्त सरल है, तर्कपूर्ण है और पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में या स्थिर अर्थव्यवस्था की अवस्था में अत्यन्त उपयोगी और वैज्ञानिक सिद्ध हुई है। आंशिक साम्य सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण (Micro economic analysis) का एक सिद्ध एवं उपयोगी उपकरण है। इसके निष्कर्षों के लिये युगपत्समीकरणों और अन्य गणितीय प्रणालियों का उपयोग यद्यपि आवश्यक नहीं है, तथापि वे उन्हें अच्छी तरह से प्रस्तुत कर सकते हैं।

आंशिक साम्य विश्लेषण के दोष—इस विश्लेषण का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह स्थैतिक परिकल्पनाओं पर आधारित होता है और एक बाजार या वस्तु को अन्य प्रभावोत्पादक कारणों से अलग करके अध्ययन किया जाता है वास्तव में कोई भी आर्थिक निश्चय निरपेक्ष रूप से सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था परस्पर-सम्बद्ध होती है और किसी भी एक सम्बन्ध में होने वाला विचलन अन्य सम्बन्धों में भी विचलन उत्पन्न करता है। आंशिक साम्य इस अन्त निर्भरता और विचलन को अध्ययन करने में असमर्थ है। यही नहीं पूर्ण प्रतियोगिता या स्थिर अर्थव्यवस्था एक अवास्तविकता है, और इसलिये आंशिक साम्य-विश्लेषण अवास्तविक, अव्यावहारिक और अपूर्ण है सच तो यह है कि आंशिक साम्य व्यक्तिगत आचरण को स्पष्ट करने में असफल रहा है, क्योंकि व्यक्तिगत व्यवहार भी समाज-निरपेक्ष कभी नहीं होता।

सामान्य साम्य विश्लेषण—इसका विकास, आंशिक साम्य विश्लेषण की इन्हीं अपूर्णताओं के कारण, स्वीडिश अर्थशास्त्री विकसेल से शुरू हुआ जिसे राबर्टसन और हिक्स ने विकसित किया। गुनार मिर्डल, हेरोड, डोमर, लुन्डबर्ग, सेमुएलसन, न्यूमेन, फिश, ओहलिन, हेबरलर, लून्टीफ, मेयर्स आदि विकसेल के समर्थक अर्थशास्त्री हैं। इनके विचार में सामान्य साम्य का विचार अधिक उपयोगी है। सामान्य साम्य सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन करता है और इस प्रकार वह दो तत्वों का अध्ययन करता है—एक, अर्थव्यवस्था की विभिन्न इकाईयों के साम्यों का और दूसरे, इन इकाईयों का

अन्तर्सम्बन्ध। इस प्रकार से यह प्रवैगिक समस्याओं का सरलता से हल खोज सकता है। दूसरे यह उस अवस्था को प्रगट करता है जबकि अधिकतम सामाजिक कल्याण सम्भव होता है और इस प्रकार उन प्रक्रियाओं के अध्ययन पर जोर देता है जिनके द्वारा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अपनी श्रेष्ठ या अनुकूलतम स्थिति में पहुंच सकती है। किसी एक सम्बन्ध में विचलन होने पर अन्य सम्बन्धों में किस प्रकार विचलन होंगे और उन विचलनों को उत्पन्न करने वाली शक्तियों में साम्य किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है—यही सामान्य साम्य की मूल समस्या है। अनुकूलतम जनसंख्या, राष्ट्रीय आय, आर्थिक कल्याण, व्यापार-चक्र, आर्थिक स्थिरता आदि विश्लेषण की देन हैं। वास्तव में यह विश्लेषण आर्थिक नीति निर्धारित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। वास्तव में किसी अर्थव्यस्था, के नियोजित विकास का अध्ययन सामान्य साम्य विश्लेषण के द्वारा ही सम्भव है। सामान्य साम्य विश्लेषण की प्रमुख विशेषता यह है कि यह स्थिर अर्थव्यवस्था, या अन्य बातें समान रहने या पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पनाओं पर आधारित नहीं है और किसी भी अवस्था में और विशेषकर के प्रवैगिक अर्थव्यवस्था में उपयोगी हैं। इस प्रकार यह प्रणाली अधिक व्यवहारिक, व्यापक और उपयोगी है। किन्तु प्रो० राबिन्स का कहना है कि "साम्य केवल साम्य है और इसके पास प्रशंसा की कोई आच्छाया नहीं है।"[1] इस प्रकार साम्य की अवस्था सदैव ही अच्छी नहीं होती, यह अर्थव्यवस्था का एक कार्य मात्र है। वालरस ने इसे युगप्तसमीकरणों की सहायता से समझाया है और ये समीकरण सदा बदलते रहते हैं।

अन्त में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि आंशिक साम्य और सामान्य साम्य एक ही सन्दर्भ में व्यक्तिगत और समाजगत व्यवहारों के अध्ययन हैं और आर्थिक विश्लेषण की सार्थकता के लिये दोनों का ही उपयोग आवश्यक हैं।

———

1. "There is no penumbra of approbation round the theory of equilibrium. Equilibrium is just equilibrium."

—Prof. Lional Robbins : An Essay on the Nature and Significance of Economic Science, p. 143.

पंचम खण्ड

वितरण

(DISTRIBUTION)

1. "Marginal Productivity is the increment of the value of the total output caused by employing an additional man, the total value of other factors remaining unchanged. That is to say, *it is the* marginal physical productivity multiplied by the marginal revenue to the unit or group under consideration." —Mrs. Joan Robinson.

2. "Rent is that portion of tne produce of the earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil." —David Ricardo.

3. "The essence of the conception of rent is the conception of a surplus earned by a particuler part of a factor of production over and above the minimum earnings to induce it to do its work."

—Mrs. Joan Robinson.

4. "In real life, labour markets are not perfectly competitive. Employers usually have some control over wages, but their wage policy must always be conditioned by the available supply of labour."

—Pau' Samuelson.

5. "Just as the price of a commodity is necessarily fixed at that part where the demand for it is equal to the supply, so the rate of interest necessarily comes to rest under the place of market price. at the amount of investments at the rete of interest is equal to the amount of saving at that rate." —J. M. Keynes.

२१

वितरण की समस्या

(Problem of Distribution)

Q. 1. How is the share of factor of production determined ? Explain fully the varioos theories of distribution.

प्रश्न १—उत्पादन के प्रत्येक साधन का भाग किस प्रकार निर्धारित होता है ? वितरण के सिद्धान्तों को पूर्णत. समझाइये ।

Explain clearly the Marginal productivity theory. How far does it explain the theory of the distribution of wealth ? Explain briefly. (Agra 1964 M. A.)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त समझाइये । संपत्ति के वितरण के सिद्धान्त को यह कहां तक स्पष्ट करता है ? (आगरा १९६४ एम० ए०)

उत्तर—उत्पादन, भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन और साहस आदि साधनों के संयुक्त श्रम का परिणाम होता है और उत्पत्ति के इन्हीं साधनों के बीच कुल उत्पादन जिसे राष्ट्रीय लाभांश कहा जाता है, का बंटवारा होता है । किन्तु यह राष्ट्रीय लाभांश किसी कोष या भंडार के रूप में नहीं होकर एक प्रकार की धारा या प्रवाह के समान होता है और उत्पादन तथा वितरण साथ ही साथ होता रहता है ।

किन्तु प्रश्न यह है कि उत्पादन के प्रत्येक साधन का भाग किस प्रकार निश्चित होता है ?

यह तो स्पष्ट है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का पारिश्रमिक राष्ट्रीय लाभांश में से ही वितरीत किया जाता है । किन्तु प्रत्येक साधन के श्रम का प्रतिफल किस प्रकार निश्चित होता है ? इस सम्बन्ध में दो मुख्य कठिनाइयां हैं—(१) कुल उत्पत्ति में प्रत्येक साधन कितना सहयोग दे रहा है ? और (२) प्रत्येक उत्पत्ति का साधन अपने को दूसरे साधन से महत्वपूर्ण समझता है और कुल उत्पत्ति में से दूसरों की अपेक्षा अधिक भाग की मांग करता है । अतः यह समस्या रहती है कि प्रत्येक साधन के भाग का निर्णय किस प्रकार हो ? संयुक्त श्रम द्वारा उत्पन्न कुल उत्पत्ति के वितरण के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है.—

(i) प्रतिष्ठित या क्लासिकल सिद्धान्त

(ii) सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त

(iii) माँग और पूर्ति का आधुनिक सिद्धान्त

प्रतिष्ठत या क्लासिकल सिद्धान्त
(Classical Theory of Distribution)

एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस आदि अर्थशास्त्रियों ने जिस वितरण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है उसे अर्थशास्त्र में क्लासिकल सिद्धान्त (Classical theory) कहते हैं। इस सिद्धान्त ने वितरण के सम्बन्ध में दो मुख्य बातें कहीं हैं—(१) इस सिद्धान्त ने वितरण की प्राथमिकता (Priority) निर्धारित की है अर्थात् यह सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को किस क्रम (Orders) में पारिश्रामिक (Remuneration) दिया जाता है। (२) यह सिद्धान्त उन आधारों का भी वर्णन करता है जिनके अनुसार उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का पुरस्कार निश्चित होता है।

इन सिद्धान्तवादियों के अनुसार जब उत्पादन के विभिन्न साधन मिलकर किसी वस्तु को उत्पादित करते हैं, तब उत्पत्ति में सबसे पहले दावा 'भूमि' का होता है। वास्तविक उत्पत्ति (Net Product) में से 'लगान' देने के बाद जो कुछ भी शेष रह जाता है उसमें से सबसे पहले श्रमिक को उसके श्रम की मजदूरी दी जाती है। इस तरह पहले लगान और फिर मजदूरी देने के बाद, जो रकम शेष रह जाती है, वह क्लासिकल अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) के अनुसार साहसी का लाभ है। यह स्मरण रहे कि इन अर्थशास्त्रियों ने लाभ और ब्याज में कोई भेद नहीं किया था। वे पूंजी के ब्याज को लाभ के अन्तर्गत ही मानते थे। इसका कारण यह है कि उस समय बड़े पैमाने की उत्पत्ति के अभाव में, पूंजी का उपयोग बहुत ही थोड़ी-सी मात्रा में हुआ करता था जिससे प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने पूजी को उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र तथा पृथक् साधन नहीं माना था

यह एक महत्वपूर्ण बात है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का पुरस्कार किसी एक निश्चित आधार पर निर्धारित नहीं किया है उसके मतानुसार श्रमिक का 'लगान' रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित होना है। रिकार्डो के अनुसार 'लगान' एक प्रकार का आधिक्य (Surplus) होता है जो अधिसीमान्त (Super Marginal) और सीमान्त (Marginal) भूमि की उत्पत्ति के अन्तर के बराबर होता है। मान लो 'अ' अधिसीमान्त और 'ब' भूमि है और इन पर क्रमशः ३० और २० मन उपज प्राप्त होती है। इस प्रकार कुल उपज ५० मन है। इस कुल उपज में से सबसे पहले 'अ' खेत का १० मन लगान दिया जाता है ('ब' भूमि सीमांत होने के कारण इसका कुछ भी लगान नहीं होता है) यह स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक भूमि के टुकड़े पर समान उत्पत्ति प्राप्त होती (क्योंकि प्रत्येक टुकड़े की समान उर्वरा शक्ति है) तब आधिक्य या अतिरिक्त (Surplus) के रूप में कुछ भी प्राप्त नहीं होता और इसलिये 'लगान' भी कुछ नहीं होता। इस दशा में वास्तविक उत्पत्ति में भूमिपति का भाग शून्य होता है। कुल उपज में से १० मन लगान देने के पश्चात् ४० मन

शेष उपज रह जाती है जिसमें से श्रम को पहले मजदूरी दी जाएगी। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार मजदूरी केवल जीवन निर्वाह योग्य (Subsistance Wages) दी जाती है अर्थात् इसका निर्धारण जीवन निर्वाह मजदूरी के सिद्धान्त (Subsistance Theory of Wages) के अनुसार होता है। इन अर्थशास्त्रियों का विचार था कि मजदूरों को कुल उत्पत्ति का वही भाग मिलना चाहिए जो उन्हें जीवित रख सके। यदि मजदूरी इस सीमा से अधिक दी गई। तब मजदूर अविवेकी (Irrational) होकर अधिक सन्तान उत्पन्न करेंगे। फलस्वरूप मजदूरों की संख्या बढ़ेगी, जिससे मजदूरी घटेगी और यह घटते-घटते जीवन निर्वाह स्तर पर ही आजावेगी। इसके विपरीत यदि मजदूरों को जीवन निर्वाह स्तर से कम मजदूरी दी जाती है। तब इनमें से बहुत से जीवित नहीं रह सकेंगे। इनकी संख्या कम हो जाने से, मजदूरी बढ़कर जीवन निर्वाह स्तर पर शीघ्र ही आ जायेगी। उत्पादक को आरम्भ में तो इस बात का सम्भव है, पता नहीं हो कि जीवन निर्वाह मजदूरी क्या है, परन्तु भूल और सुधार विधि (Method of Trial and Errors) से वह कुछ समय बाद जीवन-निर्वाह मजदूरी का ठीक ठाक पता लगा ही लेगा। आरम्भ में उत्पादक अपनी स्वेच्छा से ही शेष उत्पत्ति का कुछ भाग मजदूरों के लिये एक कोष में रख देगा जिसे मजदूरी कोष (Wages fund) कहते हैं। मान लो, उक्त उदाहरण में उत्पादक शेष उत्पत्ति में से ३० मन उपज मजदूरी कोष में रख देता है, यदि मजदूरों की संख्या १५ है, तब प्रत्येक मजदूर को २ मन उपज के बराबर मजदूरी मिलेगी। आरम्भ में यह प्रति मजदूर मजदूरी जीवन-निर्वाह मजदूरी से कम भी हो सकती है और अधिक भी, परन्तु अन्ततः मजदूरी कोष इतना पर्याप्त होगा कि यदि इस कोष की रकम को मजदूरों की संख्या से भाग दे दिया जाय, तब यह प्रति मजदूर मजदूरी (Wages per Labour) जीवन-निर्वाह मजदूरी के बराबर ही होगा।

इस तरह ५० मन की कुल उपज में से सर्वप्रथम १० मन लगान और ३० मन मजदूरी कोष में डालने के बाद शेष १० मन उपज रह जाती है जो साहसी को 'लाभ' (इसमें क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार ब्याज भी सम्मिलित है) के रूप में प्राप्त होता है। इस तरह 'लाभ' स्वत: ही निश्चित हो जाता है और इसके निर्धारण के लिए किसी एक विशेष सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं रही है।

क्लासिकल सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the classical theory):— क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की उल्लिखित व्याख्या को आधुनिक अर्थशास्त्री अवैज्ञानिक और अधूरा मानते हैं। इसमें कई महत्वपूर्ण दोष है—(i) इस सिद्धान्त के अनुसार यदि 'लगान' सीमान्त भूमि से निर्धारित होता है, तब 'मजदूरी' मजदूरों के जीवन निर्वाह स्तर (Subsistence Level) द्वारा तय होती है और 'लाभ' तो किसी भी सिद्धान्त द्वारा तय नहीं होता बल्कि यह एक आधिक्य (Surplus) के रूप में बच रहता है। सीमान्त भूमि की तरह 'मजदूरी' सीमान्त मजदूर से तय क्यों नहीं होती अतः 'लगान' और 'मजदूरी' निर्धारण के सिद्धान्तों में कुछ भी समानता नहीं पाई

जाती है, दोनों का निर्धारण बिल्कुल पृथक-पृथक सिद्धान्तों पर होता है। वास्तव में, उत्पत्ति के साधनों में कोई मौलिक भेद नहीं होता है इसलिए उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के भाग का निर्धारण करने के लिये एक ही सिद्धान्त होना चाहिये। एक साधन का हिस्सा सीमान्त उत्पादन के आधार पर और दूसरे का हिस्सा जीवन-निर्वाह स्तर के आधार पर निर्धारित करना उचित व तर्कयुक्त (Logical) नहीं है। यदि तीन मनुष्य मिलकर किसी कार्य को करते हैं, तब यह उचित नहीं होगा कि एक को काम के घण्टों के अनुसार दूसरे को काम की मात्रा के अनुसार और तीसरे को काम की अच्छाई या गुण के अनुसार मजदूरी दी जाय। उचित यही है कि प्रत्येक को समान आधार पर मजदूरी दी जाय। इसी तरह उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को एक ही सिद्धान्त के आधार पर पुरस्कार मिलना चाहिए (ii) क्लासिकल सिद्धान्त ने भाग निर्धारण की समस्या को ठीक-ठीक नहीं समझा है, जिससे उन्होंने इस समस्या का हल भी गलत दिया है। 'लगान' एक प्रकार का अतिरिक्त (Surplus) है, इसलिये इसका भुगतान तो मजदूरों को 'मजदूरी' और पूंजीपतियों को 'सूद' देने के बाद ही होना चाहिये, क्योंकि आधिक्य या बचत (Surplus) का अर्थ ही यह है कि यह वह रकम है जो अन्य प्रत्येक साधन को देने के पश्चात् 'बच' रहती है अर्थात् कुल उत्पत्ति में अन्य साधनों के भागों को घटाये बिना, इस बात को नहीं जाना जा सकता है। इसलिये क्लासिकल सिद्धान्त का यह कहना कि कुल उत्पत्ति में सबसे पहला 'दावा भूमि के लगान' का है, गलत है (iii) इसी तरह क्लासिकल सिद्धान्त ने मजदूरों की मजदूरी निर्धारण के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये है। वे भी त्रुटिपूर्ण हैं। इस सिद्धान्त ने कहा है कि उत्पादक सर्वप्रथम अपनी इच्छा से एक 'मजदूरी कोष' (Wages fund) स्थापित करता है और तत्पश्चात् यह तय होता है कि प्रत्येक मजदूर को क्या 'मजदूरी' मिलेगी। यह बात बिल्कुल ही उल्टी कही गई है। सच तो यह है कि सर्वप्रथम प्रति मजदूर मजदूरी निश्चित की जाती है और फिर अर्थात् कार्य में लगे हुए तमाम मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी का योग निकालते हैं। यह योग स्वत: ही 'मजदूरी कोष' की मात्रा को निश्चित कर देगा।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त या वितरण का केन्द्रीय सिद्धान्त (Theory of Marginal Productivity of Central Doctrine of Distribution):— इस सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रीय आय में से उत्पत्ति के प्रत्येक साधन (साहसी के अतिरिक्त) को जो भाग मिलता है वह उस साधन की सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होता है। यह तो सम्भव है कि किसी साधन को इसके श्रम का पारिश्रमिक अल्पकाल में, इसकी सीमांत उत्पत्ति से कम या अधिक दिया जावे, परन्तु दीर्घकाल में, (या साम्य की स्थिति में) उस साधन को उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर ही पारितोषि (Remuneration) दिया जायगा।

सीमान्त उत्पत्ति किसे कहते हैं? (What is Marginal Production?):—

उत्पत्ति के विभिन्न साधनों की माँग, संयुक्त माँग का एक उदाहरण है। जिस प्रकार संयुक्त माँग (Joint Demand) की किसी वस्तु की सीमांत उपयोगिता मालूम की जा सकती है, उसी प्रकार उत्पत्ति के किसी साधन की सीमान्त उत्पत्ति निकाली जा सकती है। प्रत्येक उत्पत्ति कार्य में विभिन्न साधनों की आवश्यकता पड़ती है। यदि इस कार्य में अन्य साधनों की मात्रा पूर्ववत् रहे और केवल किसी एक साधन मे एक इकाई की वृद्धि या कमी की जाय, तब कुल उत्पत्ति मे जो वृद्धि या कमी होती है, वह ही इस साधन विशेष की सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Product) कहलाती है। मान लो, एक कारखाने में—१० मजदूर+२ एकड़ जमीन+१०० रुपये पूंजी+१ व्यवस्थापक+A साहस की सहायता से १०० रुपये के बराबर उत्पत्ति होती है। यदि इसी कारखाने में १० मजदूर के बजाय ११ मजदूर कर दिए जावें और यदि ११ मजदूर+२ एकड़ जमीन+१०० रुपये (पूंजी)+१ व्यवस्थापक+A साहस की सहायता से अब १०५ रुपये के बराबर उत्पत्ति प्राप्त होती है, तब तक मजदूर अधिक लगाने से कुल उत्पत्ति मे (१०५—१००=५) रुपये के बराबर जो वृद्धि होती है, यह ही सीमान्त मजदूर की सीमान्त उत्पत्ति कहलाती है।[1] जिस प्रकार मजदूर की सीमान्त उत्पत्ति मालूम कर ली गई है उसी प्रकार उत्पत्ति के अन्य साधनों की सीमान्त उत्पत्ति का पता लग सकता है। यह स्मरण रहे कि उत्पत्ति-ह्रास-नियम (Law of Diminishing Returns) के लागू होने के कारण ज्यों-ज्यों किसी साधन की इकाईयों की मात्रा में वृद्धि होती है, त्यों-त्यों इन इकाइयों से सम्बन्धित उत्पत्ति घटती जाती है। अन्ततः एक ऐसी अवस्था आ पहुंचती है जिस पर किसी साधन विशेष की सीमान्त इकाई से सम्बन्धित उत्पत्ति, इसके श्रम के बदले मे दिये जाने वाले पारिश्रमिक के बराबर हो जाती है। यह इस इकाई के सीमान्त उपयोग (Marginal use) की अवस्था है। इसलिये साधन की इस इकाई की सीमान्त (Marginal unit) और इससे सम्बन्धित उत्पत्ति सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Product) कहलाती है। यह वह अवस्था है जिस पर उत्पादक इस असमंजस मे रहता है कि वह साधन विशेष की इस सीमान्त इकाई का उपयोग करे या नही करे क्योंकि उसे इस इकाई के उपयोग करने से यदि कोई लाभ प्राप्त नही होता है तब हानि भी कुछ नही होती है। यह तो साधारण सी बात है कि यदि किसी साधन का पारिश्रमिक सीमान्त उत्पत्ति से कम है, तब उत्पादनक इस साधन की अधिकाधिक इकाइयों का उपयोग करेगा और यह क्रिया तब तक चलेगी जब तक कि इस साधन की सीमान्त उत्पत्ति घटकर (क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम के

---

१. यह पहले ही बताया जा चुका है कि कुल उत्पत्ति में से श्रम, पूंजी, भूमि, व व्यवस्था साधनों को इनका पारिश्रमिक (हिस्सा) देने के बाद जो कुछ बच (Residual or Surplus) रहता है, उसी पर साहसी का अधिकार होता है। अतः सीमान्त सिद्धान्त के अनुसार, साहसी के अतिरिक्त, अन्य प्रत्येक साधन का हिस्सा सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त द्वारा निश्चित होता है।

सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त ने यह मान लिया है कि किसी साधन की प्रत्येक इकाई हर प्रकार से एक सी होनी चाहिए क्योंकि तब ही यह क्रियाशील हो सकेगा और साधन की प्रत्येक इकाई को सीमान्त उत्पत्ति के अनुसार पारिश्रमिक दिया जा सकेगा।

(२) उत्पत्ति के साधनों के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन सम्भव होना चाहिए (The amount in which a factor is used should be capable of being continuously varied):—उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन सम्भव होना चाहिये ताकि उत्पादक सीमांत उत्पत्ति मालूम करने के लिये विभिन्न इकाइयों को कभी कम तो कभी अधिक मात्रा में प्रयोग ला सकें (यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी साधन की सीमांत उत्पत्ति उस साधन की इकाईयों को कम अधिक करके ही मालूम की जा सकती है।) यदि यह सम्भव नहीं हुआ, तब किसी साधन का उपयोग उस समय तक नहीं किया जा सकेगा जिस पर इसका मूल्य (या पारिश्रमिक) इसकी सीमांत उत्पत्ति के बराबर हो जाय और तब इस दशा में सीमान्त उत्पत्ति का नियम लागू नहीं हो सकेगा अर्थात् प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पत्ति के अनुसार पुरस्कार नहीं दिया जा सकेगा।

(३) विभिन्न साधनों का एक दूसरे से प्रतिस्थापन सम्भव होना चाहिये (Different factors should be capable of being substituted with each other):—उत्पत्ति के विभिन्न साधन यद्यपि उत्पत्ति कार्य में एक दूसरे को सहयोग देते हैं परन्तु किसी हद तक ये एक दूसरे के प्रतियोगी भी होते हैं क्योंकि किसी एक साधन के एक स्थान पर दूसरे साधन का उपयोग हो सकता है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि उत्पादक प्रतिस्थापन के नियम (Law of substitution) का सदा उपयोग करता है अर्थात् वह खर्चीले साधन के स्थान पर सदा सस्ते साधन का उपयोग करता है और इस प्रकार का हेर फेर वह उस समय तक करता है जब तक कि वह न्यूनतम लागत खर्च पर अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करता है। यह अवस्था ही विभिन्न साधनों के आदर्श संयोग (Ideal combination of factors of productions) की अवस्था है।

> **सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की मान्यताएँ**
>
> (१) साधनों की प्रत्येक इकाई समान होनी चाहिये।
>
> (२) उत्पत्ति के साधनों के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन संभव होना चाहिये।
>
> विभिन्न साधनों का एक दूसरे से प्रतिस्थापन संभव होना चाहिये।
>
> (४) उत्पत्ति के साधन विभिन्न उपयोगों में गतिशील होना ।
>
> उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होना चाहिये।

यह क्रिया तब ही सम्भव हो सकती है जबकि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के की मात्रा में परिवर्तन सम्भव होता है। यदि श्रम के स्थान पर पूंजी या

श्रम स्थान पर भूमि या पूंजी की प्रतिस्थापना नही हो सकी तब यह सम्भव है कि साधनों की सीमान्त उत्पत्ति बराबर नही हो सके। इस अवस्था मे उत्पादक को उत्पत्ति कार्य में न्यूनतम उत्पत्ति व्यय कर अधिकतम उत्पत्ति नही प्राप्त हो सकेगी। इसके अतिरिक्त, यदि विभिन्न साधनों के उपयोग की मात्रा मे परिवर्तन नहीं हो सका, तब किसी एक साधन की मात्रा मे भी परिवर्तन नही हो सकेगा जिसके परिणामस्वरूप इस साधन की सीमांत उत्पत्ति का भी ज्ञान नही हो सकेगा। तब विभिन्न साधनों का पुरस्कार उनकी सीमांत उत्पत्ति के आधार पर कैसे निर्धारित हो सकेगा ? अतः नियम कार्यशील नही हो सकेगा। इसलिये सीमांत उत्पत्ति सिद्धांत की यह महत्वपूर्ण मान्यता है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों की मात्रा मे, सीमांत पर प्रतिस्थापन (Substitution at the margin) होने की सम्भावना होनी चाहिये क्योंकि तब ही प्रत्येक साधन को उसके श्रम का पुरस्कार उसकी सीमांत उत्पत्ति के बराबर दिया जा सकेगा।

(४) उत्पत्ति के साधन भिन्न-भिन्न उपायों मे गतिशील होने चाहियें (The various factors of production should be mobile as between the different uses and places) :—उत्पत्ति का प्रत्येक साधन इसके विभिन्न उपयोगों व स्थानों मे पूर्ण रूप से गतिशील होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं हो सका तब इस साधन की भिन्न-भिन्न उपयोगों मे व स्थानों पर सीमान्त उत्पत्ति समान नहीं हो सकेगी जिससे साधनों का विभिन्नस्थानों व उपयोगो मे पुरस्कार भी पृथक-पृथक हो जायेगा। इसलिये इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों मे, अधिक पुरस्कार के लालच से, स्थान व व्यावसायिक गतिशीलता हो जानी चाहिये।

(५) व्यवसाय में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होना चाहिये (Law of diminishing returns must apply in the organisation business) :— जब किसी एक साधन की मात्रा से वृद्धि की जाती है परन्तु अन्य बातें हैं, तब कुल उत्पत्ति मे वृद्धि घटती दर पर होनी चाहिये। यदि ऐसा नही है, तब प्रत्येक साधन की इकाइयों को उनकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर पुरस्कार (Remuneration) नही मिल सकेगा। मान लो, किसी कारखाने मे उत्पत्ति निम्न प्रकार से हो रही है :—

मजदूरों की संख्या	क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होने पर सीमान्त उत्पत्ति रुपये मे	क्रमागत उत्पत्ति-समता नियम लागू होने पर सीमान्त उत्पत्ति रुपये में	क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होने पर सीमान्त उत्पत्ति रुपये में

लागू होने के कारण) इसके प्रतिफल (Remuneration) के बराबर न हो जाए। इसी तरह यदि किसी साधन का पारिश्रमिक इसकी उत्पत्ति से अधिक है, तब उत्पादक इसका उपयोग घटा देगा और वह उसे उस सीमा तक कम करेगा जिस पर साधन की सीमान्त उत्पत्ति इसके पारिश्रमिक के बराबर हो जायगी। अतः एक उत्पादक किसी साधन को उस सीमा तक उपयोग में लाता है जबकि साधन की सीमान्त उत्पत्ति इसके पारिश्रमिक के बराबर हो जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में किसी साधन की प्रत्येक इकाई का मूल्य, इसकी सीमान्त इकाई के मूल्य के बराबर होता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि किसी साधन का कुल उत्पत्ति में हिस्सा इसकी सीमान्त उत्पत्ति से निश्चित किया जा सकता है।

प्रतिस्थापन के नियम का प्रयोग (Application of The Law of Substitution)—अब तक हमने सिर्फ इस बात का अध्ययन किया है कि एक उत्पादक अन्य साधनों को स्थिर रखकर, किसी साधन विशेष की मात्रा में घट बढ़ इस कारण से करता है कि इस साधन की सीमांत उत्पत्ति उसको दिए जाने वाले पारिश्रमिक के बराबर हो जाय। परन्तु जिस समय एक उत्पादक किसी साधन विशेष की इकाइयों में हेर-फेर करता है, तब क्या अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रखी जा सकती है? अनुभव से यही पता चलता है कि जिस समय उत्पादक किसी साधन विशेष की इकाइयों में घट बढ़ करता है, उस समय उसे अन्य साधनों की मात्रा में भी घट बढ़ करनी पड़ती है। प्रत्येक उत्पादक का एक ही उद्देश्य होता है—न्यूनतम उत्पत्ति-व्यय पर अधिकतम लाभ प्राप्त करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे विभिन्न उत्पत्ति के साधनों को एक आदर्श अनुपात में जुटाना पड़ता है। उत्पत्ति के साधनों के इस आदर्श मेल के लिये इन साधनों के उपयोग में हेर-फेर (Substitution) करना पड़ता है। इस प्रकार का परिवर्तन वह उस अवस्था तक करता है जबकि प्रत्येक साधन को दिया जाने वाला मूल्य उसकी सीमान्त वास्तविकता उत्पत्ति (Marginal Net product) के बराबर हो जाता है। यदि उत्पादक यह अनुभव करता है कि श्रमिकों को और अधिक संख्या में नौकर रखने में उसे इनको दी जाने वाली मजदूरी से अधिक सीमान्त उत्पत्ति प्राप्त होती है, तब वह इनकी संख्या में वृद्धि और भूमि या पूंजी साधन में कमी कर देगा। इसी तरह यदि वह यह अनुभव करता है कि पूंजी को अधिक मात्रा में प्रयोग करने पर उसे इसके उपयोग के बदले में दिये जाने वाले सूद से अधिक उत्पत्ति प्राप्त हो सकती है। तब वह पूंजी की मात्रा अधिक और भूमि या श्रम की मात्रा कम कर देगा। सारांश यह है कि उत्पादक प्रतिस्थापन के नियम (Law of Substitution) का निरन्तर प्रयोग करता रहता है और वह भूमि, श्रम व पूंजी आदि का इस प्रकार मिश्रण करता है कि किसी साधन की इकाइयों में वृद्धि करने पर इसकी सीमान्त उत्पत्ति इसको दिये जाने वाले मूल्य के बराबर हो जाए। यदि किसी साधन की वास्तविक उत्पत्ति (Net Product [illegible] इस साधन के मूल्य से कम या अधिक है, तब वह इसकी [illegible] की मात्रा में [illegible]

सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त ने यह मान लिया है कि किसी साधन की प्रत्येक इकाई हर प्रकार से एक सी होनी चाहिए क्योंकि तब ही यह क्रियाशील हो सकेगा और साधन की प्रत्येक इकाई को सीमान्त उत्पत्ति के अनुसार पारिश्रमिक दिया जा सकेगा।

(२) उत्पत्ति के साधनों के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन सम्भव होना चाहिए (The amount in which a f. ctor is used should be capable of being continuously varied):—उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन सम्भव होना चाहिये ताकि उत्पादक सीमांत उत्पत्ति मालूम करने के लिये विभिन्न इकाइयों को कभी कम तो कभी अधिक मात्रा में प्रयोग ला सकें (यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी साधन की सीमांत उत्पत्ति उस साधन की इकाईयों को कम अधिक करके ही मालूम की जा सकती है।) यदि यह सम्भव नहीं हुआ, तब किसी साधन का उपयोग उस समय तक नहीं किया जा सकेगा जिस पर इसका मूल्य (या पारिश्रमिक) इसकी सीमांत उत्पत्ति के बराबर हो जाय और तब इस दशा में सीमान्त उत्पत्ति का नियम लागू नहीं हो सकेगा अर्थात् प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पत्ति के अनुसार पुरस्कार नहीं दिया जा सकेगा।

(३) विभिन्न साधनों का एक दूसरे से प्रतिस्थापन सम्भव होना चाहिये (Different factors should be capable of being substitut d with each other):—उत्पत्ति के विभिन्न साधन यद्यपि उत्पत्ति कार्य में एक दूसरे को सहयोग देते हैं परन्तु किसी हद तक ये एक दूसरे के प्रतियोगी भी होते हैं क्योंकि किसी एक साधन के एक स्थान पर दूसरे साधन का उपयोग हो सकता है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि उत्पादक प्रतिस्थापन के नियम (Law of substitution) का सदा उपयोग करता है अर्थात् वह खर्चीले साधन के स्थान पर सदा सस्ते साधन का उपयोग करता है और इस प्रकार का हेर फेर वह उस समय तक करता है जब तक कि वह न्यूनतम लागत खर्च पर अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करता है। यह अवस्था ही विभिन्न साधनों के आदर्श संयोग (Ideal combination of factors of productions) की अवस्था है। परन्तु यह क्रिया तब ही सम्भव हो सकती है जबकि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के उपभोग की मात्रा में परिवर्तन सम्भव होता है। यदि भूमि के स्थान पर पूंजी या

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की मान्यताएँ

(१) साधनों की प्रत्येक इकाई समान होनी चाहिये।
(२) उत्पत्ति के साधनों के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन संभव होना चाहिये।
(३) विभिन्न साधनों का एक दूसरे से प्रतिस्थापन संभव होना चाहिये।
(४) उत्पत्ति के साधन विभिन्न उपयोगों में गतिशील होना चाहिये।
(५) उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होना चाहिये।

श्रम स्थान पर भूमि या पूंजी की प्रतिस्थापना नहीं हो सकी तब यह सम्भव है कि साधनों की सीमान्त उत्पत्ति बराबर नहीं हो सके। इस अवस्था में उत्पादक को उत्पत्ति कार्य में न्यूनतम उत्पत्ति व्यय कर अधिकतम उत्पत्ति नहीं प्राप्त हो सकेगी। इसके अतिरिक्त, यदि विभिन्न साधनों के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन नहीं हो सका, तब किसी एक साधन की मात्रा में भी परिवर्तन नहीं हो सकेगा जिसके परिणामस्वरूप इस साधन की सीमान्त उत्पत्ति का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा। तब विभिन्न साधनों का पुरस्कार उनकी सीमांत उत्पत्ति के आधार पर कैसे निर्धारित हो सकेगा? अतः नियम कार्यशील नहीं हो सकेगा। इसलिये सीमांत उत्पत्ति सिद्धांत की यह महत्वपूर्ण मान्यता है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों की मात्रा में, सीमान्त पर प्रतिस्थापन (Substitution at the margin) होने की सम्भावना होनी चाहिये क्योंकि तब ही प्रत्येक साधन को उसके श्रम का पुरस्कार उसकी सीमांत उत्पत्ति के बराबर दिया जा सकेगा।

(४) उत्पत्ति के साधन भिन्न-भिन्न उपायों में गतिशील होने चाहियें (The various factors of production should be mobile as between the different uses and places) :—उत्पत्ति का प्रत्येक साधन इसके विभिन्न उपयोगों व स्थानों में पूर्ण रूप से गतिशील होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं हो सका तब इन साधन की भिन्न-भिन्न उपयोगों में व स्थानों पर सीमान्त उत्पत्ति समान नहीं हो सकेगी जिससे साधनों का विभिन्नस्थानों व उपयोगों में पुरस्कार भी पृथक-पृथक हो जायेगा। इसलिये इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में, अधिक पुरस्कार के लालच में, स्थान व व्यावसायिक गतिशीलता हो जानी चाहिये।

(५) व्यवसाय में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होना चाहिये (Law of diminishing returns must apply in the organisation business) :— जब किसी एक साधन की मात्रा से वृद्धि की जाती है परन्तु अन्य बातें हैं, तब कुल उत्पत्ति में वृद्धि घटती दर पर होनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं है, तब प्रत्येक साधन की इकाइयों को उनकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर पुरस्कार (Remuneration) नहीं मिल सकेगा। मान लो, किसी कारखाने में उत्पत्ति निम्न प्रकार से हो रही है :—

क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम लागू होने पर सीमान्त उत्पत्ति रुपये में

१०	१०	१०	१०
११	१२	१०	८
१२	१५	१०	६
१३	१९	१०	४
१४	२५	१०	२
१५	३२	१०	१

मान लो कारखाने में क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो रहा है, तब उक्त उदाहरण में श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करने पर, इन श्रमिकों से सम्बन्धित सीमान्त उत्पत्ति भी बढ़ती दर में होती है। कारखाने में १५ मजदूरों का उपयोग करने पर, पन्द्रहवें मजदूर से प्राप्त सीमान्त उत्पत्ति ३२ रुपये के बराबर है। इस दशा में यदि सब मजदूरों की मजदूरी इस सीमांत श्रमिक की सीमांत उत्पत्ति से निर्धारित हुई, तब उत्पादक को उत्पत्ति कार्य में लाभ होने के स्थान पर हानि होगी। परन्तु यदि उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति समता नियम (Law of Constant Returns) के अनुसार हो रहा है, तब उत्पादक को सीमांत श्रमी की सीमांत उत्पत्ति के अनुसार मजदूरी देने पर न तो लाभ होगा और न हानि ही अतः उक्त दोनों नियमों के क्रियाशील होने पर, प्रत्येक इकाई का पुरस्कार सीमांत उत्पत्ति के अनुसार नहीं दिया जायगा। परन्तु यदि व्यवसाय में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू हो रहा है, तब किसी साधन की प्रत्येक अगली इकाई का उपयोग करने पर उत्पत्ति घटती दर पर प्राप्त होती है। उक्त उदाहरण में सीमांत मजदूर अर्थात् पन्द्रहवें मजदूर से केवल १ रुपये के बराबर ही उत्पत्ति होती है और यह उत्पत्ति सब मजदूरों की अन्य सब इकाइयों से कम है। यदि उत्पादक तमाम मजदूरों को इस सीमांत मजदूर के बराबर मजदूरी दे, तब निःसंदेह उसे उत्पत्ति कार्य में लाभ होगा। इसीलिए सीमांत उत्पत्ति नियम की यह मान्यता है कि व्यवसाय में क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास-नियम (Law of Diminishing Returns) कार्यशील होना चाहिए क्योंकि तब ही उत्पादक उत्पत्ति के साधनों को उनकी सीमांत उत्पत्ति के अनुसार पारिश्रमिक दे सकता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का पुरस्कार इनकी सीमांत उत्पत्ति के बराबर तब ही हो सकता है जबकि उल्लिखित शर्तें उपस्थित होती हैं।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत की आलोचना
(Criticism of the Marginal Productivity Theory)

यद्यपि सिद्धान्त की बहुत सी मान्यतायें हैं, फिर भी बहुत से अर्थशास्त्रियों को यह सिद्धांत मान्य नहीं है। इसके निम्नलिखित मुख्य कारण हैं :—

(१) **संयुक्त उत्पत्ति में किसी साधन की सीमान्त उत्पत्ति का जानना कठिन है (It is difficult to determine the contribution of any particular factor in the Joint Product)** :—प्रत्येक उत्पत्ति इकाई में धनोत्पत्ति उत्पत्ति के विभिन्न

साधनों के सहयोग से ही होती है । टॉजिग (Taussig), डेविनपोर्ट (Devinport), कारवर (Carver) तथा एड्रियन्स (Adriance) आदि का मत है कि प्रत्येक व्यवसायिक इकाई में संयुक्त उत्पत्ति (Joint Product) होने के कारण यह जान लेना कठिन है कि अमुक भूमि, श्रम या पूंजी आदि साधन की पृथक से अमुक उत्पत्ति है अर्थात् चूंकि धनोत्पादन उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के योगदान (Co-operation) से प्राप्त होता है, इसलिये हम यह नहीं बता सकते हैं कि संयुक्त उत्पत्ति में अमुक भाग भूमि साधन द्वारा उत्पन्न किया गया और अमुक अमुक भाग व्यवस्था व साहस साधनों द्वारा उत्पन्न किया है । चूंकि उत्पत्ति के किसी एक साधन (Any one factor of production) की उत्पत्ति कुल उत्पत्ति में से पृथक नहीं बताई जा सकती इसलिये इसकी किसी एक इकाई या सीमान्त इकाई की उत्पत्ति का जाना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है । तब किसी साधन का मूल्य इस साधन की सीमांत उत्पत्ति द्वारा निर्धारित होने का प्रश्न ही नहीं उठता । आलोचकों का मत है कि जिस उत्पत्ति को हम किसी साधन की सीमांत उत्पत्ति मान लेते हैं या जो उत्पत्ति हमें किसी साधन की एक और इकाई के बढाने से प्राप्त होती है, वह इस साधन या इस सीमांत इकाई के अकेले श्रम द्वारा ही उत्पन्न नहीं हुई है बल्कि यह सब साधनों के सम्मिलित श्रम से ही प्राप्त हुई है इसलिये इस सीमांत उत्पत्ति का मालिक अकेला यह एक साधन ही नहीं होता हैं । अतः आलोचकों का मत है कि जो उत्पत्ति अनेक साधनों के सहयोग से प्राप्त हुई है, उसको किसी एक साधन की सीमान्त इकाई को ही कैसे दिया जा सकता है अर्थात् सीमान्त उत्पत्ति के आधार पर साधनों के श्रम का पुरस्कार निर्धारित नहीं किया जा सकता है ।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनायें

(१) संयुक्त उत्पत्ति में किसी साधन को सीमांत उत्पत्ति जानना कठिन है ।
(२) सीमांत उत्पत्ति साधन की सेवाओं का ठीक माप नहीं करती ।
(३) सीमांत वास्तविक उत्पत्ति का कुल योग कुल वास्तविक उत्पत्ति से कम होता है ।
(४) सीमान्त उत्पादकता का मापना प्रायः कठिन होता है ।
(५) साधनों में पूर्णतः गतिशीलता नहीं होती है ।
(६) साधनों के उपयोग के अनुपात में परिवर्तन कठिन होता है ।
(७) साधनों की पूर्ति में परिवर्तन संभव है ।
(८) साहसी पर यह लागू नहीं होता है ।
(९) यह एक कल्पनिक विचार है ।

परन्तु इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि आलोचकों सिद्धान्त का सही-सही उपयोग नहीं समझा है । समर्थकों का कहना है कि जब हम यह

कहते हैं कि अमुक साधन की सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति (Marginal Net Product) अमुक है, तव इस सिद्धान्त ने यह नहीं कहा है कि यह उत्पत्ति केवल इसी सीमान्त साधन की सेवाओं द्वारा ही उपलब्ध हुई है। चूंकि किसी साधन का अन्य साधनों के साथ उपयोग होने पर, इसकी उत्पत्ति का परिणाम केवल सीमान्त विश्लेषण सिद्धान्त (Principle of Marginal Analysis) का प्रयोग करके ही प्राप्त हो सकता है इसलिए सीमान्त उत्पत्ति सिद्धांत के प्रतिपादकों ने किसी साधन की सीमान्त उत्पत्ति को उस साधन के नाम (Impute लगा दिया है और ये यह मान लेते हैं कि यह उत्पत्ति इसी साधन की सीमान्त उत्पत्ति हैं। सीमान्त सिद्धान्त में इस प्रकार की मान्यता होने पर, इसके आलोचकों के उक्त मत का पूर्ण खण्डन हो जाता है कि इन आलोचकों ने कोई अपना नया सिद्धांत नहीं वताया जिससे किसी साधन की सीमांत उत्पत्ति नापी जा सके। अत: उत्पत्ति के साधनों का मूल्य इस सीमान्त उत्पत्ति द्वारा ही निर्धारित होता है।

(२) सीमान्त उत्पत्ति किसी साधन की सेवाओं का ठीक माप नहीं करती (Marginal product does not measure the service of a factor correctly)—वीजर (Wieser) तथा हॉबसन (Hobson) आदि अर्थशास्त्रियों का मत है कि किसी साधन की सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति से हम उसकी सेवाओं का ठीक-ठीक माप नहीं लगा सकते। कारण यह है कि जब हम किसी व्यवसायिक इकाई या फर्म में किसी एक साधन की एक इकाई की कमी कर देते हैं तब व्यवसाय इतना अव्यवस्थित (Diso ganised) हो जाता है कि अन्य दूसरे साधनों की उत्पादन शक्ति में भी काफी कमी हो जाती है। दूसरे शब्दों में, सीमान्त इकाई को हटा लेने पर कुल उत्पत्ति में जो कुछ भी कमी होती है वह केवल इस इकाई से सम्बन्धित उत्पत्ति से कहीं अधिक कम हो जाती है। मान लो, किसी कारखाने में १०० रु० के वरावर कुल उत्पत्ति होती है, जिसमें ५ मजदूर काम कर रहे है और पाँचवें मजदूर की उत्पत्ति १० रु० के वरावर है यदि पांचवें मजदूर को कारखाने से हटा दिया जाय और केवल चार ही मजदूर इस कारखाने में कार्य करें तव सीमान्त सिद्धांत के आलोचकों के अनुसार भूमि, पूंजी, व्यवस्था तथा साहस साधनों की उत्पादन शक्ति वहुत कम हो जायेगी। मान लो, कुल उत्पत्ति १०० रुपये से घटकर केवल ८५ रु० के वरावर रह जाती है। इस प्रकार श्रम साधन की एक इकाई कम देने से कुल उत्पत्ति में १५ रु० की कमी हो जाती है। यह रकम इस सीमान्त इकाई की उत्पत्ति से अधिक है। इसलिये इन आलोचकों का मत है कि यदि भिन्न-भिन्न साधनों से होने वाली सीमांत उत्पत्तियों का योग लगाया जाय, तब यह कुल उत्पत्ति से कहीं [illegible]धक हो जायगा।[1] अत: हम किसी साधन की सीमांत उत्पति से उस साधन की

1. Developing almost identical arguments, Wieser says that when we [mu]ltiply the marginal product of any factor by the number of units in that [f]actor the resultant is the total produce of that factor. If the total produce of each factor is added up this grand total would be more than the total produce of the business units, because the sum total of the Marginal Net Products is [more] than the total produce, Weiser points out that the Marginal Productivity [does not] measure correctly the services of any factor of production.

सेवाओं का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते हैं परन्तु सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि आलोचक सीमांत सिद्धान्त की आलोचना करते समय यह मान लेते हैं कि व्यवसाय की इकाइयाँ छोटी-छोटी हैं (या फर्म व कारखाने छोटे-छोटे हैं) और उत्पत्ति के साधनों की इकाइयाँ बहुत बड़ी बड़ी हैं। मान लो, एक छोटा सा कारखाना है जिसमें केवल ४ मजदूर और ३ मशीनों का उपयोग हो रहा है। यदि इस कारखाने में से १ मजदूर निकाल दिया जाय या मशीनों की संख्या घटाकर केवल २ कर दी जाय, तब यह स्वाभाविक ही है कि इस कारखाने में उत्पत्ति का कार्य बहुत ही अस्त व्यस्त (Disorganised) हो जायगा और उत्पत्ति पहले से बहुत कम हो जायगी। परन्तु सच तो यह है कि व्यापार की इकाइयों (या कारखानों) का आकार बहुत बड़ा होता है तथा साधनों की इकाइयां अपेक्षाकृत इतनी छोटी होती हैं कि सीमांत पर (At the margin) किसी साधन की एक इकाई में कमी करने से, अन्य साधनों की उत्पादन शक्ति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है जिससे उत्पत्ति का कार्य अस्त-व्यस्त नहीं होने पाता है। मार्शल (Marshall) के अनुसार यदि सिद्धान्त में उक्त त्रुटि (सीमांत उत्पत्ति जानने में कठिनाई) पाई भी गई है, तब इसका रूप ऐसा होता है कि इसकी उपेक्षा (Neglect) आसानी से की जा सकती है। इसीलिए सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि उक्त आलोचना बहुत कुछ सिद्धान्त से गलत प्रयोग (wrong applicetion) पर अवलम्बित है।

यह भी स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतियोगिता में साम्य की अवस्था (State of Equilibrium) पर साधनों की सीमान्त उत्पत्तियों का योग, व्यवसाय की कुल उत्पत्ति के बराबर ही होगा, इसके कम अधिक हो जाने की कोई सम्भावना नहीं होती है।

(३) सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति का योग कुल उत्पत्ति से कम होता है (The sum total of Marginal Net Products is less than the Total Produce)—उपरोक्त आलोचना के विपरीत एक प्रतिकूल विचार यह भी है कि यदि प्रत्येक साधन की सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति (Marginal Net Product) को उस साधन की इकाइयों से गुणा किया जाय और इस प्रकार प्राप्त प्रत्येक साधन से सम्बन्धित गुणनफल का योग लगाया जाय तब वह व्यवसाय की कुल उत्पत्ति (Total Produce) से कम होगा। इस विचारधारा के अनुसार इस प्रकार अनुमान लगाने पर जो बचत प्राप्त होती है, वह किसी साधन द्वारा नहीं बल्कि सब साधनों के सहयोग से ही प्राप्त होती है।

विक्स स्टीड[1] (Wicksteed) ने उक्त आलोचना का खण्डन किया है। उसने यह मान कर कि व्यवसाय में समता उत्पत्ति-नियम (Law of constant returns) लागू हो रहा है यह स्पष्ट कर दिया कि जिस अनुपात में साधनों में वृद्धि होती है, उत्पत्ति में वृद्धि भी उसी अनुपात में होती है। परन्तु इस प्रकार की

मान्यता प्राय। उचित नहीं मानी जाती और दूसरी कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(४) **कभी-कभी किसी साधन की सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति का नापना कठिन हो जाता है।** (Sometimes it becomes difficult to measure the marginal net product of a factor) जोन रोबिन्स[1] (Joan Robinson) हिक्स[2] (Hicks), तथा पीगू[3] (Pigou) ने सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति के माप में कठिनाइयाँ बतलाई हैं। इनका मत है कि यदि किसी उद्योग में क्रमागत–उत्पत्ति वृद्धि-नियम (Law of increasing returns) लागू हो रहा है, तब यह सम्भव है कि किसी साधन की किसी एक फर्म में वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति (Marginal net product) तमाम उद्योगों में उस साधन की सीमान्त उत्पत्ति की अपेक्षा कम हो यह तब ही होता है जबकि किसी उद्योग में कुछ फर्मों में उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होने के कारण बड़े पैमाने की उत्पत्ति की बचत (Economies of large scale production) प्राप्त होती है और कुछ फर्मों का आकार सर्वोत्तम नहीं होने के कारण उन्हें सामान्य बचत नहीं प्राप्त होती है। अतः किसी उद्योग की भिन्न-भिन्न इकाइयों में किसी साधन की सीमान्त-उत्पत्ति अलग-अलग है तथा यदि इस साधन की सीमान्त-उत्पत्ति तमाम उद्योग की सीमान्त उत्पत्ति से कम है, तब यह निर्णय करना कठिन हो जायगा कि किस सीमान्त उत्पत्ति के साधन को पुरस्कार देने के लिए लिया जाय। इस प्रकार की कठिनाई उत्पन्न हो जाने के कारण सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त का साधनों के पुरस्कार निर्धारण करने में ठीक-ठीक उपयोग नहीं हो सकेगा। इस आलोचना के विरोध में यह कहा जाता है कि उक्त स्थिति उत्पन्न हो जाने पर हम प्रतिनिधि फर्म (Representative Firm) की सीमान्त उत्पत्ति लेंगे। अतः यदि वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि-नियम के अनुसार हो रहा है, तब किसी साधन की सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति निर्धारित करना एक कठिन कार्य होता है।

(५) **उत्पत्ति के साधनों में पूर्णतः गतिशीलता नहीं पाई जाती है**—उत्पत्ति साधनों का, इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न उपयोगों एवं विभिन्न स्थानों में गतिशील होना आवश्यक है। किन्तु साधारण परिस्थितियों में उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में पूर्णतः गतिशीलता पाया जाना अत्यन्त कठिन है। एक उद्योग से दूसरे उद्योग में और एक स्थान से दूसरे स्थान पर साधनों का हस्तान्तरण होना बाधा-रहित नहीं होता। ऐसी दशा में यह सिद्धान्त एक अवास्तविक मान्यता पर आधारित होता है।

(६) **अधिकांश परिस्थितियों में साधनों के उपयोग में परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता।** (In most cases it is difficult to very the proportion

1. Joan Robinson : Economics of Imperfect Competition.
2. J. R Hicks : Theory of Wages.
3. Pigou : Economics of Welfare.

in which the factors of production are used) होबसन (Hobson) का मत है कि अधिकांश उत्पत्ति इकाइयों (Business units) या कारखानों में उत्पत्ति के साधनों का जिस अनुपात में उपयोग होता है, उसमें परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता है। प्रायः व्यापार की विशेष कला सम्बन्धी व्यवस्था (Technical conditions of the business) तथा कारखानों में मशीन आदि अचल पूंजी के उपयोग के दशाएं इस प्रकार की होती हैं कि उपयोग में आने वाले विभिन्न साधनों की इकाइयों का अनुपात इसमें निश्चित होता है और इनमें घट-बढ़ करना सम्भव नहीं होता है। जैसे कपड़ा सीने की मशीन को चलाने के लिये एक श्रमिक की आवश्यकता पड़ती है। चूंकि इस मशीन पर दो आदमी काम नहीं कर सकते। इसीलिए इस अवस्था में श्रम साधन में घट-बढ़ करना असम्भव है। अतः उक्त आलोचकों के अनुसार जब हम उत्पत्ति के साधनों के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन नहीं कर सकते तब हम इसकी सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति (Marginal net product) का पता कैसे लगा सकते हैं जैसे कपड़ा सीने की मशीन को चलाने के लिए एक श्रमिक की आवश्यकता पड़ती है, चूंकि इस मशीन पर दो आदमी काम नहीं कर सकते हैं, इसीलिए इस अवस्था में श्रम साधन में घट-बढ़ करना असम्भव है। अतः उक्त आलोचकों के अनुसार जब हम उत्पत्ति के साधनों के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन नहीं कर सकते तब हम इसकी सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति (Marginal net product) का पता कैसे लगा सकते हैं ? यह स्पष्ट है कि सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति का पता नहीं लगने से सीमान्त-उत्पत्ति-सिद्धान्त का भी उपयोग नहीं हो सकेगा।

परन्तु सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि साधारणतया प्रत्येक उत्पत्ति इकाई में विभिन्न साधनों के उपयोग में परिवर्तन करना सदा सम्भव होता है। आज की आर्थिक उन्नति उत्पत्ति के साधनों में परिवर्तन करने के कारण ही सम्भव हो सकी है। आजकल प्रत्येक उत्पादक अपने व्यवसाय में अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करने में इस कारण ही सफल होता है क्योंकि वह उत्पत्ति के साधनों की उपयोग की मात्रा में प्रतिस्थापन कर सकता है और यदि कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनमें साधनों के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन करना सम्भव नहीं है, तब ये अपवाद स्वरूप है, और नगण्य हैं।

(७) सीमान्त उत्पत्ति का सिद्धान्त साधनों की पूर्ति निश्चित मानता है (This theory assumes that the supply of the factors is final)—मोरिस डोब (Maurice Dobb) ने इस सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की है कि यह सिद्धान्त उत्पत्ति के साधनों की माग पर ही केवल विचार करता है और इनकी पूर्ति निश्चित मानकर साधनों की पूर्ति के प्रभावों पर कुछ भी ध्यान नहीं देता। इस सिद्धान्त का यह कहना तो ठीक है कि साम्य की दशाओं (State of Equilibrium) में प्रत्येक साधन का पुरस्कार इसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होता है। परन्तु यह मान लेना गलत है, जैसा कि इस सिद्धान्त ने माना है, कि प्रत्येक साधन का पुरस्कार

(किराया) केवल उसकी माँग (या सीमान्त उत्पत्ति) से निर्धारित होता है। सच तो यह है कि पूर्ण उत्पत्ति में प्रत्येक साधन का किराया, इस साधन की माँग व पूर्ति दोनों के ही प्रभाव से निश्चित होता है। आलोचकों का मत है कि जिस प्रकार साधन की माँग में परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक साधन की पूर्ति की मात्रा में भी घट-बढ़ होती रहती है (जैसे ब्याज की दर में घटने-बढ़ने से पूंजी में घट-बढ़ हो जाती है)। अतः किसी साधन की सीमान्त-उत्पत्ति पर उसकी पूर्ति की मात्रा का भी प्रभाव पड़ता है। इसलिए आलोचकों ने सिद्धान्त की व्याख्या को एक पक्षी (One sided) माना है।

(८) साहसी के श्रम का प्रतिफल सीमान्त उत्पत्ति-सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित नहीं होता (The reward of the enterpriser is not determind according to the marginal productivity theory)—आलोचकों ने सीमान्त सिद्धान्त का एक दोष यह भी बताया है कि यह सिद्धान्त साहसी के श्रम का प्रतिफल जानने के लिए उपयोग में नहीं आ सकता क्योंकि साहसी की सीमान्त उत्पत्ति नापी जा सकती है। इसका कारण यह है कि चूँकि व्यवसाय में बहुधा एक ही साहसी होता है इसलिए साहसी की एक इकाई कम या अधिक नहीं की जा सकती है। और जब हम किसी साधन की इकाइयों में घट-बढ़ नहीं कर सकते, तब हम इस साधन की सीमान्त उत्पत्ति का अनुमान ही कैसे लगा सकते हैं? हाल में श्रीमती जॉन रोबिन्सन (Mrs. Joan Robinson) ने साहसी की सीमान्त उत्पत्ति की नाप का एक अप्रत्यक्ष तरीका बताया है।

(९) यह सिद्धान्त केवल एक कल्पना मात्र है (This Theory is Imaginary)—सीमान्त-उत्पत्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन इस मान्यता पर हुआ है कि समाज में पूर्ण प्रतियोगिता की दशायें उपलब्ध हैं। परन्तु वास्तव में व्यवहारिक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं मिलती जिसके कारण उत्पत्ति के साधनों का (साहस के अतिरिक्त) पुरस्कार भी इनकी सीमान्त उत्पत्ति के अनुसार निर्धारित नहीं होता है। यह तो सच है कि समाज में ऐसे संघर्ष होते रहते हैं और ऐसी शक्तियां बराबर कार्य करती रहती हैं जिनके कारण लगान, मजदूरी और सूद आदि में इन साधनों की सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हो जाने की प्रवृति होती है परन्तु आर्थिक समाज के संघर्ष और अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण इन दोनों में अन्तर (Discrepancey) अवश्य रहता है। इसी कारण सीमान्त-उत्पत्ति-सीमान्त अव्यवहारिक है और केवल कल्पना मात्र है।

वितरण का आधुनिक सिद्धान्त या नवीन सिद्धान्त
(Modern theory of distribution)

क्लासिकल सिद्धान्त तथा सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्तों के त्रुटिपूर्ण व अपूर्ण कारण ही इनका परित्याग कर दिया गया है और आधुनिक अर्थशास्त्री के साधनों का पुरस्कार निश्चित करने के लिए इन सिद्धान्तों के स्थान

पर मांग और पूर्ति के सिद्धान्त का उपयोग करते हैं। वितरण का यह आधुनिक सिद्धान्त वस्तु मूल्य सिद्धान्त से मिलता जुलता है। यह सिद्धान्त ठोस (Compact) तथा वैज्ञानिक (Scientific) है और यह संयुक्त उत्पत्ति में उत्पत्ति के साधनों के भाग निर्धारण की समस्या का सही तरीके से अध्ययन करता है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति से निर्धारित होता है, ठीक इसी प्रकार उत्पत्ति के साधन का पुरस्कार अर्थात् लगान, मजदूरी (इसमें व्यवस्थापक का वेतन भी सम्मिलित है) ब्याज और लाभ क्रमशः भूमि, श्रम, पूंजी तथा साहस की मांग और पूर्ति से तय होता है। अतः उत्पत्ति के विभिन्न साधनों की, संयुक्त उत्पत्ति में हिस्सा निर्धारण करने की समस्या, इन साधनों की मांग और पूर्ति के सिद्धान्तों द्वारा मूल्य निर्धारण करने की समस्या ही है। प्रत्येक साधन के भाग निर्धारण का एक ही सिद्धान्त है —मांग और पूर्ति का सिद्धान्त। इसके विपरीत क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने इन साधनों के मूल्य निर्धारण के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त बतलाये हैं —क्लासिकल विचार धारा की तरह यह आधुनिक सिद्धान्त पहले मजदूरी के कुल भाग (मजदूरी कोष) और बाद में प्रति मजदूर की मजदूरी निश्चित करने का प्रयत्न नहीं करता है वरन यह नवीन सिद्धान्त पहले मांग और पूर्ति के सिद्धान्त की सहायता से किसी साधन की एक ईकाई का मूल्य निश्चित करता है और तत्पश्चात् इस प्रति इकाई मूल्य के आधार पर प्रत्येक साधन को, इसकी तमाम इकाईयों के लिए, कितना भाग देना पड़ता है यह स्वतः ही निश्चित हो जाता है। क्लासिकल सिद्धान्त की तरह आधुनिक सिद्धान्त यह भी नहीं कहता है कि संयुक्त उत्पत्ति में भूमि साधन का पहले दावा, है और फिर श्रम का और अन्त में पूंजी का।

परन्तु मांग और पूर्ति का सिद्धान्त क्या है और मांग और पूर्ति की शक्तियों में कौन-कौन से तत्व है ? जो तत्व किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण को प्रभावित करते हैं, वही तत्व किसी साधन के मूल्य निर्धारण पर असर डालते हैं। प्रत्येक साधन की मांग उत्पत्ति कार्य के लिये की जाती है, इसीलिए यह कहा जाता है कि हम इन साधनों को नहीं खरीदते बल्कि इन साधनों की सेवाओं को खरीदते हैं और लगान, मजदूरी (व वेतन) ब्याज व लाभ के रूप में जो पुरस्कार क्रमशः भूमि, श्रम (व्यवस्थापक) पूंजी व साहस साधनों को दिया जाता है वह इन साधनों की सेवाओं का मूल्य या पुरस्कार है। जिस प्रकार किसी वस्तु की मांग इसकी सीमान्त उपयोगिता (Marging Utility) और वस्तु की पूर्ति इसके उत्पादन व्यय (Cost of Production) से निश्चित होती है तथा वस्तु का मूल्य उस स्थान (बिन्दु) पर निर्धारित होता है जहां वस्तु की मांग और पूर्ति बराबर है। इसी तरह उत्पत्ति के साधन (या उसकी सेवा) का मूल्य इस स्थान (या बिन्दु) पर निश्चित होता है जिस पर उत्पादक को साधन की जो उपयोगिता है वह साधन के स्वामी के त्याग (Sacrifice the Owner or the Agent of the Factor of Production) के बराबर है। इस साम्य की दशा (State of Equilibrium) पर जब कि साधन की मांग और इसकी पूर्ति बराबर होती है, इस साधन का मूल्य उत्पादक

को इस साधन से प्राप्त होने वाली उपयोगिता इस साधक (Agent or Owner of the Factor) के त्याग के बराबर होता है अर्थात् साधन (Factor) से सम्बन्धित मूल्य उपयोगिता तथा त्याग तीनों एक दूसरे के बराबर होते हैं ।

एक उत्पादक के लिये किसी साधन की कितनी उपयोगिता है । यह उस साधन की सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Poroductivity) द्वारा मापा जा सकता है अतः उत्पादक की किसी साधन की मांग पर उस साधन की उत्पादकता (Productivity) या कार्य क्षमता (Efficiency) का प्रभाव पड़ता है । एक उत्पादक किसी साधन की कितनी इकाईयां उपयोग में लायेगा । किसी साधन की उपयोग की सीमा का निर्धारण वह उस साधन की उत्पादकता को इस साधन के मूल्य से तुलना करके तय करता है । यह स्वाभाविक है कि साधन का मूल्य उसकी उत्पादकता से अधिक नहीं होना चाहिये, वरना उत्पादक को इस साधन के उपयोग से लाभ के स्थान पर हानि होगी । अतः एक उत्पादक किसी साधन का उपयोग उस सीमा तक करता है जिस पर इसका मूल्य और इसकी सीमांत उत्पत्ति (Marginal Productivity) बराबर होती है । दूसरे शब्दों में साधन की सीमान्त उत्पत्ति ही उत्पादक की अधिकतम सीमा (Maximum Limit) है जिससे अधिक वह इस साधन का मूल्य देने के लिये तैयार नहीं होगा ।

यह कह देना कि उत्पत्ति के किसी साधन का मूल्य केवल उसकी सीमांत उत्पादकता से निश्चित होता है, गलत है । सीमान्त उत्पादकता तो केवल साधन की मांग का ही निरुपण करता है । जिस मूल्य सिद्धान्त में एक विक्रेता वस्तु का मूल्य कम से कम उस वस्तु की सीमांत लागत (Marginal cost) के बराबर लेता है, इसी तरह उत्पत्ति के किसी साधन का स्वामी (Agent or Owner of Any Factors of Production) संयुक्त उत्पत्ति में से कम से कम अपने सीमांत त्याग को (Marginal Sacrifice) बढ़ाता जाता है और सीमांत त्याग वह न्यूनतम सीमा (Miximum Limit) है जिससे कम इस साधन का स्वामी अपनी सेवाओं से नहीं लेगा । उदाहरण के लिये मान लो किसी, कारखाने में एक मजदूर ४ घण्टे कार्य करता है, तब यह मजदूर अपने श्रम के बदले में मजदूरी कम से कम उस त्याग के बराबर लेगा । जो इसे चौथे घन्टे में काम करने पर सहन करना पड़ता है । पर स्पष्ट है कि एक मजदूर जैसे-जैसे अधिक घन्टे कार्य करता है, उनमें काम करने की इच्छा कम होती जाती है जिससे उसकी काम करने में त्याग की मात्रा बढ़ती जाती है । इस मजदूर को पहले या दूसरे घन्टे से काम करने पर जो त्याग करना पड़ा है, यदि इस त्याग के आधार पर मजदूरी दी गई, तब इस मजदूर को हानि होगी, परन्तु यदि इस मजूर को इस चौथे घन्टे के योग के अनुसार मजदूरी दी । तब इसे पहले, दूसरे व तीसरे घन्टों में काम करने पर कुछ मजदूरी अतिरेक (Surplus) के रूप में प्राप्त होती है क्योंकि उसे त्याग कम करना पड़ा है परन्तु मजदूरी अधिक मिली है । परन्तु साम्य अवस्था में (State of Equilibrium) या जबकि

साधन की मांग और पूर्ति बराबर होती है, किसी साधन की सेवा का मूल्य और इसके सीमान्त त्याग की मात्रा (जिस प्रकार किसी साधन की उत्पादकता द्रव्य के रूप में मापी जा सकती है। ठीक इसी प्रकार किसी साधन की त्याग की मात्रा को द्रव्य के मापदण्ड से माप सकते हैं) बराबर होती है।
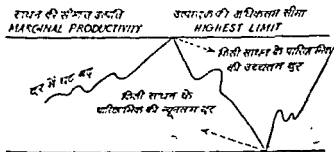
चित्र—१

यह चित्र उत्पत्ति के किसी साधन के पारिश्रमिक की दर में घट-बढ़ जाता है।

जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उपभोक्ता की अधिकतम और उत्पादक की न्यूनतम सीमाओं के बीच में तय होता है उसी प्रकार वितरण के आधुनिक सिद्धांत के अनुसार (इसी को वितरण की मांग और पूर्ति का सिद्धांत भी कहते है) किसी साधन की सेवाओं का मूल्य (या पारिश्रमिक) या इस साधन का हिस्सा इस साधन की अधिकतम और न्यूनतम सीमाओं के बीच में निर्धारित होता है।

आर्थिक शक्तियों में परिवर्तन होने पर प्रत्येक साधन के मूल्य में घट बढ हो जाती है। परन्तु जब साहसी प्रत्येक साधन की मांग और पूर्ति में सन्तुलन रखता है या जब व्यवसाय में साम्य की अवस्था (State of Equilibrium) आ जाती है तब साधन का मूल्य (या पारिश्रमिक या हिस्सा) साधन की सीमान्त उत्पत्ति और साधन मांग और पूर्ति की मात्राएं (इकाईयों में) साधन का सीमान्त त्याग (जो द्रव्य में नाप लिया गया है) ये तीनों एक दूसरे के बराबर हो जाते हैं।[1] दूसरे शब्दों में, साधन का मूल्य उस स्थान पर तय होता है जिस पर इसकी सीमान्त उत्पत्ति और साधन के स्वामी का सीमान्त त्याग बराबर होता है। इसे एक चित्र द्वारा दिखलाया गया है। इस चित्र में अ, आ रेखा पर साधन की मांग और पूर्ति की मात्राएं और अ, ऊपर इस साधन की सीमान्त उत्पत्ति व सीमान्त त्याग (द्रव्य में) प्रदर्शित किया है प,

१ साम्य की अवस्था में : साधन की सीमान्त उत्पत्ति = साधन के स्वामी का त्याग = साधन के सेवा का मूल्य।

इस तरह साम्य की अवस्था में ये तीनों बराबर बराबर होते है।

प रेखा साधन के त्याग की रेखा और म, म रेखा साधन की सीमान्त-उत्पत्ति की रेखाएं हैं और ये एक दूसरे को 'त' पर काटती हैं। अतः त, ट रेखा साधन का मूल्य हुआ क्योंकि 'ट' स्थान पर साधन की मांग और पूर्ति बराबर हैं या साधन

२२
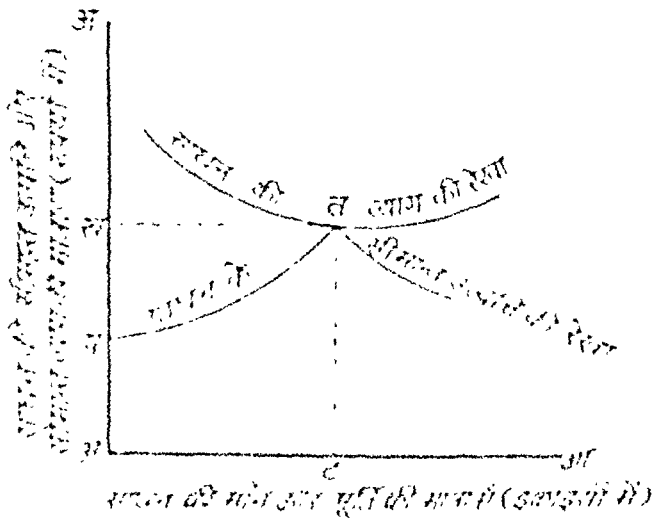
लगान

(RENT)

Q. Examine critically the Ricardian Theory of Rent. Explain the opinion of modern econonomicsts in this connection.

रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ? इस विषय में आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार लिखिए ?

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त—

रिकार्डो निर्बाधवादी अर्थशास्त्रियों के इस मत से पूर्णतया सहमत थे कि लगान एक प्रकार का आधिक्य है, परन्तु उनके विचार में लगान का मूल कारण दूसरा ही था। उनका कथन है कि प्रकृति उदार नहीं है। वह बड़ी कृपण है, और मनुष्य के साथ सौतेली मा का व्यवहार करती है। प्रकृति का स्वाभाविक गुण संकीर्णता है। भूमि जो रिकार्डो के अनुसार प्रकृति का बिना मूल्य का उपहार है, स्वभाव से ही मात्रा और गुणों में सीमित है। लगान की समस्या इसी सीमितता के कारण उत्पन्न होती है। भूमि की उर्वरता तथा अन्य गुणों में अन्तर होता है। अधिक उपजाऊ खेतों की मात्रा के सीमित होने के कारण मनुष्य को कम उपजाऊ खेती करने के लिये वाध्य होना पड़ता है। इसके फलस्वरूप अधिक उपजाऊ खेतों पर एक प्रकार का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, जिसे हम उन खेतों का लगान कह सकते हैं। इस प्रकार लगान प्रकृति की उदारता के कारण नहीं, बल्कि उसकी कृपणता अथवा संकीर्णता के कारण उत्पन्न होता है।

लगान की परिभाषा:—रिकार्डो के अनुसार "लगान भूमि की उपज का वह भाग है जो भूमि के मालिक को भूमि की मौलिक और अविनाशी शक्तियों के उपयोग के लिये दिया जाता है।" आगे चलकर वे लिखते हैं—"बहुधा लगान पूंजी के व्याज के अर्थ में समझा जाता है, और साधारण भाषा में यह शब्द उन वस्तुओं के अर्थ में उपयोग किया जाता है जो किसान अपनी भूमि के मालिक को देता है"। आर्थिक लगान उत्पादन के व्यय के ऊपर एक आधिक्य है, जो इस कारण उत्पन्न होता है कि खेत के एक टुकड़े को सीमांत खेत पर कुछ ऐसे या विशेष लाभ प्राप्त होते हैं। कुल उपज में से खेती करने की लागत अर्थात् श्रम, पूंजी और साहस के पारितोषण को निकाल देने के पश्चात् जो शुद्ध आधिक्य बचता है, वह लगान होता है। अतः मूल एवं अविनाशी साधन के मालिक को जो कुछ मिलता है, वह लगान होता है। हम लगान को पारितोषण नहीं कह सकते क्योंकि भूस्वामी को किसी प्रकार

परिश्रम (त्याग) नहीं करना पड़ता है। यदि किसी भूमि में परिश्रम के द्वारा सुधार भी करना पड़ता है, तो जो कुछ मिलेगा उसका एक अंश वेतन अथवा मजदूरी होगी व शेष लगान। इससे ज्ञात होता है कि लगान किसी प्रकार के त्याग का पारितोषण नहीं हो सकता।

लगान कैसे नापा जा सकता है:—

लगान के माप हेतु रिकार्डो एक नये उपनिवेश का उदाहरण लेते हैं, जिसमें नई आबादी आरम्भ होती है। पहला समूह वहां जाकर बसता है, एवं खेती करता है। मानव प्रवृत्ति ही है कि, कम से कम परिश्रम एवं त्याग से ही अधिक से अधिक लाभ हो। पहले समूह के लोग सर्वाधिक उपजाऊ जमीन पर खेती करेंगे। सुविधा के लिये सर्वाधिक उपजाऊ भूमि को प्रथम श्रेणी में ले लीजिये। वहां ५० मन गेहूँ पैदा होता है। जनसंख्या में वृद्धि होती है, और प्रथम श्रेणी की सब भूमि खेती के काम आने लगती है। फिर द्वितीय श्रेणी की भूमि का भी उपयोग किया जाता है, जहां ४० मन गेहूँ की उपज होती है। अतः यहां प्रथम श्रेणी के एक टुकड़े का लगान ५०—४०=१० मन गेहूं होगा।

क्रमशः जनसंख्या बढ़ती जाती है। दूसरी श्रेणी की भूमि भी समाप्त हो जाती है। उससे कुल उपजाऊ अर्थात् तीसरी श्रेणी की भूमि का उपयोग किया जायगा। इससे पहले ५०—४०==१० मन गेहूँ पहली श्रेणी की भूमि का लगान था, अब बढ़कर ५०—३०=२० मन गेहूं हो जायगा। दूसरी श्रेणी का अनुमान ४०—३०=१० मन हो जावेगा। यहां रिकार्डो के अनुसार तीसरी श्रेणी की भूमि का लगान कुछ भी नहीं है, क्योंकि यह सीमान्त भूमि है। इसके बाद भी यदि चौथी श्रेणी की भूमि पर खेती करें और उसकी प्रतिएकड़ उपज २० मन गेहूँ है तो तीसरी श्रेणी की भूमि की लागत ३०—२०=१० मन हो जायेगी।

इस प्रकार—

प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी	तृतीय श्रेणी	चतुर्थ श्रेणी
५०—२०=३०	४०—२०=२०	३०—२०=१०	२०—२०=0

अतः चतुर्थ श्रेणी में सीमाँत भूमि है। इसे एक चित्र द्वारा अच्छा समझा जा सकता है।

इस चित्र में प्रत्येक खेत का आकार लाईनों से सूचित किया है। चौथा खेत सीमांत खेत है, उस पर कुछ भी लगान नहीं है। सीमांत खेत की उपज से अधिक किसी खेत पर जितनी उपज होती है वही उस खेत का लगान कहलाती है।

लगान की मुद्रा में माप—

उपरोक्त उदाहरण में हमने लगान की माप उपज में की, किन्तु मुद्रा द्वारा ही अक्सर लगान की माप होती है। मुद्रा में नापने पर भी कोई विशेष ा उत्पन्न नहीं होती है। मुद्रा में लागत का माप खेत की उपज के मूल्य में से ादन व्यय को घटा दिया जाता है। उपरोक्त उदाहरण में मान लीजिये एक

एकड़ भूमि पर खेती करने से प्राप्त अनाज का मूल्य ३०० रु० है। यदि खेती करने की लागत वसूल नहीं होगी तो खेती ही नहीं की जायगी।
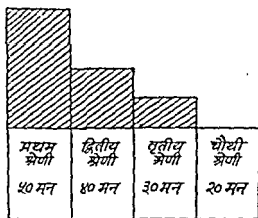
चित्र—३

पहली दशा में जब केवल प्रथम श्रेणी की भूमि पर खेती होती है तो एक एकड़ भूमि की उपज अर्थात् ५।। मन गेहूँ का ३०० रु० में बिकना आवश्यक है। उस दशा में गेहूँ का दाम ६ रु० प्रति मन होगा। अब यदि जनसंख्या बढ़ती है तो निश्चय ही गेहूँ की माँग भी बढ़ेगी और गेहूँ के दाम ऊपर चढ़ जायँगे। दूसरी श्रेणी की भूमि पर उस समय तक खेती नहीं की जायगी जब तक उसकी ऊपज के मूल्य के रूप में ३०० रु० वसूल नहीं होंगे। इस प्रकार दूसरी श्रेणी के खेत पर तभी खेती होगी जब गेहूँ का दाम ३००×४० = ७।।) रु० प्रति मन हो जायगा। ऐसी दशा में प्रथम श्रेणी की एक एकड़ भूमि की ऊपज ३७५ रु० में बिकेगी और इस प्रकार उस पर ३७५—३०० = ७५ रु० लगान होगा।

तीसरी श्रेणी के खेतों पर खेती तभी होगी जब गेहूँ के दाम इतने बढ़ जायँ कि उसकी उपज अर्थात् ३० मन गेहूं ३०० रु० में बिक सकें, क्योंकि एक एकड़ भूमि से खेती करने के व्यय का वसूल होना आवश्यक है। इस प्रकार दाम १० रु० प्रति मन होंगे। दूसरी श्रेणी के खेत पर भी लगान होगा, जिसकी माप ४०×१०—३०० = १०० रु० होगी। पहले खेत का लगान बढ़कर ५०×१०—३० = २०० रु० हो जायगा। इसी प्रकार चौथे खेत पर खेती करने के लिये दामों का ३००÷२० = १५ रु० प्रति मन होना जरूरी है। ऐसी दशा में तीसरे खेत पर जो लगान होगा, जिसकी मुद्रा में माप ३०×१५—३०० = १५० रुपया होगा। दूसरे खेत पर ४०×१५ — ३०० = ३०० रुपया और पहले खेत पर ५०×३५—३०० = ४५० रुपया लगान होगा। लगान को मुद्रा में नापने की यही रीति है।

काई उपज मिलती है और दूसरी से केवल ४० तो पहली मात्रा के लगान की माप १० इकाई उपज होगी।

ह्रास नियम और लगान—

ध्यान पूर्वक देखने से पता चलता है कि रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त उत्पत्ति के ह्रास नियम पर आधारित है। चाहे हम विस्तृत खेती को ले लें और चाहे गहन खेती को दीर्घकाल में अवश्य ही उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है। इसी नियम के कारण आरम्भ में खेती की गई भूमि अथवा आरम्भ में उपयोग की हुई श्रम और पूंजी की मात्राओं पर आधिक्य दिखाई पड़ता है, जिसे रिकार्डो के लगान सिद्धान्त का नाम दे दिया है।

लगान और मूल्य—

अपने लगान के सिद्धान्त के आधार पर रिकार्डो अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लगान कीमत में शामिल नहीं होता, अर्थात् मूल्य के निर्धारण में लगान का कुछ भी हाथ नहीं होता। मूल्य या कीमत जिन कारणों अथवा चीजों से नियत होती है वे लगान के प्रभाव से पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं। मूल्य सीमान्त भूमि की उपज तथा उत्पादन व्यय द्वारा नियत होता है यदि उत्पादन व्यय ३०० रु० है और सीमान्त भूमि की उपज २० मन है तो मूल्य १५ रु० प्रति मन होगा। सीमान्त भूमि लगान रहित भूमि होती है और लगान उत्पादन व्यय के ऊपर आधिक्य होता है, अर्थात् सीमान्त भूमि की उपज तथा उत्पादन व्यय दोनों में से किसी में भी लगान सम्मिलित नहीं होता है इसलिए मूल्य के निर्धारण से लगान का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो सत्य है कि यदि कीमत बढ़ती हैं तो लगान भी बढ़ जाता है (लगान की मुद्रा में माप करते समय यह बात स्पष्ट की जा चुकी है) परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि ऊंची कीमतें ऊंचे लगान के कारण होती हैं। उत्पादन व्यय में लगान को सम्मिलित नहीं किया जाता है।

वैसे तो यह कथन सत्य प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में इस प्रकार का विरोध पाया जाता है। एक किसान जो अपनी भूमि पर खेती नहीं करता, जो लगान भूमिपति को देता है वह उसका एक प्रकार का व्यय ही होता है और यह उसे अपने उत्पादन व्यय में अवश्य शामिल करता है, अतः किसी एक व्यक्ति के लिये हम यह नहीं कह सकते कि जो लगान वह देता है उसका उसके उत्पादन व्यय या उसके दृष्टिकोण से उपज के मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं है? व्यक्तिगत दृष्टिकोण से दोनों के बीच गहरा सम्बन्ध है परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त सही है तो सामाजिक दृष्टिकोण से लगान मूल्य का अंग नहीं होता है और उसमें शामिल भी नहीं होता है। दोनों में केवल इतना ही सम्बन्ध है कि कीमतों के ऊंचा हो जाने से लगान बढ़ जाता है। इसका मूल कारण यह है कि उस दशा में कम उपजाऊ भूमि पर खेती होने लगती है।

लगान की अन्य परिभाषायें—

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त आर्थिक विचारों के इतिहास में एक

महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रिकार्डो के पश्चात् लगभग सभी अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो के मूल तत्व को स्वीकार किया है परन्तु फिर भी रिकार्डो और दूसरे अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोणों में कुछ थोड़ा अन्तर अवश्य है। लगान का आधुनिक सिद्धान्त रिकार्डो के सिद्धान्त से बिल्कुल भिन्न है, परन्तु आधुनिक सिद्धान्त बहुत पुराना नहीं है।

रिकार्डो की परिभाषा से मिलती जुलती लगान की अन्य परिभाषायें:—

मार्शल—"भूमि और प्रकृति के अन्य स्वतन्त्र उपहारों के स्वामित्व से प्राप्त होने वाली आय को साधारणतः लगान कहते हैं।"

प्रो० कारवर—"लगान भूमि के उपयोग के लिए दी गई कीमत है" दूसरे स्थान पर लिखा है—

"किसी दी हुई भूमि का लगान उस आधिक्य के बराबर होता है जो समान श्रम और पूंजी लगाकर सबसे कम उपजाऊ भूमि की उपज के ऊपर प्राप्त होता है।"

पैन्सन—"वह आधिक्य है जो किसान के पास कृषि की सारी लागत चुकाने और अपनी मेहनत का पारिश्रमक प्राप्त कर लेने के पश्चात् बच रहता है।"

यह स्पष्ट है कि इन सब परिभाषाओं का आधार रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त ही है। प्रत्येक लेखक ने लगान को एक आधिक्य के रूप में स्वीकार किया है। भूमि को रिकार्डो की भान्ति स्वतन्त्र बताया है। कारवर ने थोड़ा सुधार अवश्य किया है, क्योंकि उन्होंने लगान को भूमि की कीमत कहा है, परन्तु कारवर भी अपनी बात को बहुत आगे ले जा सके हैं। यदि लगान एक प्रकार की कीमत है तो उसका निर्धारण मांग और पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिए, परन्तु कारवर का ऐसा विचार नहीं है।

लगान और आर्थिक उन्नति—

अपनी पुस्तक के अन्तिम भाग में रिकार्डो लगान पर सुधार के प्रभाव का अध्ययन करते हैं और आर्थिक उन्नति या सुधार तीन प्रकार से हो सकता है, प्रथम तो उत्पादन की रीतियों में सुधार हो जाने से दूसरे, यातायात की सुविधाओं का विकास हो जाने से और तीसरा, जनसंख्या के बढ़ जाने से। इन तीनों बातों का लगान पर जो प्रभाव पड़ता है उसका अध्ययन नीचे किया जाएगा—

कृषि की रीतियों में सुधार—

खेती करने की रीतियों में सुधार मशीनों तथा अच्छे औजारों के उपयोग, अच्छे बीजों, वैज्ञानिक ज्ञान के उपयोग, इत्यादि के द्वारा हो सकता है। इस प्रकार का सुधार या तो सभी प्रकार की भूमि पर किया जा सकता है या केवल अच्छी भूमि पर या नीचे की श्रेणी की ही भूमि पर। यदि सभी प्रकार की भूमि पर सुधार किया जाए तो उपज में काफी वृद्धि होगी। इस दिशा में यदि मांग यथा स्थिर रही तो कीमतें नीचे गिर जायेंगी जिसके कारण कम उपजाऊ खेतों पर खेती होना बन्द हो जाएगा

क्योंकि अच्छे किस्म के खेतों की उपज में ही इतनी वृद्धि हो जाती है कि पर्याप्त मात्रा में उपज की माँग पूरी हो जाती है। ऐसी दशा में खेती की सीमा के कम हो जाने के कारण लगान घट जायगा। यदि उपज के अनुसार माँग भी बढ जाती है तो लगान भी बढ़ जायगा। कारण यह है कि एक से ही सुधार के फलस्वरूप अच्छी भूमि पर नीचे की श्रेणी की भूमि की उपज का अन्तर और भी अधिक हो जायगा तथा लगान बढ़ जायगा। यदि केवल खराब भूमि पर ही सुधार किया जायगा तो सीमांत भूमि की उपज बढ़ जाने के कारण लगान बढ जायगा।

यातायात का विकास—

यातायात का विकास हो जाने से बाजार से दूर के खेतों का उत्पादन व्यय कम हो जायगा। बाजार के निकट के खेतों के विशेषण लाभ में कमी आ जायगी और इस प्रकार उनका लगान कम हो जायगा। साथ ही बाहर के देशों से सस्ता माल आने लगेगा, और इससे भी लगान कम हो जायगा, क्योंकि कृषि की सीमा का संकुचन होगा और नीची श्रेणी की भूमि पर खेती बन्द हो जायगी।

जनसंख्या की वृद्धि—

जनसंख्या में वृद्धि हो जाने से अनाज तथा कृषि की उपज की माँग बढ़ जायेगी। इससे मूल्य ऊपर चढ़ेंगे और विस्तृत तथा गहन दोनों ही प्रकार की खेती की सीमाएं बढ़ जायगी, जिसके फलस्वरूप लगान में भी वृद्धि होगी।

दुर्लभता लगान—

रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार लगान सीमान्त अथवा लगानरहित भूमि तथा भूमि विशेष की उपज के अन्तर के बराबर होता है। रिकार्डो का विचार है कि लगानरहित भूमि का वास्तविक अस्तित्व है। इस प्रकार का खेत या तो देश में ही विद्यमान होगा अथवा किसी ऐसे विदेश में होगा जिससे देश का व्यापार होता है, किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि कभी-कभी ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है, जबकि देश में लगानरहित भूमि हो ही नहीं और सभी खेतों पर लगान हो। उदाहरण स्वरूप हमने देखा था कि एक एकड़ भूमि पर खेती करने का व्यय ३०० रुपया था और चौथी श्रेणी की भूमि के एक एकड़ टुकड़े पर २० मन उपज थी। यहाँ चौथी श्रेणी की भूमि लगानरहित भूमि थी क्योंकि कीमत १५ रुपये मन होने के कारण इस भूमि की उपज को बेचकर केवल उत्पादन व्यय ही वसूल होता था, परन्तु यदि देश में किसी कारण गेहूं की माँग बढ़ती है जिसके कारण गेहूं का मूल्य १७ रु० प्रति मन हो जाता है तो चौथी श्रेणी की भूमि भी उत्पादन व्यय के ऊपर एक आधिक्य दिखाई पड़ेगा, जिसे रिकार्डो के अनुसार उस भूमि का लगान कहना चाहिये। यदि चौथी श्रेणी से भी कम उपजाऊ भूमि देश में शेष है तो उस पर भी खेती होने लगेगी और हो सकता है कि यही भूमि लगान रहित भूमि बन जाय, परन्तु उससे अनुपजाऊ भूमि न हो तो कोई भी भूमि लगानरहित न बचेगी। प्रत्येक प्रकार की भूमि पर यहाँ लगान होगा। इसी प्रकार के लगान को दुर्लभता का लगान

कहा जाता है । अन्य श्रेणियों की भूमि पर जो कुल लगान होगा उसका एक अंश तो आर्थिक लगान होगा जो कि खेत तथा सीमान्त खेत की उपज के अन्तर के बराबर होगा और दूसरा अंश दुर्लभता लगान होगा। इस प्रकार का लगान लगानरहित भूमि पर आविक्य नहीं होता क्योंकि लगानरहित भूमि तो होती ही नहीं है। इसका मूल कारण दुर्लभता होती है, क्योंकि भूमि दुर्लभ है और खेती करने के लिये पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है, इसलिये इस प्रकार का लगान उत्पन्न होता है।

रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त की आलोचना—

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की आलोचनायें

(१) भूमि में मूल और अविनाशी शक्तियों की बात भ्रामक है।
(२) यथार्थ में कोई लगानरहित भूमि नहीं होती।
(३) लगान की समस्या गहन खेती से भी सम्बन्धित है।
(४) यह सिद्धान्त केवल भूमि पर ही लागू होता है।
(५) कृषि की प्रगति का क्रम गलत है।
(६) दीर्घकाल और पूर्ण प्रतियोगिता के विचार पर आधारित है।
(७) लगान के लिये पृथक सिद्धान्त अनावश्यक।

रिकार्डो के लगान के सिद्धांत की बड़ी आलोचना हुई है। यथार्थ में अर्थशास्त्र के इतिहास में लगभग किसी भी लेखक और उसके सिद्धान्तों की इतनी कड़ी आलोचना का सामना नहीं करना पड़ा है, जितना कि रिकार्डो को। लगान के सिद्धान्त की मुख्य-मुख्य आलोचनाएं इस प्रकार हैं—

कहा जाता है कि भूमि में कुछ भी मूल और अविनाशी शक्तियाँ नहीं होती हैं। अधिक से अधिक उपजाऊ भूमि भी निरन्तर खेती होते रहने के कारण अपनी उर्वरता शक्ति खो देती है। भूमि की ये शक्तियाँ अविनाशी नहीं होती है, परन्तु इस विषय में यह कह देना काफी होगा कि यद्यपि मनुष्य द्वारा खाद आदि अनेक रीतियों से उर्वरता को स्थिर रखा जा सकता है, किन्तु प्रकृतिदत्त गुणों को बदलना असम्भव है। अच्छी एवं खराब दोनों प्रकार की भूमि पर समान सुधार करने से समान उपज प्राप्त नहीं होती। साथ ही जलवायु, स्थिति, पानी और हवा आदि के जो स्वाभाविक लाभ भूमि को प्राप्त होते हैं वे मूल तथा अविनाशी कहलाने के अधिकारी होते हैं।

(२) रिकार्डो के सिद्धान्त में इस बात को मान लिया गया है कि लगानरहित भूमि यथार्थ में होती है। इस भूमि की उपज से केवल खेती का उत्पादन व्यय ही वसूल होता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। हर प्रकार की भूमि पर यदि बहुत नहीं तो कम से कम नाममात्र का ही लगान अवश्य होता है, किन्तु इस विषय में

केवल हम यही कह सकते हैं कि इस प्रकार का लगान सच्चा आर्थिक लगान नहीं होता। इसे तो केवल दुर्लभता का लगान ही कहा जा सकता है।

(३) रिकार्डो का विचार है कि लगान केवल भूमि के टुकड़ों पर ही उत्पन्न होता है, इसलिये इसकी समस्या विस्तृत खेती से ही सम्बन्धित है। गहन खेती के बारे में रिकार्डो ने कोई विचार व्यक्त नहीं किया है।

(४) रिकार्डो के वितरण के सिद्धान्त का आधार ही गलत है। भूमि में कुछ भी ऐसी विशेषताएं नहीं हैं जिनके कारण उनके पारितोषण के विषय में जो सिद्धांत बनाया जाय वह दूसरे साधनों पर लागू न हो। यथार्थ में उत्पत्ति के सभी साधनों का पारितोषण एक ही सिद्धान्त के अन्तर्गत निश्चित होना चाहिये।

(५) रिकार्डो ने खेती के प्रारम्भ की प्रगति का जो ऐतिहासिक क्रम बताया है वह ठीक नहीं है। बाकर, केरे और रेशे का मत है, और यह ठीक भी है कि सबसे पहले उस भूमि पर खेती की जाती है जो मानव आबादी के अधिक समीप होती है, न कि उस भूमि पर जो कि सबसे अधिक उपजाऊ होती है। अधिक अच्छी भूमि को साफ करके खेती करने योग्य बनाने में समय और परिश्रम दोनों लगते हैं, परन्तु इससे रिकार्डो का सिद्धान्त गलत नहीं हो जाता है, क्योंकि रिकार्डो ने उर्वरता के अन्तर को भी लगान का कारण माना है।

(६) सभी प्रतिष्ठित सिद्धान्तों की भांति रिकार्डो का सिद्धान्त भी दीर्घकाल तथा पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यताओं पर आधारित है। इसमें से पहली मान्यता अव्यवहारिक है और दूसरी अवास्तविक।

(७) आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि लगान के निर्धारण के लिये किसी अलग सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। यदि भूमि को एक वस्तु मान लिया जाता है और लगान को उसकी कीमत तो मूल्य का सामान्य सिद्धान्त यहां भी पर्याप्त होगा।

आधुनिक अर्थशास्त्र एवं रिकार्डो का सिद्धान्त—

ध्यानपूर्वक विवेचना करने से पता चलता है कि रिकार्डो के सिद्धान्त का आधार ही गलत है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों में रिकार्डो की भूमि की परिभाषा तथा उसके विशेषक गुणों से भारी मतभेद है। उनका विचार है कि भूमि में कोई भी ऐसा गुण विद्यमान नहीं है जो अन्य साधनों में न मिलता हो, इसलिये भूमि की विशेषता के आधार पर उसके पारितोषण, अर्थात् लगान के लिये किसी अलग सिद्धान्त का बनाना उचित नहीं है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, भूमि के जो विशेष गुण रिकार्डो के अनुसार भूमि में पाये जाते हैं वे सभी साधनों में होते हैं और यदि इन गुणों के कारण भूमि पर लगान उत्पन्न होता है तो सभी उत्पत्ति के साधनों पर लगान होना चाहिये।

सर्वप्रथम तो रिकार्डो की भूमि की परिभाषा को ही लीजिये। रिकार्डो की

भूमि प्रकृति का बिना मूल्य का उपहार है, अर्थात् उसके लिये मनुष्य को कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता है। देखना यह है कि उत्पादन कार्य के लिये मनुष्य को प्रकृति की कोई वस्तु बिना मूल्य के मिल जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राकृतिक झरने, जंगलों में खड़े हुये पेड़, जंगली जानवर तथा इस प्रकार की दूसरी वस्तुएं मनुष्य के उद्योग के बिना ही इस संसार में हैं, परन्तु जब मनुष्य उन्हें उपभोग या उत्पत्ति के लिये उपयोग करता तो वे उसे बिना मूल्य के नहीं मिलती हैं। झरने तक पहुँचने तथा उसको देखकर तृप्ति पाने में व्यय होता है। यदि और कुछ नहीं तो अवसर व्यय तो अवश्य ही होगा। जंगल के पेड़ का उपभोग करने अथवा उसको उत्पत्ति के साधन के रूप में उपयोग करने में भी व्यय होता है और फिर क्या धूप, वर्षा इत्यादि हर समय तथा हर मनुष्य को बिना व्यय के मिलती हैं ? क्या एक बन्द कैदी अथवा खान में काम करने वाले श्रमिक को इनके पाने के लिये व्यय नहीं करना पड़ता है ? क्या पनडुब्बी के यात्रियों को हवा बिना मूल्य ही मिल जाती है ? पता चलता है कि प्रकृति के उपहार सदा बिना मूल्य नहीं होते। वास्तविकता यह है कि बिना मूल्य के उपहार है ही नहीं और रिकार्डो के बताये हुए अर्थ में भूमि नाम की वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है।

अब रिकार्डो द्वारा बताये हुए भूमि के विशेष गुणों को लीजिए। रिकार्डो का विचार है कि भूमि क्योंकि प्रकृति का उपहार है, जबकि अन्य साधन मनुष्यकृत है, इसलिये भूमि में कुछ ऐसे गुण पाये जाते हैं जो अन्य साधनों में विद्यमान नहीं है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि में इन्हीं विशेष गुणों के कारण रिकार्डो भूमि के पारितोषण के निर्धारण के लिये एक अलग सिद्धान्त बनाते हैं। रिकार्डो के अनुसार भूमि की मात्रा परिमाणात्मक दृष्टिकोण से सीमित है। जितनी भूमि की मात्रा प्रकृति ने दी है मनुष्य न तो उसको कम ही कर सकता है और न उसको बढ़ा ही सकता है। इसके विपरीत उत्पत्ति के अन्य साधनों पर मनुष्य का अधिकार होता है वह उनकी मात्रा को बढ़ा भी सकता है और घटा भी सकता है किन्तु यथार्थ में सीमित होना केवल भूमि का ही गुण नहीं है। प्रत्येक साधन स्वभाव से ही सीमित मात्रा में मिलता है। जीव विज्ञान हमें बताता है कि सब प्रकार के श्रम की मात्रा भी निश्चित है और इसे मनुष्य द्वारा घटाया बढ़ाया नहीं जा सकता है। जैसे जैसे जनसंख्या बढ़ती रहती है प्रति मनुष्य कार्य शक्ति घटती जाती है और इस प्रकार कुल श्रम शक्ति के लगभग समान रहती है। मनुष्य इसमें कमी या वृद्धि नहीं कर सकता है। किसी समय विशेष में इस प्रकार साहस और पूंजी की मात्रा भी निश्चित होती है साथ ही भूमि की मात्रा भी पूर्ण रूप से अपरिवर्तनीय नहीं होती। हालैंड में समुद्र में पानी को मिलाकर भूमि की मात्रा में वृद्धि कर ली गई है। ठीक इसी प्रकार एटम बम्ब द्वारा एक द्वीप या भूमि को उड़ाकर कम भी किया जा सकता है। अतः भूमि एवं अन्य साधनों में कोई फर्क नहीं है। जब मकान की दूसरी मंजिल बनाई जाती है तब भी एक प्रकार की भूमि में वृद्धि होती है।

भूमि का दूसरा गुण रिकार्डो के अनुसार यह है कि गुणात्मक दृष्टिकोण से भूमि सीमित है। यदि उत्तम श्रेणी की भूमि पर्याप्त मात्रा में हो तो लगान का प्रश्न ही नहीं उठेगा। यह गुण उत्पत्ति के सभी साधनों में विद्यमान होता है। दक्ष श्रम अच्छी भूमि के समान ही अप्राप्त होता है। विशेष प्रकार की पूंजी एवं साहस भी अप्राप्त होता है। अतः प्रश्न उठता है कि भूमि एवं अन्य साधनों में क्या फर्क है ? फिर भूमि पर ही सिर्फ लगान होता है अन्य साधनों में क्यों नहीं ? वास्तव में विस्तृत खेती में देखा जा चुका है कि अन्य साधनों में भी लगान होता है। आभास लगान, श्रम एवं पूंजी पर ही होता है।

अतः रिकार्डो का लगान सम्बन्धी सिद्धान्त पूर्ण रूपेण सही नहीं है। वह वास्तव में लगान की व्याख्या नहीं करता है। 'मूलतया रिकार्डो का सिद्धान्त केवल इस सत्य को बताता है कि अच्छी वस्तु के दाम सदैव अधिक होंगे। एक अधिक उपजाऊ भूमि का मूल्य कम उपजाऊ से अवश्य ही अधिक होगा, क्योंकि दोनों भिन्न चीजें है। यही बात मजदूरी के विषय में भी सत्य होगी।" इसी प्रकार विक्सेल (Wicksell) का विचार है कि "इस प्रकार लगान और मजदूरी में हर दशा में समानता होती है। लगान के किसी सिद्धान्त की आवश्यकता होती ही नहीं है, भूमि के हर एक एकड़ को ठीक इसी प्रकार समझना चाहिए जैसे कि एक मजदूर को··· ।"

Q. "The conception of rent has often been too closely intermoven with the conception of land. Particular units of factors of production which belong on other three broad categories—labour, entrepreneurship and capital may also earn rent." (J. Robinson)
Examine the statement. (Vikram 1966 M. A.)

"लगान का प्रत्यय बहुधा भूमि के प्रत्यय के साथ ऊंचा हुआ है। किन्तु उत्पादन के अन्य तीन वर्गों–श्रम, साहस और पूंजी–की विशिष्ठ इकाईयां भी लगान अर्जित कर सकती हैं।" (श्रीमती राबिन्सन)। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

(विक्रम १९६६ एम. ए.)

Q. How is rent a surplus ? How is it determined under perfect competition ? Discussfully.

(Agra M. A. 1957, Vikram M. A. 1960)

प्रश्न—लगान अतिरेक किस प्रकार है ? पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत वह प्रकार निर्धारण होता है ? पूर्णतः विवेचन कीजिए।

(आगरा एम० ए० १९५७, विक्रम एम० ए० १९६०)

सामान्य रूप में लगान शब्द का प्रयोग उस भुगतान के लिए किया जाता है जो किसी भौतिक वस्तु के प्रयोग के लिये किया जाता है। लेकिन अर्थशास्त्र में लगान शब्द का अर्थ बिल्कुल भिन्न प्रकार का लगाया जाता है। अर्थशास्त्र में उत्पत्ति के किसी साधन की कोई इकाई जब उससे अधिक उत्पन्न करती है जितना कि

उपजाऊ भूमि पर कृषि की जाती है। कृषि मे उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होता है, जबकि जनसख्या में वृद्धि होने की प्रवृत्ति पाइ जाती है।

अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की इस सिद्धान्त मे पाई जाने वाली कमियों के आधार पर, अनेक प्रकार से आलोचना की जो कि निम्न प्रकार है—

सर्वप्रथम, रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उसने अपने अपने विचारों मे भूमि के अन्दर कुछ अविनाशी तथा मौलिक शक्तियों के होने की कल्पना की है, जिनके प्रयोग का भुगतान लगान के रूप मे किया जाता है। आलोचको ने बताया कि भूमि के अन्दर किसी प्रकार की कोई अविनाशी एवं मौलिक शक्तियाँ नही होतीं और जो होती हैं तो उनको प्राप्त करने के लिये पूंजी का विनियोग करना पडता है। दूसरे शब्दों में, किसी भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिये उसके ऊपर से जगलात तथा घास आदि को साफ करना पड़ता है और जब भूमि के उपजाऊपन के प्रयोग का भुगतान किया जाता है तो इस भुगतान मे भूमि को साफ करने मे विनियोग की गई पूंजी का पुरस्कार भी सम्मिलित रहता है। इसी प्रकार जहाँ तक भूमि के उपजाऊपन का सम्बन्ध है वह नाशवान है। इसके अतिरिक्त आज के अणु–शक्ति, हाईड्रोजन और बीज सम्बन्धी पदार्थ विज्ञान के युग मे किसी वस्तु को अनश्वर एव अवनाशि कहना बहुत बडी भूल है। आज के वैज्ञानिक युग मे जलवायु तथा कृषि प्रणालियों में परिवर्तन करके ऊसर भूमि को हरी भरी भूमि में तथा हरी भरी भूमि को ऊसर भूमि परिणत करना कोई असम्भव नही है।

दूसरे, रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त मे यह माना है कि लगान का सम्बन्ध केवल भूमि से ही है। उत्पत्ति के अन्य किसी साधन मे लगान उत्पन्न नहीं होता। आलोचकों ने बताया कि भिन्नक आय (Differential Surplus) लगान के रूप में केवल भूमि मे ही प्राप्त नही होती, बल्कि उत्पत्ति के अन्य साधन श्रम तथा पूंजी से भी प्राप्त होती है। उत्पत्ति का कोई भी साधन जिसको किसी दिए हुए समय मे मांग की अपेक्षा पूर्ति कम तथा बेलोच होती है, उसमे लगान उत्पन्न हो सकता है। अल्पकाल मे तथा अल्पकाल से भी अधिक समय मे उत्पत्ति के अन्य साधनों की भांति भूमि की पूर्ति मे सीमित तथा बेलोच होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। दूसरे शब्दों में, अल्पकाल मे भूमि की पूर्ति को उसकी माग के बढ जाने पर बढ़ाया नहीं जा सकता। ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार के उत्पत्ति के अन्य साधनों की पूर्ति को नहीं बढ़ाया जा सकता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भूमि की भांति श्रम, पूंजी तथा साहस आदि उत्पत्ति के साधनों मे भी लगान उत्पन्न होता है, जैसा कि श्रीमती जोनरोबिन्सन ने भी कहा है कि "उत्पत्ति के साधनों की विभिन्न इकाइयां जो कि श्रम, साहस तथा पूंजी के श्रेणियों के अन्तर्गत आती है भी लगान उपार्जन कर सकती है।"[1]

1. "Particular units of factors of production which belong to the other three broad categories labour, enterpreneurship and capital may also earn rent."
—Mrs. Joan Robinson ; Economics of Imperfect Competition.

तीसरे आलोचकों ने, विशेषकर कैरे (Carey) और रोशर (Roschuor) ने रिकार्डो के सिद्धान्त में पाई जाने वाली इस धारणा का खण्डन किया कि सबसे पहले, सबसे अच्छे स्थान पर स्थित सबसे उपजाऊ भूमि पर कृषि की जाती है और तत्पश्चात् कम उपजाऊ भूमि में खेती की जाती है। आलोचकों ने बताया कि यह सत्य नहीं है कि सबसे पहले, सबसे उपजाऊ पर, सबसे अच्छे स्थान पर स्थित भूमि पर खेती की जाती है। कैरे ने बताया कि रिकार्डो द्वारा बताया गया कृषि क्रम ऐतिहासिक दृष्टि से भी मिथ्या है। उसने अमेरिका के आबाद होने के क्रम का उल्लेख करते हुये बताया कि पहले सर्वोत्तम भूमि नहीं होती जाती, कारण कि बढ़िया भूमि तो वनों से ढ़की होती है और आरम्भ में मनुष्य के साधन इतने विस्तृत नहीं होते कि वनों को साफ करके बढ़िया भूमि को आसानी से प्राप्त कर ले। दूसरे, मनुष्य पहले उसी भूमि को उपयोग करता है, जो आबादी के निकट होती है, चाहे वह घटिया हो या बढ़िया।

वास्तव में सत्य तो यह है कि पहले बढ़िया भूमि का अथवा घटिया भूमि का पहले जोते जाने का क्रम महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि यह लगान पर किसी भी प्रकार से प्रभाव नहीं डालते। कृषि का उपरोक्त क्रम तो रिकार्डो ने लगान के उत्पन्न होने को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने के लिये किया था। वास्तव में यहाँ पर घटिया भूमि से रिकार्डो का तात्पर्य सीमान्त भूमि से था जो अधिक उपजाऊ नहीं होती और इसमें इतना ही उत्पन्न होता है जितना कि इस पर श्रम तथा पूंजी का विनियोग किया जाता है। इस सीमान्त भूमि तथा अधिक उपजाऊ भूमि का अन्तर है, चाहे कोई भी पहले जोती या बोई गई हो, लगान कहलाता है।

चौथे, रिकार्डो ने अपने लगान सिद्धान्त में बताया कि उत्तम श्रेणी की भूमि तथा घटिया भूमि की उपज का अन्तर ही लगान कहलाता है। यदि समस्त भूभागों की उपजाऊ शक्ति एक समान होती तो लगान की समस्या का जन्म न हुआ होता। कारण कि उस समय कृषि उत्पादन में उत्पत्ति-ह्रास-नियम लागू न हुआ होता। यहां तक कि मार्शल ने भी बताया है किसी साधन में दुर्लभता का पाया जाना ही भले ही उसकी विभिन्न इकाइयों में असमानता न हो लगान को जन्म देने के लिये पर्याप्त है। आलोचकों ने बताया कि यदि यह मान भी लिया जावे कि समस्त भू-भागों की उपजाऊ शक्ति एक समान है फिर भी गहरी खेती करने पर लगान उत्पन्न होगा। क्योंकि किसी एक भू-भाग पर निरन्तर श्रम तथा पूंजी की इकाइयों में वृद्धि करने से उत्पादन में क्रमशः ह्रास होने लगता है और अन्त में श्रम तथा पूंजी की एक ऐसी सीमान्त मात्रा आ जाएगी जिसके प्रयोग करने से उत्पत्ति का मूल्य उतना ही होगा, जितनी कि इन पर श्रम तथा पूंजी की सीमान्त इकाइयों का लागत व्यय होता है।

पाँचवे, आलोचकों ने रिकार्डो की इस धारणा का भी खण्डन किया है कि लगान मूल्य को प्रभावित नहीं [illegible] र्डो ने बताया था कि किसी वस्तु का

मूल्य सीमान्त भूमि की उत्पादन लागत द्वारा निर्धारित होता है। चूंकि सीमान्त भूमि कोई लगान नहीं देती, इसलिए लगान उत्पादित वस्तु के मूल्य दर कोई प्रभाव नहीं डालता। आलोचकों ने बताया कि लगान का प्रभाव वस्तु के मूल्य पर पड़ता है उन्होंने बताया कि एक उद्योग के दृष्टिकोण से लगान वस्तु के मूल्य को प्रभावित करता है।

छठे, आलोचकों ने बताया कि रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त काल्पनिक एवं अवास्तविक है। इस सिद्धान्त में रिकार्डो ने यह कल्पना की है कि भूस्वामियों तथा कृषकों में पूर्ण प्रतियोगिता होती है। किन्तु वास्तव में पूर्ण प्रतियोगिता वास्तविक जगत में नहीं पाई जाती। वास्तविक जगत में अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है। इसके अतिरिक्त लगान केवल प्रतियोगिता से ही निर्धारित नहीं, होता, बल्कि उस पर रीति रिवाज, परम्परा तथा सरकारी कानून का भी प्रभाव पड़ता है।

अन्त में, रिकार्डो की लगान-हीन भूमि की कल्पना भी सर्वथा मिथ्या ही है। कुछ विद्वानों का कहना है कि जब जनसंख्या बहुत बढ़ जाती है और भूमि की पूर्ति को बढ़ाया नहीं जा सकता, तो घटिया भूमि पर भी लगान लिया जाने लगता है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने लगान की कार्यशीलता तथा क्षेत्र को न केवल भूमि तक सीमित रखा, बल्कि उत्पत्ति के अन्य साधनों में भी लागू किया। इन्होंने उत्पत्ति के अन्य साधनों में लगान उत्पन्न होने का कारण यह बताया कि उत्पत्ति के अन्य साधनों की विभिन्न इकाइयां भी एक दूसरे से गुण तथा कार्य कुशलता में उसी प्रकार असमान होती हैं, जिस प्रकार कि भूमि के विभिन्न भागों की उर्वरा शक्ति पृथक पृथक होती है। जैसे कुछ कारखानों में दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छी मशीनें, अधिक कार्य-कुशल श्रमिक तथा दक्ष व्यवस्थापक होते हैं जिसके कारण उन्हें अधिक लाभ प्राप्त होता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार समान पूंजी वाले दो कारखानों के लाभ का अन्तर भी लगान ही है।

विकसटीड ने बताया कि भूमि का लगान श्रम पर भी लागू होता है। क्योंकि विभिन्न श्रमिकों की कार्य कुशलता विभिन्न होती है। कुछ श्रमिक दूसरों की अपेक्षा बिना अधिक परिश्रम किये अधिक उत्पादन करते हैं, जिसके कारण उन्हें अधिक पुरस्कार मिलता है।

यह बात केवल श्रम तथा पूंजी तक ही सीमित नहीं है वरन् विभिन्न साहसियों की योग्यता के विभिन्न होने से कुछ साहसी दूसरों की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त करते हैं। यह अधिक लाभ साहसी को उसकी व्यक्तिगत योग्यता के कारण प्राप्त होता है। जैसा कि मिल ने कहा है कि "वे सब अतिरिक्त लाभ जो एक उत्पादक अथवा विक्रेता को व्यापारिक प्रबन्ध के लिए प्राप्त होते हैं लगान की ही प्रकृति के हैं।"[1] मिल के इन्हीं विचारों के आधार पर अमेरिकन अर्थशास्त्री

1 "The extra gains which any producer or dealer obtains through a superior telent for business or superior bu[illegible] arrangements, are very much of a similar kind."

वाकर ने आगे चलकर लाभ के सिद्धान्त को प्रतिपादन किया, जिसमें उसमें लाभ योग्यता का लगान कहा। वाकर ने अपने लाभ के सिद्धान्त में बताया कि जिस प्रकार सीमान्त तथा अधि सीमान्त भूमि होती है। इसी प्रकार सीमान्त तथा अधि सीमान्त साहसी भी होते हैं। आगे चलकर वाकर ने बताया कि अधिक योग्यता वाले साहसी वस्तुओं का उत्पादन इस प्रकार करते हैं कि जिससे वस्तुओं की उत्पादन लागत बहुत कम हो जाती है और परिणाम-स्वरूप साहसी के लाभ में वृद्धि हो जाती है। अत: लगान की भाँति लाभ के उत्पादन होने का कारण भी विभिन्न-साहसियों की योग्यता का आकार है। वाकर के शब्दों में "स्वतन्त्र तथा पूर्ण प्रतियोगिता में श्रम के प्रयोग करने वाले श्रम के नियोक्ता को प्रतिफल मिलेगा, जिनको कि प्रत्येक के लिए सही रूप में मापा जा सकता है। यह प्रतिफल, किसी दी हुई पूंजी तथा श्रम की मात्रा के प्रयोग से, जितनी वस्तु का उत्पादन एक नियोक्ता सबसे निम्न श्रेणी वाले उद्योग अथवा बिना लाभ वाले उद्योग के नियोक्ता से, जो कि उसी श्रम तथा पूंजी की मात्रा प्रयोग करके किसी मात्रा का उत्पादन करता है, के अन्तर के बराबर होगा। यह ठीक उसी प्रकार होगा जिस प्रकार लगान उस आधिक्य (Surplus) की माप है। जो श्रम तथा पूंजी की समान मात्रा को उत्तम भूमि तथा उस भूमि पर जो सबसे कम उपजाऊ है तथा जिस पर कोई लगान उत्पन्न नहीं होता के प्रयोग करने पर उत्पन्न होता है।"[1] इसी प्रकार मार्शल ने भी अपनी पुस्तक "Principles" में बार-बार इस बात पर जोर दिया कि लगान उत्पत्ति के अन्य साधनों में भी लागू होता है। श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार "किसी साधन का लगान इस साधन की उस बचत को कहते हैं; जो उसे उस न्यूनतम रकम के ऊपर प्राप्त होता है, जिसके कारण वह साधन उस व्यवसाय में कार्य करने के लिये आकर्षित होते हैं।"[2] इस प्रकार मार्शल ने भी बताया है कि यदि किसी समय में किसी साधन की पूर्ति में वृद्धि करना मनुष्यों के प्रयत्नों द्वारा असम्भव हो, उस समय में उस साधन से प्राप्त होने वाली आय को लाभ की अपेक्षा लगान कहना अधिक उचित होगा।

---

1. Under free and full competition the successful employers of labour would earn a remuneration which would be exactly measured in the case of each men, by the amount of wealth which he would produce, with a given application of labour and capital, over and above what would he produced by employers of the lowest industrial, or no profits grade, making use of the some amount of labour and capital, just as rent measures of the produce of better land over and above what wonld be produced by the same application of labour and capital to the least productive lands which contribute to the supply of Market which themselves bear no rent."

—Walker, Quarterly Journal of Economic Abril.

2. "The essence of the conception or rent is the conception of a surplus earned by a particular part of products over and above the 'nimum earnings necessary to induce it to do its work.

—Mrs. Joan.

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने बताया कि उत्पत्ति के साधनों से लगान उत्पन्न होने का एक कारण यह है कि उत्पत्ति के साधनों की विभिन्न इकाईयाँ गुण तथा कार्य कुशलता में से एक दूसरे से भिन्न होती हैं। यदि किसी साधन की समस्त इकाईयां कार्य कुशलता तथा गुण में एक समान हों तो वह साधन लगान उत्पन्न नहीं करेगा, भले ही वह साधन दुर्लभ एवं सीमित क्यों न हो। कार्य कुशलता तथा गुण में इकाईयों की यह भिन्नता केवल भूमि में ही नहीं बल्कि उत्पत्ति के अन्य साधनों में पाई जाती है। यही कारण है कि भूमि की भांति उत्पत्ति के अन्य साधनों में भी लगान समान रूप से क्रियाशील होता है। आगे चलकर इन अर्थशास्त्रियों ने बताया कि उत्पत्ति के समस्त साधन एक समान हैं और उनमें मूल रूप से कोई भिन्नता नहीं पाई जाती। उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को निश्चित करने के लिए इन्होंने सीमान्त उत्पादन सिद्धान्त (Marginal Poductivitry Theory) का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार दीर्घकाल में उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को उस साधन से होने वाली सीमान्त उपज के बराबर ही पारितोषिक मिलता है और सीमान्त उपज कुल उपज का वह भाग होता है जो उत्पत्ति के अन्य साधनों के यथास्थिर रहने की दशा में एक साधन की अन्तिम अथवा सीमान्त इकाई द्वारा उत्पन्न की जाती है। प्रत्येक उत्पत्ति का साधन अपना पारितोषिक सीमान्त उत्पादकता के बराबर ही लेने की चेष्टा करता है। किन्तु उत्पत्ति के किसी साधन का उस की सीमान्त उत्पादकता के बराबर पुरस्कार का मिलना अथवा न मिलना, उसकी गतिशीलता (Mobility) पर निर्भर होता है। यदि किसी साधन में पूर्ण गतिशीलता होगी तो वह साधन एक उपयोग से हटकर दूसरे उपयोग में चला जाएगा, जिससे कि उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर पुरस्कार मिल सकें। इसके विपरीत यदि साधन पूर्ण गतिशील नहीं है तो उसे (साधन को) किसी विशेष प्रयोग में ही लाया जा सकेगा। आस्ट्रियन अर्थ-शास्त्री वॉन वीजर (Von Wieser) ने इसी गतिशीलता के आधार पर उत्पत्ति के साधनों को विशिष्ट (Syecific) तथा अविशिष्ट (Non-specific) दो साधनों में विभक्त किया था। विशिष्ट साधन वे होते हैं, जो किसी विशेष प्रयोग में ही लाये जा सकते हों और अविशिष्ट साधन वे होते हैं जिन्हें कई प्रयोगों में लाया जा सकता हो जैसे बिजली, जो साधन जितना ही अधिक विशिष्ट हो। उसे इतना ही अधिक आधिक्य (Surplus) प्राप्त होगा।

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों ने अपने विचारों में यह माना है कि भूमि उत्पत्ति का एक स्थिर साधन है और वह सदैव स्थिर ही रहता है। यहाँ पर स्थिर से उनका तात्पर्य विशिष्ट से था। उन्होंने बताया था कि लगान भूमि का पारितोषिक है जो कि विभिन्न श्रेणी के भू-खण्डों की विभिन्न उर्वरा शक्ति के अन्तर का कारण उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में, भूमि में कुछ टुकड़े अधिक उपजाऊ होते हैं और कुछ टुकड़े कम होते हैं। दोनों ही टुकड़ों पर खेती करने की लागत एक समान बैठती है, जबकि दोनों टुकड़ों से प्राप्त आय भिन्न-भिन्न होती है। अधिक उपजाऊ टुकड़े को कम उपजाऊ भूमि के टुकड़े पर एक प्रकार का आधिक्य प्राप्त होता है। परम्परा-

वादियों के अनुसार यह आधिक्य ही लगान है। अतः स्पष्ट है कि लागत से ऊपर जितना भी आधिक्य है वह लगान कहलाता है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भी लागत से ऊपर के आधिक्य का लगान माना है, किन्तु उन्होंने इस आधिक्य की व्याख्या दूसरे ही रूप में की है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पत्ति के समस्त साधनों को लगान प्राप्त होता है और लगान के प्राप्त होने का कारण साधन की विशिष्टता है। यहाँ पर विशिष्टता से तात्पर्य किसी साधन का एक ही प्रयोग में लाया जाना है। जब कोई साधन विशिष्ट होता है अर्थात् उसको किसी अन्य रूप में मान्य नहीं किया जा सकता तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस साधन को उपभोग में लाने के लिये किसी अन्य उपभोग का त्याग नहीं करना पड़ता। परिणामस्वरूप किसी उपभोग के न त्याग ने के कारण उसकी लागत कुछ नहीं अर्थात् पूर्णतया विशिष्ट साधन की कोई लागत नहीं बैठती। कारण कि वस्तु के एक प्रयोग से मिलने वाली आय में से वस्तु के दूसरे प्रयोग से मिलने वाली आय को घटा देने से जो शेष बचता है, वह वस्तु की लागत होती है। और आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार वस्तु के अन्य प्रयोग से प्राप्त आय वस्तु की लागत ही होती है। अतः स्पष्ट है कि आधुनिक आर्थिक मत के अनुसार भी लागत के ऊपर का आधिक्य लगान है। किन्तु यहाँ पर बता देना आवश्यक है किसी साधन की विशिष्टता अल्पकाल तक ही सीमान्त होती है। दीर्घकाल में उत्पत्ति के सब साधन अविशिष्ट होते हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता में स्थिर सन्तुलन की अवस्था में उत्पत्ति के साधनों का इस प्रकार सदुपयोग किया जाता है, कि जिससे अधिकतम उत्पादन हो सके। इस प्रकार की अवस्था में लगान का निर्धारण साधन की सीमान्त तथा अधि सीमान्त इकाइयों से मिलने वाली आय के अन्तर द्वारा निर्धारित किया जाता है। चूंकि सीमान्त इकाई की आय स्थानान्तर आय से निर्धारण की जाती है इसलिये स्थिर सन्तुलन की अवस्था में लगान का निर्धारण उत्पत्ति के किसी साधन की वास्तविक आय तथा स्थानान्तर आय के अन्तर द्वारा किया जाता है।

२३
मजदूरी
(WAGES)

Q. Enumerate the different theories of wages and discuss in detail what you consider to be the most satisfactory among them.

(I. A. S. 1951)

प्रश्न—मजदूरी के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये और बताइये कि उनमें से आप किसे सन्तोषपूर्ण समझते है ? (आई० ए० एस० १९५१)

If the real world labour market is imperfect, what ammendments would you introduce to the generally accepted theory of wages would you introduce ? (I. A. S 1953)

"यदि वास्तविक जगत श्रम बाजार अपूर्ण हो जाता है तो साधारणतः मान्य मजदूरी के सिद्धान्त में क्या संशोधन करेंगे ? (आई० ए० एस० १९५३)

"Recent trends in labour legislation in the world seem to explode the classical theories of wages" Comment.

(Vikram M. A. 1964) (Agra M. A. 1954)

"आधुनिक श्रम-सन्नियम की प्रवृत्तियां मजदूरी के प्रतिष्ठित सिद्धान्तों को प्रभावहीन कर देती हैं" आलोचना कीजिये।

(विक्रम ए० एम० १९६४) (आगरा एम० ए० १९५४)

आर्थिक विश्लेषण में मजदूरी का विचार

आधुनिक अर्थशास्त्र मे इस शब्द के अधिक व्यापक अर्थ लगाये जाते हैं और उसमे निम्न तीनों प्रकार के श्रमिकों की सेवाओं का पारितोषण सम्मिलित है — (१) वे श्रमिक जो अपना शारीरिक अथवा मानसिक श्रम बेचते हैं। (२) स्वतन्त्र कर्मचारी जैसे वकील, डॉयरेक्टर आदि जो अपनी सेवाओं का शुल्क लेते हैं, और (३) व्यवसायी और प्रबन्धक जो स्वयं अपने कारोबार की देखभाल करते हैं। इस सम्बन्ध मे स्ट्रेटोफ की परिभाषा सबसे उपयुक्त है। उनके अनुसार—"उस श्रम के पारिश्रमिक को जो *उपयोगिता का सृजन करता है मजदूरी कहते हैं।"* यह श्रम शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसी प्रकार मजदूरी मुद्रा के अतिरिक्त वस्तुओं और सेवाओं के रूप मे भी दी जा सकती है, प्रति घन्टा, प्रतिदिन, प्रति माह अथवा प्रति वर्ष के आधार पर भी दी जा सकती है।

जो कुल मौद्रिक आय के बदले में किसी श्रमिक को मिलती है, परन्तु इसमे उन वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा तथा उन सुविधाओं और रियासतो को भी जोड़ लिया जाता है, जो मौद्रिक मजदूरी के अतिरिक्त होते हैं। एडमस्मिथ का विचार है कि "श्रमिक की वास्तविक मजदूरी में आवश्यकताओ तथा जीवनोपयोगी सुविधाओं की वह मात्रा सम्मिलित होती है, जो श्रम के बदले में दी जाती है। श्रमिक की नाम मात्र मजदूरी मे बदले मे दी जाने वाली मुद्रा की मात्रा शामिल होती है। एक श्रमिक अपनी वास्तविक मजदूरी के ही अनुपात मे अमीर अथवा गरीब या अच्छी मजदूरी पाने वाला होता है, न कि नाम मात्र मजदूरी के अनुपात मे।" इस सम्बन्ध मे मार्शल ने एडमस्मिथ की परिभाषा मे थोडे सुधार का सुझाव दिया है। उन्होने कहा है कि वास्तवक मजदूरी मे केवल उन्हीं सुविधाओ को शामिल नही करना चाहिये जो सेवायोजक द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे दी जाती है, बल्कि उन लाभो को भी शामिल करना चाहिये जो व्यवसाय विशेष से सम्बन्धित होते हैं, और जिनके लिए सेवायोजक को कोई अलग व्यय नही करना पडता है। इसी से मिलती परिभाषा प्रो० टॉमस ने की है। उनके अनुसार "वास्तविक मजदूरी श्रमिक के कार्य से सम्बन्धित शुद्ध लाभों की ओर सकेत करती है, अर्थात् उन अनावश्यक, आराम और विलास की वस्तुओं को बताती है, जो कि श्रमिक को उसकी सेवाओ के बदले मे मिलती हैं।

वास्तविक मजदूरी की उपरोक्त परिभाषायें काफी व्यापक हैं, क्योंकि इनमें वास्तविक मजदूरी के विस्तृत अर्थ लगाये गये है। कुछ लेखक ऐसे भी हैं, जिन्होंने इस शब्द को सकुचित अर्थ मे प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ प्रो० सेलिगमैन के अनुसार "मौद्रिक मजदूरी का अर्थ उस मजदूरी से होता है जो मुद्रा के रूप मे दी जाती है, वास्तविक मजदूरी उन वस्तुओ की बताती है जो मौद्रिक मजदूरी के बदले मे खरीदी जा सकती है।" इस परिभाषा के अनुसार मौद्रिक मजदूरी के अतिरिक्त दूसरी सुविधाओ को वास्तविक मजदूरी मे शामिल नहीं किया जायगा। आधुनिक विचारधारा विस्तृत अर्थ के पक्ष मे है, इसलिये मार्शल का दृष्टिकोण अधिक मान्य है।

मजदूरी के सिद्धान्त—

कालान्तर मे मजदूरी के सिद्धान्त मे बराबर परिवर्तन होते गये हैं। लगता है कि भूतकाल मे भी अर्थशास्त्री मजदूरी शब्द का अर्थ समझते थे किन्तु वह इतना व्यापक नही था, क्योंकि पहले जनसख्या कम एव प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता थी, इसलिए मजदूरी की समस्या उसके वर्तमान रूप मे मौजुद न थी। इसके अतिरिक्त सामन्तशाही काल मे श्रमिक के प्रति समाज और आर्थिक लेखको का वह दृष्टिकोण न था, जो अब है। इसलिये मजदूरी के किसी महत्वपूर्ण सिद्धान्त का निर्माण न हो सका। अरस्तू ने केवल न्यायपूर्ण मजदूरी पर ही जोर दिया है। उनके अनुसार मजदूरी की दर ऐसी होनी चाहिये जिसमे मजदूर और मालिक दोनो का ही शोषण न हो। ऐसी न्यायपूर्ण मजदूरी का स्पष्टीकरण पूर्णतः अधूरा रहा है। वाणिज्य-

यह क्रम तब तक चलेगा जब तक कि मजदूरी जीवन स्तर के बराबर न हो जाए। इस प्रकार दीर्घकालीन मजदूरी इतनी ही होती है, कि श्रमिक के शरीर मे प्राण बने रहें। वह इससे कम या अधिक नही हो सकती। यह नियम इतनी कठोरता से लागू होता है कि इसे लौह नियम का नाम दे दिया गया है। इस प्रकार जो मजदूरी निश्चित होती है, उसे प्राकृतिक कहते हैं।

स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि यह सिद्धान्त माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त पर पूर्णत. आधारित है। इसकी सत्यता भी इसी सिद्धान्त के आधार पर सम्भव है। इस सिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक रिकार्डो है, जो यह भी मंजूर करते हैं कि मजदूरी जीवन निर्वाह स्तर से ऊपर उठ सकती है। मार्शल का विचार है कि रिकार्डो यह भली भांति जानते हैं कि मजदूरी की कोई प्राकृतिक दर नही होती है, वह स्थानीय दशाओं एव प्रचलित रीति-रिवाज आदि द्वारा निर्धारित होती है। रिकार्डो रहन-सहन के दर्जे को ऊंचा उठाने मे भी हानि समझते हैं। कुछ भी हो, मजदूरी का जीवन-निर्वाह सिद्धान्त सही नहीं प्रतीत होता है। इसका आधार ही गलत है, कि मजदूरी बढने के साथ-साथ जनसंख्या बढेगी। संसार के लगभग सभी देशो के अनुभव इससे विपरीत हैं। मजदूरी बढ़ने के साथ जीवन-स्तर मे परिवर्तन हुआ, एव जनसख्या घट गई है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की ओर भी कई आलोचनायें हैं :—

(१) इस सिद्धान्त मे जीवन-स्तर और कार्यक्षमता की रक्षा के महत्व को भुला दिया गया है। श्रम की पूर्ति के लिए केवल यह ही आवश्यक नही कि श्रमिक जीवित ही रहें, बल्कि यह भी आवश्यक है कि श्रमिक मे कार्य करने की शक्ति विद्यमान रहे। इसके लिये आवश्यक है, कि मजदूरी न्यूनतम जीवन-निर्वाह स्तर से ऊपर रहे।

(२) मजदूरी का यह प्राकृतिक नियम यह नही बताता है कि संसार भर मे विभिन्न मजदूरो की मजदूरी की दर मे अन्तर क्यो होते हैं, क्योंकि जीवन-निर्वाह व्यय तो लगभग समान ही रहता है। इस प्रकार विभिन्न व्यवसायो एव कालो मे भी इसमे कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। वास्तविक जीवन मे अन्तर काफी व्यापक तथा स्पष्ट होते है। इससे तो यह पता चलता है कि प्राकृतिक नियमों की अपेक्षा तो परिस्थितियों का ही विशेष प्रभाव पड़ता है।

(३) यह सिद्धान्त अधूरा है, क्योकि इससे केवल श्रम की पूर्ति पर विचार किया जाता है। इसमे तो कोई सन्देह नहीं है कि जीवन निर्वाह-व्यय एक बड़े अश तक श्रम की पूर्ति को निश्चित करता है, परन्तु श्रम की मांग पर इसका कुछ भी प्रभाव नही पड़ता है। श्रम की मांग तो श्रम की उत्पादकता पर निर्भर होती है, क्योंकि मजदूरी की समस्या श्रम के मूल्य निर्धारण की समस्या है, इसलिए केवल पूर्ति की विवेचना से काम नही चलेगा।

(४) यह सिद्धान्त यह समझने मे असमर्थ रहता है कि आविष्कारों, उत्पादन

की गतिशीलता में सुधार और श्रम संघों की सक्रियता के कारण मजदूरी की दरों में परिवर्तन क्यों हो जाता है ?

(२) मजदूरी का जीवन-स्तर सिद्धान्त
(Standard of Living Theory of Wages)

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बहुत देर से हुआ है, किन्तु इस सिद्धान्त ने जीवन-निर्वाह सिद्धान्त के स्वरूप में कुछ परिवर्तन किया है, इसलिये इसी सिद्धान्त के साथ-साथ अध्ययन कर लेना उपयुक्त होगा। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है, कि मजदूरी जीवन-निर्वाह की अपेक्षा जीवन-स्तर को ध्यान में रखकर दी जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि मजदूरी जीवन-निर्वाह स्तर से ऊंची रहती है। इसका कारण यह है कि मजदूरों की कार्यक्षमता की रक्षा भी परमावश्यक है, जिससे कि वह वास्तविक रूप से उत्पादन में अंशदान प्रदान कर सके। यहां मजदूरी जीवन-स्तर के आधार पर तय होती है। उसका रहन-सहन का दर्जा ही मजदूरी निर्धारण का साधन है। निश्चय है कि इससे सभी मजदूरों की मजदूरी समान नहीं होगी और साथ ही सभी मजदूरों का सम्बन्ध श्रमिकों की कार्यक्षमता से प्रत्यक्ष रहता है। अतः जीवन-स्तर का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। मार्शल के अनुसार श्रमिक के किसी वर्ग का जीवन-स्तर आवश्यक, आरामदायक और विलास की वस्तुओं के उस समूह द्वारा सूचित होता है, जिसके उपभोग की उस वर्ग को आदत पड़ गई या वह वर्ग उस चीज का अभ्यस्त हो जाता है; क्योंकि श्रमिक की कार्यक्षमता एक बड़े अंश तक उसके जीवन-स्तर पर निर्भर होती है। इसलिये जीवन-स्तर को बनाये रखना कार्यक्षमता के लिये आवश्यक है।

निःसन्देह यह सिद्धान्त मजदूरी के जीवन-निर्वाह सिद्धान्त पर भारी सुधार है। मजदूरी की दर पर जीवन-स्तर का प्रभाव कई प्रकार से पड़ता है। प्रथम, यदि मजदूरों का एक निश्चित जीवन-स्तर है तो वे दृढ़तापूर्वक उसी के अनुसार उपयुक्त मजदूरी की मांग करेंगे। दूसरे, जीवन-स्तर का प्रत्येक परिवर्तन कार्यक्षमता में भी परिवर्तन करा देता है, जिसका श्रमिक की उत्पादकता पर अवश्य प्रभाव पड़ता है और श्रमिक की उत्पादकता की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी मजदूरी पर भी अपना प्रभाव अवश्य डालती है। ये दोनों बातें इस सिद्धान्त के गुणों को दिखाती हैं, परन्तु सिद्धान्त की आलोचना के रूप में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यथार्थ में मजदूरी और जीवन-स्तर में इतना प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, जितना कि इस सिद्धान्त में दर्शाया गया है। सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) यह निश्चित करना कठिन है कि मजदूरी जीवन-स्तर द्वारा निर्धारित होती है, या जीवन-स्तर मजदूरी द्वारा निर्धारित होता है। अनुभव बताता है कि मजदूरी बढ़ाने पर ही श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊंचा उठ सकता है। बिना मजदूरी के बढ़ाये ऊंचे जीवनस्तर की कल्पना भी असम्भव है।

(२) यह मान भी लिया जाय कि जीवन-स्तर श्रमिक की कार्यक्षमता और

ोश करने की शक्ति को बढ़ाकर मजदूरी मे वृद्धि कर देता है तो यह समझना भूल ोगी कि मजदूरी पर केवल जीवन-स्तर का ही प्रभाव पड़ता है। जीवन-स्तर मजदूरी ो प्रभावित करने वाली अनेक बातों मे से एक है।

(३) जीवन-स्तर का प्रभाव भी साधारणतया श्रम की पूर्ति पर ही पड़ता , अतः यह सिद्धांत भी मुख्यतया श्रम की पूर्ति की ही विवेचना करता है। फिर ी इस सिद्धात के पक्ष मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसमे कुछ सत्यता का ंश है।

(३) मजदूरी विधि अथवा मजदूरी कोष सिद्धान्त (Wage Fund Toeoey)

ब्रिटिश अर्थशास्त्री काफी लम्बे काल तक इस सिद्धांत के पक्षपाती रहे। सका निर्माण सर्वप्रथम एडमस्मिथ ने किया था। बाद मे माल्थस एव रिकार्डो ने भी इसका समर्थन किया है। इस सिद्धांत का अन्तिम रूप मिल ने निश्चित किया है, सलिये इसे बहुधा मिल ही के नाम से सम्बन्धित किया जाता है। मिल का कहना है कि मजदूरी उस कोष अथवा निधि पर निर्भर होती है जो नियोक्ता अथवा सेवा-योजक स्वेच्छा से मजदूरो को देने के लिये अलग रख देता है। अपनी इच्छा के अनुसार सेवायोजक यह निर्णय कर लेता है कि वह अपनी बचाई हुई पूंजी का जिसे उसने अपनी भूतकालीन आय मे से बचाया है, कौन सा भाग मजदूरी पर व्यय करेगा। इस प्रकार बचाई हुई पूंजी की जो मात्रा मजदूरी के लिये अलग रख दी जाती है उसे मजदूरी-कोष कहा जाता है। कुल मजदूरी इसी कोष मे से दी जाती है और प्रत्येक श्रमिक को श्रमिकों की सख्या के अनुपात मे मजदूरी मिलती है।

इस सिद्धांत को जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, रिकार्डो ने आरम्भ किया था। सिद्धांत का आशय यह है कि मजदूरी की दर दो बातो पर निर्भर होती है—(१) मजदूरी कोष की मात्रा और (२) जनसंख्या का आकार। इनमें से प्रथम का निर्धारण पूंजीपति की स्वेच्छा पर निर्भर होता है और दूसरी का प्राकृतिक कारणों पर जो साधारणतया मनुष्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर होते है। मजदूरी बढ़ाने के दो उपाय हो सकते हैं—या तो मजदूरी कोष की मात्रा बढ़ाई जाय, अर्थात् पूंजीपति अपनी पहली कमाई का अधिक बड़ा भाग मजदूरी कोष के रूप मे रखे या जनसख्या को कम किया जाय, जिससे कि मजदूरी कोष मे से हिस्सा पाने वालों की सख्या घट जाय।

इस सिद्धांत को वास्तव मे सिद्धांत का नाम देना ही गलत होगा, क्योंकि इस सिद्धांत मे यह नही बताया गया है कि मजदूरी कोष का निर्धारण किस आधार पर किया जाता है? यदि मजदूरी-कोष सेवायोजक की स्वेच्छा पर निर्भर है तो उसका कोई भी वैज्ञानिक आधार नही हो सकता है। दूसरे ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इस सिद्धांत मे बड़े ही भोंडे ढंग से श्रम की माग की विवेचना की गई है। मजदूरी कोष का आकार परोक्ष रूप मे श्रम ^ मांग का सूचक होता है। वास्तु पूंजी का जो भाग मजदूरो मे ... ..ए धनिकों

साहसी अथवा उत्पादक होता है, मजदूर नहीं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने साहसी को ही अवशिष्ट अधिकारी बतलाया है, और यह ठीक भी है। (४) इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी का कोई निश्चित नियम नहीं है। उत्पत्ति के सभी साधन स्वभाव में एक जैसे होते हैं। जब भूमि, पूंजी और साहस के मूल्य निर्धारण में भी लागू होने चाहिये। (५) वाकर का यह कथन भी गलत है, कि लगान, ब्याज और लाभ उद्योग में स्वतन्त्र रूप से निर्धारित होते हैं। वास्तविक जीवन में इन तीनों का ही उद्योग से गहरा सम्बन्ध है।

(५) मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त :—

(Marginal Productnity theory of wages)

यह सिद्धांत वितरण का एक लेखा सिद्धान्त है जो उत्पत्ति के सभी साधनों का मूल्य निर्धारण करता है। सिद्धांत के अनुसार उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का दीर्घकालीन पारितोषण उसकी सीमांत उपज की कीमत के बराबर होता है। अल्पकाल में तो यह पारितोषण इससे कम या अधिक हो सकता है, परन्तु अन्त में यह उसके बराबर होता है।

यदि पारितोषण सीमान्त उपज की कीमत से अधिक है तो सेवायोजक कुछ श्रमिकों को काम से हटायेगा। इससे श्रम की माग घटेगी और मजदूरी नीचे गिरेगी। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक मजदूरी घटते-घटते सीमांत उपज के बराबर न हो जायगी। बात यह है कि जब मजदूरी सीमांत श्रमिक को उसके द्वारा की गई उत्पत्ति से अधिक मूल्य दिया जाता है, जिससे उत्पादक को हानि होती है, और यह हानि श्रमिक को काम पर से हटाकर दूर की जा सकती है। उत्पादक की हानि उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि मजदूरी सीमांत उपज की कीमत से ऊंची रहेगी, इसलिये ऐसे समय तक श्रम की मांग बराबर घटती रहेगी। इसके विपरीत यदि मजदूरी सीमांत उपज की कीमत से कम है तो सीमान्त श्रमिक को काम पर लगाने से उत्पादक को लाभ होगा। उसके द्वारा और अधिक मजदूरों को काम पर लगाकर अपने कुल लाभों को बढ़ा लेना सम्भव होगा। इसके फलस्वरूप श्रमिक की मांग में वृद्धि होगी और मजदूरियां ऊपर उठेंगी। यह स्थिति उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि मजदूरी बढ़कर सीमांत उपज की कीमत के बराबर नहीं हो जायगी, केवल उसी दशा में श्रमिकों की संख्या बढ़ाकर कुल लाभ में वृद्धि करने की सम्भावना समाप्त हो सकती है, परन्तु साम्य की दशा में वह उसके बराबर ही होगी।

इस सीद्धान्त को समझने के लिये सीमांत उपज का पता लगाना आवश्यक है, एवं इसके लिये उत्पत्ति के साधनों को यथास्थिर रखकर किसी एक साधन की इकाइयों को क्रमशः घटाया जायगा या बढ़ाया जाता है। परिणामस्वरूप कुल उपज की मात्रा में जो कमी वृद्धि होती है, वही सीमान्त उपज कहलाती है। बाजार

की मांग रहती है। इस दृष्टिकोण से यह सिद्धांत भी अधूरा है। कोई भी सिद्धांत जो श्रम की मांग और पूर्ति दोनों ही की विवेचना न करे, मजदूरों का निर्धारण कर ही नहीं सकता। तीसरे, इस सिद्धांत में एक उल्टा तरीका अपनाया गया है। मजदूरी कोष मजदूरों की दर निर्धारण नहीं करता, बल्कि स्वयं मजदूरी-कोष विभिन्न मजदूरों की कुल मजदूरी के योग के बराबर होता है। चौथे, यह सिद्धांत मजदूरी पर प्रतियोगिता के प्रभाव को स्पष्ट नहीं करता है। एक निश्चित समय में मजदूरी कोष और जनसंख्या निश्चित होते हैं, इसलिये मजदूरी की दर में परिवर्तन नहीं होने चाहियें, परन्तु वास्तविक जीवन में इस प्रकार के परिवर्तन बराबर होते रहते हैं।

(४) अवशिष्ट अधिकारी सिद्धान्त (Balance Theory of Wages):—

इस सिद्धान्त को अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकर के नाम से सम्बन्धित किया जाता है। वाकर का विचार है कि लगान, ब्याज और लाभ स्वतन्त्र रूप में निश्चित होते हैं और इनके निर्धारण का उद्योग से कोई सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु मजदूरी के निर्धारण पर कोई निश्चित नियम लागू नहीं होता। कुल उत्पत्ति की कीमत में से लगान, ब्याज और लाभ को निकालकर जो शेष रहता है वही मजदूरों को मिलता है। इस प्रकार मजदूरी अवशिष्ट अथवा उत्पोत्पत्ति में से दी जाती है। इसी कारण वाकर के सिद्धांत का नाम अवशिष्ट अधिकारी सिद्धांत पड़ा। वाकर के अनुसार मजदूरी केवल उसी दशा में बढ़ सकती है, जबकि मजदूरों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाने के कारण कुल उत्पत्ति बढ़ती है परन्तु लगान, ब्याज, लाभ और इस प्रकार के दूसरे दायित्वों की मात्रा निश्चित रहती है। वाकर ने इस तथ्य को स्वीकार किया है, कि अधिक परिश्रम करने के फलस्वरूप मजदूरों की मजदूरी बढ़ सकती है। वाकर से ही मिला-जुलता मत जेवन्स का भी है, परन्तु दोनों के विचारों में थोड़ा अन्तर है। वाकर के अनुसार कुल उत्पत्ति की कीमत में से लगान, ब्याज और लाभ को देकर जो कुछ बचता है, वह सबका सब मजदूरी में शामिल होता है। इसके विपरीत जेवन्स के अनुसार कुल उपज में से लगान कर और पूंजी का ब्याज निकालने के बाद मजदूरी शेष रह जाती है।

दूसरे सिद्धान्तों की भाँति यह सिद्धान्त भी अधूरा है। सिद्धान्त की प्रमुख आलोचना निम्न प्रकार है—(१) इस सिद्धाँत में श्रम की माँग और पूर्ति के प्रभाव को बिल्कुल भुला दिया गया है। मजदूरों को तो बचा खुचा ही मिलेगा, चाहे उनकी माँग और पूर्ति की दशायें कैसी भी क्यों न हों? वास्तविकता यह है कि अन्य वस्तुओं के मूल्य की भांति श्रम का मूल्य अथवा मजदूरी भी श्रम की मांग व पूर्ति पर निर्भर होती है। (२) इस सिद्धांत में श्रम संघों और सामुहिक सौदा करने के महत्व को नहीं बढ़ा सकते हैं, क्योंकि लगान, ब्याज आदि के निर्धारण पर उनका किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता है। इस प्रकार श्रम-संघों का निर्माण बेकार है, परन्तु व्यव-[illegible] इसके विपरीत है। (३) प्रत्येक व्यवसाय में अविशेष का हकदार

साहसी अथवा उत्पादक होता है, मजदूर नहीं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने साहसी को ही अवशिष्ट अधिकारी बतलाया है, और यह ठीक भी है। (४) इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी का कोई निश्चित नियम नहीं है। उत्पत्ति के सभी साधन स्वभाव में एक जैसे होते हैं। जब भूमि, पूंजी और साहस के मूल्य निर्धारण में भी लागू होने चाहिये। (५) वाकर का यह कथन भी गलत है, कि लगान, ब्याज और लाभ उद्योग में स्वतन्त्र रूप से निर्धारित होते हैं। वास्तविक जीवन में इन तीनों का ही उद्योग से गहरा सम्बन्ध है।

(५) मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त :—

(Marginal Productnity theory of wages)

यह सिद्धांत वितरण का एक सेरा सिद्धान्त है जो उत्पत्ति के सभी साधनों का मूल्य निर्धारण करता है। सिद्धात के अनुसार उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का दीर्घकालीन पारितोषण उसको सीमांत उपज की कीमत के बराबर होता है। अल्पकाल में तो यह पारितोषण इससे कम या अधिक हो सकता है, परन्तु अन्त में यह उसके बराबर होता है।

यदि पारितोषण सीमान्त उपज की कीमत से अधिक है तो सेवायोजक कुछ श्रमिकों को काम से हटायेगा। इससे श्रम की मांग घटेगी और मजदूरी नीचे गिरेगी। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक मजदूरी घटते-घटते सीमांत उपत के बराबर न हो जायगी। बात यह है कि जब मजदूरी सीमांत श्रमिक को उसके द्वारा की गई उत्पत्ति से अधिक मूल्य दिया जाता है, जिससे उत्पादक को हानि होती है, और यह हानि श्रमिक को काम पर से हटाकर दूर की जा सकती है। उत्पादक की हानि उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि मजदूरी सीमांत उपज की कीमत से ऊंची रहेगी, इसलिये ऐसे समय तक श्रम की मांग बराबर घटती रहेगी। इसके विपरीत यदि मजदूरी सीमांत उपज की कीमत से कम है तो सीमान्त श्रमिक को काम पर लगाने से उत्पादक को लाभ होगा। उसके द्वारा और अधिक मजदूरों को काम पर लगाकर अपने कुल लाभों को बढ़ा लेना सम्भव होगा। इसके फलस्वरूप श्रमिक की मांग में वृद्धि होगी और मजदूरियां ऊपर उठेंगी। यह स्थिति उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि मजदूरी बढ़कर सीमांत उपज की कीमत के बराबर नहीं हो जायगी, केवल उसी दशा में श्रमिकों की संख्या बढ़ाकर कुल लाभ में वृद्धि करने की सम्भावना समाप्त हो सकती है, परन्तु साम्य की दशा में वह उसके बराबर ही होगी।

इस सीद्धान्त को समझने के लिये सीमांत उपज का पता लगाना आवश्यक है, एवं इसके लिये उत्पत्ति के साधनों को यथास्थिर रखकर किसी एक साधन की इकाइयों को क्रमशः घटाया जायगा या बढ़ाया जाता है। परिणामस्वरूप कुल उपज की मात्रा में जो कभी वृद्धि होती है, वही सीमांत उपज कहलाती है। बाजार

मजदूरी का भी निर्धारण होता है। यद्यपि श्रम की आमदनी में अन्तर होता है। किसी व्यक्ति की आय उसके श्रम की कीमत पर तो निर्भर होता ही है, परन्तु साथ ही साथ श्रम की किस्म भी महत्वपूर्ण है।"

क्या मजदूरी की कोई सामान्य दर हो सकती है—

यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह सम्भव है। यदि पूर्ण स्पर्धा की दशाएं है और सेवायोजक तथा श्रमिकों के बीच पूर्ण प्रतियोगिता है और यदि श्रम की व्यवसायिक एवं प्रादेशिक गतिशीलता पूर्ण है तो सभी स्थानों तथा व्यवसायों में एक ही प्रकार के काम के लिये मजदूरी की दर भी एक सी होती है, परन्तु वास्तविक जीवन में न तो प्रतियोगिता पूर्ण होती है और न प्रादेशिक और व्यसायिक गतिशीलता ही। इसका परिणाम यह होता है कि मजदूरी की सामान्य दर का विचार एक सैद्धान्तिक और कल्पना मात्र ही रह जाता है। अपूर्ण प्रतियोगिता का प्रभाव यह होता है कि एक ही स्थान तथा एक ही व्यवसाय में मजदूरी की दरें अलग-अलग बनी रहती हैं। गतिशीलता के अभाव के कारण विभिन्न व्यवसायों तथा विभिन्न स्थानों में मजदूरी की दरों के अन्तर बने रहते हैं। वास्तव में मजदूरी के निर्धारण की समस्त अपूर्ण प्रतियोगिता में श्रम के मूल्य निर्धारण की समस्या है।

लार्ड कीन्स ने भी यह बताया है कि मजदूरी और रोजगार में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। देश में रोजगार की स्थिति प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर करती है। इसलिये रोजगार आय की कमी पर नहीं वरन् आय तथा मजदूरी की वृद्धि पर निर्भर है। यही नहीं आधुनिक युग में श्रमिक संघों के कारण श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति बढ़ गई है और कोई भी सरकार श्रमिकों के हितों की अवहेलना नहीं कर सकती है। वास्तव में सभी आर्थिक नीतियां इस बात को स्वीकार करती है, कि किसी भी अर्थव्यवस्था की उन्नति उसके श्रमिकों की सुरक्षा एवं समृद्धि पर निर्भर है। यही कारण है कि आधुनिक युग में श्रम सम्बन्धी सन्नियमों में अत्यधिक उन्नति हुई है। प्रत्येक राज्य में नियमों के द्वारा मजदूरी की भुगतान, काम करने की दशा, श्रम कल्याण के कार्य, कर्मचारी बीमा और श्रमिक सगठन के सम्बन्ध में अनेक नियन्त्रण लगा दिये गये हैं। इन सबसे जहां एक और श्रमिकों के स्तर में और समृद्धि में हुई है, वहाँ उनकी कार्यक्षमता बढ़ने के कारण उत्पादन में भी वृद्धि हुई है और परिणामस्वरूप वास्तविक मजदूरी बढ़ती जा रही है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि मजदूरी के निर्धारण के प्रतिष्ठित सिद्धान्त किसी भी प्रकार से व्यवहारिक नहीं रहे हैं और मजदूरी मांग और पूर्ति के कारण निर्धारण न होकर सामाजिक-औचित्य के विचार से निर्धारण होती है, फिर भी हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं, कि साधारणतया श्रम विशाल मात्रा में रोजगार के लिये उपलब्ध होता है और अन्य बातें समान रहने पर श्रम का बाजार भी पूर्ण प्रतियोगिता का बाजार रहता है। वास्तव श्रम सम्बन्धी सन्नियम या श्रमिकों के सम्बन्ध में पाई जाने

उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के उपयोग के फलस्वरूप उत्पादक को कितना लाभ होता है। नियोक्ता अधिक से अधिक जो मजदूरी दे सकता है वह श्रम की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। जब तक मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से कम होती है, नियोक्ता को श्रमिक के उपयोग से लाभ होता है। यदि मजदूरी सीमान्त उपज की कीमत से अधिक है तो श्रमिक को काम पर लगाने से नियोक्ता को हानि होगी, अतः नियोक्ता के लिये श्रमिक के पारिश्रमिक की उच्चतम सीमा श्रम की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होती है। श्रम की मांग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होगी। जितनी ही श्रम की उत्पादकता अधिक होगी उतनी ही श्रम की मांग भी अधिक होगी।

जहाँ तक श्रम की पूर्ति का प्रश्न है, यह दो बातों पर निर्भर होती है—जनसंख्या और श्रम की कार्य कुशलता। जनसंख्या का आकार श्रम की पूर्ति की मात्रा सम्बन्धी सीमा निश्चित करता है जबकि श्रम की गुणात्मक पूर्ति श्रमिक की कार्य-कुशलता को प्रभावित करते हैं, श्रम की पूर्ति पर भी अपना असर डालते हैं। साधारणतया जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि श्रम की पूर्ति को भी बढ़ा देती है। ठीक इसी प्रकार श्रम की कार्य-कुशलता के बढ़ जाने का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक श्रमिक पहले की अपेक्षा अधिक काम करने लगे और इससे श्रम की पूर्ति बढ़ जायेगी। श्रम की कार्य-कुशलता वैसे तो अनेक बातों पर निर्भर करती है, किन्तु सबसे अधिक प्रभाव जीवन-स्तर का पड़ता है। आधुनिक युग में तो जनसंख्या का आकार भी एक बड़े अंश तक श्रमिकों के जीवन-स्तर पर ही निर्भर होता है। यही कारण है कि जिस प्रकार मजदूरी की उच्चतम सीमा श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है, उसी प्रकार मजदूरी की न्यूनतम सीमा श्रमिकों के जीवन-स्तर पर निर्भर होती है। वास्तव में इन दोनों सीमाओं के बीच किसी स्थान पर मजदूरी निश्चित होती है। टामस के अनुसार—"सेवायोजक अपने मजदूरों को आर्थिक मजदूरी देना चाहता है, जो उपस्थिति परिस्थितियों में उनकी सीमान्त उत्पादकता से सम्बन्धित होती है। मजदूर एक सामाजिक मजदूरी को बनाये रखना चाहता है, जो सामाजिक दशाओं द्वारा निर्धारित होती है और विशेषतया उस वर्ग के जीवन-स्तर पर निर्भर होती है जिसका कि श्रमिक सदस्य है।" इन दोनों सीमाओं के बीच मजदूरी की दर श्रमिक और सेवायोजक की सौदा करने की शक्ति पर निर्भर होती है। साधरणतया श्रमिक की सौदा करने की शक्ति सेवायोजक की तुलना में कम होती है। इसके अतिरिक्त श्रम की कुछ ऐसी विशेषताएं होती हैं जो मजदूरी को नीचे गिराने की प्रवृत्ति रखती हैं। इन सभी कारणों से श्रमिक की स्थिति कमजोर ही रहती है और उसके लिये उचित मजदूरी प्राप्त कर लेना कठिन होता है। श्रमिक के शोषण का प्रमुख कारण श्रमिक की सौदा करने की शक्ति का अभाव ही है, अतः श्रम के सम्बन्ध में मांग और पूर्ति की शक्तियां स्वतन्त्रतापूर्वक काम नहीं कर सकती हैं। वास्टन ने ठीक ही कहा है—"जिस प्रकार कीमत मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है उसी प्रकार

है। इन दोनों के बीच में श्रमिकों की मांग और पूर्ति द्वारा मजदूरी निर्धारित होती है। किन्तु इस प्रकार जो मजदूरी तय होती है, वह न तो श्रमिक के उपयोगिता-सृजन का पूरा मूल्य होती है और न इतनी ही होती है कि मजदूर अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण ठीक प्रकार से कर सके। इसलिये विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि मजदूरों को उचित मजदूरी दी जानी चाहिये और सरकार, श्रमिक-संघ और नियोजकों को इस विषय में पहल करनी चाहिये।

किन्तु उचित मजदूरी एक सापेक्ष विचार है और उसकी परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है। यही नहीं इस सम्बन्ध में लोगों का दृष्टिकोण भी स्पष्ट नहीं है।

प्रो० मार्शल के अनुसार—"एक व्यवसाय में पायी जाने वाली मजदूरी उचित मजदूरी उस समय कहलावेगी, जबकि वह अन्य व्यवसायों में उसी कुशलता तथा परिश्रम से कार्य करने वाले व्यक्ति की औसत मजदूरी के बराबर हो।"

प्रो० पीगू के अनुसार—"मजदूरी की दर उस समय उचित मानी जाती है जबकि वैसे ही श्रमिक के लिए उसी व्यवसाय में और अन्य व्यवसाय में काम करने पर समान दर से मिले।"

समाजशास्त्र के एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार—"समान परिश्रम, कुशलता और कठिनाई से काम करने वाले श्रमिकों को प्राप्त मजदूरी ही उचित मजदूरी कहलाती है।"

उचित मजदूरी की ये परिभाषायें समानता पर जोर देती हैं और इस विचार पर आधारित है कि दीर्घकाल में मजदूरी इतनी काफी होनी चाहिये कि वह श्रमिक के जीवन-स्तर को कायम रख सके। उचित मजदूरी वह मजदूरी है जिसे श्रमिक दीर्घकाल में स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि दीर्घकाल में मजदूरी उस बिन्दु पर पहुंचने की प्रवृत्ति रखती है जहाँ कि श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता श्रमिक के जीवन-स्तर पर आधारित पूर्ति-मूल्य के बराबर होती है। इस प्रकार "उचित मजदूरी" का विचार निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :—

(१) दीर्घ-काल में उचित मजदूरी ही दी जा सकती है।

(२) उचित मजदूरी न्यायपूर्ण होती है, अर्थात्, समान श्रम के लिए समान मजदूरी दी जानी चाहिये।

(३) उचित मजदूरी श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होनी चाहिये।

(४) उचित मजदूरी मजदूरों की दृष्टि से इतनी पर्याप्त होनी चाहिये कि उनका सामाजिक जीवन-स्तर कायम रहे।

(५) इस प्रकार न्यूनतम मजदूरी, उचित मजदूरी और जीविका मजदूरी में भेद किया जा सकता है। न्यूनतम मजदूरी वह मजदूरी है जिससे श्रमिक अपने जीवन का निर्वाह कर सकें और अपनी कार्यक्षमता को कायम रख सकें। जीविका मजदूरी वह मजदूरी है जो अपने और अपने

वाली प्रवृत्तियाँ पूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी निर्धारण के सिद्धान्तों को जितना निःसार बना देती हैं, उतना ही वे अपूर्ण-प्रतियोगिता और अन्य दशाओं में भी उसे अव्यवहारिक घोषित करती हैं। मजदूरी निर्धारण के सिद्धान्तों की उपयोगिता उतनी व्यवहारिक नहीं है जितनी कि सिद्धांतिक, क्योंकि किसी विशेष समय पर मजदूरी का निर्धारण विभिन्न परिस्थियों पर निर्भर करता है। इन परिस्थितियों में जहाँ श्रमिक की रोजगार की आवश्यकता की तीव्रता और नियोजक की श्रम की मांग की लोच शामिल है, वहाँ सरकार द्वारा लगाये गये विभिन्न प्रतिवन्ध भी शामिल हैं।

———

Q. What do you understand by fair wages ? What should be the effects of fair wages on profits and national dividend ?

(Agra M. A, 1956)

प्रश्न—उचित मजदूरी से क्या समझते हैं ? लाभ और राष्ट्रीय आय पर उचित मजदूरी के क्या प्रभाव होने चाहिये ? (आगरा एम० ए० १९५६)

उत्तर—स्ट्रैट आफ के शब्दों में उसी श्रम के पारिश्रमिक को जो उपयोगिता का सृजन करता है, मजदूरी कहते हैं। इस प्रकार आय का वह भाग जो श्रम को अपनी सेवाओं के वदले में प्राप्त होता है, मजदूरी कहा जाता है।

श्रम उत्पत्ति का एक विशिष्ट साधन है और उसकी विशेषतायें मजदूरी के निर्धारण को प्रभावित करते हैं। श्रम को श्रमिक से पृथक नहीं किया जा सकता है, श्रम क्षयशील वस्तु है और समय के परे उसे संचित नहीं किया जा सकता है, श्रम की साहसी से मोल-भाव करने की शक्ति अत्यन्त कम होती है, श्रम की पूर्ति में कमी नहीं हो सकती, और श्रमिक का रोजगार के अभाव में जीवित रह पाना कठिन हो जाता है - इन सब कारणों से मजदूरों का शोषण होने की सम्भावना रहती है और नियोजक उन्हें कम से कम मजदूरी देने की कोशिश करते हैं। इसलिये विद्वानों ने इस विषय पर विचार किया है कि श्रमिक को मजदूरी कितनी मिलनी चाहिये ? मजदूरी से आशय वास्तविक मजदूरी में है, जिसमें कि न केवल नगद मजदूरी बल्कि वे सब अनिवार्य, सुविधा एव विलास की वस्तुयें शामिल हैं जो कि उसे अपनी सेवाओं के वदले में प्राप्त हो सकती हैं।

किसी मजदूर को कितनी मजदूरी मिलनी चाहिये इस विषय में लोगों के भिन्न-भिन्न विचार रहे हैं। कुछ लोगों का विचार था कि उन्हें इतना मिले कि वे जीवित रह सकें, कुछ का विचार यह था कि वे अपना जीवन स्तर कायम रख सके, जवकि अन्य अर्थशास्त्रियों का विचार यह है कि श्रमिकों को उनकी सीमान्त उत्पादकता के वरावर दिया जाना चाहिये। थामस का विचार है कि श्रमिक की सीमान्त [illegible]दकता के सन्दर्भ में विद्यमान अवस्थाओं में नियोजक आर्थिक मजदूरी देने का [illegible] करता है, और श्रमिक सामाजिक आवश्यकताओं और विशेष रूप से अपने वर्ग के जीवन-स्तर के सन्दर्भ में निर्धारित सामाजिक-मजदूरी प्राप्त करने का प्रयत्न करता

है। इन दोनो के बीच में श्रमिकों की माँग और पूर्ति द्वारा मजदूरी निर्धारित होती है। किन्तु इस प्रकार जो मजदूरी तय होती है, वह न तो श्रमिक के उपयोगिता-सृजन का पूरा मूल्य होती है और न इतनी ही होती है कि मजदूर अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण ठीक प्रकार से कर सके। इसलिये विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया है कि मजदूरों को उचित मजदूरी दी जानी चाहिये और सरकार, श्रमिक-संघ और नियोजकों को इस विषय में पहल करनी चाहिये।

किन्तु उचित मजदूरी एक सापेक्ष विचार है और उसकी परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है। यही नहीं इस सम्बन्ध में लोगों का दृष्टिकोण भी स्पष्ट नहीं है।

प्रो० मार्शल के अनुसार—"एक व्यवसाय में पायी जाने वाली मजदूरी उचित मजदूरी उस समय कहलावेगी, जबकि वह अन्य व्यवसायों में उसी कुशलता तथा परिश्रम से कार्य करने वाले व्यक्ति की औसत मजदूरी के बराबर हो।"

प्रो० पीगू के अनुसार—"मजदूरी की दर उस समय उचित मानी जाती है जबकि वैसे ही श्रमिक के लिए उसी व्यवसाय में और अन्य व्यवसाय में काम करने पर समान दर से मिले।"

समाजशास्त्र के एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार—"समान परिश्रम, कुशलता और कठिनाई से काम करने वाले श्रमिकों को प्राप्त मजदूरी ही उचित मजदूरी कहलाती है।"

उचित मजदूरी की ये परिभाषायें समानता पर जोर देती हैं और इस विचार पर आधारित हैं कि दीर्घकाल में मजदूरी इतनी काफी होनी चाहिये कि वह श्रमिक के जीवन-स्तर को कायम रख सके। उचित मजदूरी वह मजदूरी है जिसे श्रमिक दीर्घकाल में स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि दीर्घकाल में मजदूरी उस बिन्दु पर पहुँचने की प्रवृत्ति रखती है जहाँ कि श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता श्रमिक के जीवन-स्तर पर आधारित पूर्ति-मूल्य के बराबर होती है। इस प्रकार "उचित मजदूरी" का विचार निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :—

(१) दीर्घ-काल में उचित मजदूरी ही दी जा सकती है।

(२) उचित मजदूरी न्यायपूर्ण होती है, अर्थात्, समान श्रम के लिए समान मजदूरी दी जानी चाहिये।

(३) उचित मजदूरी श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होनी चाहिये।

(४) उचित मजदूरी मजदूरों की दृष्टि से इतनी पर्याप्त होनी चाहिये कि उनका सामाजिक जीवन-स्तर कायम रहे।

(५) इस प्रकार न्यूनतम मजदूरी, उचित मजदूरी और जीविका मजदूरी में भेद किया जा सकता है। न्यूनतम मजदूरी वह मजदूरी है जिससे श्रमिक अपने जीवन का निर्वाह कर सके और अपनी कार्यक्षमता को कायम रख सकें। जीविका मजदूरी वह मजदूरी है जो अपने और अपने

परिवार का प्रगतिशील जीवन-निर्वाह कर सके। उचित मजदूरी इन दोनों का समन्वित रूप है।

(६) उचित मजदूरी का विचार इस धारणा पर आधारित है कि श्रमिकों की कार्यक्षमता उसके जीवन-स्तर पर निर्भर करती है और जीवन-स्तर मजदूरी पर। अतः यदि उचित मजदूरी नहीं दी गई तो श्रमिक की कार्यक्षमता कम हो जायेगी और इस प्रकार उत्पत्ति को हानि होगी। इसलिए श्रमिकों को केवल इतनी ही मजदूरी न दी जाये कि वे अपनी अनिवार्यताओं की पूर्ति कर सकें, वरन् इतनी दी जानी चाहिये कि वे अपना जीवन-स्तर कायम रख सकें, और यदि जीवन स्तर में उन्नति होगी तो उससे उत्पादन में भी वृद्धि होगी। इस प्रकार, मजदूरी में जितनी वृद्धि होगी, उसके कारण ही, बल्कि उससे भी अधिक वृद्धि उत्पत्ति में होगी।

आधुनिक युग में अधिकांश समाजशास्त्री एवं अनेक उद्योग संचालक मजदूरों को उचित मजदूरी देने पर जोर देते हैं। उनका विचार है कि उचित मजदूरी न केवल श्रमिकों के हित में है, वरन् इससे उद्योग और समस्त अर्थ व्यवस्था को लाभ होगा तथा देश की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति होगी।

उचित मजदूरी का लाभ पर प्रभाव—

प्रचलित मजदूरी साधारणतया उचित मजदूरी से कम होती है, इसलिये जब उचित मजदूरी दी जाना प्रारम्भ हो, तब थोड़े समय के लिए उद्योगों के कुल लाभ में कमी आना स्वाभाविक है। किन्तु शीघ्र ही उचित मजदूरी के कारण श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ जावेगी और उत्पादन में वृद्धि होगी। उत्पादन में होने वाली यह वृद्धि मजदूरी में होने वाली वृद्धि से अधिक होती है और इस प्रकार उचित मजदूरी दीर्घ-काल में सेवायोजक का लाभ बढ़ाती है।

उचित मजदूरी का राष्ट्रीय आय पर प्रभाव—

उचित मजदूरी का राष्टीय आय पर दो प्रकार का प्रभाव होता है—(१) उचित मजदूरी चुकाने से राष्टीय आय में वृद्धि होती है, क्योंकि श्रमिकों की कार्य-क्षमता में वृद्धि होने पर उत्पादन बढ़ता है, और (२) राष्ट्रीय आय का कुछ भाग धनिकों से निर्धनों को हस्तान्तरित होता है। मजदूरी में होने वाली वृद्धि यदि विला-सिताओं पर अपव्यय न की जाकर ऐसी वस्तुओं में व्यय की जाती है जो कि उसकी कार्यक्षमता को कायम रखने या बढ़ाने में सहायक हैं तो इस प्रकार राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। इसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि मजदूरी में होने वाली वृद्धि से उसके काम करने को इच्छा और अवसरों में कमी नहीं होनी चाहिये।

———

२४

ब्याज

(Interest)

Q. Write an essay on 'Recent Theories of Interest.'
(Agra, Vikram M. A. 1958)

Q. Which of the following theries of interest would you accept ? Give reasons.

(a) The Agio Theory (b) Fisher's theory (c) Keyne's theory.
(Agra M. A. 1948)

Q. Examine critically Wicksell's interest theory in the light of modern economic thought. (Agra 1955 M. A.)

Q. Discuss fully Keyne's liquidity preference theory of interest.
(Raj. M. Com. 1957; 1959; Agra M. A. 1954)

Q. Give a critical estimate of the loanable funds theory of interest. (Raj M A. 1960; Nagpur, M. A 1960)

Q. "The rate of interest is determined by the demand and supply of lonable funps, and not by the demand and supply of savings" Discuss (Raj M. Com. 1959)

Q. State Keyne's theory of interest and describe how it differs from the classical theory of interest. (Raj M. Com 1960)

Q. Discuss fully the liquidity preference theory of interest and contrast it with the time preference theory of Fisher and the classical supply and demand of saving theory.
(Vikram 1963 M A.) (Agra 1951, 52, 59, 60 M A ; Agra M. Com. 1955)

Q. Give a critical estimate of Keyne's Theory of Interest.
(Vikram 1956 M. A.)

प्रश्न—"ब्याज के आधुनिक सिद्धान्तों पर एक निबन्ध लिखिये।
(सागर, विक्रम, एम० ए० १९५९)

प्रश्न —ब्याज के निम्न सिद्धान्तों में से आप किसे स्वीकार करते हैं और क्यों ?

(अ) एगिश्रो सिद्धान्त (ब) फिशर का सिद्धान्त (स) कीन्स का सिद्धान्त।

(आगरा एम० ए० १९४८)

प्रश्न—आधुनिक आर्थिक विचारों के प्रकाश में विकसेल के ब्याज के सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए। (आगरा एम० ए० १९५५)

प्रश्न—कीन्स के ब्याज के तरलता अधिमान सिद्धान्त का विवेचन कीजिये।

(राज० एम० काम० १९५७, १९५६; आगरा एम० ए० १९५४)

प्रश्न—ब्याज के ऋण योग्य निधि सिद्धान्त का विवेचन कीजिये।

(राज एम० ए० १९६०; नागपुर एम० ए० १९६०)

प्रश्न—"ब्याज की दर ऋण योग्य राशियों की मांग और पूर्ति द्वारा, न कि बचत की मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है।" विवेचन कीजिये।

(राज० एम० काम० १९५६)

प्रश्न—कीन्स के ब्याज के सिद्धान्त का वर्णन कीजिये और बताइये कि ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त से वह किस प्रकार भिन्न है?

(राज० एम० काम० १९६०)

प्रश्न—ब्याज के तरलता-अधिमान सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन कीजिये और फिशर के समय-अधिमान-सिद्धान्त और बचत की मांग और पूर्ति के प्रतिष्ठित सिद्धान्त से उनका अन्तर स्पष्ट कीजिये। (आगरा एम० ए० १९५१, ५३, ५६, ६०; आगरा एम० काम० १९५५)

प्रश्न—कीन्स के ब्याज सिद्धान्त की समीक्षा कीजिये।

(विक्रम १९६५ एम० ए०)

ब्याज

जो कि पूंजी को उधार लेने वाला उसकी उत्पादन शक्ति के कारण पूंजीपति को उसके त्याग के कारण देते है।[2] कारवर ने तीन प्रकार का ब्याज बतलाया है, जिन्हे हम लगान, ब्याज और लाभ कह सकते हैं। वास्तव में पूंजीपति को जो आय प्राप्त होती है वह केवल वास्तविक ब्याज ही नहीं होती, वरन् उसमें व्यक्तिगत और व्यवसायिक जोखिम का प्रतिफल, प्रबन्ध का पारिश्रमिक और असुविधाओ एव कष्ट का पुरस्कार भी सम्मिलित होता है। अत हमें कुल ब्याज और वास्तविक ब्याज मे भेद करना चाहिये।

ब्याज के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

(१) सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त।
(२) त्याग या प्रतीक्षा का सिद्धान्त।
(३) आस्ट्रियन सिद्धान्त।
(४) फिशर का सिद्धान्त।
(५) बचत का सिद्धान्त।
(६) ऋणयोग्य कोष का सिद्धान्त।
(७) विकसेल का सिद्धान्त।
(८) कीन्स का तरलता-पसन्दगी सिद्धान्त।

ब्याज का सीमान्त उत्पादिकता सिद्धान्त
(Marginal Productivity Theory of Interest)

ब्याज का यह सिद्धान्त सबसे पुराना है और वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त का ही प्रतिपादन मात्र है। इसका समर्थन माल्थस, कैरे (Carey) फ्रांस के अर्थशास्त्री जे० बी० से (J. B. say) तथा जर्मनी के सबसे बड़े प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री वान थ्यूनन (Von Thunen) ने किया है। इन अर्थशास्त्रियों का विचार था कि जिस प्रकार भूमि फसल उत्पन्न करने की क्षमता रखती है ठीक उसी प्रकार पूंजी भी ब्याज उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। पूजी में भी उत्पादन शक्ति है और वह अधिक धनोत्पत्ति करने मे सहायक होती है। पूंजी जितना भी अपने से अधिक धन का उत्पादन कर सकती है वह ब्याज है। पूजी की उत्पादन शीलता के विषय मे एक बात समझ लेनी चाहिये कि पूंजी भेड़ बकरियों के झुण्ड की तरह अथवा उपजाऊ भूमि की भांति उत्पादनशील नही है, अपितु यह इस अर्थ मे उत्पादनशील है कि श्रम पूंजी की सहायता से बिना उसकी सहायता की अपेक्षा अधिक उत्पादन करता है। उदाहरण के लिए बिना जाल के एक मछुआ कुछ भी मछलियां न पकड़ पायेगा, जबकि जाल की सहायता से अधिक मछलियाँ पकड़ने मे समर्थ होगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर सीमान्त इकाई की उत्पादन शीलता के बराबर होती है। एक इकाई कम अथवा अधिक लगाने से जो कुल उत्पत्ति में अन्तर

2 "Interest may be befined as the payment made by the borower of capital, by aittue of its productivity, as a reward for his abstinence."
—Wicksell : Lectures in Political Economy.

होता है उसी को सीमान्त उत्पादनशीलता कहते हैं। साम्य की अवस्था में उत्पादक पूंजी की इकाइयों का अधिकाधिक उपयोग करने लगेंगे। वे तब तक उपयोग करते रहेंगे जब तक कि सीमान्त उत्पत्ति घटकर ब्याज की दर के बराबर नहीं हो जाती है। जिस समय पूंजी की अधिक मांग की जायेगी तो उस समय ब्याज दर बढ़ेगी और तब तक बढ़ेगी जब तक सीमान्त उत्पत्ति के बराबर नहीं हो जाती है। इसी प्रकार जब ब्याज की दर पूंजी की सीमान्त उत्पत्ति से अधिक होती है तो उत्पादक उद्योग छोड़ देते हैं, जिससे माँग कम हो जाती है और ब्याज की दर गिर जाती है। इसके अतिरिक्त पूंजी की कम इकाइयों का प्रयोग करते जाने से उसकी सीमान्त उत्पत्ति बढ़ती जाती है, और साम्य वहीं आयेगा जहाँ पर कि सीमान्त उत्पत्ति ब्याज की दर के बराबर हो जायेगी।

सिद्धान्त की विशेषता—

इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके आधार पर कहा जा सकता है कि ब्याज कभी भी ऋणात्मक नहीं हो सकता है। सबसे पहले फाक्सवेल (Foxwell) तथा उसके उपरान्त मार्शल ने बताया था कि ब्याज कलात्मक भी हो सकता है। उनका कहना था कि जिस समय कोई व्यक्ति घर में धन रखने के भय से बैंक में धन जमा कर देता है तो वह बैंक से कुछ ब्याज लेने की अपेक्षा बैंक को कुछ देता है। ऐसी स्थिति में क्या यह कहना गलत है कि ब्याज ऋणात्मक हो गया। ठीक इसी प्रकार कई अन्य स्थितियों की भी कल्पना की जा सकती है। उदाहरण के लिये मंदी के दिनों में कोई भी उत्पादक पूंजी के लिये ब्याज देने को तैयार नहीं होता है और उस समय पर ब्याज की दर शून्य होती है। ऐसी स्थिति में ऋणात्मक ब्याज की कल्पना कर लेना असम्भव नहीं।

किन्तु यदि हम ब्याज को सीमान्त उत्पादनशीलता के सिद्धान्त के दृष्टिकोण से देखें तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ब्याज ऋणात्मक नहीं हो सकता है। कारण कि ब्याज की दर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। ब्याज तभी ऋणात्मक होगा जब सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो। किन्तु कोई भी विवेकशील उत्पादक पूंजी की सीमान्त उत्पादकता को नकरात्मक नहीं होने देगा चूंकि सीमान्त उत्पादकता सदैव ही धनात्मक होगी, इसलिये ब्याज भी धनात्मक होगा।

किन्तु ऐसा कहने से पूर्व हमें इस प्रश्न का उत्तर भी देना होगा कि जो व्यक्ति बैंक से लेने के बजाय कुछ देता है उस दशा में ब्याज क्या होगा। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति धन को सुरक्षित रखने के उपलक्ष में कुछ देता है वह सही अर्थ में ब्याज नहीं है। वह तो केवल धन को सुरक्षित रखने का प्रभार है यद्यपि उसको हम सुगमता के लिये ब्याज ही कहलें। इस प्रकार की असंगतियां (Inconsistencies) सभी प्रकार की वैज्ञानिक विवेचनाओं में मिला करती हैं क्योंकि प्रत्येक शब्द का अर्थ अधिक सम्यक (Precise) तथा पारिभाषिक लगाया जा सकता

है। ऊपर हमने स्पष्ट कर दिया है कि यदि 'ब्याज' शब्द का प्रयोग आर्थिक अर्थ में किया जाये तो यह ऋणात्मक कभी नहीं हो सकता है।

आलोचना—

इस सिद्धान्त की कई आलोचनायें हैं जिनका साराश नीचे दिया गया है'—

(१) इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज इस कारण दिया जाता है क्योंकि पूंजी मे उत्पादनशीलता है। यह बात तभी तक सही है जब तक कि पूंजी का उपयोग उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनो प्रकार के कार्यों के लिये ही किया जाता है। किसी भी कार्य के लिये द्रव्य क्यो न लिया जाये उसके लिये ब्याज देना पड़ता है। अतः यह सिद्धान्त यह बताने मे असमर्थ है कि जिस समय पूंजी का अनुत्पादक कार्यों के लिये उपयोग किया जाता है तो उस समय ब्याज क्यो दिया जाता है।

(२) यह सिद्धांत पूंजी की पूर्ति की ओर ध्यान देता है इस कारण यह अपूर्ण तथा एक पक्षीय है। इस बात पर किसी को मतभेद नही कि उत्पादकता ब्याज को प्रभावित करती है तथा साम्य की अवस्था मे प्रतियोगिता वाले बाजार मे ब्याज की दर सीमान्त उत्पादकता के बराबर होनी चाहिये। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि केवल सीमान्त उत्पादकता ही ब्याज को निर्धारित अथवा प्रभावित करती है। वास्तव मे सीमान्त उत्पादकता तो उच्चतम सीमा है जिससे अधिक उधार लेने वाले ब्याज देने को तैयार न होंगे। प्रश्न यह उठता है कि ब्याज की न्यूनतम सीमा क्या है जिसके नीचे ब्याज पूजीपति लेने को तैयार न होगा। इस न्यूनतम सीमा के विषय में सिद्धान्त कोई उत्तर नही देता है। इस प्रकार सिद्धान्त एक पक्षीय है, क्योंकि इसमे केवल पूंजी की माग को ही ध्यान मे लिया जाता है उसकी पूर्ति पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। वास्तव में ब्याज पूंजी की मांग तथा पूर्ति के सयुक्त प्रभाव द्वारा निर्धारित होता है।

(३) यह सिद्धान्त 'वृत्तात्मक तर्क' से पीड़ित है। कारण कि एक ओर तो हमें यह बताया जाता है कि पूंजी पदार्थ का मूल्य मालूम करने के लिए ब्याज की सहायता लेना आवश्यक है, और दूसरी ओर यह बताया जाता है कि पूंजी की सीमान्त उत्पत्ति ही ब्याज का दर को निश्चित करती है और सीमान्त उत्पत्ति को मालूम करने के लिये पूंजी पदार्थों के मूल्य को जान लेना आवश्यक है। अब यदि किसी ब्याज की दर को मान कर पूंजी पदार्थों के मूल्य की गणना कर ली जाये तो फिर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता को पता लगाने की क्या आवश्यकता रहती है, क्योंकि जिसका निर्धारण करना था उसको तो पहले से ही मान लिया गया है।

(४) इसके अतिरिक्त पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का पता लगाना कठिन है। कारण कि यदि पूंजी के प्रयोग से किसी श्रमिक का उत्पादन बढ़ जाता है तो इस बढ़े हुए उत्पादन का कारण पूंजी है, श्रमिक की निजी प्रयोग की गई अन्य भौतिक वस्तुयें हैं, अथवा श्रमिक स्वयं ही है।

(५) यदि ब्याज पूंजी की उत्पादनशीलता के अनुसार ही बढ़ना अथवा घटना चाहिये। किन्तु व्यवहार मे हम देखते हैं कि वास्तविक ब्याज की प्रवृत्ति समान

होने की पाई जाती है। इसके ऐतिहासिक इतिहास भी इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करता है। आज से २०० वर्ष पूँजी की उत्पादनशीलता आज की अपेक्षा अधिक थी। अतः स्पष्ट है कि ब्याज केवल पूँजी की उत्पादनशीलता के कारण ही उत्पन्न नहीं होता है।

(६) इस सिद्धान्त के अनुसार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ही ब्याज की दर का निर्धारण करती है किन्तु सत्य यह है कि ब्याज भी पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को प्रभावित करता है। कारण कि जिस समय ब्याज की दर अधिक हुआ करती है तो उस समय साहसी पूँजी के स्थान पर उत्पत्ति के अन्य साधनों का स्थानापन्न करना आरम्भ कर देता है, इससे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ने लगती है और बढ़कर ब्याज के तुल्य हो जाती है। इसके विपरीत यदि दर कम होती है, तो साहसी पूँजी का अधिक प्रयोग अन्य साधनों के स्थान पर करने लगता है जिससे उत्पादकता घटने लगती है और घटकर ब्याज की दर के बराबर हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज दर दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

(२) त्याग या प्रतिक्षा का सिद्धान्त—(Abstinence Theory of Invest)

जिस प्रकार उत्पादकता का सिद्धान्त मांग पर ही ध्यान देने के कारण एक पक्षीय है इसी प्रकार यह सिद्धान्त पूर्ति पर ही ध्यान देता है अतः एकपक्षीय है। इंगलैंड के सीनियर नामक अर्थशास्त्री ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। तत्पश्चात् कैरनीज आदि ने भी इसका समर्थन किया। सीनियर ने बताया कि उपभोक्ता अपनी समस्त आय वर्तमान आवश्यकताओं पर ही व्यय करना चाहता है, किन्तु उसमें से कुछ बचाता है, और उस त्याग के बदले ब्याज लिया जाता है। यह त्याग सीनियर के अनुसार धन को निर्मित नहीं करता वरन् धन निर्माण का अधिकार देता है, क्योंकि श्रम की भांति इसमें भी त्याग तथा कष्ट को उठाना पड़ता है। इसलिये मजदूरी की भांति धन निर्माण में भी जितना अधिक त्याग होगा ब्याज उतना ही अधिक होगा।

आलोचकों ने इस 'त्याग' शब्द पर आपत्ति उठाई और कहा कि 'त्याग' से मतलब कष्ट होता है। वालटेयर (Valtair) के अनुसार धनी व्यक्तियों को किसी प्रकार के त्याग की आवश्यकता नहीं होती। इसके लिये उन्हें आवश्यकता संतुष्टि के लिये प्रतीक्षा भी नही करनी पड़ती है। उनकी आय इसलिये बच जाती है क्योंकि वे सारी आय खर्च नहीं कर पाते हैं। मार्शल ने स्पष्ट करने के लिये त्याग के स्थान पर 'प्रतीक्षा' शब्द का प्रयोग किया है। मार्शल के शब्दों में—"भविष्य के लिये किये गये त्याग को अर्थशास्त्रियों ने परिवर्तन (Abstinence) कहा है····· चूँकि इस शब्द के गलत अर्थ लगा लेने की अधिक सम्भावना है इसलिये हम अच्छाई के लिये इसके प्रयोग को छोड़कर कह सकते हैं कि पूंजी के संचय का कारण सामान्यतः उपभोग को त्यागना अथवा उपभोग करने की प्रतीक्षा करना है।" इस प्रकार

अनुसार वर्तमान के किये गये त्याग किया जाता है, उसको उठाने की प्रतीक्षा की जाती है। इस प्रतीक्षा का पुरस्कार ही ब्याज है।

अब हम देखेंगे कि ब्याज का निर्धारण किस प्रकार होता है। इस सिद्धांत के अनुसार ब्याज उस पारितोषिक के बराबर होगा जो कि बचत की सीमान्त वृद्धि के लिए आवश्यक होगा। ब्याज की दर सीमान्त बचत से न अधिक हो न कम और प्रतियोगिता के अन्दर साम्य ही अवस्था में यह ठीक उसके बराबर होगी। यदि ब्याज की दर इससे ऊँची होगी तो लोग अधिक बचत करेंगे जिससे पूँजी की पूर्ति बढ़ जायेगी और ब्याज की दर गिर कर उसके बराबर हो जायेगी यदि ब्याज की दर सीमान्त बचत से कम होगी तो लोग बचत नहीं करेंगे जिससे उसकी पूर्ति कम हो जायेगी और ब्याज की दर बढ़कर उसके बराबर हो जायेगी।

आलोचना—

मांग सिद्धांत की निम्नलिखित बातों पर आलोचना की जाती है:—

(१) यह सिद्धान्त एक पक्षीय है, क्योंकि इससे केवल पूर्ति पक्ष की तरफ ही ध्यान दिया जाता है जबकि माग पक्ष को भी ध्यान में लेना आवश्यक है। इस सिद्धान्त से यह जाना जा सकता है कि पूँजीपती कम से कम क्या ब्याज लेना चाहेंगे, किन्तु इसके अतिरिक्त यह भी जानना चाहिये कि उधार लेने वाला अधिक से अधिक क्या दे सकता है। जैसा कि मंदी वक्त होता है, उधार लेने वाले यदि नहीं लेना चाहे तो पूँजीपती के अत्यधिक त्याग करने पर भी ब्याज कुछ नहीं मिलेगा।

(२) इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज त्याग के अनुसार मिलता है, किन्तु सिर्फ त्याग से ही ब्याज नहीं मिलता। यह बात आंशिक रूप से सही है। त्याग के साथ ही साथ दूसरों का धन देने की इच्छा के कारण भी ब्याज मिलता है। जैसे यदि कंजूस कितना भी धन एकत्र कर ले व देने की इच्छा न रखे तो उसे ब्याज कहाँ से मिलेगा।

(३) इस सिद्धांत में यह माना गया है, कि धन बचाने के लिए त्याग करना पड़ता है जो पूर्णतः सही नहीं है। गरीब व्यक्ति को धन बचाने के लिए त्याग करना पड़ता है। धनी व्यक्ति किसी त्याग से तथा बिना किसी आवश्यकता की संतुष्टि के लिये प्रतीक्षा किये बचत करते हैं। यदि ब्याज सिर्फ त्याग के लिये मिलता है तो गरीब को ही मिलना चाहिये किन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि गरीब अमीर सभी को ब्याज मिलता है।

एजिओ अथवा आस्ट्रियन ब्याज का सिद्धान्त—(Agio or Austrian Theary of Interest)—

इसको मनोवैज्ञानिक सिद्धांत भी कहते हैं। यह सिद्धांत भी उपरोक्त सिद्धांतों की तरह एकपक्षीय है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन जॉन रे (John Rae) ने १८३४ में किया था। अंतिम रूप देने का श्रेय आस्ट्रियन अर्थशास्त्री बाम बावर्क (Bohm

Bowerk) को है । इसलिये इस सिद्धांत को ब्याज का आस्ट्रिय सिद्धांत कहते हैं। कुछ समय पश्चात् वाम वावर्क के शिष्य फिशर ने इसमें संशोधन किया इससे उनके नाम से भी इसको सम्बन्धित किया जाता है।

वाम वावर्क के सिद्धांत का सार यह है कि उन्होंने बताया व्यक्ति वर्तमान उपभोग को भविष्य के उपभोग की अपेक्षा अधिक महत्व दिया करता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। बहुधा कहा जाता है कि 'A beird in hand is better than two in the bush." "A dinner today is more valuable than a dinner tomorrow." इस प्रकार वाम वावर्क के विचार से वर्तमान आवश्यक्ताओं की तृप्ति से जो सुख मिलता है वह भविष्य की आवश्यकताओं की तृप्ति से कहीं अधिक होगा जैसा कि एक व्यक्ति वर्तमान आवश्यकताओं पर व्यय न करके अपनी आय किसी व्यक्ति को उधार देता है उसे वर्तमान उपभोग का त्याग करना पड़ता है तथा उसके स्थान पर भविष्य का उपभोग स्वीकार करना पड़ता है। स्वभावानुसार भविष्य में प्राप्त संतुष्टि वर्तमान से कम होगी। इस क्षति की पूर्ति के लिये वह व्यक्ति ब्याज की मांग करेगा। उदाहरण के लिये एक मनुष्य १०० रु० के बराबर सुख को एक साल बाद ९० रु० के बराबर ही समझता है। उसके सुख में यह जो १० रु० की कमी हो जाती है उसके लिये वह १० रु० के बराबर पारितोषिक चाहेगा। यह १० रु०, १०० को एक साल के लिये उधार देने पर ब्याज के लिये देने पड़ेंगे।

अब स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि भविष्य के सुख को वर्तमान सुख से कम क्यों समझा जाता है? इसके लिये वाम वावर्क ने तीन तर्क रखे हैं—

(१) भविष्य के दूर व अनिश्चित होने के कारण मनुष्य भावी सुख का मूल्यांकन कम करता है (Perspective under estimate)। परिणामस्वरूप भविष्य के सुख की अपेक्षा वर्तमान सुख को अधिक महत्व दिया जाता है।

(२) वर्तमान की आवश्यकतायें भविष्य की अपेक्षा अधिक तीव्र होती हैं। अतः मनुष्य वर्तमान के लिये अधिक तत्पर रहता है। अतः भविष्य की बात भविष्य पर छोड़ देता है।

(३) वर्तमान वस्तुओं की उपयोगिता भविष्य की अपेक्षा अधिक होती है। समय परिवर्तन के साथ-साथ उत्पादन में चक्रवत प्रणालियों के प्रयोग होने से उत्पादन बढ़ता है और उपयोगिता ह्रास नियम यह बताता है कि ज्यों-ज्यों वस्तुओं के स्टाक में वृद्धि की जाती है, वस्तुओं से प्राप्त होने वाली उपयोगिता क्रमशः कम होती जाती है।

प्रथम दो बातें मनोविज्ञान के सिद्धांत पर आधारित हैं। भविष्य को सही रूप से न देख सकने के कारण उसका मूल्यांकन कम करते हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए ब्याज माँगा जाता है। मार्शल तथा अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इसका समर्थन किया किन्तु कीन्स ने इस बात को मानने से इन्कार कर दिया। उनके

अनुसार बचत करने के लिये किसी भी प्रकार के प्रतिफल की आवश्यकता नहीं। मनुष्य बचत उसी समय करता है जबकि उसकी आय बचत करने योग्य होती है। प्रतीक्षा कष्ट नहीं होती और न ही उसको करने के लिए कोई पारितोषिक मांगता है।

बाम बावर्क के तीसरे तर्क की बहुत अधिक आलोचना उनके शिष्य फिशर ने ही की है। उनका कहना है कि 'वर्तमान वस्तुओं की प्राविधिक श्रेष्ठता की बात एक भ्रम है।" इसके अतिरिक्त उनका कहना है कि इस बात को मान लेने का अर्थ परोक्ष रूप से ब्याज के सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत को ही मान लेना है।

सिद्धान्त की विशेषतायें

इस सिद्धान्त की दो विशेषतायें हैं पहली तो यह कि इस सिद्धांत ने स्पष्ट कर दिया कि उत्पादक एवं अनुत्पादक ऋणों पर ब्याज देने की आवश्यकता क्यों पड़ती है। इस सिद्धांत को सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत स्पष्ट करने में असमर्थ था। दूसरी विशेषता यह है कि इस सिद्धांत ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिस समय एक पूंजीपति अपने ही उद्योग में पूंजी का विनियोग करता है तो उसे ब्याज क्यों देना पड़ता है। कारण कि एक पूंजीपति चाहे रुपया अपने ही उद्योग में लगाये अथवा किसी अन्य को उधार दे, दोनों ही दशाओं में उसे वर्तमान आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को भविष्य के लिए स्थगित करनी पड़ती है जिसके कारण वह ब्याज लेने का अधिकारी होता है।

आलोचनायें—

(१) इस सिद्धान्त में केवल पूर्ति पर ही बल दिया तथा वह भी आवश्यकता से अधिक। जबकि मांग पक्ष को पूर्णतया छोड़ ही दिया गया है। इस प्रकार यह सिद्धान्त एक पक्षीय है।

(२) बाम बावर्क द्वारा दिया गया वर्तमान वस्तुओं का भविष्य की वस्तुओं के ऊपर श्रेष्ठता का तीसरा तर्क इस सिद्धान्त को सीमांत उत्पादकता सिद्धांत में ही परिणित कर देता है। ब्रिग एंड जॉरडन (Brigg and Jordan) का कहना है कि "बाम बावर्क का ब्याज सिद्धान्त वास्तव में सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त ही था, यद्यपि इस तथ्य की उपेक्षा की गई क्योंकि विभिन्न समयों पर उसने अपने सिद्धान्तों के विभिन्न भागों पर विभिन्न महत्व डाला है।"

फिशर का ब्याज का सिद्धान्त—

(Fisher's Time Preference Theory of Interest)

फिशर ने बाम बावर्क के सिद्धान्त में कुछ संशोधन किया है और अन्तर सिद्धान्त से बदल कर इसका नाम समय अधिमान सिद्धान्त (Time preference theory) रखा। फिशर ने बताया कि मनुष्य उपभोग में वर्तमान वस्तुओं को, भविष्य की अपेक्षा अधिक महत्व देता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य में स्वाभाविक रूप से ही भावी संतोष की अपेक्षा वर्तमान संतोष को पसन्द करनेकी प्रवृति पाई

जाती है। फिशर का कहना है कि भविष्य की यह अनिश्चितता ही नहीं जो वर्तमान उपभोग को अधिक महत्वपूर्ण बना देता है अपितु यह उसकी स्वाभाविक प्रवृति ही है। भविष्य कितना भी निश्चित क्यों न हो मनुष्य की यह प्रकृति है कि उसे वर्तमान अधिक अच्छा लगता है। यदि वही आय अथवा वस्तुओं की मात्रा तक व्यक्ति को भविष्य में भी मिलने की आशा हो तब भी वह व्यक्ति उस वर्तमान में ही लेना चाहेगा। इसका कारण समय अभिमान ही है। उदाहरण के लिए—यदि एक व्यक्ति से यह पूछा जाय कि १०० रु० आज लेना पसन्द करेगा अथवा एक साल बाद तो वह व्यक्ति आज ही बल्कि अभी चाहेगा। किन्तु यदि यह पूछा जाय कि १०० रु० आज लेना पसन्द करेगा अथवा एक साल बाद ११० रु०, तो वह वर्तमान के प्रति उदासीन हो जावेगा। अतः १० रु० समय की कीमत है और इसी को ब्याज कहते हैं। यदि १० रु० ज्यादा न दिये जायें तो वह १०० रु० वर्तमान में लेकर उससे अपनी आवश्यकताओं की सतुष्टि करेगा। अतः स्पष्ट है कि समय पसंदगी के कारण ही ब्याज देना आवश्यक होता है अन्यथा व्यक्ति भविष्य की अपेक्षा वर्तमान में ही खर्च करना अधिक पसन्द करेगा। कारण कि स्वभाव से ही मनुष्य वर्तमान आय को व्यय करने में बड़ा आतुर होता है।

यह आतुरता चार बातों पर निर्भर करती है :—

(१) आय की मात्रा—

मनुष्य की जितनी कम आय होगी उतनी ही अधिक वर्तमान आय की भविष्य के ऊपर पसंदगी अधिक होगी। कम आय से ऊंची समय पसन्दगी इसलिए होती है क्योंकि एक तो गरीबी के कारण दूरदर्शिता एवं आत्म नियंत्रण कम होता है तथा दूसरा यह विचार कि वर्तमान आवश्यकताओं को संतुष्ट करना अधिक आवश्यक है। इसके विपरीत जितनी आय अधिक होगी उतनी ही वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि पूर्णता से की जायेगी तथा उतनी ही कम समय पसंदगी होगी। कारण कि अधिक आय वाले मनुष्यों की आय को व्यय करने की आतुरता कम होती है। अतः निर्धन व्यक्ति धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक समय पसंदगी रखते हैं।

(२) आय का समयानुसार वितरण—

आय का वितरण भी सदा समान नहीं रहता है, वह घटता-बढ़ता रहता है। सिद्धान्ततः तीन परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है (i) यदि किसी व्यक्ति की आय जीवन भर लगभग समान रहती है तो आय के व्यय करने की आतुरता उसकी आय की मात्रा, व्यक्ति का स्वभाव तथा चरित्र भविष्य को बट्टा करने की दर इत्यादि पर निर्भर करती है। (ii) यदि किसी मनुष्य की आय आयु के साथ-साथ घटती जाती है तो उसकी व्यय करने की आतुरता कम होगी तथा वह भविष्य के लिये आय को रखना पसन्द करेगा। (iii) इसके विपरीत यदि किसी मनुष्य की आय आयु के साथ-साथ बढ़ती जाती है तो वर्तमान आय को व्यय करने से आतुरता अधिक होगी क्योंकि वह जानता है कि उसका भविष्य सुरक्षित है।

(३) भविष्य में आमदनी मिलने की निश्चितता —

व्यय करने की आतुरता अथवा समय पसंदगी बहुत कुछ भविष्य में आय मिलने की निश्चितता पर भी निर्भर करती है। यदि एक मनुष्य यह देखता है कि उसकी वर्तमान आय अधिक निश्चित है किन्तु भविष्य की आय निश्चित नहीं है तो वह वर्तमान आय से बचाकर भविष्य के लिये आय को रखना अधिक पसन्द करेगा इससे उसकी वर्तमान आय व्यय करने की आतुरता कम होगी। इसके विपरीत यदि मनुष्य यह देखता है कि भविष्य की आय निश्चित है किन्तु वर्तमान आय अधिक अनिश्चित है तो उसकी व्यय करने की आतुरता अधिक होगी। उदाहरण के लिये यदि एक मनुष्य देखता है कि उसे भविष्य में चल पैतृक संपत्ति मिलने की संभावना है तो वह वर्तमान खर्चों के लिये उधार तक लेने को तैयार हो जायेगा। इस दशा में समय पसंदगी तथा व्यय करने की आतुरता बहुत अधिक होगी।

(४) व्यक्ति का स्वभाव तथा चरित्र —

व्यय करने की आतुरता व्यक्ति के स्वभाव तथा चरित्र पर भी निर्भर करती है। एक शिक्षित तथा आत्म-संयमी व्यक्ति अपनी दूरदर्शिता से भविष्य पर बट्टा कम लगायेगा तथा परिणामस्वरूप वर्तमान आय को व्यय करने में कम आतुर होगा। इसके विपरीत अपव्ययी व्यक्ति भविष्य पर बट्टा अधिक लगायेगा तथा परिणाम-स्वरूप वर्तमान आय को व्यय करने की आतुरता उसमें अधिक होगी।

अब हम देखेंगे कि ब्याज की दर किस प्रकार निश्चित होती है। इसके लिए फिशर का कहना है कि जितनी व्यय करने की आतुरता अथवा समय पसंदगी ऊंची होगी उतनी ही ऊंची ब्याज की दर होगी। कारण कि ब्याज की दर वह दर होगी जो वर्तमान के संतोष को भविष्य के लिये स्थगित कर दे। इसी आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि जितनी व्यय करने की आतुरता अथवा समय पसंदगी कम होगी उतनी ही ब्याज की दर कम होगी।

यह सिद्धान्त तो दो बातों पर आधारित है। पहली तो यह कि द्रव्य की क्रय-शक्ति समान रहती है तथा दूसरी यह कि पूंजीपति अथवा ऋणदाता की परिस्थि-तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता है,

आलोचना —

एजियो सिद्धान्त की आलोचना भी इसी सिद्धान्त की है, इसके अतिरिक्त कुछ त्रुटियां और हैं, जो निम्नांकित हैं :—

(१) फिशर की यह मान्यता कि द्रव्य की क्रय शक्ति वर्तमान तथा भविष्य में समान रहती हैं, इस सिद्धात की व्यावहारिकता पर आघात करती है। वास्तविक जगत में द्रव्य की क्रय-शक्ति में सदैव परिवर्तन होते ही रहते हैं।

(२) यह त्रुटि फिशर की दूसरी मान्यता में भी है कि पूंजीपति अथवा ऋणदाता की परिस्थितियां तथा चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यह मान्यता भी अव्यावहारिक है।

(३) इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि पूंजी की पूर्ति केवल व्यय की आतुरता अथवा समय अधिमान पर ही निर्भर करती है जो कि सही नहीं है। वास्तव में पूंजी की पूर्ति इन बातों के अतिरिक्त और अनेक शक्तियों पर निर्भर करती है।

बचत का सिद्धान्त—(Savings Theory of Interest)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने व्याज को पूंजी के उपभोग का प्रतिफल कहा है। उनका कहना है कि यह प्रतीक्षा का मूल्य है। इस कारण यह 'प्रतीक्षा की पूर्ति' तथा 'प्रतीक्षा की माँग' की प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित होता है। प्रतीक्षा की माँग उनके द्वारा की जाती है जो पूंजी का विनियोग करते हैं तथा प्रतीक्षा की पूर्ति उनके द्वारा की जाती है जो उसकी 'बचत' करते हैं।

(क) पूंजी की पूर्तिः—

इस सिद्धान्त के अनुसार पूंजी की पूर्ति को व्यक्तियों की 'बचत' निर्मित करती है बचत करने में कुछ पीड़ा का अनुभव तथा त्याग करना पड़ता है, और कोई भी व्यक्ति इसको करना नहीं चाहेगा जब तक कि उसे इसके उपलक्ष में कुछ पुरस्कार न दिया जावे। यह पुरस्कार ही व्याज है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी बचत करने की प्रवृत्ति व्याज के परिवर्तन द्वारा प्रभावित नहीं होती है। व्याज दर चाहे कुछ भी हो वे बचत करते ही रहेंगे। किन्तु अधिकांश लोग ऐसे होते हैं जिनकी बचत करने की प्रवृत्ति व्याज दर द्वारा बहुत अधिक प्रभावित होती है। यदि व्याज की दर कम होगी तो यह कम बचत करेंगे और यदि अधिक होगी तो अधिक बचत करेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी होते हैं जो कि अपनी बचत से स्थिर आय प्राप्त करना चाहते हैं। वे इस कारण जिस समय व्याज दर कम होगी तो अधिक बचत करेंगे और अधिक होने पर कम बचत करेंगे। यदि भिन्न-भिन्न व्याज की दरों पर कुल बचतों को इकट्ठा कर लिया जाये तो मालूम पड़ेगा कि ज्यों-ज्यों व्याज दर बढ़ती है त्यों-त्यों कुल बचत की मात्रा की बढ़ती
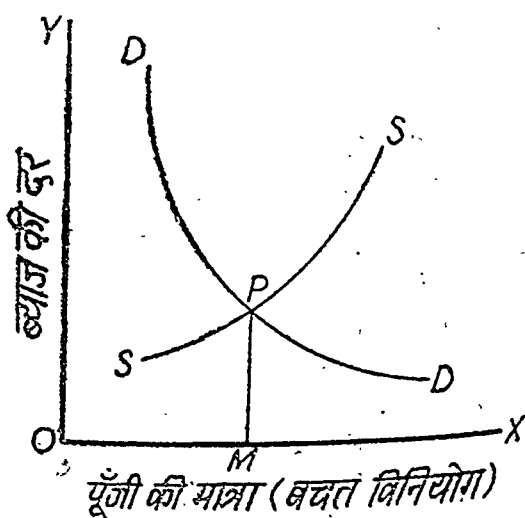
चित्र—१

दायें की ओर ऊपर को उठेगा जैसा कि चित्र से स्पष्ट है। यह पूर्ति वक्र सुरक्षा, जीवन-स्तर, दूरदर्शिता, आय स्तर इत्यादि द्वारा प्रभावित होगा, क्योंकि बचत इन्हीं बातों पर निर्भर करती है।

(ख) पूंजी की मांग :—

पूंजी की माग उन लोगों द्वारा की जाती है जो इसका विनियोग करना चाहते हैं। इस कारण यह पूंजी की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करती है। पूंजी के समस्त उपयोग तुल्य रूप से उत्पादक नही होते हैं। इसलिये उसे गिरते हुए क्रम मे रखा जा सकता है। जिस समय पूंजी कम होगी तो उस समय उसका उपयोग केवल उन्ही उपयोगों में किया जायेगा जहा पर कि उसकी सीमान्त उत्पादकता ब्याज दर के बराबर नहीं हो जाती है। उपरोक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस समय ब्याज दर ऊंची होगी उस समय उत्पादक पूंजी की कम माग करेंगे और जिस समय ब्याज की दर नीची होगी पूंजी की अधिक मात्रा की मांग की जायेगी। इसलिये विनियोग मांग वक्र ऊपर से नीचे की ओर आयेगी जैसा कि उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है।

(ग) बचत तथा विनियोग की तुल्यता :—

ब्याज की दर का निर्धारण उसी बिन्दु पर होगा जहां कि सामूहिक बचत, सामूहिक विनियोग के तुल्य हो जाती है। यह भी उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है।

चित्र मे पूंजी वक्र SS तथा मांग वक्र DD है। PM. ब्याज की वह दर है जो उतनी ही पूंजी की विनियोग मांग हैं। ऐसी दशा मे ब्याज की दर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के तुल्य होगी।

यहां यह बात बताने योग्य है कीन्स जो कि बाद मे चलकर प्रतिष्ठित विचारधारा के कट्टर विरोधी हो गये थे उनका भी इस सिद्धान्त को समर्थन प्राप्त था, जैसे कि उनके शब्दों से स्पष्ट है—"जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य आवश्यक रूप से वहां निश्चित होता है, जहां उस वस्तु की मांग उसकी पूर्ति के तुल्य होती है, उसी प्रकार ब्याज की दर भी बाजार की शक्तियों के कारण उस बिन्दु पर ठहर जायेगी जहां पर कि किसी ब्याज का दर पर विनियोग की मात्रा उसी ब्याज की दर पर बचत की गई मात्रा के बराबर हो जाती है।" मार्शल भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि—"ब्याज जो कि पूंजी के उपयोग के उपलक्ष में दिया हुआ मूल्य है, साम्य की अवस्था की ओर इस प्रकार प्रवृत्तिहोती है कि उस ब्याज की दर पर पूंजी की कुल मांग उसी दर पर आने वाला पूंजी के भण्डार के बराबर हो।"

आलोचना :—

इतने महान् अर्थशास्त्रियों के समर्थन प्राप्त होने के उपरान्त भी यह सिद्धांत दोष रहित नहीं है। इसमें अनेकों दोष हैं :—

(१) कीन्स का कहना है कि ब्याज व्यय न करने का प्रतिफल है अर्थात्

ब्याज वास्तव में 'असंचयन' (Dirhoarding) का प्रतिफल है। एक व्यक्ति व्यय क्या करे किन्तु यदि वह अपनी बचत का संचय कर लेगा तो उसको ब्याज प्राप्त नहीं होगा। ब्याज तभी प्राप्त होगा जबकि वह उस बचत का संचय न करके दूसरे व्यक्तियों को विनियोग के लिये दे दे। स्पष्ट है कि ब्याज संचय न करने का प्रतिफल है।

(२) इस सिद्धान्त की दूसरी आलोचना यह है कि इसमें पूंजी की पूर्ति की व्याख्या सही नहीं की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान आय में से जो बचत कर ली जाती है। वही पूंजी की पूर्ति करती है जो सही नहीं है। वास्तव में पूंजी की पूर्ति में भूतकाल की बचत जिसका ब्याज की दर के कम होने के कारण संचय कर लिया गया था और ब्याज की दर के बढ़ने पर असंचयन कर दिया जायेगा तथा बैंकों द्वारा निर्मित साख भी सम्मिलित रहती है। इस प्रकार यह सिद्धांत अपूर्ण है।

(३) कीन्स का कहना है "कि यह सिद्धान्त द्रव्य की मात्रा को भी ध्यान में नहीं लेता इसलिये यह अधूरा तथा गलत है।"

(४) कीन्स का कहना है कि यह सिद्धांत विनियोग के व्यक्तियों की आय के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव को भी ध्यान में नहीं लेता है। वास्तव में 'बचत' क्या होगी यह व्यक्तियों की आय पर निर्भर करती है और व्यक्तियों की आय क्या होगी यह विनिमय पर निर्भर करती है तथा विनियोग की मात्रा क्या होगी यह ब्याज की दर पर निर्भर है। जिन समय व्यक्तियों की आय बढ़ेगी, अन्य बातें यथावत् रहें, तो 'बचत' की आय भी बढ़ जायेगी। अतः जिस समय आय बढ़ जायेगी तो उस समय बचत वक्र दर और उठ जायेगा जैसा कि चित्र २ से स्पष्ट है। ब्याज की दर निर्धारण उस बिन्दु पर होगा जहां कि बचत तथा विनियोग बराबर होंगे। किन्तु विनियोग ब्याज की दर पर निर्भर करती है कम ब्याज की दर अधिक विनियोग की मात्रा अधिक ब्याज की दर कम विनियोग की मात्रा। अतः ब्याज की दर विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती है, विनियोग की मात्रा पर व्यक्तियों की आय निर्भर करती है, व्यक्तियों की आय पर बचत निभर करती है। बचत क्या होगी अथवा बचत वक्र की आकृति क्या होगी इसको जानने के लिये ब्याज की दर को जानना आवश्यक है और इसका जानना ही हमारा उद्देश्य है। अतः स्थिति संदिग्ध हो जाती है। इसको चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है।

चित्र में II निनियोग वक्र है। SQ तथा SQ^1 क्रमशः बचत वक्र, Q तथा Q^1 आय स्तर के लिये है। जिस समय आय स्तर Q है तो उस समय जिस ब्याज की दर पर विनियोग तथा बराबर बचत हो जाती है, वह PM है और जिस समय आय स्तर Q_1 है उस समय ब्याज दर P_1 M_1 हो जाती है। कारण कि ब्याज की दर वही निश्चित होती है जहाँ विनियोग तथा बचत की मात्रा, बराबर होती है। यानी जहाँ विनियोग वक्र बचत वक्र को काटता

है। बचत कहाँ पर ठहरेगी यह बात आय पर निर्भर करती है। आय क्या होगी यह बात ब्याज की दर पर निर्भर करती है।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है सबका निष्कर्ष यह निकलता है कि बचत की स्थिति को मालूम करने के पूर्व ब्याज का ज्ञान लेना आवश्यक है। यही निष्कर्ष इस व्याख्या में संदिग्ध को ला देता है।
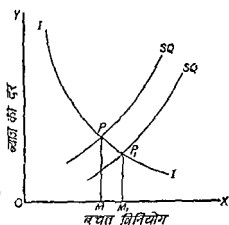
चित्र २

ऋण योग्य कोष सिद्धान्त (Loanable Funds Theory of Interest)—

प्रतिष्ठित ब्याज के सिद्धान्त की त्रुटियों को दूर करने के लिये नव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने उसमें कुछ संशोधन कर दिये हैं, इसलिये इस संशोधित रूप को कभी-कभी नव-प्रतिष्ठित ब्याज का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इन अर्थशास्त्रियों ने बताया कि ब्याज बचत करने के प्रतिफल नहीं अपितु उधार द्रव्य के उपयोग का प्रतिफल है। बाजार में कई ऋणदाता उधार द्रव्य दिया करते हैं, वे कई व्यक्ति होते हैं जो इन 'उधार द्रव्य' की माँग किया करते हैं। ब्याज की दर वही निश्चित होती है जहाँ इन दोनों शक्तियों का सतुलन हो जाता है।

(क) उधार द्रव्य की पूर्ति –

इसकी पूर्ति ३ प्रश्नों द्वारा होती है—

(१) प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान बचत वर्तमान आय में से न कर पिछली आय में से करता है। कारण कि वर्तमान आय तो उसको मिलती ही नहीं है। इस प्रकार पिछली आय बचत का प्रथम स्त्रोत है।

(२) पूंजी की पूर्ति बैंक साख द्वारा होती है। यह बात सत्य है कि बैंकों की साख सृजन करने की शक्ति व्यक्तियों की जमा पर निर्भर करती है जो कि बचत ही है, किन्तु फिर भी बैंक किसी समय पर पूंजी की पूर्ति बढ़ा सकते हैं।

(३) पूंजी का तृतीय स्रोत भूत बचत का आसंचयन है। ऐसा होता है कि व्यक्ति बचत करते हैं, किन्तु ब्याज दर के कम हो जाने पर वे उस बचत का सचय करने लगते हैं। जिस समय ब्याज दर बढ जाती है उस समय वे इस भूत बचत का आसंचयन करने लग जाते है जिससे पूंजी की पूर्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त पूर्ति की व्याख्या सही तथा पूरी कर देता है। किसी ब्याज की दर पर आने वाली पूर्ति को मालूम करने के लिये उस दर पर विभिन्न स्त्रोतों से आने वाली पूर्ति

को जोड़ लेना चाहिये। यह कम व्याज पर कम होगी तथा अधिक व्याज पर अधिक होगी। इसलिये पूर्ति वक्र दाहिने से बांये की ओर ऊपर को उठेगा।

(ख) 'उधार द्रव्य' की मांग:—

'उधार द्रव्य' की मांग दो वर्गों में आती है। पहला वर्ग तो वह है जिसको लोग उपभोग की वस्तुओं को खरीदने के लिये उधार लेते हैं। यह लोग या तो यह सोचते हैं कि भविष्य में उनकी आय बढ़ेगी जबकि उनकी आवश्यकताओं में अनुपातिक वृद्धि नहीं होगी या यह सोचते हैं कि वर्तमान आवश्यकताएं भविष्य में होने वाली आवश्यकताओं से तीव्र है जिनको संतुष्ट करना अति आवश्यक है। इस प्रकार इनकी वर्तमान में व्यय करने की आतुरता अधिक होगी और वे उधार लेकर व्यय करना चाहेंगे क्योंकि वे आशा करते हैं कि भविष्य में इस उधार की अदायगी कर दी जाएगी। यह उधार देने के लिये क्या व्याज देना चाहेंगे यह बात उनकी भविष्य की आय को वर्तमान में परिवर्तन करने की इच्छा पर निर्भर करेगी। यह इच्छा वर्तमान आवश्यकताओं की तीव्रता पर निर्भर करती है। यदि तीव्रता अधिक हुई तो व्याज अधिक देने को तैयार होंगे अन्यथा कम। दूसरे शब्दों में यदि व्याज अधिक होगा तो केवल अधिक तीव्र आवश्यकताओं की संतुष्टि की जावेगी जिससे 'उधार द्रव्य' की माँग कम होगी। इसके विपरीत यदि व्याज कम होगा तो कम तीव्र आवश्यकताओं की पूर्ति की जावेगी जिससे 'उधार द्रव्य' की माँग अधिक होगी।

दूसरे प्रकार का वर्ग उत्पादक वर्ग है। यह 'उधार द्रव्य' की मांग उसकी सीमान्त उत्पादकता द्वारा ही करेंगे। यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार ही होगी।

इन दोनों माँगों को जोड़ने से उधार द्रव्य की कुल मांग आ जायेगी। कम व्याज की दर पर माँग अधिक होगी तथा अधिक दर पर माँग कम होगी। इस प्रकार माँग वक्र ऊपर से नीचे की ओर आयेगा।

(ग) मांग तथा पूर्ति का संतुलन—

व्याज की दर वहीं निश्चित होगी जहां पर कि 'उधार द्रव्य' की माँग उसकी पूर्ति के तुल्य हो जायेगी। यह प्रस्तुत चित्र से स्पष्ट है।

चित्र में SS पूर्ति वक्र तथा DD मांग वक्र है। PM व्याज की वह दर है जहां पर कि मांग तथा पूर्ति बराबर हो जाती है।

चित्र—३

आलोचना—

इस सिद्धान्त की यह विशेषता होते हुये भी इसने पूर्ति की व्याख्या स्पष्ट तथा सही की है यह त्रुटि रहित प्रतिष्ठित सिद्धान्त व्याज की दर को निश्चित करना असम्भव
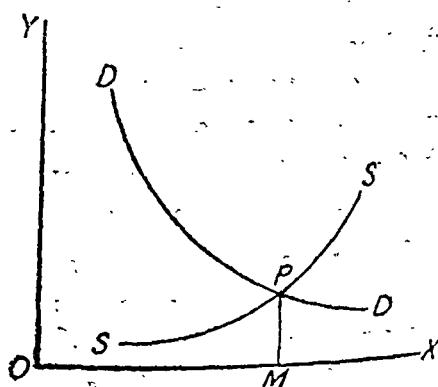
हो जाता है, क्योंकि व्यक्तियों की आय को ध्यान में नहीं लिया जाता है, जैसा कि हानसन (Hansen) के शब्दों से स्पष्ट है। वह लिखते हैं कि 'उधार देने योग्य कोष के सिद्धान्त' के अनुसार ब्याज की दर 'उधार देने योग्य कोष' की मांग सारिणी की पूर्ति, सारिणी के साथ प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित होती है। 'उधार देने योग्य कोष' की पूर्ति बचत (जो पिछली आय से होती है), नवीन द्रव्य तथा निष्दोष शेष के असंचयन द्वारा होती है। चूंकि पूर्ति सारिणी का बचत वाला भाग 'पिछली आय' के स्तर के अनुसार बदलता है जिसका अर्थ हुआ कि कुल 'उधार देने योग्य कोष' की पूर्ति भी आय के अनुसार बदलती है। अतः यह सिद्धान्त भी संदिग्ध है।

विक्सैल का ब्याज सिद्धान्त (Wicksall's Toeoey of Interest)—

विक्सैल के ब्याज का सिद्धान्त ब्याज की वास्तविक अथवा स्वाभाविक दर का सिद्धान्त है। उसने इस मान्यता के आधार ब्याज का विश्लेषण किया है कि ब्याज की वास्तविक एवं मौद्रिक दर में कोई भिन्नता नहीं होती है। इनमें कोई भिन्नता होने से आर्थिक क्रिया में असन्तुलन एवं परिवर्तन पैदा हो जाते हैं। उसने इस भिन्नता के अध्ययन व्यापार चक्रों की व्याख्या करते समय किया है, लेकिन राष्ट्रीय आय के वितरण की समस्या का अध्ययन करते समय उसने अपना ध्यान सन्तुलन की स्थिति पर ही केन्द्रित रखा। सन्तुलन से आशय ब्याज की मौद्रिक एवं वास्तविक दरों में कोई भेद न होना। अतः उसने आय वितरण का अध्ययन इस मान्यता से प्रारम्भ किया है कि ब्याज की मौद्रिक एवं वास्तविक दरों में समानता है।

विक्सैल वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त में विश्वास करता था, जिसके अनुसार यदि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार भुगतान किया जाय तो कुल उत्पत्ति बंट जायेगी और कुछ शेष नहीं बचेगा। एक स्थिर अर्थव्यवस्था में जिसमे पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है और जिसमें साहसी को सीमान्त उत्पत्ति उसकी प्रबन्धक मजदूरी के बराबर पुरस्कार दिया जाता है, अर्थात् ब्याज की स्वाभाविक दर पूंजी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होती है।

पूंजी की वास्तविक प्रकृति के बारे में अर्थशास्त्रियों में बहुत वाद-विवाद रहा है। इसमें कारखाने की इमारतें, औजार, मशीनें, पशु, कच्चा माल और यहां तक कि उपयोग वस्तुएं भी सम्मिलित की जाती हैं। इन सब वस्तुओं में एक गुण समान रूप से मौजूद है—उनका कुछ न कुछ विनिमय मूल्य अवश्य होता है। पूंजी स्वयं उत्पादित वस्तु है, इसलिये ब्याज जो कि पूंजी का उत्पादन है, यह स्पष्ट करता है कि पूंजी का उत्पादन अपने उस मात्रा से अधिक क्यों होना चाहिये जो कि उसके पुनरोत्पादक के लिये आवश्यक है। इसका कारण यह है कि ब्याज तभी विद्यमान हो सकता है जबकि पूंजी का उत्पादन खुद पूंजी के मूल्य से अधिक हो।

पूंजी संचित श्रम और संचित भूमि है। उत्पादन के दो मूल साधन हैं। यदि इन्हें चालू उपयोग के हेतु वस्तुओं उत्पादन करने के लिये प्रयोग किया जायगा, तो उसकी कुशलता अथवा अधिक से अधिक स्थिर रहेगी। इसके विपरीत यदि भूमि एवं श्रम की कुछ इकाइयाँ दूरस्त उपभोग के लिये वस्तुयें बनाने के हेतु प्रयोग की जाती है, तो उससे पूंजी की मूल्य उत्पादक शक्ति उत्पन्न होती है। सभी पूंजी संचित श्रम और संचित पूंजी है। इसमें पिछले वर्षों की भूमि एवं श्रम शामिल है। कालान्तर में संचित-श्रम एवं संचित भूमि अधिक कुशल रूप ग्रहण कर सकती है। अतः पिछली भूमि एवं श्रम की सीमान्त उत्पत्ति चालू भूमि एवं श्रम की सीमान्त उत्पत्ति से अधिक अन्तर्गत वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय मूल्य आवश्यक होगी। स्थिर दशाओं के रूप से वर्ष प्रति वर्ष अपरिवर्तित ही रहता है। जिससे उस व्यक्ति को जिसने किसी वर्ष भूमि एवं श्रम खरीदा है, उनको पूंजी में परिणित करने के लिये, ताकि अगले वर्ष यह उनको उत्पादन में लगा सके यह विश्वास रखना चाहिये कि उसके अगले वर्ष में चुकाये गये मूल्य की अपेक्षा अधिक मूल्य या उत्पत्ति प्राप्त होगी। यह आधिक्य ही ब्याज कहलाता हैं। विक्सेल के शब्दों में, "पूंजी बचाया हुआ श्रम और बचाई हुई भूमि है। ब्याज बचाये हुए श्रम और बचाई हुई भूमि तथा चालू श्रम और चालू भूमि की सीमान्त उत्पादकता का अन्तर है।" विक्सेल ने ब्याज की दर के दो भेद किये हैं। बाजार दर और स्वाभाविक दर। बाजार दर वह औसत दर है जो बाजार पर शाख के सम्बन्ध में वास्तव में चुकाई गई है। लेकिन स्वाभाविक दर के सम्बन्ध में विक्सैल ने चार परिभाषायें दी हैं—

(१) ब्याज की स्वाभाविक दर वह दर है, जिस पर ऋण पूंजी की मांग बचत की पूर्ति के ठीक बराबर हो जाती है।

(२) यह वह दर है जो नवीन सृजन की गई पूंजी को आशानुकूल लाभ प्रदान करती है।

(३) यह वह दर है, जिस पर वस्तुओं के मूल्यों का सामान्य स्तर न तो ऊंचा उठने की प्रवृत्ति रखता है और न नीचा गिरने की।

(४) यह वह दर है जो स्थापित होती है, जबकि मौद्रिक व्यवहारों का प्रयोग न किया जाय लेकिन वास्तविक पूंजी ही स्वाभाविक रूप से ऋण दी जाय, किन्तु ब्याज की बाजार दर और स्वाभाविक दर के इस भेद का प्रयोग व्यापार चक्रों के कारणों को स्पष्ट करने के लिये किया है।

आलोचना :—

अन्य सभी कट्टरवादी अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों की भांति विक्सैल का सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है :—

(१) विक्सैल के सिद्धान्त में यह छिपी हुई मान्यता है, कि अर्थव्यवस्था में प्रसाधनों का पूर्ण उपयोग हो रहा है। वास्तव में यह मान्यता दोषपूर्ण है और उसके सिद्धान्त की उपयोगिता को नष्ट कर देती है।

(२) विक्सैल ने ब्याज की स्वाभाविक दर का अनेक दृष्टिकोणों से वर्णन किया है। इन सब का चुनाव करना अत्यन्त कठिन है कि ब्याज की किस स्वाभाविक दर को मुद्रा-नीति चुनें।

(३) विक्सैल ब्याज को वृद्धिमूलक प्रवृत्ति का कारण मानता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि विक्सैल के सिद्धान्त की प्रक्रिया वृद्धिमूलक प्रवृत्ति दिखावे।

(४) विक्सैल का यह विचार भी ठीक नहीं है कि कम ब्याज दर सदा मूल्यों में वृद्धि करती है। प्रोफेसर हैबरलर और हायेक (Hayek) यह बताते हैं, कि यह आवश्यक नहीं है, कि जब ब्याज की बाजार दर स्वाभाविक दर से कम हो तो मूल्यों में वृद्धि हो।

कीन्स का सिद्धान्त.—(Keynesian Theory of Interest)

स्वर्गीय कीन्स ने ब्याज की दर के निर्धारण के एक नवीन सिद्धान्त को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'जनरल थ्योरी आफ एम्प्लायमेंट इन्ट्रेस्ट एण्ड मनी' (The General Theory of Employment Interest and Money) १९३६ में प्रकाशित हुई थी, में प्रतिपादित किया है। उनके मतानुसार ब्याज न तो बचत या उधार देने योग्य कोष की मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है, वरन्, द्रव्य की मात्रा और द्रवता पसन्दगी (Liquidity Preference) के द्वारा निर्धारित होता है। उन्होंने बताया कि *ब्याज बचत करने का पुरस्कार नहीं है, वरन् यह तरलता के एक निश्चित समय के लिये परित्याग का प्रतिफल है।*

कीन्स का विचार है, कि मनुष्य को जिस समय आय मिलती है, उसे उस समय यह तय करना पड़ता है, कि वह अपनी आय के कितने भाग व्यय करे। यह बात उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to consume) पर निर्भर करती है। आय को व्यय करने की मात्रा निश्चित कर लेने के उपरान्त वह यह तय करता है। कि वह आय में से कितनी मात्रा को नकद, द्रव्य या तरल (Liquid) रूप में अपने पास रखेगा। यह प्रश्न इसलिये उठता है कि वह व्यक्ति अपनी बचत को दो प्रकार से रख सकता है। या तो वह बचत को दूसरे व्यक्तियों को उधार पर दे दे, अर्थात द्रवता पसन्दगी का त्याग कर दे या उसे अपने पास नगद रूप में रखे। किसी व्यक्ति विशेष की द्रवता पसन्दगी कई बातों पर निर्भर करती है। इनको कीन्स ने तीन प्रकार के हेतुओं (Motives) विभाजित किया है :—

(१) कार्य संपादन हेतु (Transactional motive) (२) पूर्व विधान हेतु (Precationery motive) (३) सट्टे हेतु (Speculative motive)

प्रथम दो प्रकार के हेतुओं के लिए रखी जाने वाली मात्रा ब्याज की दर से मोटे रूप से स्वतन्त्र है। ब्याज की दर इन दो उद्देश्यों के लिये मात्रा को बहुत कम प्रभावित करती है। यदि ब्याज की दर बहुत ऊंची हुई तो लोग इन उद्देश्यों के लिये थोड़ी मात्रा को रखेंगे। यदि ब्याज की दर कम हुई तो लोग इन उद्देश्यों के लिये कुछ अधिक मात्रा रखेंगे। वास्तव में सट्टे हेतु के लिये रखी गई मात्रा ही ब्याज दर

से बहुत अधिक प्रभावित होती है और द्रव की मात्रा में परिवर्तन लाती है। साधारणतः जितनी व्याज की दर ऊंची होगी उतनी ही नगद रूप में द्रव्य रखने की इच्छा कम होगी, इसके विपरीत जितनी ही नगद रूप में द्रव्य रखने की इच्छा कम होगी, इसके विपरीत जितनी व्याज की दर कम होगी, उतनी ही अधिक इतनी नगद रूप में, द्रव्य रखने की इच्छा या द्रवता पसन्दगी अधिक होगी।

इस प्रकार व्याज की विभिन्न दरों पर एक ऐसी सारिणी तैयार की जा सकती है, जिससे मालूम हो सके कि व्याज की दर पर तीनों उद्देश्यों के लिए लोग कितना द्रव्य नकद रूप में रखना चाहेंगे। इसको द्रवता पसन्दगी सारिणी कहा जायगा। द्रव्यता पसन्दगी व्याज की दर के बढ़ने पर घटेगी तथा दर के घटने पर बढ़गी। यदि द्रव्यता पसन्दगी वक्र खींचा जायेगा तो वह बांये से दांये की ओर नीचे आयेगा, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है। इसमें L P द्रवता पसन्दगी वक्र है।

चित्र –४
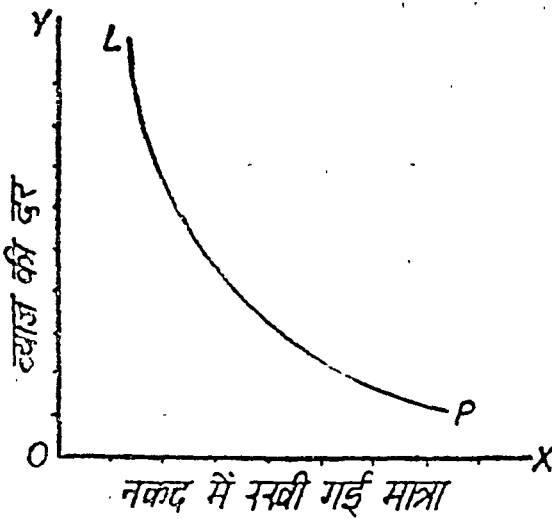
अब हम देखेंगे कि व्याज की दर का निर्धारण किस प्रकार होता है। आरम्भ में बताया गया था कि यह द्रव्य की मांग तथा पूर्ति के आपसी संतुलन द्वारा होती है। द्रव्य की पूर्ति में द्रव्य की कुल मात्रा है और इसकी मांग पक्ष में नकद द्रव्य रखने की इच्छा है, जहां पर इन दोनों शक्तियों का संतुलन हो जाता है वहीं व्याज की दर का निर्धारण हो जाता है। इसको निम्न चित्रों में स्पष्ट किया गया है :—

चित्र ५ में L P द्रवता पसन्दगी वक्र है। जिसमें द्रव्य की मात्रा ५०० करोड़ है तो व्याज की ४% है और जब द्रव्य की मात्रा बढ़ कर ६०० करोड़ हो जाती है तो व्याज की दर घटकर ३% हो जाती है। इसमें यह बात मान ली गई है कि द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन होने के साथ द्रवता पसन्दगी में कोई परिवर्तन नहीं होता है। यदि इसमें भी परिवर्तन होगा और यह बढ़ जायेगी जैसा कि चित्र ६ में दिखाया गया है तो व्याज की दर घटने की अपेक्षा बढ़कर ५% हो जायेगी। यही कीन्स का द्रवता पसन्दगी सिद्धान्त है।

आलोचना :—

कीन्स के सिद्धान्त में अनेक विशेषतायें होते हुए भी यह त्रुटि रहित नहीं है। सिद्धान्त की भी अनेक आलोचनायें की गई हैं और इसको पुराने सिद्धान्तों से

आगे बढ़ा हुआ, नहीं कहा जा सकता है। इन आलोचनाओं का शेष नीचे दिया गया है :—
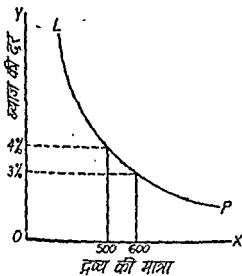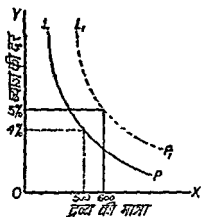
चित्र नं०—५ चित्र नं०—६

(१) कीन्स अपने सिद्धान्त को द्रव्य की पूर्ति पर आधारित करते है किन्तु उन्हें द्रव्य का अर्थ ही स्पष्ट नही है। उनका एक ओर तो कहना है कि द्रव्य का विस्तार बैंक में जमा रकम के साथ होता है और दूसरी ओर रावर्टसन के साथ बात करते हुए वह अपनी तालिका में साख को बहिष्कृत करने के विचार रखते हैं।

(२) कीन्स के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आपेक्ष भी लगाया जाता है कि इन्होंने व्यर्थ में ही माँग पक्ष में से पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के विचार को हटा दिया है। वास्तव में पूंजी की माँग बहुत कुछ इसकी सीमान्त उत्पादकता द्वारा प्रभावित होती है और यह बात प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री सही रूप में समझते थे। बेन्हम(Bednham) का भी कहना है कि "द्रव्य सिद्धांत ब्याज की व्याख्या का एक अच्छा सिद्धांत प्रतीत हो सकता है क्योंकि नवीन उधार कुल सिक्यूरिटियों में भंडार की अपेक्षा कम होते होते हैं। किन्तु हमें चित्र में से पूर्णतया पूंजी की सीमान्त उत्पादकता को बाहर नहीं हटाना चाहिये। यह सत्य है कि उत्पादन में समय लगता है और कुछ रीतियाँ जिनमें अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है, अधिक उत्पादक होती हैं दोनों ही व्यवसाय तथा व्यापार में से स्वतन्त्र पूंजी की माँग को उत्पन्न करती है, तथा आय में वृद्धि कर देती है, जिससे ब्याज का भुगतान कर दिया जाता है। कारण कि गरीब देशों में ब्याज की दर ऊंची क्यों होती है। यह है कि उनके पास पूंजी की

में केवल द्रव्य की मात्रा को ही बढ़ाकर काम नहीं चल सकता है....... ऊपर या नीचे कोई भी आशातीत लाभों (यानी पूंजी की सीमान्त उत्पादकता) में होने वाले बड़े परिवर्तन व्याज की दर को उसी दशा में प्रभावित करने की प्रवृत्ति रखते हैं।" अतः कीन्स ने सीमान्त उत्पादकता को व्याज की दर के निर्धारण से बाहर निकाल कर भूल की है)

(३) कीन्स का सिद्धान्त किसी सीमा तक बाम बावर्क के एजियो सिद्धान्त अथवा फिशर के समय पसन्दगी से मिलता जुलता है। कारण कि जिस चीज को वाह्म बावर्क ने "भविष्य का कम मूल्यांकन करना" कहा है और जिसे फिशर ने समय पसन्दगी कहा उसी को कीन्स "उपभोग की प्रवृत्ति" का नाम देते हैं। इन सबका आशय वर्तमान प्राप्ति को भविष्य की अपेक्षा अधिक महत्व देना है। जब कोई व्यक्ति कहता है कि वह नकदी चाहता है तो उसका विचार यदि होता है कि वह इससे वर्तमान आवश्यताओं की संतुष्टि बिना प्रतीक्षा किए ही कर सकेगा। इसका तात्पर्य यह ही है कि उसे भविष्य में प्राप्त तृप्ति से वर्तमान तृप्ति अधिक पसन्द है। अतः इन दोनों सिद्धान्तों का सार एक ही है केवल अन्तर शब्दों का है क्योंकि एक व्याज की विद्यमान वस्तुओं पर अधिमूल्य मानता है जबकि दूसरा द्रवता के परित्याग का पुरस्कार कहता है। इस कारण यह सिद्धान्त का ही एक रूप है।

(४) हेन्सन (Hansen) का कहना है कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त की भांति ही किनिजियन सिद्धान्त भी अनिश्चित है। कारण कि इस सिद्धान्त के अनुसार व्याज की दर पूर्ति सारिणी तथा माँग सारिणी की प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित होती है। माँग अथवा द्रवता पसन्दगी क्या होगी यह बात आय स्तर पर निर्भर करेगी। (यहाँ पर हम कुल द्रवता पसन्दगी को ले रहे हैं, जिसमें तीनों उद्देश्यों कार्य सम्पादन पूर्वाधान तथा सट्टे हेतु के लिए रखी गई नकद मात्रा सम्मिलित है) जिस समय आय स्तर बढ़ जायेगी जिससे कुल द्रवता पसन्दगी पढ़ जायेगी और द्रवता पसन्दगी वक्र ऊपर को उठ जायेगा। यह वक्र कहां पर ठहरेगा यह बात आय पर निर्भर करती है और आय व्याज की दर पर निर्भर करती है। अतः Hansen के शब्दों में "किनिजियन सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धांत की भांति ही अनिश्चित है। किनिजियन सिद्धान्त में द्रव्य तथा पूर्ति तथा मांग सारिणी तब तक व्याज की दर नहीं दे सकते जब तक कि हमें पहले आय स्तर का पता न चल जावे। प्रतिष्ठित सिद्धांत में भी बचत की मांग तथा पूर्ति तब तक कोई हल नहीं देती जब तक कि आय का पता न हो। प्रतिष्ठित सिद्धांत की कीन्स द्वारा की गई आलोचना उसके स्वयं के सिद्धांत पर भी लागू होती है। इसको प्रस्तुत चित्र में स्पष्ट किया गया है।

चित्र में LPQ उस समय द्रव्य पसंदगी वक्र हैं जब आय Q है। $_1Q_1$ उस समय है जब आय Q है। इन स्थितियों में व्याज क्रमशः PM तथा P_1M_1 है। स्पष्ट है कि व्याज की र हो
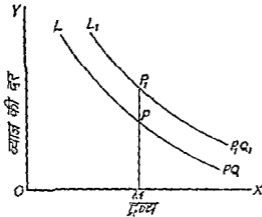
चित्र—७

हूम की जा सकती है जब कि आय को मालूम कर लिया जाय। आय के
न का जानना जरूरी है। अत स्थिति अनिश्चित है।

ा सिद्धान्त —Modrn Theory of Interest) —

याज की दर के निर्धारण का आधुनिक सिद्धांत प्रतिष्ठित तथा कीन्सियन
ा संकुलन (Synthesis) है। वास्तव में यद्यपि कीन्स के सिद्धात के तत्व
उसकी त्रुटिरहित सिद्धात के प्रतिपादन करने में सहायक हो सकते किन्तु
न तत्वों को वैज्ञानिक ढग से सयुक्त नहीं किया जिससे कि वह त्रुटि रहित
नहीं पहुँच सका। हेन्स का भी यही विचार है। वे लिखते है कि "ब्याज
ा सिद्धांत इन बातो पर आधारित है—(१) माग शक्ति का विनियोग
:nt of demand function) (२) बचत शक्ति (Saving function)
पसदगी शक्ति (Liudity Prefrence Function) (४) द्रव्य की
intity of Money)। कीन्स के सम्पूर्ण विश्लेषण को देखने से प्रतीत
क उसमे यह सब बातें थी। इस अर्थ मे कीन्स के पास नवप्रतिष्ठित
icals) के विपरीत निश्चित (Determinate) सिद्धात था। किन्तु
ी भी इन तत्वों को विस्तृत रूप से नहीं मिलाया जिससे कि एकीकृत
1) ब्याज सिद्धांत बन सकता।" अत अब हम इन तत्वों को विस्तृत
लेंगे जिससे एकीकृत ब्याज सिद्धान्त बन सके।

ष्ठित सिद्धात का कहना है कि ब्याज की दर वहाँ निश्चित होती है, जहाँ
नियोग की मात्रा हो जाती है। कीन्स का कहना है कि ब्याज
निश्चित होती है जहाँ द्रव्य की माग तथा द्रव्य की पूर्ति बराबर हो
ों ही सिद्धांत मूल रूप से सत्य है यद्यपि इनमे त्रुटियाँ अवश्य हैं। इन
ने से त्रुटिरहित एकीकृत सिद्धांत बन जाता है।

(१) बचत विनियोग वक्र
(Saving Investment Curve)

मान लीजिये Q_1 Q_2 Q_3 Q_4 विभिन्न आय स्तर हैं। इन विभिन्न आय स्तरों के लिये बचत योजना क्रमश. SQ_1 SQ_2, SQ_3, SQ_4, हैं जैसा कि चित्र में दिया है। व्याज की दर ऐसी होगी जो बचत तथा विनियोग के बराबर कर दे। जिस समय आय स्तर Q_1 है उस समय प्रत्येक बचत तथा विनियोग की मात्रा QM_1 है
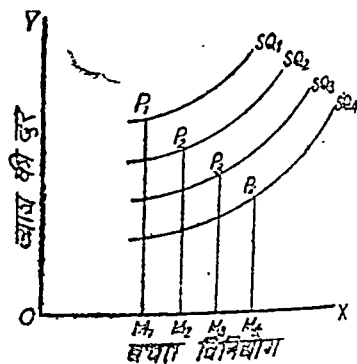
चित्र—८

और व्याज की दर P_1 M_1 है। इसी प्रकार Q_2, Q_3, Q_4, आय स्तरों के लिये प्रत्येक बचत तथा विनियोग की मात्रा क्रमश: OM_2, OM_3, OM_4, तथा व्याज की दरें क्रमश: P_2 M_2, P_3 M_3, P_4 M_4 हैं जैसा कि चित्र में दिया है। यदि इन समस्त बिन्दुओं P_1 P_2 P_3 P_4 को मिला दिवा जावे तो हमें एक वक्र मिलेगा जिसे बचत विनियोग वक्र कहा जावेगा, जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट है।

IS वक्र बांये से दांये की ओर नीचे आता है कारण कि ज्यों-ज्यों आय बढ़ती है बचत अधिक होती है, जिसे व्याज की दर गिरती है।

चित्र—९
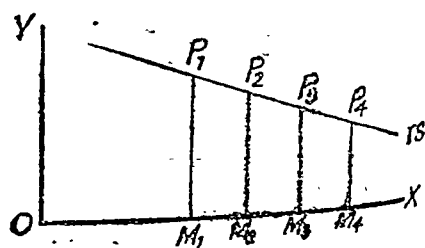
(२) द्रव्य पसंदगी तथा द्रव्य की मात्रा वक्र
(Liquid Prefrence and Quantity of Money Curve or LM Curve)

L.M. वक्र यह बताता है कि मात्रा तथा द्रव्यता पसंदगी सारिणी दी हुई हों तो विभिन्न आय स्तरों के लिये व्याज की दर क्या होगी। इस वक्र को मालूम करने के लिये मान लीजिये Q_1, Q_2 Q_3 Q_4 आय स्तरों के लिए द्रवता पसंदगी वक्र क्रमश: LQ_1 LQ_2 LQ_3 LQ_4 तथा द्रव्य की पूर्ति QM है। P_1M_1 व्याज की वह दर है

चित्र—१०
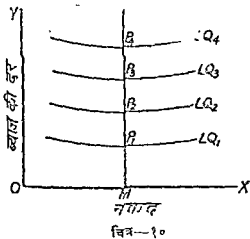
जो Q_1 आय स्तर पर नकद की माग तथा पूर्ति को बराबर करती है। इस प्रकार विभिन्न आय स्तरों Q_2 Q_3 Q_4 पर क्रमशः ब्याज की दरें Q_2M, Q_3M तथा Q_4M है जैसा कि चित्र ११ से स्पष्ट है।

इस आधार पर बताता गया वक्र जो ब्याज की दर तथा आय के आपसी सम्बन्ध को बनाया है LM वक्र कहलाता है। यह वक्र बांये से दाये की ओर ऊपर को उठता है। कारण कि जिस समय आय बढ़ती है उस समय द्रवता पसदगी बढ़ती है जिससे ब्याज की दर बढ़ती है। इसके विपरीत आय घटने पर ब्याज की दर भी घटती है। LM वक्र उपरोक्त चित्र मे दिखाया गया है।

चित्र—११
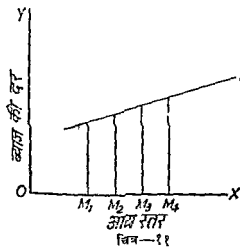
ब्याज की दर का निर्धारण

(Determination of Interest)

दोनों प्रतिष्ठित सिद्धान्त तथा किनिजियन सिद्धान्त में गलती से यह लिया गया था कि क्रमश: IS तथा LM वक्र स्वतन्त्र रूप से ब्याज की दर का निर्धारण करते हैं। वास्तव मे ब्याज की दर का निर्धारण करने के लिए इन दोनों वक्रों का होना आवश्यक है, तथा यह आसानी प्रतिक्रिया द्वारा ही ब्याज की दर का निर्धारण करते है, यानी ब्याज की दर वही निश्चित होगी जहां यह एक दूसरे को काटते हैं। जैसा कि निम्न चित्र मे दर्शाया गया है :—

चित्र—१२
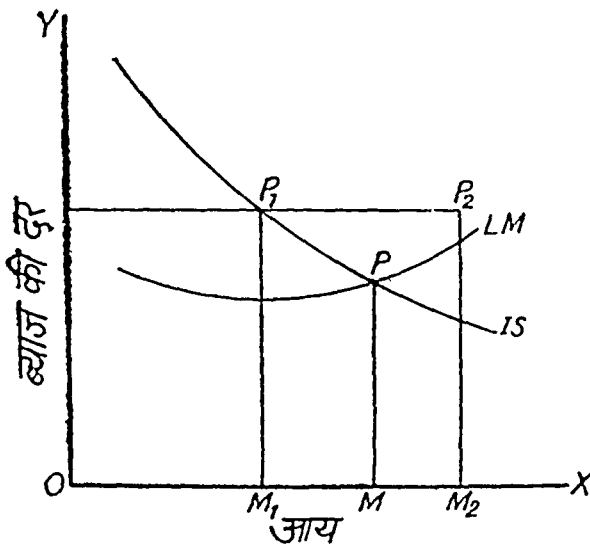
चित्र में जिस समय ब्याज की दर PM है उस समय एक ओर तो बचत तथा विनियोग बराबर है और दूसरी ओर नकद के लिए माँग तथा पूर्ति बराबर है। यह ब्याज की दर OM आय के लिए है। यहां यह बात बताई जा सकती है कि साम्य की अवस्था में और कोई ब्याज की दर नहीं हो सकती है। यदि ब्याज की दर P_1 M_1 होगी तो बचत तथा विनियोग OM_1 आय पर बराबर होंगे जब कि नकद के लिए माँग तथा पूर्ति OM आय पर बराबर होंगे किन्तु एक ही समय पर दो आय स्तर नहीं हो सकते इसलिए ब्याज की दर वहीं निश्चित होगी जहां पर कि LM तथा IS वक्र एक दूसरे को काटेंगे।

—:o:—

२५

लाभ

(PROFIT)

Q. "Profits are dynamic in origin and institutional in their appropriation." Comment. (I. A. S. 1952)

प्रश्न—'लाभ मूल में प्रवैगिक और उनके विभाजन में संस्थागत है'—आलोचना कीजिए। (आई० ए० एस० १९५२)

Q. Write a critical estimate of J. B Clarks theory of profit. (Nagpur M A. 1960)

प्रश्न—जे० बी० क्लार्क के लाभ का सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। (नागपुर १९६० एम० ए०)

Q. What is Knight's theory of profit? Can you make it up to date? (I. A S. 1953, 1958)

प्रश्न—नाईट का लाभ का सिद्धान्त क्या है? क्या आप उसे अधुनातन बना सकते हैं। (आई० ए० एस० १९५३, १९५८)

Q. Explain the different theories of profit. How far these theories explain the idea of profit?

प्रश्न—लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों को समझाइये। ये लाभ के विचार को कहां तक स्पष्ट करते हैं?

उत्तर—उत्पत्ति का चौथा ...
बड़ा महत्वपूर्ण है। प्रत्येक उत्पत्ति ...
कुछ जोखिम अवश्य रहती है
स्थितता को उठाना होता
मत्र खतरों ...

... है। उत्पादन में साहसी का कार्य भी
... है वह छोटा हो बड़ा हो, कुछ न
... की जोखिम अथवा अनि-
. कार्य यही होता है कि वह उन
... व्यवसाय का एक अनिवार्य
होता है। कोई भी मनुष्य
प्रलोभन के जोखिम नही
सकता। उत्पत्ति के साधन
मिलता है उसी को हम
है। प्रो० मेहता के अनुसार
कार्यों में चौथे प्रकार क...

उत्पन्न हो जाता है। यह जोखिम उठाना अथवा अनिश्चितता सहन करना है इसका पुरस्कार लाभ होता है।[1]

प्रतिदिन की बोलचाल में लाभ शब्द बड़े विस्तृत तथा अनिश्चित अर्थ में प्रयोग होता है। जन साधारण का लाभ से अभिप्राय कुल उत्पत्ति के मूल्य तथा उसके कुल उत्पादन के व्यय के अन्तर से होता है। जितनी रकम कुल उपज को बेचकर प्राप्त होती है तथा उत्पत्ति करने में जितनी कुल लागत होती है। इन दोनों के अन्तर को ही लाभ का नाम दिया जाता है, परन्तु जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, आर्थिक भाषा में इस प्रकार के लाभ को सकल लाभ कहा जाता है जबकि शुद्ध या आर्थिक लाभ इसका केवल एक भाग ही होता है, यह भाग जो साहसी को जोखिम उठाने के बदले में मिलता है।

लगान, मजदूरी और ब्याज की अपेक्षा लाभ का अध्ययन अधिक कठिन है। यह कठिनाई दो कारणों से उत्पन्न होती है : प्रथम तो, साहस तथा अन्य साधनों में एक मौलिक भेद है। प्रत्येक साधन का स्वामी एक विक्रेता की हैसियत रखता है, जबकि साहसी इन सबका खरीददार होता है। तब फिर साहसी की सेवाओं को कौन खरीदता है ? इस प्रश्न का उत्तर शायद यह हो सकता है कि सभी साधनों की सेवाएं अन्त में समाज द्वारा खरीदी जाती है। अन्तर केवल इतना है कि अन्य सभी साधनों की सेवाओं का मूल्य साहसी द्वारा नियत होता है जबकि साहसी की सेवाओं का मूल्य विभिन्न साहसियों की आपसी प्रतियोगिता द्वारा ही नियत होता है। दूसरी कठिनाई यह है कि साहसी को जो कुल पारितोषिक प्राप्त होता है, उस सबको हम साहस की सेवाओं का मूल्य नहीं कह सकते हैं। उसमें तो साहस के मूल्य के अतिरिक्त साहसी के श्रम का मूल्य भी सम्मिलित रहता है।

सकल लाभ तथा शुद्ध लाभ
(Gross Profit and Net-Profit)

समस्त उत्पत्ति के कुल मूल्य में से कुछ उत्पादन व्यय को निकाल देने पर जो कुछ शेष रहता है, उसको हम सकल लाभ कहते हैं। साधारण बोलचाल में लोग लाभ शब्द को इसी अर्थ में उपयोग करते हैं। ऐसा लाभ साहसी की कुल कमाई को सूचित करता है जो साहसी को इसकी समस्त सेवाओं के लिए प्राप्त होती है। यह केवल जोखिम उठाने का ही बदला नहीं है। शुद्ध लाभ साहस की केवल जोखिम उठाने सम्बन्धी सेवाओं का ही मूल्य होता है। सकल लाभ में निम्न प्रकार के पारितोषिक सम्मिलित होते हैं :—

(१) शुद्ध लाभ—जो जोखिम उठाने का बदला होता है।

(२) साहसी को अपनी निजी भूमि का लगान — प्रायः साहसी अपनी निजी

---

1. "This element of uncertainity introduces a fourth category of sacrifice in the productive acti[illegible]es of men in a dynamic world. This category is risk taking or uncerta[illegible]. It is remunerated by profits,"

— K. Metha : Advanced Economic Theory.

भूमि को भी उत्पादन में लगा देता है। अब क्योंकि वह स्वयं ही उस भूमि का स्वामी होता है इसलिये ऐसी भूमि का लगान अलग से नहीं लेता है।

(३) व्यवसाय में लगाई हुई साहसी की अपनी पूंजी का ब्याज—जब साहसी अपनी निजी पूंजी को अपने व्यवसाय में लगाता है तो वह इसका ब्याज भी अलग से नहीं लेता है, यद्यपि इस पूंजी को उधार देने की दशा में उसे ब्याज अवश्य मिलता है।

(४) साहसी को प्रबन्धक अथवा निरीक्षण के रूप में मजदूरी—साहसी व्यवसाय का प्रबन्ध तथा उसकी देखभाल का भी काम करता है और इस कार्य के लिए उसे वेतन मिलना आवश्यक है।

(५) साहसी की योग्यता का लगान (Rent of Ability)—कोई कोई साहसी विशेष योग्यता रखता है और भूमिपतियों, श्रमिकों, पूंजीपतियों, कच्चे माल के उत्पादकों तथा यातायात कम्पनियों से लाभजनक सौदे करके विशेष बचत कर लेता है।

(६) एकाधिकारी लाभ—साहसी बाजार की अपूर्णता से लाभ उठाकर विशेष कमाई कर सकता है।

(७) आकस्मिक लाभ—ये लाभ विशेष परिस्थितियों, अवसर तथा भाग्य पर निर्भर होते है। उदाहरण स्वरूप अकस्मात ही लड़ाई के प्रारम्भ होने तथा बाढ़ आ जाने के कारण बिना आशा ही लाभ प्राप्त हो सकता है, जो केवल संयोग से ही उत्पन्न हो जाता है।

लाभ के विचार में एक बड़ी कठिनाई यह है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने लाभ में विभिन्न वस्तुओं को सम्मिलित किया है। मार्शल तथा अन्य अंग्रेज आर्थिक लेखक लाभ में जोखिम उठाने के पारितोषिक के अतिरिक्त व्यवसायी की अपनी पूंजी के ब्याज और प्रबन्धक के पारितोषिक को भी सम्मिलित करते हैं, परन्तु वाकर (Walker) तथा अन्य बहुत से विद्वान साहसी की शुद्ध कमाई को ही लाभ कहते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र में भी यही मत अपनाया गया है कि लाभ केवल साहसी के जोखिम उठाने का ही बदला है। "शुद्ध लाभ केवल जोखिम उठाने का ही पारितोषक है। साहसी का आवश्यक कार्य (जोखिम उठाना) ऐसा है जो केवल वही कर सकता है।"[1] उसे उत्पन्न होने वाली वस्तु की भावी मांग का अनुमान लगाना पड़ता है। जो सरल काम नहीं है।

सामान्य लाभ और अतिरिक्त लाभ (Normal profit and Surplus profit)—इन दोनों प्रकार के लाभों के बीच अलग-अलग अर्थशास्त्रियों ने अलग-

1. "Pure profits are only the remuneration for risk taking. The essential function of the enterpreneur (risk taking) is such that he alone can perform it." —Thomas : Elements of Economics.

व्यवसाय कर सकता है । दीर्घकाल में लाभों का होना आवश्यक है । अन्यथा व्यवसाय बन्द कर दिया जायगा । सामान्य लाभ वह है जिसकी आशा पर व्यवसायी अपने व्यवसाय मे बना रहता है । यह दीर्घकालीन लाभ होता है । ऐसा लाभ सीमान्त व्यवसायी (Marginal Producer) को भी प्राप्त होता है । मार्शल का विचार है कि किसी वस्तु का दीर्घकालीन मूल्य बाजार मे प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित होता है, और इस उत्पादन व्यय मे सामान्य लाभ भी शामिल होता है । श्रीमती जोन राबिन्सन (Mrs Joan Robinson) के अनुसार सामान्य लाभ उस लाभ को कहते है, जिसके प्राप्त होने पर कोई नई फर्म व्यवसाय मे आकर्षित नही होती है और पुरानी फर्म व्यवसाय को बन्द नही करती है । यदि वास्तविक लाभ इससे अधिक है तो नई फर्म व्यवसाय मे आयेगी और यदि इससे कम है तो पुरानी फर्मे व्यवसाय मे से जाने लगेंगी ।

इसके विपरीत अतिरिक्त लाभ लगान की भांति 'एक प्रकार का आधिक्य है, जो सीमान्त साहसी के उत्पादन व्यय से ऊपर होता है । कीमत तो सीमान्त उत्पादक के उत्पादन व्यय द्वारा निश्चित होती है । अतिरिक्त लाभ कीमत को प्रभावित नही कर सकता है । व्यवसाय की ओर नई फर्मों को आकर्षित करने के लिए यह आवश्यक है कि सामान्य लाभ के साथ-साथ अतिरिक्त लाभ भी हो ।

लाभ के सिद्धान्त (The Theories of Profits)—

लगान, मजदूरी अथवा ब्याज की अपेक्षा लाभ का विषय अधिक विवादग्रस्त है । अभी तक भी अर्थशास्त्री लाभ के सिद्धान्त के विषय मे एक मत नही हैं । कोई लाभ को एक विशेष प्रकार का लगान बताता है और कोई मजदूरी । जोखिम उठाने के महत्व को तो आधुनिक युग मे सभी स्वीकार करते हैं । परन्तु जोखिम और लाभ के सम्बन्ध को बहुधा ठीक-ठीक नही समझा जाता है । फिर भी, जैसा कि हम अन्त मे देखेंगे, लाभ निर्धारण का सबसे अच्छा सिद्धान्त, मूल्य का सामान्य सिद्धान्त अर्थात् माग और पूर्ति का सिद्धान्त ही है । लाभ के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) लाभ का लगान सिद्धान्त
(The Rent Theory of Profits)

लाभ का सिद्धान्त सर्वप्रथम वाकर (F. L. Walker) नामी अमेरिकन अर्थशास्त्री ने विकसित किया था । उन्होंने सबसे पहले पूंजीपति (Capitalist) तथा साहसी (Entrepreneur) के बीच भेद किया । वाकर का मत है कि पूंजीपति का कार्य पूंजी की पूर्ति करना है । साहसी के लिये पूंजीपति होना आवश्यक नही है । वह अपनी कुछ भी पूंजी लगाये बिना व्यवसाय को प्रारम्भ कर सकता है ।

वाकर के विचार मे लाभ योग्यता का लगान है । जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की भूमि का उपजाऊपन अलग-अलग होता है, उसी प्रकार विभिन्न साहसियों की व्यवसायिक योग्यता मे भी बहुत अन्तर होता है । बहुत से साहसी काफी अकुशल

होते हैं। वे व्यवसाय में केवल इसीलिये बने रहते हैं कि उनके उत्पादन की मांग होती है, अन्यथा वे कुछ भी लाभ नहीं कमाते, केवल उत्पादन व्यय को ही प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु कुछ साहसी इनसे कुशल होते हैं और कुछ और भी कुशल। जिस प्रकार भूमि के कुछ टुकड़ों को अधिक उपजाऊपन अथवा अच्छी स्थिति के कारण दूसरे टुकड़ों पर कुछ विशेष लाभ (Differential advantages) प्राप्त होते हैं, अधिक योग्यता के कारण कुछ साहसियों को भी दूसरों की अपेक्षा विशेष लाभ प्राप्त होते हैं। लगान की भांति लाभ भी वह पारितोषिक है जो अच्छे साहसियों को बुरे साहसियों के पारितोषिक से ऊपर उनकी विशेष योग्यता के कारण मिलता है।[1] जिस प्रकार लगान रहित भूमि होती है, ठीक उसी प्रकार लाभ रहित साहसी (no profit enterpreneur) भी होते हैं। जो सीमान्त साहसी होते हैं और दामों के थोड़ा सा कम होते ही व्यवसाय को छोड़ देते हैं। इस प्रकार लाभ को हम योग्यता का लगान कह सकते हैं। वाकर के अनुसार लगान की भांति लाभ भी उत्पादन व्यय में सम्मिलित नहीं होता है। स्मरण रहे कि लाभ रहित साहसी को भी कुछ न कुछ आय होती है, जो उसको उसकी प्रवन्ध के रूप में प्रस्तुत की हुई सेवाओं के फलस्वरूप मिलती है, परन्तु यह प्रवन्ध की मजदूरी होती है, लाभ नहीं। ऐसी मजदूरी को उत्पादन व्यय में सम्मिलित किया जाता है।

लाभ के मुख्य सिद्धान्त

१. लाभ का लगान सिद्धान्त (वाकर)
२. लाभ का मजदूरी सिद्धान्त (टाजिग)
३. लाभ का जोखिम सहन सिद्धान्त (हावले)
४. अनिश्चितता सहन सिद्धान्त (नाइट)
५. लाभ का प्रवैगिक सिद्धान्त (क्लार्क)
६. सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (विकस्टीड)
७. लाभ का समाजवादी सिद्धान्त (मार्क्स)
८. लाभ का मांग-पूर्ति सिद्धान्त (आधुनिक)

आलोचनायें—

लाभ का यह सिद्धान्त सही नहीं है। जैसा कि स्पष्ट है, यह रिकार्डो के लगान सिद्धान्त पर आधारित नहीं है जो स्वयं ठीक नहीं है। साथ ही जिस प्रकार

1. "Profit is the Rent of ability. Just as there is no rent land whose [prod]uce just covers the price so there is no-profit firm or entrepreneur whose [...] just covers the cost of production; and just as rent of a piece of land [is a] surplus above the no-rent land and does not enter into price, so profit of a [fir]m is a surplus above the no profit firm." —Francis L. Walker.

की कमाई को वाकर ने लाभ कहा है, उसको हम मार्शल के शब्दों में योग्यता का लगान कह सकते हैं, जो एक प्रकार का लगान ही होता है और केवल साहसी को ही नहीं वरन् विशेष योग्यता रखने वाले उत्पत्ति के किसी भी साधन को प्राप्त हो सकता है।

दूसरे, लाभ का यह सिद्धान्त कुछ मौलिक प्रश्नो पर प्रकाश नहीं डालता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाकर ने लाभ की प्रवृत्ति को नही समझा है। लाभ को जोखिम उठाने का पारितोषिक कहा जाता है, जबकि साहसी की विशेष योग्यता जोखिम उठाने से सम्बन्धित नहीं होती, वरन् जोखिम को दूर करने से सम्बन्धित होती है। इस प्रकार लाभ को जोखिम उठाने की योग्यता के विपरीत जोखिम उठाने की योग्यता का पुरस्कार माना गया है, जो ठीक नहीं है। तीसरे, व्यवसाय मे कुछ लोगों को लाभ होते हैं तो कुछ को हानियाँ भी होती हैं, जो विभिन्न कारणों से उपस्थित होती हैं। यदि हम कुल लाभ मे से कुल हानि की मात्रा को निकाल दें तो शायद कुछ भी शेष नहीं रहेगा, परन्तु वाकर ऐसा नही समझते हैं। चौथे, जैसा कि हम देखते हैं, सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियो के साधारण हिस्सेदार बिना किसी विशेष योग्यता के ही लाभ कमाते है, जो इस सिद्धान्त के अनुसार नहीं होना चाहिये। पांचवें, इस सिद्धान्त द्वारा लाभ के आकार की भी विवेचना नहीं होती है। वाकर के अनुसार अच्छे साहसियों की संख्या का सीमित होना ही लाभ का कारण है, परन्तु यह सीमितता क्यों और किस प्रकार उत्पन्न होती है, इसका इस सिद्धान्त मे विचार नहीं किया गया है। अन्त में, यह भी कह सकते हैं कि यह कहना भूल है कि लाभ उत्पादन व्यय मे सम्मिलित नहीं होता है, क्योंकि दीर्घकाल मे यह असम्भव है और फिर सामान्य लाभ (Normal Profit) तो उत्पत्ति व्यय का एक आवश्यक अंग ही है, अतः वाकर का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

(२) लाभ का मजदूरी सिद्धान्त
(The Wage Theory of Profit)

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि लाभ को मजदूरी के रूप मे समझना ही सबसे अधिक उपयुक्त है। टॉजिग के अनुसार लाभ एक विशेष प्रकार की मजदूरी है। व्यवसायी की आय बहुत अनियमित और अनिश्चित होती है क्योंकि वह उत्पादन की कुल लागत देने के पश्चात बचती है। परन्तु यह आय संयोगवश प्राप्त नहीं होती है। इसका कारण कुछ विशेष प्रकार के गुणों जैसे—कुशलता, संगठन की योग्यता, दूरदर्शिता इत्यादि का उपयोग होता है और इन गुणों का उपयोग एक प्रकार का श्रम है, जिसे हम अधिक से अधिक मानसिक श्रम कह सकते है। टॉजिग के अनुसार लाभ इसी विशेष प्रकार के मानसिक श्रम की मजदूरी है। यह श्रम लगभग उसी प्रकार का होता है जैसा कि एक वकील, डाक्टर या अध्यापक का श्रम।[1]

1. "Profits are not due to more chance, they are the out come of special ability, a sort of mental labour not much different from the labour of lawyers and Judges." —Taussig.

इस सिद्धान्त में अच्छाई यह है कि यह लाभ की प्रकृति को समझाता है और लाभ को उचित सिद्ध करता है परन्तु टॉसिग ने लाभ और मजदूरी के साधारण भेद को भुला दिया है। अनेक कारणों से मजदूरी अनियमित, अनिश्चित तथा शून्य से कम नहीं हो सकती है, जबकि लाभ में ये तीनों गुण मिलते है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं:—

(१) उत्पादक अथवा साहसी का प्रमुख कार्य जोखिम या अनिश्चितता उठाना है और लाभ इसी का परिणाम है। एक श्रमिक, चाहे वह मानसिक काम करे या शारीरिक, जोखिम उठाने के लिये मजदूरी नहीं पाता है। इसमें तो संदेह नहीं है कि श्रमिक को भी अपना रोजगार खो देने का भय रहता है और आय के कम हो जाने का भय भी, परन्तु श्रमिक का पारितोषिक इस भय का फल नहीं होता, वरन् उसकी मेहनत का फल होता है।

(२) मजदूरी की अपेक्षा लाभ में संयोग या अच्छे भाग्य से प्राप्त होने वाला अंश अधिक प्रधान होता है। वास्तविक अर्थ में मजदूरी को कमाई हुई आय कहा जा सकता है, परन्तु लाभ सदा ऐसा नहीं होता है।

(३) अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में लाभ के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि एकाधिकारी लाभ भी उसमें सम्मिलित हो जाते हैं, परन्तु यदि श्रम बाजार में स्पर्धा का अभाव है तो मजदूरी कम हो जाती है। सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियों की आय की विवेचना से तो लाभ और मजदूरी का भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। ऐसी कम्पनियों में प्रबन्ध की आय, जो मजदूरी होती है और साधारण हिस्सेदारों के पारितोषण भिन्न-भिन्न होते हैं और साधारण हिस्सेदार व्यवसाय की जोखिम उठाने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी काम नहीं करते।

(३) लाभ का जोखिम सहन सिद्धान्त
(The Risk bearing Theory of Profit)

साधारणतया अधिकांश लोग खतरों को उठाना पसन्द नहीं करते हैं। जोखिम उठाना अरुचिकर होता है, इसलिए साहसी व्यवसाय को आरम्भ करने में हिचकिचाता है। प्रत्येक व्यवसाय में एक प्रकार का सट्टा या जुआ होता है और जब तक साहसी को लाभ की आशा नहीं होती, वह व्यवसाय शुरू नहीं करता है। लाभ का प्रलोभन व्यवसाय आरम्भ करने के लिये अति आवश्यक है। जितनी अधिक जोखिम होती है, उतना ही अधिक लाभ का प्रलोभन भी होना चाहिये। जो लोग जोखिम उठाते हैं, वे साधारणतया पूंजी के व्यय के अतिरिक्त और भी पारितोषण की आशा करते हैं। इस प्रकार लाभ को जोखिम उठाने की अरुचि का पुरस्कार समझना चाहिये। लाभ का यह सिद्धान्त हॉले (Hawley) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उनका यह भी कहना है कि लाभ की मात्रा इतनी होनी चाहिये कि व्यवसाय

प्रारम्भ करने की आवश्यकता के अनुसार पूरे अंश तक जोखिम उठाने की अरुचि का समाधान हो सके।

आलोचनाएं:—

इस बात से तो लगभग कोई भी इन्कार नहीं कर सकता है कि लाभ जोखिम उठाने के कारण प्राप्त होता है, यद्यपि इस सम्बन्ध में कारवर (Carver) का यह मत है कि लाभ खतरा उठाने से उत्पन्न नहीं होता, वरन् सुयोग्य व्यवसायी खतरा कम करके लाभ उठाते हैं,[1] सारहीन नहीं हैं, परन्तु यह समझना भूल होगी कि लाभ खतरे के अनुपात में होता है। यथार्थ में लाभ और खतरे के अश के बीच कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं है। हम इतना फिर भी कह सकते हैं कि शुद्ध लाभ एक प्रकार से ऐसे खतरों के उठाने से सम्बन्धित है, जो व्यवसायी उत्पत्ति के साधनों के नये संयोग (Combination) बनाने तथा भावी मांग के अनुमान लगाने में सहन करना है। दूसरे, इस सम्बन्ध में नाइट (F. H. Knight) की यह विवेचना कि खतरे, दो प्रकार के होते हैं और केवल एक प्रकार के खतरे अर्थात् अनिश्चित खतरे उठाने से ही लाभ मिलता है, वह महत्वपूर्ण है।

(४) अनिश्चितता सहन सिद्धान्त
(The Theory of Uncertainty Bearing)

प्रोफेसर नाइट के अनुसार अनिश्चितता सहन (Uncertainty bearing) और जोखिम उठाने (Risk taking) में भेद किया जा सकता है। उत्पत्ति तथा व्यवसाय में सम्बन्ध रखने वाले खतरे दो प्रकार के होते है। कुछ खतरे तो ऐसे होते हैं कि वे निश्चित अथवा जाने हुए होते हैं। उनका पहले से ही अनुमान लगाया जा सकता है और उनके लिये प्रारम्भ में ही व्यवस्था की जा सकती है। ऐसे खतरो की संख्या तथा गहराई नापी जा सकती है। उदाहरण के लिये, किसी समाज मे दुर्घटनाओं के द्वारा मृत्यु प्रर्थ का अंक विज्ञान की सहायता से पता लगाया जा सकता है और उसी के हिसाब से उसके लिये किश्त की दर (Premium) बाधी जा सकती है। एक किसान जब वर्षा ऋतु में बाग मे छोटे छोटे पौधे लगाता है तो इस बात को भली भांति जानता है कि सर्दी के मौसम में कोहरा और ओला पड़ेगा और वह पहले से जाड़े में इन पौधों की सुरक्षा का प्रबन्ध कर लेता है। इस प्रकार के तमाम खतरे ज्ञात होती है। प्रत्येक उत्पादक इस व्यवस्था को अपने उत्पादन व्यय का एक आवश्यक अंग समझता है, इसलिये इस प्रकार के खर्च उत्पादन व्यय में सम्मिलित होते हैं।

परन्तु अनिश्चितता इससे भिन्न है। नाइट के अनुसार अनिश्चितता 'अनियमित आय की आशा है।" ये ऐसे खतरे होते हैं, जिनकी व्यापकता नापी नहीं जा सकती है और उनके लिये किश्त की दर पहले से नियत नहीं की जा सकती है। बाग लगाते समय किसान ने यह तो सोच लिया है कि जाड़ों मे पाला पड़ेगा, परन्तु यह

1. Carver: Distribution of Wealth, p. 274.

भी सम्भव है कि अक्तूबर में बाढ़ आ जाने के कारण बाग नष्ट हो जायें। इस खतरे को अज्ञात् खतरा ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार की अनिश्चितता को उठाने के लिये लाभ मिलता है। इन अज्ञात खतरों को नाइट ने अनिश्चितता का नाम दिया है, जब कि ज्ञात खतरे को खतरा या जोखिम कहा जा सकता है।[1]

नाइट का विचार है कि अनिश्चितता उठाना भी एक उत्पत्ति का साधन है और साथ ही इसकी अन्य साधनों की भांति मांग की कीमत (Demand Price) भी होती है। मांग का कारण यह है कि अनिश्चितता उठाना एक उत्पादक कार्य है। इसी प्रकार अनिश्चितता सहन का पूर्ति मूल्य भी होता है। जब एक निश्चित लाभ की आशा नहीं होगी, कोई भी अनिश्चितता सहन करने को तैयार नहीं होगा। यह पूर्ति-मूल्य कई बातों पर निर्भर होता है, जैसे कि साहसी का चरित्र और मनोवृति। कुछ लोग स्वभाव से ही सुरक्षा के पक्षपाती होते हैं और इसके विपरीत कुछ लोग जुआरी प्रकृति के होते हैं और थोड़ी सी ही आशा पर खिचे चले आते हैं। दूसरे, पूंजी लगाने वालों के कुल साधनों की मात्रा भी महत्वपूर्ण होती है। साधारणतया एक धनी व्यक्ति जिसने व्यवसाय को चलाने का पक्का इरादा कर लिया है, अधिक अनिश्चितता उठा सकता है। तीसरे, अनिश्चितता की पूर्ति का मूल्य इस बात पर निर्भर होता है कि साहसी अपने कुल साधनों का कौनसा भाग खतरे में डालने को तैयार हो जाता है। यदि पूंजी के बड़े भाग के लगाने का प्रश्न उटता है तो अधिस लाभ की आशा की जायगी। यदि कुल पूंजी का छोटा सा भाग ही लगाना है तो थोड़े लाभ पर ही साहसी राजी हो जायगा। साम्य में लाभ इतना होना चाहिये कि अनिश्चितता-सहन की पूर्ति उसकी मांग के बराबर हो जाये।

इस सम्बन्ध में याद रखना चाहिये कि अनिश्चितता सहन और पूंजी दोनों मिलकर ही पारितोषण पाते हैं। बिना अनिश्चितता उठाये कोई भी साहसी केवल पूँजी के द्वारा लाभ नहीं कमा सकता है। इसी प्रकार पूंजी के बिना अनिश्चितता उठाने का भी कोई अर्थ नहीं होता है। खतरा पूंजी के सम्बन्ध में पूंजी के ऊपर ही उठाया जाता है।

आलोचनाएं—

नाइट के इस सिद्धान्त की कई कारणों से आलोचना की जा सकती है—प्रथम तो, अनिश्चितता उठाने को उत्पति का एक अलग साधन नही माना जा सकता है। यदि कुछ श्रमिक गन्दी परिस्थितियों में काम करके अधिक मजदूरी पाते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि गन्दी परिस्थितियां ही ऊंची मजदूरी का कारण हैं। ठीक इसी प्रकार यदि एक उत्पादक अनिश्चित परिस्थितियों में काम करके लाभ कमाता है तो लाभ को अनिश्चितता से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है। अनिश्चितता तो उत्पादक के कार्य की विशेषता मात्र है, जिसका प्रभाव यह होता कि पूंजी का मूल्य बढ़ जाता है। अनिश्चितता को उत्पत्ति का साधन तभी कहा सकता है, जबकि हम वास्तविक व्यय (Real Cost of Production) के सिद्धान्त

1. F. H. Knight : Risk Uncertarity and Profit.

को अपनायें, जिसके अन्तर्गत हर प्रकार की लागत कष्ट अथवा अनुपयोगिता में नापी जाती है, परन्तु अपनी आर्थिक विवेचना में हम कष्ट के स्थान पर द्रव्य में ही प्रत्येक द्रव्य को नापते हैं। दूसरे, केवल अनिश्चितता द्वारा ही साहसी वर्ग की पूर्ति सम्भावित नहीं होती है। सामाजिक वातावरण, राज्य के नियम, कोष की कमी, ज्ञान का अभाव, अवसरहीनता आदि अनेक कारण हैं जो साहसी वर्ग की पूर्ति को सीमित कर देते हैं। तीसरे, केवल अनिश्चितता को सहन करना साहसी का का कार्य नहीं है। उसे और भी बहुत से काम करने होते हैं, जैसे—सौदा करना, साधनों के कार्य को सम्बद्ध करना इत्यादि। लाभ इन सब कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होता है। चौथे, नाइट के सिद्धान्त के अनुसार लाभ एक प्रकार की आकस्मिक कमाई (Windfall gain) है जो बहुत अनिश्चित तथा पूर्णतया अज्ञात है। यह बहुत कोरी कल्पना हो सकता है और शून्य से नीचे अर्थात् हानि में हो सकता है।

(५) लाभ का प्रवैगिक या गतिशीलता का सिद्धान्त

(The Dynamic Theory of Profits)

प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री क्लार्क (J. B. Clark) का मत है कि लाभ का सम्बन्ध केवल प्रवैगिक स्थिति (Dynamic State) से ही है। गतिहीन अवस्था में जनसंख्या, पूंजी की मात्रा, मानव आवश्यकताएं और उनके गुण, उत्पादन प्रणालियां, व्यवसायिक संगठन, व्यापारिक प्रथायें इत्यादि यथास्थिर रहते हैं और इसलिये प्रतियोगिता के कारण अन्त में लाभ का अन्त हो जाता है। क्लार्क के अनुसार लाभ बिक्री के मूल्य और व्यय के अन्तर के बराबर होता है। यह यथार्थ में व्यय पर आश्रित होता है, परन्तु जब कष्टदेही प्रतियोगिता बिना किसी प्रतिबन्ध के होती रहती है तो प्रत्येक विक्रेता दाम घटा कर और अधिक बिक्री करके लाभ कमाने का प्रयत्न करता है। अब क्योंकि इस अवस्था में ग्राहकों को कीमतों के परिवर्तनों का पूर्ण ज्ञान होता है, इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता की दशा उत्पन्न हो जाती है और लाभ का अन्त हो जाता है। साथ ही गतिहीन दशा में न कोई खतरा होता है और न कोई अनिश्चितता, इसलिये लाभ का प्रश्न ही नहीं उठता।

परन्तु हम गतिहीन अवस्था में नहीं हैं। हमारा संसार प्रवैगिक है। दिन प्रतिदिन ही संसार में परिवर्तन होते रहते हैं। इस गतिशील संसार में साहसी का कार्य प्रबन्ध अथवा जोखिम उठाने से सम्बन्धित नहीं होता है। उसका कार्य पथ-प्रदर्शक (Pioneer) का होता है तथा वह नई-नई उत्पादन रीतियों को ग्रहण करके आर्थिक औद्योगिक संगठन के रूप में बदलता रहता है। एक चतुर और अनुभवी साहसी नये आविष्कारों को अपनाकर अथवा बिक्री या विज्ञापन की नई रीतियों के द्वारा तो अपनी लागत कम करता है या बिक्री को बढ़ाता है और इस प्रकार लाभ कमाता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कुछ समय पश्चात् दूसरे उत्पादक भी इन नई रीतियों को अपना लेते हैं और प्रतियोगी बन जाते हैं, जिसके फलस्वरूप लाभ फिर लुप्त होने लगता है, परन्तु इस परिवर्तनशील संसार में एक चतुर साहसी के लिये सुधार करने के असीमित अवसर रहते हैं। उत्पादन और बिक्री विधि में

विभिन्न उद्योगों की तुलनात्मक स्थिति का पता लगाने के लिये लाभ की दर अवश्य निकाली जाती है।

(८) लाभ की माँग और पूर्ति का सिद्धान्त
(The Demand and Supply Theory of Profits)

लाभ निर्धारण का यह सिद्धान्त सबसे नया तथा सबसे सही है। अन्य वस्तुओं का मूल्य जिस सिद्धान्त द्वारा नियत होता है वही साहस का मूल्य-निर्धारण भी करता है उत्पत्ति के साधनों तथा साधारण वस्तुओं में भेद न करने की प्रवृति आधुनिक अर्थशास्त्र का एक सर्वमान्य नियम है। अतः मूल्य का सामान्य सिद्धान्त अर्थात माँग और पूर्ति का सिद्धान्त, साहस के मूल्य अथवा लाभ निर्धारण के लिये भी उपयोग किया जाता है।

अन्य वस्तुओं की भाँति साहस की भी माँग होती है। जो उत्पत्ति के आकार (Size) तथा साहस की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। इसी प्रकार साहस की पूर्ति भी होती है, जो जनसंख्या के चरित्र, उसकी मनोवृत्ति, व्यवसाय की अनिश्चितता, आदि अनेक कारणों पर निर्भर होती है। जिस स्थान पर साहस की माँग और पूर्ति बराबर होते हैं, साम्य में चाहे वह स्थायी हो, या प्रवैगिक, वहीं पर लाभ की दर नियत होगी।

इस सिद्धांत को भली-भाँति समझने के लिए साहस की माँग और पूर्ति को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक होगा। साहस की माँग मुख्यतया साहस की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। जितना ही साहस अधिक होगा उतनी ही उसकी माँग भी अधिक होगी। इसके अतिरिक्त एक देश में साहस की माँग निम्न बातों पर और भी निर्भर होती है:—(१) देश में औद्योगिक विकास की स्थिति, (२) देश में उत्पत्ति के पैमाने का विस्तार और (३) देश में उद्योगों की प्रकृति। औद्योगिक विकास जितना आगे बढ़ता है और उत्पत्ति के पैमाने का जितना ही विस्तार होता है उतना ही साहस की माँग अधिक होगी। इसी प्रकार कुछ उद्योगों में दूसरों की तुलना में जोखिम का अंश अधिक रहता है।

साहस की पूर्ति भी अनेक बातों पर निर्भर होती है। प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं। (१) देश में औद्योगिक विकास की स्थिति। जितना ही किसी देश के निवासियों को औद्योगिक क्षेत्र में लम्बा अनुभव होगा उतनी ही साहस की पूर्ति भी अधिक होगी। (२) जन संख्या का आकार। यदि किसी देश में जनसंख्या बड़ी है तो साहस की पूर्ति अधिक होगी। एक धनी देश के साहस की पूर्ति अधिक होती है। धनवान व्यक्ति में जोखिम उठाने की क्षमता अधिक होती है। (४) देश के आय के वितरण की दशा। जिस देश में कुछ व्यक्ति बहुत अमीर होते हैं और अधिकांश व्यक्ति गरीब होते है अर्थात् जिस देश में आय के वितरण की असमानताएं अधिक होती हैं वहाँ साहस की पूर्ति अधिक होती है। (५) जनसंख्या का चरित्र भी साहस की पूर्ति को निश्चित करता है। कुछ देशों के लोग स्वभाव से ही अधिक साहसी

होते हैं (६) व्यवसाय में जोखिम का अंश। साधारणतया जिन व्यवसायों में जोखिम का अंश कम होता है वहाँ साहस की पूर्ति अधिक होती है।

साहस की माँग और पूर्ति की विवेचना के पश्चात् लाभ के निर्धारण की समस्या सरल होती है। साम्य की दशा में लाभ की दर उस बिन्दु पर निश्चित होती है जहाँ साहस की माँग और पूर्ति बराबर होते हैं, जैसा कि अगले पृष्ठ के रेखा चित्र से स्पष्ट होता है :—

इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि साहस को एक साधारण वस्तु या सेवा की भाँति समझा गया है, जिसकी कीमत (लाभ) ठीक इसी प्रकार निर्धारित होती है जैसे किसी दूसरी वस्तु अथवा सेवा की कीमत. किन्तु इस संबंध में यह जानना आवश्यक है कि साहस और साधारण सेवा में अन्तर होता है। साहस किसी शारीरिक या मानसिक कार्य को सूचित नहीं करता है, यह तो खतरे या अनिश्चितता को सहन करने की क्षमता को दिखलाता है।
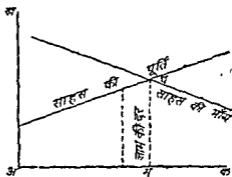
चित्र

क्या लाभ की सामान्य दर होती है।

इस सम्बन्ध में यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि ब्याज और मजदूरी की भाँति लाभ की कोई सामान्य दर नहीं हो सकती है। दूसरे शब्दों में, लाभ की दर समान होने की सम्भावना नहीं होती है। यह सम्भव है कि कुछ दशाओं में कुछ प्रकार के लाभ सभी जगह तथा सभी उद्योगों में समान हो जायें। परन्तु सामान्य रूप से ऐसा नहीं हो सकता। साम्य की दशा में प्रतियोगिता के अन्तर्गत सामान्य लाभ तथा प्रबन्ध की आय के रूप में प्राप्त होने वाले लाभ की दरें समान हो जायेंगी, जबकि शुद्ध लाभ पूर्णतया समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार अनिश्चितता का अभाव लाभ की दरों की समानता प्रदान करने की प्रवृत्ति रखता है। परन्तु इस दशा में भी योग्यता के लगान के रूप में मिलने वाले लाभ की दरों में अन्तर रहेगा। हम केवल इतना कह सकते हैं कि प्रतियोगिता का असीमित होना दीर्घकाल में लाभ को समान करने की प्रवृत्ति रखता है। अल्पकाल में तो इसकी दरों में भारी असमानता होना आवश्यक है।

परन्तु वास्तव में हम गतिशील संसार में रहते हैं, जिसमें सभी कुछ बदलता रहता है और अनिश्चितता सदा ही बनी रहती है। ऐसी दशा में लाभ की दरों में समानता की दीर्घकालीन प्रवृत्ति भी नहीं होती है। यहाँ लाभ की दरों में विशाल

अलग-अलग साधन हैं और इसलिए दोनों के पारितोषिक भिन्न-भिन्न होते है। प्राचीन काल मे जोखिम उठाने के कार्य को बहुत महत्त्वपूर्ण नही समझा गया था, क्योंकि उत्पत्ति छोटे पैमाने पर होती थी और बाजार तथा प्रतियोगिता की सीमायें इतनी विस्तृत नही थी जितनी कि आविष्कारो और यातायात के विकास के आधुनिक युग मे कर दी हैं।

उपरोक्त विवेचन दो तथ्यो को स्पष्ट करता है—(१) लाभ मूल मे प्रावैगिक है और (२) लाभ विभाजन मे सत्यात्मक है।

Q. "Rent and profit both belong to the genus surplus. Both of these incomes mathematically are differences between income and cost and therefore of the nature of surplus" Discuss briefly the points of difference and resemblence between rent and profit

(Agra, M A 1949. 1953 1955, Vikram M. A. 1959,
Rajasthan M. Com. 1957)

प्रश्न—"लगान और लाभ दोनों ही अतिरेक के रूप हैं। दोनों ही आय और लागत के अन्तर हैं और इसलिये अतिरेक के स्वभाव के हैं।" संक्षेप में लाभ और लगान की समानतायें और भेद का विवेचन कीजिये।

(आगरा, एम० ए० १६४६, १६५३, १६५५, विक्रम, एम० ए० १६५६,
राजस्थान, एम० काम० १६५७)

उत्तर—दीर्घकाल से यह माना जा रहा है कि लगान का विचार आवश्यक रूप से भूमि के स्वामियों को मिलने वाली आय से ही सम्बन्धित है। लेकिन अब यह प्रमाणित हो गया है कि यह विचार उत्पत्ति के अन्य साधनों के पुरस्कारों को भी लागू हो सकता है। विशेषत: यह विचार साहसियों की आय पर, जिसे लाभ कहा जाता है, काफी प्रकाश डालता है। रिकार्डो के अनुसार जो लगान एक भिन्न आधिक्य (Differential surplus) के रूप मे केवल भूमि की ही विभिन्नता मानी जाती थी, यह अब आधुनिक अर्थशास्त्रियों की खोज एवं अध्ययन के अनुसार 'आधिक्य वर्ग' की केवल एक महान् उपजाति है और वैसी ही अन्य उपजातियाँ इस वर्ग के अन्तर्गत और भी हैं। यह भिन्नक आधिक्य उत्पत्ति के अन्य साधनों की दशा में देखा जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का कथन है कि "लगान और लाभ दोनों ही आधिक्यवर्ग के हैं। गणित के रूप मे दोनों ही आय व लागत का अन्तर है। इसलिए दोनों ही आधिक्य प्रकृति के हैं।"

प्रस्तुत प्रश्नोत्तर में इस कथन की विवेचना करते हुए लाभ और लगान की समानताओं एवं असमानताओं पर प्रकाश डाला गया है।

सीमांत भू-भाग कोई लगान उत्पन्न नहीं करता है उसी प्रकार सीमांत साहसी को भी उत्पादन कार्य मे कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। सीमांत साहसी को उत्पादन कार्य मे उतना ही लाभ प्राप्त होता है जितना कि वह उत्पादन कार्य मे विनियोग करता है। अधिक योग्यता वाले सीमांत साहसी की तुलना में जो अतिरिक्त आय प्राप्त करते हैं वह उनका लाभ है। जिस प्रकार लगान अधि-सीमान्त भूमि का सीमांत भूमि पर आधिक्य है उसी प्रकार लाभ भी अधि-सीमांत साहसियों की आय का सीमांत साहसी की आय पर आधिक्य है। आगे चलकर वाकर ने बताया कि अधिक योग्यता वाले साहसी वस्तुओं का उत्पादन इस प्रकार करते हैं कि वस्तुओं की उत्पादन लागत बहुत कम हो जाती है और परिणामस्वरूप उनके लाभ के उत्पन्न होने के कारण भी विभिन्न साहसियों की योग्यताओं मे अन्तर होता है। प्रो० वाकर के शब्दो मे—

"स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत श्रम के सफल नियोजकों को जो पुरस्कार मिलेगा उसको प्रत्येक व्यक्ति के लिये सही-सही धन के उस आधिक्य के रूप मे मापा जा सकता है जो कि समान मात्रा में श्रम एवं पूंजी का प्रयोग करने से एक सेवायोजक किसी निम्नतम औद्योगिक या लाभ रहित श्रेणी के सेवायोजक की तुलना में पैदा कर लेता है। यह ठीक उसी प्रकार होगा, जिस प्रकार लगान उस भूमि पर, जो सब मे कम उपजाऊ है तथा जिस पर कोई लगान उत्पन्न नही होता है, के प्रयोग करने पर उत्पन्न होता।"[1]

इस प्रकार वाकर के मतानुसार लाभ वास्तव मे 'योग्यता का लगान' होता है। उन्होंने बताया कि साहसी के कार्य व्यवसाय का संगठन करने व निरीक्षण करने तक ही सीमित नही है वरन् उसे माग एवं पूर्ति के सतुलन को बनाये रखने का भी प्रयास करना पड़ता है, जिससे वस्तु के मूल्यो मे बहुत वृद्धि या किमी न हो। वह साहसी को आर्थिक प्रगति का सच्चा मार्ग दर्शक (Leader of Economic Progress) व उद्योगों का नेता (Captain of Industry) मानते हैं। कुछ (साहसियो) मे अन्य साहसियो की अपेक्षा नेतृत्व के गुणो का पाया जाना ही लाभ को कम कर देता है। अर्थात् कुछ व्यवसायो का सचालन, निरीक्षण, संगठन एवं नेतृत्व अधिक योग्य, कुशल एवं दूरदर्शी साहसियों द्वारा किया जाता है और कुछ अन्य व्यवसायो का सगठन-कम योग्य साहसियो द्वारा किया जाता है। परिणाम-स्वरूप अधिक योग्य साहसियों की अपेक्षाकृत अधिक वाह्य एवं आन्तरिक बचतें

1. "Under free and full competition, the successful employers of labour would earn a remuneration which would be exactly measured, in the case of each man, by the amount of the wealth which he could produce with a given application of labour and capital, over and above what would be produced by employers of the lowest industrial or no profits grade, making use of the same

लाभ साहसी की योग्यता का लगान नहीं, जैसा कि वाकर ने अपने लाभ के लगान के सिद्धान्त में बताया है क्योंकि शेयर होल्डरों को मिलने वाले लाभांश का उनकी असाधारण योग्यता (Exception ability) से कोई सम्बन्ध नहीं होता है ।

(२) लाभ एक अनिश्चित एवं प्रत्याशित (Unexpected) आय है जबकि लगान एक निश्चित एवं प्रत्याशित आय होता । वास्तव में लाभ भविष्य सम्बन्धी अनिश्चितताओं के कारण उदय होता है । चूंकि भावी घटनाओं का सही-सही अनुमान नहीं लगा सकता है इसलिये उसे लाभ (अथवा हानि) उदय होता है । उदाहरण के लिए एक एकाधिकारी की शुद्ध एकाधिकारी आय को लगान की भांति का आधिक्य तभी कह सकते हैं जबकि वह तथ्यों सम्बन्धी अपनी जानकारी के आधार पर, जो कि सही प्रमाणित हों, अपनी सीमान्त लागत को अपनी सीमान्त आय के बराबर कर ले । लेकिन एक उत्पादक, चाहे वह एकाधिकारी हो या एक प्रतियोगिता वाला उत्पादक, लाभ आधिक्य (जो कि लगान आधिक्य से भिन्न है) तभी अर्जित करता है जबकि जो कुछ उसे प्राप्त हो वह उससे अधिक है जिसके प्राप्त होने की उसे आशा थी । इस प्रकार लगान के ऊपर होने वाला आधिक्य लगान तब कहा जायेगा जबकि वह ज्ञात हो और लाभ तब कहा जायेगा कि वह अज्ञात हो या आशा से परे हो । यही लाभ एवं लगान में अन्तर है ।

(३) लगान धनात्मक (Positive) ही होता है जबकि लाभ धनात्मक एवं ऋणात्मक दोनों ही होता है—लगान कभी ऋणात्मक (Negative) नहीं हो सकता । अधिक से अधिक वह शून्य (Zero) तक पहुच सकता है लेकिन लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है जैसे कि तब जबकि साहसी हानि उठाता है । जब साहसी का अनुमान गलत निकल जाता है, तो उसे लाभ के स्थान में हानि होने लगती है । ऐसी दशा में लाभ ऋणात्मक ही कहलायेगा ।

(४) लगान गतिशील व स्थिर दोनों ही अर्थ-व्यवस्थाओं में पाया जाता है जबकि लाभ केवल गतिशील अर्थ-व्यवस्था की ही विचित्रता है—स्थिर अर्थ-व्यवस्था (Static Economy) में कोई अनिश्चितता नहीं होती है, इसलिए उसमें लाभ उदय नहीं होता । वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन लागत के ही बराबर होता है इसलिए साहसी के लिये लाभ की कोई गुंजाइश नहीं होती । लेकिन गतिशील अर्थ-व्यवस्था (Dynamical economy) में भविष्य सम्बन्धी अनेक अनिश्चिततायें होती हैं, जिससे साहसी को लाभ की सम्भावना रहती है ।

(५) लगान प्रकृति का एक निःशुल्क उपहार है लेकिन लाभ ऐसा नहीं है—प्रकृति की अविनाशी एवं मौलिक शक्तियों का उपयोग करने में लगान उदय होता है और इस दृष्टिकोण से वह प्रकृति का एक निःशुल्क उपहार है । किन्तु लाभ के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है । वह भविष्य की अनिश्चितता को झेलने का उपहार है ।

प्राप्त होती हैं, उनकी उत्पादन लागत कम हो जाती है और उन्हें लाभ मिलने लगता है।

कभी-कभी इस सिद्धान्त के विरोधियों द्वारा यह तर्क किया जाता है कि ऐसे साधारण लाभ वास्तव में मजदूरों से छीनी गई मजदूरी है। अर्थात् उनका कहना है कि व्यवसायों में लाभ उत्पन्न होने का कारण उनमें श्रमिकों को कम मजदूरी का दिया जाना है। लेकिन यह सच्ची बात नहीं है, क्योंकि जिन व्यवसायों में श्रमिकों को ऊंची मजदूरी मिलती है उन्हीं व्यवसायों में साहसियो को भी अधिक लाभ मिलते देखा गया है। इस प्रकार साहसी के लाभ का कारण श्रमिकों को कम मजदूरी देना नहीं, वरन् साहसियों का अधिक व दूरदर्शी होना है।

इस तरह लाभ लगान की ही भाँति आधिक्य की प्रवृत्ति के हैं। जिस तरह लगान वस्तुओं के मूल्य को प्रभावित नहीं करता है (क्योंकि वस्तुओं का मूल्य सीमांत भूमि की उत्पादन लागत द्वारा निश्चित किया जाता है तथा सीमान्त भूमि पर कोई लगान नही होता है। उसी प्रकार लाभ भी वस्तुओं के मूल्य को प्रभावित न करने के कारण ही लगान की ही भाँति शुद्ध बचत है, जिन्हें वस्तुओं के मूल्य तथा लागत द्वारा मापा जा सकता है।

क्लार्क, वालरस व कुछ अन्य अर्थशास्त्री भी लाभ को लगान की ही श्रेणी का समझते हैं। किन्तु जहाँ वाकर लाभ को योग्यता का कारण मानते हैं वहाँ क्लार्क गतिशील अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन होने को लाभ का कारण बतलाते हैं। चूंकि स्थिर व्यवस्था में गतिशील परिवर्तन नहीं होते, इसलिये क्लार्क के मतानुसार लाभ का सम्बन्ध केवल गतिशील अर्थ-व्यवस्था से है, स्थिर अर्थ-व्यवस्था में लाभ नहीं होते।

उपरोक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लगान एवं लाभ दोनो ही एक श्रेणी व प्रकृति के हैं।

लाभ और लगान में भेद—लाभ तथा लगान में आधिक्य के आधार पर सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं है। उन अर्थशास्त्रियों के विचारों को, जो कि लाभों को लगान की प्रकृति का मानते हैं, बिना सीमाओं के अर्थात् पूर्ण रूप में सही माना जा सकता है। लगान तथा लाभ की निम्न बातें दोनों को एक दूसरे से पृथक करती हैं।

(१) कम्पनी संगठन के अन्तर्गत लाभांश वितरण की नीति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शेयर होल्डरों की असाधारण योग्यता से किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं होता—आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में ज्वाइन्ट स्टाक साहस प्रणाली एक निजी साहसी की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी में जिस प्रकार से शेयर होल्डरों को लाभाँश बांटे जाते हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि

लाभ साहसी की योग्यता का लगान नही, जैसा कि वाकर ने अपने लाभ के लगान के सिद्धान्त मे बताया है क्योंकि शेयर होल्डरों को मिलने वाले लाभांश का उनकी असाधारण योग्यता (Exception ability) से कोई सम्बन्ध नही होता है ।

(२) लाभ एक अनिश्चित एवं अप्रत्याशित (Unexpected) आय है जबकि लगान एक निश्चित एवं प्रत्याशित आय होता । वास्तव मे लाभ भविष्य सम्बन्धी अनिश्चितताओं के कारण उदय होता है । चूंकि भावी घटनाओं का सही-सही अनुमान नही लगा सकता है इसलिये उसे लाभ (अथवा हानि) उदय होता है । उदाहरण के लिए एक एकाधिकारी की शुद्ध एकाधिकारी आय को लगान की भाँति का आधिक्य तभी कह सकते हैं जबकि वह तथ्यों सम्बन्धी अपनी जानकारी के आधार पर, जो कि सही प्रमाणित हो, अपनी सीमान्त लागत को अपनी सीमान्त आय के बराबर कर ले । लेकिन एक उत्पादक, चाहे वह एकाधिकारी हो या एक प्रतियोगिता वाला उत्पादक, लाभ आधिक्य (जो कि लगान आधिक्य से भिन्न है) तभी अर्जित करता है जबकि जो कुछ उसे प्राप्त हो वह उससे अधिक है जिसके प्राप्त होने की उसे आशा थी । इस प्रकार लगान के ऊपर होने वाला आधिक्य लगान तब कहा जायेगा जबकि वह ज्ञात हो और लाभ तब कहा जायेगा कि वह अज्ञात हो या आशा से परे हो । यही लाभ एवं लगान मे अन्तर है ।

(३) लगान धनात्मक (Positive) ही होता है जबकि लाभ धनात्मक एवं ऋणात्मक दोनो ही होता है—लगान कभी ऋणात्मक (Negative) नही हो सकता । अधिक से अधिक वह शून्य (Zero) तक पहुंच सकता है लेकिन लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है जैसे कि तब जबकि साहसी हानि उठाता है । जब साहसी का अनुमान गलत निकल जाता है, तो उसे लाभ के स्थान मे हानि होने लगती है । ऐसी दशा मे लाभ ऋणात्मक ही कहलायेगा ।

(४) लगान गतिशील व स्थिर दोनो ही अर्थ-व्यवस्थाओं मे पाया जाता है जबकि लाभ केवल गतिशील अर्थ-व्यवस्था की ही विचित्रता है—स्थिर अर्थ-व्यवस्था (Static Economy) में कोई अनिश्चिता नही होती है, इसलिए उसमें लाभ उदय नहीं होना । वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन लागत के ही बराबर होता है इसलिए साहसी के लिये लाभ की कोई गुंजाइश नहीं होती । लेकिन गतिशील अर्थ-व्यवस्था (Dynamical economy) मे भविष्य सम्बन्धी अनेक अनिश्चिततायें होती हैं, जिससे साहसी को लाभ की सम्भावना रहती है ।

(५) लगान प्रकृति का एक निःशुल्क उपहार है लेकिन लाभ ऐसा नहीं है—प्रकृति की अविनाशी एवं मौलिक शक्तियों का उपयोग करने मे लगान उदय होता है और इस दृष्टिकोण से वह प्रकृति का एक निःशुल्क उपहार है । किन्तु लाभ के सम्बन्ध मे ऐसा नहीं है । वह भविष्य की अनिश्चितता को झेलने का उपहार है ।

२६

राष्ट्रीय लाभांश
(National Dividend)

Q. Explain the concept of National Dividend as developed by Marshall, Fisher and Pigou.

(Agra 1948, 1950, 1954 and 1959 M. A ; Agra 1958, 1960, M. Com ; Vikram 1954 M. A ; Vikram 1958, M. Com.)

प्रश्न—राष्ट्रीय लाभांश के सम्बन्ध में मार्शल, फिशर और पीगू के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

(आगरा १९४८, १९५०, १९५४ और १९५९ एम० ए०; आगरा १९५८ और १९६० एम० कॉम०; विक्रम १९५४ एम० ए०; विक्रम १९५८ एम० कॉम०)

उत्तर—उत्पादन कार्य मे भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था एवं साहस—ये पांच साधन लगाये जाते हैं। उत्पादन कार्य मे इन साधनों के लगाने से प्रति वर्ष अथवा समय की और किसी इकाई मे किसी समाज द्वारा कुछ वस्तुयें अथवा सेवायें उत्पादित की जाती हैं। इन वस्तुओं तथा सेवाओ का योग ही उस समाज का राष्ट्रीय लाभांश है। उदाहरण के लिए, एक किसान खेत को जोत-बोकर उसमे अनाज पैदा करता है अथवा मजदूर खानों मे काम करके बहुत सी धातुयें निकालते हैं अथवा वे कारखानों मे काम करके कपड़ा, मशीनें तथा अन्य सामान उत्पन्न करते हैं। किसी देश मे उत्पादन के जितने भी क्षेत्र हैं, उन सब क्षेत्रों से प्राप्त उपज को यदि एकत्र कर दिया जाय तो हमको राष्ट्रीय-लाभांश प्राप्त हो जायगा। यही नहीं, हमको इस लाभांश मे अध्यापकों, इन्जीनियरों, न्यायाधीशों, डाक्टरों, कर्मचारियों आदि की सेवाएं भी जोड़नी पड़ेंगी। उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के कुल योग को कुल लाभांश (Gross Dividend) कहते हैं। परन्तु वितरण कुल लाभांश का नहीं किया जाता, क्योंकि इसके अन्दर भूमि आदि साधनों की वह कीमत भी सम्मिलित होती है जिसके आधार पर उत्पादन किया गया है। उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं मे इन साधनों की लागत तो सम्मिलित होती ही है,

Macro-economics helps us in understanding the functioning of economy as a dynamic whole, and offers much practical guidance to the government when the latters attempts to control, regulate and guide economic quantities.

"Economic causes act upon the economic welfare of any country not directly but through the making and rising of that objective counterpart of economic welfare, what economists call the national dividend or national income."—Pigou.

"Economic planning in the widest sense, is deliberate direction, by persons incharge of large resources, of economic activity, towards chosen ends."—Dalton

"The essential purpose of the plan is to do all the things that will develop the intrinsic strength of the country. That strength, economic and social, is going to be the sheet-anchor of the security of the country, progress in the standards of living of the people, employment, cultural advance and all else. For that purpose, a climate of united endeavour has to be created in the country."

—G. L. Nanda.

"The objective of planned development is not only to increase production and attain higher levels of living but also to secure a social and economic order based on the values of freedom and democracy in which justice, social, economic and political shall inform all the institutions of the national life."

२६

राष्ट्रीय लाभांश

(National Dividend)

Q. Explain the concept of National Dividend as developed by Marshall, Fisher and Pigou.

(Agra 1948, 1950, 1954 and 1959 M. A; Agra 1958, 1960, M. Com; Vikram 1954 M. A; Vikram 1958, M. Com.)

प्रश्न—राष्ट्रीय लाभांश के सम्बन्ध में मार्शल, फिशर और पीगू के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

(आगरा १९४८, १९५०, १९५४ और १९५९ एम० ए०; आगरा १९५९ और १९६० एम० कॉम०; विक्रम १९६४ एम० ए०; विक्रम १९५८ एम० कॉम०)

उत्तर—उत्पादन कार्य में भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था एवं साहस—ये पांच साधन लगाये जाते हैं। उत्पादन कार्य में इन साधनों के लगाने से प्रति वर्ष अथवा समय की और किसी इकाई में किसी समाज द्वारा कुछ वस्तुयें अथवा सेवायें उत्पादित की जाती हैं। इन वस्तुओं तथा सेवाओं का योग ही उस समाज का राष्ट्रीय लाभांश है। उदाहरण के लिए, एक किसान खेत को जोत-बोकर उसमें अनाज पैदा करता है अथवा मजदूर खानों में काम करके बहुत सी धातुयें निकालते हैं अथवा वे कारखानों में काम करके कपड़ा, मशीनें तथा अन्य सामान उत्पन्न करते हैं। किसी देश में उत्पादन के जितने भी क्षेत्र हैं, उन सब क्षेत्रों से प्राप्त उपज को यदि एकत्र कर दिया जाय तो हमको राष्ट्रीय-लाभांश प्राप्त हो जायगा। यही नहीं, हमको इस लाभांश में अध्यापकों, इन्जीनियरों, न्यायाधीशों, डाक्टरों, कर्मचारियों आदि की सेवाएं भी जोड़नी पड़ेंगी। उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के कुल योग को कुल लाभांश (Gross Dividend) कहते हैं। परन्तु वितरण कुल लाभांश का नहीं किया जाता, क्योंकि इसके अन्दर भूमि आदि साधनों की वह कीमत भी सम्मिलित होती है जिसके आधार पर उत्पादन किया गया है। उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं में इन साधनों की लागत तो सम्मिलित होती ही है,

इसके अतिरिक्त इसमें अधिक मूल्य सम्मिलित होता है। राष्ट्रीय लाभांश में साधनों की लागत के अतिरिक्त जितना अधिक मूल्य सम्मिलित होता है उसको वास्तविक लाभांश (Net Dividend) कहते हैं। वर्ष अथवा समय की किसी अन्य इकाई में वास्तव में यही मूल्य उत्पन्न किया गया है। इसी का भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था तथा साहस में लगान, मजदूरी, ब्याज, वेतन तथा लाभ के रूप में वितरण किया जाता है।

प्रो० मार्शल ने लिखा है कि सब प्रकार की उत्पादित वस्तुओं का वास्तविक योग ही वह स्रोत होता है जिससे कि इन सब वस्तुओं की मांग-कीमतें अथवा उनको उत्पन्न करने वाले साधनों की मांग-कीमतें उत्पन्न होती हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह राष्ट्रीय लाभांश किसी देश के उत्पादन के साधनों के भुगतान का स्रोत होता है। यह श्रम की मजदूरी, पूंजी के ब्याज, उत्पादन के लाभ तथा भूमि के लगान के रूप में वितरित किया जाता है। यह उन सबसे मिलकर बनता है तथा यह सबका सब उनमें वितरित किया जाता है। 'यदि अन्य बातें समान हों' तो यह जितना ही अधिक होगा उतना ही इन साधनों का हिस्सा बढ़ जायगा। इसको साधनों की सीमान्त उपयोगिता के अनुसार वितरित किया जाता है, यद्यपि यह विषय भी पर्याप्त रूप से विवादग्रस्त है। साधारणतः राष्ट्रीय लाभांश का अनुमान केवल एक ही वर्ष के लिये किया जाता है। वर्ष से छोटी अवधि में उसका ठीक अनुमान नहीं हो सकेगा, क्योंकि एक वर्ष में कई मौसम होते हैं जिनका उत्पादन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। एक मौसम उत्पादन कार्य के लिये अधिक उपयुक्त और दूसरा कम उपयुक्त हो सकता है। इसलिए एक मौसम की उपज की तुलना दूसरे मौसम की उपज से करना ठीक न होगा वर्ष में मौसमों की विषमतायें समाप्त हो जाती हैं। वर्ष से अधिक का समय लम्बा होता है। उसको ग्रहण करने से कोई विशेष लाभ न होगा केवल कठिनाइयाँ ही बढ़ेंगी। इसलिए साधारणतः राष्ट्रीय लाभांश को मापने के लिए वर्ष का समय ही लिया जाता है।

मार्शल द्वारा दी गई परिभाषा (Marshall's Concept of National Dividend)

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Principles of Economics में मार्शल ने राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषा निम्न शब्दों में दी है :—

"किसी देश के श्रम और पूंजी उस देश के प्राकृतिक साधनों के साथ मिल कर प्रति वर्ष कुछ निश्चित व शुद्ध मात्रा में भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं, जिनमें सब प्रकार की सेवायें भी सम्मिलित रहती हैं। यही किसी देश ... वास्तविक आय अथवा राष्ट्रीय लाभांश है।"

...य लाभांश की गणना के ढंग के प्रश्न पर मार्शल ने अत्यन्त प्रचलित ...या है, जिसका हम सभी लोग साधारणतः एक व्यक्ति की आय की ...ते समय अवलम्बन किया करते हैं। सर्वप्रथम, मार्शल का कहना है कि आय की गणना करते समय कुल उत्पत्ति में से निम्न व्ययों को घटा देना

चाहिये—(i) कच्चे माल (Raw materials) पर किया गया व्यय व (ii) मशीनों की घिसावट, टूट-फूट तथा मरम्मत पर व्यय। दूसरे, विदेशी विनियोगों से प्राप्त हुई शुद्ध आय इसमें जोड़ देनी चाहिये। तीसरे, राष्ट्रीय लाभांश में उन सेवाओं को जिन्हें व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यों तथा मित्रों को बिना मूल्य प्रदान प्राप्त करता है तथा अपनी निजी सम्पत्ति से अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति से वह जो लाभ करता है (जैसे चुंगी रहित पुलों की सुविधा) उनको भी राष्ट्रीय लाभांश के अन्दर नहीं गिनना चाहिये। चौथे, एक वर्ष में उत्पादित सभी वस्तुओं और सेवाओं को राष्ट्रीय लाभांश में शामिल किया गया है, क्योंकि मार्शल का विचार है कि किसी एक वर्ष का कुल उत्पादन ही उस वर्ष का कुल उपभोग है।

मार्शल की परिभाषा की आलोचना :—

सैद्धान्तिक रूप से यह सम्भव है कि मार्शल की परिभाषा पूर्ण सही हो और उसमें कोई त्रुटि न मिले, लेकिन व्यवहारिक दृष्टिकोण से उसमें निम्न दोष पाये जाते हैं :—

(१) कुल उत्पादन के सांख्यिकी माप की असम्भवता—मार्शल की परिभाषा के सम्बन्ध में पहली कठिनाई यह है कि किसी देश में अन-गिनती वस्तुओं और सेवाओं की ठीक ठीक गणना करना अत्यन्त कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। केवल वस्तुओं और सेवाओं की संख्या बहुत अधिक है वरन् प्रत्येक वस्तु एवं सेवा की अनगिनती किस्में होती हैं। इन सबकी सही-सही गणना के लिये बहुत सी टेक्नीकल एवं व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। एक समाजवादी देश में संभव है कि ये कठिनाइयाँ कुछ कम मात्रा में अनुभव की जायें, क्योंकि वहाँ उत्पादन के सम्पूर्ण साधनों पर प्रायः सरकार का नियन्त्रण होता है लेकिन फिर भी एक समाजवादी देश के पास इतने पर्याप्त साधन नहीं होते कि वह देश में कुल वस्तुओं एवं सेवाओं के कुल उत्पादन का सही-सही अनुमान लगा सके। एक जनतन्त्री देश में तो यह समस्या बहुत ही कठिन हो जाती है क्योंकि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने मनचाहे ढंग का व्यापार, व्यवसाय या पेशा मनचाहे ढंग से चला सकता है। अतः इन सभी से सम्पर्क स्थापित करना व आंकड़े स्थापित करना एक दुष्कर कार्य है।

(२) दोहरी गणना की सम्भावना—मार्शल की परिभाषा के सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह अनुभव की जाती है कि इसके अन्तर्गत वस्तुओं और सेवाओं की दोहरी गणना होने की सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिये, यह सम्भव है कि कृषि-उपज की गणना करते समय उसमें गन्ने और कपास की कुछ मात्रा को सम्मिलित कर लिया जाय और बाद में औद्योगिक उत्पादन की मात्रा का अनुमान लगाते समय कृषि-उपज में सम्मिलित गन्ने और कपास से बनाई हुई चीनी और वस्त्र की गणना कर ली जाय। यह एक ऐसी कुसम्भावना है कि जिससे बचने के लिये

अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। वास्तव में दोहरी गणना की कुसंभावना सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र में व्याप्त है और इससे पूर्णतः बचना असम्भव है।

(३) व्यक्तिगत उपयोग के लिये रखे गये उत्पादन की गणना सम्बन्धी कठिनाई—कुल उत्पादन का अनुमान लगते समय एक अन्य कठिनाई यह भी प्रस्तुत होती है कि उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं की सम्पूर्ण मात्रा बाजार में बिकने के लिये नहीं आती है वरन् उसका काफी भाग व्यक्तिगत उपभोग के लिये रख लिया जाता है जिनका मूल्यांकन सही-सही नहीं किया जा सकता है। इसलिये राष्ट्रीय लाभांश की सही-सही गणना करना असम्भव है। उदाहरणार्थ, एक किसान अपने खेत में जो कुछ पैदा करता है, वह सबको मण्डी में बेचने नहीं ले जाता, वरन् काफी अनाज इत्यादि अपने और अपने परिवार के सदस्यों क उपयोग के लिये रख लेता है. जो भाग वह मण्डी में लाया है, उसकी तो गणना राष्ट्रीय आय में हो जायगी, क्योंकि विपणी विनिमय क्रिया द्वारा उसका भौतिक रूप से मूल्यांकन कर लिया जाता है, लेकिन उपभोग के लिये रखे गये भाग का इस प्रकार माप नहीं हो सकता ; अतः वह राष्ट्रीय लाभांश में शामिल होने से रह जाता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से मार्शल की परिभाषा में कोई त्रुटि नहीं है, वह बहुत सरल एवं स्पष्ट है, किन्तु इसके अनुसार राष्ट्रीय लाभांश का सही-सही माप करने में जो कठिनाइयां उदय होती हैं, उन्होंने इस परिभाषा के व्यावहारिक महत्व को बहुत घटा दिया है।

पीगू द्वारा दी गई परिभाषा (Pigou's Definition)

मार्शल के शिष्य पीगू ने राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषा निम्न ढंग से दी है :—

"राष्ट्रीय लाभांश किसी देश या समाज की भौतिक आय का वह भाग है जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित है, जिसे मुद्रा के रूप में मापा जा सकता है।.........यह पूर्णतः स्पष्ट है कि अन्तिमतः राष्ट्रीय लाभांश में अनेक ऐसी भौतिक सेवायें सम्मिलित होती हैं जिनमें से कुछ तो वस्तुओं के रूप में प्रदान की जाती हैं। इन्हें अत्यन्त सरलता से माल या वस्तुयें कहा जा सकता है, चाहे वे तुरन्त ही नाशवान हों या टिकाऊ हों। लेकिन यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिये कि एक सेवा को, जिसे पहले ही एक पियानो अथवा रोटी के रूप में (जिसके बनाने में यह सेवा सहायक हुई) गिना जा चुका है, दोबारा सेवा के रूप में नहीं गिनना चाहिये।"

पीगू की उपरोक्त परिभाषा के विश्लेपण करने पर इसकी निम्न विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है :—

(१) राष्ट्रीय लाभांश के अन्तर्गत केवल उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं को सम्मिलित करना चाहिये, जिन्हें द्रव्य द्वारा मापा जा सके।

(२) राष्ट्रीय लाभांश की गणना करते समय दोहरे अंकन को बचाना आवश्यक है। इस गलती के होने का प्रमुख कारण राष्ट्रीय लाभांश में वस्तुओं और सेवाओं दोनों को ही सम्मिलित किया जाता है। इस बुराई को दूर करने के विचार से पीगू ने अपनी परिभाषा में केवल सेवा' शब्द का ही प्रयोग किया है।

पीगू की परिभाषा का सबसे बड़ा गुण निश्चितता एवं शुद्धता—पीगू की परिभाषा का सबसे बड़ा गुण इस तथ्य में निहित है कि यह राष्ट्रीय लाभांश के विचार को निश्चितता एवं शुद्धता (Preciseness) प्रदान करता है। मार्शल की परिभाषा में राष्ट्रीय लाभांश को नापने की जो कठिनाई पाई जाती है उसको बिल्कुल ही दूर कर दिया गया है जिससे यह बहुत सरल एवं कार्य-योग्य परिभाषा कही जा सकती है। पीगू की परिभाषानुसार चलते हुए राष्ट्रीय लाभांश को मापना कुछ भी कठिन नहीं है। हां, यह प्रश्न अवश्य ही न्यायसंगत होगा कि केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं के आधार पर जो कि वास्तव में मुद्रा के बदले बेची गई है, निकाला गया राष्ट्रीय लाभांश वास्तविक लाभांश का प्रतिनिधित्व कर सकता है? केवल उस अत्यन्त अपवादजनक स्थिति को छोड़कर जिसमें किसी देश का सम्पूर्ण उत्पादन विनिमय के चक्र में प्रवेश कर लेता है, अन्य सब दशाओं में पीगू के अनुसार गणना किया गया लाभांश वास्तविक लाभांश से निस्सन्देह भिन्न होगा।

पीगू की परिभाषा के दोष :—

पीगू की परिभाषा को सरल एवं कार्य-योग्य (Workable) होते हुए भी त्रुटि रहित नहीं कहा जा सकता। यह अनेक भ्रम उत्पन्न कर देती है, जिन्हें हल करना कठिन है। ये दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) यह मुद्रा द्वारा विनिमय की जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं तथा मुद्रा द्वारा विनिमय न की जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं के मध्य एक कृत्रिम पृथक्ता उत्पन्न कर देती है:—

वास्तव में इन चीजों को इस प्रकार दो अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित करना उचित नहीं है, क्योंकि इनका स्वभाव मौलिक रूप से एक ही प्रकार का होता है। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति अपनी नौकरानी से विवाह कर लेता है, तो पीगू की परिभाषा के अनुसार, इससे राष्ट्रीय लाभांश में कमी आ जायेगी, क्योंकि अब उस पूर्व सेविका को अपनी सेवाओं के बदले मुद्रा के रूप में कोई पुरस्कार नहीं मिलता है, जबकि पत्नी के रूप में वह अब अपने स्वामी की अधिक सेवा कर रही है। स्पष्ट है कि सेवाओं के बीच इस प्रकार भेद करना उचित नहीं है। सेवाओं का महत्व इस बात में नहीं है कि उनको मुद्रा माप-दण्ड से मापा जाता है या नहीं, वरन् इस बात में है कि वे जन-हित और कुल-कल्याण को बढ़ाने की सामर्थ्य रखती हैं। अतः यदि किसी सेवा से आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है, तो उसे राष्ट्रीय लाभांश में अवश्य सम्मिलित करना चाहिये भले ही वह मुद्रा के द्वारा न मापी जा सके।

प्रो० पीगू ने इस तर्क को स्वीकार किया है वे लिखते हैं—"दुर्भाग्य से इस परिभाषा की स्पष्टता के लिए, कुछ सेवायें जिन्हें राष्ट्रीय लाभांश के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया जा सकेगा, उन सेवाओं से जिन्हें राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित किया जा सकेगा, घनिष्ट रूप से सम्बन्धित और यहां तक कि गुंथी हुई भी होती हैं। खरीदी गई सेवाओं के स्वभाव में कोई मौलिक भिन्नता नहीं होती है और बहुधा ही एक खरीदी हुई सेवा न खरीदी हुई सेवा में और न खरीदी हुई सेवा खरीदी हुई सेवा में परिणित कर ली जाती है।"

जब पीगू स्वयं इस दोष को स्वीकार करते हैं तो उन्होंने इसे अपनी परिभाषा में आश्रय दिया ही क्यों ? इसका कारण भी उन्हीं की उक्त स्वीकृति से स्पष्ट है। उन्होंने राष्ट्रीय आय की गणना को सुविधाजनक बनाने के लिए ही मुद्रा के मापदण्ड को स्वीकार किया है। यदि यह मान लें कि देश में एक वर्ष के भीतर उत्पादित सभी सेवायें राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित की जायेंगी, तो उनकी गणना करना कठिन हो जायेगा, क्योंकि अनेक सेवायें ऐसी भी होती हैं जिनका माप मुद्रा द्वारा नहीं हो सकता है।

(२) यह परिभाषा केवल मुद्रा की अर्थ-व्यवस्था में ही लागू हो सकती है— पीगू ने राष्ट्रीय लाभांश सम्बन्धी जो परिभाषा दी है उसके विषय में दूसरी आलोचना यह है कि वह केवल मुद्रा की अर्थ-व्यवस्था में लागू हो सकती है, सब देशों में नहीं। उदाहरण के लिए जिन देशों में अधिकांश वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय नहीं किया जाता वरन् प्रत्यक्ष रूप से अदल-बदल हो जाता है, वहां पीगू की परिभाषा उपयोगी नहीं हो सकती है, क्योंकि देश में अदल-बदल की प्रथा (System of Barter) जितनी अधिक प्रचलित होगी, उतनी ही कम, पीगू के अनुसार, राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा होगी और अन्त में वह एक ऐसे देश में शून्य ही रह जायगा जहां कि पूर्ण रूप से अदल-बदल की व्यवस्था विद्यमान है। एशिया एवं अफ्रीका के आन्तरिक क्षेत्रों में अब भी अनेक ऐसी जन-जातियां रहती हैं जो अदल-बदल की व्यवस्था से काम ले रही हैं। ऐसे देशों में यदि जनता का जीवन-स्तर मालूम करना चाहें, तो वहां का राष्ट्रीय लाभाँश मालूम करना होगा और इस कार्य में पीगू की परिभाषा से कोई सहायता नहीं मिल सकती है, क्योंकि वह मुद्रा के माप पर आधारित है जोकि इन देशों में सुलभ नहीं है। केवल अत्यन्त विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में, जिन्हें अपवाद माना जा सकता है, नियम नहीं, जहां कि सभी उत्पादित वस्तुओं व सेवाओं एवं उपभोग की जाने वाली चीजों का विनिमय के द्वारा आदान-प्रदान किया जाता है, पीगू की परिभाषा पूर्णतः लागू हो सकती है। अधिकांश देशों में मुद्रा एवं अदल-बदल दोनों प्रकार की अर्थ-व्यवस्थायें पाई जाती हैं। यहां तक कि अत्यन्त सभ्य देशों का भी अधिकांश विदेशी व्यापार वस्तु-विनिमय द्वारा ही होता है। इनमें पीगू की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा एवं वास्तविक राष्ट्रीय लाभांश में अन्तर होना स्वाभाविक है। इस प्रकार राष्ट्रीय

लाभांश को मापने के लिए पीगू ने 'सरलता' की बलिवेदी पर अन्य सब कुछ बलिदान कर दिया है।

(२) यदि पीगू की परिभाषा का अनुकरण किया जाय, तो केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित किया जा सकेगा, जो कि मुद्रा द्वारा विनिमय की जाती हैं—स्पष्ट ही राष्ट्रीय लाभांश को मापने का यह तरीका दोषपूर्ण है। इस परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय आय को मापने से कभी तो उसमे वृद्धि हो जाती है और कभी उसमे कमी हो जाती है जबकि सम्भव है कि राष्ट्रीय लाभांश या तो स्थिर रहा हो अथवा बढने के स्थान मे घटा हो या घटने के स्थान मे बढा हो। ऐसी दशा में हमें अनेक असत्याभास सम्बन्धी परिस्थितियो का सामना करना पड़ता है। पीगू ने स्वय इस विषय मे कई उदाहरण दिये हैं जिनमे मे कुछ निम्न हैं :—

(i) यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का घर एव अन्य सामान किराये पर लेता है तो इन वस्तुओं से उसे जो सेवायें प्राप्त होंगी वे राष्ट्रीय लाभांश मे सम्मिलित की जायेंगी। किन्तु जब उक्त वस्तुयें उसे उपहार स्वरूप प्राप्त हों तब उनसे प्राप्त सेवायें राष्ट्रीय लाभाश मे नही गिनी जायेंगी।

(ii) यदि कोई कृषक अपनी पैदावार को मण्डी मे लाकर बेच देता है और फिर इससे प्राप्त आय मे से परिवार की आवश्यकता पूर्ति के लिए कुछ अनाज मोल लेता है, तो उसकी पैदावार की बहुत बड़ी मात्रा राष्ट्रीय लाभांश में जुड जायेगी। किन्तु जब वह कृषक अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये पर्याप्त अनाज पहले बचाकर रख लेता और शेष को बाजार मे बेचता है, तो घर में बचाकर रखी गई पैदावार राष्ट्रीय आय में सम्मिलित न की जाती।

(iii) अवैतनिक सगठनकर्ताओ व गिरजाघर के कार्य-कर्त्ताओ और अन्य व्यक्तियो द्वारा किये गये लोक-हितकारी कार्य राष्ट्रीय लाभांश मे सम्मिलित नही किये जाते, किन्तु जब उन्हे वेतन दिया जायगा, तो उनके कार्यो को राष्ट्रीय लाभाश मे सम्मिलित कर जावेगा।

(iv) जब स्त्रियाँ कारखाने में अथवा घर पर मजदूरी के बदले सेवा प्रदान करती है तो उसे राष्ट्रीय लाभाश में सम्मिलित कर लिया जायेगा, लेकिन जब वही सेवा वे बिना मूल्य घर पर माता अथवा पत्नि के रूप मे करती है, तो उसे राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित नही किया जाता है।

प्रो० पीगू का कहना है कि उक्त त्रुटियाँ इस प्रकार की परिभाषा मे होना तब तक स्वाभाविक है जब तक कि इसमे किसी वर्ष मे प्रस्तुत की गई सम्पूर्ण सेवाओं को सम्मिलित न कर लिया जाय। यदि सम्पूर्ण सेवाओं को राष्ट्रीय लाभाश में सम्मिलित किया जाता है, तो हमारे सामने यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि सेवायें अनेक ऐसी हैं जिन्हे मुद्रा में नही मापा जा सकता। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय लाभाश भी ठीक-ठीक मालूम न हो सकेगा। साथ ही इस विचार की व्यावहारिकता भी समाप्त हो जायगी। ऐसी परिस्थिति मे पीगू राष्ट्रीय लाभांश को मापने के हेतु मुद्रा

के माप को त्यागने का दृष्टिकोण उचित नहीं मानते हैं। किन्तु वे मार्शल के इस कथन को स्वीकार करते हैं कि "वे सेवायें, जिन्हें व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यों और मित्रों को विना मूल्य प्रदान करता है और निजी सम्पत्ति एवं सार्वजनिक सम्पत्ति से होने वाले लाभ भी राष्ट्रीय लाभाँश में न गिने जाकर पृथक रूप से ही गिने जाने चाहियें।" प्रो० पीगू यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि परिस्थितियाँ ही इस प्रकार की है कि राष्ट्रीय लाभांश की इससे अच्छी परिभाषा उपलव्ध नहीं है।

किन्तु उनका यह निष्कर्ष हमारी सम्पूर्ण समस्या का समाधान नहीं करता है। यदि यह मान लिया जाये कि राष्ट्रीय लाभांश में केवल उन्हीं सेवाओं को सम्मिलित करना चाहिये, जो कि मुद्रा द्वारा मापी जा सकती हैं तो एक अन्य कठिनाई और भी उपस्थित होती है। सेवायें प्रायः दो प्रकार की होती हैं:—(i) प्रत्यक्ष सन्तुष्टी देने वाली सेवायें, जैसे नारी, डॉक्टर अथवा अध्यापक की सेवायें एवं (ii) अप्रत्यक्ष सन्तुष्टी देने वाली सेवायें, जैसे—मशीने वनाने वाले कारीगर की सेवा, जो तव ही फल देना आरम्भ करेगी जवकि वह मशीन चालू हो जाये। अव यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों प्रकार की सेवाओं में कौनसी सेवायें राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित की जायें।

मार्शल एवं पीगू के विचारों की तुलना :—

मार्शल और पीगू द्वारा दी गई परिभाषा का सावधानी से विश्लेपण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उनमें कुछ समानतायें भी हैं और असमानतायें भी। प्रमुख-प्रमुख समानतायें व असमानतायें इस प्रकार हैं :—

समानताएं—

(१) **दृष्टिकोण की समानता**—दोनों ही राष्ट्रीय लाभांश की समस्या पर उत्पादन के दृष्टिकोण से विचार करते हैं।

(२) **निःशुल्क पारिवारिक सेवाओं आदि की गणना से छूट**—दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि वे लाभ जिन्हें व्यक्ति अपने परिवार को निःशुल्क देता है। और वे लाभ जो वह अपने निज की वस्तुओं एवं सार्वजनिक सेवाओं (जैसे चुंगी मुक्त पूल) से प्राप्त करता हैं, राष्ट्रीय लाभाँश की गणना में सम्मिलित नहीं करने चाहिये।

असमानतायें—इन समानताओं के होते हुए भी इनके विचार-विश्लेपण में कुछ असमानतायें भी हैं, जो कि मुख्यतः निम्न हैं :—

(१) **पीगू की अपेक्षा मार्शल के दृष्टिकोण की व्यापकता**—मार्शल का दृष्टिकोण स्पष्टतः पीगू के दृष्टिकोण से व्यापक है। पीगू की भांति मार्शल ने राष्ट्रीय लाभांश में केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को शामिल करके, जिन्हें मुद्रा के मापदंड से मापा जा सके, इसके क्षेत्र को सीमित नहीं कर दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने तो राष्ट्रीय लाभांश में भौतिक एवं अभौतिक सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं) घटाने के वाद जो कि उत्पादन के कार्य में काम आ गई है, शामिल किया है।

(२) पीगू की परिभाषा व्यावहारिक है, मार्शल की नहीं—पीगू की परिभाषा व्यावहारिक दृष्टि से मार्शल की अपेक्षा अधिक सरल व सुगम है यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि वह दोषपूर्ण है, क्योंकि उसके अनुसार बहुत सीमित क्षेत्र की वस्तुओं और सेवाओं को राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित किया गया है। इसके विपरीत सैद्धान्तिक रूप से मार्शल की परिभाषा सही है।

(३) 'राष्ट्रीय लाभांश' शब्द के प्रयोग की भिन्नता—मार्शल ने अपनी परिभाषा मे 'राष्ट्रीय लाभांश' शब्द का एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया है, अपने सम्पूर्ण विचारो मे वे उस अर्थ में ही राष्ट्रीय लाभांश का लगातार प्रयोग करते हैं। विपरीत उन्होंने राष्ट्रीय लाभांश को सदा एक निश्चित अर्थ मे प्रयोग नही किया वरन् परिस्थितियों के अनुसार उसमे सशोधन भी कर सकते हैं ताकि किसी विशेष मामले में लागू करने मे कठिनाई न हो।

(४) राष्ट्रीय लाभांश एव राष्ट्रीय आय—प्रो० मार्शल राष्ट्रीय लाभाश (National Dividend) एवं राष्ट्रीय आय (National Income) शब्दों मे कोई अन्तर नही समझते। उनके मतानुसार इन शब्दो को बिना सकोच एक दूसरे के स्थान में प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु प्रो० पीगू ने यह मत प्रगट किया है कि राष्ट्रीय आय एवं राष्ट्रीय लाभांश दो भिन्न शब्द है। उनके मतानुसार राष्ट्रीय आय तो वह है जो देशवासियो द्वारा किसी विशेष वर्ष मे वास्तविक रूप से उपभोग कर ली जाती है जबकि राष्ट्रीय लाभांश वह है जिसका किसी विशेष वर्ष मे देशवासियों द्वारा उत्पादन किया जाता है। मार्शल ने उत्पादन और उपभोग को इस प्रकार पृथक नहीं किया है। उनके शब्दों मे—

"उद्योगों की सामान्य परिस्थिति मे उत्पादन और उपभोग साथ-साथ चलते हैं, उपभोग उतनी ही मात्रा का हो सकता है जितनी मात्रा के लिये उत्पादन ने उचित आधार तैयार किया है और सभी उत्पादित मात्रा उपभोग के लिये उत्पन्न की गई थी और उपभोग मे ही काम आ जाती है।"

फिशर द्वारा दी गई परिभाषा (Fisher's Concept)—

प्रो० इरविंग फिशर ने मार्शल अथवा पीगू की अपेक्षा भिन्न विचार प्रकट किये हैं। जबकि मार्शल और पीगू ने राष्ट्रीय लाभाश मे वे वस्तुए एव सेवाए सम्मिलित की है जिनका प्रति वर्ष उत्पादन किया जाता है, तब फिशर ने केवल वे ही वस्तुएं और सेवाये उसमे सम्मिलित की हैं, जिनका प्रति वर्ष उपभोग किया जाता है। प्रो० फिशर के शब्दों मे—

"राष्ट्रीय लाभांश या आय केवल उन्हीं सेवाओ द्वारा निरूपित होती है, जो अन्तिम उपभोक्ता को, अपने भौतिक वातावरण से अथवा अपने मानवीय वातावरण से, प्राप्त हुई है। इस प्रकार एक पियानो अथवा ओवरकोट जो कि मेरे लिये इस वर्ष बनाया गया है, इस वर्ष की आय का भाग नहीं है, अपितु वह

पूंजी में वृद्धि है। केवल वही सेवायें, जो कि उनके प्रयोग से इस वर्ष मुझे मिलेंगी, आय कहलायेंगी।"

फिशर की परिभाषा की आलोचना :

फिशर की परिभाषा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि यह मार्शल और पीगू की परिभाषाओं से कई बातों में श्रेष्ठ है। व्यावहारिक आर्थिक कल्याण की दृष्टि से फिशर की राष्ट्रीय आय सम्बन्धी परिभाषा अधिक सही प्रतीत होती है, क्योंकि अन्ततः किसी देश का आर्थिक कल्याण उत्पादन की मात्रा पर नहीं वरन् उपभोग की मात्रा पर निर्भर करता है। यह सम्भव है कि देश में अधिक उत्पादन किया जाय, किन्तु यदि उसका वितरण असमान ढंग से हुआ है, अथवा जनता को उत्पादित वस्तुओं के प्रयोग से वंचित कर दिया गया है, तो जनता के आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं हो सकेगी। इस प्रकार प्रो० फिशर ने राष्ट्रीय लाभांश और आर्थिक कल्याण को परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित कर दिया है। यह बात मार्शल की परिभाषा में नहीं है। मार्शल तथा पीगू की परिभाषा में भी ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु यह विशेषता होते हुए भी प्रो० फिशर की परिभाषा को मार्शल की परिभाषा की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें कई दोष हैं, जिनमें निम्न उल्लेखनीय हैं :—

(१) फिशर की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश का माप करना मार्शल से भी अधिक कठिन है—व्यावहारिक दृष्टिकोण से मार्शल की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश को मापना इतना कठिन नहीं है जितना कि प्रो० फिशर की परिभाषा के अनुसार है। मार्शल के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश में किसी वर्ष विशेष में उत्पादित समस्त वस्तुओं और सेवाओं को शामिल किया जाता है। शुद्ध उत्पादन कितना-कितना हुआ इसका सही-सही पता लगाना कठिन है क्योंकि वस्तुओं का उत्पादन अनेक छोटे-छोटे उत्पादकों द्वारा किया जाता है, किन्तु इस बात को स्वीकार करना होगा कि शुद्ध उपयोग का, जो प्रो० फिशर की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश का निर्माण करता है, पता लगाना शुद्ध उत्पादन की अपेक्षा और भी कठिन है। इसका कारण यह है कि शुद्ध उपयोग शुद्ध उत्पादन की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र रखता है। यदि किसी एक वर्ष में एक उत्पादक ने पचास मन गेहूँ पैदा किया और वेचा तो उसका उपयोग करने वाला केवल एक ही व्यक्ति नहीं होगा वरन् हजारों व्यक्ति हो सकते हैं जोकि देश के विभिन्न भागों में बिखरे हुए हैं। अतः स्पष्ट है कि किन उपभोक्ताओं ने कितना-कितना उपभोग किया, इसका पता लगाना बहुत कठिन है।

(२) टिकाऊ वस्तुओं के जीवन का सही अनुमान लगाना भी कठिन है—टिकाऊ वस्तुओं के विशेषतः उन वस्तुओं के उपयोगी जीवन का जो कि १ वर्ष से भी अधिक चलती हैं, सही-सही अनुमान न लगाने के कारण भी राष्ट्रीय लाभांश,

की माप करना कठिन हो जाता है क्योंकि अनुमान तो आखिर अनुमान ही होता है और प्रायः वास्तविकता से भिन्न हो सकता है। उदाहरणार्थ, एक पियानो जिसका मूल्य १,००० रुपये है, ३१ मार्च १९६० को बनाया गया, लेकिन उसे १ जनवरी १९६१ से बजाने के काम में लिया गया। मार्शल व पीगू के अनुसार यह सम्पूर्ण राशि १९६१ के राष्ट्रीय लाभांश में शामिल नहीं की जा सकती। मान लीजिये कि वह पियानो ५ वर्ष तक अच्छी तरह बजाने के काम में आ सकता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस पियानो से सन् १९६१ में १०००/५, अर्थात् २०० रुपये के बराबर सेवा प्राप्त हुई है। अतः १९६१ के राष्ट्रीय लाभांश में केवल १०० रुपये ही सम्मिलित किये जायेंगे। वास्तव में किसी वस्तु का उपयोगी जीवन उसके ढंग से रखने और प्रयोग में लाने पर निर्भर है। यदि किसी वस्तु को लापरवाही से प्रयोग किया जाये, तो उसके जल्दी टूटने-फूटने का भय है। किन्तु, यदि सावधानी से वस्तु को काम में लाया जाये तो उसका उपयोगी जीवन बढ़ जाता है। इस दृष्टिकोण से उक्त पियानो का उपयोगी जीवन पांच वर्ष से अधिक भी हो सकता है और कम भी। अतः स्पष्ट है कि दोनों ही दशाओं में वास्तविक राष्ट्रीय लाभांश अनुमानित राष्ट्रीय लाभांश से भिन्न होगा।

(३) **टिकाऊ वस्तुओं के हस्तांतरित होते रहने के कारण वास्तविक जीवन का अनुमान लगाना और भी कठिन हो जाता है**—वस्तुओं के उपयोगी जीवन का अनुमान लगाने में एक अन्य कठिनाई यह प्रस्तुत होती है कि कोई भी टिकाऊ वस्तु प्रायः एक ही व्यक्ति के पास सदा नहीं रहती, वरन् एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को और दूसरे व्यक्ति से तीसरे व्यक्ति को बेची जाती रहती है। ऐसी दशा में उसके वर्तमान स्वामी से वस्तु के निर्माण तिथि की सही-सही जानकारी मिलना सम्भव नहीं है। उन सभी व्यक्तियों से, जो कि वस्तु के स्वामी रह चुके हैं, साक्षात्कार करना सम्भव नहीं है, क्योंकि हो सकता है कि वर्तमान स्वामी को उनके पते मालूम न हों और यदि मालूम भी हो तो सम्भव है कि उनमें से कुछ व्यक्तियों ने स्थान छोड़ दिया हो या मर गये हों। स्पष्ट है कि इन दशाओं में वस्तु के उपयोगी जीवन की गणना करना बहुत कठिन है।

प्रो० कैनन ने तो राष्ट्रीय लाभांश सम्बन्धी उपरोक्त सभी परिभाषाओं की इस आधार पर भी आलोचना की है कि किसी देश के राष्ट्रीय लाभांश का अध्ययन विश्व के अन्य देशों से पृथक रूप में नहीं करना चाहिये। क्योंकि अन्य देशों की उत्पादन और माग सम्बन्धी दशाओं का भी उसके उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। अतः जब तक अन्य देशों के उत्पादन और माग का ध्यान नहीं रखा जायेगा, तब तक किसी विशेष देश की राष्ट्रीय आय की चर्चा करना अपूर्ण ही साबित हो सकता है। उनका यह कहना भी सही है कि अन्य देशों का उत्पादन व माग एक देश के लोगों की आय को भी प्रभावित करते हैं। इसमें तो राष्ट्रीय लाभांश का अनुमान लगाने में कई कठिनाइयां बढ़ जाती है, किन्तु फिर भी केवल इस आधार पर हम राष्ट्रीय लाभांश की विचारधारा छोड़ नहीं सकते।

उपयुक्त परिभाषा :—

यह कहना अत्यन्त कठिन है कि मार्शल, पीगू और फिशर द्वारा दी गई राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषाओं में कौन सी श्रेष्ठ है। वास्तव में परिभाषा की उपयुक्तता इस उद्देश्य पर निर्भर करती है, जिसके लिये हमें उसकी आवश्यकता है। जब हमें उपभोग पर विचार करना हो, अर्थात् जब हम उपभोग की प्रवृत्ति का अध्ययन करना चाहते हों या आर्थिक कल्याण पर विचार करना चाहते हों तो निश्चित रूप से फिशर द्वारा दी गई परिभाषा उपयोगी सिद्ध होगी। इस प्रकार फिशर की परिभाषा न केवल ऐसी राष्ट्रीय आय के विचार को प्रस्तुत करती है जो तत्कालिक आर्थिक कल्याण से प्रत्यक्ष-रूपेण सम्बन्धित है वरन् उपभोग की प्रवृत्ति को भी प्रगट करती है और उससे बचत करने की क्षमता का भी ज्ञान हो सकता है। युद्ध एवं संकट की परिस्थितियों में इस प्रकार फिशर की परिभाषा के अनुरूप राष्ट्रीय आय का विचार अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकता है। दूसरी ओर, जब हमारा उद्देश्य दीर्घकालिक हो और हम आर्थिक विकास की गति का अध्ययन करना चाहते हो तो सैद्धान्तिक रूप से मार्शल और व्यवहारिक रूप से पीगू की परिभाषा को अधिक उपयुक्त पायेंगे। किन्तु ऐसी कोई परिभाषा नहीं है जो कि सैद्धान्तिक और व्यवहारिक तथा अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों दृष्टिकोणों से उचित हो।

२७

आर्थिक कल्याण

(Economic Welfare)

Q. What is welfare ? To what extent does the economic welfare serve as a barometer or index of total welfare ? Give a few examples of divergence between economic and total welfare.

(Agra 1956 M. A ; Agra 1964 M Com.; Indore 1966 M. Com.; Vikram 1964 M. A.)

प्रश्न—कल्याण क्या है ? आर्थिक कल्याण कहाँ तक कुल कल्याण का सूचक हो सकता है ? कुल कल्याण और आर्थिक कल्याण में विभिन्नता प्रगट करने वाले कुछ उदाहरण दीजिये।

(आगरा १९५६ एम० ए० आगरा १९६४ एम० कॉम० इन्दौर १९६६ एम० कॉम० विक्रम १९६४ एम० ए०)

उत्तर—कल्याण क्या है ? (What is welfare?)—कल्याण एक भावनात्मक शब्द है और हित या मंगल की भावना को प्रगट करता है। मानव-जाति सुख की खोज में संलग्न है अत वे सब कारण जो उसके इस उद्देश्य में सहायता करते हैं व्यापक अर्थ में कल्याण के अन्तर्गत सम्मिलित किये जा सकते हैं। सुख का अर्थ यदि सतोष से है तो यह आर्थिक और अनार्थिक या भौतिक और मानसिक दोनों ही प्रकार हो सकता है। मनुष्य को उपवास करके भी सतोष मिल सकता है और सुन्दर स्वादिष्ट और पौष्टिक आहार पाकर भी। एक ओर सुदृढ़ एवं सुसज्जित तथा शस्त्र सम्पन्न सेना किसी राष्ट्र के लिए हितकारी हो सकती है तो दूसरी ओर इससे भी बढ़कर पूर्ण निःशस्त्रीकरण ही विश्व-कल्याण के लिये वांछित है। अतः कल्याण एक सापेक्षिक विचार है और सापेक्षता के सदर्भ के अभाव में उसका कोई अर्थ नहीं है। कल्याण की व्याख्या भौतिक, सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोणों से अलग-अलग की जा सकती है। प्रोफेसर पीगू के अनुसार इस पर भावनात्मक (Subjective) और उपयोगितावादी (Utilitarian) दोनों दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। उन्हीं के अनुसार कल्याण उत्थान की परिस्थितियाँ और उनके सम्बन्ध हैं। इसे पूर्ण कल्याण की धारणा कह सकते है। इसे दो भागों में विभाजित किया जाता है—आर्थिक कल्याण और अनार्थिक कल्याण।

आर्थिक कल्याण सामाजिक कल्याण का वह भाग है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है। जो कल्याण इस प्रकार मुद्रा से नहीं मापा जा सकता है, उसे अनार्थिक कल्याण कहा जा सकता है। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि हम आर्थिक और अनार्थिक कल्याण के बीच में कोई दीवार खड़ी कर सकते हैं। प्रो० पीगू का विचार है कि ऐसा करना सम्भव नहीं है कि हम कल्याण के भाग को दूसरे भाग से अलग कर सकें। तथापि, प्रोफेसर केनन कहते हैं कि :—

"हमको इस सत्य का साहसपूर्वक सामना करना चाहिए कि आर्थिक और अनार्थिक संतोष के बीच में कोई निश्चित रेखा है। सम्भव है कि हम तुला के एक ओर से, जो निश्चय ही आर्थिक है, दूसरी ओर, जो निश्चय ही अनार्थिक है, चले जायें। परन्तु, हमें कोई न कोई, बीच में कहीं तो, दीवार मिलेगी जिसे हमें चढ़ना पड़े या खाई मिलेगी जिसे पार करना पड़े। फिर भी आर्थिक और अनार्थिक कल्याण के बीच कोई निश्चित सीमा नहीं है, किन्तु मुद्रा की माप तक पहुँचने की क्षमता ही एक ऐसा परीक्षण है जिससे दोनों के बीच में हम पहिचान स्थापित कर सकते हैं।"[1]

अत: स्पष्ट है कि आर्थिक कल्याण और अनार्थिक कल्याण के मध्य हम कोई पृथकता की रेखा नहीं खींच सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हम आर्थिक कल्याण से भिन्न होकर भी पूर्ण कल्याण का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते हैं। ऊपर से देखने से तो यही ज्ञात होता है कि चूंकि आर्थिक कल्याण पूर्ण कल्याण का ही एक अंग है, इसलिए वह पूर्ण कल्याण का सूचक हो सकता है और यदि आर्थिक कल्याण में कोई परिवर्तन होते हैं तो पूर्ण कल्याण में भी वैसे ही परिवर्तन होना चाहिए। आर्थिक कल्याण में वृद्धि या कमी होने पर पूर्ण कल्याण में भी वृद्धि या कमी होनी चाहिए। जब ऐसा होता है तब हम आर्थिक कल्याण को पूर्ण कल्याण का सूचक स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु ऐसा सदैव होता नहीं। प्रो० पीगू का मत है : परन्तु ऐसी कोई प्रतिभूति (Guarantee) नहीं है कि कल्याण के उस भाग से उत्पादित प्रभाव को जिसको द्रव्य के मापक से सम्बन्धित किया जा सकता है। कल्याण के दूसरे भागों से उत्पादित प्रभाव से खण्डित नहीं किया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में हमारे निष्कर्षों की व्यवहारिक उपयोगिता ही बर्बाद हो जाती है परन्तु हमारा अध्ययन कल्याण के आकार ज्ञात करने के लिए नहीं होता कि वह कितना अधिक या कम है परन्तु अध्ययन इस बात का है कि कल्याण के आकार में उन आकारों का क्या प्रभाव पड़ेगा जो राजनीतिज्ञों या दूसरे व्यक्तियों के द्वारा उत्पन्न किये जा सकते हैं। यदि आर्थिक कल्याण से पूर्ण कल्याण का अनुमान नहीं लगता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे अध्ययन से हमें यह सूचना भी न मिल सकेगी। यह तो

1. Prof. Cannan : Quoted by A. C. Pigou in the Economics Welfare P. 10.

ठीक है कि इससे हमें यह ज्ञात न होगा कि किसी आर्थिक कल्याण के उत्पन्न हो जाने के बाद पूर्ण कल्याण में पहले की अपेक्षा अन्त पड़ेगा परन्तु इससे हमें यह ज्ञात हो सकता है कि पूर्ण कल्याण उस परिस्थिति के कल्याण से भिन्न होगा जो आर्थिक कारण से उत्पन्न होने से पैदा होता।[1] हमें वास्तव में इसी सूचना की आवश्यकता भी है।

उपरोक्त पंक्तियों में हमने पूर्ण कल्याण व आर्थिक कल्याण के सम्बन्ध में चर्चा की है कि साधारणतया आर्थिक कल्याण मे परिवर्तन होने से पूर्व कल्याणार्थ में भी परिवर्तन न हो जाता है परन्तु यह तभी सम्भव है कि आर्थिक कल्याण मे कोई परिवर्तन न हो और पूर्ण कल्याण मे वृद्धि हो जावे। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि पूर्ण कल्याण मे कोई परिवर्तन न हो वरन् आर्थिक कल्याण मे वृद्धि या ह्रास हो जावे। ऐसे भी उदाहरण सामने आये हैं जब पूर्ण कल्याण मे कमी हो गई है जबकि आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हुई है। जब हम लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के हेतु वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तो इसमे लोगों को सन्तुष्टि प्राप्त होती है परन्तु दूसरी ओर हो सकता है कि निर्माण करने वाले कारीगरो के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़े जिससे असन्तुष्टि अधिक हो तो वस्तुओ के उपभोग से आर्थिक कल्याण में तो वृद्धि हुई परन्तु पूर्ण कल्याण मे ह्रास हुआ। इसी प्रकार से यदि देश की सुरक्षा के लिये वस्तुओं का उत्पादन न किया जाय वरन् लोगों के उपभोग के लिए उत्पादन किया जावे। ऐसी परिस्थिति में भी आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होने पर भी अनार्थिक कल्याण मे ह्रास हुआ इसी प्रकार से मादक वस्तुओं के उत्पादन व उपभोग से कुछ व्यक्तियों की तुरन्त सन्तुष्टि तो होती है परन्तु उसका प्रयोग अन्त में स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डालता है, जिससे पूर्ण कल्याण मे कमी आ जाती है यद्यपि आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हो गई है। अतः यह एक सामान्य परिस्थिति ही है कि आर्थिक कल्याण का प्रभाव पूर्ण कल्याण पर पड़ता है परन्तु विशेष परिस्थितियों में इसके विपरीत दिखाई देता है।

आर्थिक कल्याण पूर्ण कल्याण का सूचक दो परिस्थितियों मे हो सकता है :—

(१) कोई कारण जिसमें आर्थिक कल्याण प्रभावित होता है। वह कारण या तो पूर्ण कल्याण के दूसरे अनार्थिक भागो को प्रभावित न करे। या

(२) यदि इन अनार्थिक भागो को प्रभावित भी करे तो वह प्रभाव उसी प्रकार का होना चाहिये जैसा पहले कारण का है यदि वह प्रभाव वैसा होगा तो आर्थिक व पूर्ण कल्याण में समानता न रहेगी।

1. "It will not indeed tell us how total welfare, after the introduction of an economic cause, will differ from what it was before but it will tell us how total welfare will differ from what it would have been if that cause had been introduced."

A. C. Pigou : The Economic of welfare P. P. 12.

वास्तव में आर्थिक कारणों का प्रभाव आर्थिक कल्याण पर पड़ता है इनसे आर्थिक कल्याण में चाहे वृद्धि हो चाहे कमी, फिर भी हमें पूर्ण कल्याण के ऊपर इन आर्थिक कारणों के पड़ने वाले प्रभाव को देखना चाहिये। आर्थिक कल्याण व पूर्ण कल्याण एक दूसरे से पृथक नहीं है वरन् आर्थिक कल्याण पूर्ण कल्याण का एक भाग ही है। यह सम्भव हो सकता है कि कोई आर्थिक कारण आर्थिक कल्याण पर जो प्रभाव डालता है उसके बिल्कुल विपरीत प्रभाव पूर्ण कल्याण पर डाले जिससे यह प्रभाव एक दूसरे को खण्डित कर देते हैं। यह भी सम्भव है कि आर्थिक कारण का प्रभाव पूर्ण कल्याण पर बहुत अधिक पड़े और आर्थिक कल्याण पर इतना न पड़े (जैसे मादक वस्तुओं के उत्पादन में) तो पूर्ण कल्याण का प्रभाव कुछ खण्डित होने के पश्चात् भी बच जायेगा। यदि यह प्रभाव पूर्ण कल्याण पर बुरा है अर्थात् पूर्ण कल्याण कम हो जाता है तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि होने पर भी पूर्ण कल्याण कम हो जायगा जैसा कि ऊपर मादक वस्तु के उदाहरण से प्रकट है। अतः ऐसी परिस्थितियां सम्भव हैं जब आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है और पूर्ण कल्याण में कमी।

संक्षेप में अनार्थिक कल्याण (Non-Economic Welfare) पर आर्थिक कारणों का प्रभाव तीन प्रकार से पड़ सकता है जिससे अनार्थिक कल्याण में कमी होती है परन्तु आर्थिक कल्याण बढ़ता है। संक्षेप में अनार्थिक कल्याण पर आर्थिक कारणों का प्रभाव तीन प्रकार से पड़ सकता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक कल्याण पर व अनार्थिक कल्याण पर पड़ने वाले प्रभाव एक दूसरे के विपरीत होते हैं।

(१) **आय किस प्रकार उपार्जित की जाती है ? (२) आय किस प्रकार खर्च की जाती हैं ? व (३) सुरक्षा की इच्छा।** कुछ पेशे ऐसे हैं जिनमें काम करने से आय का उपार्जन तो होता ही है परन्तु इससे सन्तोष, प्रसन्नता व गर्व की भावना पैदा होती है। एक कलाकार चित्र बनाकर प्रसन्न होता है। एक अध्यापक पढ़ाकर सन्तोष का अनुभव करता है, इससे अनार्थिक कल्याण की भी वृद्धि होती है और आर्थिक कल्याण की भी परन्तु कभी-कभी पेशे अरुचिकर व मानहार (Humiliating) होते हैं जैसे जल्लादी का कार्य, मेहतर का कार्य, इत्यादि। इन पेशों में काम करने से अपने गर्व को आघात लगता है और आर्थिक कल्याण में कमी होती है जबकि आर्थिक कल्याण में उन्नति होती है।

मनुष्य की आय को खर्च करने का क्या ढंग है, इसका भी प्रभाव अनार्थिक कल्याण पर आर्थिक कल्याण के प्रभाव के विपरीत पड़ सकता है। आय को व्यय करने के ढंग से हीनता उत्पादक व आनन्द वर्द्धक दोनों ही प्रभाव पैदा हो सकते हैं। हम ऊपर मादक वस्तुओं के प्रयोग का उदाहरण दे चुके हैं। इसी प्रकार जुआ खेलना, सिग्रेट पीना, वेश्या-वृत्ति आदि है। इनसे यद्यपि तुरन्त सन्तोष तो मिलता है परन्तु अन्त में स्वास्थ्य व आचरण बिगड़ सकता है अर्थात् आर्थिक कल्याण में कमी हुई है परन्तु अनार्थिक कल्याण में वृद्धि हुई है।

' देश की सुरक्षा की भावना से भी अनार्थिक कल्याण पर प्रभाव आर्थिक कल्याण पर पड़ने वाले प्रभाव से उल्टा हो सकता है । आर्थिक कल्याण में कमी (जैसे मजदूरी कम मिले, युद्ध में चन्दा अधिक देना पड़े) इस हेतु स्वीकार कर ली जाती है कि देश की सुरक्षा का अच्छा प्रबन्ध होगा ।

अतः आर्थिक व अनार्थिक कल्याणों में वृद्धि या कमी साथ-साथ हो यह कोई आवश्यक नहीं है। परन्तु जैसा कि पहले ही उपरोक्त पंक्तियों में कह चुके हैं साधारणतया आर्थिक कल्याण से सम्बन्धित गुणात्मक निष्कर्ष पूर्ण कल्याण के गुणात्मक निष्कर्षों के ही समान होते हैं ।

आर्थिक कल्याण की वृद्धि से कभी-कभी अनार्थिक कल्याण में वृद्धि नही होती इसका मुख्य कारण यह है कि आर्थिक कारणों का प्रभाव तो आर्थिक कल्याण पर प्राय. एक समान पडता है, परन्तु यह प्रभाव राष्ट्रीय आय के द्वारा होता है । प्रो० पीगू का कथन है कि "साधारणतया आर्थिक कारण किसी देश के आर्थिक कल्याण पर प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से नहीं डालते वरन् आर्थिक कल्याण के उस वस्तुगत सहायक के निर्माण या प्रयोग के द्वारा डालते हैं जिसे अर्थशास्त्री लाभांश या राष्ट्रीय आय कहते हैं ।* जब आर्थिक कारणों का प्रभाव आर्थिक कल्याण पर राष्ट्रीय आय के द्वारा पड़ता है तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी या कमी। जब कोई आर्थिक कारण राष्ट्रीय आय मे वृद्धि कर देता है तो कहा जाता है कि आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो गई और राष्ट्रीय आय मे कमी हो जाने पर आर्थिक कल्याण मे कमी कही जाती है। किस प्रकार आर्थिक कल्याण मे वृद्धि पूर्ण कल्याण मे कमी पैदा कर देती है या पूर्ण कल्याण को बिल्कुल प्रभावित नही करती इसका विस्तार पूर्वक वर्णन उपरोक्त पक्तियो मे किया गया। राष्ट्रीय के स्तर मे कमी या वृद्धि से पूर्ण कल्याण मे कमी या वृद्धि ही हो, ऐसा सदैव सत्य नही होता और जैसा कि हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। यह बहुत कुछ आय के उपार्जन के या आय के व्यय करने ढग पर होता है या हृदय में दूसरी भावनाओं के उत्पन्न हो जाने से होना है। किस वातावरण में कार्य किया जाता है, इसका भी प्रभाव पड़ता है। अतः आर्थिक कल्याण पूर्ण कल्याण का सूचक या परिवर्तन दर्शक नही है।

---

* "Generally speaking, economic causes act upon the economic welfare of any country not directly, but through the making and using of that objective counter part of economic welfare, economists call the national dividend or national income."

Q. Explain fully how changes in the size and distribution of national dividend effect economic welfare.

(Agra 1964 M. com; Agra 1959 M. com.; Raj. 1957 M. com.; Agra 1951 M. A.)

प्रश्न—राष्ट्रीय लाभांश के परिणाम एवं वितरण में परिवर्तन आर्थिक कल्याण को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, पूर्णतः समझाइये।

(आगरा १९६४ एम. काम.; आगरा १९५९ एम. काम.; राज० १९५७ एम. काम.; आगरा १९५१ एम. ए.)

सामान्यतः आर्थिक कारण प्रत्यक्ष रूप से किसी देश के आर्थिक कल्याण को प्रभावित नहीं करते हैं, किन्तु आर्थिक कल्याण के उस वस्तुगत सहायक के निर्माण या प्रयोग के द्वारा प्रभावित करते हैं, जिसे अर्थशास्त्री राष्ट्रीय लाभांश या राष्ट्रीय आय कहते हैं। —पीगू

राष्ट्रीय लाभांश एवं आर्थिक कल्याण दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। कोई भी आर्थिक कारण आर्थिक कल्याण को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं कर सकता है, वरन् वह उसे अप्रत्यक्ष रूप से, राष्ट्रीय लाभांश के द्वारा प्रभावित करता है अर्थात् आर्थिक कारण केवल राष्ट्रीय लाभांश को प्रभावित करता हैं किन्तु आर्थिक कल्याण राष्ट्रीय लाभांश से सम्बन्धित होने के कारण स्वयं ही प्रभावित हो जाता है। राष्ट्रीय आय में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन का आर्थिक कल्याण पर प्रभाव करता हैं। एक आर्थिक कारण या तो राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में परिवर्तन पड़ता है या उसके वितरण में। दोनों ही दशाओं में आर्थिक कल्याण प्रभावित होता है। अतः राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण के सम्बन्ध का हम दो शीर्षकों में अध्ययन कर सकते हैं :—

(i) राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में परिवर्तन और आर्थिक कल्याण।

(ii) राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन और आर्थिक कल्याण।

नीचे हमने विस्तार से प्रकाश डाला है :—

(१) राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में परिवर्तन और आर्थिक कल्याण।

साधारणतः राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण (size) में परिवर्तनों और आर्थिक कल्याण में सीधा सम्बन्ध पाया जाता है। अर्थात् यदि राष्ट्रीय लाभांश के परिणाम में वृद्धि हो जाय तो आर्थिक कल्याण भी बढ़ जायेगा और यदि राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में कमी हो जाये, तो आर्थिक कल्याण भी घट जायेगा। राष्ट्रीय लाभांश का परिमाण अनेक बातों पर निर्भर है, जैसे भौतिक एवं मानवीय साधनों का उचित शोषण, उत्पादन विधि की कुशलता, यातायात एवं सन्देश वाहनों के

साधनों का विकास, बैंकिंग एवं बीमा-व्यवस्था की उन्नति, समुन्नत सामाजिक प्रथायें आदि। इन घटकों की उपस्थिति में राष्ट्रीय लाभांश बढता है और इनके अभाव में राष्ट्रीय लाभांश का परिमाण घटता है। राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि होने का आशय है देश में उपभोग के लिये अधिक वस्तुयें एवं सेवायें उपलब्ध होना और जब ऐसा होता है तो आर्थिक कल्याण पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। किन्तु राष्ट्रीय लाभांश कम होने का अर्थ है उपभोग के लिये कम वस्तुयें व सेवायें उपलब्ध होना और ऐसी दशा में आर्थिक कल्याण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय लाभांश के बढ़ने पर आर्थिक कल्याण में वृद्धि होना और राष्ट्रीय लाभांश के घटने पर आर्थिक कल्याण में कमी होने का नियम केवल सामान्य रूप में ही सही है अर्थात् इसके कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। इनका उल्लेख नीचे किया गया है।

राष्ट्रीय आय के बढ़ने पर किस दशाओं में आर्थिक कल्याण बढ़ेगा एवं घटेगा ?

प्रोफेसर पीगू का मत है कि यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से आर्थिक कल्याण में सदा ही वृद्धि हो जाती है। इसका कारण यह है कि कुछ बातें ऐसी भी हो सकती हैं जिनसे राष्ट्रीय लाभांश के बढ़ने पर भी आर्थिक कल्याण घट सकता है। अत. यह जानना आवश्यक है कि किन कारणों से राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि होने पर भी आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं होती है और किन कारणों से राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि होने पर आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है। ये कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) यदि गरीबों को मिलने वाले लाभांशों में कमी न हुई तो आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होगी और यदि गरीबों को मिलने वाले लाभांश में कमी आ गई तो आर्थिक कल्याण में कमी हो जायेगी गरीबों के लाभांश में थोड़ी भी वृद्धि कुल आर्थिक कल्याण को बहुत बढ़ा देती है जबकि धनियों के लाभांश में बहुत अधिक वृद्धि भी कुल आर्थिक कल्याण को उतना नहीं बढ़ा सकती है, क्योंकि प्रत्येक देश में धनियों की अपेक्षा गरीबों की सख्या अधिक होती है। इसी कारण से हम यह भी देखते हैं कि यदि राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में वृद्धि इस प्रकार हो कि उस देश के बहुसंख्यक गरीबों की आय घट जाये जबकि अल्पसंख्यक धनियों की आय बढ़ जाये तो राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में वृद्धि होने से देश के आर्थिक कल्याण में कोई वृद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि धनियों की आय में वृद्धि होने से जो लाभ होगा वह उस हानि की अपेक्षा कम होगा, जो गरीबों की आय में कमी हो जाने से उठाना पड़ेगा। अतः प्रोफेसर पीगू के शब्दों में यह प्रत्यक्ष है कि "यदि गरीबों को मिलने वाले लाभांश के अंश में कमी न आये, तो कुल राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में वृद्धि होने

से, अन्य बातों के रहने समान पर, अश्वयमेव आर्थिक कल्याण बढ़ जाता है।"[1]

(२) यदि रुचि परिवर्तन अच्छाई की ओर हुआ है, तो आर्थिक कल्याण बढ़ेगा अन्यथा घटेगा। जब राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में वृद्धि होती है तो लोगों को अधिक मात्रा में वस्तुएं एवं सेवायें उपभोग के लिये प्राप्त होती हैं। इसके फलस्वरूप उनकी रुचियों में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन अच्छाई की ओर भी हो सकता है और बुराई की ओर भी। यह परिवर्तन किस प्रकार का है, इस पर भी आर्थिक कल्याण का घटना बढ़ना निर्भर है। यदि रुचि परिवर्तन अच्छाई की ओर हुआ है तो आर्थिक कल्याण बढ़ेगा। यदि रुचि परिवर्तन बुराई की ओर हुआ है तो आर्थिक कल्याण घटेगा। उदाहरण के लिये यदि नये पुस्तकालय एवं वाचनालय खुलें तो लोगों में पढ़ने की रुचि बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि शराब घर खुलें तो लोगों में मद्यपान, जुआ इत्यादि दुर्व्यसनों की रुचि बढ़ती है। प्रथम दशा में राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि होने पर भी आर्थिक कल्याण में कमी होने की आशंका है। रुचि परिवर्तन के विषय में पीगू लिखते हैं कि **"जब मशीनों को परीक्षार्थ बाहर भेजा जाता है अथवा वस्तुओं को नमूने के रूप में बांटा जाता है। अथवा जब जनता को चित्र निःशुल्क दिखाये जाते हैं तो इन वस्तुओं में जन साधारण में इनको प्राप्त करने की इच्छा बढ़ जाती है। जब मदिरालय, लाटरी अथवा पुस्तकालय खोले जाने लगते हैं, तो शराब पीने, जुआ खेलने अथवा साहित्य पढ़ने का प्रेम न केवल तृप्त होता है वरन् बढ़ जाता है।"[2]** इसी प्रकार जैवन्स के शब्दों में **निःशुल्क पुस्तकालय तथा वाचनालय लोगों में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की इच्छा पैदा करते हैं और यदि निर्धनों के लिये कोई बचत बैंक खोला जाये तो वह उनमें मितव्ययिता की आदत डालता है।"***

(३) यदि राष्ट्रीय लाभांश को पैदा करने में कम सन्तोष का त्याग करना पड़ा तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी और यदि अधिक सन्तोष त्यागना पड़ा है तो आर्थिक कल्याण घट जायेगा। जैसा कि प्रोफेसर पीगू ने कहा है, समाज का आर्थिक कल्याण राष्ट्रीय आय के पैदा करने में बलिदान की गई सन्तुष्टि के अन्त पर निर्भर

---

1. "It is evident that provided that dividend occuring to the poor is not diminished, increases in the size of the aggregate of national dividend, if they occur in isolation without anything else whatever happening must involve increases in economic welfare."

2. "Thus, when machines are sent out on trial, or articles, presented in sample packets or pictures exhibited free to the public, the popular desire for these objects tends to be augmented. When public houses or lotteries or libraries are easily accesible, the taste for drinking or gambling or literature is not merely gratified, but is also stimulated." —Pigou

* "Free libraries are engines for creating the habitual power of enjoying high class literature and Savings Bank, it confined to the oor is an engine for Teaching Thrifit." —Jevons

होता है। यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय मे वृद्धि उस देश में नई उत्पादन विधियो का प्रचार होने से अथवा प्रशासन व्यवस्था में सुधार होने से हुई है तो आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होती है। इसके विपरीत, यदि कार्य के घण्टे बढाकर, स्त्री, बच्चो को काम पर लगाकर, अस्वस्थ वातावरण मे काम करने के लिये श्रमिको को मजबूर करके राष्ट्रीय लाभांश मे वृद्धि की गई तो इससे आर्थिक कल्याण मे वृद्धि नहीं होगी, क्योकि यहाँ लाभांश की वृद्धि करने मे जिस सन्तोष का त्याग किया गया है वह उस सन्तोष से कम है जोकि बढे हुए लाभांश के फलस्वरूप मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होना या न होना इस बात पर भी निर्भर होता है कि राष्ट्रीय लाभांश किस प्रकार बना है।

(४) यदि जनसंख्या में स्थिरता हो या उसमे केवल साधारण वृद्धि हुई है तो आर्थिक कल्याण बढ़ेगा और यदि जनसंख्या में अधिक वृद्धि हुई है तो आर्थिक कल्याण घटेगा। यदि राष्ट्रीय लाभांश के बढने के साथ-साथ देश की जनसंख्या मे इतनी वृद्धि हुई है कि जिसमें जनसंख्या बढी है तो ऐसी दशा मे राष्ट्रीय लाभांश के बढ़ने पर सम्भव है कि आर्थिक कल्याण मे कोई वृद्धि न हो, और वह उल्टे घट जाय। अतः देश मे आर्थिक कल्याण की वृद्धि होने के लिये प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होना आवश्यक है और आय प्रति व्यक्ति तब ही बढ सकती है जबकि जनसंख्या स्थिर रहे या उसमे वृद्धि राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि के अनुपात में बहुत कम हो। इस बात को भारत की राष्ट्रीय आय के उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। पंचवर्षीय आयोजना के फलस्वरूप देश की राष्ट्रीय आय काफी बढ गई है किन्तु जनता को शिकायत है कि उसकी सुविधाओ मे कोई वृद्धि नही हुई है। इस शिकायत का कारण यह है कि यदि एक ओर राष्ट्रीय आय बढी है तो दूसरी ओर जनसंख्या मे भी तेजी से वृद्धि हुई है, जिसके फलस्वरूप श्रमिको आदि की आय जीवन-निर्वाह-स्तर तक घटी हुई है और उनकी वास्तविक आय मे वृद्धि नही होने पाई है और यही कारण है कि हमारे सुयोग्य प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने पंचवर्षीय योजना की सफलता को जनसंख्या की वृद्धि रोकने पर निर्भर बताया है।

(५) यदि उपयोगी वस्तुओं की वृद्धि हुई है, तो आर्थिक कल्याण बढ़ेगा अन्यथा घटेगा—यदि राष्ट्रीय लाभांश मे वृद्धि के फलस्वरूप ऐसी वस्तुओ और सेवाओं का उत्पादन बढ गया है, जिनके प्रयोग की जनता को आदत नही है, तो उस दशा में आर्थिक कल्याण मे कोई वृद्धि नही होगी। उदाहरण के लिये, यदि भारत मे बैलगाडियो का अधिक निर्माण हो, तो उससे देश के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होगी, क्योकि कृषक प्रधान देश मे बैलगाडियों का अच्छा उपयोग किया जायगा। किन्तु अब भारतीय कृषक समाज के लिये सस्ती जनता कारो की बाढ आ जाय, इससे तो उनके आर्थिक कल्याण मे वृद्धि नही होगी, क्योंकि भारतीय कृषक को इनका प्रयोग करने का आदि नही है। जब भारतीय कृषक समाज अपनी आय बढने के साथ-साथ अपना रहन-सहन भी बदल ले और सभ्य जीवन की वस्तुयें प्रयोग

करने लगे, तो उस दशा में जनता कारों का निर्माण होने से उसके आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो सकेगी। (वर्तमान परिस्थितियों में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के अर्थशास्त्री प्रो० बोलोगा ने भारत में जनता कारों के निर्माण की स्कीम को कोरा पागलपन बतलाया है)।

(ii) **राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन एवं आर्थिक कल्याण**—राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन होने का अर्थ है कि एक वर्ग के व्यक्तियों से आय दूसरे वर्ग के व्यक्तियों में हस्तांतरित हो गई है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रथम वर्ग अब पहले से कम वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग कर सकेगा, क्योंकि उसकी आय में कमी आ गई है, जबकि द्वितीय वर्ग अब पहले से अधिक वस्तुओं एवं सेवाओं का उपभोग कर सकेगा, क्योंकि उसकी आय बढ़ गई है। यहाँ जिन दो वर्गों की चर्चा की गई है वह मुख्यत: धनी वर्ग एवं निर्धन वर्ग से है। वास्तव में राष्ट्रीय आय के वितरण का परिवर्तन दो दिशाओं में हो सकता है—(i) धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की आय का हस्तांतरण और (ii) निर्धन वर्ग से धनी वर्ग की आय का हस्तांतरण। एक वर्ग से दूसरे वर्ग को राष्ट्रीय आय का हस्तांतरण भी अनेक तरह से हो सकता है और प्रत्येक दशा में अलग-अलग परिणाम होते हैं।

राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन की रीतियाँ :—

(i) **प्रत्यक्ष रूप से क्रय-शक्ति का हस्तांतरण द्वारा**—प्रत्यक्ष रूप से निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन करने का अर्थ है कि धनियों से क्रय-शक्ति के कुछ भाग को लेकर निर्धन वर्ग के लोगों को हस्तांतरित कर दिया जाय। इससे धनियों की आय कम हो जायेगी और निर्धनों की आय बढ़ जायगी। क्रय-शक्ति का यह हस्तांतरण विपरीत दशा में भी हो सकता है, अर्थात् निर्धनों से क्रय-शक्ति लेकर धनियों को दी जा सकती है। ऐसा करने से निर्धन अधिक निर्धनी और धनिक अधिक धनी हो जायेंगे तथा स्पष्ट है कि ऐसी दशा में राष्ट्रीय आय के वितरण की असमानता बजाय घटने के और बढ़ जायगी।

(ii) **अप्रत्यक्ष हस्तांतरण**—क्रय-शक्ति का हस्तांतरण एक वर्ग से दूसरे वर्ग को अप्रत्यक्ष रूप से भी किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष रूप से क्रय-शक्ति का हस्तांतरण करने की दो रीतियां हैं—(i) उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन की विधियों में सुधार—[illegible]पादन प्रणाली में इस प्रकार का सुधार कर दिया जाय कि वे वस्तुयें [illegible] निर्धन वर्ग के लोग करते हैं, सस्ती हो जायें और जिनका उपभोग [illegible]ग करते हैं, उनकी उत्पादन प्रणाली में इस प्रकार सुधार कर दिया [illegible]गी हो जायें। इसके फलस्वरूप देश के बहुसंख्यक निर्धन व्यक्ति [illegible] पहले की तुलना में अधिक वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग करके [illegible]ुष्टि प्राप्त करने लगेंगे जबकि देश के अल्प संख्यक धनी लोग अपनी [illegible]ले की तुलना में कम वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग कर पायेंगे। इस [illegible] पर सन्तुष्टि एवं आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो जायेगी बशर्ते राष्ट्रीय

लाभांश के परिमाण मे कोई परिवर्तन न होने पायें। (ii) राशनिंग आदि युक्तियाँ—सरकार राशनिंग अथवा उपयुक्त प्रशुल्क नीति या कोई ऐसी ही अन्य युक्ति द्वारा धनी व्यक्तियों को अपनी माग उन वस्तुओं से जो कि गरीबों के लिये महत्वपूर्ण हैं और जो उत्पादन ह्रास नियम के अन्तर्गत पैदा की जा रही है, हटा लें तो ऐसी दशा में ऐसी वस्तुओं की माग में कमी होने से मूल्य गिर जायेंगे। इससे निर्धन व्यक्तियों को अधिक वस्तुयें एव सेवाओं के उपभोग का अवसर मिलेगा और कुल पर आर्थिक कल्याण बढ़ जायगा, बशर्ते राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में कोई परिवर्तन न होने पावे।

(१) निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तनों का प्रभाव—निर्धनों के पक्ष मे राष्ट्रीय लाभांश के वितरण मे परिवर्तन होने का आर्थिक कल्याण पर जो प्रभाव पड़ता है उसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—(१) धनी वर्ग के लोगों से उसकी आय का वह भाग लेकर जिसका वे उपभोग नही करते, निर्धन व्यक्तियों को दे देने से, जिसे प्राप्त करने के लिये वे बहुत इच्छुक रहते हैं, आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो जायगी। इसका कारण यह है कि व्यक्ति का कल्याण उसकी कुल आय पर नहीं वरन् आय के उस भाग पर निर्भर होता है जिसे वह उपभोग पर व्यय करता है।

(२) आय का वह भाग, जिसकी एक धनी व्यक्ति को बहुत कम उपयोगिता है, निर्धन व्यक्ति को जिसके लिए उसकी बहुत उपयोगिता है दे दिया जाय तो इससे आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। इस तर्क का आधार उपयोगिता ह्रास नियम है। जिस प्रकार अन्य वस्तुओं में उक्त नियम लागू होता है, उसी प्रकार वह आय मे भी लागू होता है। आय में इस नियम के अनुसार जैसे-जैसे व्यक्ति की आय बढ़ती जाती है वैसे-वैसे व्यक्ति के लिये उसकी उपयोगिता कम होती जाती है।

(३) धनवानो के सन्तोष का एक बहुत बडा भाग जो उन्हे अधिकता से प्राप्त होता है वह उनकी निरपेक्ष (Absolute) आय से न होकर तुलनात्मक (Relative) आय से होता है। अत: यदि सब धनवानो की आय मे समान रूप से कमी करदी जाय तो इससे उसके सन्तोष को हानि नही पहुँचेगी, क्योंकि उनकी अमीरी पूर्ण अनुपात में ही बनी रहेगी, लेकिन निर्धनो को उस आय के मिलने से उनके सन्तोष एवं आर्थिक कल्याण मे बहुत वृद्धि हो जायेगी।

उपरोक्त बातो के आधार पर ही पीगू ने यह निष्कर्ष निकाला कि "कोई कारण जो गरीबों के हाथ में वास्तविक आय के निरपेक्ष भाग में वृद्धि कर देता है, वह सामान्य रूप से आर्थिक कल्याण की वृद्धि करेगा बशर्ते राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में किसी प्रकार से कोई कमी न होवे।"[1]

1. "Any cause which increases the absolute share of real income in the hands of the poor provided of that it does not lead to a contraction in the size of the National Dividend from any point of view, will, in general, increase economic-welfare." —Pigou.

करने लगे, तो उस दशा में जनता कारों का निर्माण होने से उसके आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो सकेगी। (वर्तमान परिस्थितियों में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के अर्थशास्त्री प्रो० बोलोगा ने भारत में जनता कारों के निर्माण की स्कीम को कोरा पागलपन बतलाया है)।

(ii) **राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन एवं आर्थिक कल्याण**—राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन होने का अर्थ है कि एक वर्ग के व्यक्तियों से आय दूसरे वर्ग के व्यक्तियों में हस्तांतरित हो गई है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रथम वर्ग अब पहले से कम वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग कर सकेगा, क्योंकि उसकी आय में कमी आ गई है, जबकि द्वितीय वर्ग अब पहले से अधिक वस्तुओं एवं सेवाओं का उपभोग कर सकेगा, क्योंकि उसकी आय बढ़ गई है। यहाँ जिन दो वर्गों की चर्चा की गई है वह मुख्यतः धनी वर्ग एवं निर्धन वर्ग से है। वास्तव में राष्ट्रीय आय के वितरण का परिवर्तन दो दिशाओं में हो सकता है—(i) धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की आय का हस्तांतरण और (ii) निर्धन वर्ग से धनी वर्ग की आय का हस्तांतरण। एक वर्ग से दूसरे वर्ग को राष्ट्रीय आय का हस्तांतरण भी अनेक तरह से हो सकता है और प्रत्येक दशा में अलग-अलग परिणाम होते हैं।

राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन की रीतियाँ :—

(i) **प्रत्यक्ष रूप से क्रय-शक्ति का हस्तांतरण द्वारा**—प्रत्यक्ष रूप से निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन करने का अर्थ है कि धनियों से क्रय-शक्ति के कुछ भाग को लेकर निर्धन वर्ग के लोगों को हस्तांतरित कर दिया जाय। इससे धनियों की आय कम हो जायेगी और निर्धनों की आय बढ़ जायगी। क्रय-शक्ति का यह हस्तांतरण विपरीत दशा में भी हो सकता है, अर्थात् निर्धनों से क्रय-शक्ति लेकर धनियों को दी जा सकती है। ऐसा करने से निर्धन अधिक निर्धनी और धनिक अधिक धनी हो जायेंगे तथा स्पष्ट है कि ऐसी दशा में राष्ट्रीय आय के वितरण की असमानता बजाय घटने के और बढ़ जायगी।

(ii) **अप्रत्यक्ष हस्तांतरण**—क्रय-शक्ति का हस्तांतरण एक वर्ग से दूसरे वर्ग को अप्रत्यक्ष रूप से भी किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष रूप से क्रय-शक्ति का हस्तांतरण करने की दो रीतियां हैं—(i) उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन की विधियों में सुधार—उत्पादन प्रणाली में इस प्रकार का सुधार कर दिया जाय कि वे वस्तुयें जिनका उपभोग निर्धन वर्ग के लोग करते हैं, सस्ती हो जायें और जिनका उपभोग धनी वर्ग के लोग करते हैं, उनकी उत्पादन प्रणाली में इस प्रकार सुधार कर दिया जाये कि वे महंगी हो जायें। इसके फलस्वरूप देश के बहुसंख्यक निर्धन व्यक्ति अपनी आय से पहले की तुलना में अधिक वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग करके अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करने लगेंगे जबकि देश के अल्प संख्यक धनी लोग अपनी आय से पहले की तुलना में कम वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग कर पायेंगे। इस प्रकार कुल पर सन्तुष्टि एवं आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो जायेगी बशर्ते राष्ट्रीय

लाभांश के परिमाण मे कोई परिवर्तन न होने पायें। (ii) राशनिंग आदि युक्तियाँ—सरकार राशनिंग अथवा उपयुक्त प्रशुल्क नीति या कोई ऐसी ही अन्य युक्ति द्वारा धनी व्यक्तियों को अपनी माग उन वस्तुओं से जो कि गरीबों के लिये महत्वपूर्ण हैं और जो उत्पादन ह्रास नियम के अन्तर्गत पैदा की जा रही है, हटा लें तो ऐसी दशा में ऐसी वस्तुओं की मांग मे कमी होने मे मूल्य गिर जायेंगे। इससे निर्धन व्यक्तियों को अधिक वस्तुयें एव सेवाओं के उपभोग का अवसर मिलेगा और कुल पर आर्थिक कल्याण बढ जायगा, बशर्ते राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण मे कोई परिवर्तन न होने पावे।

(१) निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तनों का प्रभाव—निर्धनों के पक्ष मे राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन होने का आर्थिक कल्याण पर जो प्रभाव पड़ता है उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —(१) धनी वर्ग के लोगो से उसकी आय का वह भाग लेकर जिसका वे उपभोग नही करते, निर्धन व्यक्तियों को दे देने से, जिसे प्राप्त करने के लिये वे बहुत इच्छुक रहते हैं, आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हो जायगी। इसका कारण यह है कि व्यक्ति का कल्याण उसकी कुल आय पर नही वरन् आय के उस भाग पर निर्भर होता है जिसे वह उपभोग पर व्यय करता है।

(२) आय का वह भाग, जिसकी एक धनी व्यक्ति को बहुत कम उपयोगिता है, निर्धन व्यक्ति को जिसके लिए उसकी बहुत उपयोगिता है दे दिया जाय तो इससे आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। इस तर्क का आधार उपयोगिता ह्रास नियम है। जिस प्रकार अन्य वस्तुओ मे उक्त नियम लागू होता है, उसी प्रकार वह आय में भी लागू होता है। आय मे इस नियम के अनुसार जैसे-जैसे व्यक्ति की आय बढ़ती जाती है वैसे-वैसे व्यक्ति के लिये उसकी उपयोगिता कम होती जाती है।

(३) धनवानों के सन्तोष का एक बहुत बड़ा भाग जो उन्हे अधिकता से प्राप्त होता है वह उनकी निरपेक्ष (Absolute) आय से न होकर तुलनात्मक (Relative) आय से होता है। अतः यदि सब धनवानों की आय में समान रूप से कमी करदी जाय तो इससे उसके सन्तोष को हानि नहीं पहुँचेगी, क्योंकि उनकी अमीरी पूर्ण अनुपात मे ही बनी रहेगी, लेकिन निर्धनों को उस आय के मिलने से उनके सन्तोष एवं आर्थिक कल्याण मे बहुत वृद्धि हो जायेगी।

उपरोक्त बातों के आधार पर ही पीगू ने यह निष्कर्ष निकाला कि "कोई कारण जो गरीबों के हाथ में वास्तविक आय के निरपेक्ष भाग मे वृद्धि कर देता है, वह सामान्य रूप से आर्थिक कल्याण की वृद्धि करेगा बशर्ते राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में किसी प्रकार से कोई कमी न होवे।"[1]

1. "Any cause which increases the absolute share of real income in the hands of the poor provided of that it does not lead to a contraction in the size of the National Dividend from any point of view, will, in general, increase economic-welfare." —Pigou.

इस निष्कर्ष के विरुद्ध प्राय: निम्न तर्क दिये जाते हैं :—

(१) धनियों और निर्धनों की मानसिक रचना एक समान नहीं होती है। अत: निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन से आर्थिक कल्याण में कोई वृद्धि नहीं होगी। धनी व्यक्ति अधिक आय को व्यय करने के आदि होते हैं, जिसके कारण अधिक आय से उन्हें अधिक सन्तोष मिलता है जबकि निर्धन व्यक्ति निर्धनता का जीवन बिताने के आदि होते हैं, जिससे बढ़ी हुई आय को वे शराब, जुआ आदि व्यय करने के लिये उत्साहित होते हैं।

(२) आय के साथ निर्धनों की जनसंख्या में भी वृद्धि होती है, जिससे आय के बढ़ने का सुप्रभाव नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में आर्थिक कल्याण में कोई वृद्धि नहीं होती है।

(३) यदि वितरण के सुधार के फलस्वरूप कमजोर व अपंग बच्चे जीवित रहने लगे तो दीर्घकालीन दृष्टिकोण से आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं होगी। वितरण में सुधार के पूर्व कमजोर बच्चे आय कम होने के कारण मर जाते थे, किन्तु अब ये जीवित रहेंगे, इससे भविष्य की श्रम-शक्ति निर्बल हो जायगी।

(४) जिन दशाओं में धनी व्यक्ति पैतृक या प्रशिक्षा के प्रभाव से गरीब व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ दी हुई आय से अधिक सन्तोष प्राप्त कर सकता है, उनमें राष्ट्रीय लाभांश में गरीबों के पक्ष में परिवर्तन से आर्थिक कल्याण नहीं बढ़ेगा।

किन्तु ये तर्क बहुत सीमा तक थोथे प्रतीत होते हैं। अमीरों और गरीबों की मानसिक रचना में कोई विशेष भेद नहीं है जिसके आधार पर कहा जा सके कि अमीर अपनी अधिक आय का दुरुपयोग नहीं करेंगे और गरीब उसका दुरुपयोग करेंगे। प्राय: देखा जाता है कि निर्धनों की आय बढ़ने से कुछ समय तो उसका दुरुपयोग होता रहता है लेकिन इसके पश्चात उसका सदुपयोग होना प्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार, खोजों से यह ज्ञात हुआ है कि मजदूरी बढ़ने से शिक्षा में वृद्धि होती है। चरित्र बढ़ता है और परिवार छोटे-छोटे होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, भावी श्रमिक शक्ति निर्बल होने का भय भी निराधार है, क्योंकि अधिक खाने-पीने के अभाव से बच्चे निर्बल हैं, तो अब खाने-पीने से वे स्वस्थ हो जायेंगे, वातावरण में परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य की आदत और आचार-व्यवहार में भी परिवर्तन होने लगता है। धीरे-धीरे निर्धन व्यक्ति भी अधिक आय का उपभोग करने के आदि बन जाते हैं। यदि वस्तुओं के मूल्य में कमी करके अथवा धीरे-धीरे निर्धन व्यक्तियों की आय में वृद्धि की जाती है, तो लोग आय का अपव्यय नहीं करेंगे। अत: यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन निश्चित एवं [illegible] आर्थिक कल्याण में वृद्धि करते हैं। प्रोफेसर पीगू के शब्दों में—"हमें यह [illegible] निकालने में संकोच नहीं करना चाहिये कि यदि कुल राष्ट्रीय लाभांश में [illegible] नहीं होती है तो गरीबों की वास्तविक आय में कोई भी वृद्धि जो कि धनीों

की वास्तविक में उतनी कमी करने से हुई है, विस्तृत सीमाओं के भीतर निश्चित रूप से आर्थिक कल्याण को बढ़ायेगी।"[1]

Q To what extent is it possible or advisable to use national income as an index of economic welfare? (Raj. 1960, M A.)

प्रश्न—राष्ट्रीय आय को आर्थिक कल्याण के सूचक की भांति प्रयोग करना कहाँ तक सम्भव एव उचित है? (राज० १९६०, एम० ए०)

Or

Q. What do you understand by economic welfare? Discuss its relation with national dividend? (Agra, 1958, M A; Vikram 1958, M. A.)

अथवा

प्रश्न—आर्थिक कल्याण से क्या समझते है? राष्ट्रीय लाभांश से उसके सम्बन्ध का विवेचन कीजिये। (आगरा, विक्रम १९५८, एम० ए०)

Or

Q. Discuss the relationship between the economic welfare and the national dividend of a country (Agra 1956, M. A.)

अथवा

प्रश्न—किसी देश के राष्ट्रीय लाभांश एव आर्थिक कल्याण के सम्बन्ध का विवेचन कीजिए। (आगरा १९५६, एम० ए०)

Or

Q. "Economic causes act upon the economic welfare and the country not directly but through the making and rising of that objective counter part of economic welfare, what economists call the national dividend or national income" (Pigou). Discuss.

(Agra 1963 M. Com; Agra 1949, 1953, M. A.)

अथवा

प्रश्न—"आर्थिक कारण आर्थिक कल्याण को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करते है, वरन् वे आर्थिक कल्याण के उस निरपेक्ष भाग जिसे अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय कहते हैं, के निर्माण एवं विकास के द्वारा प्रभावित करते है।" (पीगू) की विवेचना कीजिए। (आगरा १९५३ एम० कॉम; आगरा १९४९, १९५३, एम० ए०)

---

1. "We must not hesitate, therefore to conclude that, so long as the dividend as a whole is not diminished, any increase, with in wide limits, in the real income enjoyed by the poorer classes, at the expense of an equal increase in that enjoyed by the richer classes, is practically certain to involve an addition to economic welfare."

Or

Q. Explain the recent changes in the concept of economic welfare-what is its relation with National Dividend ?

(Indore 1965 M. A.)

अथवा

प्रश्न—आर्थिक कल्याण के तात्पर्य में हुए परिवर्तन समझाइए। उसका राष्ट्रीय लाभांश से क्या सम्बन्ध है ? **(इन्दौर १९६५ एम० ए०)**

उत्तर—आर्थिक कल्याण तथा राष्ट्रीय लाभांश परस्पर एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। किसी देश का आर्थिक उस देश के राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) की बनावट, आकार तथा वितरण के ढंग पर निर्भर रहता है। किसी समय में किसी देश के राष्ट्रीय लाभांश में परिवर्तन उसके देश के लोगों के आर्थिक कल्याण में भी उसी अनुपात में परिवर्तन करता है। यदि किसी समय में देश के राष्ट्रीय लाभांश के आकार में वृद्धि होती है तो देश के आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि राष्ट्रीय लाभांश के आकार में संकुचन होता है तो इसके साथ ही साथ आर्थिक कल्याण भी संकुचित हो जाता है। लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि आर्थिक कल्याण क्या है ? प्रसिद्ध अर्थशास्त्री पीगू के अनुसार "**जब हमारी खोज का क्षेत्र सामाजिक कल्याण (Social Welfare) के उस भाग तक सीमित हो जाता है जिसे हम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से द्रव्य के मापदन्ड से सम्बन्धित कर सकते हैं। कल्याण के इस भाग को आर्थिक कल्याण कहा जा सकता है।**"[1] पीगू की परिभाषा को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने कल्याण को दो भागों, आर्थिक तथा अनार्थिक कल्याण (Uneconomic Welfare) में विभाजित किया है और अर्थशास्त्री का सम्बन्ध केवल आर्थिक कल्याण से है। लेकिन आर्थिक कल्याण तथा अनार्थिक कल्याण के मध्य स्पष्ट भेद को सूचित करने वाली एक दीवार खड़ी करना अत्यन्त कठिन कार्य है। पीगू ने स्वयं आर्थिक कल्याण एवं अनार्थिक कल्याण के बीच भेद करने की कठिनाई को स्वीकार किया है। पीगू के ही शब्दों में—"**निःसन्देह यह सम्भव नहीं है कि इसे दूसरे भाग से दृढ़तापूर्वक पृथक कर दिया जाय, क्योंकि वह भाग जो कि द्रव्य से सम्बन्धित किया जा सकता है उसी प्रकार भिन्न होगा जिस प्रकार कि हम सकना (Can) का अर्थ "सरलता से मापा जा सकना' से लगाते हैं। इसी लिए हमारे**

---

1. Hence the range of our enquiry becomes restricted to that part of social welfare that can be brought directly or indirectly into relation with the measuring rod of money. This part of welfare may be called economic-welfare. —Pigou.

क्षेत्र की बाह्य रेखा आवश्यक रूप से अनिश्चित है।"[1] इस सम्बन्ध में कैनन ने भी कुछ इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। कैनन के ही शब्दों में "हमें इस बात का सामना करना चाहिये और साहस के साथ सामना करना चाहिये कि आर्थिक तथा अनार्थिक सन्तोष के बीच कोई निश्चित रेखा नहीं है और इसीलिए अर्थशास्त्र के कार्य-क्षेत्र (Province) को राजनैतिक क्षेत्र अथवा भूमि सम्बन्धी सम्पत्ति की भांति खम्भों की पंक्ति अथवा चहार दीवारी के द्वारा अंकित नहीं कर सकते। हम पटरी के एक किनारे से जो नि:सन्देह आर्थिक है चलकर दूसरे किनारे पर जो नि:सन्देह अनार्थिक है बिना कहीं रास्ते में किसी चहार दीवारी को लांघे अथवा किसी खाई को पार किये पहुँच सकते हैं।"[2] आर्थिक कल्याण की उपरोक्त परिभाषाओं को देखने से यही प्रतीत होता है कि आर्थिक तथा अनार्थिक कल्याण के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं है। लेकिन इनका अर्थ यह नहीं है कि यदि आर्थिक तथा अनार्थिक कल्याण के मध्य कोई स्पष्ट रेखा खींचना कठिन कार्य है तो हमें आर्थिक तथा अनार्थिक कल्याण दोनों को एक ही समझना चाहिये। वास्तव में आर्थिक तथा अनार्थिक कल्याण दो विभिन्न बातें हैं और इन दोनों के बीच में अन्तर द्रव्य के मापदण्ड द्वारा स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार आर्थिक कल्याण से हमारा तात्पर्य कल्याण के उस भाग से है जिसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से द्रव्य के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सके।

जैसा कि प्रारम्भ में बताया जा चुका है कि आर्थिक कल्याण तथा राष्ट्रीय लाभांश में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। कोई भी कारण जो राष्ट्रीय लाभांश के प्रकार तथा वितरण 'प्रणाली को प्रभावित करता है।' कोई भी आर्थिक कारण या राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में परिवर्तन करता है अथवा राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में। दोनों ही स्थितियों में आर्थिक कल्याण में परिवर्तन होता है।

---

1. It is not indeed possible to separate it in any rigid way from other parts, for the part which can be brought into rotation with a money measure will be different according as we mean by can, "Can easily" or "Can with mild straining" or "Can with violent straining." The out-line of our territory, therefore necessarily vogue.

—Pigou.

2. We must face and face boldly, the fact that there is no practise line between economic and non economic satisfactions and, therefore, the province of economics cannort be marked out by a row of posts or a pronce, like a [illegible] or a landed property. [illegible] nic at one end of the [illegible] the other and without [illegible] to cross.

—Edwin Cannon

राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में परिवर्तन तथा आर्थिक कल्याण (Changes in the size of National Dividend and Economic Welfare) - साधारणतया यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय लाभांश तथा आर्थिक कल्याण में सीधा सम्बन्ध होता है। यदि राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि होती है तो उसके साथ ही साथ आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होती है। कारण कि राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि हो जाने से समाज में लोगों को अधिक वस्तुयें एवं सेवायें उपभोग करने के लिये उपलब्ध होंगी। इसी प्रकार यदि राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में कमी होती है तो इसके साथ ही साथ आर्थिक कल्याण में भी कमी होती है, क्योंकि राष्ट्रीय लाभांश के कम हो जाने से समाज में लोगों को कम वस्तुयें तथा सेवायें उपभोग करने के लिये प्राप्त होंगी। फिर भी राष्ट्रीय लाभांश के सम्बन्ध में उपरोक्त सामान्य धारणा निम्नलिखित बातों पर आधारित है :—

सर्वप्रथम राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में परिवर्तन इस प्रकार होना चाहिये कि उसके कारण गरीबों को मिलने वाले लाभांश में किसी प्रकार की कमी न होने पावें। क्योंकि यदि राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में परिवर्तन के द्वारा गरीबों के लाभांश में कमी आ जायेगी तो इससे आर्थिक कल्याण भी कम हो जायेगा। गरीबों के लाभांश में थोड़ी सी भी वृद्धि कुल आर्थिक कल्याण में बहुत अधिक वृद्धि कर देती है जबकि अमीरों के लाभांश में बहुत अधिक वृद्धि भी कुल आर्थिक कल्याण में अधिक वृद्धि नहीं करती। इसका कारण यह है कि देश में अमीरों की अपेक्षा गरीबों की संख्या अधिक है। यदि राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में वृद्धि इस प्रकार होती है कि उससे देश के बहुसंख्यक निर्धनों की आय कम हो जाती है और अल्पसंख्यक धनवानों की आय में वृद्धि हो जाती है तो राष्ट्रीय लाभांश के इस परिवर्तन से देश के आर्थिक कल्याण में अधिक वृद्धि नही होगी, क्योंकि धनवानों की आय में वृद्धि होने से जो लाभ होगा वह उस हानि से कम होगा जो कि निर्धनों को आय के कम हो जाने से हुई है। इस सम्बन्ध में पीगू ने भी कहा है "कि यह प्रत्यक्ष है कि यदि **गरीबों को मिलने वाला लाभांश कम नहीं किया जाता तो कुल राष्ट्रीय लाभांश के परिणाम में वृद्धि, यदि यह अलगाव (Isolation) में हुई हो, आर्थिक कल्याण में अवश्य वृद्धि करेगी।**"[1]

दूसरे राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में वृद्धि हो जाने से लोगों को अधिक वस्तुयें तथा सेवायें प्राप्त करने के लिये प्राप्त होती हैं। परिणामस्वरूप लोगों की रुचि में थी परिवर्तन होता है। "यह परिवर्तन किस प्रकार का होता है ?" इसी पर आर्थिक कल्याण निर्भर होता है। यदि इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप लोगों में

1. It is dividend that provided the dividend accuring to the poor is not diminished increases in the size of the aggregate national dividend, if they occur in isolation without any thing else whatever haappening, must invole increases in economic welfare.
—*Pigou.*

अच्छी आदत का विकास होता है तो आर्थिक कल्याण मे भी वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप लोगों मे बुरे व्यसनों का विकास होता है तो आर्थिक कल्याण में कमी होगी उदाहरणार्थ, नि:शुल्क पुस्तकालय तथा वाचनालय से लोगों में उच्च कोटि के साहित्य को पढने की रुचि जागृत होती है तथा सेविंग्स बैंक (Savings Banks) यदि यह निर्धनो तक ही सीमित रहते है उनमे बचत करने की आदत का विकास करते है। इसके विपरीत देश मे सार्वजनिक शराब घरों की स्थापना तथा जुआ खेलते की सुविधायें लोगों में मद्यपान तथा जुआ आदि दुर्व्यसनो का निरोध करती हैं जो कि दीर्घकाल में देश के आर्थिक कल्याण के लिये हानिकारक सिद्ध होता है।

तीसरे राष्ट्रीय लाभांश के उत्पन्न करने के ढग पर देश का आर्थिक कल्याण निर्भर होता है। यदि किसी समय राष्ट्रीय लाभांश मे वृद्धि शासन सम्बन्धी तथा उत्पादन कला में सुधार एव आविष्कार के कारण हुई है तो देश के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि राष्ट्रीय लाभांश मे वृद्धि कार्य करने के घण्टे बढ़ाकर, स्त्री तथा बच्चों को काम पर नियुक्त करके या अस्वास्थ्यप्रद वातावरण (Unhealthy Atmosphere) मे कार्य करके की जाती है, जिससे कि श्रमिकों की कार्य-कुशलता एवं स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है तो इससे राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण मे अवश्य वृद्धि होगी, लेकिन आर्थिक कल्याण मे कोई वृद्धि नही होगी। क्योंकि लाभांश के उत्पन्न करने मे जिस सन्तोष का त्याग किया जाता है वह उस सन्तोष से अधिक है जो कि राष्ट्रीय लाभांश के उपयोग करने से प्राप्त होता है। अत. राष्ट्रीय लाभांश के उत्पन्न करने के त्यागे गये सन्तोष तथा राष्ट्रीय लाभांश का उपभोग करके प्राप्त किये गये सन्तोष के बीच मे जो अन्तर होता है, उसी पर आर्थिक कल्याण निर्भर होता है। यदि त्यागा गया सन्तोष प्राप्त किये गये सन्तोष से अधिक है तो आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि त्यागा गया सन्तोष प्राप्त किये गये सन्तोष से अधिक है तो आर्थिक कल्याण मे कमी होगी।

चौथे, यदि राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि के साथ-साथ देश की जनसख्या में भी उसी अनुपात में वृद्धि होती है तो आर्थिक कल्याण में कोई वृद्धि नहीं होगी। क्योंकि आर्थिक कल्याण मे वृद्धि उसी दशा मे सम्भव है, जबकि देश का प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income) भी अधिक हो। देश की प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि उसी दशा में सम्भव है जबकि जनसख्या स्थिर रहे अथवा उसमे वृद्धि राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि के अनुपात मे बहुत कम हो।

अन्त में, यदि राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि के परिणामस्वरूप ऐसी सेवाओं में तथा वस्तुओं में वृद्धि हुई हो, जिनका उपयोग करने का समाज आदि नहीं है, तो ऐसी स्थिति में आर्थिक कल्याण मे कोई वृद्धि नहीं होगी। उदाहरणार्थ, यदि समाज का कोई वर्ग बैलगाड़ी चलाने का आदि हो लेकिन उस समाज में मोटरों की सख्या

किया जायेगा, जिसके वस्तुओं का मूल्य भी कम हो जायेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन किस प्रकार आर्थिक कल्याण को प्रभावित करता है ? इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि व्यक्ति का कल्याण उसकी कुल आय पर निर्भर नहीं होता बल्कि आय के उस भाग पर निर्भर होता है जिसको कि वह उपभोग पर व्यय करता है। धनवान व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आय का उपभोग नहीं करते, केवल अपनी आय के एक छोटे से भाग का उपभोग करते हैं और आय का वह भाग ही आर्थिक कल्याण का निर्माण करता है। कोई व्यक्ति जितना ही अधिक धनवान होता है उतनी ही कम आय का वह उपभोग करता है। इसके विपरीत निर्धन व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आय को उपभोग पर व्यय करते है। ऐसी स्थिति में धनी वर्ग के लोगों से उनकी आय का वह भाग लेकर जिसका कि वे उपभोग नहीं करते, निर्धन वर्ग के व्यक्तियों को दे दिया जावे जो कि उसको प्राप्त करने के लिये बड़े लालायित रहते हैं तो इससे आर्थिक कल्याण में वृद्धि ही होगी। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अन्य वस्तुओं में उपयोगिता ह्रास-नियम (Law of Diminshing utility) लागू होता है उसी प्रकार यह नियम आय में भी लागू होता है। आय में इस नियम के अनुसार जैसे जैसे व्यक्ति की आय बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे व्यक्ति के लिये आय की उपयोगिता कम होती जाती है। अधिक आय वाले व्यक्तियों से यदि उनकी आय का कुछ भाग ले लिया जावेगा तो उन्हें बहुत कम उपयोगिता का त्याग करना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि कम आय वालों से आय का कुछ भाग ले लिया जायेगा तो उन्हें बहुत अधिक उपयोगिता का त्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार यदि आय का वह भाग जिसकी एक धनवान के लिये बहुत कम उपयोगिता है, निर्धन व्यक्ति को दे दिया जावे तो वह इस अतिरिक्त आय से अधिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग करके धनवान व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उपयोगिता की प्राप्ति करेगा। जिससे आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त इस बात की पुष्टि मिलकर के इस कथन से भी होती है कि "मनुष्य धनी होने की इच्छा नहीं रखता बल्कि अन्य मनुष्यों से अधिक धनवान होने की इच्छा रखता है। एक लालची अथवा लोलुप मनुष्य को चाहे उसके पास धन कितनी ही मात्रा हो, कुछ अथवा कुछ भी सन्तोष प्राप्त नहीं होगा यदि वह अपने पड़ोसियों अथवा वर्ग के सभी मनुष्यों में सबसे निर्धन होगा।"[1] इस सम्बन्ध में सिगनर रिगनेनों ने भी अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। उसी के शब्दों में "उन आवश्यकताओं की

1. "Men do not desire to be rich, but to be richer than other men. The avaricious of covertous man would find little or no satisfaction in the possession of any amount or wealth, if he were the poorest amongst all his neighbourers or fellow countrymen." Mill post humours essay on social freedom, Oxford and Cambridge Review Jan. 1907, quoted by Pigou in "Economics Welfare."

सन्तुष्टि जो कि वृथा अभिमान द्वारा उत्पन्न होती है, शक्ति के कम अथवा अधिक व्यय से हो सकती है। वह तो केवल अधिक धन का अस्तित्व है जो कि इनकी सन्तुष्टि को बहुत कम शक्ति के व्यय की अपेक्षा बहुत अधिक कर देता है। वास्तव में मनुष्य दूसरे मनुष्य से दुगना होने की इच्छा रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक मनुष्य अपने पास इतनी अधिक मात्रा में वस्तुएं (जवाहरात, कपड़े, घोड़े, बाग-बगीचे, विलासिताएं, घर इत्यादि) रखना चाहता है जो कि दूसरे मनुष्यों की वस्तुओं से दुगनी मूल्यवान हों। उसकी यह इच्छा दोनों स्थितियों में जबकि १० वस्तुयें हों और दूसरे के पास ५ अथवा उसके पास १०० हों और दूसरे के पास पचास समान रूप से सन्तुष्टी होती है।[१]

इस प्रकार धनवानों के सन्तोष का एक बहुत बड़ा भाग जो उन्हें अधिक आय से प्राप्त होता है वह उनकी निरपेक्ष (Absolute) आय से न होकर तुलनात्मक (Relative) आय से होता है। यदि सभी धनवानों की आय में समस्त रूप से कमी कर दी जाय तो इससे उनके सन्तोष को कोई हानि नहीं पहुँचेगी। क्योंकि उसकी अमीरी पूर्व के अनुपात में ही बनी रहेगी तथा इसके दूसरी ओर धनवानों की आय के कम हो जाने से आर्थिक कल्याण में जो कमी आ जायेगी वह उस आर्थिक कल्याण की वृद्धि से कम होगी जो निर्धनों को अधिक आय के मिल जाने से होगी।

उपरोक्त बातों को देखते हुये ही पीगू ने यह निष्कर्ष निकाला था कि कोई **कारण जो गरीबों के हाथ में वास्तविक आय के निरपेक्ष भाग (Absolute share) में वृद्धि कर देता है बशर्ते कि राष्ट्रीय लाभांश के परिणाम में किसी दृष्टिकोण से कमी नहीं लाता, सामान्य रूप से आर्थिक कल्याण को बढ़ायेगा।"**[२]

अब इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि चूंकि अमीरों तथा गरीबों की मानसिक रचना एक समान नहीं होती, इसलिए निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश

1 "As for the needs which vanity creates, they can be satisfied equally well by a small as by a large expenditure of energy. *It is* only the existance of great riehes which makes necessary *for such* satisfaction a very large, instead of a very small expenditure. *In* reality man's desire to appear 'worth' double what another *man* is worth, that is to say to possess goods (Jewels, clothes, horses, parks, luxuries, houses etc.) twice as valuable as those possessed by another man, is satisfied just as fully, if the first has ten things and the second five, as it would be if first had a hundred and the second fifty. Signor Rignano as quoted by Pigou in the 'Economic of Welfare."

2 "Any cause which increases the absolute share of real income in the hands of the poor, provided that it does not lead to a contraction in the size of the National Dividend from any point of view, will in general, increase economic welfare." *—Pigou.*

के वितरण मे परिवर्तन से आर्थिक कल्याण मे कोई वृद्धि नही होगी। अमीर लोग अधिक आय को व्यय करने के आदि होते हैं, जिनके कारण अधिक आय से उन्हें अधिक सन्तोष की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत निर्धन व्यक्ति निर्धनता का जीवन व्यतीत करने के आदि होते हैं। यदि उनकी आय मे किसी प्रकार की वृद्धि हो जाती है तो वे उस अतिरिक्त आय को शराब, जुआ आदि पर व्यय कर देते हैं जिससे आर्थिक कल्याण मे कोई वृद्धि नही होती।

किन्तु यह तर्क इस सम्बन्ध मे की गई खोजों के विपरीत है। प्राय देखा जाता है कि जब निर्धन वर्ग के लोगों की आय बढ जाती है तो कुछ समय तक तो उसका दुरुपयोग होता रहता है, लेकिन इसके पश्चात् उसका सदुपयोग होना प्रारम्भ हो जाता है।

दूसरे इस सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि जैसे-जैसे निर्धन श्रेणी के लोगो की मजदूरी मे वृद्धि होती है, उनकी जनसख्या मे भी वृद्धि होती है, जिससे प्रति व्यक्ति की आय वही बनी रहती है। ऐसी स्थिति मे आर्थिक कल्याण मे कोई वृद्धि नहीं होती।

किन्तु इस तर्क मे भी अधिक सत्यता का अश नही पाया जाता। अनुभव यह बताता है कि मजदूरी के बढ जाने से श्रमिकों के रहन-सहन के दर्जे मे सुधार होता है। उनमे शिक्षा का प्रसार होता है, जिससे उनका नैतिक स्तर उच्च एव दृष्टिकोण विस्तृत होता है।

यह ठीक है कि श्रमिकों की आय मे एकाएक वृद्धि उन्हे दुर्व्यसनो की ओर ले जाती है। लेकिन इस सम्बन्ध मे यह बात याद रखनी चाहिए कि मनुष्य की क्रियायें उसके वातावरण द्वारा प्रभावित होती है और यह वातावरण परिवर्तन शील होता। वातावरण मे परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य की प्रकृति तथा व्यवहार व्यवहार मे भी परिवर्तन होता है। कालान्तर मे निर्धन वर्ग के लोग भी अधिक आय का उपभोग करने के आदि हो जाते है। दूसरे यदि वस्तुओं के मूल्य को कम करके अथवा धीरे-धीरे निधन वर्ग के लोगों की आय मे वृद्धि की जाती है तो वे लोग आय का अपव्यय नही करेंगे। अत यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय लाभांश के वितरण मे परिवर्तन निश्चित एव अन्तिम परिणाम आर्थिक कल्याण मे वृद्धि है।

Q. Any cause which increases the absolute share of real income in the hands of the poor, provided that it does not lead to a contraction in the size, of the national dividend from any point of view, will, in general, increase economic welfare" (Pigou . Discuss this statement fully. (Agra 1957, 1961, 1964 M A
Agra 1963 M. Com;)

प्रश्न "यदि किसी भी दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आय के आकार में परिवर्तन न हो तो प्रत्येक ऐसे कारण के द्वारा, जिससे निर्धनों की वास्तविक आय के शुद्ध भाग में वृद्धि होती है, आर्थिक कल्याण में साधारणतः वृद्धि होगी।" (पीगू)। इस कथन की पूर्ण विवेचना कीजिये। (आगरा १९५७, १९६१, व १९६४ एम. ए., आगरा १९६३ एम कॉम.)

Or

Q. Examine fully the effects of changes in the distribution of the national dividend in favour of the poor on economic welfare
(Agra 1952 M. A., Vikram 1959, 1963, 1966 M. A., Agra 1954 M. Com.)

प्रश्न—आर्थिक कल्याण पर निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण के प्रभावों की परीक्षा कीजिए। (आगरा १९५२ एम० ए०; विक्रम १९५९, १९६३ व १९६६ एम० ए०; आगरा १९५४ एम० कॉम;

Or

Q. How will economic welfare increase with an increase in the real income of the poor ? Under what conditions can it be otherwise.
(Vikram 1960 M. A.)

प्रश्न—निर्धनों की वास्तविक आय में वृद्धि होने पर आर्थिक कल्याण में किस प्रकार वृद्धि होगी ? किन दशाओं में ऐसा नहीं होगा ?
(विक्रम १९६० एम० ए०)

उत्तर—किसी देश का राष्ट्रीय कल्याण उस देश के राष्ट्रीय लाभांश (National Dlvidend) की बनावट, आकार तथा वितरण के ढंग पर निर्भर रहता है। किसी दिए हुए समय में देश के राष्ट्रीय लाभांश में परिवर्तन उस देश के लोगों के आर्थिक कल्याण में भी उसी अनुपात में परिवर्तन करता है। यदि किसी समय देश के राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि होती है तो आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि किसी समय देश के राष्ट्रीय लाभांश में कमी होती है तो आर्थिक कल्याण भी संकुचित होने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि होने से देश के लोगों को अधिक मात्रा में उपभोग करने के लिए वस्तुयें तथा सेवायें प्राप्त होती हैं लेकिन जब राष्ट्रीय लाभांश में कमी हो जाती है तो देश-वासियों को उपभोग करने के लिए कम वस्तुयें तथा सेवायें मिलती हैं।

राष्ट्रीय लाभांश के सम्बन्ध में उपरोक्त धारणा निम्नलिखित बातों पर है:—

सर्वप्रथम, राष्ट्रीय लाभांश में परिवर्तन इस प्रकार होना चाहिए कि उसके :रीबों को मिलने वाले लाभांश में किसी प्रकार की कमी न होने पावे।

क्योंकि यदि राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में परिवर्तन के द्वारा गरीबों के लाभांश में कमी आ जाएगी तो इससे आर्थिक कल्याण भी कम हो जाएगा। गरीबों के लाभांश में थोड़ी सी भी वृद्धि कुल कल्याण में बहुत अधिक वृद्धि कर देती है, जबकि अमीरों के लाभांश में बहुत अधिक वृद्धि भी कुल आर्थिक कल्याण में अधिक वृद्धि नहीं करती। इसका कारण यह है कि देश में धनवानों की अपेक्षा निर्धनों की संख्या अधिक होती है और धनवानों की आय में वृद्धि होने से जो लाभ होता है वह उस हानि से कम होता है जो कि निर्धनों की आय के कम हो जाने से हुई है। दूसरे, राष्ट्रीय लाभांश में परिवर्तन हो जाने से देश-वासियों की रुचि में किस दिशा में परिवर्तन होता है, इस बात पर आर्थिक कल्याण निर्भर होता है। यदि राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि हो जाने से लोगों में दुर्व्यसनों की वृद्धि होती है तो इससे आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि देश वासियों को सभ्य सुसंस्कृत एवं शिक्षित बनाते हुए देश के रहन सहन के दर्जे को ऊँचा उठाती है तो इससे देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। तीसरे, राष्ट्रीय लाभांश के उत्पन्न करने के ढंग पर भी देश का आर्थिक कल्याण निर्भर होता है यदि राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि शासन सम्बन्धी सुधार तथा उत्पादन कला में सुधार एवं आविष्कार के कारण हुई है तो देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि काम करने के घण्टे बढ़ाकर, स्त्री तथा बच्चों को काम पर नियुक्त करने या अस्वास्थ्यप्रद वातावरण में काम करके की जाती है जिससे श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं कार्य-कुशलता पर बुरा असर पड़ता है तो केवल राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में वृद्धि होगी जबकि देश का कल्याण इससे कम हो जाएगा क्योंकि लाभांश के उत्पन्न करने में जिस सन्तोष का त्याग किया जाता है वह उस सन्तोष से अधिक है जो कि राष्ट्रीय लाभांश के उपभोग करने से प्राप्त होता है। चौथे, यदि राष्ट्रीय लाभांश की वृद्धि के साथ साथ देश की जनसंख्या में भी वृद्धि होती है तो इससे देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं होगी। अन्त में यदि राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि के परिणाम-स्वरूप देश में ऐसी सेवाओं तथा वस्तुओं में वृद्धि हुई है जिनका उपयोग करने का समाज अभ्यस्त नहीं है तो ऐसी स्थिति में आर्थिक कल्याण में कोई वृद्धि नहीं होगी।

राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन का अर्थ है कि समाज के एक वर्ग के व्यक्तियों की आय का समाज के दूसरे वर्ग के व्यक्तियों को हस्तांतरण करना है। निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन का अर्थ है, निर्धनों की क्रय-शक्ति में वृद्धि कर देना, जिससे कि वे वर्तमान सेवाओं तथा वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सेवाओं तथा वस्तुओं का उपभोग कर सकें।

निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन दो प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम, प्रत्यक्ष रीति के द्वारा तथा दूसरे परोक्ष रीति के द्वारा। प्रत्यक्ष रीति से निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन

की उपयोगिता कम होती जाती है। अधिक आय वाले व्यक्तियों से आय का कुछ भाग ले लिया जायेगा तो उन्हें बहुत कम उपयोगिता का त्याग करना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि कम आय वालों से आय का कुछ भाग ले लिया जायेगा तो उन्हें बहुत अधिक उपयोगिता का त्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार यदि आय का वह भाग जिसकी एक धनवान के लिए बहुत कम उपयोगिता है। निर्धन व्यक्ति को दे दिया जाय तो वह इस अतिरिक्त आय से वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग करके धनवान, व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उपयोगिता की प्राप्ति करेगा जिससे आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होगी इसके अतिरिक्त इस बात की पुष्टि मिलकर इस कथन से भी होती है कि "मनुष्य धनी होने की इच्छा नहीं रखता बल्कि अन्य मनुष्यों से अधिक धनवान होने की इच्छा रखता है! एक लालची अथवा लोलुप मनुष्य को चाहे उसके पास धन कितनी ही मात्रा में हो, कुछ अथवा कुछ भी संतोष प्राप्त नहीं होगा। यदि वह अपने पड़ोसियों अथवा अपने वर्ग के सभी मनुष्यों में सबसे निर्धन होगा।"[1] इस सम्बन्ध में सिगनर रिगनेनों ने भी अपने विचार प्रकट किये है उसी के शब्दों में "उन आवश्यकताओं में की सतुष्टि जो कि वृथा अभिमान द्वारा उत्पन्न होती है शक्ति के कम अथवा अधिक व्यय से हो सकती है यह तो केवल अधिक धन का अस्तित्व है जो कि इसकी सतुष्टि को बहुत कम शक्ति के व्यय की अपेक्षा बहुत अधिक कर देता है। वास्तव में मनुष्य दूसरे मनुष्य से दुगुना होने की इच्छा रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक मनुष्य अपने पास इतनी अधिक मात्रा में वस्तुयें (जवाहरात, कपड़े, घोड़े, बाग-बगीचे, विलासितायें, घर इत्यादि) रखना चाहता है जो कि दूसरे मनुष्यों की वस्तुओं से दुगुनी मूल्यावन हों। उसकी यह इच्छा दोनों स्थितियों में जबकि उसके पास १० वस्तुयें हों और दूसरे के पास पाच अथवा उसके पास १०० हों और दूसरे के पास ५० समान रूप से सन्तुष्ट होती है। अतः धनवानों के संतोष का एक बहुत बडा भाग जो उन्हें अधिक आय से प्राप्त होता है वह उनकी निरपेक्ष (Absolute) आय से न होकर तुलनात्मक (Relative) आय से होता है। यदि सभी धनवानों की आय में समान रूप से कमी कर दी जाये तो इससे उनके संतोष को कोई हानि नहीं पहुँचेगी क्योंकि उनकी अमीरी पूर्व के अनुपात में ही बनी रहेगी तथा इसके दूसरी ओर धनवानों की आय के कम हो जाने से आर्थिक कल्याण में जो कमी होगी वह उस आर्थिक कल्याण की वृद्धि से कम होगी। जो निर्धनों की अधिक आय के मिल जाने से होगी। उपरोक्त बातों को देखते हुए ही पीगू ने यह निष्कर्ष निकाला था कि "कोई कारण जो गरीबों के हाथ में

---

1. "Men do not desire to be rich, but to be richer than other men, The ava[illegible] faction in the p[illegible] est amongst all [illegible] humour essay o[illegible] 1907, quoted by Pigou in 'Economic of Welfare)".

का अर्थ है कि धनवान-वर्ग के लोगों की क्रय-शक्ति (Purchasing Power) के कुछ भाग को निर्धन वर्ग के लोगों को हस्तांतरित कर देना। परोक्ष रीति में सबसे पहली रीति यह हो सकती है कि किसी प्राविधिक-रीति (Technical Method) के द्वारा उत्पादन प्रणाली में इस प्रकार का सुधार कर दिया जावे कि जिससे वे वस्तुयें जिनका उपभोग निर्धन वर्ग के लोग करते हैं, सस्ती हो जावें और वे वस्तुयें जिनका उपभोग धनवान वर्ग के लोग करते हैं, उनकी उत्पादन प्रणाली में कुछ इस प्रकार का परिवर्तन कर दिया जावे कि वे मंहगी हो जावें। इसका परिणाम यह होगा कि देश के बहु संख्यक निर्धन लोग अपनी पहली आय से अधिक सेवाओं तथा वस्तुओं का उपभोग करके अधिक सन्तोष की प्राप्ति करेंगे। इसके विपरीत देश के अल्प-संख्यक धनवान लोग अपनी पहली आय से कम वस्तुओं का उपभोग करेंगे, लेकिन राष्ट्रीय लाभांश के वितरण से इस प्रकार के परोक्ष परिवर्तन से आर्थिक कल्याण में वृद्धि उसी दशा में सम्भव है जबकि राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन न होने पावे।

इसके अतिरिक्त राशनिंग (Rationing) अथवा किसी अन्य प्रतिबन्ध के द्वारा धनी लोगों को उन वस्तुओं के उपभोग को त्यागने के लिए विवश किया जावे जिनका उपभोग अधिकतर निम्न वर्ग के लोग करते हैं तथा जो उत्पादन लागत वृद्धि नियम (Law of Increasing Cost) के अन्तर्गत उत्पन्न की जा रही हों। क्योंकि ऐसी दशा में मांग के घटने के साथ-साथ वस्तुओं का उत्पादन कम किया जावेगा जिससे वस्तुओं का मूल्य भी कम हो जावेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन किस प्रकार आर्थिक कल्याण को प्रभावित करता है? इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि व्यक्ति का कल्याण उसकी कुल आय पर निर्भर नहीं होता बल्कि आयके उस भाग पर निर्भर होता है जिसको कि यह उपभोग पर व्यय करता है। धनवान व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आय का उपभोग नहीं करते केवल अपनी आय के एक छोटे से भाग का उपभोग करते हैं और आय का वह भाग ही आर्थिक कल्याण का निर्माण करता है। कोई व्यक्ति जितना ही अधिक धनवान होता है उतना ही कम आय का वह उपभोग करता है। इसके विपरीत निर्धन व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आय को उपभोग पर व्यय करते हैं। ऐसी स्थिति में धनी वर्ग के लोगों से उनकी आय का वह भाग लेकर जिसका कि वे उपभोग नहीं करते, निर्धन वर्ग के व्यक्तियों को दे दिया जाये जो कि उसको प्राप्त करने के लिए बड़े लालायित रहते हैं तो इससे आर्थिक कल्याण में वृद्धि ही होगी। क्योंकि अब गरीब लोग अपनी अधिक आवश्यकताओं की संतुष्टि करने में समर्थ होंगे। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) अन्य वस्तुओं में लागू होता है उसी प्रकार यह नियम आय में भी लागू होता है। आय के इस नियम के अनुसार जैसे जैसे व्यक्ति की आय बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे व्यक्ति के लिये आय

की उपयोगिता कम होती जाती है। अधिक आय वाले व्यक्तियों से आय का कुछ भाग ले लिया जायेगा तो उन्हें बहुत कम उपयोगिता का त्याग करना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि कम आय वालों से आय का कुछ भाग ले लिया जायेगा तो उन्हें बहुत अधिक उपयोगिता का त्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार यदि आय का वह भाग जिसकी एक धनवान के लिए बहुत कम उपयोगिता है। निर्धन व्यक्ति को दे दिया जाय तो वह इस अतिरिक्त आय से वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग करके धनवान, व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उपयोगिता की प्राप्ति करेगा जिससे आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होगी इसके अतिरिक्त इस बात की पुष्टि मिलकर इस कथन से भी होती है कि "मनुष्य धनी होने की इच्छा नहीं रखता बल्कि अन्य मनुष्यों से अधिक धनवान होने की इच्छा रखता है। एक लालची अथवा लोलुप मनुष्य को चाहे उसके पास धन कितनी ही मात्रा में हो, कुछ अथवा कुछ भी संतोष प्राप्त नहीं होगा। यदि वह अपने पड़ोसियों अथवा अपने वर्ग के सभी मनुष्यों में सबसे निर्धन होगा।"[1] इस सम्बन्ध में सिगनर रिगनेनो ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं उन्हीं के शब्दों में "उन आवश्यकताओं में की सतुष्टि जो कि वृथा अभिमान द्वारा उत्पन्न होती है शक्ति के कम अथवा अधिक व्यय से हो सकती है यह तो केवल अधिक धन का अस्तित्व है जो कि इसकी सतुष्टि को बहुत कम शक्ति के व्यय की अपेक्षा बहुत अधिक कर देता है। वास्तव में मनुष्य दूसरे मनुष्य से दुगुना होने की इच्छा रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक मनुष्य अपने पास इतनी अधिक मात्रा में वस्तुयें (जवाहरात, कपड़े, घोड़े, बाग-बगीचे, विलासितायें, घर इत्यादि) रखना चाहता है जो कि दूसरे मनुष्यों की वस्तुओं से दुगुनी मूल्यावन हो। उसकी यह इच्छा दोनों स्थितियों में जबकि उसके पास १० वस्तुयें हों और दूसरे के पास पाच अथवा उसके पास १०० हों और दूसरे के पास ५० समान रूप से सन्तुष्ट होती है। अत: धनवानों के संतोष का एक बहुत बड़ा भाग जो उन्हें अधिक आय से प्राप्त होता है वह उनकी निरपेक्ष (Absolute) आय से न होकर तुलनात्मक (Relative) आय में होता है। यदि सभी धनवानों की आय में समान रूप से कमी कर दी जाये तो इससे उनके संतोष को कोई हानि नहीं पहुँचेगी क्योंकि उनकी अमीरी पूर्व के अनुपात में ही बनी रहेगी तथा इसके दूसरी ओर धनवानों की आय के कम हो जाने से आर्थिक कल्याण में जो कमी होगी वह उस आर्थिक कल्याण की वृद्धि से कम होगी। जो निर्धनों की अधिक आय के मिल जाने से होगी। उपरोक्त बातों को देखते हुए ही पीगू ने यह निष्कर्ष निकाला था कि "कोई कारण जो गरीबों के हाथ में

---

1. "Men do not desire to be rich, but to be richer than other men, The avaricious or covetous man would find little or no satisfaction [illegible] ere the poor- [illegible] "—Mill : Post [illegible] Review Jan [illegible]

वास्तविक निरपेक्ष भाग (Absolute share) में वृद्धि कर देता है बशर्ते कि यह राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में किसी भी दृष्टिकोण से कमी नहीं लाता, सामान्य रूप से आर्थिक कल्याण को बढ़ायेगा।[1]

कुछ लोगों ने निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन के सम्बन्ध में निकाले गये पीगू के उपरोक्त निष्कर्ष की आलोचना की है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले यह कहा जाता है कि वितरण में सुधार हो जाने से लोग अधिक काम करना बन्द कर देंगे जिसका बुरा प्रभाव उत्पादन की मात्रा पर पड़ेगा और परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में कमी हो जायेगी। लेकिन अगर देखा जाये तो राष्ट्रीय लाभांश के परिमाण में यह कमी उस लाभ से कम होगी, जो कि व्यक्तियों को थोड़ा सा विश्राम करने से प्राप्त होगा।

दूसरे, इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यदि निर्धन व्यक्तियों की आय में वृद्धि होने से उनकी जनसंख्या में अधिक वृद्धि होगी। प्राय: देखा जाता है कि जब निम्न वर्ग के लोगों की मजदूरी में वृद्धि होती है तो वे अधिक विवाह करके अधिक सन्तान उत्पन्न करते हैं जिससे प्रति व्यक्ति वस्तुओं तथा सेवाओं के उपभोग की मात्रा वही बनी रहती है और आर्थिक कल्याण में कोई वृद्धि नहीं होती। वास्तव में आर्थिक कल्याण में वृद्धि उसी स्थिति में सम्भव है जबकि प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती हो।

उपरोक्त तर्क मजदूरी के लौह-नियम (Iron Law of Wages) पर आधारित है जिसके अनुसार यदि मजदूरी में वृद्धि होगी तो श्रमिक अपनी जन्म-दर (Birth Rate) को बढ़ाकर श्रमिकों की पूर्ति में वृद्धि कर देंगे। परिणामस्वरूप अपने पूर्व के स्तर पर आ जायेगी। लेकिन इस तर्क में भी कोई तथ्य दिखाई नहीं

---

1. "Any cause which increases the absolute share of real income in the hands of the poor, provided that it does not lead to a contraction in the size of the national dividend from any point of view, will in general, increase economic welfare" —Pigou.

"As for the needs which vanity creates' they can be satisfied equally well by a small as by a large expenditure of energy. It is only the existence of great riches which makes necessary for such satisfaction a very large, instead of very small expenditure, In reality a man's desire to appear 'worth' double what another man is worth, that is to say, to possess goods (Jewels, clothes, horses parks, luxuries, homes, etc). Twice as valuable as those possessed by another man, is satisfied just as fully, if the post has ten things, and the second five, as it would be. if first had hundred and the second fifty. Signore Rignano as quoted by Pigou in the Economics of welfare."

देता। अनुभव यह बताता है कि मजदूरी में वृद्धि हो जाने से श्रमिकों में शिक्षा का प्रभाव होता है जिससे उनका दृष्टिकोण विस्तृत एवं नैतिक स्तर ऊंचा उठता है, एवं परिवार का आकार छोटा होता जाता है और यह बात उन देशों में विशेष रूप से पाई जाती है जहां आय की असमानता बहुत अधिक होती है। प्रोफेसर ब्रेन्टेनो (Brentano) भी इस दिशा में खोज करने के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि किसी वर्ग के लोगों में समृद्धि की वृद्धि पूर्ण रूप से पुर्न-उत्पत्ति की दर (Reproduction Rate) को बढाने की अपेक्षा घटाती हैं। अत यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में सुधार निम्न वर्ग के लोगों की जनसख्या में कमी करता है।

तीसरे, इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि निम्न वर्ग के लोगों की आय में अकस्मात् वृद्धि हो जाने से वे उसको शराब व जुआ (Gambling) आदि पर फिजूल खर्च करने लगते हैं जिससे आर्थिक कल्याण में कोई वृद्धि नहीं होती।

पीगू के निष्कर्ष के विरुद्ध यह तर्क भी सर्वथा निराधार प्रतीत होता है। प्राय. देखा जाता है कि निर्धन वर्ग के लोगों में जब कुछ समय तक निरन्तर आय में वृद्धि होती रहती है तो प्रारम्भ में तो उसका अपव्यय होता है लेकिन कुछ समय पश्चात् उसका सदुपयोग होना आरम्भ हो जाता है। जैसा कि मैसर्स प्रिंगिल एव जैक्सन ने भी कहा है कि "यह जनसख्या का अकुशल तथा सबसे कम शिक्षित है जिसमें मद्यपान अपनी जड़ जमाये बैठा है और जैसे ही रोजगार को अधिक नियमितता (Regularity) तथा अधिक ऊंची मजदूरी श्रमिक वर्गों के किसी भागों को प्राप्त होती है, मनुष्य कुलीनता तथा चरित्र में ऊंचे हो जाते है। सम्पूर्ण देश में जबकि मजदूरी बढ़ती है तो मद्यपान पर किया गया व्यय कम होता है जो कि प्रगति का जिस पर हम अधिकार रखते है एक सबसे आशाजनक लक्षण है।"[1] इस प्रकार निर्धन वर्ग के मनुष्य अपनी मानसिक रचना के अनुसार कुछ समय भले ही अपनी बढी हुई आय का दुरुपयोग करें, लेकिन इस आय वृद्धि का दीर्घकाल में निश्चित एवं अन्तिम परिणाम यह होगा कि वे शिक्षित होंगे जिससे उनका मानसिक विकास होगा व भावी पीढ़ी उन्नति करेगी।

चौथे, पीगू के निष्कर्ष की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि

1. "It is in the unskilled and last educated p rt of the population that drink continues to holds its ground as greater regularity of employment and higher wages are achieved by sections of the working classes, the men rise in respectability and character That the drink bill is diminishing, while wages are rising throughout the country, is one of the most-hopeful indications of progress we possess."—Messers Pringle and Jackson's Special report to the poor law commissioners quoted by Pigou

राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में सुधार होने से निर्धन वर्ग के दुर्बल बच्चे जीवित रहने लगेंगे, जिनकी विषम परिस्थितियों में मृत्यु अवश्यम्भावी थी। ये दुर्बल बच्चे भावी श्रम-शक्ति को क्षीण एवं दुर्बल कर देंगे जिसका देश के उत्पादन, राष्ट्रीय लाभांश तथा अन्त में देश के आर्थिक कल्याण पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

इस आलोचना के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि यदि बच्चों के दुर्बल होने का प्रमुख कारण भोजन की कमी है तो आय की वृद्धि हो जाने से उनका भरण-पोषण भली-भाँति हो सकेगा जिससे वे भविष्य में स्वस्थ एवं सुन्दर होंगे।

अन्त में, पीगू के निष्कर्ष के विरुद्ध यह कहा जाता है कि धनवान लोग पैतृक तथा प्रशिक्षण के प्रभाव से निर्धन वर्ग के लोगों की अपेक्षा अधिक आय से अधिक सन्तोष की प्राप्ति करते हैं ऐसी स्थिति में यदि निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन हो जायेगा तो इससे आर्थिक कल्याण कम हो जायेगा, लेकिन यहाँ पर भी अगर देखा जाये तो वास्तव में निर्धनों तथा धनवानों की मानसिक रचना में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। दीर्घकाल में निर्धन वर्ग के व्यक्ति भी अधिक आय का सदुपयोग करने के आदी हो सकते हैं। अतः केवल धनवानों तथा निर्धनों की रुचि तथा स्वभाव में अन्तर के आधार पर ही निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन को अनुचित नहीं ठहराया जा सकता।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन का दीर्घकालीन, निश्चित एवं अन्तिम परिणाम आर्थिक कल्याण में वृद्धि ही है। इस प्रकार पीगू के इस कथन में बहुत कुछ सत्यता का निहित है कि **"यह प्रत्यक्ष है कि यदि गरीबों को मिलने वाला लाभांश कम नहीं किया जाता तो कुल राष्ट्रीय लाभांश के परिणाम में वृद्धि, यदि यह अलगाव (Isolation) में हुई हो, आर्थिक कल्याण में अवश्य वृद्धि करेगी।"**[१]

...ident that, provided the dividend accuring to the ...ised, increases in the size of the aggregate, ...d if they occur in isolation without anything else ... must involve increase in economic welfare."

—Pigou.

२८

आर्थिक विषमताएँ

(Economic Inequalities)

Q. Discuss the principles on which National Income should be distributed In what ways should the state interfere with competition in order to bring the ideal distribution, if competition fails to do so ? (Vikram 1964 M. A ; Agra 1964 M. A.)

प्रश्न—राष्ट्रीय आय के वितरण के सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये । यदि प्रतियोगिता आदर्श वितरण में असफल रहे तो राज्य को प्रतियोगिता में किस प्रकार हस्तक्षेप करना चाहिये ? (विक्रम १९६४ एम० ए०; आगरा १९६०, एम० ए०)

Or

Q. Examine the basic techniques by which the government may alter distribution of incomes to reduce inequality and discuss how far they are consistent with maximization of production.

(I. A S. Exam 1954)

प्रश्न—असमानता को कम करने के लिये आय के वितरण में परिवर्तन करने की मूल प्रणालियों की परीक्षा कीजिए और बताइए कि उत्पादन को अधिकतम बनाने में वे कहां तक उपयोगी है ? (आई० ए० एस० १९५६)

उत्तर—राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में मार्शल का विचार है कि वह एक कोष के रूप में न होकर एक प्रवाह के रूप में होती है । इसका उत्पादन और वितरण दोनों ही एक साथ होते रहते हैं। समाज के विभिन्न व्यक्तियों के बीच उत्पादन क्रिया के अन्तर्गत ही उत्पत्ति के साधनों के स्वामियों के रूप में श्रम-शक्ति का वितरण होता रहता है ।

इस प्रकार हम राष्ट्रीय आय के वितरण पर दो प्रकार से विचार कर सकते हैं :—

(१) राष्ट्रीय आय का क्रियानुसार वितरण
(Functional distribution of National Income)
(२) राष्ट्रीय आय का व्यक्तिगत वितरण
(Personal Distribution of Income).

राष्ट्रीय आय का हिस्सा समाज के विभिन्न व्यक्तियों को व्यक्ति के रूप में न मिलकर उत्पत्ति के साधनों के स्वामी के रूप में मिलता है । एक ही व्यक्ति एक

राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में सुधार होने से निर्धन वर्ग के दुर्बल बच्चे जीवित रहने लगेंगे, जिनकी विषम परिस्थितियों में मृत्यु अवश्यम्भावी थी। ये दुर्बल बच्चे भावी श्रम-शक्ति को क्षीण एवं दुर्बल कर देंगे जिसका देश के उत्पादन, राष्ट्रीय लाभांश तथा अन्त में देश के आर्थिक कल्याण पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

इस आलोचना के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि यदि बच्चों के दुर्बल होने का प्रमुख कारण भोजन की कमी है तो आय की वृद्धि हो जाने से उनका भरण-पोषण भली-भाँति हो सकेगा जिससे वे भविष्य में स्वस्थ एवं सुन्दर होंगे।

अन्त में, पीगू के निष्कर्ष के विरुद्ध यह कहा जाता है कि धनवान लोग पैतृक तथा प्रशिक्षण के प्रभाव से निर्धन वर्ग के लोगों की अपेक्षा अधिक आय से अधिक सन्तोष की प्राप्ति करते हैं ऐसी स्थिति में यदि निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन हो जायेगा तो इससे आर्थिक कल्याण कम हो जायेगा, लेकिन यहाँ पर भी अगर देखा जाये तो वास्तव में निर्धनों तथा धनवानों की मानसिक रचना में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। दीर्घकाल में निर्धन वर्ग के व्यक्ति भी अधिक आय का सदुपयोग करने के आदी हो सकते हैं। अतः केवल धनवानों तथा निर्धनों की रुचि तथा स्वभाव में अन्तर के आधार पर ही निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन को अनुचित नहीं ठहराया जा सकता।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय लाभांश के वितरण में परिवर्तन का दीर्घकालीन, निश्चित एवं अन्तिम परिणाम आर्थिक कल्याण में वृद्धि ही है। इस प्रकार पीगू के इस कथन में बहुत कुछ सत्यता का निहित है कि "**यह प्रत्यक्ष है कि यदि गरीबों को मिलने वाला लाभांश कम नहीं किया जाता तो कुल राष्ट्रीय लाभांश के परिणाम में वृद्धि, यदि यह अलगाव (Isolation) में हुई हो, आर्थिक कल्याण में अवश्य वृद्धि करेगी।**"[1]

---

1. "It is evident that, provided the dividend accuring to the poor is not diminished, increases in the size of the aggregate national dividend if they occur in isolation without anything else whatever happening, must involve increase in economic welfare."
—Pigou

२८

आर्थिक विषमताएँ

(Economic Inequalities)

Q. Discuss the principles on which National Income should be distributed In what ways should the state interfere with competition in order to bring the ideal distribution, if competition fails to do so? (Vikram 1964 M A ; Agra 1964 M. A.)

प्रश्न—राष्ट्रीय आय के वितरण के सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये : यदि प्रतियोगिता आदर्श वितरण में असफल रहे तो राज्य को प्रतियोगिता में किस प्रकार हस्तक्षेप करना चाहिये ? (विक्रम १९६४ एम० ए०; आगरा १९६०, एम० ए०)

Or

Q. Examine the basic techniques by which the government may alter distribution of incomes to reduce inequality and discuss how far they are consistent with maximization of production. (I. A S. Exam 1954)

प्रश्न—असमानता को कम करने के लिये आय के वितरण में परिवर्तन करने की मूल प्रणालियों की परीक्षा कीजिए और बताइए कि उत्पादन को अधिकतम बनाने में वे कहाँ तक उपयोगी है ? (आई० ए० एस० १९५६)

उत्तर—राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में मार्शल का विचार है कि वह एक कोष के रूप में न होकर एक प्रवाह के रूप में होती है। इसका उत्पादन और वितरण दोनों ही एक साथ होते रहते है। समाज के विभिन्न व्यक्तियों के बीच उत्पादन क्रिया के अन्तर्गत ही उत्पत्ति के साधनों के स्वामियों के रूप में क्रय-शक्ति का वितरण होता रहता है।

इस प्रकार हम राष्ट्रीय आय के वितरण पर दो प्रकार से विचार कर सकते हैं :—

(१) राष्ट्रीय आय का क्रियानुसार वितरण
(Functional distribution of National Income)

(२) राष्ट्रीय आय का व्यक्तिगत वितरण
(Personal Distribution of Income).

राष्ट्रीय आय का हिस्सा समाज के विभिन्न व्यक्तियों को व्यक्ति के रूप में न मिलकर उत्पत्ति के साधनों के स्वामी के रूप में मिलता है। एक ही व्यक्ति एक

साथ उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के रूप में कार्य कर सकता है और उसकी कुल आय उसे इन अलग-अलग उत्पत्ति के साधनों के स्वामी के रूप में प्राप्त होगी। राष्ट्रीय आय का क्रियानुसार वितरण इस बात पर विचार करता है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में राष्ट्रीय आय का वितरण किस प्रकार निर्धारित होता है, अर्थात् भूमिपति को लगान, श्रम को मजदूरी, पूंजीपति को व्याज या साहसी को लाभ किस प्रकार दिया जाता है ? वास्तव में लगान, मजदूरी और व्याज ये सब क्रमशः भूमि, श्रम और पूंजी की उत्पादन कार्य में सेवाओं का मूल्य हैं जो इनके स्वामियों को उत्पादन में सहयोग करने के कारण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को विभिन्न प्रकार से मूल्य चुकाया जाता है और इन साधनों के स्वामियों को विभिन्न आय प्राप्त होती है और आय में असमानता उत्पन्न होती है।

अतः क्रियानुसार वितरण आयों में असमानता को जन्म देता है और हम इस बात पर विचार करते हैं कि समाज के विभिन्न व्यक्तियों में आय का वितरण किस प्रकार होता है अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों की आयों में असमानता क्यों है, इस असमानता को कैसे दूर किया जा सकता है और विभिन्न व्यक्तियों में आय का वितरण कैसा होना चाहिये। इसे ही आय का व्यक्तिगत वितरण (Personal Distribution of National Income) कहते हैं।

आय की असमानताओं के कारण—यह तो स्पष्ट ही है कि साधनों की विभिन्नता आय में असमानता को जन्म देती है, किन्तु अन्य अनेक कारण इस असमानता को प्रोत्साहित करते हैं। इन सब कारणों को हम तीन भागों में बांट सकते हैं। एक तो वे कारण जो महान और अल्प अवसरों को जन्म देते हैं। दूसरे वे जो निर्धन और धनिकों के अन्तर को बढ़ाते जाते हैं और तीसरे वे पीढ़ी-दर पीढ़ी आय की असमानता को बढ़ाने के उत्तरदायी हैं।

कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनके लिये विशेष योग्यता और सम्पन्नता की आवश्यकता होती है। अन्य व्यवसायों की अपेक्षा इन व्यवसायों में अधिक आय प्राप्त होती है। इस प्रकार व्यवसाय की असमानता आय की असमानता को जन्म देती है। हर व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार व्यवसाय नहीं चुन सकता है। वंश-गत, जाति-गत और स्वभावगत परम्पराओं के कारण और वातावरण के कारण उन्हें भिन्न-भिन्न व्यवसाय चुनने पड़ते हैं। फिर प्रारम्भ से ही धनिक वर्ग में जन्म लेने वाले और निर्धन वर्ग में जन्म लेने वाले व्यक्तियों के पालन-पोषण, शिक्षा, व्यवसाय और साधन-सुविधाओं में जो अन्तर होता है, वह बढ़ता ही जाता है। यहीं नहीं निर्धन व्यक्ति तो केवल मजदूरी या वेतन के रूप में ही आय प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु धनिक लोग सम्पत्ति के द्वारा लगान, व्याज और लाभ के रूप में विशाल आय प्राप्त करते हैं जो बचत के रूप में सम्पत्ति और पूंजी का रूप धारण करती है, तथा जिसकी उपार्जन शक्ति निरन्तर बढ़ती जाती है। इस प्रकार, अवसर और सम्पत्ति की असमानता के कारण आय की असमानता निरन्तर बढ़ती चली जाती

है। सम्पत्ति का कुछ व्यक्तियों में केन्द्रीयकरण एकाधिकार से सम्बद्ध है और एकाधिकार के कारण विशाल एकाधिकारी लाभ आय की असमानता की ओर भी बढ़ा देता है। वास्तव में निजी सम्पत्ति की जो प्रणाली आधुनिक युग में प्रचलित है, वह आय और अवसर की असमानताओं के लिये उत्तरदायी है और समस्या न केवल आयों की असमानता की है, बल्कि इस बात की भी है कि आय का वह भाग जो धनिकों को मिलता है, अनुपार्जित आय है। यही नहीं भूमि, पूंजी और साहस के रूप में मिलने वाली आय में जो वृद्धि हुई है, वह मजदूरी के रूप में मिलने वाली आय से बहुत अधिक है। आय की यह असमानता पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ती ही जाती है। उत्तराधिकार की जो परम्परा हमारे यहाँ प्रचलित है, वह आय की असमानता को न केवल कायम रखती है, बल्कि उसे कई गुना बढ़ा देती है। यद्यपि उत्तराधिकार की परम्परा आय की असमानता को जन्म नहीं देती तथापि उसे कायम रखने और बढ़ाने में सहायता करती है।

टॉजिग के शब्दों में—"यह न केवल भूमि, पूंजी और समस्त प्रकार की सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय की निरन्तरता को स्पष्ट करती है, बल्कि धनिक और निर्धनों के बीच की विशाल खाई को स्पष्ट करती है।"

आय की असमानता के दुष्परिणाम अत्यन्त भयंकर हैं। इसी के कारण लोगों के रहन-सहन में विशाल अन्तर पाये जाते हैं। एक ओर लोगों को सप्ताह में एक बार भी भरपेट भोजन नहीं मिलता वहां दूसरी ओर कुछ लोग रुपया पानी की तरह विलासिताओं में व्यय करते हैं। समृद्धि के बीच भयंकर गरीबी पाई जाती है। किसी ने ठीक ही कहा है कि गरीब और अमीर दोनों के पेट में दर्द होता है, एक को भूख के कारण और दूसरे को अजीर्ण के कारण। अधिकांश लोगों का रहन-सहन का स्तर अत्यन्त नीचा होता है और वे अपनी जीवन-रक्षक अनिवार्यताएं भी पूरी नहीं कर पाते हैं, जबकि कुछ लोग व्यर्थ और हानिकर विलासिताओं पर व्यय करते हैं। इस प्रकार आर्थिक असमानताओं के कारण जहां एक ओर उपभोग में अत्यधिक बर्बादी होती है, वहां जनसंख्या की कार्यक्षमता भी अत्यधिक क्षीण हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन उन दिशाओं में प्रवृत्त होने लगता है जहां कि समाज का धनाढ्य-वर्ग मांग करता है और समाज के लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन न बढ़कर विलासिताओं का उत्पादन होने लगता है या ऐसी वस्तुओं के आयात से देश के साधन नष्ट होने लगते हैं। यही नहीं, आयों की असमानता के परिणामस्वरूप बेकारी बढ़ने लगती है और मजदूरों की वास्तविक आय घट जाती है और उनकी सामाजिक सुरक्षा क्षीण हो जाती है। औद्योगिक दुर्घटनायें बढ़ जाती हैं और व्यवसायिक रोग फैलने लगते हैं। समाज में वर्ग-संघर्ष आरम्भ हो जाता है और देश का आर्थिक वातावरण ही अस्त-व्यस्त नहीं होता, वरन् सामाजिक और राजनैतिक स्थिति भी विकृत हो जाती है।

इसलिये, राष्ट्रीय आय का उचित और विवेकपूर्ण वितरण अत्यन्त आव-

श्यक है। स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व और न्याय की भावनाओं के विकास के लिए आय का उचित वितरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किसी समाज में शान्ति, प्रगति और समृद्धि, अर्थात् सामाजिक कल्याण की दशायें, आय के वितरण से सम्बद्ध हैं, अतः यह आवश्यक है कि आय का वितरण इस प्रकार से हो कि अधिकतम सामाजिक कल्याण सम्भव हो सके, किन्तु आय का उचित वितरण किस हिसाब से हो, इस सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि वर्तमान पूंजीवादी प्रणाली को समाप्त कर देना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि सरकार को आय की असम नता पर नियंत्रण करना चाहिये किन्तु पूंजीवाद की समाप्ति या सरकारी नियन्त्र से ही आर्थिक असमानताओं की समस्या हल नहीं होती है। समस्या यह है कि कि भी व्यक्ति को कितनी आय प्राप्त हो। इस सम्बन्ध में पांच सिद्धान्त मुख्य रूप प्रचलित हैं।

१—सभी को बराबर आय का सिद्धान्त।
२—आवश्यकता के अनुसार आय का सिद्धान्त।
३—त्याग के अनुसार आय का सिद्धान्त।
४—सामाजिक उपयोगिता के अनुसार आय का सिद्धान्त।
५—समन्वयवादी सिद्धान्त।

१—सभी को बराबर आय का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त आय के व्या सायिक वितरण की प्रणाली का उन्मूलन करके सभी व्यक्तियों को बराबर आ प्रदान करने का प्रतिपादन करता है। उत्तराधिकार और निजी सम्पत्ति व प्रणाली समाप्त की जाय और समाज के सभी व्यक्तियों को बराबर आय प्राप्त हो यही इसका उद्देश्य है। किन्तु इस सिद्धान्त में अनेक दोष हैं। सबसे पहले सब व्यक्तियों को बराबर आय देने का प्रभाव यह होगा कि श्रमिक कुशलता-पूर्व उत्पादन नहीं कर पावेंगे एवं परिणामतः राष्ट्रीय-आय कम हो जायेगी। दूस यह सिद्धान्त इस तथ्य की उपेक्षा करता है, कि कुछ कार्यों के लिए जिन्हें करने लिए अधिक बौद्धिक एवं टेक्नीकल योग्यता चाहिए या जिनमें अधिक उत्तर दायित्व होता है, उनके लिए अधिक मजदूरी देनी चाहिये। तीसरे, आय के वितरण में बराबरी का सिद्धान्त पालन करने के लिए प्राकृतिक साधनों का अत्यन्त दुरु योग होगा, क्योंकि साधारणतया स्थायी साधनों का मितव्ययितापूर्वक उपयोग इ कारण किया जाता है कि उनके लिए अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक मूल्य चुकाया जाता है। चौथे, आयों में समानता कायम रखना अत्यन्त कठिन है। एक बार आय की असमानताओं को दूर किया जा सकता है किन्तु यदि सम्पत्ति का समय-समय पर पुर्नवितरण न हो तो आयों में असमानतायें पुनः उत्पन्न हो जावेंगी। इस प्रकार यद्यपि समान आय का सिद्धान्त आकर्षक है, तथापि अव्यावहारिक है।

२—सबके लिये आवश्यकतानुसार आय का सिद्धान्त—मार्क्स ने सर्वप्रथम इस सि द्धान्त का प्रतिपादन किया और कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यत

के अनुसार कार्य करना चाहिये, और आवश्यकताओं के अनुसार पारिश्रमिक मिलना चाहिये। समाज के विभिन्न व्यक्तियों में उनकी आवश्यकता के अनुसार आय का वितरण करना चाहिये। यह सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय आय को अधिकतम बनाने में पूर्ण सहयोग देगा। इस प्रकार यह एक आदर्श सिद्धान्त है, क्योंकि यह एक ओर तो इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य अपनी पूरी क्षमता का उपयोग करेगा, और दूसरी ओर इस बात की व्यवस्था करता है कि उसकी आवश्यकतायें सतुष्ट की जा सकें। किन्तु इस सिद्धान्त को व्यवहार में लागू करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं का सही-सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता और न ही व्यक्तियों को उत्पादन अधिकतम करने में कठोर परिश्रम करने के लिए प्रेरणा मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति को जब यह विश्वास हो जाता है कि उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार ही आय मिलने वाली है, तो वह दायित्वों को पूरा करने के लिये चिन्तित नहीं होता। इन दो कठिनाइयों के कारण यह सिद्धान्त भी व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।

३—त्याग के अनुसार आय-वितरण का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति को उतनी आय दी जाय जितना कि वह समाज के लिए त्याग करता है, किन्तु जहाँ त्याग का माप करना अत्यन्त कठिन है, वहाँ यह सिद्धान्त आय की असमानताओं को दूर करने की अपेक्षा बढ़ा देगा।

४—सामाजिक उपयोगिता के अनुसार आय के वितरण का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त भी इस बात पर जोर देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जो आय मिले वह उसकी सामाजिक उपयोगिता के बराबर हो। पहले तो सामाजिक उपयोगिता का विचार एक मनोवैज्ञानिक विचार है, और उसकी माप करना असम्भव है, फिर विभिन्न व्यक्तियों की सामाजिक उपयोगिता विभिन्न होने के कारण आय की असमानतायें दूर होने की अपेक्षा स्थायी हो जावेंगी।

५—आधुनिक समन्वयवादी सिद्धान्त—आधुनिक विचारक यद्यपि पूंजीवादी प्रणाली तथा आय के क्रियात्मक वितरण के दोषों को स्वीकार करते हैं तथापि वे उसके पूर्ण उन्मूलन में विश्वास नहीं करते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं, कि यह आवश्यक है कि समाज के सभी व्यक्तियों की सभी आवश्यकतायें सतुष्ट हों और उन्हें अधिकतम आय प्राप्त हो, किन्तु उसके लिये वे आर्थिक साधनों के समान वितरण को आवश्यक नहीं मानते हैं, इसलिये वे एक ऐसे समाज की स्थापना का प्रयत्न कर रहे हैं, जहाँ कि उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही हो, समाज के सभी वर्गों का जीवन स्तर ऊंचा उठ रहा हो, और समाज में किसी भी वर्ग का शोषण या दुरुपयोग न हो। इसके लिए वे सरकारी हस्तक्षेप की सहायता से आय की असमानताओं को कम करने पर जोर देते हैं। समाजवादी, समाज रचना, मिश्रित अर्थ-व्यवस्था, कल्याणकारी राज्य और सर्वोदयी विचारधारा इसी के उदाहरण हैं।

प्रत्येक समाज का यह उद्देश्य होना चाहिये, कि राष्ट्रीय आय का आदर्श वितरण हो। और यदि उपयोगिता आय के वितरण की असमानता को दूर करने में असमर्थ रहे तो सरकार को हस्तक्षेप करना चाहिये। वह असमानताओं को दूर करने के लिए निम्न कदम उठा सकती है :—

१. अवसरों की समानता।
२. उत्तराधिकार पर प्रतिबन्ध।
३. प्रगतिशील आय कर।
४. मजदूरी की दरों में वृद्धि।
५. सामाजिक सेवाओं का विस्तार।

१—**अवसरों की समानता:**—यद्यपि पूर्ण समानता स्थापित नहीं की जा सकती, तथापि आय के न्यायोचित वितरण के लिये अवसरों की समानता अत्यन्त आवश्यक है। अर्थात् राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेद-भाव के उन्नति करने के समान अवसर मिलने चाहियें। दूसरे शब्दों में उसके उचित भोजन वस्त्र, निवास, शिक्षा, प्रशिक्षण और रोजगार की व्यवस्था होना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने शारीरिक मानसिक एवं नैतिक गुणों के उपयोग करने का समान अवसर मिलना चाहिये। इसके लिये सरकार को न केवल सुविधाओं की व्यवस्था करनी चाहिये बल्कि उन कारणों पर भी अंकुश लगाना चाहिये जोकि अवसरों में असमानता उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सरकार का कर्त्तव्य है कि वह भेद-भाव को मिटाये, और प्रत्येक वर्ग की उन्नति के लिये समान अवसर जुटावे। अवसरों की समानता के लिये यह भी आवश्यक है, कि सरकार उन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करे या विशाल आय उपार्जनों पर रोक लगावे। मूल्य वृद्धि के कारण से जो अनार्जित आय विशाल आकार में संचित होती है, उस पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाये। यही नहीं व्यापार में जोखिम के कारण जो विशाल अतिरिक्त लाभ व्यापारियों द्वारा कमाया जाता है, सरकार उस पर भी नियन्त्रण करे। इसके लिये सरकार न केवल राष्ट्रीय-करण को अपना सकती है, बल्कि विकास एवं नियमन पर नियन्त्रण भी कर सकती है, और सहकारी संगठन को प्रोत्साहन भी दे सकती है। यही नहीं सरकार सट्टा और अन्य व्यापारिक कार्यवाहियों पर भी नियन्त्रण कर सकती है।

२—**उत्तराधिकार पर प्रतिबन्ध:**—उत्तराधिकार की प्रणाली के कारण प्राइवेट सम्पत्ति पीढ़ी-पर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। इससे भी समाज में आय वितरण की असमानता को बढ़ावा एवं स्थायित्व प्राप्त होता है। इस बुराई को दूर करने का सर्वोत्तम ढंग है उत्तराधिकार कर लगाना। सम्पत्ति के हस्तांतरण पर, जबकि उसके स्वामी की मृत्यु हो जाय दो प्रकार के कर लगाये जा सकते हैं :—(i) उत्तराधिकारी को हस्तांतरण के पूर्व ही कुल सम्पत्ति पर कर लगाना, जिसे सम्पत्ति कर कहते हैं और (ii) प्रत्येक उत्तराधिकारी के भाग के

आने वाली सम्पत्ति घटकर जैसे उत्तराधिकार कर। प्रभाव पूर्ण होने के लिए मृत्यु करों द्वारा किसी व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति का काफी भाग लेना चाहिये ताकि उत्तराधिकारियों को थोड़ा ही भाग मिले। इस प्रकार व्यक्तिगत उपयोग के लिये अधिक सम्पत्ति जमा न हो सकेगी। मृत्यु करों को अर्थशास्त्रियो द्वारा बहुत उचित ठहराया गया है क्योंकि (i) यह धन की बढ़ती हुई असमानता पर रोक लगाता है, (ii) पीढ़ी-दर-पीढ़ी विशाल सम्पत्तियों के स्थायीकरण पर प्रतिबन्ध लगाता है, (iii) बालकों को माता-पिता के प्रति लाड़ प्यार के दोषो से सुरक्षित रखता है और (iv) सरकार को प्रत्येक व्यक्ति की आय में भाग दिलाता है। लोक-हित के दृष्टिकोण से इसमें एक अच्छे कर के सभी गुण विद्यमान है।

किन्तु उत्तराधिकार करो के आलोचकों का कहना है कि ये कर (i) मनुष्य को प्राकृतिक अधिकार से वंचित करते हैं तथा (ii) कार्य व बचत करने की इच्छा को प्रभावित करते हैं (iii) पूंजी निर्माण व राष्ट्रीय आय की वृद्धि को रोकते हैं। किन्तु ये आलोचनायें दुर्बल हैं। लोक-कल्याणकारी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर विश्वास नहीं करते। कुछ सीमाओं मे इसे स्वीकार किया गया है। फिर प्रत्येक व्यक्ति को आश्रितों के लिए उचित व्यवस्था अधिकार आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति स्त्री बच्चों के लिए उत्तरदायी होता है। इसलिए आवश्यक है कि वह अपने पीछे पर्याप्त सम्पत्ति छोड़े। इससे अधिक उत्तराधिकार कदापि उचित नही ठहराया जा सकता है। यह भी अभी प्रभावित नही है कि बचत करने वाले यह जानकर अमितव्ययी या कम बचत करने वाले हो गये हैं। इसके अतिरिक्त यदि उत्तराधिकार करों के कारण पूंजी निर्माण पर कुछ बुरा प्रभाव होवे भी तो उसकी क्षति-पूर्ति सरकार द्वारा पूंजी निर्माण करने से हो जायगी।

यह आवश्यक है कि उत्तराधिकार कर प्रगतिशील दर से लगाये जावें अर्थात् छोटी सम्पत्तियों को मुक्त कर अधिक सम्पत्ति पर अधिकाधिक कर लगाया जावे। इसके अतिरिक्त सम्बन्ध की निकटता एवं दूरी के अनुसार ही कर की मात्रा होनी चाहिये।

उत्तराधिकार कर तीन प्रकार से आय की असमानता को दूर करते है :—
(i) ऊंची आयें कम हो जाती है (ii) गरीबों पर कर भार हल्का हो जाता है, क्योंकि धनियों पर अधिक करों का भार पडता है और (iii) सरकार की आय बढ़ जाती है, जिसे वह गरीबों व मध्य वर्ग के लोगो के लिए उपयोगी वस्तुयें एव सेवाओं का उत्पादन बढ़ाने मे प्रयोग कर सकती है। कुछ समय के अन्दर शहरों के अन्दर सारी भूमि पर सरकार का स्वामित्व हो जायेगा जो स्वयं, भूमि की आय को ग्रहण करेगी और व्यक्तियों के पास अनार्जित लाभ एकत्र न होने पावेंगे।

३. आय कर लगाये—उत्तराधिकार करो द्वारा सम्पत्ति के कारण पैदा होने वाली असमानतायें कम होती है, लेकिन पुरस्कार मे अन्तर होने के कारण भी असमानतायें पैदा हो सकती हैं। कुछ कार्य ऐसे हैं, जिनके लिये ऊंचे वेतन मिलने

हैं। आय करों के द्वारा ऊंची आयों को कम करने का प्रयास किया जाता है। आय का प्रगतिशील दर से लगाना चाहिये। सावधानी से आय कर लिये जायें तो असमानतायें शीघ्र ही दूर हो सकती हैं। निश्चित सीमा तक आय करों से मुक्त रहा जा सकता है, तत्पश्चात् आय कर लगाना चाहिये। आय कर की दरें इस प्रकार नियोजित की जायें कि अनार्जित आयों पर कर का सबसे अधिक भार पड़े, लेकिन मजदूरी एवं वेतनों के रूप में अर्जित आय के साथ उदारता का वर्ताव किया जाय।

लगभग सभी देशों में सरकारी आय बढ़ाने के लिये ही नहीं, वरन् आयों की असमानता की समस्या को हल करने के लिये भी आय करों की रीति का अधिकतर प्रयोग किया गया है। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि आय कर 'रोग के कारणों' का 'इलाज' न होकर रोग के इलाजों का प्रभावमात्र है। आवश्यकता इस बात की है कि विशाल आयों के उदय होने पर ही रोक लगाई जाय। आय कर की रीति के विरुद्ध यह आक्षेप लगाया जाता है कि आय कर कार्य व बचत करने की क्षमता को कुप्रभावित करते हैं, तथा इससे देश में आय का उत्पादन कम हो जाता है। मनुष्य की कार्य करने की क्षमता उसकी आय पर, जो कि वह कमाता है और खर्च कर सकता है, निर्भर होती है। यदि सरकार करों द्वारा व्यक्ति की आय का काफी बड़ा भाग हरण कर लेती है, तो भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि आवश्यकताओं पर खर्च करने की क्षमता भी अन्य बातों के साथ-साथ आय की मात्रा पर ही निर्भर होती है। जितनी अधिक आय होती है, उतनी ही अधिक उसमें से बचत की जा सकती है। वास्तव में, स्वतन्त्र देशों में अधिकतर पूंजी का निर्माण बड़ी आय कमाने वाले थोड़े से लोगों द्वारा ही किया जाता है। जब कार्य करने, बचत करने व विनियोग करने की क्षमता पर आय करों का बुरा प्रभाव पड़ेगा, तो राष्ट्रीय आय में भी कमी हो जायेगी तथा परिणामस्वरूप आर्थिक कल्याण भी घट जायेगा।

उपरोक्त आलोचना के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि (१) कार्य करने की क्षमता पर जो बुरा प्रभाव पड़ेगा उसकी क्षति-पूर्ति सरकार द्वारा गरीबों और मध्यम वर्ग के लोगों में किए गये व्यय से हो जायगी। (२) यदि थोड़े से धनाढ्य लोगों द्वारा पूंजी के निर्माण पर आय करों का बुरा प्रभाव पड़ता है, तो उसकी पूर्ति उस सुप्रभाव से हो जायगी जो कि पूंजी निर्माण पर गरीबों व मध्यमवर्गीय लोगों की बचत करने की शक्ति बढ़ाने से पड़ता है। इसके अतिरिक्त सरकार स्वयं भी पूंजी के निर्माण का प्रधान स्रोत बन जायगी।

४. मजदूरी के स्तर को ऊंचा करना—विशाल आय, भूमि की आय एवं व्यापारिक लोगों का परिणाम होती है व न्यून आय कम मजदूरी का परिणाम होती है। गरीबी के अन्य कारण भी हैं। बेरोजगारी, बीमारी, वृद्धावस्था, दुर्घटनायें, अज्ञानता एवं आय का अबुद्धिमता-पूर्ण उपयोग। मजदूरी की दरों में संनियम द्वारा, न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करके, श्रमिक संघों को प्रोत्साहन देकर, श्रम की पूर्ति

पर नियन्त्रण रख कर किया जा सकता है। बेरोजगारी, बीमारी, दुर्घटनाओं एव वृद्धावस्था के लिए अधिकतर राज्यों ने सामाजिक बीमे की योजनायें कार्यान्वित की हैं। बेरोजगारी दूर करने के लिए—राष्ट्रव्यापी रोजगार कार्यालय, मन्दी के समय में सार्वजनिक सेवाओं का सगठन, सार्वजनिक व्यय करने की योजना, उत्पादन की बिक्री की गारण्टी प्रणाली आदि। इन उपायो के अतिरिक्त शिक्षा का भी प्रचार जरूरी है। इससे अज्ञानता व अन्धविश्वास दूर किए जा सकते हैं।

५. सामाजिक सेवाओं का विस्तार—प्रत्येक सरकार को प्रसाधनो का काफी भाग सामाजिक सेवाओं पर खर्च करना चाहिए। इनमें बेरोजगारी, बीमारी एव वृद्धावस्था की कठिनाइयों मे रक्षा करने की योजनायें भी सम्मिलित हैं। चिकित्सा, मकान, निशुल्क शिक्षा की सुविधायें भी इसमें सम्मिलित हैं। सरकार को नकद भुगतान कभी नही करना चाहिए क्योकि इसमे दुरुपयोग होने का डर है। सामाजिक सेवाओ द्वारा दो तरीकों से असमानता मे कमी आती है—प्रथम धनिकों से अधिक कर लेकर आय बढाना व दूसरा निर्धनों की आय में वृद्धि करना।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक सामान्यवादी प्रोग्राम मे ऊची आयों को कम करने के लिए कर सम्बन्धी उपाय तथा न्यून आय वाले वर्ग की आय बढाने के लिए अन्य उपाय सम्मिलित होते हैं। सभी समाजवादी देशों में ये उपाय किये गए हैं और इनसे काफी सफलता भी मिली है, यह सब लोग स्वीकार करने लगे हैं कि आयो की पूर्ण समानता कदापि सम्भव नहीं है किन्तु सापेक्षिक समानता सम्भव हो सकती है।

व्यापार चक्र

(Business Cycles)

Q. Discuss the different theories of Trade Cycles.
(Agra 1961 M. A.)

प्रश्न—व्यापार-चक्रों के विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन कीजिए।
(आगरा १९६१ एम. ए.)

Or

Q. What are Trade Cycles? Explain fully the theories of Trade Cycles.
(Agra 1959 M. A.)

अथवा

प्रश्न—व्यापार-चक्र क्या हैं? व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों को समझाइये।
(आगरा १९५९ एम. ए.)

Or

Q. What are the Trade Cycles? Explain fully some of the theories that have been advanced to explain the occurence of Trade Cycles.
(Agra 1951 M. A., Vikram 1959 M. A.)

अथवा

प्रश्न—व्यापार-चक्र क्या हैं? व्यापार-चक्रों के होने के कारण बताने के जो सिद्धान्त दिये गए हैं उनमें से कुछ समझाइये।
(आगरा १९५१; विक्रम १९५९ एम. ए.)

Or

Q. Summarize the views of Dr. Hayek and Lord Keynes on Trade Cycles, Suggesting remedies to eliminate their harmful effects.
(Vikram 1963 M. A.; Agra 1952 M. A.)

अथवा

प्रश्न—डा० हायेक और डा० कीन्स के व्यापार-चक्र पर विचारों का सारांश दीजिए और उनके हानिकारक प्रभावों के उपचार सुझाइये।
(विक्रम १९६३ एम. ए.; आगरा १९५२ एम. ए.)

Or

Q. "Causes of business fluctuations may be divided roughly into 'real' and 'monetary', though the dividing line is not altogether clear." Amplify. (Raj. 1960 M. Com.)

अथवा

प्रश्न—"व्यापारिक उच्चावचनों के कारण साधारणतः वास्तविक और ...क में विभाजित किये जा सकते हैं यद्यपि विभाजन रेखा बिन्दु से भी स्पष्ट नहीं" समझाइये। (राज० १९६० एम. कॉम.)

Or

Q. Give an account of the over-investment theories of Trade ...cles, (Nagpur 1960 M. A.)

अथवा

प्रश्न—व्यापार-चक्र के अतिविनियोग सिद्धान्तों को समझाइये।

(नागपुर १९६० एम. ए.)

Or

Q. Discuss the different phases of a business Cycle. How can crisis be prevented. (Raj. 1959 M. Com.)

अथवा

प्रश्न—व्यापार-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन कीजिए। संकट को ... प्रकार रोका जा सकता है ? (राज० १९५९ एम. काम.)

Or

Q. Describe the various phases of a business Cycle. Account the causes of business Cycle. (Vikram 1965 M. A.)

अथवा

प्रश्न—व्यापार-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए। व्यापार-...ों के कारणों पर प्रकाश डालिए। (विक्रम १९६५ एम. ए.)

Or

Q. Trace the origin and the development of the up swing in Cyclical tendency. Why does it not continue indefinitly ?

(Indore 1966 M. Com.)

अथवा

प्रश्न—व्यापार-चक्र में उत्कर्ष की उत्पत्ति एवं विकास का वर्णन कीजिये। ...दशा अविरत क्यों जारी नहीं रहती ? (इन्दौर १९६६ एम. कॉम.)

उत्तर—संसार के आर्थिक इतिहास की समीक्षा से प्रगट होता है कि अर्थ-...स्था की गति एवं दशा सदा समान, नियमित एवं स्थिर नहीं रही है। आय,

व्यय, उत्पादन, मांग, मूल्य तथा अन्य आर्थिक तत्वों में समय-असमय उच्चावच
हुआ करते हैं। इन उच्चावचनों की प्रकृति भी सदैव एक-सी नहीं होती है और
पर्याप्त विभिन्नता देखने को मिलती है। कुछ परिवर्तन आकस्मिक (Random
होते हैं, कुछ मौसमी (Seasonal), कुछ अवधि के अनुसार (Periodical)
कुछ निरपेक्ष (Secular)। किन्तु कुछ परिवर्तन चक्रात्मक (Cyclical) होते
एक दीर्घ अवधि में उच्चावचन की विभिन्न अवस्थाओं का आवर्तन होता रहता है
कान्द्रेत्तीफ के अनुसार यह चक्र लगभग ५०-६० वर्षों में, जगलर के अनुसार १०-१
वर्षों में तथा कोचिन के अनुसार ३-४ वर्षों में पूरे होते हैं।[1] इनके आने का सम
निश्चित होता है और लगभग एक नियमित अवधि के बाद ये पुनः प्रगट होते हैं
मन्दी और समृद्धि की अवस्थायें एक के बाद दूसरे के क्रम से प्रगट होती हैं अ
इसलिए इन्हें व्यापार-चक्र कहा जाता है। व्यवसायिक जगत में इन च
परिवर्तनों को जिनमें मन्दी के बाद तेजी और तेजी के बाद मन्दी आती है, व्य
चक्र कहते हैं।

व्यापार चक्र की परिभाषायें विभिन्न विद्वानों द्वारा इस प्रकार की गई हैं

कीन्स—"एक व्यापार चक्र, वृद्धिशील कीमतों और निम्न बेरोज
प्रतिशतों से प्रगट अच्छे व्यापार के उन कालों से जो कि गिरती हुई कीमतों
उच्च बेरोजगारी प्रतिशत से प्रगट बुरे व्यापार के काल से बदलते रहते हैं,
होता है।"[2]

हाट्रे—"आर्थिक क्रियाओं के उतार चढ़ाव को व्यापार चक्र की संज्ञा इस
दी जाती है कि उनका एक विशिष्ट लक्षण यह है कि एक दिशा में अधिक गतिशील
न केवल अपना उपचार प्रस्तुत करती है वरन् दूसरी दिशा में तिशीलता
विस्तार को प्रेरित भी करती है।"[3]

बेन्हम—"अधिक निर्भयतापूर्वक, व्यापार-चक्र को समृद्धि के काल जिस
अनुगमन मन्दी का काल करे से परिभाषित किया जा सकता है।...... न
एवं सहायक उद्योगों में उत्पादन और रोजगार की मात्रा में—वृद्धि होने पर सम

---

1. Kondratieff Cycle, Jugler Cycle, Kitchin Cycle.

2. "A trade cycle is composed of periods of good tra characterised by rising prices and low unemployment percen altering with periods of bad trade characterised by falling prices high unemployment percentages." —Lord K

3. "It is the peculiar characteristic of such fluctuations an excess movement in one direction tends to bring into opera not only its own remedy but a stimulus to an excess movement the other direction." —Ha

के काल तथा कमी होने पर मन्दी के काल में भेद किया जा सकता है।[1]

ग्राटफ्राईड हरबलर—"साधारण अर्थ में व्यापार-चक्र को, समृद्धि और मन्दी या अच्छे या बुरे व्यापार की अवधियों की प्रत्यावर्तन-शीलता से परिभाषित कर सकते हैं।"[2]

बी. ए. गोडरन—"व्यापार-चक्र आर्थिक गति विधि के सकोच एव विस्तार के आवर्तक प्रतिगमन मे निहित होते हैं एव यह प्रतिगमन प्रत्येक दिशा मे स्वय पुनं-प्रभावोत्पादक होता है तथा अन्ततः अर्थव्यवस्था के सभी हिस्सो मे फैल जाता है।"[3]

मिचेल—"व्यापार-चक्र संगठित समाजों की आर्थिक क्रियाओ मे होने वाले उच्चावचनों का ही एक प्रकार है। 'व्यापार' शब्द का विशेषण के रूप मे प्रयोग इस धारणा को उन क्रियाओ के उच्चावचनो तक सीमित कर देता है जो कि व्यवस्थित रूप से व्यापारिक आधार पर संचलित होती हैं। 'चक्र' शब्द का सज्ञा के रूप मे प्रयोग इस धारणा को उन उच्चावचनो से पृथक कर देता हैं जो कि नियमितता के साथ आवर्त नही होते।"[1]

नेशनल ब्यूरों आफ इकानामिक रिसर्च—"व्यापार-चक्र एक प्रकार का उच्चावचन है जो कि उन राष्ट्रों की कुल आर्थिक गति-विधि मे पाया जाता है जिन्होंने कि अपना कार्य व्यापारिक उपक्रम मे सगठित किया है। एक चक्र मे बहुत-सी आर्थिक क्रियाओ मे उसी समय पर होने वाले विस्तार निहित होते हैं और जिनके बाद साधारण सकुचन, मन्दी और उत्थान आते है जो कि अगले चक्र की विस्तार अवस्था मे मिल जाते हैं। परिवर्तनो की यह श्रृंखला आवर्तक तो होती

---

1. "The trade-cycle may be defined, rather boldy, as a period of [illegible] .. .. A period [illegible] period of [illegible] employ- [illegible]

—Benham.

2. "The business-cycle, in the general sense, may be defined as an alternation of periods, of prosperity and depression, of good and bad trade " —Gottfried Herbeler.

3. "Business cycle consist of recurring alternations of expan- sion [illegible]

[illegible] atically conducted on a commercial basis The noun 'cycle' bars out fluctuations which do not recur with a measure of regularity."

—Michell.

१९१४ तक के व्यवसायिक कार्यों को निरूपित करेंगे जिससे कि वास्तविक व्यापार चक्र के पथ का आभास हो जावे।"

इस प्रकार के व्यापार-चक्र से चार भाग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहे हैं जो निम्नलिखित हैं। व्यापार-चक्र को इन चार भागों में मिचेल ने बांटा है।

(१) मन्दी (Depression)
(२) उत्थान (Recovery)
(३) समृद्धि-काल (Prosperity)
(४) संकुचन (Recession)

PROSPERITY
RECOVERY
RECESSION
RECOVERY
DEPRESSION
DEPRESSION
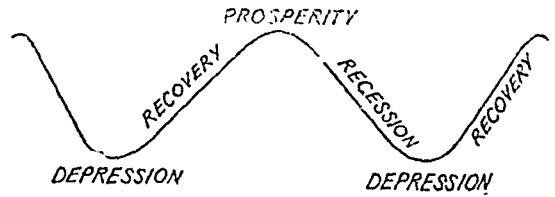
(१) मन्दी (Depression) :—व्यापार चक्र के पथ का अध्ययन करने लिए हम अपना आरम्भ बिन्दु मन्दी को लेगें। कारण कि वैसे तो यह कहना बड़ा कठिन है कि व्यापार-चक्र किस विशेष बिन्दु से आरम्भ होता है क्योंकि मन्दी के बाद समृद्धि-काल और समृद्धि-काल के बाद फिर मन्दी का चक्र चलता ही रहता है। किन्तु चूंकि अधिकांश अर्थशास्त्री मन्दी को ही सबसे अच्छा आरम्भ बिन्दु मान कर व्यापार-चक्र के पथ की विवेचना करते हैं इसलिये हम भी इस बिन्दु को ही आरम्भ बिन्दु मानेंगे।

मन्दी के दिनों में व्यवसाय बिल्कुल शिथिल होता है। विनियोग की मात्रा बहुत घट जाती है। चूंकि फर्मों की चल सम्पत्ति शून्य हो जाती है इसलिये वे नवीन साधनों, इमारतों तथा वस्तुओं के लिये अपने आदेशों को रद्द कर देती हैं। ऐसी स्थिति में विदेशी मांग स्वदेशी वस्तुओं के लिये बहुत कम होती है। सरकार वस्तुओं के क्रय को तो अवश्य बढ़ाती है किन्तु इतना नहीं बढ़ा पाती जितना कि निजी व्यक्तियों ने कम की होती है। चूंकि वस्तुओं को खरीदने वालों की संख्या कम होती है इसलिये फर्में अपना उत्पादन भी कम कर देती हैं। फर्मों के उत्पादन कम कर देने से अधिकांश लोग बेरोजगार हो जाते हैं। जो कुछ सौभाग्यशाली नौकरी पर लगे रहते हैं उनकी तनख्वाहें बिल्कुल कम हो जाती हैं। ऐसे समय में द्रव्य की क्रय शक्ति तो अवश्य बहुत अधिक बढ़ जाती है. पर व्यक्ति की क्रय-शक्ति नौकरी इत्यादि छूट जाने के कारण बहुत घट जाती है। ब्याज की दर भी बहुत कम हो जाती हैं। कारण एक तो बैंकों के पास उधार लेने के लिये कोई नहीं जाता जिससे बैंक अपनी साख को बढ़ाने के लिये ब्याज की दर कम कर देते हैं। दूसरा देश का केन्द्रीय बैंक भी ऐसी स्थिति में यही प्रयत्न करता है कि ब्याज की दर न्यूनतम हो जावे जिससे व्यापारी वर्ग को पूंजी उधार लेकर विनियोग के लिये प्रोत्साहन मिल सके। ऐसे समय में अयोग्य उद्यमी स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं. और विश्व में लागतों, लाभों और कीमतों के निम्न स्तर की एक नई समता के आधार पर व्यापार की स्थापना होती है। व्यापारी वर्ग में निराशा की लहर दौड़ रही होती है। इस भांति की व्यवस्था कई वर्षों तक रहती है।

(२) उत्थान (Recovery)—पर यह स्थिति सदैव बनी नहीं रह सकती। थोड़े समय के बाद बहुत कुछ मन्दा रहते हुए भी स्थिति में एक बड़ा विलक्षण परिवर्तन होने लगता है। आशा की क्षीण रेखायें प्रकट होने लगती हैं और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अत्यधिक गम्भीर अवस्था समाप्त हो चुकी है। व्यापारी वर्ग भी चूँकि यह जानता है कि मन्दी के बाद समृद्धि-काल के दिन स्वयं आवेंगे इसलिये वह कभी भी जोखिम उठाने के लिये कमर बाँध लेता है। इधर मन्दी में कुशल कारीगरों की मजदूरी बहुत कम हो जाती है और उनकी पूर्ति बढ़ जाती है। यह कारीगर कम पैसों पर ही अधिक काम करते हैं। इसके अतिरिक्त ब्याज की दर बहुत कम होती है। उत्पादन के कच्चे पदार्थ और साधन बहुत सस्ते होते हैं। मन्दी में मूल्य तो कम होते ही हैं किन्तु उनके साथ ही साथ उत्पादन व्यय तथा लागत भी कम होती है। कभी-कभी तो उत्पादन व्यय में इतनी कमी आ जाती है कि लाभ का भाग उभर आता है। लाभ को देखते ही वे साहसी जिनके पास पर्याप्त पूँजी होती है इस स्थिति में लाभ उठाने के लिये पूँजी का विनियोग करना आरम्भ कर देते हैं। वे यह विचार करके कि अब अच्छे दिन आने वाले हैं और ऐसा न हो कि वे पीछे छूट जायें तुरन्त ही पुरानी मशीनों की मरम्मत, नवीन साधनों, इमारतों इत्यादि के लिये आदेश देने लगते हैं। उनके यह आदेश बाजार में चहल-पहल मचा देते हैं और आशा की क्षीण-रश्मियाँ अधिक उज्ज्वल बन जाती हैं। इन आदेशों को पूरा करने की चेष्टा में रोजगार की मात्रा बढ़ने लगती है जिससे व्यक्तियों की क्रय-शक्ति बढ़ती है। क्रय शक्ति के बढ़ने से वस्तुओं की माँग बढ़ती है जिससे कीमतें बढ़ती हैं तथा परिणामस्वरूप लाभ का अंश बढ़ता है। प्रत्येक साहसी अपने कुल लाभ को अधिकतम करने के लिये विनियोग की मात्रा बढ़ाता चला जाता है जिससे रोजगार और अधिक बढ़ता है तथा परिणामस्वरूप वस्तुओं की माँग बढ़ती चली जाती है। व्यापारियों को लाभ बहुत अधिक होने लगता है क्योंकि पूँजी उनको कम ब्याज पर मिलती है। कारण कि बैंकों के पास पर्याप्त धन उधार देने के लिये होता है जिससे वे ब्याज की दर को बढ़ाने की चेष्टा नहीं करते हैं। ज्यों ज्यों लाभ की मात्रा बढ़ती जाती है व्यापारी विनियोग की मात्रा भी बढ़ाते जाते हैं जिससे रोजगार की मात्रा तथा वस्तुओं की कीमतें बढ़ती ही चली जाती हैं। इस प्रकार मन्दी में इन तमाम परिवर्तनों से व्यापार की दशा बदल जाती है जिससे उत्थान अथवा उन्नति के लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

(३) समृद्धि-काल (Prosperity)—ज्यों-ज्यों व्यवसायिक कार्यों का विस्तार बढ़ता जाता है उत्थान की प्रवृत्ति समृद्धि-काल में परिणित होती जाती है। धीरे-धीरे ब्याज की दर बढ़ने लगती है। उधर चूँकि व्यापारियों को लाभ अधिक हो रहे होते हैं इसलिये वे श्रमिकों के वेतन को भी बढ़ाते जाते हैं। अधिक उत्पादन के लिये अधिक श्रमिकों की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है जिससे अयोग्य श्रमिकों को भी नौकरी मिलने लगती है। इन सब बातों से कीमतें अधिक बढ़ने लगती हैं।

सारे व्यवसायिक जगत में आशावाद फैल जाता है। लोगों के पास क्रय-शक्ति के बढ़ जाने से वे खुलकर खर्च करना आरम्भ कर देते हैं जिससे मांग बहुत अधिक बढ़ जाती है। साहसी लोग नई मशीनों के अतिरिक्त पुरानी मशीनों की मरम्मत कराके भी उत्पादन बढ़ाते जाते हैं। नये-नये उद्योग खुल जाते हैं। उत्पत्ति वास्तविक मांग के अनुसार न होकर भावी मांग के अनुसार होने लगती है। फुटकर व्यापारी लाभ उठाने के उद्देश्य से उपभोक्ताओं की मांग से अधिक वस्तुयें अपने पास इकट्ठी कर लेते हैं। कारण कि वस्तुओं की कीमतें दिन प्रतिदिन बढ़ रही होती हैं जिससे कि व्यापारी अधिक वस्तुयें खरीद रहे होते हैं ताकि भविष्य में ऊंची कीमत पर बेचकर लाभ उठा सकें। थोक व्यापारी भी फुटकर व्यापारियों की मांग से अधिक वस्तुओं को इकट्ठा करते हैं और उत्पादक भी थोक व्यापारियों की मांग से अधिक उत्पादन करते हैं। इस प्रकार व्यवसायिक जगत में समृद्धि-काल अथवा उभार आ जाता है।

(४) संकुचन (Recession)—परन्तु कुछ समय उपरान्त एक बार फि[र] कुछ अदृश्य कारणों से यह उभार अपनी शक्ति खो बैठता है। जिस प्रकार [कि] मन्दी में आशा की झलक के दृष्टिगोचर होने से उत्थान आरम्भ हो गया था उ[सी] प्रकार कुछ अदृश्य कारणों से समृद्धि-काल में संकुचन प्रारम्भ हो जाता है। इ[न] अदृश्य कारणों के विषय में तो अर्थशास्त्रियों में मतभेद है किन्तु सम्भवतः ऐसा हो सकता है कि उभार के दिनों में आशावाद में निमग्न उत्पादक अयोग्य श्रमिकों को रोजगार देना प्रारम्भ कर देते हैं एक ओर तो मजदूरी बढ़ती है और अयोग्य श्रमिकों को रोजगार मिलता है और दूसरी ओर व्याज व अन्य वस्तुओं की द[र] बढ़ने लगती हैं जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन व्यय अथवा लागतें बढ़ने लगती हैं। कभी-कभी लागत इतनी बढ़ जाती है कि लाभ का अंश अदृश्य होने लगता है जिस[से] कि उत्पादकों में निराशा छाने लगती है। इधर बैंक भी सोचने लगते हैं कि उन्होंने ऊंचे व्याज की दर की लालच में अधिक साख का सृजन कर दिया है और उनकी रोक निधि जमा की अपेक्षा बहुत कम रह गई है जिनसे उनको कभी भी खतरा ही खतरा हो सकता है। वे इसलिये उधार देने में आनाकानी करने लगते हैं और पुराने ऋणों को भी वापिस मांगने लगते हैं। उत्पादक वर्ग भी धैर्यहीन हो जाता है और यह सोचने लगते हैं कि बैंकों को रुपया वापिस करने के लिये उन्हें स्टाक में कमी कर देनी चाहिये। यह सोचकर उत्पादक व्यवसाय में छटनी करना प्रारम्भ कर देते है जिससे बेरोजगार की मात्रा बढ़ती हैं। व्यक्तियों की क्रय-शक्ति कम होने लगती है जिससे वस्तुओं की कीमतें गिरने लगती हैं। कीमतों में गिरावट होते ही व्यापारी घबरा उठते हैं और अपने चारों ओर जमा की हुई वस्तुओं को निकालने लगते हैं जिससे उभार रेट जाता है तथा संकुचन प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे मन्दी के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं और बहुत से उद्योगी तो दिवालिये हो जाते हैं। इस प्रकार व्यवसाय में चारों ओर से अन्धकार बढ़ने लगता है ...ी का समय आने लगता है।

ऊपर तो हमने व्यापार-चक्र को केवल चार मोटे भागों में बांटा है। वैसे यह कई भागों में बांटा जा सकता है। लार्ड ओवरस्टोन ने व्यापार चक्र की गति को इस प्रकार बताया है—"स्थिरता का समय–उन्नति–विश्वास काल में वृद्धि–समृद्धि–काल–उत्तेजना—अत्यधिक व्यापार–ऐंठन–दबाव निराशा–मन्दी और फिर अन्त में 'स्थिरता।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यापार-चक्र का पथ प्राकृतिक है और एक स्थिति स्वयं ही दूसरी को जन्म देती है जिससे कि समृद्धि-काल के उपरान्त मन्दी और मन्दी के उपरान्त समृद्धि-काल का चक्र चलता ही रहता है। किन्तु व्यापार चक्र का पथ 'प्राकृतिक' होने के कारण ऐसा विचार करने लगना कि इसका रोकना कठिन अथवा असम्भव है या यह विचार कि इसको रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये, गलत है। यह भी तो 'प्राकृतिक' है कि प्रत्येक मानव के दाँत गिर जाते हैं किन्तु इस विचार ने दन्तविद्या के विकास को रोका नहीं है। मानव के लिये यह भी तो प्राकृतिक है कि वह पृथ्वी से चिपका रहे किन्तु इस विचार ने इन्जीनियरों को हवाई जहाज बनाने से नहीं रोका है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा की जा रही है। इसलिए हम भी व्यापार-चक्रों को रोकने के लिए उपायों की खोज करेंगे। किन्तु ऐसा करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि व्यापार-चक्र क्यों आते हैं? इसके लिये हम विभिन्न व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

व्यापार-चक्र के सिद्धान्त

(Theories of Trade Cycles)

व्यापार-चक्र क्यों होते हैं? और विशेषकर बार-बार और लगभग नियत समय पर ही क्यों होते हैं। इस बात को समझाने के लिये विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये है। इन सिद्धांतो को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (१) वह वर्ग जो मौद्रिक घटकों को आर्थिक उतार चढाव

व्यापार-चक्र के सिद्धान्त

मौद्रिक (Monetary)	अमौद्रिक (Non-monetary)
१. हाट्रे का सिद्धान्त	१. जलवायु सिद्धान्त
२. हेयक का सिद्धान्त	२. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त
३. कीन्स का सिद्धान्त	३. अति उत्पादन सिद्धान्त
४. हिक्स का सिद्धान्त	४. अतिबचत सिद्धान्त
	५. स्वर्द उत्पादन सिद्धान्त
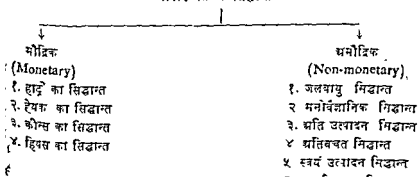
का कारण मानता है। इस वर्ग के नेता हैं, हॉट्रे, हेयक, कीन्स, हिक्स आदि और (२) वह वर्ग जो अमौद्रिक घटकों को व्यापार-चक्रों का कारण मानता है। इस वर्ग के नेता है, जैवन्स, पीगू, सीसमान्डी, हाब्सन आदि। परन्तु इन सब सिद्धान्तों में कोई एक सिद्धान्त पूर्ण एवं निश्चित नहीं है, क्योंकि ये सब सिद्धान्त केवल एक ही पहलू पर प्रकाश डालते हैं, और अन्य पहलुओं की अवहेलना करते हैं। ये सिद्धान्त निम्नांकित हैं :—

१. हाट्रे का विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त—हाट्रे ने बताया कि व्यापार-चक्र पूर्णतः एक मौद्रिक तथ्य है। अर्थात् व्यापार-चक्र के लिये मौद्रिक व्यवस्था को ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। हाट्रे ने बताया कि व्यापार चक्र, बैंकों तथा अन्य उधार देने वाली संस्थाओं की स्वतन्त्र कार्यवाहियों के कारण उत्पन्न होते हैं। ये संस्थायें अपनी इच्छानुसार जब चाहती हैं, तब उधार देना बन्द कर देती हैं। इन संस्थाओं के इन कार्यों से व्यापारिक जगत में परिवर्तन आते हैं।

हाट्रे ने बताया कि व्यापार चक्र का ऊर्ध्वमुखी क्रम (Upward Movement) बैंक साख के प्रसार के कारण होता है क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि आधुनिक युग में अधिकांश व्यापार उधार लिए हुये रुपयों से किया जाता है। व्यापारियों पर ब्याज की दर का गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि ब्याज की दर अधिक होती है तो व्यापारी कम उधार लेते हैं। इसके विपरीत जब ब्याज की दर कम होती है तो व्यापारी अधिक उधार लेते हैं। जब बैंक अधिक मात्रा में साख प्रदान करते हैं तो ब्याज की दर अधिक रहती है। सब व्यापारी, चाहे वे छोटे हों या बड़े अपने कार्य को चलाने के लिए बैंक से रुपये उधार लेते हैं। जब बैंक मनमानी रीति से अधिक रुपया उधार देते हैं तो व्यापारी जगत में तेजी का वातावरण दृष्टिगोचर होता है क्योंकि ऐसी दशा में व्यापारी उत्पादकों से अधिक माल की मांग करते हैं, जिससे उत्पादक भी अपना उत्पादन बढ़ाते हैं। उत्पादन बढ़ने से तथा व्यापार में विस्तार होने से अधिक लोगों को रोजगार मिलता है तथा लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि होती है जिससे मांग में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार उत्पादक तथा व्यापारी दोनों मिलकर बैंक से अधिकाधिक साख की मांग करते हैं, परन्तु बैंकों के साख उत्पन्न (Creation of Credit) करने की भी एक सीमा होती है। अधिक साख उत्पन्न करने से बैंकों का रक्षित कोष अनुपात (Reserve Ratio) कम हो जाता जिससे बैंकों को अधिक साख प्रदान न करने को विवश होना पड़ता है और बैंक अपना उधार वापिस मांगने लगते हैं। ब्याज की दर बढ़ा दी जाती है जिससे व्यापारी और उत्पादक दोनों ही अपना काम पहले की अपेक्षा कम कर देते हैं। व्यापारी माल की मांग कम कर देते हैं। वे अपने पास के माल को बेच कर नकद रुपया -त करने की चेष्टा करते हैं। क्योंकि बैंक साख प्रदान करना बंद कर देते हैं इसलिए बहुत सी सीमान्त फर्में अपना उत्पादन कार्य बंद कर देती हैं। परिणामस्वरूप बेरोज-

गारी फैलती है, वस्तुओं की मांग कम हो जाती है और उनका मूल्य गिर जाता है। यह स्थिति उस समय तक चलती है जब तक कि बैंक ब्याज की दर मे कमी नही कर देते। जब बैंक ब्याज की दर कम कर देते हैं तो पुन व्यापार मे विस्तार होने लगता है और इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। अत यह स्पष्ट है कि साख में विस्तार तथा संकुचन ही व्यापार चक्र को जन्म देते हैं।

आलोचना—(१) इन सिद्धान्तों के समर्थकों की यह धारणा ठीक है कि आधुनिक युग मे वित्त ही व्यापार का प्राण है, परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि साख के कारण ही व्यापार चक्र आते हैं। केवल इतना ही नहीं कहा जा सकता है कि मन्दी तथा तेजी के विकास मे मौद्रिक कारणो का भी हाथ होता है। हाट्रे के मतानुसार यदि मूल्यों में होने वाले उतार चढ़ाव को रोक दिया जाय तो व्यापार चक्र नहीं आवेगा। लेकिन हाट्रे की यह धारणा निराधार है क्योंकि यदि मूल्यों को स्थिर कर दिया जाय तो फिर भी व्यापार चक्र के आवागमन को रोका नहीं जा सकता। पीगू ने इस बात को एक सुन्दर उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। उसने बताया है कि "पहाड़ पर चढ़ने के लिए कुल्हाड़े की भी आवश्यकता है तथा इसके बिना कोई पर्वतारोही पर्वत पर चढने की नही सोच सकता। परन्तु यदि कुल्हाड़े की बिक्री कानून द्वारा रोक दी जावे तो पर्वत पर चढना समाप्त नहीं हो जावेगा।" (२) यह एक साधारण सी बात है कि यदि साहसी यह देखता है कि भविष्य में मूल्यो में वृद्धि होने की सम्भावना है तो ऊंची ब्याज की दर भी उसे उत्पादन को बढ़ाने से नही रोक सकती। इसके विपरीत यदि साहसी यह देखता है कि भविष्य में मूल्य गिरने की सम्भावना तो कम ब्याज दर होने पर भी वह उत्पादन बढ़ाने को तैयार नहीं होगा। (३) साख सकुचन तथा साख विस्तार पर ही व्यापारिक मन्दी व तेजी निर्भर नही करती, बल्कि साख स्वय ही व्यापार की मन्दी तथा तेजी के अनुसार घटती बढती है। (४) व्यापार चक्र का एक लक्षण सर्व व्यापकता भी है जो कि इस बात की ओर सकेत करता है कि व्यापार चक्र किसी एक देश के बैंक की नीति मे परिवर्तन का परिणाम नही है।

(२) हेयक का अधिक साख सिद्धान्त (Hayek's Additional Credit Theory)—हेयक का विचार है कि व्यापार चक्रो के आने का कारण ब्याज की स्वाभाविक दर (Natural Rate) तथा ब्याज की दर (Market Rate) मे विभिन्नता का होना है, जिसका जन्म साख मुद्रा के निर्गमन द्वारा होना है। ब्याज की स्वाभाविक दर से तात्पर्य उस दर से है जो कि उस समय प्रचलित होती है। जब कि उधार दी गई पूजी का स्रोत ऐच्छिक बचतें (Voluntary Savings) ही होना है। जब कभी इन दरों मे अन्तर हो जाता है तो मूल्यो मे भारी वृद्धि या कमी हो जाती है क्योंकि इनके अन्तर ही मुद्रा की मात्रा (Quantity of Money) को प्रभावित करके मुद्रा प्रसार (Inflation) या मुद्रा सकुचन (Deflation) को जन्म देती है जिससे कि अर्थ व्यवस्था मे व्यापार चक्र आते है।

डाक्टर हेयक अर्थ व्यवस्था की उस स्थिति को मान कर चलते हैं जिससे बचत तथा विनियोग में सन्तुलन होता है। यह दशा उस समय प्रचलित होती है जब कि पूंजी केवल बचत द्वारा ही निर्मित होती है। किन्तु ऐसा बहुत कम होता है क्योंकि बैंक भी साख निर्माण किया करते हैं। बैंकों का उद्देश्य भी अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है जिसके लिए यह आवश्यक है कि बैंक अधिक से अधिक रुपया उधार दे और ऐसा करने के लिए वे ब्याज की दर को कृत्रिम रूप से कम कर देते हैं तथा साख का अधिक मात्रा में सृजन करने लग जाते हैं। ब्याज की दर गिरते ही साहसी अधिक मात्रा में रुपया उधार लेने लग जाते हैं और इस रुपये को पूंजी सम्बन्धी माल उत्पन्न करने वाले उद्योगों (Capital Goods Industries) में लगा देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन काफी लम्बा या पूंजीवादी प्रकृति का बन जाता है। अन्त में यह नई मुद्रा जो कि ब्याज की दर के गिरने पर सहासियों ने ली है, उत्पत्ति के साधनों को जुटाने के लिए इनके मालिकों को (उत्पत्ति के साधनों के मालिक) भुगतान के रूप में दे दी जाती है। इस प्रकार यह मुद्रा अन्तिम उपभोक्ताओं के हाथ में पहुँच जाती है। जब अन्तिम उपभोक्ताओं के पास यह मुद्रा पहुँच जाती है तो वे इसे उपभोग की वस्तुओं के खरीदने में व्यय करने लगते हैं जिससे इन वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है तथा परिणामस्वरूप कीमत भी बढ़ जाती है। कीमत के बढ़ते ही इन वस्तुओं का उत्पादन करना अधिक लाभप्रद हो जाता है। इससे उत्पादन के साधन, उत्पादक काल उत्पन्न करने वाले उद्योगों से हट कर उवभोक्ताओं की वस्तुयें बनाने वाले उद्योगों में आने लगते हैं। उत्पादक काल उत्पन्न करने वाले उद्योगों को तभी सम्भाला जा सकता है जब कि साख का और अधिक सृजन किया जावे। किन्तु बैंक असीमित मात्रा तक साख का सृजन नहीं कर सकते अन्यथा उनके दिवालिया हो जाने का भय हो जाता है। जब बैंकों के पास रोकड़ की मात्रा कम होने लगती है और जब यह तत्कालीन देय (Demand Liabilities) के अनुपात में भी रोकड़ कम होने लगती है तो बैंक उधार देना बंद कर देते हैं और जो कुछ भी उधार देते हैं उसके लिए बहुत अधिक ब्याज लेते हैं। जब बैंक उधार देना बन्द कर देते हैं तो पूंजी सम्बन्धी माल उत्पन्न करने वाले उद्योगों को वित्त (Finance) उपलब्ध न होने के कारण वे बन्द होने लगते हैं जिससे बेरोजगारी को जन्म मिलता है और संकट काल (Crisis) की अवस्था आने लगती है। इस प्रकार डाक्टर हेयक के मतानुसार व्यापार चक्रों के आने का कारण अत्यधिक साख के सृजन में है।

आलोचना— (१) डाक्टर हेयक ने अपने सिद्धान्त में यह मान लिया है कि उत्पादन के सब साधन पूर्ण रूप से प्रयोग में लाये जाते हैं तथा बैंकों की नीति के प्रभाव से ये साधन एक क्षेत्र से हटा कर दूसरे क्षेत्र में लगाए जाते हैं किन्तु व्यवहारिक जगत में हम कभी भी उत्पादन के साधनों का पूर्ण रूप से प्रयोग में लाया ---नहीं पाते।

आलोचकों ने बताया है कि हेयक का यह विचार भी सत्य प्रतीत

नहीं होता कि बचत और विनियोग में परस्पर संतुलन बना रहता है और यह संतुलन बैंको की नीति से भग हो जाता है।

(३) इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह आलोचना की जाती है कि इस सिद्धान्त मे यह माना गया है कि बैंकों की उधार देने की नीति मे सदैव हानि ही होती है जो कि ठीक नहीं है।

(४) यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या नहीं करता कि व्यापार चक्र अपने निश्चित समय पर ही क्यों आते हैं और अपने निश्चित मार्ग पर ही क्यो चलते हैं ?

(५) इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति विधि को बढाना भयानक फल पैदा कर सकता है, क्योकि यह ऐच्छिक बचत पर निर्भर नही होता वरन् साख प्रसार के ऊपर आधारित रहता है। परन्तु यह ज्ञात करना कठिन कार्य है कि कहा पर ऐच्छिक बचत की सीमा समाप्त हो जाती है और कहा साख प्रकार की सीमा प्रारम्भ होती है।

(३) कीन्स का बचत और विनियोग सिद्धान्त (Keynesian Theory of Savings and Investments)—कीन्स के व्यापार चक्र के सिद्धान्त के अनुसार व्यापार-चक्र के प्रगट होने के कारण बचत और विनियोग मे अन्तर पड जाता है। प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने में कुछ न कुछ लागत लगानी पडती है। इस लागत मे वे सब खर्च सम्मिलित किये जाते हैं जो उनके उत्पन्न करने मे उन सब साधनो को प्राप्त होते हैं जो उस वस्तु की तैयारी मे लगाये जाते हैं। दूसरे शब्दो मे, किसी वस्तु की उत्पादन लागत उस वस्तु के उत्पादन मे प्रयोग किये जाने वाले समस्त साधन की आय होती है। इस प्रकार किसी निश्चित समय मे उत्पन्न की गई किसी वस्तु की उत्पादन लागत उस आय के बराबर होती है जिसे समाज के विभिन्न वर्ग के व्यक्ति किसी निश्चित समय मे प्राप्त करते हैं। किसी समय मे समाज के व्यक्ति अपनी समस्त आय को या तो खर्च कर डालते हैं या बचा लेते हैं। यह खर्च की हुई आय समाज को वापिस मिल जाती है, इसके अतिरिक्त समाज मे कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो अपनी आमदनी के बड़े भाग को खर्च न करके बचा लेते हैं। यदि वह बचाई हुई आय उत्पादन कार्य मे फिर से लगा दी जाती है तो इससे समाज मे माल की माग बढ जाती है। इसके विपरीत, यदि यह सचित आय खर्च नही की जाती है और जमीन मे गाड दी जाती है तो इससे समाज की क्रय शक्ति कम हो जाती है और समाज मे मन्दी के लक्षण प्रकट होने लगते है।

इसके विपरीत यदि समाज के व्यक्तियों की समस्त बचत की मात्रा से भी अधिक मात्रा मे विनियोग (Investment) कर दिया जाता है, जैसे बैंक से ऋण लेकर विनियोग करना, तो इस अतिरिक्त विनियोग के कारण मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है क्योकि समाज की माग पहले से अधिक हो जाती है। ऐसी स्थिति मे तेजी के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार जब भी बचत और विनियोग मे असमानता

आ जाती है तो व्यापार चक्र के लक्षण प्रकट होने लगते हैं । इसलिये जब कभी भी बचत में वृद्धि होने लगती है तो ब्याज की दर कम कर दी जाती है, जिससे लोगों को व्यापार क्षेत्र विस्तृत करने की प्रेरणा मिलती है और साथ ही इससे अन्त में बचत और विनियोग में संतुलन लाने में सहायता मिलती है ।

इसके अतिरिक्त कीन्स ने अपने व्यापार-चक्र के सिद्धान्त में विनियोग गुणक (Investment Multiplier) का भी प्रयोग किया है । इसमें उसने बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का एक निश्चित प्रतिशत बचा लेता है तथा शेष भाग व्यय कर देता है । आय का यह व्यय किया हुआ भाग विभिन्न भागों में होकर गुजरता है जो अपने आप बहुगुणा होता चला जाता है, क्योंकि एक व्यक्ति का व्यय दूसरे व्यक्ति की आय होती है । इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति का व्यय, तीसरे व्यक्ति की आय होती है और यह क्रम चलता रहता है । कीन्स ने बताया कि यह क्रम निरन्तर उस समय तक चलता रहता है जब तक कि व्यय गुणा होते-होते १०,००० तक नहीं होता । इस गुणक सिद्धान्त के द्वारा कीन्स विनियोग किये हुए द्रव्य से होने वाली आय का अनुमान लगाना चाहते थे ।

आलोचना—कीन्स का व्यापार चक्र का सिद्धान्त बहुत कुछ वास्तविकता के निकट होने पर भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है । सबसे पहले कीन्स ने विनियोग को प्रभावित करने में ब्याज की दर को जो अत्यधिक महत्व प्रदान किया है, वह उचित नहीं है । आलोचकों ने बताया कि केवल ब्याज की दर में कमी हो जाने से ही व्यापार का क्षेत्र विस्तृत नहीं हो जाता । उद्योगपति या साहसी व्यापार के पैमाने को बढ़ाते समय केवल यह नहीं देखते कि ब्याज की दर क्या है ? बल्कि यह देखते हैं कि व्यापार की स्थिति क्या है ? यदि साहसी व्यापार की स्थिति अपने अनुकूल पाता है तो वह व्यापार के पैमाने को बढ़ाता है, भले ही ब्याज की दर ऊंची क्यों न हो । इसके विपरीत यदि वह व्यापार के पैमाने को बढ़ाना उचित नहीं समझता तो वह ब्याज की दर के नीची होने पर भी व्यापार की पूंजी का अधिक विनियोग नहीं करेगा । एक दूसरा दोष कीन्स के सिद्धान्त में यह है कि उससे व्यापार व्यापार चक्रों के कालित्व (Periodicity) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

(४) हिक्स का सिद्धान्त—हिक्स ने व्यापार चक्रों के होने के कारण गुणांक (Multiplier) व तीव्र गति के मिश्रित प्रभावों को बताया है ।

तीव्र गति सिद्धान्त क्या है ? हिक्स के अनुसार विनियोग दो प्रकार का होता है । (१) 'स्वायत्त विनियोग' (Autonomous Investment) जिस पर उत्पत्ति के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वह आविष्कारों तथा नवीन [illegible]तियों के कारण ही आगे बढ़ता है । दीर्घकाल तक इससे लाभ उठाया जाता है । [illegible] के अनुसार यह समान रूप से वृद्धि करता रहता है । जब नये आविष्कार या [illegible] उत्पादन विधि में विनियोग किया जाता है तो इसमें बड़ी तेजी और गति होती है, परन्तु यह तेजी समाप्त होने के पश्चात 'स्वायत्त विनियोग' अपने पुराने पथ पर

मा जाता है (२) दूसरे प्रकार का विनियोग 'प्रेरित विनियोग' (Induced Investment) है जब उत्पत्ति मे उतार-चढाव के फलस्वरूप विनियोग में भी परिवर्तन होता है तो उसे प्रेरित विनियोग कहते हैं। जैसे यदि किसी वस्तु की माग मे वृद्धि हो जाती है और यदि यह उत्पत्ति वृद्धि कुछ स्थायी प्रकृति की प्रतीत होती है तो इससे विनियोग की मात्रा भी बढ जाती है। यह विनियोग प्रेरित विनियोग है। यह तीव्र गति सिद्धान्त (Acceleration Principle) है।

विनियोग की मात्रा और नगद आय (Money Income) एक दूसरे से बहुत सम्बन्धित है। यदि किसी नवीन उत्पादन विधि के फलस्वरूप स्वायत्त विनियोग बढ़ जाता है तो विधि की नवीनता समाप्त होने पर विनियोग की तीव्र गति रुक जावेगी और वह अपने पहले पथ पर ही आ जावेगी किन्तु प्रेरित विनियोग यदि एक बार तीव्र गति से बढा तो फिर वह लौट नहीं सकता। उसके आगे की गति बढ़ती जाती है। वह साम्यावस्था तक पहुँच जाता है। इसके आगे बढ नही सकता। परन्तु यह अवस्था भी अधिक समय तक नही रह सकती। उसकी गति नीचे की ओर हो जाती है। आशा के विपरीत, इसकी नीचे की गति धीरे और अनुक्रमिक (Gradual) नही होती, वरन् अधिक तीव्र गति से ही नीचे आती है यह इसकी एक विशेषता है। हिक्स ने इसका कारण मौद्रिक बताया है। जब उत्पत्ति कम होने लगती है और बाजार मे वस्तुयें कम बिकने लगती है तो उनका बेचना कठिन हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्थायी लागत (Fixed Costs) का बोझ असहनीय होने लगती है। फर्मों के दिवाले निकलने लगते है और तरलता अधिमान (Liquidity Preference) एकदम बढ़ जाता है। बैंक साख पर द्रव्य देना नही चाहते। साख बाजार की ये कठिनाइयाँ व्यापार की चहल-पहल को समाप्त कर देती है और अवसाद की दशायें आ जाती है।

आलोचना—हिक्स के इस सिद्धान्त में भी दोष है और यह दोष मुख्यतः तीव्र गति के सिद्धान्त के प्रयोग का है। तीव्र गति का सिद्धान्त (Acceleration Principle) एक भद्दा तथा अनुपयुक्त साधन है। इस विधि से निष्कर्ष ठीक व सही नही मिलते।

(५) जलवायु सिद्धान्त (Climate Theory of Trade Cycle)—जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, व्यापार चक्र का यह सिद्धान्त यह बताने की चेष्टा करता है कि व्यापार चक्र के घटित होने का कारण समय-समय पर जलवायु मे परिवर्तन का होना है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक जेवन्स (Jevons) है। उनके द्वारा प्रतिपादित व्यापार-चक्र का सिद्धान्त सूर्य चिन्ह सिद्धान्त (Sunspot Theory) के नाम से प्रसिद्ध है। यह सिद्धान्त मे बताया गया है कि कुछ वर्षों के पश्चात् सूर्य मे कुछ धब्बे (Spots) प्रगट होने लगते हैं। इन धब्बों के कारण सूर्य पृथ्वी को जितनी गर्मी पहुँचा सकता है, उतनी नहीं पहुँचा पाता, जिसका बुरा प्रभाव कृषि उपज पर पड़ता है। जलवायु के परिवर्तन के कारण फसलों को बहुत

हानि पहुँचाती है। इसलिये जो लोग ऐसे देशों में रहते हैं जहाँ अधिकांश लोगों का मुख्य व्यवसाय खेती-बाड़ी है उनका विश्वास है कि अच्छी फसलों के पश्चात् बुरी फसलों तथा बुरी फसलों के पश्चात् अच्छी फसलों का एक स्वाभाविक चक्र चलता रहता है। इस प्रकार सात आठ वर्षों में दो तीन फसलें खराब होती हैं, दो या तीन फसलें अच्छी होती हैं तथा दो फसलें औसत श्रेणी की होती है। जब किसी देश की कृषि उपज खराब होती है तो उसका बुरा प्रभाव केवल उस देश पर ही नहीं पड़ता, बल्कि उन समस्त देशों पर पड़ता है जिनका उस देश के साथ व्यापारिक सम्बन्ध है।

आलोचना–(१) इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के समस्त देशों की कृषि उपजों का अच्छा तथा बुरा प्रभाव एक साथ पड़ना चाहिये, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता कि यदि किसी की कृषि उपज खराब होती है तो दूसरे देशों की कृषि उपज भी खराब ही होगी। (२) आधुनिक युग में कृषि कला सम्बन्धी अनेक सुधार एवं आविष्कार हो रहे हैं जिनके कारण मनुष्य की प्रकृति पर निर्भरता दिन प्रतिदिन कम होती जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि व्यापार चक्र की वैज्ञानिक तथा ठीक ठीक व्याख्या नहीं करता।

(६) **मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त** (Phychological Theory of Trade clycle)—यह सिद्धान्त प्रो. पीगू (Prof. Pigou) का है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवसाय में विश्वास घटने बढ़ने से व्यापार-चक्र उत्पन्न होते हैं। जब व्यवसाय तेजी पर होता है तो लोग अच्छे लाभ की आशा करते है और भविष्य के बारे में ऊंची-ऊंची आशायें लगा लेते हैं। जब व्यवसायों के एक वर्ग में विश्वास उत्पन्न होता है तो वह अन्य वर्गों में भी फैलता है। इस आशापूर्ण विश्वास से भूलें होती है और लाभ पर जितनी बिक्री हो सकती है उससे कहीं अधिक उत्पादन कार्य कम कर देते हैं। इस प्रकार व्यवसायी लोग आशा और निराशा की गलतीयों के बीच भटकते रहते है और उनके कार्यों में लहरों की तरह क्रियायें होती रहती हैं। प्रो. पीगू इसलिये "आशावाद की गलती तथा निराशावाद की गलती की परस्पर जननी" (The mutual generation of errors of optimism and pessimism") कहते हैं।

आलोचना—व्यापार-चक्र के इस सिद्धान्त में सत्यता का बहुत कुछ अंश होते हुये भी इसे एक पूर्ण तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। इस सिद्धान्त में अनेक कमियां है जिनके आधार पर इसकी आलोचना की गई है। सबसे पहले इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त इस बात का उल्लेख नहीं करता कि मन्दी कैसे प्रारम्भ होती है और मन्दी के पश्चात् पुनः तेजी का काल कैसे प्रारम्भ होता है ? दूसरे, यह सिद्धान्त इस बात पर भी प्रकाश नहीं डालता कि व्यापार-चक्र अपने निश्चित तथा नियमित समय पर ही क्यों आते हैं ? तीसरे, यह सिद्धान्त इस बात को भी स्पष्ट नहीं करता कि आशावाद तथा निराशावाद की ग़लती किस प्रकार उत्पन्न होती है।

(७) प्रतियोगिता या अधिक उत्पादन का सिद्धान्त (Competition or over production Theory)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्नीसवीं शताब्दी मे फ्रांसिसी अर्थशास्त्री सिसमाण्डी (Sismondi) ने किया था। उनके मतानुसार पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादकों के मध्य प्रतियोगिता का पाया जाना ही व्यापार चक्र का कारण है। उन्होंने बताया कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादकों की उत्पादन क्रिया का किसी प्रकार नियन्त्रण नही होता, जिससे उत्पादन की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है। लाभ प्राप्ति की भावना से प्रेरित होकर उत्पादक अधिकाधिक उत्पादन करते हैं, जिसके कारण एक स्थिति ऐसी आ जाती है जबकि उत्पादन की मात्रा मांग से अधिक हो जाती है। एक ओर तो उत्पादन माग से अधिक हो जाता है जिससे वस्तुओं का मूल्य गिरने लगता है और दूसरी ओर उत्पादकों में पारस्परिक प्रतियोगिता होने के कारण उत्पादन के अन्य साधनो के मूल्यो में वृद्धि हो जाती है, जिससे वस्तुओं को उत्पादन लागत के बढ़ जाने से उत्पादको का लाभ कम होने लगता है। इसलिये पहली अवस्था की तेजी का स्थान मन्दी लेने लगती है। चैपमेन (Chapman) ने अत्युत्पति की पहली अवस्था को जिसमें उत्पादक बढ़ते हुए लाभ की मात्रा से प्रभावित होकर अधिक उत्पादन करते हैं। अनुलोम (Positive Stage) के नाम से पुकारा तथा दूसरी अवस्था का (जिसमें उत्पादकों को लाभ की मात्रा घटने लगती है) को विलोम अवस्था (Negative Stage) के नाम से पुकारा।

आलोचना—यह सिद्धान्त भी दो बातों को स्पष्ट करने में असमर्थ है। पहली बात तो यह है कि व्यापार-चक्र नियमित समय के बाद क्यो आते हैं। यह बात तो सही है कि प्रतियोगिता तेजी को मन्दी तथा मन्दी को तेजी मे परिणत कर देती है किन्तु क्या कारण है कि ऐसा नियमित मे ही होता है। दूसरी, बात यह है कि यह सिद्धान्त यह भी नही बताता कि क्या कारण है कि सभी उद्योगों मे एक साथ मन्दी या तेजी आती है। आलोचकों ने बताया कि व्यापार चक्र जैसी जटिल समस्या के उत्पन्न होने का कारण केवल प्रतियोगिता को ही नहीं माना जा सकता।

(८) अत्यधिक बचत या न्यून उपयोग सिद्धान्त (Over Saving or under consumption Theory of Trade cycle)—व्यापार-चक्र के सम्बन्ध मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हाबसन (Hobson) ने किया है। इस सिद्धान्त को हाबसन ने राष्ट्रीय आय के वितरण पर आधारित किया है। उन्होंने बताया कि धन के असमान वितरण के कारण एक ओर तो धनवान व्यक्तियों की आय इतनी अधिक बढ जाती है कि वे उसका उपभोग नहीं कर पाते व दूसरी ओर गरीब व्यक्तियो की आय इतनी कम हो जाती है कि वे अपने जीवन रक्षक आवश्यकताओं का भी पूर्ति नहीं कर पाते। इसका परिणाम यह होता है कि धनवान व्यक्ति अपनी आय का एक बड़ा भाग बचाते रहते हैं और उसका उत्पादन कार्य में विनियोग

(Investment) करते रहते हैं। इस प्रकार यह वचत नई-नई मशीनों के खरीदने में तथा नये ढंग से उत्पादन कार्य करने में व्यय की जाती है, जिससे कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन किया जाता है। ऐसी स्थिति में उत्पादित माल की मात्रा उससे अधिक हो जाती है जितना कि निर्धन व्यक्ति उसका प्रयोग करते हैं क्योंकि राष्ट्रीय आय में निर्धन व्यक्तियों को मिलने वाला भाग प्रतिदिन कम होता जाता है और धनवान व्यक्तियों को मिलने वाला भाग वढ़ता जाता है। चूंकि निर्धन व्यक्तियों के पास क्रय-शक्ति (Purchasing power) वहुत कम होती है। और धनवान व्यक्ति अपनी समस्त क्रय-शक्ति का प्रयोग नहीं करते इसलिये उत्पादित मात्रा उससे वहुत अधिक हो जाती है जितना कि निर्धन व्यक्ति प्रयोग करते हैं। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि वस्तुओं का मूल्य गिरने लगता है अर्थात् व्यवसायिक जगत में मन्दी आने लगती है। जव वस्तुओं के मूल्य वहुत अधिक गिर जाते हैं तो अतिरिक्त माल (जो ज्यादा उत्पादित हुआ है) सव लोग खरीद लेते हैं। धनी वर्ग लोगों की बचत तथा विनियोग पूर्ववत् चलता रहता है, जिससे उत्पादन की मात्रा धीरे-धीरे वढ़ती रहती है जो कि व्यवसायिक जगत में तेजी के आगमन की सूचना देती है। तेजी के पश्चात् पुनः मन्दी आती है। इस प्रकार तेजी के पश्चात् मन्दी तथा मन्दी के पश्चात् तेजी का एक तांता सा लगा रहता है।

आलोचना—इस सिद्धान्त की आलोचना में यह कहा जाता है कि कोई कारण नहीं है कि व्यवसायी वर्ग लगातार वचत करता रहे। यह वर्ग अपने आराम की और विलास की वस्तुओं पर भी खर्च वढ़ा सकता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि जो धन वचाया जावेगा उसका उपभोग पूंजी के रूप में उत्पादन कार्यों में होगा। जो गलत है एक वात और यह है कि जव वचत अधिक होगी तो व्याज दर घटनी चाहिये और जव व्याज दर घटेगी तो लागत खर्च भी घटना चाहिए और इस तरह वस्तुओं का उत्पादन उनकी मांग की कीमत से कम लागत पर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि वास्तव में पूंजी की मांग न होती तो व्याज दर शून्य हो जानी चाहियें थी। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। व्यापार चक्रों के अन्य सिद्धान्तों की भांति यह सिद्धान्त भी इस वात की स्पष्ट व्याख्या नहीं करता कि व्यापार चक्र क्यों और कैसे आते हैं।

(६) स्वयं उत्पादन सिद्धान्त (Self generatation Theory of trade Cycle) इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मिचोल (Mitchell) ने किया है। मिचेल के मतानुसार व्यापार चक्र के वीज पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में निहित होते है। उन्होंने पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के कुछ लक्षण वताये और इन लक्षणों को ही वहुत कुछ व्यापार चक्रों के उत्पन्न होने के लिए उत्तरदायी ठहराया पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के पांच लक्षण इस प्रकार है। (१) इसमें वहुत वड़ी मात्रा में पूंजी विनियोग किया जाता है। (२) वस्तुओं के वास्तविक उत्पादक तथा उसके अन्तिम उपभोक्ता के

मध्य बहुत अधिक दूरी होती है। (३) साख (Credit) के द्वारा आसानी से द्रव्य प्राप्त किया जा सकता है। (४) आर्थिक क्रियाओं की प्रत्येक शाखा में मध्यस्थ (Middlemen) पाये जाते हैं। (५) विभिन्न प्रकार की आर्थिक शक्तियों में पुनः समीकरण (Re-Adjustmant) होना बहुत कठिन होता है। मिचेल ने बताया कि मूल्यों में वृद्धि हो जाने से लाभ की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है जिससे उद्योगपति उत्पादन की मात्रा बढ़ाने लगते हैं। परिणामस्वरूप रोजगार का क्षेत्र बढ़ जाता है और ऋणों की मांग में वृद्धि होती है जिससे ब्याज की दर भी बढ़ जाती है लेकिन इन सबके बढ़ने की एक सीमा होती है। जब उत्पत्ति के सम्पूर्ण साधनों का प्रयोग होने लगता है और बैंकों के रिजर्व न्यूनतम सीमा तक आ जाते हैं तब वस्तुओं की उत्पादन लागत बढ़ने लगती है और उसी समय मांग गिरने लगती है। इससे लाभ की मात्रा कम होने लगती है और फलस्वरूप उत्पादन क्रिया का संकुचन किया जाता है, जिससे सभी प्रकार की आय में कमी आ जाती है इस अवस्था में फुटकर बाजार में भी मांग कम हो जाती है और इसी प्रकार चक्र चलता रहता है।

आलोचना—यह सिद्धान्त यह तो स्पष्ट करता है कि व्यापार चक्र कैसे, क्यों और किस गति से घटते-बढ़ते रहते हैं किन्तु इस सिद्धान्त में एक कमी पाई जाती है और वह यह है कि इसमें आर्थिक व्यवस्था को सदैव समान चलने वाली मशीन के अनुरूप माना गया है जो कि ठीक नहीं है बी० डब्लू० नाइट (B. W. Knight) के शब्दों के "स्वयं उत्पादन का सिद्धान्त अपनी साधारण आलोचना के अनुसार आर्थिक रचना सदैव चलती रहने वाली मशीन के समान है और कोई भी मशीन ऐसी नहीं है जो अनिश्चित समय तक अपना प्रारम्भिक शक्ति से ही बराबर चलती रहेगी जब तक कि घड़ी के समान उसमें बार-बार चाबी न लगाई जावें। आर्थिक मशीन के व्यापार चक्र की चाल के समान धीरे-धीरे अवश्य कमजोर पड़ जाने चाहिये, यदि उसमें फिर से कोई नई शक्ति न उत्पन्न कर दी जावें।

(१०) मकड़ी जाल सिद्धान्त (The Colewele Theory of Trade Cycle)–कुछ अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्र के सिद्धान्त का इस प्रकार वर्णन किया है कि यदि उसको रेखा चित्रों द्वारा स्पष्ट किया जावें तो वह मकड़ी जाल के समान प्रतीत होता है। इसलिये इसे मकड़ी-जाल सिद्धान्त संज्ञा दी गई है। इस प्रकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन इटली के उमबर्टो रिक्की (Umberto Ricci) हालैंड के शुलज (Schulls) व अमेरिका के टिन वर्गेव (Tin Vurigev) ने स्वतन्त्रतापूर्वक अपने देशों में किया था। परन्तु इस सिद्धान्त को मकड़ी जाल के नाम से पहले पहल प्रो० निकोलस काल्डर (Prof. Nicols Kaldor) ने ही पुकारा।

यह सिद्धान्त प्रचलित मूल्य तथा तत्पश्चात् होने वाली उत्पत्ति, फिर इसके फलस्वरूप प्रकट होने वाले मूल्य व तत्पश्चात् होने वाली उत्पत्ति, इत्यादि की प्रति-क्रियाओं के ऊपर आधारित है। बाजार में वस्तुओं के मूल्य से उत्पत्ति प्रभावित

होकर कम या अधिक हो जाती है फिर उत्पत्ति के कम या अधिक होने से मूल्य प्रभावित होकर निश्चित होते हैं। फिर इन नये मूल्यों के प्रभाव से उत्पादन की मात्रा प्रभावित होती है। इसी प्रभाव व प्रति प्रभाव के ऊपर ही मकड़ी जाल सिद्धान्त आधारित है।

आलोचना—यह सिद्धान्त वहीं लागू होता है जहाँ (१) कीमतें पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। (२) जहाँ उत्पादन की मात्रा केवल कीमतों द्वारा ही निर्धारित होती है तथा (३) जहाँ उत्पादन किसी नियत समय के पहले बदल नहीं सकता है। स्पष्ट है कि ये सीमायें इस सिद्धान्त की महत्ता को कम कर देती है क्योंकि कीमतें उत्पादन की मात्रा द्वारा ही प्रभावित न होकर उपभोक्ताओं की आय, फैशन, मौसम तथा अन्य समान ऋतुओं की पूर्ति द्वारा भी प्रभावित होती है और फिर कभी-कभी तो स्वयं ही कीमतों को निश्चित किया करता है इसके अतिरिक्त उत्पादन पर भी केवल कीमतों का ही प्रभाव नहीं पड़ता वरन् उत्पादनों के साधनों की कीमत का प्रभाव पड़ता है।

व्यापार चक्रों को रोकने के उपाय :—

व्यापार चक्रों का प्रभाव व्यक्तिगत तथा समाज दोनों पर ही बुरा पड़ा करता है। इसलिए सभी अर्थशास्त्रियों का ऐसा विचार है कि कम से कम व्यापार चक्रों के आने को यदि न रोका जा सके तो उनके पड़ने वाले बुरे प्रभाव को तो अवश्य ही रोकना चाहिये। इन बुरे प्रभावों को दूर करने के दो उपाय हो सकते हैं। पहला तो यह है कि उस बुराई को पनपने ही न दिया जावे जिसके बुरे प्रभाव होते हैं इस प्रकार के प्रयत्न को प्रतिबन्धक उपाय (Preventive Checks) कहते हैं तथा दूसरा यह है कि जब वह बुराइ आ जावें, जिसके बुरे प्रभाव होते हैं, तो उसे दूर करने की चेष्टा की जावें। इन उपायों को सुधारात्मक उपाय (Curative Checks) कहते हैं।

(अ) **प्रतिबन्धक उपाय** (Preventive Checks)—किसी भी बुराई का इलाज या रोकने का उपाय उसके कारण पर निर्भर करता हैं इसलिए जिस प्रकार का कारण व्यापार चक्र के आने का होगा उसी प्रकार का उपाय होगा। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्रों के आने के कारण अलग-अलग बताये हैं अतएव उन्हें रोकने के उपाय भी भिन्न-भिन्न बताए गये हैं जोकि निम्नलिखित हैं:—

(१) **जलवायु सम्बन्धी उपाय**—जो अर्थशास्त्री यह बतलाते है कि व्यापार जलवायु में परिवर्तन के परिणामस्वरूप आते हैं वे यह उपाय बनाते हैं कि देश की कृषि को वर्षा पर आधारित न रखा जावें इसके लिए आवश्यक है कि सिंचाई की सुविधाओं में और अधिक वृद्धि करना चाहिये और प्रति वर्ष आने वाली बाढ़ों रोकने का उपाय करना चाहिए।

(२) **उचित कर नीति**—वे अर्थशास्त्री जो व्यापार चक्रों के आने का कारण यधिक बचत तथा न्यून उपयोग बतलाते हैं। उनके मतानुसार यह आवश्यक है,

कि किसी उचित कर नीति (Tax Policy) के द्वारा धनी वर्ग से धन का हस्तान्तरण निर्धन वर्ग की ओर कर दिया जावे। इसके अतिरिक्त हाब्सन (Hobson) का विचार है कि समृद्धिकाल के दिनो मे श्रमिको की मजदूरी को बढ़ा दिया जावे जिससे उपभोग न्यून नही रहेगा।

(३) मांग एव पूर्ति सम्बन्धी उपाय—यदि व्यापार चक्र इस कारण आते हैं कि मांग तथा पूर्ति का संतुलन नही हो पाता है तो उसके लिए आवश्यक है कि फसल की दशा, मुल्य उद्योगो द्वारा उत्पादित माल की मात्रा, देश मे रोजगार की स्थिति, आयात तथा निर्यात, मूल्य तथा जीवन निर्वाह सूचक अक, प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध मे सही तथा वर्तमान तक के आकड़े एकत्रित किये जावें। इससे व्यापारियो को यह मालूम पडता रहेगा कि किसी वस्तु की कितनी माग तथा पूर्ति है। इस प्रकार वे व्यर्थ की आशा तथा निराशावाद की फसलों से प्रभावित नहीं होंगे।

व्यापार चक्रों पर नियन्त्रण की रीतिया

(अ) प्रतिबन्धात्मक
- (१) जलवायु नियन्त्रण
- (२) उचित कर नीति
- (३) मांग पूर्ति समायोजन
- (४) आर्थिक आयोजन
- (५) राष्ट्रीयकरण
- (६) साख व मौद्रिक नीति

(ब) सुधारात्मक
- (७) मौद्रिक नीति मे परिवर्तन
- (८) तटकर या प्रशुल्क नीति व लोक-व्यय
- (९) अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन नियन्त्रण
- (१०) अन्तर्राष्ट्रीय बफर स्टाक
- (११) अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन नियन्त्रण
- (१२) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

(४) आर्थिक आयोजन (Economic Planning)—आर्थिक आयोजन करके भी व्यापार चक्रो को काफी सीमा तक दूर किया जा सकता है। आर्थिक नियोजन द्वारा देश के समस्त साधनों को ध्यान मे रखकर उत्पादन लक्ष्यों को निर्धारित किया जाता है और देश की उत्पादन क्रियाओं को समायोजित किया जाता है। इस कारण से किसी देश के मूल्यों व उत्पादन मे बहुत अधिक उतार चढाव नहीं होने पाता।

(५) उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण (Nationalization of Industries)—उद्योग धन्धो का राष्ट्रीयकरण करके भी व्यापार चक्रों के आने को रोका जा सकता है।

केन्द्रीय बैंक का अन्य बैंकों पर कितना प्रभाव है। क्या अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक की आज्ञा का पालन करते हैं या नही। बहुधा ऐसा होता है कि अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक की नीति या आज्ञा पालन नहीं करते हैं। दूसरी बात यह है कि क्या व्यवसायी वर्ग पूंजी का विनियोग (Investment) ब्याज की दर को देखकर करता है या नही। बहुधा ऐसा देखा गया है कि मन्दी के दिनों मे जब घोर निराशा चारों ओर छाई रहती है तो उस समय ब्याज की दर के शून्य हो जाने पर भी व्यवसायी वर्ग पूंजी उधार नहीं लेता है। ब्याज की दर के घटाने बढाने से व्यवसायो को उत्साहित तथा निरुत्साहित नही किया जा सकता है। यह स्वाभाविक भी है कि आप घोड़े को पानी के किनारे तो ले जा सकते हैं किन्तु आप उसे पानी के लिये विवश नही कर सकते। वास्तव में व्यवसायी वर्ग विनियोग करते समय ब्याज की दर की ओर इतना ध्यान नहीं देता है जितना कि पूंजी की सीमान्त क्षमता की ओर। तीसरी बात यह भी है कि आवश्यक नही है कि ब्याज की दर कम होने पर व्यापारी जो रुपया उधार लेंगे उसका विनियोग ही करेंगे। यदि उसका विनियोग नही किया गया तो उद्देश्य की प्राप्ति न होगी।

(८) तटकर नीति (Fiscal Policy)—मौद्रिक नीति की असफलता के के कारण अर्थ-शास्त्रियों ने नये उपायों की खोज की और तटकर उपायो के महत्व को समझा।

तटकर उपायो मे दो बातें होती है—(१) उचित कर नीति (Appropriate Taxation Policy) तथा (२) सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)।

कीन्स (Keynes) ने इस नीति पर अधिक महत्व दिया था। मन्दी काल मे उत्पादक व व्यापारी विनियोग करने के लिए तैयार नही होते क्योंकि उनको हानि का डर रहता है। इसके कारण बेरोजगारी भी बहुत फैल जाती है जिससे लोगों की उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume) घट जाती है। सरकार को चाहिए कि सार्वजनिक निर्माण कार्य के विस्तृत कार्यक्रम को चालू करे। उससे अधिक लोगो को रोजगार मिल सकेगा और उनकी उपभोग की प्रवृत्ति भी बढ जावेगी। उपभोग की प्रवृत्ति मे वृद्धि होने से वे अधिक वस्तुओं की मांग करेंगे। उनके अधिक उत्पादन मे रोजगार बढेगा और उपभोग की प्रवृत्ति और बढ़ेगी जिससे और अधिक माग होगी तथा अधिक उत्पादन होगा। इस प्रकार से मन्दी काल को दूर किया जा सकेगा।

सार्वजनिक निर्माण कार्य के साथ सरकार को कर नीति द्वारा भी विनियोग (Investment) व उत्पादन को प्रोत्साहन देना चाहिए। इस सम्बन्ध मे सरकार पूंजी के विनियोक्ताओ (Iuvesters) को दूर करने सम्बन्धी सुविधायें और पूंजी की घिसाई (Depreciation) सम्बन्धी भत्ते आदि देकर विभिन्न उद्योगों को प्रोत्साहित कर सकती है।

तेजी काल में इसकी विपरीत नीति को अपनाना होता है। सरकार सार्वजनिक निर्माण के कार्यों पर रोक लगा देती है या बन्द कर देती है। साथ ही अधिक कर लगाकर लोगों से अतिरिक्त क्रय-शक्ति (Purchasing Power) ले लेती है तथा अधिक उत्पादन को निरुत्साहित करती है।

तटकर नीति का इतना महत्व होते हुए भी इसकी सीमाओं को भुलाया नहीं जा सकता। सबसे अधिक कठिनाई तो प्रजातांत्रिक देश में आती है जहां पर घाटे व बचत दोनों प्रकार के बजटों की तीव्र आलोचना होती है। घाटे के बजट बनाने पर कहा जाता है कि सरकार सार्वजनिक धन को मितव्ययिता से खर्च नहीं कर रही है। बचत के बजट में सरकार को अधिक कर लगाने के लिए दोषी ठहराया जाता है तथा कर की दर में कमी करने को कहा जाता है इसके अतिरिक्त सार्वजनिक निर्माण के कार्यों को मन्दी काल तक के लिये रोक कर रखा जा सकता है क्योंकि उनकी आवश्यकता उस समय भी बहुत अधिक होती है जब तेजी काल हो। इस नीति की एक सीमा और है विशिष्ट साधनों (Specific Factors) को एक उपयोग से दूसरे उपयोग में नहीं लाया जा सकता। केवल अविशिष्ट साधनों (Non Specific Factors) को ही किसी भी उपयोग में लगाया जा सकता है।

कुछ भी हो यह तो मानना ही पड़ेगा कि तटकर नीति व्यापार चक्रों की कठोरता को कम करने का एक अच्छा उपाय है। यह नीति और भी अच्छी उस समय हो सकती जबकि इसे मौद्रिक नीति के साथ काम में लावें। इससे यह एक दूसरे को प्रभावशाली बना देंगी।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय उपाय—व्यापार चक्र एक अन्तर्राष्ट्रीय तथ्य (International Phenomenon) है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी देश की आर्थिक घटनाओं का असर अन्य देशों पर भी पड़ता है। इसलिये यदि व्यापार चक्रों से मुक्ति पानी है तो कुछ ऐसे उपाय भी काम में लाने पड़ेंगे जो कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर काम में लिये जा सकें। यदि ऐसा नहीं नहीं किया जायेगा तो यह बहुत अधिक सम्भव है कि देश में व्यापार चक्रों को दूर करने के लिये जो उपाय कार्य में लिये जा रहे हों, दूसरे देशों में मन्दी या तेजी के प्रारम्भ हो जाने पर असफल हो जावें। क्योंकि मन्दी अथवा तेजी की प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय होने के कारण वह सब देशों को प्रभावित कर देगी।

अन्तर्राष्ट्रीय उपायों में सबसे महत्वपूर्ण उपाय अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण (International Production Control) है इसका कारण यह है कि बहुत सी वस्तुयें ऐसी होती है कि जितनी मांग अन्तर्राष्ट्रीय होती है और यदि उनके मूल्यों में परिवर्तन एक देश में हो जावें तो उनका प्रभाव दूसरे देशों पर भी पड़ता है और व्यापार चक्र प्रारम्भ हो जाता है। ऐसी वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता लाने के लिये यह आवश्यक है कि उनके उत्पादन का नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया जावे, परन्तु उत्पादन नियंत्रण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कठिन होता है और इसीलिये आज तक किया भी नहीं गया है।

दूसरा उपाय अन्तर्राष्ट्रीय बफर स्टाक्स (International Buffer stockes) है। मूल्यों में होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों को रोकने के लिए आवश्यक है कि उन वस्तुओं की पूर्ति मे उतार-चढ़ाव न आवें। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बफर स्टाक्स काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

तीसरा उपाय है अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन नियंत्रण (International Investment Control) अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन नियत्रण से पिछड़े देशों का विकास किया जा सकता है और उसके रहन-सहन के स्तर (Standard of living) मे वृद्धि करके आय की असमानताओं को दूर किया जा सकता है। आय की असमानतायें दूर होने से व्यापार चक्रों को रोकने में बहुत सहायता मिलेगी।

३०

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(International Trade)

Q. "International trade in commodities is a substitute for International mobility of factors of production." Explain.

(I. A. S. 1956)

प्रश्न—"वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्नति के साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता का स्थानापन्न है।" समझाइये।

(आई० ए० एस०, १९५६)

Or

Q. "International trade is but a special case of interlocal or inter regional trade".—(Ohlin).

Discuss fully the above statement.

(Agra, 1949, 1950, 1952, M. A.

अथवा

प्रश्न—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तः स्थानिक या अन्तर्प्रादेशिक व्यापार का ही एक विशेष उदाहरण है"—(ओहलिन)।

उपरोक्त कथन का पूर्णतः विवेचन कीजिये।

(आगरा, १९४९, १९५०, १९५२, एम० ए०

उत्तर—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade)—यद्यपि सैद्धांतिक रूप से क्षेत्रीय सीमाओं में अन्तर होने पर भी व्यापार के स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता, तथापि व्यवहारिक दृष्टिकोण से किसी देश के व्यापार को दो भागों में बांटा जाता है—(१) आन्तरिक, देशी अथवा घरेलू व्यापार तथा (२) विदेशी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार। आन्तरिक व्यापार का अभिप्राय उस व्यापार से होता है जो एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों अथवा स्थानों के बीच होता रहता है। इसको कभी कभी 'अन्तः स्थानीय व्यापार' (Inter-regional Trade) अथवा क्षेत्रवर्ती व्यापार भी कहा जाता है। इसके विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से आशय उस व्यापार से होता है जो दो अलग-अलग देशों या राष्ट्रों के बीच होता है।

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समानता—ऊपर से देखने पर किसी देश के आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ भी भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। (१) दोनों का आधार विनिमय द्वारा ऐसी वस्तुओं और सेवाओं के बदले में जो कि स्थान विशेष में पर्याप्त अथवा प्रचुर है, ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का प्राप्त करना होता है जो या तो उपलब्ध ही नहीं है अथवा दुर्लभ है। (२) दोनों का उद्देश्य इस प्रकार विनिमय द्वारा अधिकतम आवश्यकताओं को पूर्ण करके अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना ही होता है। जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न कार्य करने की विशेषता अथवा योग्यता होती है इसी प्रकार प्राकृतिक तथा अन्य कारणों से विभिन्न देश अलग अलग वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। (३) यही कारण, है कि जिस प्रकार विनिमय करने वाले दोनों व्यक्तियों को लाभ प्राप्त होता है ठीक उसी प्रकार विदेशी व्यापार, उसमें सम्मिलित होने वाले सभी देशों के लिए, हितकारी होता है। इस प्रकार स्वभाव में आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक से ही होते हैं।

आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इतनी समानता होते हुए भी दोनों व्यापारों में कुछ अन्तर की बातें पाई जाती हैं जिसके आधार पर विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता बतलाई है। ये अन्तर निम्नलिखित हैं :—

(१) श्रम और पूंजी की गतिशीलता—एक देश के भीतर साधारणतया श्रम और पूंजी में गतिशीलता होती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के सभी स्थानों पर मजदूरी और ब्याज की दरें समान ही रहती है और उत्पादन व्यय भी लगभग समान रहता है। किन्तु दो देशों के बीच श्रम एवं पूंजी की गतिशीलता कम होती है। श्रम और पूंजी की गतिशीलता में इस कमी के अनेक कारण होते हैं। ऐसा देखने में आता है कि विदेशों में काफी ऊंचे वेतन मिलने पर भी लोग अपने देश को छोड़ना नहीं चाहते हैं। कारण यह है कि विभिन्न देशों में भाषा, धर्म, आचार-विचार, रीति-रिवाज, खान-पान, सामाजिक और आर्थिक जीवन आदि में अधिक अन्तर है। जहाँ तक पूंजी का प्रश्न है, वह श्रम की अपेक्षा अधिक गतिशील होती है, परन्तु लोग अपनी बचत का भी अपने ही देश में अधिक विनियोग करने की इच्छा करते हैं। विदेशियों को ऋण देते समय प्रतिभूति सम्बन्धी शर्तें अधिक कड़ी रखी जाती हैं और ब्याज भी अधिक मांगा जाता है। लोगों का कुछ ऐसा *विश्वास है कि देशी विनियोग विदेशी विनियोगों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित* होते हैं।

गतिशीलता के इस अन्तर का प्रभाव यह होता है कि विभिन्न देशों में एक सी ही वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन व्यय में समानता नहीं आने पाती हैं। इस प्रकार विभिन्न देशों को अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त

होने लगते हैं और उत्पादन का इस प्रकार विशिष्टीकरण (Specialisation) हो जाता है कि विभिन्न देशों के बीच स्पर्धा नहीं हो पाती है। गतिशीलता के इस अभाव का एक और भी महत्वपूर्ण आर्थिक परिणाम होता है। दीर्घकाल में प्रत्येक वस्तु के मूल्य में उसके उत्पादन व्यय में अन्तर होने के कारण उसके मूल्यों में भी अन्तर बना रहता है।

[कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि जिस तरह एक देश की सीमा में श्रम और पूंजी पूर्ण गतिशील नहीं होते उसी तरह वे भिन्न-भिन्न देशों में पूर्ण प्रगतिशील नहीं होते, क्योंकि अब चमत्कारिक यातायात साधनों व अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के फलस्वरूप आर्थिक व राजनैतिक दूरियों का महत्व कम हो गया है। अतः उक्त विद्वानों के अनुसार आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में केवल मात्रा का भेद (Difference of Degree) ही होता है।]

(२) **वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी नियमों में भिन्नता**—एक देश के भीतर उत्पादन सम्बन्धी नियम सभी स्थानों पर एक से ही होते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध में सरकारी नीति भी समान ही रहती है। आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं में भी अनुरूपता रहती है। एक देश के नागरिकों के लिए राष्ट्रीय और स्थानीय कर भी एक से होते है। उनके लिए स्वास्थ्य, सफाई कारखानों में काम करने की दशाओं और सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी नियम एक से रहते हैं, यातायात और लोक-सेवायें एक सी होती हैं, औद्योगिक सम्बन्धों और श्रम-संघों के लिए एक से ही नियम रहते हैं और व्यावसायिक कार्य प्रणाली में भी अन्तर नहीं होता। परन्तु अलग-अलग देशों में इन सब दिशाओं में भारी विविधता रहती है, जिसके कारण उत्पादन सम्बन्धी सुविधाओं में अन्तर रहता है और व्यय में भिन्नता आ जाती है। विभिन्न देशों के बीच आर्थिक शक्तियाँ (Economic forces) अपना प्रभाव स्पष्ट व स्वतन्त्रतापूर्वक स्पष्ट नहीं कर पाती है।

(३) **प्राकृतिक साधनों और भौगोलिक दशाओं में भिन्नता**—विभिन्न देशों के बीच भूमि की बनावट, जलवायु तथा प्राकृतिक साधनों की उपलब्धता के भी गम्भीर अन्तर हो सकते हैं। इनका परिणाम भौगोलिक श्रम विभाजन तथा उद्योगों के स्थानीयकरण के रूप में प्रकट होता है। कुछ देशों को खनिज पदार्थों के लाभ प्राप्त होते हैं तो कुछ को उपयुक्त भूमि और अच्छी जलवायु के। इन लाभों का एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरण या तो असम्भव होता है या बहुत ही व्यय पूर्ण, यद्यपि देश के भीतर इसमें कोई बाधा नहीं होती है। इन लाभों के कारण भी दो देशों के बीच किसी वस्तु के उत्पादन व्यय में अन्तर हो जाता है।

(४) **मुद्रा प्रणाली में भिन्नता**—प्रत्येक देश की मुद्रा-प्रणाली अलग-अलग होती है। देश के भीतरी व्यवसाय में विदेशी विनियम अर्थात् एक देश की मुद्रा ९ देश की मुद्रा में बदलने की समस्या नहीं होती है। परन्तु विदेशी व्यापार के न्व में इस समस्या का अधिक महत्व होता है। यह समस्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

में जटिलता लाती है और उसके निष्कटंक संचालन में अनेक बाधायें उपस्थित करती है। प्रत्येक देश की मुद्रा देश के मुद्रा नियन्त्रण नीति के अनुसार चलती है और मुद्रा नियन्त्रक की नीति के प्रत्येक परिवर्तन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

(५) वस्तुओं के आयात-निर्यात में बाधायें—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ऐसे स्वतन्त्र देशों के बीच होता है, जो आयात-निर्यात, विनिमय नियन्त्रण आदि के सम्बन्ध में अपनी अलग-अलग नीतियों के अनुसार कार्य करते हैं। साधारणतया देश के भीतर वस्तुओं के आवागमन पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते हैं, परन्तु विदेशी व्यापार में ऐसे प्रतिबन्ध लगभग सभी देशों में लगाये जाते हैं।

इस आधार पर अर्थशास्त्रियों का ऐसा विचार है कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्यायें एक दूसरे से पूर्णतया पृथक है और इसलिए साधारण विनिमय सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उपयुक्त नहीं है। उसके लिए एक अलग ही सिद्धांत की आवश्यकता है। परन्तु दोनों प्रकार के व्यापार के अन्तरों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वे आधारभूत नहीं है। भेद केवल अंश का है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है *(International Trade is a special case of Inter regional Trade)*।

कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय एवं आन्तरिक व्यापारों में कोई मौलिक भेद नहीं है। जो भेद है वह केवल डिग्री (Degree) मात्र का है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से पूर्णतः पृथक नहीं किया जा सकता। केवल यह कहा जा सकता है कि इसमें कुछ विशिष्टता अवश्य है। यद्यपि यह सत्य है कि विभिन्न देशों के बीच श्रम और पूंजी की गतिशीलता का भारी अभाव होता है परन्तु यह समझना भी भूल होगी कि स्वयं देश के भीतर ये साधन पूर्णरूप से गतिशील होते हैं। एक देश के भीतर भी अलग-अलग स्थानों में भाषा, धर्म, रीति-रिवाज आदि के गम्भीर अन्तर हो सकते हैं। ठीक इसी प्रकार देश के भीतर पूंजी का आवागमन भी पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि देश के भीतर दो अलग-अलग देशों के बीच की तुलना में श्रम और पूंजी की गतिशीलता अधिक होती है। कभी कभी तो यह भी सम्भव है कि दोनों दशाओं में गतिशीलता का अंश समान ही रहे।

ठीक इसी प्रकार एक देश के भीतर भी उत्पादन सम्बन्धी नियमों में अन्तर हो सकता है। स्वयं भारत में कुछ केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाये जाते हैं और कुछ राज्य सरकारों द्वारा विभिन्न राज्यों द्वारा बनाये हुए नियमों में विभिन्नता का रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। साथ ही एक देश के अलग-अलग भागों में प्राकृतिक साधन तथा भौगोलिक दशायें भी एकसी नहीं होती है। भारत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जहाँ लगभग सभी प्रकार की भूमि तथा सभी प्रकार की जलवायु पाई

जाती है। कुछ लोग तो इसी कारण भारत को महाद्वीप कहते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी तो यह भी देखने में आता है कि एक देश के भीतर एक से अधिक प्रकार की मुद्राएं चालू होती हैं और माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में भी रुकावटें रहती हैं।

इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि प्रान्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई मौलिक भेद तो नहीं है, परन्तु कुछ महत्वपूर्ण बातें ऐसी अवश्य हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अपेक्षा आन्तरिक व्यापार में अधिकता से पाई जाती हैं। इनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पूर्णतया अलग प्रकार का नहीं हो जाता है, परन्तु इनमें विशिष्टता अवश्य आ जाती है। ओहलिन (Ohlin) ने ठीक ही कहा है—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्स्थानीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।"*

यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों और किन दशाओं में सम्भव होता है? इस प्रश्न का उत्तर वैसे तो बड़ा सरल है। बात यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक विनिमय कार्य से विनिमय करने वाले दोनों पक्षों को लाभ होता है ठीक इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी उसमें सम्मिलित होने वाले देशों के लिये लाभदायक होता है। अब हमें यह देखना है कि किन दशाओं में तथा किन कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर प्रादेशिक श्रम-विभाजन को प्रोत्साहन देता है। इसके कारण उत्पादन का इस प्रकार विशिष्टीकरण हो जाता है कि प्रत्येक देश ऐसी ही वस्तुओं का उत्पादन करता है जिसका उत्पादन व्यय उसके लिये न्यूनतम होता है। यही कारण है कि भारत पटसन का उत्पादन करता है। बर्मा चावल का, इंगलैण्ड ऊनी कपड़े का और जापान सूती कपड़े का। इससे निस्सन्देह लाभ होता है, क्योंकि प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा बाहर के देशों से न्यूनतम कीमतों पर वस्तुएं और सेवायें प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ इस कारण प्राप्त होता है कि विभिन्न देशों में एक वस्तु के उत्पादन-व्यय और मूल्य में अन्तर होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार उत्पादन व्यय तथा मूल्यों का यह अन्तर ही है। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिये भी हो सकता है कि एक देश दूसरे देश से कोई ऐसी वस्तु प्राप्त करें जिन्हें वह स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता है, परन्तु व्यवहार में इस कारण होने वाला व्यापार कम ही रहता है। अधिकांश दशाओं में विदेशों से वही वस्तुएं मंगाई जाती हैं जिन्हें हम स्वयं उत्पन्न कर तो सकते हैं, परन्तु हमारा उत्पादन व्यय विदेशों से ऊंचा होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लागतों में अन्तर
(Differences in Costs in International Trade)

उत्पादन व्यय के अन्तर को हम दो भागों में बांट सकते हैं—(१) लागत का

* "International trace is only a special case of Inter-regional."

निरपेक्ष (Absolute) अन्तर और (२) लागत का तुलनात्मक अन्तर (Comparative Difference)।

(१) लागतों में निरपेक्ष अन्तर (Absolute Difference in Costs)—एकाधिकार प्राप्त हो जाने के कारण किसी देश को कुछ वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त हो जाता है। कुछ देशों और कुछ दशाओं में प्रकृति की विशेष उदारता होने के कारण वहां पर कुछ वस्तुओं का उत्पादन बहुत ही कम लागत पर हो सकता है। इसके कारण कुछ विशेष खनिज पदार्थों का मिलना अथवा पृथ्वी की बनावट हो सकते हैं। दक्षिण अफ्रीका को संसार भर में हीरे के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त है। भारत को जूट, जावा को चीनी और ब्राजील को कहवे के सम्बन्ध में विशेष सुविधायें हैं। ऐसे देशों में इन वस्तुओं का उत्पादन व्यय काफी कम होता है और दूसरे देशों को इन वस्तुओं के प्राप्त करने के लिये उपरोक्त देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार के व्यापार को जन्म देने वाली दशा को लागतों का निरपेक्ष अन्तर कहते हैं।

नीचे का उदाहरण इसे स्पष्ट करता है —

	पटसन	चावल	
भारत	२ इकाई	१ इकाई	एक दिन के श्रम
बर्मा	१ इकाई	२ इकाई	का उत्पादन।

यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि पटसन के उत्पादन में भारत को श्रेष्ठता प्राप्त है। प्रत्येक देश उसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा जिसमें उसे श्रेष्ठता प्राप्त होगी और उसी में दूसरे राष्ट्रों से व्यापार करेगा इससे दोनों ही देशों को लाभ होगा। यदि व्यापार नहीं किया जाता है तो भारत अथवा बर्मा को तीन दिन के श्रम के फलस्वरूप केवल २ इकाई पटसन+२ इकाई चावल प्राप्त होता है परन्तु व्यापार होने की दशा में इतने ही श्रम के फलस्वरूप ३ इकाई पटसन तथा ३ इकाई चावल मिल सकता है। श्रम लागत के आधार पर पटसन और चावल का विनिमय अनुपात निम्न प्रकार होगा :—

भारत—चावल की एक इकाई=पटसन की दो इकाई

बर्मा—चावल की एक इकाई=पटसन की ½ इकाई

भारत और बर्मा के बीच का व्यापार उस समय तक लाभदायक बना रहेगा जब तक कि भारत को पटसन की दो इकाइयों के बदले में चावल की एक से अधिक इकाई मिलती रहेगी। ठीक इसी प्रकार उस समय तक व्यापार बर्मा के लिये भी लाभदायक होगा जब तक कि उसे फलस्वरूप चावल की एक इकाई के बदले में पटसन की आधे से अधिक इकाई मिलती रहेगी। इस उदाहरण में हमने यह मान लिया है कि व्यापार के सम्बन्ध में यातायात तथा बीमे का व्यय नहीं होता है। परन्तु यातायात, बीमा आदि के व्यय को जोड़ देने पर भी लाभ की स्थिति में अन्तर नहीं पड़ेगा। इस प्रकार भारत तथा बर्मा का पारस्परिक व्यापार लाभदायक होगा।

विदित है कि भारत को बर्मा की तुलना में पटसन और चावल दोनो ही के उत्पादन मे कम लागत लगानी पड़ती है, परन्तु यदि दोनो के बीच व्यापार नही होता है तो भारत मे पटसन और चावल का विनिमय अनुपात १ : १ होगा और ठीक यही अनुपात बर्मा मे भी रहेगा। यदि भारत केवल पटसन का ही उत्पादन करता है और अपनी चावल की आवश्यकता बर्मा से चावल मगा कर पूरी करता है तो भी उसे कोई भी लाभ नही होता है क्योंकि बर्मा मे भी चावल और पटसन का विनिमय अनुपात वही है जो कि भारत मे। ऐसी दशा मे व्यापार करना उल्टा हानिकारक हो सकता है क्योकि बाहर से माल मगाने मे माल की कीमत के अतिरिक्त यातायात सम्बन्धी लागत और भी देनी पड़ेगी।

(व) तुलनात्मक अन्तर—परन्तु दो देशो में लागत के तुलनात्मक अन्तर भी हो सकते हैं। ऐसे अन्तरो की दशा में जैसा कि निम्न उदाहरण से सिद्ध हो जायगा, व्यापार लाभदायक होगा और यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उपयुक्त दशा होगी—

	चाय	मसाले	
भारत	२ इकाई	१ इकाई	एक दिन के
जावा	२ इकाई	२ इकाई	श्रम का उत्पादन

उपरोक्त उदाहरण में यदि भारत और जावा के बीच व्यापार नही होता है तो दोनो देशों में चाय और मसालो के विनिमय अनुपात इस प्रकार होंगे—भारत १ इकाई चाय=½ इकाई मसाले और जावा १ इकाई चाय=१ इकाई मसाला, परन्तु यदि भारत केवल चाय का ही उत्पादन करता है और जावा केवल मसालों का और दोनों ही दूसरी वस्तु व्यापार द्वारा प्राप्त करते हैं तो दोनो को लाभ होगा। भारत चाय की एक इकाई को जावा मे भेज कर उसके बदले में जावा के विनिमय अनुपात के आधार पर १ इकाई मसाला प्राप्त कर सकता है। और ठीक इसी प्रकार जावा १ इकाई मसाले को भेज कर बदले मे दो इकाई चाय ले सकता है। इस प्रकार यह व्यापार दोनो ही देशो के लिए लाभदायक है। स्मरण रहे कि जावा में चाय का उत्पादन व्यय ठीक उतना ही है जितना कि भारत में, फिर भी जावा को भारत मे चाय को खरीदने मे अधिक लाभ होता है। व्यवहारिक जीवन मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ साधारणतया इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने की सामान्य दशा यही होती है। इसी को अर्थशास्त्र मे तुलनात्मक लागत का सिद्धात कहा गया है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त
(The Doctrine of Comperative Cost)

प्रतिष्ठित विचारधारा—अर्थशास्त्र मे तुलनात्मक सिद्धात का उपयोग सबसे पहले रिकार्डो ने किया था। उनका विचार था कि एक देश के भीतर श्रम और पूंजी की गतिशीलता के कारण विभिन्न व्यवसायों में लाभ का अंश समान रहने की प्रवृत्ति होती है,

प्रतिष्ठित विचारधारा में आधुनिक सुधार—

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को आधुनिक अर्थशास्त्री भी स्वीकार करते है, परन्तु उन्होंने इसमे तीन महत्वपूर्ण सुधार किये है—

(१) लागत की माप श्रम के बजाय मुद्रा में—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो का अनुकरण करते हुए लागत की माप वस्तु के निर्माण मे व्यय होने वाले श्रम के आकार पर की थी। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इसकी माप मुद्रा मे करते हैं क्योंकि प्रथमतः आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को अस्वीकार कर दिया है; जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे उसे लागू करना पीछे लौटने के बराबर होता तथा दूसरे, वस्तुओं के उत्पादन मे श्रम के अलावा अन्य साधन भी इस्तेमाल किये जाते हैं। अत आजकल मूल्य सीमांत उत्पादन व्यय के रूप मे प्रकट किया जाता है। कहा जाता है कि एक देश उन वस्तुओ का निर्यात करता है जिनका उत्पादन अपेक्षितन अधिक प्रचुर साधनों द्वारा किया जाता है अर्थात् जिनका सीमान्त उत्पादन व्यय कम होता है और इसके विपरीत उन वस्तुओं का आयात करता है जिनका उत्पादन व्यय तुलना मे अधिक होता है अथवा जो अपेक्षितन अधिक दुर्लभ साधनो द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।

(२) उत्पत्ति-वृद्धि और उत्पत्ति ह्रास नियमों को सम्मिलित करना—प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने इस सिद्धान्त की विवेचना केवल इस आधार पर की थी कि उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति स्थिरता नियम (Law of Constant Returns) के अन्तर्गत होता है और विदेशी व्यापार के सम्बन्ध मे होने वाले यातायात व्यय का भी कोई प्रभाव नही पडता है। वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने इन मान्यताओ को आवश्यक नहीं समझा है उन्होंने यातायात व्यय तथा उत्पत्ति ह्रास एव उत्पत्ति वृद्धि नियमों की कार्यशीलता के आधार पर इस सिद्धान्त का विवेचन किया है और इस प्रकार इस सिद्धान्त मे व्यवहारिकता उत्पन्न कर दी है। जब उत्पत्ति क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियमो के अन्तर्गत होती है, तो पूर्ति मे वृद्धि होने मे लागत प्रति इकाई कम हो जाती है, जिससे विदेशी व्यापार मे तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र बढ़ जाता है और विदेशी व्यापार को बढ़ावा मिलता है परन्तु जब उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत की जाती है, तो पूर्ति बढ़ाने से लागत प्रति इकाई बढ़ जाती है, जिससे तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र कम हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हतोत्साहन होता है।

(३) मांग की लोच का प्रभाव—रिकार्डो और उनके समर्थकों ने यह तो बताया था कि सिद्धान्त के आधार पर किन-किन वस्तुओ मे व्यापार करना लाभदायक होगा, परन्तु वे यह निश्चित नहीं कर पाये थे कि लाभ की मात्रा किन बातों पर निर्भर होगी। इस सम्बन्ध मे आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि लाभ का भाग इस बात पर निर्भर होता है कि एक देश मे दूसरे देश के माल की मांग

है। जब तक भारत को १ मान चावल के बदले में २/३ मन से अधिक कपास मिलती रहेगी तब तक वह व्यापार करने को तैयार रहेगा। इसी प्रकार जब तक पाकिस्तान १ मन कपास के बदले मे २/३ मन से अधिक चावल प्राप्त करता रहेगा उसे व्यापार से लाभ ही होगा और वह भी व्यापार करता रहेगा।

(२) तुलनात्मक अन्तर—ठीक इसी प्रकार हम उत्पादन व्यय के तुलनात्मक अन्तर का भी उदाहरण दे सकते है।

नीचे का उदाहरण इसी प्रकार का है :—

प्रति मन सीमान्त उत्पादन व्यय (रुपयों मे)

	पटसन	चावल
भारत	७	१४
बर्मा	६	५

इस उदाहरण मे बर्मा पटसन तथा चावल दोनो को ही भारत की अपेक्षा कम कीमत पर उत्पन्न करता है, परन्तु बर्मा को चावल के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ अधिक है। इनके विपरीत बर्मा की तुलना मे भारत मे दोनों ही वस्तुओ का उत्पादन व्यय अधिक है, परन्तु पटसन के उत्पादन में उसकी तुलनात्मक हानि कम है। इस प्रकार भारत में १ मन पटसन बराबर १/२ मन चावल और बर्मा में १ मन पटसन बराबर ६/५ मन चावल विनिमय अनुपात होंगे। भारत के लिये पटसन के उत्पादन मे विशेषता प्राप्त करना लाभदायक होगा और बर्मा के लिए चावल के उत्पादन मे। व्यापार द्वारा जब तक भारत को एक मन पटसन के बदले १/२ मन से अधिक चावल मिलेगा, उसे लाभ ही होगा। इसी प्रकार जब तक बर्मा को एक मन चावल के बदले ६/५ मन से अधिक पटसन मिलता रहेगा उसे भी लाभ ही होगा। दोनों देशों के बीच पटसन और चावल का विनिमय अनुपात कहीं पर इन दोनो अनुपातों के बीच निश्चित होगा, अर्थात् एक मन पटसन के बदले मे जितना चावल मिलेगा वह १/२ मन तथा ६/५ मन के बीच मे ही रहेगा। चावल और पटसन के इस विनिमय अनुपात पर तीन बातो का प्रभाव पड़ेगा—(१) यातायात व्यय, (२) अन्योन्य माग की तुलनात्मक लोच और (३) उत्पत्ति का वह नियम जिसके अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है। इस सम्बन्ध मे इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम व्यापार के लाभ मे वृद्धि कर देता है, क्योंकि उसके अन्तर्गत उत्पत्ति का प्रत्येक वृद्धि के साथ सीमान्त उत्पादन व्यय घटता जाता है। क्रमागत उत्पत्ति स्थिरता नियम का व्यापार की लाभदायकता पर कोई प्रभाव नही पड़ता है क्योंकि उत्पादन के बढ़ने पर भी सीमान्त उत्पादन व्यय ज्यों का त्यों ही रहता है, परन्तु यदि उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत होता है तो उत्पत्ति के बढ़ने से सीमान्त व्यय भी बढ़ जाता है और इसके कारण व्यापार के लाभों का भाग घट जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ सकती है, जबकि वह पूर्णतया समाप्त हो जाए। यहाँ पर व्यापार लाभदायक नही रहता है।

(२) समान अन्तर—उपरोक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उत्पादन व्यय के निरपेक्ष और तुलनात्मक दोनों प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर व्यापार को लाभदायक बना देते हैं और दोनों ही दशाओं में पारस्परिक व्यापार दोनों देशों के लिये हितकारी होता है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उत्पादन व्यय के समान अन्तरों का परिणाम क्या होगा। नीचे का उदाहरण इस प्रकार के अन्तरों को दिखाता है :—

प्रति मन सीमान्त उत्पादन व्यय (रुपयों में)

	चाय	चीनी
भारत	१६०	४०
अमरीका	१२०	३०

इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि अमरीका को भारत की तुलना में चाय और चीनी दोनों के उत्पादन में श्रेष्ठता प्राप्त है। दोनों का ही उत्पादन व्यय भारत की तुलना में नीचा है, किन्तु भारत में चाय और चीनी का अनुपात १ मन चाय बराबर ४ मन चीनी रहेगी और इसी प्रकार अमरीका में भी दोनों का यही अनुपात रहेगा। यदि भारत दोनों का उत्पादन स्वयं करता है तो ४ मन चीनी के बदले में १ मन चाय प्राप्त होगी और यदि केवल चीनी का उत्पादन करके चाय अमरीका से मंगाता है तो भी ४ मन चावल के बदले में १ मन चाय ही मिलती है (यदि हम यह मान लेते हैं कि यातायात व्यय नहीं होता है)। ठीक यही बात अमरीका के विषय में भी कही जा सकती है और उसे भी भारत को चाय अथवा चावल भेजकर कोई लाभ नहीं होता है। भय उल्टा यह है कि यातायात व्यय के कारण व्यापार में हानि हो सकती है। निश्चय है कि ऐसी दशा में आपस में व्यापार का प्रश्न नहीं उठता है। इस प्रकार लागत के समान अन्तरों की दशा में दो देशों के बीच व्यापार नहीं होगा।

कीन्स का साधारण सिद्धान्त
(Keynesian Economics)

Q. Write an essay on the apparatus of the General Theory as developed by Keynes. (Agra. 1954 M. A.)

प्रश्न—कीन्स द्वारा प्रतिपादित सामान्य सिद्धान्त के उपकरण पर एक निबन्ध लिखिए। Or (आगरा १९५४, एम० ए०)

Q Discuss the limitations and achievements of Keynesian Economics." (Agra 1957 M. A.)

प्रश्न—कीन्सीयन अर्थशास्त्र की सीमाओं और उपलब्धियों का विवेचन कीजिए। Or (आगरा १९५७ एम० ए०)

Q. Critically examine Keyne's General theory of employment with special reference to its applicability to Indian conditions (Indore 1965 M. A)

प्रश्न—कीन्स के रोजगार सिद्धान्त की समीक्षा कीजिये और उसकी भारतीय परिस्थितियों में प्रभावशीलता बताइए। Or (इन्दौर १९६५ एम० ए०)

Q Examine fully the definitions of Income, Savings and Investment as given by lord Keynes. (Vikram 1966 M. A)

प्रश्न—कीन्स द्वारा प्रतिपादित आय, बचत व विनियोग की परिभाषाओं की समीक्षा कीजिए। (विक्रम १९६६ एम० ए०)

उत्तर—प्रोफेसर सेमुएलसन लिखते हैं कि "आय विश्लेषण के आधुनिक सिद्धान्त का अधिक श्रेय एक अंग्रेज अर्थशास्त्री जान मेनार्ड कीन्स को है और उनके व्यापक आधार सभी वैचारिक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों द्वारा,जिनमें बहुत से कीन्स की नीति एवं तकनीकि विवरण से असहमत होने वाले भी सम्मिलित हैं, अधिकाधिक स्वीकार किये जा रहे हैं। कीन्स स्वयं एक सर्वतोमुखी प्रतिभा थे, उन्होंने गणित, दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठा अर्जित की। इसके अतिरिक्त उन्हें एक विशाल बीमा कम्पनी का संचालन करने, ब्रिटिश कोषालय को परामर्श देने, बैंक ऑफ इंगलैंड का प्रबन्ध देखने, विश्व-प्रसिद्ध आर्थिक पत्रिका का सम्पादन करने और नृत्य-नाट्य का समायोजन करने का भी अवसर मिलता रहा। वह एक ऐसे अर्थशास्त्री थे जिन्हें स्वयं अपने लिये और केम्ब्रिज के किंग कालेज के लिये द्रव्य प्राप्त करना ज्ञात था। १९३६ में प्रकाशित होने वाली उनकी पुस्तक—रोजगार, ब्याज और द्रव्य का सामान्य सिद्धान्त, ने इस शताब्दी की आर्थिक विचारधारा में सर्वाधिक हलचल उत्पन्न की है और भविष्य में दीर्घकाल तक एक महाग्रंथ की तरह जीवित रहना सम्भव है।"[1]

1. Paul A. Samuelson : Economics-An Introductory Analysis p. 2??.

कीन्सीयन अर्थशास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कीन्स ने व्यापक आर्थिक विश्लेषण को महत्ता प्रदान की है। कीन्स के पूर्ववर्ती विचारकों ने अर्थशास्त्र की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के लिए अपना आधार व्यक्ति को चुना था। इस प्रकार उनका अर्थशास्त्र सूक्ष्मदर्शी अर्थशास्त्र (Micro-economics) कहा जा सकता है। किन्तु कीन्स इस प्रकार के आधार को मान्यता नहीं प्रदान करते हैं, क्योंकि एक व्यक्ति की समस्या एवं कार्य-प्रणाली दूसरे से भिन्न है, अतः हमे किसी व्यक्ति का अध्ययन नही करते हुए समस्त व्यक्तियो के कार्यों के योगों का अध्ययन करना चाहिये। इसी आधार पर कीन्स ने कुल उपयोग, कुल आय, कुल विनियोग और रोजगार पर अपने विचार प्रगट किये हैं और उनका अध्ययन सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है। आर्थिक विश्लेषण की इस प्रणाली पर आधारित अर्थशास्त्र को विद्वानों ने व्यापक आर्थिक विश्लेषण की संज्ञा दी है।

कीन्सीयन अर्थशास्त्र की दूसरी विशेषता यह कि उन्होंने आर्थिक विश्लेषण मे मुद्रा या द्रव्य की महत्ता को प्रतिपादित किया है। उनके पूर्ववर्ती क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने वास्तविक अर्थशास्त्र का अध्ययन किया था और द्रव्य पर कोई विचार नहीं किया था। कीन्स ने यह विचार प्रस्तुत किया कि द्रव्य न केवल विनिमय का माध्यम है वरन् मूल्य-मापन और मूल्य-सचय का साधन भी है। इस प्रकार आर्थिक प्रणाली में होने वाले परिवर्तनों का वह एक महत्वपूर्ण कारण है और कुल का अध्ययन करने मे उससे सहायता मिलती है। इसी के आधार पर उन्होंने कुल आय, कुल उपयोग और कुल विनियोग को ज्ञात करने का प्रयत्न किया है।

यही नही, उन्होंने द्रव्य के परिणाम सिद्धान्त को आपत्ति-जनक कहकर द्रव्य-आय और साख-आय का आय सिद्धान्त के अंतर्गत अध्ययन किया है। इसी प्रकार, ब्याज के सम्बन्ध में भी कीन्स के विचार क्लासिकल और अन्य पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियो से बिल्कुल भिन्न है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रयों के अनुसार ब्याज बचत का पुरस्कार है, लेकिन कीन्स ने उसका घोर विरोध किया। उन्होंने प्रकट किया कि यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति बिना कोई ब्याज कमाये ही जबकि वह अपनी बचत को द्रव रूप मे रखना चाहता है, बचत करता रहे। किसी व्यक्ति को बचत के केवल उतने ही भाग के लिए ब्याज दिया जाता है जो कि विनियोग किया जाये। इस प्रकार कीन्स के अनुसार ब्याज वह भुगतान है जो द्रवता-पसन्दगी (Liquidity preference) के परित्याग के लिए दिया जाता है।

कीन्सीयन अर्थशास्त्र स्वतन्त्र उपक्रम या यथेच्छाचारिता (Laissez-faire) की नीति का प्रबल विरोधी है और सरकारी हस्तक्षेप की नीति का समर्थन करता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास था कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत माग और पूर्ति प्राय संतुलित होती है। इनमे यदि कोई असन्तुलन होता है तो वह केवल अस्थायी प्रकृति का होता है और अपने आप ही सन्तुलित हो जाता है। अतः इस स्वयंचालित सन्तुलन-विधि मे बाधा डालने की कोई आवश्यकता

प्रेम के कारण ही नहीं किया था।[1] वास्तव में कीन्स को नवीन आर्थिक विश्लेषण की आवश्यकता ही इसलिये हुई थी कि क्लासिकल विचारधारा वास्तविकता से बहुत दूर है और व्यवहारिक समस्याओं का समाधान करने मे असमर्थ है। कीन्स के ही शब्दों में, "प्रतिष्ठित सिद्धान्त की मान्यताएँ सामान्य दशा के लिये लागू न होकर विशेष दशा मे ही उपयोगी है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त द्वारा मानी गयी इस विशेष दशा के लक्षण भी उस आर्थिक समाज के लक्षणों से भिन्न है जिसमे कि हम वास्तव में रहते हैं। फलतः इसके उपदेश, यदि हम अनुभवो के तथ्यों पर उनका प्रयोग करें, बहकाने वाले और संकट कारक सिद्ध होते है।"[2] अत वास्तविक जगत की आर्थिक समस्याओ से सम्बन्ध रखने वाले सामान्य सिद्धान्तो की खोज करने की आवश्यकता है। इन्ही नये सिद्धान्तों का विकास कीन्स ने अपनी पुस्तक—रोजगार, ब्याज और द्रव्य के सामान्य सिद्धान्त (ए जनरल थ्योरी आफ एम्प्लायमेंट, इन्टरेस्ट एन्ड मनी) मे किया है।

कीन्स का सामान्य सिद्धान्त का उपकरण
(Apparatus of the General Theory)

सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत कीन्स ने सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली को एक प्रवाह-चक्र के रूप में अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। कीन्स के अनुसार श्रेष्ठ अर्थ व्यवस्था की पहचान यह है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहे। किन्तु यथेच्छाचारी अर्थव्यवस्था मे पूर्ण रोजगार की स्थिति कायम रहना सम्भव नही है, तब उसे किस प्रकार उत्पन्न किया जाये? कीन्स इस सम्बन्ध मे प्रतिष्ठित विचारो का विरोध करते हैं और प्रगट करते है कि रोजगार की मात्रा प्रभाव पूर्ण माग पर निर्भर है। प्रभाव पूर्ण मांग (Effective Demand) दो बातो का योग होता है— उपभोग्य वस्तुओ की मांग और विनियोग की माग। उपभोग्य वस्तुओ की माग दो बातों पर निर्भर होती है—कुल आय और उपभोक्ता की प्रवृत्ति (Propensity to Consume)। उपभोग की प्रवृत्ति पर उपभोग की चेतनात्मक प्रवृतियों और समाज की वस्तु-पूरक परिस्थितियो का प्रभाव पडता है, जो कि लगभग अपरिवर्तनीय होती है। उपभोग की प्रवृति पर आय का ही मुख्य प्रभाव पड़ता है। आय के बढ़ने के साथ उपभोग की प्रवृति बढ़ती है किन्तु समानुपात मे नही। इसलिये आय और उपभोग मे सदैव अन्तर पाया जाता है। इस अन्तर को विनियोग द्वारा भरना आवश्यक है। किन्तु विनियोग की मात्रा विनियोग के लिये प्रोत्साहन पर निर्भर है।

1. Dillard : The Economics of J. M. Keynes P 8.
2. "......the postulates or the classical theory are applicable a special case only and not to the general case. ...Moreover, the characteristics of the special case assumed by the classical theory happen not to be those of economic society in which we actually live, with the result that its teaching is misleading and disastrous if we attempt to apply it to the facts of experience."

—J. M Keynes : The General Theory.

इसके लिये हमें पूंजी की सीमान्त क्षमता (Marginal efficiency of capital) और ब्याज की दर (Rate of Interest) को देखना होगा। इन दोनों में से भी पूंजी की सीमान्त क्षमता का ही विनियोग की प्रवृति पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। पूंजी की सीमान्त क्षमता विनियोगकों को भावी लाभ की अपेक्षाओं पर निर्भर करती है और एक मनोवैज्ञानिक घटक है। कीन्स ने बताया कि जब मुद्रा का विनियोग किया जाता है तो उससे कई गुनी मात्रा में आय का सृजन होता है और इस प्रकार उपभोग की प्रवृति बढ़ती है तथा विनियोग भी बढ़ता हैं। इन सृजक की स्थापना से प्रभावपूर्ण मांग की वृद्धि होती है और रोजगार की मात्रा भी बढ़ती है। कीन्स के इस सिद्धान्त की रूपरेखा को हम इस प्रकार भी प्रगट कर सकते हैं—
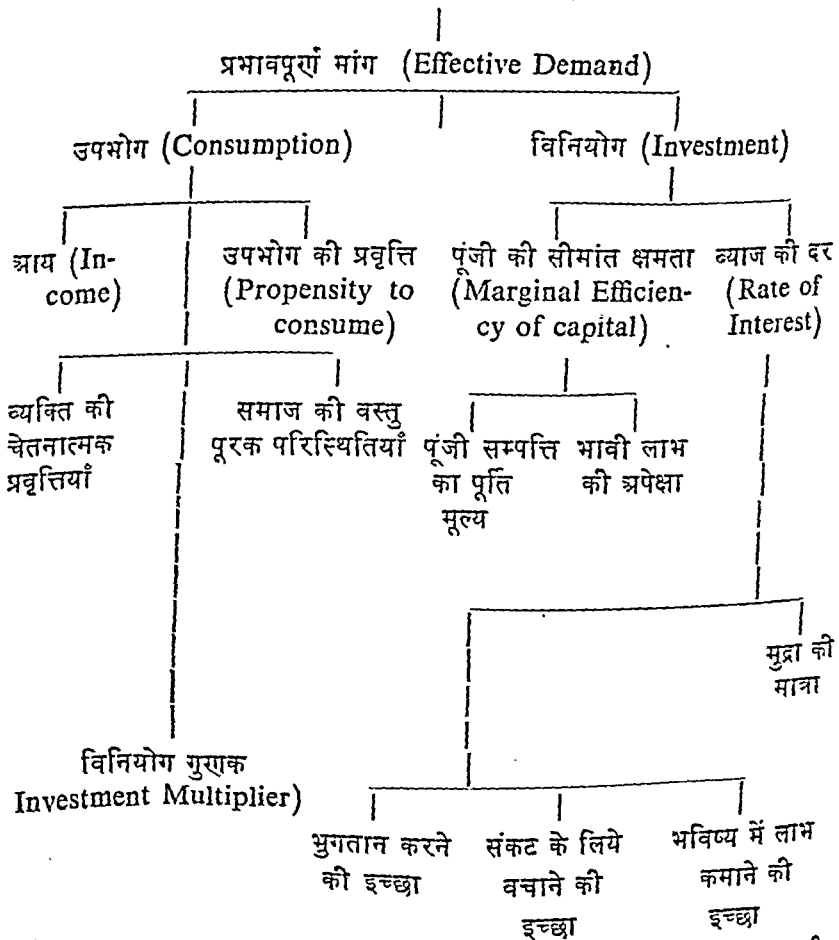
प्रकार कीन्स के सामान्य सिद्धान्त की तुलना पिरामिड से की जा सकती क स्तम्भों पर टिका हुआ है। कीन्स का सिद्धान्त अनेक विचारों पर

आधारित एक सामान्य सिद्धान्त है। इन विचारो पर यहाँ सक्षेप में चर्चा की गई है।

प्रभाव पूर्ण मांग (Effective Demand)—डिलार्ड के अनुसार प्रभाव पूर्ण मांग का सिद्धान्त ही कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का प्रारम्भ बिन्दु है। कुल रोजगार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की कुल प्रभावपूर्ण माग पर निर्भर होता है और कुल प्रभावपूर्ण मांग अपने आपको आमदनी के व्यय करने में प्रदर्शित करती हैं। आमदनी को हम या तो उपभोग की वस्तुओं पर व्यय कर सकते हैं या पूजी की वस्तुओ पर। दूसरे शब्दों में, प्रभाव पूर्ण मांग उपभोग और विनियोग पर निर्भर करती है। उपभोग की वस्तुओं पर किया गया व्यय इस बात पर निर्भर करता है कि समाज की आय क्या है और उसमे उपभोग की प्रवृत्ति कितनी है। विनियोग की वस्तुओं पर कितना व्यय किया जाएगा यह पूंजी की सीमान्त क्षमता और ब्याज की दर पर निर्भर होता है। इस प्रकार कीन्स ने अपने प्रभाव पूर्ण मांग के विचार को स्पष्ट करने के लिये तीन अन्य विचारों की सहायता ली है—उपभोक्ता की प्रवृत्ति, पूंजी की सीमान्त क्षमता, और ब्याज की दर।

उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to consume)—कीन्स के मतानुसार उपभोग की प्रवृति को आय के उपभोग किये हुए प्रतिशत के रूप मे रखा जा सकता है। कीन्स के शब्दों में "उपभोग की प्रवृत्ति उपभोग करने की इच्छा से आशय नहीं रखती, वरन् आय की बदलती हुई मात्राओं में से वास्तव में किये गये उपभोग से आशय रखती है।"[1] अर्थात् स्पष्ट है कि कीन्स ने माग-वक्र या माग सूची को ही एक नया रूप प्रदान कर दिया है। कीन्स का उपभोग की प्रवृत्ति से आशय सम्पूर्ण समाज की उपभोग की प्रवृति से है। कीन्स का विचार है कि उपभोग की प्रवृति व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक प्रवृतियों और समाज की वस्तु पूरक परिस्थितियों पर निर्भर करती है, किन्तु साधारणत: इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। फिर भी यह एक यथार्थ सत्य है कि ज्यों-ज्यों आय बढती जाती है उसी के अनुरूप उपभोग की अनुपात की दर कम हो जाती हैं। अन्य शब्दों मे, आय में वृद्धि होने पर उपभोग में वृद्धि तो होती है, किन्तु समानुपात मे नही। जब व्यक्ति की आय कम होती है तो वह अपनी सम्पूर्ण आय को ही उपभोग पर व्यय कर देता है और कुछ भी बचत नहीं कर पाता है। परन्तु ज्यो-ज्यो उसकी आय में वृद्धि होती है त्यो-त्यो उसका उपभोग की वस्तुओ पर किये गये व्यय का अनुपात गिरता है, जिसके परिणाम-स्वरुप वह कुछ बचत कर सकता है। कीन्स उपभोग की प्रवृत्ति को दो प्रकार से प्रगट करते हैं—

$$(१)\ \text{औसत उपभोग प्रवृत्ति} = \frac{\text{उपभोग (C)}}{\text{आय(Y)}}$$

1. Propensity to consume does not mean a mere desire to consume, but the actual consumption that takes place, out of varying amounts of income.

(२) सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $= \frac{\triangle C}{\triangle Y}$

कीन्स का विचार है कि सीमांत उपभोग-प्रवृत्ति साधारणतः इकाई से कम होती है, क्योंकि आय में जितनी वृद्धि होती है, वह सब उपभोग पर व्यय नहीं होती है। इसे हमें हम निम्न चित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं :—
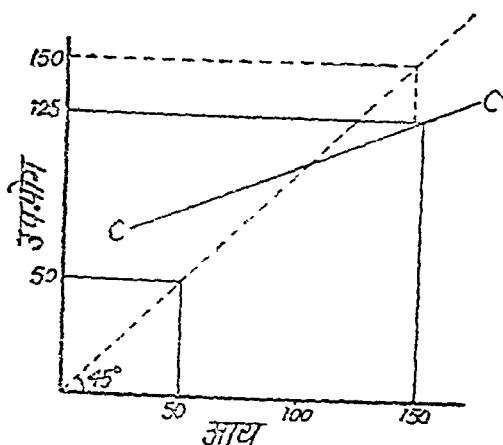
चित्र—१

कीन्स का इसलिये यह विचार है कि ऊंची उपभोग प्रवृत्ति रोजगार के लिये बहुत अनुकूल है क्योंकि इससे कुल आय और उस आय के उपभोग की मात्रा में अन्तर कम होता है, जिसे भरने के लिये विनियोग अधिक करने की आवश्यकता न रहेगी। प्रभावपूर्ण मांग बढ़ाने के लिये, जिससे रोजगार की मात्रा बढ़ेगी, एक उपाय यह है कि उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ाया जाय। कीन्स इसके लिये उचित कर नीति द्वारा, धनिकों के अतिरिक्त आय को लेकर निर्धनों के हितकारी कार्यों पर व्यय करने की सलाह देते हैं।

पूंजी की सीमान्त क्षमता (Marginal Efficiency of Capital)—कीन्स के अनुसार रोजगार विनियोग पर निर्भर होता है, क्योंकि उपभोग की प्रवृत्ति स्थिर रहने पर विनियोग ही प्रभावपूर्ण मांग को निर्धारित करता है, किन्तु विनियोग का अर्थ प्रतिभूतियों के खरीदने से न होकर नई पूंजी के निर्माण और पूंजी के स्टाक में वृद्धि करने से होता है। यह विनियोग इस बात पर निर्भर करता है कि विनियोग की प्रवृत्ति को कितना प्रोत्साहन मिलता है। एक तो भावी लाभ की आशा और दूसरा ब्याज की दर। भावी लाभ की दर ही कीन्स की पूंजी की सीमान्त क्षमता है। कीन्स इसकी परिभाषा देते हुए कहते हैं कि यह बट्टे की उस दर के बराबर होती है जो कि पूंजीगत सम्पत्ति से अपेक्षित प्रतिफल द्वारा प्रदत्त वार्षिक वृत्तियों की शृंखला के वर्तमान मूल्य को उनके पूर्ति मूल्य के बराबर कर देती।* इसलिए उस सीमा तक ही विनियोग किया जावेगा जिस समय तक भविष्य में

* "I define the Marginal Efficiency of capital as being equal to the rate of discount which would makes the present value of the series of annuities given by the return expected form the capital asset during the life just equal to its supplyr pice."—J. M. Kaynes

प्राप्त होने वाले लाभ की दर और ब्याज की दर बराबर होगी, यहाँ पर कीन्स ने यह अनुमान लगाया है कि यदि भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभ की दर वर्तमान ब्याज की दर से कम होगी तो मनुष्य विनियोग नहीं करेंगे, अपितु वह उसे उधार देने का प्रयत्न करेंगे। भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभ और विनियोग के सम्बन्ध को निम्न रेखा चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—
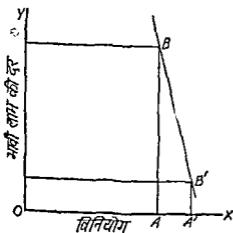
चित्र—२

इस रेखाचित्र में स्पष्ट है कि जब विनियोग की मात्रा O A है तो भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा A B होती है। परन्तु जब यह विनियोग की मात्रा बढ़कर O A' हो जाती है तो भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा कम होकर A' B' हो जाती है।

पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता विनियोग करने वालों के मनोवैज्ञानिक झुकावों पर निर्भर रहती है, वहाँ पर वे भविष्य में होने वाली उत्पादन क्षमता द्वारा प्रेरणा पाते हैं। भविष्य में होने वाली उत्पादन क्षमता भी पूंजी के पूर्ति मूल्य और दूरदर्शी उत्पादन पर निर्भर होती है। पूंजी का मूल्य पूंजी के साधनों को तैयार करने के व्यय के बराबर होता है, अतः इसे सरलता से घटाया बढ़ाया नहीं जा सकता है।

ब्याज की दर (Rate of Iuterst) —

कीन्स का विचार है कि यदि कोई व्यक्ति अपने धन को तरल रूप न रखकर उधार देने के लिये तैयार हो जाता है तब उसे तैयार करने के लिये कुछ प्रलोभन देना आवश्यक होता है। यही प्रलोभन ब्याज है। दूसरे शब्दों में नकद द्रव्य के रूप में धन न रखने के लिए ही ब्याज दिया जाता है। कीन्स के ही शब्दों में—"एक विशेष अवधि के लिये द्रवता के त्याग का पारितोषिक ही ब्याज है। यह संग्रह नहीं करने का पारितोषिक है।" इस प्रकार उन्होंने यह ब्याज का नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत करके पुराने सभी सिद्धान्तों को ठुकरा दिया है। कीन्स के मतानुसार ब्याज की दर दो बातों पर निर्भर करती है—

(१) तरलता अनुराग (Liquidity Preference)

(२) द्रव्य की मात्रा (Quantity of Money)

आय को नकद द्रव्य के रूप में रखने की प्रवृत्ति को ही कीन्स ने तरलता अनुराग का नाम दिया है। कीन्स ने इस प्रवृत्ति के तीन मुख्य कारण बतलाये हैं—

(१) प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को खरीदने के लिये द्रव्य चाहता है। इसे हम व्यापार मनोवृत्ति (Transactional Motive) कह सकते हैं।

(२) उपभोग की वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होता रहता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने पास थोड़ा अधिक द्रव्य रखना चाहता है ताकि आकस्मिक आवश्यकताओं के समय मनुष्य उसका उपयोग कर सके। इसे हम सचेत मनोवृत्ति (Precautionary motive) कह सकते हैं।

(३) मनुष्य इसलिये भी अपने पास नकद द्रव्य रखना चाहता है ताकि वह भविष्य में विनियोग कर सके। इसे हम सट्टा मनोवृत्ति (Speculative motive) कह सकते हैं।

द्रव्य की मात्रा बढ़ने पर, यदि तरलता अनुराग वहीं स्थिर रहे, व्याज की दर कम हो जाती है और उसकी मात्रा घटने पर व्याज की दर बढ़ जाती है। दूसरी ओर, जब द्रव्य की मात्रा स्थिर रहती है और तरलता अनुराग बढ़ जाता है तो व्याज की दर भी बढ़ जाती है और तरलता अनुराग के घटने के साथ ही व्याज की दर भी घट जायगी।

अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करके कीन्स ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की इस विचारधारा का खण्डन किया है कि व्याज की नीची दर से व्यापारी अधिक विनियोग करते हैं। कीन्स ने यह विचार प्रस्तुत किया कि व्याज की नीची दर से विनियोग की राशि नहीं बढ़ती है और न ही रोजगार की समस्या का कोई समाधान सम्भव हो सकता है। विनियोग के सम्बन्ध में मनुष्य भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभ के द्वारा संचालित होता है। भावी लाभ की उसे जितनी अधिक आशा होती है, उतना ही अधिक वह विनियोग करता है। ऐसी स्थिति में विनियोगी को व्याज की दर प्रभावित नहीं करती। अधिकतम लाभ की सम्भावना पर ऊंचे व्याज की दर पर भी रुपया उधार लेकर विनियोग कर सकता है और इसके विपरीत यदि उसे भविष्य में लाभ की आशा नहीं है, तो यह नीचे व्याज की दर पर भी विनियोग करने के लिये तैयार नहीं होगा। यहाँ तक कि ऐसी स्थिति भी सम्भव है कि व्याज की दर के शून्य होने पर भी लाभ की आशा के बिना वह विनियोग नहीं करेगा।

किन्तु कीन्स इस बात को स्वीकार करते हैं कि बचत और विनियोग बराबर रहना चाहिये। यदि Y=आय (Income), C=उपभोग (Consumption) और I=विनियोग (Investment) तो कीन्स के अनुसार कहा जा सकता है :—

$$Y=C+I \quad \text{Or} \quad S+C=Y$$
$$S=Y-C \qquad S+C=C+I$$
$$S=I$$

इस प्रकार यह प्रगट है कि बचत विनियोग के बराबर होती है और उस पर ब्याज की दर कोई प्रभाव नहीं डालती है। कीन्स का विचार है कि जब मनुष्य *अपने बचाये हुए धन को विनियोग नहीं करते हैं, तब लोगों की आय भी कम हो* जाती है, क्योंकि एक मनुष्य के द्वारा किया गया व्यय ही दूसरे के लिये आय बनती है। ऐसी दशा में मनुष्य कम बचा पायेंगे और बचत और विनियोग के बराबर हो जायेंगे।

विनियोग गुणक (Investment Multiplier)—कीन्स ने अपने सामान्य सिद्धान्त में गुणक के विचार का भी समावेश किया है। कीन्स का विचार है कि, एक व्यक्ति का व्यय दूसरे व्यक्ति की आय होती है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय में से कुछ राशि बचा लेता है। इस प्रकार विनियोग गुणित होता जाता है। इस सिद्धान्त को उन्होंने गुणक सिद्धान्त कहा है और यह बतलाया है कि जब मुद्रा की कुछ मात्रा का विनियोग किया जाता है तो आय में जो वृद्धि होती है, वह विनियोग की मात्रा के बराबर न होकर उसके कई गुना अधिक होती है। जितने गुना वृद्धि हो, उसे ही गुणक कहते हैं। कीन्स के शब्दों में, "यह बतलाता है कि जब कुल विनियोग में वृद्धि होती है तो आय विनियोग-वृद्धि के कई गुना बढ़ती है।"[1] इसे हम एक उदाहरण द्वारा भी समझ सकते हैं। मान लीजिये कि उपभोग की प्रवृत्ति $\frac{4}{5}$ है। अब यदि एक व्यक्ति को १००० रुपये की आय प्राप्त होती है तो वह ८०० रुपये का उपभोग करेगा। यह ८०० रुपये दूसरे व्यक्ति की आय होगी, जो कि इसमें से ६४० रुपये व्यय करेगा। यह ६४० रुपये तीसरे व्यक्ति की आय होगी, जो कि इसमें से ५१२ रुपये व्यय करेगा, जो कि चौथे व्यक्ति की आय होगी। यह क्रम आगे तब तक चलता रहेगा, जब तक कि उपभोग कर लेने से जो अन्य व्यक्ति की आय बनती है, वह शून्य न हो जाये। यदि इन सब आयों को जोड़ा तो यह ५००० रुपये या आय की पाँच गुनी होगी। अर्थात्, जब समूह की उपभोग-प्रवृत्ति $\frac{4}{5}$ है तो आय में पाँच गुनी वृद्धि होती है या १००० रुपये की आय ५००० रुपये की आय को जन्म देती है। अतः यहां विनियोग गुणक पाँच है। वह उपभोग की प्रवृत्ति पर निर्भर होता है। गुणक का यह विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। लोगों की आय को बढ़ाने के लिए सरकार को कुछ राशि का विनियोग करना चाहिये। इस विनियोग *की राशि से अधिकतम आय निर्मित हो इसलिए सरकार को चाहिए कि वह उपभोग* की प्रवृत्ति को बढ़ावें। उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिए सरकार कर नीति के द्वारा अधिक आय पाने वाले व्यक्तियों से आय को कम-आय वाले व्यक्तियों पर व्यय कर दे। उपभोग की प्रवृत्ति भी तभी ऊंची रहेगी, जब लोगों को यह विश्वास हो जावेगा कि सरकार उन पर व्यय करती रहेगी। अतः सरकारी व्यय रुक-रुक कर न किया जाकर निरन्तर किया जाना चाहिये। सरकार विनियोग उन्हीं मदों पर

1. "When there is an increament of aggregate investment, income will increase by an amount which is K time the increament of investment." —Keynes : The General Theroy. P. 115.

करें जिन पर प्राइवेट साहसी विनियोग करने को तैयार नहीं हो। [illegible] का सुझाव है कि सरकार को अनुत्पादक कार्यों पर विनियोग करना चाहिए, [illegible] पार्क और स्कूलों का निर्माण। यदि ऐसे कार्य सम्भव न हों तो सरकार को [illegible] खोदने और उन्हें फिर भरवाने का काम हाथ में लेना चाहिए।

कीन्सीयन अर्थशास्त्र की सीमायें (Limitations of Keynesian Economics)—कीन्स के आर्थिक विचार आधुनिक अर्थशास्त्र के विकास में [illegible] महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वास्तव में वे एक नये सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते हैं तथापि कीन्स के विचार पूर्णरूपेण दोषरहित नहीं हैं। ग्रेडेनस (Greidanus) हेबरलर (Heberler), हेने (Haney), हार्डी (O. C. Hardy), हायेक (Hayck) नाईट (Knight) और पीगू उसके विशेष आलोचकों में से हैं। हेने [illegible] कथन है कि—"कीन्स ने किसी नये सिद्धांत की खोज नहीं की है। उसकी [illegible] प्रणाली में कोई नये तत्व नहीं है और सम्भवतः नीति के कोई नये ठोस सुझाव भी नहीं है।" कीन्स के विचारों की मुख्य रूप से निम्नलिखित आलोचनायें [illegible] जाती हैं :—

(१) कीन्स के विचार यद्यपि परिवर्तनशील साम्य से सम्बन्ध रखते हैं, तथापि उनका सम्बन्ध स्थैतिक अवस्था से ही अधिक मेल खाता हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्रकार उनके विचार परिवर्तनशील अवस्था के लिए उपयुक्त नहीं है।

(२) हेने, नाईट और पीगू आदि के अनुसार कीन्स के विचारों में कोई नवीनता नहीं है।

(३) कीन्स की परिभाषायें स्वेच्छाचारी हैं और वे अनेक बातों को मानकर चलते हैं जो कि त्रुटिपूर्ण भी हो सकती हैं। "अन्य बातें समान रहने पर" की मान्यता के कारण उनके सिद्धांत व्यावहारिक जगत में विशेष उपयोगी नहीं हो पाते हैं। इसीलिए नाईट और हूवर का कहना है कि कीन्स के सिद्धांत सर्वव्यापी नहीं हैं और विशेष परिस्थितियों में ही प्रभावशील हो सकते हैं।

(४) कीन्स का ब्याज सिद्धांत, कुछ आलोचकों के अनुसार, एकांगी है और ब्याज की दर किस प्रकार निर्धारित होगी इसे ठीक तरह स्पष्ट नहीं करता है। तरलता-अनुराग तो ब्याज की भावना को ही प्रगट करता है।

(५) हेने का विचार है कि कीन्स राष्ट्रीय आय पर विचार करते समय [illegible] वितरण पर ध्यान नहीं देते हैं, जो कि उनकी एक महान् भूल है।

(६) क्लार्क के अनुसार कीन्स ने पूंजी की सीमांत कुशलता को [illegible] और महत्वपूर्ण साधन मानकर एक महान् भूल की है।

(७) कीन्स ने बचत और विनियोग को यद्यपि बराबर बताया है, किन्तु [illegible] को वे वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकते हैं।

(८) कीन्स द्वारा प्रतिपादित सीमित विनियोग अवसर (Limited Invest[illegible]) का विचार अत्यन्त दोषपूर्ण और अपूर्ण है। उसका [illegible] न दे सकता है।

(९) कीन्स ने सभी वस्तुओं को द्रव्य के रूप में व्यक्त किया है, यह भी उनकी एक महान् भूल है।

(१०) कीन्स ने पूर्ण रोजगार को अत्यधिक महत्व दिया है, जबकि उत्पादन और आय पर वे पूर्ण विचार नहीं कर पाये हैं।

(११) कीन्स ने राष्ट्र को विनियोग में कोई स्थान नहीं दिया है।

(१२) कीन्स ने, यद्यपि, सुझाव दिया है कि सरकार को कर लगाना चाहिए जिससे कि विनियोग और रोजगार में वृद्धि होगी, तथापि उन्होंने इस तथ्य पर कोई ध्यान नहीं दिया कि करारोपण विनियोग और रोजगार पर बुरा प्रभाव भी डाल सकते हैं।

(१३) कीन्स के द्वारा प्रस्तुत मंदी को रोकने का उपाय उद्योग-प्रधान देशों में ही लागू हो सकता है। अविकसित देशों में उपभोग की वस्तुयें तुरन्त नहीं बढाई जा सकेंगी और मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

(१४) कीन्स की योजनायें पूंजीवादी या निजी साहस प्रणाली में ही व्यवहार्य हैं और समाजवादी राष्ट्रों के अनुकूल नहीं है।

(१५) कीन्स ने समय तत्व को कोई महत्व नहीं दिया है और इस कारण उनके सिद्धांतों की उपयोगिता कम हो गई है।

(१६) कीन्स ने सरकारी हस्तक्षेप की उपयोगिता पर ही ध्यान दिया है। नियंत्रण की बुराइयों और सम्भावित हानियों पर विचार नहीं किया है।

किन्तु इन आलोचनाओं के बावजूद कीन्स की महानता और उसके सिद्धांतों की उपादेयता असंदिग्ध है। किसी भी अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता, क्षमता एवं समृद्धि के लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए वांछित नीति के निर्माण में कीन्स के विचार अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। कीन्स का व्यापक आर्थिक विश्लेषण, ब्याज का सिद्धांत, व्यापार-चक्र पूर्ण रोजगार, राष्ट्रीय आय, आर्थिक विकास और मुद्रा-प्रणाली के सम्बन्ध में विचार-धारा एक नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है और वे युग-प्रवर्तक अर्थशास्त्री कहे जा सकते हैं।

Q. Discuss keynes' view on problem of unemployment.
(Vikram 1964 M. A)

प्रश्न—कीन्स के बेरोजगारी पर विचार प्रकट कीजिए।
(विक्रम १९६४ एम० ए०)

Or

Q. How far is full employment policy, desirable for economic growth? Disuss its effect on future income. (Agra 1957 M. com)

अथवा

प्रश्न—पूर्ण रोजगार की नीति आर्थिक विकास के लिये कहां तक वांछनीय है ? भावी आय पर उसके प्रभावों का विवेचन कीजिए ।

(आगरा १९५९, एम० काम०)

Or

Q. Explain the Keynesion theory of employment as clearly as you can. How far can unemployment be remedied or prevented by compensatory public expenditure ? (Indore 1966 M. Com.)

अथवा

प्रश्न—कीन्स का रोजगार सिद्धांन्त सरलतापूर्वक समझाइये । क्षतिपूर्वक लोक व्यय के द्वारा वेरोजगारी पर कहां तक नियन्त्रण किया जा सकता है ?

(इन्दौर १९६६ एम० कॉम०)

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का विचार था कि प्रतियोगिता के कारण अर्थ-व्यवस्था में सामान्यतः पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जानी चाहिये तथा यदि कभी वेरोजगारी की कोई स्थिति उत्पन्न भी हो जाये तो वह केवल थोड़े समय के लिये होगी और शीघ्र ही पूर्ण रोजगार की स्थिति पर आ जायेगी, किन्तु, जैसा कि लार्ड कीन्स ने बताया है, पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाना अत्यन्त कठिन है । इसका कारण यह है कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में धन का बंटवारा समान नहीं होता है और कुछ व्यक्तियों के पास धन का बड़ा भाग वेकार पड़ा रहता है जो कि उपभोग वस्तुओं की मांग को कम कर देता है, जिसके कारण उत्पादन और विनियोग घट जाते हैं और वेरोजगारी बढ़ जाती है । अतः पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आय और व्यय के इस अन्तर के कारण ही सामान्यतया पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं पाई जाती है ।

कीन्स का कहना है कि किसी देश की अच्छी अर्थ-व्यवस्था की पहचान यह है कि वहाँ पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहे । पूर्ण रोजगार आर्थिक सुदृढ़ता का प्रमुख लक्षण है । यदि किसी देश में पूर्ण रोजगार नहीं है तो इसका अर्थ यह है कि वह देश अर्द्ध-विकसित है और पिछड़ा हुआ है । हूवर के अनुसार, वेरोजगारी से बढ़कर कोई अपव्यय और बर्बादी नहीं है. कोई वेदना या निराशा इतनी असह्य नहीं होती, जितनी कि काम के इच्छुक व्यक्तियों को रोजगार नहीं प्राप्त होने से होती है । वेरोजगारी के कारण न केवल देश के उत्पत्ति के साधनों का उचित उपयोग नहीं होता, वरन् उत्पादन घटता है, विनियोग घटता है, उपभोग घटता है और आय घटती है—इस प्रकार पूर्ण रोजगार की नीति आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है । पूर्ण रोजगार की नीति इसलिये आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय में तो वृद्धि हो ही, किन्तु इसके साथ-साथ विनियोग में भी वृद्धि हो और लोगों के रहन-सहन का स्तर भी ऊंचा उठे और आर्थिक संकटों से बचा जा सके । यदि

कोई देश उन्नति करना चाहता है और चाहता है कि उसकी उन्नति मे कोई बाधा नही आये तो यह आवश्यक है कि वह पूर्ण रोजगार को अपना लक्ष्य बनावे। पूर्ण रोजगार एक ऐसी स्थिति होती है, जिसके उपरान्त कोई भी अर्थ-व्यवस्था स्वयं स्फूर्त विकास की अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

पूर्ण रोजगार से हमारा आशय उस अवस्था से होता है जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जो कि काम करने के योग्य और इच्छुक है, रोजगार उपलब्ध है। यदि किसी देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं है, तो उसे प्राप्त करने के लिए क्या किया जाना चाहिये, इस विषय पर कीन्स ने अपने साधारण सिद्धान्त में विचार किया है। उनके अनुसार रोजगार प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करता है जो उपभोग की प्रवृत्ति और विनियोग की प्रेरणा पर निर्भर होते हैं। यदि उपभोग की प्रवृत्ति मे परिवर्तन न हो तो रोजगार विनियोग की मात्रा के साथ-साथ घटता-बढ़ता रहेगा। विनियोगों मे ब्याज दर कम होने या पूंजी की सीमान्त कुशलता बढ़ने पर वृद्धि होती है और जब तक विनियोगो मे कमी न हो, बेरोजगारी की कोई संभावना नही है। अतः पूर्ण रोजगार की नीति सरकारी विनियोग पर जोर देती है। इसका कारण यह है कि सरकार इस स्थिति मे होती है कि वह रोजगार निर्मित करने के हेतु ब्याज की दर और पूंजी की सीमान्त कुशलता पर विचार किये बिना भी विनियोग कर सकती है। अत पूर्ण रोजगार की नीति यह प्रतिपादित करती है कि रोजगार को बढाने के लिए सरकार को विनियोग बढ़ाना चाहिये। कुछ अर्थ-शास्त्रियों का तो यहां तक विचार है कि गड्ढे खोदने और उन्हे भरवाने के काम से भी मजदूरों को रोजगार दिया जाय तो भी वह वाछनीय है, क्योकि बेरोजगारी से होने वाली हानि की अपेक्षा निरर्थक विनियोग अधिक उचित है। एक व्यक्ति को मिलने वाला रोजगार अनेक व्यक्तियों को गौण रोजगार प्रदान करता है, और इस प्रकार के रोजगार की मात्रा रोजगार-गुणक पर निर्भर करती है। इस प्रकार रोजगार की वृद्धि से राष्ट्रीय आय मे भी वृद्धि होती है और कृषि, उद्योग, व्यापार व अन्य आर्थिक संस्थायें उन्नति करते है और समाज की समृद्धि बढ़ाते है?

पूर्ण रोजगार की नीति कहां तक वांछनीय है ?

आर्थिक विकास के लिए पूर्ण रोजगार की नीति का अत्यधिक महत्व है। पूर्ण रोजगार की नीति विनियोग पर जोर देती है। विनियोग की वृद्धि से रोजगार में वृद्धि होती है, यह वृद्धि रोजगार मे कई गुना वृद्धि करती है। रोजगार की इस वृद्धि से राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है, और आय मे यह वृद्धि पुन विनियोग मे वृद्धि करती है। रोजगार को बनाये रखने और उसका विकास करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप के बिना काम नही चल सकता है। मन्दी के काल मे बेरोजगारी को बढ़ने मे रोकने के लिए सरकार को अपनी आय से अधिक व्यय करना चाहिये। इसी प्रकार अभिवृद्धि के काल में सरकार को आय से कम व्यय करना चाहिये। सरकारी नीति पर ही एक बड़े अंश तक रोजगार का विस्तार तथा संकुचन निर्भर करता है। सरकार की नीति ऐसी होनी चाहिये कि—

(१) विनियोग ऐसा हो जिससे रोजगार में वृद्धि हो।

(२) विनियोग के कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो।

(३) विनियोग के कारण निजी उत्पादन, उपभोग या व्यापार पर विपरीत प्रभाव न पड़े।

(४) उद्योगों और निर्यात का स्तर बनाया रखा जाय।

(५) आय में जितनी वृद्धि हो, उसमें अधिक वृद्धि मूल्य-स्तर में न हो।

संक्षेप में, पूर्ण रोजगार की नीति का लक्ष्य रोजगार में वृद्धि होता है और रोजगार में यदि वृद्धि हो तो उसके लिए किया गया विनियोग वांछनीय है, क्योंकि उससे आर्थिक विकास में सहायता मिलती है।

पूर्ण रोजगार की नीति का भावी आय पर प्रभाव :—

पूर्ण रोजगार की नीति का अर्थ है, रोजगार की वृद्धि के लिए विनियोग करना। सैद्धान्तिक रूप से, यह विनियोग समाज की भावी आय में निरन्तर बढ़ती हुई दर से वृद्धि करेगा। विनियोगों में होने वाली वृद्धि न केवल रोजगार में वृद्धि करती है, वरन् उससे उत्पादन में भी वृद्धि होती है। उत्पादन की यह वृद्धि आय में वृद्धि करती है। आय की यह वृद्धि नये रोजगार की मांग करती है और नये रोजगार की यह मांग पुनः आय में वृद्धि करती है। अतः पूर्ण रोजगार नीति का परिणाम भावी आय में वृद्धि होना होता है। आय में कितनी वृद्धि होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि विनियोग किस प्रकार होता है सरकार की विनियोग-नीति इसके लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है। यदि विनियोग उत्पादन के क्षेत्रों में हो तो आय बढ़ेगी, किन्तु उत्पादन में परिणाम कब और कितने प्राप्त होंगे यह भावी आय का स्वरूप निर्धारित करेगी।

३२

आर्थिक आयोजन

(Economic Planning)

Q. "Economic planning has been defined as a system of economic organization in which all individual and seperate plants, enterprises and industries are treated as co-ordinated units of a single whole for the purposes of utilising all available resources to achieve the maximum satisfactions of the needs of a people within a given interval of time." How far is this definition correct ? Discuss fully.

(Agra 1949 M. A.)

प्रश्न—"आर्थिक आयोजन की परिभाषा एक ऐसी आर्थिक संगठन की प्रणाली से दी जा सकती है जिसमें किसी दिये हुए समय की अवधि में, राष्ट्र की आवश्यकताओं के अधिकतम सन्तोष के हेतु समस्त उपलब्ध साधनों का उपयोग करने के उद्देश्यों के लिये समस्त व्यक्तिगत एवं पृथक यन्त्रों, उपक्रमों और उद्योगों को किसी एक सम्पूर्ण की समन्वित इकाइयाँ माना जाता है।" यह परिभाषा कहाँ तक सही है ? पूर्ण विवेचना कीजिये। (आगरा १९४९ एम० ए०)

Or

Q. Define economic planning and discuss its objects with special reference to underdeveloped countries.

अथवा

प्रश्न—आर्थिक आयोजन की परिभाषा दीजिये और अर्ध विकसित राष्ट्रों के विशेष सन्दर्भ में उसके उद्देश्यों का विवेचन कीजिये।

उत्तर—आर्थिक आयोजन क्या है ?

प्रोफेसर राबिन्स के अनुसार, "योजना बनाने का अर्थ उद्देश्य बनाकर काम करना, चुनना या निर्णय करना है और निर्णय सभी आर्थिक क्रियाओं का निचोड़ है।"[1] इस प्रकार अत्यन्त व्यापक अर्थ में आर्थिक आयोजन मानव व्यवहार के उस पक्ष को सूचित करता है जो कि आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उपलब्ध

1. L. Robbins : Economic Planning and International Order.

साधनों के विवेकपूर्ण उपयोग से सम्बन्ध रखता है किन्तु आर्थिक आयोजन का इतना विस्तृत अर्थ ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है। साधारण भाषा में आर्थिक आयोजन से आशय उस प्रणाली से होता है जिसके अनुसार कोई देश अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रम बनाता और पूरे करता है और इन कार्यक्रमों को बनाते समय जहां वह अपनी सामाजिक आवश्यकताओं पर ध्यान देता है, वहीं अपनी उपलब्ध साधनों का भी अधिकतम उपयोग करता है। भारत के योजना आयोग के शब्दों में—"आयोजन निश्चित सामाजिक उद्देश्यों के सन्दर्भ में अधिकतम लाभ के हेतु साधनों के उपयोग एवं संगठन की रीति है। आयोजन के विचार दो मुख्य तत्व हैं—(अ) पूर्ति किये जाने वाले उद्देश्यों की प्रणाली और (ब) उपलब्ध साधनों का ज्ञान और उनका सर्वोत्तम आवंटन।"[1]

श्री विट्ठल बाबू के अनुसार—"किसी राष्ट्र की वर्तमान भौतिक, मानसिक और प्राकृतिक शक्तियों अथवा साधनों को जनसमूह के अधिकतम लाभार्थ विवेकपूर्ण उपयोग करने की तकलीफ को आयोजन कहते हैं।"[2]

श्री लारविन ने आर्थिक आयोजन की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह आर्थिक संगठन की ऐसी प्रणाली है, जिस में किसी दिये हुए समय की अवधि में, राष्ट्र की आवश्यकताओं के अधिकतम सन्तोष के हेतु समस्त उपलब्ध साधनों का उपयोग करने के उद्देश्यों के लिये समस्त व्यक्तिगत एवं पृथक यन्त्रों, उपक्रमों, एवं उद्योग को किसी एक सम्पूर्ण की समन्वित इकाइयां माना जाता है।"[3]

इस प्रकार आर्थिक आयोजन के निम्नलिखित तत्व हैं—

(१) **यह आर्थिक संगठन की एक प्रणाली है**—वैसे तो आयोजन शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है, जैसे भवन-योजना, निर्माण योजना, नगर योजना, उद्योग योजना, सरकारी योजना, उत्पादन योजना, विक्रय योजना, आदि, किन्तु आर्थिक आयोजन से हमारा तात्पर्य आर्थिक संगठन की प्रणाली से होता है। आर्थिक संगठन की यह प्रणाली स्वतन्त्र उपक्रम की पूंजीवादी प्रणाली की वैकल्पिक है और किसी राष्ट्र की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की विशेष स्थिति को प्रगट करती है। इस प्रकार यह अर्थव्यवस्था के सभी विभागों से सम्बन्ध रखती हैं। उत्पादन, उपभोग विनिमय, वितरण और राजस्व की समस्त क्रियाएें आयोजन का विषय होती हैं, और यन्त्र, साहस और उद्योग के व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार, चाहे वे कृषि, उद्योग, यातायात, व्यापार, समाज सेवा या अन्य किसी से सम्बन्ध रखते हों आर्थिक आयोजन के अनुसार संचालित होते हैं। इस प्रकार आर्थिक आयोजन आर्थिक संगठन

1. "Planning Commission-The First Five Year Plan.
2. V. Vithal Babu : Towards Planning.
3. Lewis Lorwin : Report of the Amasterdam Conference on 'orld Social Planning.

की प्रणाली है और स्वतन्त्र साहस की भांति सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था को सचालित करती है।

(२) आर्थिक आयोजन में राष्ट्रीय साधनों का तान्त्रिक समन्वय होता है और व्यक्तिगत एवं पृथक अन्य उपक्रम और उद्योगों को सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था की समन्वित इकाइयाँ माना जाता है। स्वतन्त्र उपक्रम की पूंजीवादी प्रणाली मे प्रत्येक इकाई का व्यवहार स्वतन्त्र होता है और उसका पूरी अर्थव्यवस्था या अन्य इकाइयो से कोई सम्बन्ध नही होता है, किन्तु आर्थिक आयोजन के अन्तर्गत इसमे उद्देश्य पूर्ण समन्वय स्थापित किया जाता है।

(३) आयोजन में राष्ट्र की आवश्यकताओं का अधिकतम सन्तोष या आर्थिक विकास का प्रमुख लक्ष्य होता है और इसके लिये सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी उद्देश्य निश्चित होते हैं। आर्थिक आयोजन की कार्यवाही का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति होती है, जो राष्ट्रीय आय में निरन्तर वृद्धि एव समाजवादी समाज की रचना से प्राप्त की जा सकती है। इस सम्बन्ध मे राज्य के लक्ष्य एव उद्देश्य निश्चित होते है। ये लक्ष्य एव उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं को प्रगट करते हैं, और इनकी अधिकतम पूर्ति ही आर्थिक आयोजन का लक्ष्य होता है। इस प्रकार आर्थिक आयोजन एक उद्देश्य पूर्ण कार्यवाही है।

(४) आर्थिक आयोजन की कार्यवाही उपलब्ध साधनों के विवेक पूर्ण उपयोग पर निर्भर है। इसलिये उद्देश्यों एव साधनो मे सामजस्य स्थापित किया जाता है, और (१) लक्ष्यो एव प्राथमिकताओ का निर्धारण तथा (२) साधनो का आवटन किया जाता है, तथा आर्थिक विकास के कार्यक्रम तैयार किये जाते हैं।

(५) कार्यक्रम समय की अवधि के सन्दर्भ मे तैयार किये जाते हैं और लक्ष्यों की पूर्ति निश्चित अवधि में होनी चाहिये। आर्थिक विकास के कार्यक्रम दीर्घकालिक भी हो सकते हैं, और अल्पकालिक भी, किन्तु इनके लक्ष्यो की पूर्ति एक निश्चित अवधि मे हो—यही आयोजन का आधार है। समय के बिना आयोजन व्यर्थ है।

(६) आयोजन की कार्यवाही को सफल बनाने के लिये जनसहयोग अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे शब्दों मे, नियोजन का अर्थ केवल कार्यक्रम बनाना ही नही, वरन् उसको पूरा करना भी होता है। अत आयोजन जन-सहयोग के विचार पर आधारित होता है और यह मानकर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना दायित्व पूरा करने को उत्सुक है।

(७) आयोजन का विचार नियन्त्रण के विचार पर आधारित है और यह नियन्त्रण इस मान्यता पर आधारित है कि कोई ऐसी सत्ता या अभिकरण संस्था है जो समस्त आर्थिक क्रियाओं पर उद्देश्य पूर्ण नियन्त्रण करती है, अर्थात् जो आयोजन

का संचालन करती है। यह संस्था जहाँ लक्ष्यों का निर्धारण, साधनों का आवंटन और कार्यों का मूल्यांकन करती है और आयोजन के कार्यक्रमों को पूरा करने की व्यवस्था करती है, वही इसके लिए आर्थिक क्रियाओं पर उद्देश्यपूर्ण नियन्त्रण भी करती है। स्वतन्त्र या पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में आर्थिक निश्चय मांग या पूर्ति के सामान्य घटकों द्वारा निर्धारित होते हैं, जबकि आयोजित अर्थ व्यवस्था में वे जानबूझ कर नियन्त्रण करके लिये जाते हैं हैरीस के अनुसार, आयोजन "आय और मूल्य विचलनों के अनुसार साधनों के आवंटन को सत्ता द्वारा निर्धारित लक्ष्यों के अनुसार आवंटन से प्रतिस्थापित करता है।"[1] डिकिन्सन भी कहते हैं—आयोजन विराट् आर्थिक निर्णयों से समबद्ध हैं—क्या और कितना उत्पादन किया जाय, कैसे, कब और कहाँ उत्पन्न किया जाय, तथा उसका बंटवारा किसको किया जाय—के विषय में निर्धारित अधिकारी द्वारा सम्पूर्ण प्रणाली के व्यापक सर्वेक्षण के आधार पर किये गये सचेत निर्णयों से।"[2] बारबारा वूटन भी कहती हैं—"आर्थिक आयोजन वह प्रणाली है जिसमें बाजार यन्त्र को जानबूझकर इस प्रकार नियन्त्रित किया जाता है कि ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जो बाजार तान्त्रिकताओं को मुक्त छोड़ने पर उत्पन्न हुई व्यवस्था से भिन्न हो।" श्री हरमन लेवी भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं—

"आर्थिक आयोजन का अर्थ मांग और पूर्ति का श्रेष्ठ संतुलन प्राप्त करने से है। यह सन्तुलन स्वतः संचालित, अदृश्य तथा अनियन्त्रित शक्तियों द्वारा निर्धारित होने के लिये नहीं छोड़ा जाता, वरन् उत्पादन अथवा वितरण दोनों पर जान बूझकर विवेकपूर्ण नियन्त्रण द्वारा निर्धारित किया जाता है।"

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लारविन द्वारा दी गई आर्थिक आयोजन की परिभाषा सही है और उसकी सभी विशेषताओं को प्रगट करती है। किन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह आयोजन को जिस अर्थ में प्रस्तुत करती है, वह कुल आयोजन या सम्पूर्ण आयोजन है और आंशिक आयोजन या सुधार या पुनर्निर्माण आदि की योजनाओं से भिन्न है। इस प्रकार के आयोजन का उद्देश्य है—अधिकतम सामाजिक लाभ के लिए राष्ट्रीय साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग।

आर्थिक आयोजन के उद्देश्य।—

इस प्रकार आयोजन की कल्पना बिना उद्देश्यों के नहीं की जा सकती। इन उद्देश्यों की आधार-शिला पर ही आर्थिक आयोजन में सम्मिलित लक्ष्यों एवं प्राथमिकताओं का क्रम निर्धारित किया जा सकता है। यद्यपि प्रत्येक राष्ट्र में विद्यमान परिस्थितियों एवं नीतियों के अनुसार लक्ष्यों एवं प्राथमिकताओं का क्रम अलग-अलग हो सकता है, तथापि, जैसा कि भारतीय योजना आयोग ने स्पष्ट किया है, आयोजना का केन्द्रीय उद्देश्य जनता के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना और उनके

1. S. E. Harris : Economic Planning P. 26
2. H. D. Dickenson : Economics of Socialism P. 14.

लिये अधिक समृद्धिशाली और विविधतापूर्ण जीवन के अवसर प्रदान करना है। अतः आयोजन का लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि समाज मे उपलब्ध धन, सम्पत्ति और साधनों का अधिक प्रभावशाली ढंग से उपयोग किया जाय जिसमे एक ओर तो वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन मे वृद्धि हो और दूसरी, ओर आय, धन एव अवसरों की समानता में कमी हो। अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोजगार, आर्थिक समानता एवं सामाजिक न्याय जो कि वर्तमान दशाओ मे आयोजन के मान्य लक्ष्य हैं, वास्तव में कोई पृथक-पृथक उद्देश्य नही हैं, वरन् वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और आर्थिक आयोजन के कार्य-क्रमों मे इन सभी पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। यद्यपि आर्थिक आयोजन राजनीतिक एव सामाजिक आदर्शों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, तथापि आर्थिक उद्देश्य ही नियोजन के आधार होते है। इन आर्थिक उद्देश्यो मे प्रमुख हैं :—

(१) रहन-सहन के स्तर में वृद्धि ।
(२) प्रति व्यक्ति और कुल राष्ट्रीय आय में वृद्धि ।
(३) पूर्ण रोजगार ।
(४) आय और अवसरों की असमानताओं में कमी ।
(५) आर्थिक साधनों का समुचित उपयोग ।
(६) मांग और पूर्ति का श्रेष्ठ समायोजन ।

किसी अर्ध विकसित राष्ट्र मे हम देखते हैं कि इन उद्देश्यो का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। ऐसे राष्ट्र मे अधिकाश व्यक्तियो का रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा होता है और वे अपनी अनिवार्यताओं की पूर्ति भी नही कर पाते हैं। प्रति व्यक्ति आय और कुल राष्ट्रीय आय बहुत ही अल्प होती है। अधिकाश लोगो को लाभदायक रोजगार नही मिल पाता है। आय और धन मे अपार विषमता होती है और आर्थिक, सामाजिक एव तकनीकी कारणो से सभी लोगो को उन्नति के बराबर अवसर उपलब्ध नहीं होते और समृद्धि कुछ ही लोगो मे केन्द्रित होती है। इन असमानताओ के कारण सामाजिक उत्पादन बहुत घट जाता है और पूंजी, तात्रिक ज्ञान एव इच्छा के अभाव मे समाज के साधनो का समुचित उपयोग नही हो पाता है। यही नही, एक ओर तो विलासिताओ पर निरर्थक व्यय बढ़ता जाता है, और दूसरी ओर अधिकांश जनसख्या के लिए आवश्यक वस्तुओ और सेवाओ का उत्पादन पर्याप्त मात्रा मे नही होता है। यही नही, देश मे उत्पन्न होने वाला बहु-मूल्य कच्चा माल निर्यात किया जाता है और बदले मे उसी कच्चे माल से बनी वस्तुओं का आयात होता है, जबकि देश का श्रम बेकार पड़ा रहता है। माग और पूर्ति मे कोई समायोजन नही होता। अत. अर्द्ध विकसित राष्ट्रो के लिये आर्थिक आयोजन एक ऐसा उपकरण सिद्ध होगा, जिसके द्वारा वे अपने राष्ट्रो का सन्तुलित विकास कर सकते हैं। आर्थिक आयोजन के कार्यक्रम केवल अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास का ही साधन नहीं है, वरन् इन राष्ट्रों का सामाजिक, सांस्कृतिक

इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक आयोजन एक ऐसा उपकरण है जो किसी राष्ट्र के विकास कार्यक्रमों का संचालन करता है और उस राष्ट्र को अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है।

Q. "The system of socialistic central planning, if it could be effectively organized would be in many respects preferable to our existing capitalist system." (Pigou)

Discuss this statement with special reference to the problems of economic planning. (Agra 1957, M. A.)

प्रश्न—"विद्यमान पूंजीवादी प्रणाली की अपेक्षा, यदि प्रभावपूर्ण रूप से संगठित किया जा सके तो, समाजवादी केन्द्रीय आयोजन की प्रणाली अनेक कारणों से वांछनीय है" (पीगू)

आर्थिक आयोजन की समस्याओं के विशेष सन्दर्भ में इस कथन का विवेचन कीजिए। (आगरा १९५७ एम० ए०)

Or

Q Discuss the statement that socialist central planning is preferable to the present system of free enterprise.

(Vikram 1960 M. A)

प्रश्न—इस कथन का विवेचन कीजिए कि स्वतन्त्र उपक्रम की वर्तमान प्रणाली की अपेक्षा समाजवादी केन्द्रिय आयोजन की प्रणाली अधिक वांछित है।

(विक्रम १९६०, एम० ए०)

उत्तर—विद्यमान पूंजीवादी प्रणाली—प्रोफेसर बेन्हम लिखते हैं कि पूंजीवाद के अन्तर्गत राज्य द्वारा लगाये गये कुछ प्रतिबन्धों को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिये लगभग स्वतन्त्र होता है। समाज की आर्थिक क्रियाओं का निर्धारण विभिन्न प्रकार के बहुत से व्यक्तियों के असंयोजित निर्णयों द्वारा होता है क्योंकि उत्पादन के साधन का प्रत्येक स्वामी (जिसमें श्रमिक भी शामिल है और दास-प्रथा के अभाव में वह स्वयं अपने श्रम का स्वामी होता है) अपने साधन का अपनी इच्छानुसार प्रयोग करने और अपनी आय को मनचाही रीति से व्यय करने के लिए स्वतन्त्र होता है।" प्रो० ब्रेस के अनुसार, "पूंजीवाद या पूंजीवादी व्यवस्था या पूंजीवादी सभ्यता का अर्थ उद्योग के विकास एवं वैधानिक संगठनों की उस अवस्था से है जिसमें कि श्रमिकों का समुदाय उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से वंचित कर दिया जाता है तथा ऐसे पारिश्रमिक अर्जित करने वालों में परिणत कर दिया जाता है कि उनका जीवन-निर्वाह एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राष्ट्र के उन कतिपय व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर रहता है जो भूमि यन्त्र एवं श्रम शक्ति के स्वामी हैं और जो अपने वैधानिक स्वामित्व के द्वारा उनके प्रबन्ध का नियन्त्रण करते हैं तथा वे ये सब कार्य अपने निजी एवं व्यक्तिगत लाभ के लिए करते हैं।" इस प्रकार पूंजीवाद स्वतन्त्र उपक्रम की प्रणाली पर आधारित है और उसकी निम्नलिखित विशेषतायें हैं :—

(१) निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार और उत्तराधिकार की प्रणाली।

(२) उपभोग, उत्पादन, विनिमय, व्यवसाय, अनुबंध और चुनाव करने की व्यक्तिगत एवं सामूहिक स्वतन्त्रता।

(३) पूंजी एवं साहस की प्रभुता।

(४) लाभ-उद्देश्य।

(५) मूल्य द्वारा आर्थिक क्रियाओं का नियन्त्रण।

(६) प्रतियोगिता की भावना।

(७) साधनों का केन्द्रीयकरण।

(८) वर्ग-भेद।

(६) राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप ।

उपरोक्त विशेषताओं के कारण स्वतन्त्र उपक्रम और पूंजीवाद में विश्वास करने वालों का यह विचार है कि सभ्यता का अधिकतम विकास पूंजीवाद या स्वतंत्र उपक्रम की नीति के माध्यम से ही हुआ है और हो सकता है। उनकी मान्यता है कि यदि व्यक्तियों को स्वतन्त्रता दे दी जाय तो प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य से विवेकपूर्ण निर्णय करेगा और समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। उपभोक्ता को ही महत्व दिया जाने के कारण उन्हें अधिकतम सन्तोष भी प्राप्त होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता और अपने साधनों का अधिकतम उपयोग करेगा और उसे उसका उचित प्रतिफल भी मिलेगा। इस प्रकार समाज के सीमित साधनों का अधिकतम विवेकपूर्ण उपयोग पूंजीवाद के अन्तर्गत ही सम्भव है। यही नहीं, पूंजीवाद के कारण ही पारस्परिक निर्भरता, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं पूंजी-निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है। किन्तु व्यवहार में पूंजीवाद के दूसरे ही परिणाम दृष्टव्य हैं, क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता का प्रायः अभाव होता है और सभी व्यक्तियों की योग्यता और साधन एक जैसे नहीं होते। स्वतन्त्र उपक्रम की नीति के अनेक दुष्परिणाम हुए हैं, जैसे—

(१) सम्पत्ति और आय का असमान वितरण ।

(२) आर्थिक ढाँचे का असन्तुलित विकास ।

(३) एकाधिकारिक शक्तियों का विस्तार ।

(४) साधनों का अपव्यय ।

(५) आर्थिक अस्थिरता एवं संकट ।

(६) वर्ग-संघर्ष ।

(७) बेकारी और शोषण ।

(८) उपभोक्ताओं का शोषण ।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय कलह ।

(१०) सामाजिक एवं नैतिक पतन, आदि ।

संक्षेप में, हम बर्नार्ड शा के शब्दों में कह सकते हैं कि पूंजीवाद में कोई विवेक नहीं होता, उसका ईश्वर स्वर्ण और ध्येय लाभ है। इसी कारण, साम्राज्यवाद के प्रोत्साहन के लिए भी पूंजीवाद ही उत्तरदायी है। अतः लोगों में पूंजीवाद के प्रति विरोध की भावना का विकास होना स्वाभाविक ही है। पूंजीवाद स्वयं ही अपने विनाश की दशायें उत्पन्न करता है। जैसे-जैसे पूंजीवाद का विकास होता है, वैसे-वैसे बड़े उत्पादकों की प्रतियोगिता से घबराकर छोटे-छोटे उत्पादक बाजार से भागते जाते हैं और उन्हें भी व्यवसाय छोड़कर साधारण श्रमिकों की भाँति काम करने के लिए विवश होना पड़ता है। इस प्रकार पूंजीपतियों की संख्या छोटी होती जाती है और श्रमिकों की संख्या बढ़ती जाती है। औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों का बड़ी संख्या का जमाव हो जाता है और पूंजीपतियों की तुलना में श्रमिकों की

संगठित शक्ति बढ़ती जाती है। इसके दो ही परिणाम हो सकते हैं—या तो सरकार हस्तक्षेप करे या श्रमिकों की सरकार स्थापित हो जाये और वह अर्थ व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर ले। साम्यवाद या समाजवाद की विचारधारा का विकास इसी प्रकार हुआ है। रूस, और अन्य राष्ट्रों के उदाहरण हमारे सामने हैं। इन राष्ट्रों ने साम्राज्यवादी सरकार को उलटकर समाजवादी राज्य स्थापित किये और उत्पादन के साधनों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध ग्रहण कर आर्थिक आयोजन की नीति को क्रियान्वित किया है।

समाजवादी (केन्द्रीय आयोजन) प्रणाली—

प्रो० डिकिन्सन के अनुसार समाजवाद समाज का एक आर्थिक संगठन है, जिसमें उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर समाज का स्वामित्व होता है और उनका संचालन ऐसी संस्थाओं द्वारा एक निश्चित योजना-क्रम के अनुसार किया जाता है, जोकि सारे समाज का प्रतिनिधित्व करती है और सारे समाज के प्रति उत्तरदायी होती है; समाज के सारे सदस्य समान अधिकारों के आधार पर ऐसे समाजीकृत आयोजित उत्पादन के परिणामों की अधिकारी होते हैं। संक्षेप में, समाजवादी व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों की अपेक्षा राज्य का स्वामित्व एवं नियन्त्रण होता है।

(२) आर्थिक क्रियाओं का संचालन एक निश्चित योजना के अनुसार केन्द्रीय सत्ता द्वारा किया जाता है।

(३) समाज का प्रत्येक व्यक्ति श्रम करता है और किसी भी व्यक्ति को लाभ, ब्याज, लगान तथा अनार्जित आय प्राप्त करने का अधिकार नहीं होता है।

(४) समाज का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम सामाजिक कल्याण होता है और मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास पर ध्यान दिया जाता है।

(५) आर्थिक विषमताओं को कम करना एक आवश्यक नीति होती है।

(६) प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति के समान अवसर प्राप्त होते हैं।

(७) राज्य का आधारभूत महत्व होता है।

समाजवादी केन्द्रीय आयोजन श्रेष्ठ है—

डाक्टर तुगन बारानोवस्की के अनुसार, "समाजवाद का सार यह है कि इसके अन्तर्गत समाज के किसी व्यक्ति का शोषण नहीं हो सकता। यह व्यवस्था व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से संचालित न होकर सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से संचालित होती है। किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए और कितनी मात्रा में, ये सब बातें लाभ की अपेक्षा जन-साधारण के हित को ध्यान में रखकर निश्चित की जाती हैं। वस्तुओं का उत्पादन समाज के लिये उनकी उपयोगिता के आधार पर निश्चित किया जाता है। उत्पादन स्वेच्छापूर्वक न किया जाकर आर्थिक आयोजन के

लाभ यह है कि इसमें देश के सीमित साधनों के लिए राष्ट्रीय साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग किया जाता है, क्योंकि समाज तथा राष्ट्र का हित ही प्रधान समझा जाता है और उत्पादन हित इसके आधीन होता है। पूँजीवादी व्यवस्था की भांति साधनों के बेकार पड़े रहने या असन्तुलन होने की सम्भावना नहीं रहती। सभी क्षेत्रों का विकास करने का प्रयत्न किया जाता है और कोई क्षेत्र उपेक्षित नहीं रहने पाता।

(२) धन का समान वितरण—पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में तो धन कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाता है जो कि उसका मनमाना प्रयोग करते हैं किन्तु आयोजित अर्थ-व्यवस्था में धन का न्यायपूर्ण और समान वितरण होता है और किसी भी वर्ग का शोषण नहीं होने दिया जाता। सरकार अपनी नीति द्वारा असमानताओं को कम करती है और ऐसे कार्यों पर व्यय करती है जिससे जन-साधारण को अधिकतम लाभ हो।

(३) आर्थिक आत्म-निर्भरता-आयोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्र सभी वस्तुयें उत्पादन करने का प्रयत्न करता है, जिससे अन्य देशों का मुंह न ताकना पड़े।

(४) आर्थिक समस्याओं का समाधान—आयोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सभी प्रकार की आर्थिक समस्यायें हल हो जाती हैं। बेरोजगारी समाप्त हो जाती है, उत्पादन न तो अधिक होता है और न कम, न तो गला काट प्रतियोगिता होती है और न एकाधिकार ही स्थापित हो सकते हैं, न मूल्य बढ़ते हैं और न घटते हैं। इस प्रकार आर्थिक संकट से भी देश की रक्षा होती है और आर्थिक परिवर्तनों की कोई सम्भावना नहीं रहती।

(५) योजनाबद्ध उत्पादन—राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन होता है और वह मनमाने ढंग से नहीं हो पाता है। परिणामतः उद्योगों का असंतुलित विकास नहीं होने पाता है।

(६) उत्पादन में मितव्ययिता—उत्पादन सरकार के नियंत्रण में होने से और उसका वितरण निश्चित होने से अनेक प्रकार के व्ययों में मितव्ययिता होती है।

(७) उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता में वृद्धि—आयोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है क्योंकि बढ़ी हुई कार्यक्षमता का फल पूंजीपति को ही न मिलकर पूरे राष्ट्र को या सबको मिलता है। इसीलिये कहा जाता है कि जो काम पचास वर्षों में पूरा नहीं हो सकता, आयोजन से बीस वर्षों में पूरा किया जा सकता है।

(८) सामाजिक कल्याण में वृद्धि—समाजवादी केन्द्रीय आयोजन के अन्तर्गत सामाजिक कल्याण में अधिकतम वृद्धि होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार मिलता है तथा राज्य की आय उन कार्यों पर व्यय की जाती है जिनसे जन-साधारण की अधिकाधिक शारीरिक, बौद्धिक, चारित्रिक और सामाजिक उन्नति हो। रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाने के लिये राज्य न केवल उत्पादन पर नियंत्रण करता है, वरन् उपभोग की दिशायें भी निश्चित करता है। इस प्रकार आयोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत देश की आवश्यकताओं और साधनों के बीच उचित सामजस्य स्थापित किया जा सकता है, जबकि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में न तो देश की आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है और न सामाजिक कल्याण पर ही राष्ट्रीय आय व्यय की जाती है।

(९) वर्ग-विहीन समाज की स्थापना—पूंजीवाद ने जिस वर्ग-संघर्ष को जन्म दिया है, समाजवादी केन्द्रीय नियोजन इस वर्ग-भेद को समाप्त करके एक वर्गहीन समाज की स्थापना करता है जो कि राष्ट्र-हित या समाज-हित की भावना और जिम्मेदारी से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। इस प्रकार वे न केवल समानता बल्कि बन्धुत्व की भावना से कार्य करते हैं।

(१०) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—केन्द्रीय आयोजन के द्वारा एक राष्ट्र अन्त[illegible] में न केवल अपनी [illegible]यम करता है, वरन् [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय असहयोग [illegible] को भी प्रोत्साहित

स्पष्ट है कि समाजवादी [illegible]न की प्रणाली पूंजीवादी

समाजवादी केन्द्रीय आयोजन की प्रणाली पूंजीवाद से श्रेष्ठ है—तर्क

(१) आर्थिक साधनों का विवेकपूर्ण प्रयोग।
(२) धन का समान वितरण
(३) आर्थिक आत्म-निर्भरता
(४) आर्थिक समस्याओं का समाधान
(५) योजनाबद्ध उत्पादन
(६) मितव्ययी उत्पादन
(७) कार्यक्षमता में वृद्धि
(८) [illegible]

व्यवस्था से न केवल श्रेष्ठ है, वरन् यह पूंजीवाद के दोषों का निराकरण भी करती है। समाजवादी केन्द्रीय आयोजन न केवल स्वतन्त्र उद्यम की पूंजीवादी प्रणाली का एक पूर्ण स्थानापन्न है, वरन् यह एक ऐसी प्रणाली है जो कि आर्थिक क्रियाओं का विवेकपूर्ण संचालन करती है। एस० ई० हैरिस के शब्दों में, "आयोजन माँग और पूर्ति के सम्बन्ध में साधनों के आवंटन को अधिकारी द्वारा निश्चित उद्देश्यों के अनुसार आवंटन में परिवर्तित करना है।"[1] डिकिन्सन लिखते हैं, "आयोजन प्रमुख आर्थिक निर्णय करना है— क्या और कितना उत्पन्न किया जावे। कब कैसे और कहाँ उत्पन्न किया जावे और उसका बंटवारा कैसे किया जावे, इस विषय में निर्धारित अधिकारी द्वारा सम्पूर्ण व्यवस्था के व्यापक सर्वेक्षण के उपरान्त सचेत निर्णय किये जाते हैं।"[2] और वी० विट्ठल बाबू लिखते हैं कि "आयोजन विद्यमान भौतिक, मानसिक और प्राकृतिक शक्तियों या साधनों को जनता के अधिकतम हित के लिए राष्ट्रीय उपयोगीकरण की तकनीक को प्रतिष्ठित करना है।"[3] हरमैन लेवी भी यही कहते हैं —"आयोजन का आशय माँग और पूर्ति का श्रेष्ठ सन्तुलन प्राप्त करने से है। यह सन्तुलन स्वतः सञ्चालित, अदृश्य तथा अनियन्त्रित शक्तियों द्वारा निर्धारित होने के लिए छोड़ा नहीं जाता, वरन् उत्पादन या वितरण या दोनों पर उद्देश्यपूर्ण विवेकपूर्वक नियन्त्रण के द्वारा कायम किया जाता है।"[4] अतः हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं कि स्वतन्त्र साहस की पूंजीवादी प्रणाली की अपेक्षा समाजवादी केन्द्रीय आयोजन की प्रणाली से अधिकतम राष्ट्रीय हित सम्भव है।

केन्द्रीय आयोजन का प्रभावपूर्ण संगठन आवश्यक है :—

किन्तु समाजवादी केन्द्रीय आयोजन दोषरहित नहीं कहा जा सकता। समाजवादी केन्द्रीय आयोजन की कार्य-प्रणाली ही ऐसी है कि उसमें अनेक दोष या कठिनाइयाँ आती हैं। उदाहरण के लिए—

(१) नौकरशाही, भ्रष्टाचार एवं अनियमितताओं में वृद्धि।
(२) व्यक्तिगत प्रेरणा का अभाव।
(३) आर्थिक स्वतन्त्रताओं का मत।
(४) केन्द्रीय सत्ता के निर्णयों मे त्रुटि।
(५) आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीयकरण।
(६) समाज में नये वर्गों का जन्म।

प्रोफेसर हायेक ने आयोजन के दोष बताते हुये लिखा है—(१) एक व्यापक योजना मनमाने प्रशासनीय निर्णय द्वारा संचालित होती है जिससे कानून का शासन प्रायः समाप्त हो जाता है। (२) उपभोक्ता की सार्वभौमिकता, व्यवसाय के चयन

---

1. S. E. Harris ; Economic Planning p. 26.
2. H. D. Dickenson ; Econmics of Socialism p. 14.
3. V. Vitthal Babu : Towards Planning p. 3.
4. H. Levy : New Industrial System.

में स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने का अधिकार सभी बलिदान करने पड़ते हैं, (३) सम्पत्ति का लोप होने के कारण व्यक्तियों के धन और पद का निर्धारण निरंकुश राजनीतिक सत्ता द्वारा किया जाता है, (४) जनतन्त्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बुरे से बुरे लोग शक्ति हथिया लेते हैं और अत्याचारों द्वारा शासन चलाते हैं तथा सामूहिकवाद का विस्तार लोगों की चिन्गारियों को प्रज्ज्वलित कर देता है। (५) योजना के क्रियान्वय के लिए सभी लोगों को उत्पीडित किया जाता है और (६) व्यक्तिगत नैतिक जीवन बिताने की सम्भावना लुप्त हो जाती है।

वास्तव में इन विचारों में अतिशयोक्ति है। वास्तविकता यह है कि ये दोष आयोजन के दोष नहीं होकर उन कार्यों के परिणाम हैं जो गलत ढंग से किये जाते हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि योजना अधिकारी विवेकपूर्वक उद्देश्यपूर्ण आयोजन के महत्व को समझें और अधिकतम राष्ट्रीयहित में कार्य करें। यदि योजना अधिकारी निष्पक्ष, न्यायपूर्वक और उत्तरदायित्व-पूर्वक कार्य करें तो आयोजन किसी भी प्रकार से दोषपूर्ण नहीं होगा वास्तव में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि समाजवादी केन्द्रीय आयोजन प्रभावपूर्ण ढंग से संचालित हो। योजना की सफलता के लिये अनेक बातों की आवश्यकता होती है जैसे, स्थायी सरकार, जन-सहयोग, सक्षम कर्मचारी, सांख्यिकीय ज्ञान, पर्याप्त वित्तीय साधन, सन्तुलित कार्यक्रम और राष्ट्रीय चरित्र आदि। जब तक ये सब न हों तब तक योजना प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती, और जब तक योजना प्रभावपूर्ण ढंग से संचालित नहीं होती तब तक समाजवादी केन्द्रीय आयोजन अर्थव्यवस्था में अनेक बुराइयों को जन्म देगा। अतः प्रोफेसर पीगू का यह कथन सही ही है कि केन्द्रीय आयोजन की समाजवादी प्रणाली पूंजीवाद से वाञ्छनीय है, यदि उसे प्रभावपूर्ण ढंग से संगठित किया जा सके।

Q. Discuss the main principles of economic planning. How far have these principles been followed in the Five Year Plans of India ?

(Agra 1956 M. A)

प्रश्न—आर्थिक आयोजन के मुख्य सिद्धान्तों का विवेचन कीजिये। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में ये सिद्धांत कहाँ तक अपनाये गये हैं ?

(आगरा १९५६ एम. ए.)

Or

Q. Give a brief account of the main principles of economic planning in a democratic society and examine how far the same are adopted in India ?

(Raj. 1960 M. Com)

अथवा

प्रश्न—किसी जनतन्त्रीय देश में आर्थिक आयोजन के मुख्य सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन कीजिए और बताइये कि भारत में ये कहां तक अपनाये गये हैं ?
(राज० १६६० एम० कॉम०)

उत्तर—जब समाजवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लोकतान्त्रिक विधियों का उपयोग किया जाता है, तब उस व्यवस्था को प्रजातान्त्रिक आयोजन कह सकते हैं। भारत में इस प्रकार की व्यवस्था का सम्भवत: सर्वप्रथम प्रयोग किया जा रहा है। ब्रिटेन में द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् पुनर्निर्माण कार्य के लिए वहाँ की श्रमिक सरकार ने वहाँ की लोकतन्त्रीय व्यवस्था के कुछ क्षेत्रों को आयोजित किया था, परन्तु श्रमिक सरकार इस दिशा में कोई विशेष सफलता प्राप्त न कर सकी थी। आधुनिक युग में, जबकि अनेक पिछड़े हुए राष्ट्रों को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है, आयोजित आर्थिक विकास करना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण हो गया है। भारत ने इस ओर अग्रसर होकर आयोजन के इतिहास में एक नवीन किन्तु स्वर्णिम अध्याय जोड़ दिया हैं। भारत में आयोजन की सफलता में आयोजन के दोषों का सफल निवारण निहित है।

प्रजातान्त्रिक आयोजन में निजी तथा सरकारी दोनों क्षेत्रों को स्थान प्राप्त होता है। निजी क्षेत्र को समाप्त करने की अपेक्षा उसके कार्य-क्षेत्र को सीमित एवं नियन्त्रित करके सरकारी क्षेत्र के साथ कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाता है। निजी क्षेत्र सरकारी क्षेत्र का सहायक, सहकारी एवं पूरक होता है, उसे प्रति-स्पर्धी होने से रोका जा सकता है। कुछ आधार-भूत उद्योगों को राज्य पूर्णत: अपने हाथ में ले लेता है, कुछ दूसरे प्रकार की आर्थिक संस्थायें निजी साहसी का ही कार्य-क्षेत्र बना दी जाती हैं, शेष तृतीय प्रकार के उद्योग निजी तथा सरकारी दोनों क्षेत्रों में समन्वित किये जाते हैं। "सरकारी क्षेत्र द्वारा निजी क्षेत्र में अथवा इसके विपरीत हस्तक्षेप को अवसर पर नहीं छोड़ दिया जाता, प्रत्युत आयोजन अधिकारियों द्वारा राष्ट्र के आर्थिक हितों को दृष्टिगत करते हुए इसे निश्चित किया जाता हैं।"

प्रजातान्त्रिक आयोजन में जन-हित और जन-कल्याण का अधिक महत्व होने के कारण उपभोग को न्यूनतम स्तर तक नहीं लिया जा सकता है। विकास और कल्याण में समन्वय स्थापित किया जाता है। भारतीय आयोजन में मानवीय स्वतन्त्रता तथा सम्मान का विशेष ध्यान रखा जाता है, इसी कारणवश यहाँ की विकास योजना केन्द्रित तथा समन्वित होते हुए भी कल्याणकारी है। स्वतन्त्र विपणि व्यवस्था को भारतीय अर्थ-व्यवस्था में उचित स्थान प्राप्त है। इस प्रकार भारत में एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का विकास हुआ है, जिसमें कि राजकीय तथा निजी साहस दोनों साथ-साथ कार्य करते हैं।

प्रजातान्त्रिक आयोजन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विशेष महत्व है। प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा भारतीय समाजवाद पर

अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "समाजवाद का मतलब यह है कि राज्य में हर आदमी को तरक्की करने के लिए बराबर मौका मिलना चाहिए। मैं हरगिज इस बात को पसन्द नहीं करता कि राज्य हर चीज पर नियन्त्रण रखे क्योंकि मैं इन्सान की व्यक्तिगत आजादी को वरीयता देता हूँ। मैं उस उग्र किस्म के राज्य समाजवाद को पसन्द नहीं करता जिसमें सारी ताकत राज्य के हाथों में होती है और देश के करीब-करीब सभी कामों पर उसी की हुकूमत हो। राजनीतिक दृष्टि से राज्य बहुत ताकतवर है। अगर आप उसे आर्थिक दृष्टि से भी बहुत ताकतवर बना देंगे तो वह सत्ता का अधिकार केन्द्र बन जायगा जिसमें इन्सान की आजादी राज्य के मनमानेपन की गुलाम बन जायेगी।" इस प्रकार सत्ता के विकेन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होना भी आवश्यक है। पूर्णत समाजवादी तथा साम्यवादी व्यवस्था में सत्ता के केन्द्रीयकरण की वृद्धि की जाती है परन्तु लोकतान्त्रिक आयोजन के अन्तर्गत आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोका जाता है। दूसरी ओर आर्थिक आयोजन के मूल तत्व—राष्ट्र के भौतिक, मानवीय तथा वित्तीय साधनों का पूर्णतम तथा विवेकपूर्ण उपयोग करने के लिए यथेच्छाकारिता तथा प्रतियोगिता प्रधान अर्थ-व्यवस्था को खुली छूट नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसमें शोषण का तत्व प्रधान होता है, और मानवीय सम्पदा की बहुत अधिक बर्बादी होती है। "जिसे आमतौर पर स्वतन्त्र बाजार और स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था कहते हैं, वह आखीर में चलकर 'योग्यतम के ही अस्तित्व' के सिद्धान्त के मुताबिक तीव्रतम और गलाघोंट प्रतियोगिता को जन्म देती है। इसलिये सब पूंजीवादी देशों में भी यह मान लिया गया है कि स्वतन्त्र उद्यम और यथेच्छाकारिता की प्रणाली बेकार हो चुकी है और उस पर राज्य का नियन्त्रण और नियम लागू होना चाहिये। अगर हम यह सोचते हैं कि आयोजन और लोकतन्त्र का मेल नहीं बैठता है तो इसका मतलब यह नहीं होगा कि लोकतन्त्रीय संविधान के भीतर राष्ट्रीय साधनों का उपयोग नहीं हो सकता। असल बात यह है कि असली आयोजन, जो व्यक्ति और समाज दोनों के हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है, केवल लोकतन्त्रीय प्रणाली के भीतर ही सम्भव है।"

प्रजातान्त्रिक आयोजन में केवल चुने हुए व्यवसायों तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है। जिन व्यवसायों तथा उद्योगों को राज्य सफलतापूर्वक कल्याणकारी रीतियों के अनुसार चलाने के योग्य होता है, उनका राष्ट्रीयकरण उचित मुआवजा देने के पश्चात् किया जाता है। आयोजन के लक्ष्य साधारणत. उपभोक्ता की सुविधाओं को ध्यान में रखकर निर्धारित किये जाते हैं। विदेशी सहायता का इस प्रकार के आयोजन में विशेष महत्व होता है। विदेशी सरकारों तथा पूंजीपतियों से पूंजी प्राप्त होती है, क्योंकि बल द्वारा उद्योगों के अपहरण का कोई भय नहीं होता।

लोकतन्त्र में राजनीतिक तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया जाता है जिसका प्रभाव आयोजन के कार्यक्रम पर भी पड़ता है। विपक्षी राज-

नीतिक दलों द्वारा कभी-कभी विनाशकारी कार्य-क्रम भी संचालित होते रहते हैं। जो समस्त कल्याणकारी कार्यक्रमों के सुगम चालन में बाधा पहुँचाते हैं तथा नियोजन अधिकारियों के अनुमानों की सिद्धि कठिन प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार विकास की गति कुछ मन्द हो जाती है और राष्ट्र के साधनों का अपव्यय भी होता है। सत्ता का विकेन्द्रीयकरण करने के लिए पंचायतों, सहकारी संस्थाओं तथा अन्य क्षेत्रीय प्रबंधक संस्थाओं की स्थापना की जाती है। प्रारम्भिक अवस्था में सत्ता हाथ में आने पर उसका दुरुपयोग अवश्यम्भावी है। सहकारी क्षेत्र में कर्मचारियों को इस नवीन स्थिति में अपनी सत्ता क्षतिग्रस्त होती प्रतीत होती है, अतः वे सरकारी नियमों के जाल को और कठोर बनाने का यत्न करते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय साधनों का अपव्यय होता है।

आयोजन के कार्य-क्रम निम्नांकित सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं :—

(१) **राष्ट्रीय सुरक्षा** (National Security)—जब तक राष्ट्र में सुरक्षा की भावना न हो, कोई भी नियोजन कार्य-क्रम सफलतापूर्वक संचालित नहीं किया जा सकता। योजना के दीर्घकालीन कार्य-क्रमों के संचालनार्थ राजनीतिक स्थिरता की आवश्यकता होती है और राजनीतिक स्थिरता तभी सम्भव है जब कि राष्ट्र को पड़ौसी राष्ट्रों की ओर से आक्रमण आदि का भय न हो। नियोजन द्वारा राज्य को आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से सुदृढ़ बनाया जाता है किन्तु यह स्थिरता राष्ट्रीय सुरक्षा की अनुपस्थिति में अल्पकालीन हो सकती है। यदि राष्ट्र को अपनी सुरक्षा के लिये राष्ट्रीय साधनों का अधिक भाग व्यय करना पड़े तो आर्थिक विकास को पर्याप्त साधन उपलब्ध होना असम्भव है। नियोजन की सफलता के लिये राष्ट्र को इतना शक्तिशाली बनाना अनिवार्य है कि अन्य दूसरे राष्ट्रों से किसी प्रकार का भय न हो। १९वीं शताब्दी में राष्ट्र की सुरक्षा के लिये खाद्य-सामग्री को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता था क्योंकि वही देश युद्ध में सफल होता था जो अपनी सेना को पर्याप्त खाद्य-सामग्री अधिक काल तक प्रदान कर सकता था, परन्तु आधुनिक युग में यंत्र, उद्योग, यातायात एवं संचार तथा खनिज का महत्व अधिक हो गया है। आज के युद्ध में मनुष्य नहीं प्रत्युत अस्त्र-शस्त्र अधिक महत्वपूर्ण है। अतः आज वही देश युद्ध में विजयी होता है जिसके पास संगठित उद्योग, लोहा एवं इस्पात का पर्याप्त उत्पादन तथा शक्ति के साधनों कोयला, पैट्रोलियम तथा विद्युत शक्ति की पर्याप्त एवं सुगम उपलब्धि है। इस प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से नियोजन द्वारा राष्ट्र के उद्योगों को शक्तिशाली, सुसंगठित एवं पर्याप्त बनाना आवश्यक है।

(२) **साधनों का उचित एवं विवेकपूर्ण उपयोग** (Proper and Rational Utilization of Resources)—आयोजन द्वारा ऐसी व्यवस्था का संगठन किया जाय कि राष्ट्र के साधनों-वर्तमान तथा सम्भावित—का उचित एवं विवेकपूर्ण प्रयोग किया जा सके। जब तक राष्ट्र के साधनों का सुनिश्चित उद्देश्यों के आधार

पर उपयोग नहीं किया जाता आयोजन को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। एक ओर सम्भावी साधनों का उपयोग किया जाय तथा दूसरी ओर वर्तमान उत्पादन के साधनों के उपयोग में आवश्यक समायोजन किया जाय, ताकि इनका उपयोग उत्पादन के उस क्षेत्र से हटा कर जिसको आयोजन अधिकारी ने महत्व नहीं दिया है ऐसे क्षेत्र मे किया जाय जिन्हे आयोजन कार्यक्रमो मे स्थान प्राप्त है। साधनों की कमी होने पर उनका उपयोग विवेकपूर्ण होना चाहिए अर्थात उनके द्वारा उत्पादन के साधनो को बढ़ावा देने, पूंजी निर्माण करने और आयोजन बढाने मे सहायता मिलनी चाहिए। साथ ही साथ उत्पादन के साधनों को उपभोग के क्षेत्र से हटा कर विनियोजन के क्षेत्र मे लाना आवश्यक होता है।

(३) सामाजिक न्याय और सुरक्षा (Social and Rational Security)—आयोजन द्वारा सामाजिक हित को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। साम्यवादी आयोजन मे व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित के सर्वथा आधीन कर दिया जाता है। परन्तु प्रजातान्त्रिक नियोजन मे सामाजिक तथा व्यक्तिगत हित मे सामजस्य स्थापित किया जाता है। सामाजिक हित के लिए आर्थिक समानता का उचित आयोजन किया जाना चाहिए। आय की समानता तथा अवसर की समानता इसके दो महत्वपूर्ण अग हैं। पूर्ण रोजगार का प्रबन्ध करना भी नितान्त आवश्यक है। जब तक राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यतानुसार कार्य करके जीविकोपार्जन करने का अवसर नहीं मिलता तब तक आर्थिक समानता के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती हैं। सामाजिक हित के लिए जनसमुदाय के स्वास्थ्य, शिक्षा, गृह आदि का भी उचित आयोजन होना आवश्यक है।

(४) सामान्य जनता के जीवन-स्तर में वृद्धि (Raising of Standard of Living)—उत्पादन की वृद्धि के साथ जनता मे अधिक उपभोग की प्रवृत्ति जाग्रत करना भी आवश्यक है। जीवन-स्तर मे वृद्धि हेतु उपभोग मे वृद्धि की जानी चाहिए। इसके लिए सर्वसाधारण की वास्तविक आय मे वृद्धि आवश्यक है, साथ ही उपभोग्य वस्तुओं को पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध कराना अनिवार्य हो जाता है। आयोजन का प्रत्येक कार्यक्रम जीवन-स्तर मे वास्तविक वृद्धि करने के लिए सहायक होना चाहिए।

आयोजन की व्यवस्था के लिए कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं बनाये जा सकते हैं, क्योंकि इस व्यवस्था का ढाचा बहुत कुछ राष्ट्र की राजनीतिक तथा सामाजिक रूपरेखा पर निर्भर होता है। प्रजातान्त्रिक ढाचे की उपस्थिति मे शक्तियों की विकेन्द्रीयकरण के आधार पर नियोजन की व्यवस्था की जाती है। दूसरी ओर साम्यवादी राष्ट्रों में नियोजन अधिकारी के हाथ मे शक्तियो का केन्द्रीयकरण होता है। इसके अतिरिक्त आयोजन कैसे और किसके द्वारा सचालित किया जाय, यह राष्ट्र की औद्योगिक तथा आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर होता है। उद्योग के क्षेत्र मे विकसित राष्ट्रों मे अधिक उत्पादन पर नियन्त्रण रखने, उपभोग मे वृद्धि तथा

विदेशी व्यापार की उन्नति के आधार पर नियोजन की व्यवस्था की जाती है। अर्द्धविकसित तथा अविकसित राष्ट्रों में नियोजन की व्यवस्था निश्चित करने के लिए अधिक उत्पादन तथा उचित वितरण को विशेष स्थान दिया जाता है।

भारतीय योजनाओं में ये सिद्धांत कहां तक अपनाये गये हैं :—

१५ अगस्त १९४७ को भारत ने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त की और २६ जनवरी १९५० से भारत में एक प्रजातंत्रीय संविधान लागू हुआ। इस संविधान के अन्तर्गत घोषित किया गया कि "राज्य एक ऐसी समाज-व्यवस्था को यथासम्भव प्रभावशाली ढंग से स्थापित और रक्षित करके जनता के कल्याण को बढ़ाएगा जिसमें राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं में व्याप्त होगा।" यही नहीं, "राज्य विशेष रूप से निम्न उद्देश्य प्राप्त करने के लिए अपनी नीति का संचालन करेगा—

(क) नागरिकों, पुरुषों और स्त्रियों को समान रूप से आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो।

(ख) समाज के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियंत्रण का इस प्रकार विभाजन हो जिससे सभी का सर्वाधिक भला हो।

(ग) आर्थिक प्रणाली के संचालन के परिणामस्वरूप धन और उत्पादन के साधनों के संकेन्द्रण से जनता का अहित न हो।"

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से भारत के योजनाबद्ध विकास के सामने दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं—प्रजातंत्रीय साधनों द्वारा शीघ्रता से बढ़ने वाली और औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील अर्थव्यवस्था की स्थापना करना और न्याय पर आधारित एक ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण करना जिसमें प्रत्येक नागरिक को समान अवसर प्राप्त हों। इस प्रकार भारत ने आर्थिक नियोजन के क्षेत्र में दो क्षितिजों को मिलाने का प्रयत्न किया है—समाजवाद और प्रजातंत्र, तथा इस दृष्टि से भारतीय नियोजन योजनाबद्ध विकास के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व प्रयोग है और जिसकी सफलता एक नये इतिहास का निर्माण करेगी।

संविधान के लागू होने के तुरन्त बाद ही भारत सरकार ने योजना आयोग की स्थापना की। राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर विकास परिषदों की भी स्थापना हुई। सन् १९५१–५२ से सन् १९५५–५६ तक और सन् १९५६–५७ से १९६०–६१ तक हमारे यहां क्रमश: पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनायें क्रियान्वित की जा चुकी हैं। अभी हम तीसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में हैं। इन दो योजनाओं ने देश के आर्थिक और सामाजिक कलेवर को काफी बदल दिया है। आर्थिक नियोजन के पहले दस वर्षों में राष्ट्रीय आय और कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में सराहनीय वृद्धि हुई है। इस अवधि में राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का अपेक्षाकृत तेज गति से विकास हुआ है। प्रथम पंचवर्षीय योजना का मूलभूत उद्देश्य तेज गति से भावी आर्थिक

एक औद्योगिक विकास की सुदृढ नींव की स्थापना करना था। इसी उद्देश्य से नदी घाटी विकास योजनाओं, बहु-उद्देश्यी योजनाओं, भूमि सुधार, सिंचाई एवं शक्ति का विकास, सहकारी आन्दोलन, सामुदायिक विकास और औद्योगिक उन्नति के कार्यक्रम अपनाये गये। दूसरी पंचवर्षीय योजना में न केवल चालू योजनायें पूरी की गईं, वरन् औद्योगिक विकास को भी अत्यन्त महत्व दिया गया। राष्ट्र के आर्थिक नव-निर्माण में सार्वजनिक क्षेत्र को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। रोजगार की सुविधायें बढ़ाने, आय और धन की विषमताओं को कम करने और आर्थिक साधनों को कुछ लोगों के हाथों में जाने से रोकने पर अधिक जोर दिया गया था। वास्तव में इन दो योजनाओं में देश ने काफी तरक्की की। राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में, "आर्थिक आयोजन के इन दस वर्षों में हमने जितनी प्रगति की है, वह सम्भवत: आयोजन के पूर्व ५० वर्षों में भी नहीं की थी और अधिक तेज गति से आर्थिक विकास के लिये हमें इससे प्रेरणा लेनी चाहिए।"

इन दो योजनाओं में १०,११० करोड़ रुपये का विनियोग किया गया, जिसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में, ६,७५० करोड रुपये विनियोग हुए। परिणामस्वरूप भारत की राष्ट्रीय आय में ४२ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय में २० प्रतिशत वृद्धि हुई। कृषि उत्पादन में ४० प्रतिशत और औद्योगिक उत्पादन में ६४ प्रतिशत वृद्धि हुई है। समाज-सेवाओं में भी पर्याप्त विस्तार हुआ है और स्कूल और अस्पताल लगभग दुगुने हो गये हैं।

एक अप्रैल, १९६१ से तीसरी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई है। देश के आर्थिक विकास में तीसरी पंचवर्षीय योजना का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके मुख्य उद्देश्य ये हैं :—

१. अगले पांच वर्षों में राष्ट्रीय आय में ५ प्रतिशत से अधिक वृद्धि करना और इस हिसाब से देश के विकास में रुपया लगाना, जिससे आगे भी वृद्धि का यही क्रम जारी रहे।

२. अनाज की पैदावार में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना और कच्चे माल की उपज को इतना बढ़ाना कि उससे हमारे उद्योगों की जरूरतें भी पूरी हों और निर्यात भी हो।

३. इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन आदि बुनियादी उद्योगों को बढ़ाना और मशीन बनाने के कारखाने कायम करना, जिससे १० वर्ष के अन्दर अपने देश के औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक मशीनें देश में ही बनाई जा सकें।

४. देश की जन या श्रम-शक्ति का पूरा उपयोग करना और लोगों को रोजगार के अधिक जरिये देना। तथा

५. धन और आय की विषमता को घटाना और सम्पत्ति का अधिक न्यायोचित वितरण करना जिससे कि समाज का ढांचा समाजवादी ढंग का हो सके जिससे सब लोगों को उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिले।

एवं औद्योगिक विकास की सुदृढ़ नींव की स्थापना करना था। इसी उद्देश्य से नदी घाटी विकास योजनाओं, बहु-उद्देशी योजनाओं, भूमि सुधार, सिंचाई एवं शक्ति का विकास, सहकारी आन्दोलन, सामुदायिक विकास और औद्योगिक उन्नति के कार्यक्रम अपनाये गये। दूसरी पंचवर्षीय योजना में न केवल चालू योजनायें पूरी की गईं, वरन् औद्योगिक विकास को भी अत्यन्त महत्व दिया गया। राष्ट्र के आर्थिक नव-निर्माण में सार्वजनिक क्षेत्र को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। रोजगार की सुविधायें बढ़ाने, आय और धन की विषमताओं को कम करने और आर्थिक साधनों को कुछ लोगों के हाथों में जाने से रोकने पर अधिक जोर दिया गया था। वास्तव में इन दो योजनाओं में देश ने काफी तरक्की की। राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में, "आर्थिक आयोजन के इन दस वर्षों में हमने जितनी प्रगति की है, वह सम्भवतः आयोजन के पूर्व ५० वर्षों में भी नहीं की थी और अधिक तेज गति से आर्थिक विकास के लिये हमें इससे प्रेरणा लेनी चाहिए।"

इन दो योजनाओं में १०,११० करोड़ रुपये का विनियोग किया गया, जिसमें से सार्वजनिक क्षेत्र में, ६,७५० करोड़ रुपये विनियोग हुए। परिणामस्वरूप भारत की राष्ट्रीय आय में ४२ प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय में २० प्रतिशत वृद्धि हुई। कृषि उत्पादन में ४० प्रतिशत और औद्योगिक उत्पादन में ९४ प्रतिशत वृद्धि हुई है। समाज-सेवाओं में भी पर्याप्त विस्तार हुआ है और स्कूल और अस्पताल लगभग दुगुने हो गये हैं।

एक अप्रैल, १९६१ से तीसरी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई है। देश के आर्थिक विकास में तीसरी पंचवर्षीय योजना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके मुख्य उद्देश्य ये हैं :—

१. अगले पांच वर्षों में राष्ट्रीय आय में ५ प्रतिशत से अधिक वृद्धि करना और इस हिसाब से देश के विकास में रुपया लगाना, जिससे आगे भी वृद्धि का यही क्रम जारी रहे।

२. अनाज की पैदावार में आत्म-निर्भरता प्राप्त करना और कच्चे माल की उपज को इतना बढ़ाना कि उससे हमारे उद्योगों की जरूरतें भी पूरी हों और निर्यात भी हो।

३. इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन आदि बुनियादी उद्योगों को बढ़ाना और मशीन बनाने के कारखाने कायम करना, जिससे १० वर्ष के अन्दर अपने देश के औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक मशीनें देश में ही बनाई जा सकें।

४. देश की जन या श्रम-शक्ति का पूरा उपयोग करना और लोगों को रोजगार के अधिक जरिये देना। तथा

५. धन और आय की विषमता को घटाना और सम्पत्ति का अधिक न्यायोचित वितरण करना जिससे कि समाज का ढांचा समाजवादी ढंग का हो सके, जिससे सब लोगों को उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिले।

तृतीय योजना का मुख्य उद्देश्य यह भी है कि देश में विकास का ऐसा क्रम चालू हो जाय जो अपने आप चलता रहे। ऐसे स्वयं स्फूर्त विकास का अर्थ यह है कि देश के लोग इतना धन बचाते व लगाते रहें जिससे राष्ट्र की सम्पत्ति निरन्तर बढ़ती जाय।

भौतिक लक्ष्य—

उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि आगामी पांच वर्षों में देश की अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में कुछ नियत विकास अवश्य हो जाना चाहिये। तृतीय योजना के भौतिक लक्ष्यों का निर्धारण इस न्यूनतम आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही किया गया है। ऐसा अनुमान है कि अगले पांच वर्षों में कुल राष्ट्रीय आय ३० प्रतिशत और प्रति व्यक्ति आय लगभग १७ प्रतिशत बढ़ जायेगी। नीचे दी हुई तालिका से आगामी पांच वर्षों में होने वाली प्रगति का आभास मिल जाता है।

प्रमुख लक्ष्य

मद	इकाई	१९६०-६१	१९६५-६६	वृद्धि की प्रतिशत
१. कृषि उत्पादन का सूचनांक	१९४९-५०=१००	१३५	१७६	३०
२. खाद्यान्नों का उत्पादन	मिलियन	७६	१००	३२
३. औद्योगिक उत्पादन का सूचनांक	१९५०-५१=१००	१९४	३२९	७०
४. उत्पादन				
इस्पात के ढोके	मिलियन टन	३·५	९·२	१६३
मशीन के पुर्जे	करोड़े रुपयों में	५·५	३०·२	२४५
कपड़ा	मिलियन गज	७,४७६	९,३००	२४
५. शक्ति (क्षमता)	मिलियन किलोवाट	५·७	१२·७	१२३
६. निर्यात	करोड़ रुपये	६४५	८५०	३२
७ शिपिंग टनेज	लाख G. R. T.	९·०	१०·९	२१

निम्नलिखित विवरण से भारतीय अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले कार्यक्रमों का अनुमान लगाया जा सकता है :—

तृतीय योजना में कृषि—

तृतीय योजना में कृषि के विकास को प्राथमिकता दी गई है। अनाज में आत्म-निर्भरता तथा निर्यात के लिये कच्चे माल की पैदावार बढ़ाना तृतीय योजना का मुख्य उद्देश्य है। *तृतीय योजना के अन्तर्गत कृषि, सिंचाई तथा सामुदायिक* विकास पर कुल मिलाकर १,७१८ करोड़ रुपया व्यय किया जायगा। द्वितीय योजना ने यह राशि केवल ६५० करोड़ रु० थी। इस व्यय से ऐसी आशा है कि कृषि उत्पादन में विकास की गति लगभग दुगुनी हो जायगी। खाद्यान्नों का उत्पादन ३० प्रतिशत एवं अन्य फसलों का ३१ प्रतिशत बढ़ने की आशा है कि कृषि क्षेत्र का एक प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण जन-शक्ति का पूर्णतम उपयोग करना है। यह कार्य विविध कार्यक्रमों द्वारा पूरा किया जायेगा, जैसे सिंचाई की वृहद् योजनाएं, भूमि संरक्षण, शुष्क कृषि, स्थानीय खाद्य पदार्थों की वृद्धि, सहकारी कृषि आदि। अक्टूबर सन् १९६३ तक देश के सभी गांवों में सामुदायिक विकास का कार्य चल पड़ेगा। सहकारी संगठन भी बढ़ाया जायेगा और कृषि के लिये सहकारी समितियों द्वारा अधिक ऋण दिलवाये जायेंगे।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में पूंजीगत उद्योगों के विकास पर बहुत अधिक बल दिया गया है, *विशेषतः ऐसे उद्योग जो उपभोक्ता उद्योगों में प्रयोग की जाने वाली* विशाल मशीनों का निर्माण करें। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र को अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग दिया है, किन्तु साथ २ ऐसी भी आशा की गई है कि निजि क्षेत्र भी योजना द्वारा नियत कलेवर के अन्तर्गत अपना सक्रिय भाग अदा करेगा। उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन का विकास मुख्यत निजी क्षेत्र में ही होगा। सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत मुख्यतः निम्न उद्योगों के विकास पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जायगा—मैटरलर्जी, औद्योगिक मशीनरी मशीन टूल्स, रासायनिक खाद, आधारभूत रसायन, मुख्य दवाइयां तथा पैट्रोल शोधन। लौह एवं इस्पात उद्योग के अन्तर्गत विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति राजकीय क्षेत्र के तीन विशाल कारखानों—राउरकेला, भिलाई व दुर्गापुर की उत्पादन क्षमता ५.८ मिलियन तक बढ़ाकर तथा बोकारो में एक चौथा इस्पात का कारखाना स्थापित करके पूरी की जायगी। तृतीय योजना अवधि में मशीनरी तथा इन्जीनियरिंग उद्योगों के विकास पर विशेष बल दिया जा रहा है। रांची में एक भारी मशीनरी का प्लान्ट स्थापित किया जा रहा है, जिसके पूर्ण होने पर यह आशा है कि देश भविष्य में विदेशों से अधिक मात्रा में भारी मशीनरी नहीं मंगायेगा। तृतीय योजना अवधि में ऑटोमोबाइल उद्योग के लक्ष्य ३०,००० कार तथा ६०,००० अन्य वाणिज्यिक वाहनों के निर्माण के हैं। तृतीय योजना में सम्मिलित अन्य औद्योगिक कार्यक्रमों में निम्न के नाम उल्लेखनीय है—*गनानमनगर में सिंथेटिक ड्रग्स का कारखाना, ऋषिकेश के निकट* एन्टीबायोटिक प्लान्ट की स्थापना तथा केरल में फीरो केमिकल के कारखाने की

की पूर्ति (ब) गाँव के निकटतम मुख्य सड़क या रेलवे स्टेशन से मिलने के लिये सड़कों का निर्माण और (स) गाँव के स्कूल के भवन का निर्माण, जो सामुदायिक केन्द्र और पुस्तकालय का भी कार्य करेगा।

तृतीय योजना का व्यय—

ऊपर जिन मदों का उल्लेख किया गया है, उनको पूरा करने के लिए तृतीय योजना की अवधि में ११,६०० करोड़ रुपये व्यय होंगे। इसमें चालू खर्च की राशि के १,२०० करोड़ भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार तृतीय योजना में कुल विनियोजन १०,४०० करोड़ होगा, जिसमें से सार्वजनिक क्षेत्र का भाग ६,३०० करोड़ रुपये और निजि क्षेत्र का भाग ४,१०० करोड़ का है। निम्न तालिका में यह स्पष्ट है कि सार्वजनिक क्षेत्र में ७,५०० करोड़ रुपये किन-किन मुख्य मदों पर व्यय किया जायगा।

सार्वजनिक क्षेत्र में खर्च का ब्यौरा

	विवरण	कुल विनियोग	योग का प्रतिशत
१.	खेती और सामुदायिक विकास	२,०६८	१४
२.	सिंचाई के बड़े और मध्यम काम	६०५	९
३.	बिजली	१,०१२	१३
४.	ग्रामोद्योग एवं छोटे उद्योग	२६४	४
५.	बड़े उद्योग एवं खनिज	१,५२०	२०
६	यातायात और संचार	१,४८६	२०
७.	सामाजिक सेवा आदि	१,३००	१७
८	कच्चा और अर्ध तैयार माल (Inventories)	२००	३
	योग	७,५००	१००

वित्तीय साधन—

सार्वजनिक क्षेत्र की योजनाओं के लिये जो वित्त व्यवस्था की गई है सारिणी में दी जा रही है :—

वित्तीय साधन

मद	कुल राशि
१. अतिरिक्त कर, जिनमें सार्वजनिक उद्योगों में अधिक बचत करने के लिये किये जाने वाले उपाय भी सम्मिलित हैं	१,७१०

२. वर्तमान राजस्व से बची हुई राशि (अतिरिक्त करों को छोड़कर)	५५०
३. रेल से प्राप्ति	१००
४. अन्य सार्वजनिक उद्योगों से बचत	४५०
५. जनता से ऋण (शुद्ध)	८००
६. छोटी बचतें व प्राविडेंट फण्ड (शुद्ध)	८६५
७. विविध पूंजीगत प्राप्तियाँ	२७५
८. घाटे की अर्थ-व्यवस्था	५५०
९. विदेशी सहायता के रूप में बजट में दिखाई गई राशि	२,२००
कुल योग	७,५००

तृतीय योजना अवधि में १०,४०० करोड़ रु० का कुल विनियोजन किया गया है. यह द्वितीय योजना में किये गये विनियोजन की अपेक्षा ३४१० अधिक है। प्रथम योजना मे यह राशि ३,३६० करोड़ रु० और द्वितीय योजना में ६,७५० करोड़ रु० थी। उपरोक्त आंकड़ों के एकमात्र अवलोकन से एक बात स्पष्ट है कि समस्त वित्तीय साधनों में अतिरिक्त करारोपण सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग अदा करेगा, क्योंकि इसके द्वारा १,७१० करोड़ रु० की प्राप्ति की आशा है। दूसरा महत्वपूर्ण वित्तीय साधन है विदेशी सहायता। विश्व के अविकसित भागों के विकास के लिए मिल-जुल कर सहायता देने की दशा में यह एक साहसपूर्ण पग है। मित्र देशों की इस सह-भावनापूर्ण प्रकृति को देखते हुए, हमें भी अपने आंतरिक साधन जुटाने के लिए अत्यधिक प्रयास करने की आवश्यकता है। साथ ही बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि उपलब्ध सहायता का अर्थ-व्यवस्था के सर्वाधिक हित में उपयोग किया जाय। जहां तक आंतरिक व विदेशी साधनों का प्रश्न है, हमें उत्पादन और बचत में निरन्तर वृद्धि करनी होगी, योजना की सफलता के लिए यह अत्यधिक आवश्यक है। तृतीय योजना में वित्तीय साधनों का एक महत्वपूर्ण लक्षण घाटे की अर्थ-व्यवस्था पर अपेक्षाकृत कम निर्भरता है। घाटे राजस्व से प्राप्त राशि केवल ५५० करोड़ रु० है, जबकि द्वितीय योजना में राशि १,२०० करोड़ थी। यह कमी वास्तव में अनिवार्य थी।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—

यद्यपि देश के विभिन्न भागों में तृतीय योजना का सहृदयता के साथ स्वागत किया गया है, किन्तु फिर भी देश में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो इसको 'जन-योजना' नहीं वरन् नेहरू की योजना कहते हैं। लोगों के मतानुसार तृतीय योजना अति

महत्वाकांक्षी एवं दूरदर्शिता से परे है। इससे गरीबी व बेरोजगारी का निवारण असम्भव है। इकनामिक टाइम्स के अनुसार 'योजना में ऐसी कोई चीज नहीं है, जिससे कि राष्ट्र परिचित न हो, इसमें जन-समाज के लिए समृद्धि व खुशहाली का कोई संदेश नहीं है।' कुछ लोगों ने तो यहां तक आलोचना की है कि 'तृतीय योजना देशवासियों के रहन-सहन के स्तर की वृद्धि के लिए नहीं बनाई गई है, वरन् यह तो एक प्रकार का 'इलेक्शन मैनिफैस्टो' है। योजना के अन्तर्गत अतिरिक्त करारोपण से गरीब जनता और भी दब जायेगी। इसी प्रकार विदेशी सहायता के न मिलने पर हमारे अनेक कार्यक्रम भी खटाई में पड़ सकते हैं। घाटे का आरम्भ भी दूरदर्शिता की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार की आलोचनायें करने वालों में श्री राजगोपालाचार्य, प्रो० एन० जी० रंगा, आचार्य कृपलानी, अशोक मेहता, अटल बिहारी वाजपेयी आदि हैं। उपरोक्त तथ्यों में भले ही कुछ सत्यता हो, किन्तु इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि तृतीय योजना पूर्णतया जनतन्त्र एवं समाजवाद के सिद्धान्तों पर आधारित है। यह वास्तव में नेहरू अथवा कांग्रेस पार्टी का ही नहीं वरन् ४४ करोड़ लोगों को देखते हुए बनाई गई है। देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को देखकर कोई भी विवेकशील व्यक्ति, 'अधिक महत्वाकांक्षी' नहीं कह सकते। स्वयं स्फूर्ति विकास, जो तृतीय योजना का एक मुख्य उद्देश्य है, तभी हो सकता है, जब कृषि और उद्योग दोनों की समुचित उन्नति हो। यही कारण है कि तृतीय योजना में कृषि व उद्योगों के विकास को प्राथमिकता दी गई है। तृतीय योजना की समाप्ति पर औद्योगिक उत्पादन का सामान्य सूचनांक, जो प्रगति का परम्परागत सूचक रहा है ३२९ तक पहुँच जायगा (आधार वर्ष १९५०–५१ = १००) जबकि द्वितीय-योजना की समाप्ति पर वह १९४ और प्रथम योजना की समाप्ति पर १३९ था। विकास कार्यों की अपेक्षित गति को देखते हुए योजना के अन्तर्गत लगाये हुए करों के भार को असहनीय नहीं कहा जा सकता। अप्रत्यक्ष करों और वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने में निश्चय ही लागत और मूल्य दोनों बढ़ेंगे किन्तु यह एक त्याग है जो करना ही पड़ेगा।

उपसंहार—

घाटे की अर्थ-व्यवस्था के आधार पर जो भी योजना बनाई जायेगी, उसमें मुद्रा स्फीति को बल मिलेगा, जिसके फलस्वरूप मूल्य वृद्धि होना स्वाभाविक है। आज जनता ने यह अनुभव कर लिया है कि इतने बड़े राष्ट्र के लिए जिसकी जन-संख्या बढ़कर ४८ करोड़ हो गई है छोटी-मोटी योजना से काम नहीं चल सकेगा। इसके अतिरिक्त चीन व पाकिस्तान की आक्रामक कार्यवाहियों ने भारत की आँखें खोल दी हैं और आज हम सब इस बात का अनुभव करने लगे हैं कि इन देशों से लोहा लेने के लिए राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होना अनिवार्य है। अन्त में यह लिखना अनावश्यक न होगा कि आयोजन की सफलता के लिए बलिदान की आवश्यकता है। बलिदान तभी होगा जब इच्छा होगी और इच्छा तभी जाग्रत होगी,

जब सहयोग की भावना होगी। अतएव जनता के इच्छापूर्वक सहयोग की प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्न किये जाने चाहिए।

Q. Explain the term 'Self Generating' Economy. How far, do you think it a guiding concept in the economic planning of India ?

प्रश्न—स्वयं-स्फूर्त अर्थव्यवस्था के आशय को समझाइये। क्या आप इसे भारतीय आर्थिक आयोजन के लिये मार्गदर्शक विचार समझते है ?

उत्तर—स्वयं स्फूर्त अवस्था (Take off Stage)—आर्थिक विकास एक ऐसी विधि है जो कि दीर्घकालीन प्रयासों द्वारा उच्चतम सीमा तक पहुँचने के लिये विभिन्न अवस्थाओं से होकर अन्तिम स्वरूप ग्रहण करती है। वास्तव में आर्थिक विकास का अन्तिम स्वरूप निश्चय करना असम्भव है क्योंकि जिन परिस्थितियों को वर्तमान में उच्चतम आर्थिक विकास की संज्ञा दी जा सकती है, भविष्य में वे ही परिस्थितियां सामान्य विकास के लक्षण प्रतीत होने लगती हैं। इस प्रकार आर्थिक विकास एक ऐसी गतिशील अवस्था है जिसके लक्षणों में सदैव परिवर्तन होते रहने के कारण वह कभी पूर्ण नहीं होती। प्रोफेसर रोस्टोव (Rostow) ने आर्थिक विकास की पांच अवस्थाएं निम्न प्रकार बतायी है—

(१) परम्परागत समाज (Traditional Society)

(२) स्वयं-स्फूर्त अवस्था के पूर्व की स्थिति (Pre-conditions for take off stage.)

(३) स्वयं-स्फूर्त विकास अवस्था (Take off stage or self-sustained growth)

(४) परिपक्वता की ओर अग्रसर (Drive to Maturity)

(५) अधिक उपभोग की अवस्था (Age of high mass consumption)

प्रोफेसर रोस्टोव ने उन तिथियों को अंकित किया है, जबकि विभिन्न विकसित राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था में प्रवेश किया। इस सूची में भारत को १९५२ में स्वयं-स्फूर्त विकास अवस्था में प्रविष्ट बताया गया है। परन्तु भारतीय अर्थ शास्त्री इस विचारधारा से सामान्यत: सहमत नहीं है। प्रोफेसर रोस्टोव ने स्वयं-स्फूर्त-विकास (Take off stage) की परिभाषा देते हुए कहा है कि "यह मध्य काल है जिसमें विनियोजन की दर इस प्रकार बढ़ती है कि वास्तविक प्रति इकाई उत्पादन मे वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार प्रारम्भिक विनियोजन वृद्धि से उत्पादन की

तांत्रिकताओं तथा राष्ट्रीय आय के प्रवाह में मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं। इन मौलिक परिवर्तनों के फलस्वरूप नवीन विनियोजन दर तथा नवीन प्रति इकाई उत्पादन दर का निरन्तर प्रादुर्भाव होता रहता है।"

स्वयं स्फूर्त विकास अवस्था में प्रवेश करने के पूर्व प्रत्येक राष्ट्र को कुछ आवश्यक बातों की पूर्ति करनी पड़ती है। राष्ट्र के विकास के लिये एक शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार की स्थापना अत्यन्त आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय सरकार को देश की आर्थिक क्रियाओं में भाग लेना चाहिये तथा जन साधारण में अपने जीवन की उन्नति हेतु सहयोग एवं राष्ट्रीयता की भावनायें जागृत होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त स्वयं-स्फूर्त विकास अवस्था की प्राप्ति के लिये कुछ आर्थिक शर्तों की पूर्ति होना भी आवश्यक है इन आर्थिक शर्तों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

स्वयं स्फूर्त विकास की आवश्यक शर्तें—

राष्ट्रीय उत्पादन एवं आय में जन संख्या की वृद्धि की दर से अधिक वृद्धि होनी चाहिये। भारत में जन संख्या की वृद्धि की वार्षिक दर १.९ से २ प्रतिशत अनुमानित है। इस आधार पर राष्ट्रीय आय में लगभग ५० प्रतिशत वार्षिक वृद्धि करना आवश्यक है। राष्ट्रीय आय में ५० प्रतिशत वार्षिक वृद्धि करने के हेतु राष्ट्रीय आय का लगभग १० प्रतिशत १५ प्रतिशत भाग विनियोजन होना रहना चाहिये। विनियोजन की दर में वृद्धि यथासम्भव आन्तरिक साधनों से होनी चाहिये अर्थात् राष्ट्रीय बचत में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिये।

(२) कृषि क्षेत्र की उत्पादकता में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिये जिससे बढ़ती हुई जनसंख्या को खाद्य एवं उपभोग सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सके, देश के उद्योगों के लिये कच्चा माल उपलब्ध हो सके तथा कृषि उत्पादन का निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सके। इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु भारत को कृषि को तीव्र गति से विकसित करना आवश्यक है।

(३) स्वयं स्फूर्त विकास-अवस्था की प्राप्ति हेतु अर्थ व्यवस्था के निर्यात क्षेत्र को शक्तिशाली बनाना अत्यन्त आवश्यक है। देश के शीघ्र औद्योगीकरण के लिये प्रारम्भिक काल में विदेशी मुद्रा की अत्यधिक आवश्यकता होती है। जब तक इस विदेशी मुद्रा की पूर्ति विदेशी सहायता से बड़ी मात्रा में की जाती रहेगी अर्थ-व्यवस्था को स्वयं स्फूर्त विकास अवस्था में प्रविष्ट नहीं समझा जा सकता। विदेशी मुद्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति राष्ट्रीय साधनों द्वारा करने के लिये निर्यात में वृद्धि तथा आयात को सीमित करना आवश्यक होता है।

(४) देश में आधारभूत एवं पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों की स्थापना एवं विकास करना स्वयं स्फूर्त विकास के लिये आवश्यक है। इन उद्योगों के विकास

तान्त्रिकताओं तथा राष्ट्रीय आय के प्रवाह मे मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं। इन मौलिक परिवर्तनों के फलस्वरूप नवीन विनियोजन दर तथा नवीन प्रति इकाई उत्पादन दर का निरन्तर प्रादुर्भाव होता रहता है।"

स्वय स्फूर्त विकास अवस्था मे प्रवेश करने के पूर्व प्रत्येक राष्ट्र को कुछ आवश्यक बातो की पूर्ति करनी पडती है। राष्ट्र के विकास के लिये एक शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार की स्थापना अत्यन्त आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय सरकार को देश की आर्थिक क्रियाओ मे भाग लेना चाहिये तथा जन साधारण मे अपने जीवन की उन्नति हेतु सहयोग एव राष्ट्रीयता की भावनायें जाग्रत होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त स्वय-स्फूर्त विकास अवस्था की प्राप्ति के लिये कुछ आर्थिक शर्तों की पूर्ति होना भी आवश्यक है इन आर्थिक शर्तों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

स्वयं स्फूर्त विकास की आवश्यक शर्तें—

राष्ट्रीय उत्पादन एव आय मे जन सख्या की वृद्धि की दर से अधिक वृद्धि होनी चाहिये। भारत मे जन सख्या की वृद्धि की वार्षिक दर १.६ से २ प्रतिशत अनुमानित है। इस आधार पर राष्ट्रीय आय मे लगभग ५० प्रतिशत वार्षिक वृद्धि करना आवश्यक है। राष्ट्रीय आय मे ५० प्रतिशत वार्षिक वृद्धि करने के हेतु राष्ट्रीय आय का लगभग १० प्रतिशत १५ प्रतिशत भाग विनियोजन होता रहना चाहिये। विनियोजन की दर मे वृद्धि यथासम्भव आन्तरिक साधनों मे होनी चाहिये अर्थात् राष्ट्रीय बचत मे पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिये।

(२) कृषि क्षेत्र की उत्पादकता मे पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिये जिससे बढ़ती हुई जनसख्या को खाद्य एव उपभोग सामग्री पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो सके, देश के उद्योगों के लिये कच्चा माल उपलब्ध हो सके तथा कृषि उत्पादन का निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सके। इन उद्देश्यो की पूर्ति के हेतु भारत को कृषि को तीव्र गति से विकसित करना आवश्यक है।

(३) स्वयं स्फूर्त विकास-अवस्था की प्राप्ति हेतु अर्थ व्यवस्था के निर्यात क्षेत्र को शक्तिशाली बनाना अत्यन्त आवश्यक है। देश के शीघ्र औद्योगीकरण के लिये प्रारम्भिक काल में विदेशी मुद्रा की अत्याधिक आवश्यकता होती है। जब तक इस विदेशी मुद्रा की पूर्ति विदेशी सहायता से बडी मात्रा मे की जाती रहेगी अर्थ-व्यवस्था को स्वय स्फूर्त विकास अवस्था मे प्रविष्ट नहीं समझा जा सकता। विदेशी मुद्रा की आवश्यकताओ की पूर्ति राष्ट्रीय साधनो द्वारा करने के लिये निर्यात मे वृद्धि तथा आयात को सीमित करना आवश्यक होता है।

(४) देश में आधारभूत एव पूंजीगत वस्तुओ के उद्योगों की स्थापना एव विकास करना स्वयं स्फूर्त विकास के लिये आवश्यक है। इन उद्योगो के विकास

द्वारा ही देश का शीघ्र औद्योगिकरण सम्भव हो सकता है। पूंजीगत वस्तुओं के निरन्तर आयात को रोकने तथा निर्यात में वृद्धि करने हेतु लोहा, इस्पात, रसायन, मशीनों, पूंजीगत वस्तुओं तथा औद्योगिक कच्चे माल की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति बड़ी मात्रा में देश की पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों द्वारा की जा सकें तो ऐसे देश को स्वयं स्फूर्त विकास अवस्था में प्रविष्ट हुआ समझना अनुचित न होगा।

(५) कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र में पर्याप्त विकास हेतु शक्ति एवं यातायात के साधनों का विस्तार एवं विकास अत्यन्त आवश्यक होता है। देश की आर्थिक क्रियाओं की गतिशीलता बहुत कुछ इन दो घटकों पर निर्भर रहती है। भारतीय योजनाओं में इसलिये यातायात एवं शक्ति के साधनों के विस्तार के लिये इतना अधिक महत्व दिया गया है।

(६) उपर्युक्त समस्त घटकों के संचालन एवं प्रबन्ध के लिये मानव की आवश्यकता होगी। मानव में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल ही परिवर्तन करना आवश्यक होगा अन्यथा हमारे विभिन्न कार्यक्रमों की क्रियाशीलता शिथिल रहेगी। देश में प्रशिक्षित लोगों की अत्याधिक आवश्यकता होगी जो कि हमारे नवीन व्यवसायों का कार्य भार संभाल सकें। देश में प्रशिक्षण संस्थायें खोलकर विभिन्न तान्त्रिकताओं में प्रशिक्षित लोगों की पूर्ति में वृद्धि होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त नवीन व्यवसायों के प्रबन्ध एवं संचालन हेतु एक निपुण, उत्साही एवं शक्तिशाली साहसी वर्ग की स्थापना भी आवश्यक है।

(७) स्वयं स्फूर्त विकास की अत्यन्त आवश्यक शर्त मूल्यों के यथोचित स्तर को बनाये रखना है। मूल्यों की अनुचित वृद्धि पर राज्य को सदैव अंकुश रखना चाहिये। मूल्यों की वृद्धि देश की निर्यात योग्यता को कमजोर कर देती है। विदेशी व्यापार के शेष को प्रतिकूल करने में सहायक होती है, आन्तरिक [illegible] की वृद्धि में रुकावट प्रस्तुत करती है। प्रशासन के व्ययों में वृद्धि कर देती है [illegible] क्षेत्रों के विकास को आघात पहुँचाती है। इस प्रकार स्वयं स्फूर्त विकास की अन्य शर्तें बड़ी सीमा तक मूल्यों के स्तर पर निर्भर रहती हैं। यदि मूल्यों को [illegible] तो अन्य घटकों की पूर्ति करना असम्भव होगा।

[illegible] आधुनिक युग में लगभग समस्त अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में [illegible] आर्थिक विकास की तीव्र गति लाने के लिए किया जा रहा है। [illegible] विकास हेतु सरकारी क्षेत्र के व्यवसायों को सुचारु रूप से [illegible] भारी विकास के लिये [illegible] अन्य क्षेत्रों के विकास [illegible]

(६) देश की मानवीय योग्यताओं, शक्तियों एवं साधनों को आर्थिक विकास के लिये उपभोग करना अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक विकास हेतु देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों में मूलभूत परिवर्तन होने चाहिये। राजनीतिज्ञ, सरकारी कर्मचारी, उद्योगपति, श्रमिक तथा कृषक की भावनाओं में परिवर्तन होना चाहिये जिससे वह देश की आर्थिक समस्याओं को विवेकपूर्ण रीति से समझने तथा उनका निवारण करने में रुचि ग्रहण कर सके। देश में यह जागृति उत्पन्न करने हेतु प्रजातान्त्रिक संस्थाओं, उदाहरणार्थ सहकारी संस्थाओं, पंचायतों आदि की स्थापना की जानी चाहिये और इनके द्वारा जन-साधारण में अपना विकास करने हेतु स्वयं प्रयास करने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व भारत में अर्द्ध विकसित व्यवस्था में सुधार करने के लिये कोई ठोस कार्यवाही नहीं की गई। देश की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था परम्परागत विचार धाराओं के आधार पर संगठित थी तथा आधुनिक विकसित परिस्थितियों से भारत की जनता सर्वथा अनभिज्ञ थी। जन-समुदाय का जीवन स्तर अत्यन्त दयनीय था तथा उनकी आधार भूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भी साधन उपलब्ध नहीं थे। राष्ट्रीय आय के केवल ५% भाग का ही विनियोग किया जाता था। प्रथम पंचवर्षीय योजना द्वारा अर्थ-व्यवस्था में आवश्यक समायोजन किये गये, जिससे भावी आर्थिक विकास के हेतु सुदृढ़ पृष्ठ भूमि उपलब्ध हो सके। प्रथम योजना के प्रारम्भ में ही इस बात का ध्यान रखा गया कि योजना का उद्देश्य केवल उत्पादन को बढ़ाना तथा देश की आर्थिक स्थिति को सुधारना ही नहीं है, बल्कि स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र पर आधारित ऐसी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की रचना करना है जिसमें "सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं को अनुप्राणित करे।"

देश को द्वितीय महायुद्ध एवं विभाजन से जो क्षति पहुँची थी प्रथम योजना में उसकी पूर्ति करने तथा आर्थिक व्यवस्था की आधार शिलायें सुदृढ़ करने के प्रयास किये गये एवं संविधान में प्रदत्त नीति निर्देशक तत्वों के अनुसार सामाजिक और आर्थिक नीति का भी निर्धारण हुआ। सामुदायिक विकास योजना तथा भूमि सुधार प्रथम योजना के विशेष कार्यक्रम थे।

द्वितीय योजना में प्रथम योजना की ही नीतियों को अक्षुण्ण रखते हुए उत्पादन वृद्धि, विकास कार्यों में अधिक विनियोजन तथा जनसमुदाय को अधिक रोजगार के अवसर प्रदान करने के प्रयत्न किये गये। इस योजना में अधिक उन्नति की गति को तीव्र करने पर आधारित उद्योगों की स्थापना पर, रोजगार अवसरों की वृद्धि करने पर, आय व धन की विषमताओं को कम करने पर तथा आर्थिक शक्ति को कतिपय हाथों में केन्द्रित होने से रोकने पर जोर दिया गया। प्रथम योजना में राष्ट्रीय आय में ३$\frac{1}{2}$% प्रतिवर्ष तथा द्वितीय योजना में ४% प्रतिवर्ष वृद्धि हुई। द्वितीय योजना द्वारा भारतीय अर्थ-व्यवस्था को औद्योगिक आधार प्रदान

[illegible] [illegible] आत्मविश्वास उत्पन्न करने वाले [illegible] एवं [illegible] आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान करने वाले अधिकारियों की [illegible] की [illegible] निवारण करने की क्षमता पर [illegible] [illegible] सामाजिक पूंजी कहा जाता है। देश के आर्थिक विकास के [illegible] [illegible] में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार आवश्यकता होनी चाहिए। जब तक सामाजिक [illegible] की ओर पर्याप्त प्रगति नहीं होगी, तब तक आर्थिक विकास की किसी भी दशा को स्वयं स्फूर्त विकास व्यवस्था कहना अनुचित होगा। राष्ट्रीय [illegible], राष्ट्रीय भावना एवं नियोजन के प्रति जागरूकता की [illegible] में आर्थिक विकास को सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

द्वितीय योजना द्वारा उपयुक्त परिस्थितियों को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है जिससे स्वयं स्फूर्त अवस्था की प्राप्ति हेतु आवश्यक वातावरण एवं परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकें। तृतीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था को स्वयं स्फूर्त अवस्था तक पहुँचाना है। सत्य तो यह है कि स्वयं स्फूर्त अवस्था की प्राप्ति हेतु बचत एवं आयोजन में इतनी वृद्धि करना आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय में निरन्तर तीव्र गति से वृद्धि होती रहे। इस अवस्था की प्राप्ति हेतु राष्ट्र में विनियोजन विशाल स्तर पर होना चाहिये तथा विशाल स्तर के आयोजन कार्यक्रमों के संचालनार्थ पूंजीगत वस्तुओं एवं सामग्री की उत्पादन क्षमता में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिये। तृतीय योजना में आयोजन के कार्यक्रम एवं प्रकार निश्चित करते समय इस बात को दृष्टिगत किया गया है।

स्वयं स्फूर्त अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जबकि उद्योगों एवं कृषि का संतुलित विकास किया जाय। आय एवं रोजगार की वृद्धि हेतु औद्योगीकरण के कार्यक्रमों को प्राथमिकता प्रदान की जाय। दूसरी ओर औद्योगिक विकास तभी सम्भव हो सकता है जबकि कृषि का विकास करके कृषि उत्पादन क्षमता में प्रशंसनीय वृद्धि की जाय। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इसलिए देश की पूंजीगत सामग्री एवं खाद्य तथा कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करने पर जोर दिया गया है।

भारत जैसे राष्ट्र में जहाँ जन शक्ति का पूर्ण उपयोग न होता हो, रोजगार—अवसरों की पर्याप्त वृद्धि द्वारा ही विकास को सरल बनाया जा सकता है। तृतीय योजना में इसीलिए रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने पर विशेष जोर दिया गया है।

तृतीय योजना के उद्देश्य :—

तृतीय योजना के कार्यक्रम निम्नांकित मुख्य उद्देश्यों पर आधारित हैं :—

(१) तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में राष्ट्रीय आय में ५% से अधिक वृद्धि करना तथा इस प्रकार आयोजन करना कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर का क्रम आगामी योजनाओं में भी चालू रहे।

(२) अनाज के उत्पादन में आत्म निर्भरता प्राप्त करना तथा कृषि उत्पादन में इतनी वृद्धि करना कि देश के उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ इनका आवश्यकतानुसार आयात भी किया जा सके।

(३) इस्पात, रसायन उद्योग, शक्ति, ईंधन आदि आधार भूत उद्योगों का विस्तार एवं मशीन निर्माण करने वाले कारखानों की स्थापना करना जिससे १० वर्ष के अन्दर देश के औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक यन्त्र आदि की आवश्यकता देश के साधनों से की जा सके।

(४) देश की श्रम शक्ति का यथासम्भव पूर्णतम उपयोग करना तथा रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि करना।

(५) अवसर की अधिक समानता की स्थापना करना तथा धन एवं आय की विषमताओं में कमी करना तथा आर्थिक शक्ति का अधिक न्यायोचित वितरण करना।

तृतीय योजना काल को उन दस वर्षों का प्रथम चरण समझना चाहिये जिसमें विकास की गति इतनी तीव्र होगी कि अर्थ-व्यवस्था स्वयं स्फूर्त विकास अवस्था में प्रविष्ट कर सके। प्रथम एवं द्वितीय योजना द्वारा तीव्र आर्थिक विकास के लिये पृष्ठ भूमि तैयार की गई है और भविष्य की योजनाओं में इस सुदृढ़ पृष्ठ भूमि पर शीघ्र आर्थिक विकास किया जायगा। तृतीय योजना में भी विकास का प्रकार द्वितीय योजना के आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित है। फिर भी तृतीय योजना में कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में तीव्र प्रयास को अधिक स्थान दिया गया है। कृषि अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने, उद्योग, शक्ति एवं यातायात का विकास करने, औद्योगिक एवं तांत्रिक परिवर्तनों को तीव्र गति देना तथा अवसर की समानता एवं समाजवादी समाज की स्थापना की ओर ठोस कार्यवाही करने को तृतीय योजना में विशेष महत्व दिया गया है।

(१) राष्ट्रीय आय में ५% की वृद्धि—तृतीय योजना काल में राष्ट्रीय आय १३,००० करोड़ रु०, (१९६०–६१ में १९५८–५९ के मूल्यों के आधार पर) से बढ़कर १७,००० करोड़ रुपया १९६५–६६ तक हो जायगी। १९६०–६१ की

अनुमानित राष्ट्रीय आय १४,५०० करोड़ रुपया से बढ़कर १९६५–६६ तक १९,००० करोड़ रुपया होने का अनुमान लगाया गया है। यह भी अनुमान लगाया है कि चौथी योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय २५,००० करोड़ रुपया हो जायगी। जनसंख्या की वृद्धि को दृष्टिगत रखते हुए प्रति व्यक्ति आय १९६०–६१ में ३३० रुपया (१९५०–५१ के मूल्यों पर) अनुमानित है जोकि तृतीय योजना के अन्त तक बढ़कर ३८५ रुपया होने का अनुमान है। इस प्रकार तृतीय योजना काल में राष्ट्रीय आय में लगभग ३०% और प्रति व्यक्ति आय में लगभग १७% की वृद्धि होने का अनुमान है। राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय में अनुमानित वृद्धि करने के हेतु तृतीय योजना में १०,४०० करोड़ रुपये का विनियोजन करने का लक्ष्य रखा गया है। विनियोजन की राशि को राष्ट्रीय आय के ९·५% से बढ़ाकर ७७·५% करने का लक्ष्य रखा गया है। यदि तृतीय योजना के इन लक्ष्यों की तुलना हम पिछले दस वर्षों के विकास से करें तो हमें ज्ञात होगा कि पिछले दस वर्षों में १९६०–६१ के मूल्यों के स्तर पर राष्ट्रीय आय की वृद्धि ४२% तथा प्रति व्यक्ति आय की २१% वृद्धि हुई है।

पिछले दस वर्षों की विनियोजन राशि १०,११० करोड़ रुपया थी और इस काल में राष्ट्रीय आय (१९५०–५१) में १०,२४० करोड़ रुपया (१९६०–६१ के मूल्यों पर) से बढ़कर १९६०–६१ में १४५०० करोड़ रुपया होने का अनुमान है अर्थात् इस काल में १०,११० करोड़ रुपये के विनियोजन पर १२६० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है। तृतीय योजना में १०,४०० करोड़ रुपये के विनियोजन पर ४५०० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने का लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में इन आँकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १९५०–५१ से १९६०–६१ तक अर्थ-व्यवस्था की जो प्रगति १० वर्षों में हुई है लगभग उतनी ही प्रगति तृतीय योजना के पाँच वर्षो में प्राप्त करने का लक्ष्य है। उपर्युक्त आँकड़ों से यह भी ज्ञात होता है कि तृतीय योजना में विनियोजन की उत्पादकता में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा।

दूसरी ओर यदि हम तृतीय योजना के राष्ट्रीय आय के लक्ष्यों की तुलना द्वितीय योजना के अनुभवों से करें तो कुछ महत्वपूर्ण बातें हमें ज्ञात होती है। द्वितीय योजना काल में ६७५० करोड़ रुपये के अतिरिक्त विनियोजन पर राष्ट्रीय उत्पादन में २३७० मरोड़ रुपया (१९५५–५६ की राष्ट्रीय आय १२१३० करोड़ रुपया तथा १९६०–६१ की राष्ट्रीय आय १४५०० करोड़ रुपये का अन्तर) की वृद्धि हुई है। इस प्रकार द्वितीय योजना काल में नवीन विनियोजन एवं उत्पादन का अनुपात २·९ : १ आता है। दूसरी ओर तृतीय योजना में १०४०० करोड़ रुपये के अतिरिक्त विनियोजन पर केवल ४५०० करोड़ रुपये का उत्पादन बढ़ने का अनुमान है और इस प्रकार अतिरिक्त विनियोजन एवं अतिरिक्त उत्पादन का अनुपात २·३ : १ आता है। द्वितीय एवं तृतीय योजना में लगभग समान ही है। ऐसी दशा

उद्योगों पर विनियोजित किया जायेगा। इस प्रकार उद्योगों एवं खनिज पर विनियोजित होने वाली राशि २५ ;० करोड़ रुपया है जो कि योजना के समस्त विनियोजन की २५% है।

दूसरी ओर कृषि एवं सिचाई पर सरकारी एवं निजी क्षेत्र में विनियोजित होने वाली राशि क्रमश: १३१० तथा ८०० करोड़ रुपया है जो समस्त विनियोजन की २०% होती है। तृतीय योजना में ४२५ करोड़ रु० जो कि समस्त विनियोजन का ४% है, ग्रामीण एवं लघु उद्योगों के विकास पर विनियोजित होना है। इस प्रकार तृतीय योजना में औद्योगिक एवं खनिज विकास पर योजना के समस्त विनियोजना का २९% भाग विनियोजन होता है जबकि कृषि एवं सिचाई से विकास के लिये केवल २०% राशि ही विनियोजित होती है। इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि तृतीय योजना द्वितीय योजना के समान उद्योग प्रधान है। तृतीय योजना के औद्योगिक विकास के कार्यक्रमों द्वारा अगले १५ वर्षों में शीघ्र औद्योगीकरण की नींव डाली जायगी जिससे राष्ट्रीय आय एवं रोजगार में अनुमानित वृद्धि हो सके। इसीलिये तृतीय योजना में पूंजीगत उत्पादक वस्तुओं एवं मशीन निर्माण उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार को महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक विकास द्वारा उत्पादित निर्मित कच्चे माल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी तृतीय योजना में औद्योगिक कार्यक्रम सम्मिलित किये हैं। दूसरी ओर विलासिता एवं अर्थ विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि करना सम्भव न हो सकेगा और इनके उपयोग पर अंकुश रखना आवश्यक होगा।

(४) **रोजगार के अवसरों में वृद्धि**—द्वितीय योजना के समान ही तृतीय योजना में भी योजना काल में बढ़ी हुई श्रमशक्ति को रोजगार प्रदान करने का आयोजन किया गया है। भारत में श्रमशक्ति की तीव्र वृद्धि के कारण अर्थ-व्यवस्था के साथ वेरोजगारी भी बढ़ती जा रही है। अभी तक भारतीय अर्थ-व्यवस्था का विकास श्रमशक्ति की वृद्धि के अनुकूल नहीं हो सका है। यह अनुमान लगाया गया है कि द्वितीय योजना के अन्त में ९० लाख व्यक्ति वेरोजगार रहेंगे और १५० से १८० लाख व्यक्ति आंशिक रोजगार प्राप्त रहेंगे। तृतीय योजना काल में १९६१ की जनगणना के प्रारम्भिक अनुमानों के अनुसार १७० लाख व्यक्ति की वृद्धि श्रमशक्ति में होगी। तृतीय योजना में अभी तक केवल १४० लाख व्यक्तियों को रोजगार के अवसर प्रदान करने का आयोजन किया जा सका है और शेष ३० लाख व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने के लिए प्रयत्न किये जाने हैं। यदि तृतीय योजना में अनुमानित मात्रा में रोजगार के अवसरों में वृद्धि हो भी तब भी योजना के अन्त में देश में १२० लाख व्यक्ति वेरोजगार रहेंगे और हमारी योजनाओं के अन्तिम लक्ष्य पूर्ण रोजगार की प्राप्ति दीर्घ काल तक नहो सकेगी।

(५) **अवसर की समानता एवं धन तथा आय के वितरण की विषमताओं ... कमी**—अवसर की समानता उत्पन्न करने के लिए कार्य करने के लिए योग्य एवं

इच्छुक व्यक्ति को रोजगार के अवसर प्रदान करना आवश्यक है इसी कारण भारत की तृतीय योजना मे रोजगार के अवसरों की वृद्धि को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। अर्थ-व्यवस्था के विकास की गति रोजगार के अवसरों की आवश्यकता के अनुकूल करने के लिये देश मे दृढ औद्योगिक आधार स्थापित करना तथा शिक्षा एवं समाज सेवाओं का विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। तृतीय योजना मे इसी कारण से आधारभूत उद्योगों के विस्तार एवं शिक्षा तथा समाज सेवाओं के विकास एव विस्तार का आयोजन किया गया है। ६ से ११ वर्ष के बच्चों के लिये नि:शुल्क एव अनिवार्य शिक्षा का आयोजन किया गया है। शिक्षा के सभी स्तरों पर विकास करने तान्त्रिक प्रशिक्षण की संस्थाओ के विस्तार, छात्रवृत्ति का आयोजन आदि द्वारा शिक्षा के अवसरो मे समानता उत्पन्न करने का लक्ष्य है। तृतीय योजना मे घने आबाद ग्रामीण क्षेत्रों मे बहुत सी ग्रामीण कार्यशालायें (Rural works) चलाने का आयोजन किया गया है जिससे आंशिक रोजगार प्राप्त जनसंख्या को पूर्ण रोजगार प्राप्त हो सके। तृतीय योजना में स्वास्थ्य, सफाई, जल तथा निवास-गृह का भी आयोजन किया गया है जिससे गरीब वर्ग के लोग इन सुविधाओं का लाभ उठाकर अपने जीवन-स्तर को उन्नत कर सकें। इसके अतिरिक्त अनुसूचित जातियों एव पिछड़ी जातियो के कल्याण के लिए भी कार्य-क्रम तृतीय योजना मे सम्मिलित है। औद्योगिक श्रमिको को सामाजिक बीमा द्वारा जीवन स्तर मे वृद्धि करने के अवसर प्रदान किये जाते हैं।

भारत की योजनाओं मे धन और आय की वृद्धि के साथ-साथ इस बात का भी आयोजन किया गया है कि आर्थिक व्यक्तियों का केन्द्रीयकरण न होने पावे। तृतीय योजना मे सरकारी क्षेत्र मे संगठित एव भारी उद्योगों मे विस्तार करना, मध्य एवं लघु श्रेणी के उद्योगों, सहकारिता के आधार पर सगठित उद्योगों एव नवीन व्यवसायों द्वारा संचालित उद्योगों के विकास को अधिक अवसर प्रदान करना तथा राजकीय वित्तीय नीति का प्रभावशाली सचालन करके आर्थिक सत्ताओं के केन्द्रीयकरण को रोके जाने का आयोजन किया गया है।

Q "Defence of our freedom is more important and we must give up the idea of planning for the present." Do you agree? Give your own views.

प्रश्न—"स्वतन्त्रता की रक्षा अधिक महत्वपूर्ण है और योजना का विचार छोड़ देना चाहिये।" क्या आप इससे सहमत हैं? अपने विचार लिखिये।

उत्तर—कुछ लोगों का विचार है कि पाकिस्तानी आक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न वर्तमान संकटकाल में योजना को उठाकर रख देना चाहिये। उनका तर्क है कि योजनाबद्ध आर्थिक विकास शान्तिकाल में तो लाभदायक हो सकता है, किन्तु युद्ध के समय में जबकि देश की समस्त शक्ति स्वतन्त्रता की रक्षा में लग जानी चाहिये, आर्थिक विकास की योजनाओं को खत्म कर देना चाहिये। स्वतन्त्रता की रक्षा अधिक महत्वपूर्ण है और इसलिये योजना का विचार छोड़ देना चाहिये। निस्सन्देह इस बात पर दो मत नहीं हो सकते कि स्वतन्त्रता की रक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। किन्तु उनका दृष्टिकोण बहुत पिछड़ा हुआ है। उन्हें आधुनिक युग के युद्ध के स्वरूप और युद्ध प्रयत्नों का ज्ञान नहीं है। जैसा कि श्री शास्त्री ने बार-बार कहा है, आज की लड़ाई के मोर्चों पर सिर्फ सशस्त्र सैनिक ही नहीं लड़ते, बल्कि खेतों और कारखानों में काम करने वाला प्रत्येक मजदूर सैनिक ही बन जाता है। इस दृष्टि से देखें तो स्पष्ट है कि हमें पंचवर्षीय योजनाओं को रद्द करने की नहीं, बल्कि और भी मजबूत करने की जरूरत है। वास्तव में आर्थिक आयोजन तो एक ऐसा उपकरण है जो न केवल आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को बल्कि साथ ही साथ प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं की शीघ्र, पर्याप्त एवं विवेकपूर्ण पूर्ति करना सम्भव बनाता है। इसलिये वर्तमान समय में, आवश्यकता इस बात की नहीं है कि आर्थिक विकास के कार्यक्रम रद्द कर दिये जायें, बल्कि इस बात की है कि विकास और प्रतिरक्षा में समन्वय स्थापित किया जाय और तदनुसार पंचवर्षीय योजना में परिवर्तन किया जाय।

अतः हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता की रक्षा यद्यपि अधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु बिना योजना के यह रक्षा भी नहीं हो सकती। इस प्रकार रक्षा-प्रयत्नों के लिये न केवल यह आवश्यक है कि हमारी योजनायें पूरी हों, बल्कि यह भी जरूरी है कि योजना में प्रतिरक्षा-आवश्यकताओं के सन्दर्भ में परिवर्तन किया जाय। हमें शायद उन कार्यक्रमों पर खर्च घटाना पड़ेगा, जिनका देश की रक्षा से सीधा सम्बन्ध न हो। खेती और उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने के कार्यक्रमों को प्राथमिकता देने के कारण हमें सामाजिक सेवाओं से सम्बन्धित कार्यक्रमों में शायद कटौती करनी पड़ेगी। साथ ही रक्षा की जरूरतें पूरी करने के लिये बिजली, परिवहन, संचार और शैल्पिक शिक्षा पर अधिक धन खर्च करना पड़ेगा। भवनों आदि के निर्माण पर व्यय घटाकर कम से कम करना होगा। लेकिन, शीघ्रता से सैनिक व असैनिक आवश्यकतायें अविलम्ब पूरी करने के लिये खेती और उद्योगों से सम्बन्धित अनेक कार्यक्रमों पर काफी अधिक खर्च करना होगा।

राष्ट्रीय विकास परिषद का यह निर्णय ठीक ही है कि योजना देश-रक्षा के प्रयत्नों का अभिन्न अंग है। इतना जरूर है कि संकट को देखते हुए कई कार्यक्रमों को नया रूप देना होगा। योजना के विभिन्न पहलुओं को नए सांचे में ढालने के बारे में योजना-आयोग सम्बन्धित मंत्रालयों और राज्य सरकारों

ने कुछ ठोस फैसले किये भी हैं और इसमें कोई शक नहीं कि अपनी योजना के इस परिवर्तित रूप से हमारा सामर्थ्य बढ़ेगा और हम हमलावारों को अपनी भूमि से उठा बाहर फेंक सकेंगे।

यह स्पष्ट है कि चीन और पाकिस्तान के साथ लड़ाई के कारण कई महीनों और शायद वर्षों तक हम पर भारी बोझ रहे। हमें अपने अधिकतर साधन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सैनिकों की तात्कालीन आवश्यकतायें पूरी करने के लिये लगा देने होंगे। परन्तु विश्वास है कि यह राष्ट्रीय संकट हमारे लिये वरदान सिद्ध होगा। कड़ी मेहनत और त्याग के लिये प्रधानमन्त्री की अपील का देशवासियों पर जो तत्काल और शानदार असर हुआ है, वह बड़े सन्तोष की बात है। संकट का साहस और निश्चय से सामना करने के लिये सभी राजनैतिक दलों, मजदूर संघों, संस्थाओं और सरकारी व गैर सरकारी संगठनों ने अपनी सेवायें और साधन भारत सरकार को अर्पित किए हैं।

व्यापारियों ने थोक और खुदरा भावों को न बढ़ने देने का निश्चय किया है। जनता के सभी वर्गों का यह सहयोग भविष्य में हमारी योजना के लिये बहुत अमूल्य सिद्ध होगा।

पहला लाभ तो यह होगा कि भारत सरकार ने बचत की जो विभिन्न योजनायें शुरू की हैं, उनके फलस्वरूप केवल चालू योजना के ही लिये नहीं, उसके बाद की योजनाओं के लिये भी आर्थिक बचत की जा सकेगी और जनता से अधिक ऋण मिल सकेगा। बचत करके देश की पूंजी बढ़ाये बिना किसी भी देश की आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती। पिछले दस वर्षों में हमारे देश की बचत की दर बहुत कम रही है। इस संकट के कारण हमारी बचत निश्चित ही निरन्तर बढ़ती जायेगी।

दूसरा लाभ यह है कि अब खेती और उद्योगों का उत्पादन वास्तव में युद्ध स्तर पर होगा। हम वर्षों से उत्पादकता बढ़ाने की बात करते रहे हैं, परन्तु उनका सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकला। अब मालिकों और मजदूरों की सम्मिलित मेहनत से खेती और उद्योगों की उत्पादकता बढ़ेगी और इसके फलस्वरूप, आर्थिक उन्नति की रफ्तार भी बढ़ेगी। हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिये यह बात वास्तव में बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

तीसरा लाभ यह है कि वर्तमान संकट से ऐसा वातावरण तैयार होगा कि आवश्यक वस्तुओं की कीमतें स्थिर बनी रहेंगी। योजनाबद्ध आर्थिक विकास के लिये यह जरूरी है कि भोजन और वस्त्र जैसी आवश्यक वस्तुओं की कीमतें अधिक न बढ़ें। इसके लिये अब तक जो कुछ किया गया, उसका बहुत प्रभाव नहीं पड़ा। अब उत्पादकों, उपभोक्ताओं और व्यापारियों की स्वेच्छा से जो सहयोग मिला है उससे सर्व-साधारण के लिये आवश्यक वस्तुओं की कीमतें स्थिर रखने में सहायता मिलेगी।

इन सबके साथ हमें यह भी देखना है कि वर्तमान संकट हमें देश में समाजवादी समाज की स्थापना से डिगा न दे। कुछ लोग सोचते हैं कि युद्ध की तैयारी हमें समाजवाद और तटस्थता के आदर्शों को छोड़ देने को विवश करेगी। किन्तु यह निष्कर्ष गलत है। श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल के शब्दों में—"वर्तमान युद्ध के कारण हमें जो तकलीफ उठानी पड़ेगी उससे लोकतन्त्री समाजवाद और योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था का आधार मजबूत ही होगा। शान्ति और तटस्थता की नीति हमारी योजना का आधार भी है और वर्तमान परिस्थितियों में हमें अपनी उक्त नीति का अनुसरण करते रहना है। जो देश संकटकाल में भी अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता, वह युद्ध में तो जीतता ही है' शान्ति में भी आगे रहता है।"

३३

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था *

(Mixed Economy)

Q. Explain the term Mixed Economy. Discuss fully the theoretical and practical aspects of mixed economy with special reference to Indian Conditions. (Agra 1951 M. A.)
(Raj 1957 M. Com; Agra 1960 M. Com.)

प्रश्न—मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का आशय समझाइये। भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्षों का पूर्णतः विवेचन कीजिए। (आगरा १९५१, एम० ए०)
(राज० १९५७ एम० कॉम०; आगरा १९६० एम० ए०)

Or

Q Analyse the essentials of Planned Economy. Examine in its context the prospects of mixed economy in India.
(Raj. 1959 M Com)

अथवा

प्रश्न—आयोजित अर्थ-व्यवस्था के तत्वों का विश्लेषण कीजिए। इस सन्दर्भ में भारत में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की सम्भावनाओं की परीक्षा कीजिए।
(राज० १९५९ एम० कॉम०)

Or

Q. *Do you agree with the view that economic planning in the real sense is incompatible with the mixed economy.* Give reasons for your answer. (I. A. S. 1955)

अथवा

प्रश्न—क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था आर्थिक आयोजन से असंगत है; अपने उत्तर के लिये कारण लिखिये।
(आई० ए० एस० १९५५)

उत्तर—प्राचीनकाल में सामान्यत: इस विचार को मान्यता प्राप्त थी कि राज्य को देश की आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और व्यक्तियों एवं संस्थाओं को पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस काल में लगभग सभी राष्ट्रों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं को समाज का एक आवश्यक अंग माना जाता था। इसके साथ इस विचार को भी विशेष मान्यता थी कि राज्य आर्थिक क्रियाओं का संचालन सुचारु रूप से और मितव्ययिता पूर्वक नहीं कर सकता है। राज्य एवं व्यापारी दोनों के स्वभाव में अत्यधिक असमानता है। निजी साहसी कुशलता एवं मितव्ययिता से अपने व्यवसायों को चलाता है। इसमें उद्योगों की उन्नति के लिये उत्साह होता है। वह अपनी पूंजी लगाकर व्यवसाय चलाता है और व्यवसाय के लाभ अथवा हानि के लिये स्वयं जिम्मेदार होता है जिस कारण से वह कभी भी अपव्यय नहीं करता है। इसके विपरीत राज्य जटिल नियमों में बंधा होता है। वहां व्यक्तिगत रुचि एवं उत्साह का अभाव होता है। राज्य द्वारा चलाये गये व्यवसायों में जिम्मेदारी का विकेन्द्रीकरण हो जाता है। इन कारणों से राज्य द्वारा संचालित व्यवसायों में अपव्यय होता है। अत: प्राचीन अर्थ-शास्त्री स्वतन्त्र साहस को आर्थिक समृद्धि का मुख्य आधार मानते थे। एडम स्मिथ, से, रिकार्डो और मिल आदि सभी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन करते हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से स्वतन्त्र व्यापार एवं अर्थ-व्यवस्था के दोष अत्यन्त भयानक रूप में सामने आये। स्वतंत्र व्यापार के कारण गलाकाट प्रतियोगिता, पारस्परिक शोषण, व्यापार-चक्र, आर्थिक संकट और आय की असमानताओं का प्रादुर्भाव हुआ। इन दोषों ने लोगों का स्वतन्त्र व्यापार पर से विश्वास उठादिया। प्रथम महायुद्ध के समय स्वतन्त्र व्यापार का काफी पतन हो चुका था। इसी समय कीन्स की पुस्तक "End of the Laissezfaire, 1926" प्रकाशित हुई जिसमें स्वतन्त्र व्यापार के दोषों का उल्लेख किया गया। उसी समय मन्दी एवं आर्थिक संकट उत्पन्न हुए जिससे कीन्स के विचारों की पुष्टि हुई। इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पतन होता चला गया और यहाँ विश्वास किया जाने लगा कि राज्य आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करके स्वतन्त्र साहस से उत्पन्न हुई कठिनाईयों को रोक सकता है। इस विचार को समर्थन मिलने लगा कि स्वतन्त्र साहस के दोषों का समाजवाद के द्वारा निवारण किया जा सकता है। इसी समय पीगू ने अपनी पुस्तक Socialism Versus Capitalism में बताया कि उत्पादन को समाजीकृत करके आर्थिक शान्ति स्थापित की जा सकती है। उन्होंने विचार प्रगट किया कि केन्द्रिय नियोजन प्रणाली पूंजीवादी व्यवस्था की तुलना में कहीं अच्छी है। प्रोफेसर कीन्स ने पूर्ण समाजीकरण का विरोध किया और यह विचार प्रगट किया कि राज्य स्वयं साहसी के रूप में कुशलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता है। इस प्रकार देश की सर्वोत्तम अर्थ-व्यवस्था वह होगी जिसमें स्वतन्त्र साहस राज्य के नियन्त्रण में संचालित किया जाता हो।

सन् १९२८ के उपरान्त रूस में केन्द्रीय आयोजित अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत आश्चर्यजनक विकास हुआ जिसने पूंजीवाद की नीवों को हिला दिया और पूंजीवाद पर से लोगों का विश्वास हटने लगा। बहुत से राष्ट्रों ने पूंजीवादी व्यवस्था को त्याग दिया और समाजवाद का अनुसरण करने लगे। कुछ अन्य राष्ट्रों ने पूंजी के स्वरूप में परिवर्तन कर दिये और राजकीय नियन्त्रण को आर्थिक व्यवस्था में स्थान दिया जाने लगा। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन का क्रियान्वय सम्भव न होने के कारण पिछले वर्षों में अनेक राष्ट्रों ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को अपना लिया है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का विचार समन्वय की भावना पर आधारित है और इसमें उपक्रम न तो पूर्ण स्वतन्त्र होता है और न पूर्ण नियन्त्रित। इस प्रकार यह पूंजीवाद और समाजवाद की दो समानान्तर विचारधाराओं का एक समन्वित रूप है और राज्य के निर्देशन में स्वतन्त्र साहस के विचार को प्रस्तुत करता है। इस रूप में यह पूंजीवाद और समाजवाद के गुणों का समन्वय करता है और दोनों के दोषों का निवारण भी। वास्तव में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था कल्याणकारी राज्य के विचार की प्रतिरूप है और अधिकतम लोगों का अधिकतम हित ही उसका उद्देश्य है। प्रोफेसर सेमुएलसन के अनुसार "मिश्रित प्रणाली में बाजार तत्व और राज्य नियन्त्रण के तत्व परस्पर सम्बद्ध होते हैं।" यह एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था की कल्पना करती है, जिसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं :—

(१) राजनीतिक व्यवस्था प्रजातन्त्र पर आधारित होती है।

(२) पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली विद्यमान होती है।

(३) राज्य आर्थिक क्रियाओं में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करता है।

(४) राज्य का उद्देश्य समाजवादी समाज की रचना करना होता है जिसमें अधिकतम आर्थिक कल्याण सम्भव हो सके।

(५) आर्थिक नियोजन इस प्रकार अपनाया जाता है कि स्वयं स्फूर्त अवस्था को अर्थ-व्यवस्था शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करले।

(६) शक्ति एवं साधनों के विकेन्द्रीयकरण पर जोर दिया जाता है।

(७) आर्थिक प्रणाली तीन क्षेत्रों में विभाजित हो जाती है, राजकीय या सार्वजनिक क्षेत्र जिन पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होता है, नियमित क्षेत्र जो राज्य के निर्देश एवं नियमों से शासित होता है और जिसमें राज्य अधिकाधिक भाग लेता है, तथा स्वतन्त्र क्षेत्र जिसमें निजी साहस मुक्त होता है।

(८) मूल्य-प्रणाली उसी प्रकार कार्य करती है जिस प्रकार की पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में कार्य होता है, किन्तु आवश्यकतानुसार राज्य उसमें हस्तक्षेप कर सकता है।

पूंजीवाद में और मांग के अनुसार ही उत्पादन किया जाता है, परन्तु भांति-भांति का मूल्य नियन्त्रण होता है, और प्राथमिकतायें निश्चित कर दी जाती है। व्यक्तिगत आय के केवल मूल्य ही नहीं होते जो कि व्यक्तियों को उत्पादन का साधन जो कि उनके अधिकार में है, बेचने पर प्राप्त होते है, वरन् उसमे कम या अधिक भी हो सकती है क्योकि कहीं सरकार कर लेती है और कही पर आर्थिक सहायता भी देती है।

क्या मिश्रित व्यवस्था एक विकास योजना के लिये अनिवार्य है? यद्यपि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था एक विकास योजना के लिये अनिवार्य नहीं है तथापि यह देखने मे आता है कि अनेक देशो ने जिन्होंने अपनी अर्थ-व्यवस्थाओ के लिये आयोजन किया है, पूर्ण राष्ट्रीयकरण को अपनाने की बजाय इस उपाय का ही अधिक अवलम्बन किया है समाजवादी देशो मे भी प्राइवेट साहस को बिल्कुल विनष्ट या अलहदा ही कर दिया गया है वरन् उसको नियमित एव नियन्त्रित करने का प्रयास किया गया है। सच तो यह है कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की नीति अपनाने से प्लानिंग का कार्य सरल हो जाता है, और राष्ट्रीयकरण एव प्राइवेट साहस दोनो के लाभ उचित सीमा तक प्राप्त हो जाते हैं। जब प्राइवेट साहस को राष्ट्रीय हितो के अनुरूप उचित नियमन द्वारा उपयुक्त दिशाओ से मोडा जाता है, तो उसके वही फल होते है जो कि राज्य चाहता है। लेकिन इसमे एक अतिरिक्त लाभ यह होता है कि पूंजीपतियों का सहयोग मिल जाता है।

अविकसित देशो के लिये तो मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की नीति और भी अधिक उपयोगी एवं आवश्यक है, क्योकि इन देशो मे पूंजी, साहस, प्रबन्ध, योग्यता एव टेक्नीकल ज्ञान का बड़ा अभाव है और जो कुछ उपलब्ध है वह पूंजीपतियों के नियन्त्रण मे होता है। अत. व्यवहारिक दृष्टिकोण स इन देशो मे पूर्ण राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाना उचित नहीं है। राज्य तो अपनी सुरक्षा पर ही पर्याप्त ध्यान देने मे समर्थ होता है। आर्थिक जिम्मेदारिया एक बड़े पैमाने पर उठाना तो उसके लिये बिल्कुल सम्भव नही है। अत' विकसित देशो मे पूर्ण राष्ट्रीयकरण की नीति के स्थान पर मिश्रित व्यवस्था ही अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था भारत की विद्यमान आर्थिक परिस्थितियो के सदर्भ मे विशेष महत्वपूर्ण हैं। सरकार के सामने जनता के जीवन स्तर की वृद्धि करके उनकी आर्थिक दशा मे सुधार करने की तत्कालीन समस्या है। इसका हल तभी सम्भव है जबकि सभी दिशाओ मे पर्याप्त सीमा तक उत्पादन बढाये जायें। औद्योगिक और कृषि उत्पादन की भारी वृद्धि के लिये बहुत पूंजी एव प्रयास की आवश्यकता है, जिसे सरकार अपने साधनो से ही नहीं जुटा सकती। यही कारण है कि भारत सरकार ने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की नीति अपनाई, जिसके द्वारा वह प्राइवेट साहस की सेवाओं को उस अधिकतम सीमा तक उपयोग करेगी जहां तक वह समाज के आर्थिक कल्याण को अधिकतम बनाने मे सहायक हो सकती है।

भारत में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की नीति—

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रतिपादन सर्व प्रथम सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में किया गया था, जिसके अनुसार देश की सम्पूर्ण औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था को तीन वर्गों में इस प्रकार बांटा गया—

(१) अत्यधिक महत्व के उद्योग जैसे हथियार, बारूद का निर्माण, अणु शक्ति का उत्पादन, रेलवे आदि जिन पर सरकार का पूर्ण एकाधिकार होगा। सरकार किसी भी उद्योग को जो कि राष्ट्र की सुरक्षा के लिये आवश्यक हो कभी भी अपने हाथ में ले सकती है।

(२) ऐसे उद्योग जिनमें कई इकाइयों की स्थापना के लिये केवल सरकार ही उत्तरदायी होगी। हां यदि सरकार देश हित में आवश्यक समझे तो कुछ शर्तों एवं निर्माणों के आधीन प्राइवेट साहस से सहयोग ले सकेगी। इन उद्योगों में निम्न उल्लेखनीय हैं— कोयला, लोहा व इस्पात, हवाई जहाज निर्माण, जलयान निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ व वायरलेस यन्त्र व खनिज तेल का उत्पादन। विद्यमान प्राइवेट उद्योगों को इस क्षेत्र में काम करते रहने दिया जायेगा। दस वर्ष बाद पुनः स्थिति का निरीक्षण करने का निश्चय हुआ।

(३) शेष औद्योगिक क्षेत्र प्राइवेट साहस के लिये खुला रखा गया। लेकिन इस क्षेत्र में भी सरकार के भाग लेने की सम्भावना रखी गई और यह स्पष्ट कर दिया गया कि सरकार आवश्यकता पड़ने पर इस क्षेत्र में भी उद्योगों का नियमन कर सकेगी।

सन् १९५६ में नई औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। यद्यपि इसमें सरकारी क्षेत्र का पहले की अपेक्षा अधिक विस्तार हो गया है तथापि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की नीति पहले की तरह कायम रखी गई हैं। भारत सरकार ने पंचवर्षीय योजनायें प्रकाशित की हैं, उनमें मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के व्यवहारिक महत्व पर विस्तार में प्रकाश डाला गया है। उसने अर्थ-व्यवस्था को मोटे रूप से दो क्षेत्रों (प्राइवेट और पब्लिक) में बाँटा गया है। अर्थ-व्यवस्था के दोनों ही क्षेत्रों में संतुलित विकास हो इस पर उचित ध्यान देना सरकार का एक आवश्यक कर्तव्य जताया गया है, किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि देश की आर्थिक प्रगति में व्यक्तिगत एवं सरकारी दोनों ही तरफ को प्राइवेट उपक्रमों को एक निश्चित एवं महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी है। लघु एवं कुटीर उद्योगों का संगठन प्राइवेट साहस के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया गया है। हां सरकार भी उनका सामान्य निर्देशन एवं सहायता करती रहेगी। प्राइवेट उद्योगपतियों के प्रतिनिधियों से उचित परामर्श के बाद सरकार ने प्राइवेट उद्योगपतियों के प्रतिनिधियों से उचित परामर्श के बाद सरकार ने प्राइवेट क्षेत्र के विकास लिये कार्यक्रम निर्धारित किये हैं। किन्तु मौलिक उद्योगों का भावी विकास स्वामित्व, पहल एवं प्रबन्ध सरकार की ही जिम्मेदारी बना दी गई है।

यद्यपि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत देश की सम्पूर्ण आर्थिक रचना को तीन भागों में बांटा गया है, तथापि वह विभाजन अपरिवर्तनीय, सदैव के लिये निश्चित या कठोर नहीं है, और न एक भाग व दूसरे भागों के मध्य कोई रिक्त स्थान ही है, वरन् वे एक दूसरे से सम्बन्धित एवं समन्वित हैं, और विभाजन का मूल उद्देश्य केवल प्रशासनिक सुविधा है। मिश्रित व्यवस्था के द्वारा प्राइवेट साहस और राष्ट्रीयकरण दोनों व्यवस्थाओं के दोषों को दूर करके गुणों का लाभ उठाने का प्रयास किया गया है।

परिशिष्ट (Appendix)

अर्थशास्त्र की नवीन प्रवृत्तियाँ

(Recent Trends in Economics)

Q. 1. Write a note on recent trends in economics.

आधुनिक युग अर्थशास्त्र ने बड़ी तेजी से उन्नति की है। यद्यपि अर्थशास्त्र का इतिहास तीन सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं है, तथापि पिछले तीस वर्षों में अर्थशास्त्र के क्षेत्र एवं स्वभाव में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। संक्षेप में, हम आर्थिक विज्ञान के क्षेत्र में निम्न प्रवृत्तियों के दर्शन करते हैं :—

(१) अर्थशास्त्र का पुनर्गठन एवं विस्तार—आधुनिक युग में आर्थिक विज्ञान तीन भागों में विभाजित किया जाता है, सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र, वैज्ञानिक अर्थशास्त्र और व्यवहारिक अर्थशास्त्र। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र या आर्थिक विश्लेषण के भी अनेक भेद हो गये हैं—मूल्य सिद्धान्त और रोजगार सिद्धान्त, सूक्ष्म और व्यापक आर्थिक विश्लेषण, स्थैतिक अर्थशास्त्र और प्रवैगिक अर्थशास्त्र। व्यवहारिक अर्थशास्त्र का क्षेत्र तो बहुत ही अधिक विस्तृत हो गया है, व्यापार, उद्योग, कृषि, यातायात, निर्माण, शिक्षा, राजस्व, श्रम, जनसंख्या, मुद्रा, माँग, बैंकिंग, बीमा आदि प्रत्येक क्षेत्र में स्वतन्त्र व्यवहारिक अर्थशास्त्र का अध्ययन विकसित हो रहा है।

(२) आर्थिक विश्लेषण के नवीन उपकरणों का प्रयोग—आधुनिक अर्थ-शास्त्र कम से कम निगमन या धारणाओं का निष्कर्ष है और वास्तविक परिस्थितियों एवं घटनाओं के विश्लेषण पर जोर देता है। मनुष्य के मनोवैज्ञानिक अध्ययन और अधिकाधिक सांख्यिकी पर जोर दिया जाता है। परिणाम यह हुआ है कि आर्थिक विश्लेषण के नवीन उपकरण हमारे सामने प्रस्तुत हैं। इन सब पर ज्यामिति, गणित एवं अन्य विज्ञानों का प्रभाव स्पष्ट है। इकानोमेट्रिक माडल्स और तटस्थ-वक्र इसके ही उदाहरण हैं।

(३) अधिकतम सामाजिक कल्याण की मान्यता और कल्याणवादी अर्थ-शास्त्र का विकास—यद्यपि व्यक्तिगत कल्याण के द्वारा सामाजिक कल्याण में वृद्धि तो प्राचीन अर्थशास्त्री भी मानते थे, तथापि व्यक्तिगत हितों में संघर्ष होने पर कल्याण को प्राथमिकता देना और अधिकतम सामाजिक कल्याण को ही अर्थ-व्यवस्था का केन्द्रीय उद्देश्य मानना एक नवीन घटना है। आधुनिक युग में अधिकांश अर्थ-शास्त्री अधिकतम आर्थिक कल्याण को ही अर्थ-व्यवस्था का ध्येय मानते हैं। इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार कल्याणवादी हैं।

(४) अर्थशास्त्र राजनीतिक विचारों से प्रभावित—आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार भी उनकी राजनीतिक मान्यताओं से प्रभावित हुए हैं और अर्थशास्त्र, पूंजीवादी अर्थशास्त्र समाजवादी अर्थशास्त्र और सर्वोदयी अर्थशास्त्र जैसे वर्गों में विभाजित हो गया है।

(५) आर्थिक विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन का विषय—आधुनिक युग में अर्थशास्त्र किसी देश की अर्थ-व्यवस्था तक सीमित नहीं रहा है, वरन् यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन भी करता है और अन्य विज्ञानों की भाँति उसका अध्ययन भी संसार के सभी राष्ट्रों में होता है।

(६) अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान के रूप में—अर्थशास्त्र को अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री सामाजिक विज्ञान मानते हैं और इसलिये व्यापक आर्थिक विश्लेषण पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है।

(७) आधुनिक अर्थशास्त्र मौद्रिक अर्थशास्त्र है—आधुनिक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत जिस अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन किया जाता है, वह मुद्रा पर आधारित है।

(८) आधुनिक अर्थशास्त्र राज्य-हस्तक्षेप को स्वीकार करता है—आधुनिक अर्थशास्त्र राज्य के बढ़े हुए कार्यक्षेत्र का समर्थन करता है और यह स्वीकार करता है कि यदि राज्य-हस्तक्षेप से ही अधिकतम सामाजिक लाभ सम्भव हो तो वह उचित है और राज्य नियन्त्रण, नियमन एवं निर्देशन द्वारा आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार स्वतन्त्र उपक्रम अब उचित नहीं समझा जाता।

(९) आधुनिक अर्थशास्त्र अपूर्ण प्रतियोगिता का अध्ययन करता है। पूर्ण प्रतियोगिता पूर्णतः कल्पित है और प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र की तुलना में यह अपूर्ण प्रतियोगिता पर आधारित अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन करता है।

(१०) आधुनिक आर्थिक विश्लेषण प्रावैगिक दशाओं का अध्ययन करता है। दीर्घकाल में स्थैतिक दशाओं के प्रतिष्ठित अध्ययन को यह निरुपयोगी मानता है, क्योंकि यह संसार परिवर्तनशील है। अतः आधुनिक आर्थिक विश्लेषण प्रावैगिक दशाओं के अध्ययन पर जोर देता है।

(११) आर्थिक नियोजन की प्रणाली का विकास—आधुनिक अर्थशास्त्र की सबसे बड़ी देन आर्थिक नियोजन है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सभी राष्ट्र अपने अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य को सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। आर्थिक नियोजन एक ऐसी टेकनीक है जो निश्चित सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपलब्ध *वर्तमान एवं सम्भाव्य* साधनों के उचित उपयोग का विधान करता है।

(१२) युद्ध एवं शान्ति का अर्थशास्त्र—आधुनिक अर्थशास्त्र केवल दीर्घकालीन आर्थिक समस्याओं का ही अध्ययन नहीं करती है, वरन् युद्ध एवं शान्ति, सभी समय की आर्थिक समस्याओं का अलग-अलग अध्ययन करती है।

(१३) विकास का अर्थशास्त्र—आधुनिक युग में अर्थशास्त्र स्थिर या पूर्ण रोजगार वाली अर्थ-व्यवस्था का ही विश्लेषण नहीं करता है, वरन् उसे अपना लक्ष्य मानकर उस प्रक्रिया का अध्ययन भी करता है जो आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करती है। इसी प्रकार यह विकासमान अर्थ-व्यवस्थाओं की समस्याओं और विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं से उनके सम्बन्धों का भी विश्लेषण करती है।

(१४) स्थिरता, मितव्ययिता और कुशलता ये तीन किसी भी अर्थ-व्यवस्था की मुख्य समस्यायें हैं, आधुनिक अर्थशास्त्र इनके समाधान की खोज करता है।

(१५) आधुनिक अर्थशास्त्र भौतिक और अभौतिक के भेद की उपेक्षा कर सम्पूर्ण मानव व्यवहार का अध्ययन करता है और बौद्धिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के सन्दर्भ में किये गये मानवीय निर्णयों का महत्व बढ़ रहा है।

Q. 2. Discuss in brief the problems of economic terminology and ideology and make out a case for the reconstruction of economic science. (Indore 1966 M. Com.)

अर्थशास्त्र एक विकासशील मानव-विज्ञान है, अतः मानव-जाति के विकास से निरपेक्ष होकर वह स्थिर नहीं रह सकता है। वातावरण का मानव पर प्रभाव पड़ता ही है और अर्थशास्त्र मानव-व्यवहार का ही अध्ययन करता है। अतः वातावरण में हुए परिवर्तन आर्थिक विज्ञान के स्वभाव एवं क्षेत्र में भी परिवर्तन कर सकते हैं। यही कारण है कि राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक क्षेत्र की घटनायें आर्थिक विज्ञान पर भी अपना प्रभाव दिखाती रही हैं। इनके परिणामस्वरूप न केवल आर्थिक विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हुआ है, वरन् उसमें विभिन्न प्रकार की विचारधारायें और शब्दावली इकट्ठी हो गई है और आर्थिक विज्ञान का पुनर्गठन आवश्यक हो गया है।

विचारधाराओं की समस्या (Problem of Ideologies)—श्रीमती बारबरा वूटन का कथन है कि जब छः अर्थशास्त्री एकत्र हों तो उनके सात मत होते हैं। वास्तव में अर्थशास्त्र में अनेक मत-मतान्तर पाये जाते हैं। यहाँ तक कि अर्थशास्त्र की परिभाषा और उसका स्वभाव एवं क्षेत्र ही निश्चित नहीं है। कुछ लोग अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानते हैं, तो कुछ लोग इसे वास्तविक विज्ञान और आदर्श विज्ञान दोनों मानते है। कुछ लोग इसे कला भी स्वीकार करते हैं। कुछ लोग इसे साधारण व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन बतलाते हैं, कुछ इसका सम्बन्ध सामाजिक कल्याण से स्थापित करते हैं, कुछ आवश्यकताओं और उनकी सन्तुष्टि के वैकल्पिक उपयोग वाले साधनों के सम्बन्ध का और कुछ आवश्यकताओं को कम कर सुख प्राप्त करने का मार्ग बताने वाला विज्ञान बतलाते हैं। कुछ इसमें केवल सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं, कुछ आर्थिक क्रियाओं का वर्णन करते है, कुछ नीति

का विवेचन करते हैं और कुछ व्यवहारिक आर्थिक समस्याओं का हल प्रस्तुत करते हैं। कुछ लोग व्यक्ति की आर्थिक क्रियाओं का, कुछ समाज की कुल आर्थिक क्रियाओं का और कुछ राज्य की वित्तीय क्रियाओं का अध्ययन करते हैं। कुछ लोग निगमन प्रणाली के द्वारा, कुछ आगमन प्रणाली के द्वारा और कुछ दोनों प्रणालियों की सहायता से आर्थिक अध्ययन पर जोर देते हैं। कुछ लोग स्थैतिक अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन करते हैं और कुछ लोग प्रावैगिक दशाओं का, कुछ लोग दीर्घकाल का और कुछ अल्पकाल का और कुछ लोग साम्य की अवस्था का तथा कुछ साम्य से दूर अवस्था का अध्ययन करते हैं। कुछ लोग स्वतन्त्र उपक्रम को तो कुछ राज्य-हस्तक्षेप को, कुछ व्यक्तिगत लाभ को तो कुछ सामाजिक लाभ को, कुछ पूँजीवाद को तो कुछ समाजवाद को और कुछ मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को वांछित बतलाते हैं। वास्तव में अर्थशास्त्र में अनेक परस्पर विरोधी विचारधाराओं का संग्रह हो गया है और यह जरूरी हो गया है कि आर्थिक विज्ञान का पुनर्गठन किया जाये और उसका स्वभाव एवं क्षेत्र निश्चित कर दिया जाय।

शब्दावली की समस्या (Problem of Terminology) – आर्थिक विज्ञान के विकास के साथ-साथ उसमें अनेक नई शब्दावलियों का समावेश हुआ है और वे शब्द आर्थिक विज्ञान में विशेष टेक्नीकल आशय रखते हैं। साधारण भाषा के बहुत से शब्द अर्थशास्त्र में विशिष्ट वैज्ञानिक अर्थ रखते हैं और विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने उन्हें अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने भी नये शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे शब्द नये विचार के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। अन्य विज्ञानों से भी अनेक टेक्नीकल शब्द लिये गये हैं। इन शब्दों के अर्थ कभी-कभी तो वही रखे गये हैं और कभी-कभी आर्थिक विज्ञान की आवश्यकतानुसार वे बदल भी दिये गये हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र की शब्दावली विशेष अर्थ रखती है, किन्तु उसका यह अर्थ निश्चित हो और प्रत्येक व्यक्ति उसे उसी अर्थ में ग्रहण करे तभी इस शब्दावली की सार्थकता है। इसके लिए आर्थिक विज्ञान का पुनर्गठन अत्यन्त आवश्यक है। अर्थशास्त्र मानव-जीवन की वास्तविक समस्याओं का अध्ययन करता है, इस दृष्टि से उसकी शब्दावली का सरल और प्रचलित होना अत्यन्त आवश्यक है।

आर्थिक विज्ञान का पुनर्गठन न केवल विचारधाराओं और शब्दावली की समस्याओं को हल करेगा, वरन् एक ओर तो आर्थिक विज्ञान को अधिक क्रमबद्ध, नियमित, विवेकपूर्ण एवं वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करेगा और दूसरी ओर उसके विस्तार एवं विकास की सम्भावनायें भी बढ़ायेगा। यही नहीं आर्थिक विज्ञान मानव जाति की अधिक उपयोगी एवं लाभदायक सेवायें कर सकेगा। पुनर्गठित आर्थिक विज्ञान हमारे ज्ञान की तो वृद्धि करेगा ही, वह मानव-प्रतिभा के विकास के क्षितिजों की भी स्थापना करेगा। जो व्यर्थ एवं सारहीन विचारों का अध्ययन हमें वर्तमान में करना पड़ता है और जिसके कारण हम आर्थिक समस्याओं को ठीक समझ नहीं पाते हैं, उससे भी बचाव होगा। साथ ही आर्थिक विज्ञान की नवीन

शाखायें तेजी से उन्नति कर सकेंगी और मनुष्य, समाज तथा राज्य के हित एक होकर साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग निर्धारित किया जा सकेगा। यही नहीं हम आर्थिक विश्लेषण, आर्थिक नीति एवं आर्थिक व्यवहार में सरलतापूर्वक सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे। इस प्रकार, आर्थिक विज्ञान का पुनर्गठन न केवल आवश्यक है, बल्कि लाभदायक भी सिद्ध होगा।

Q. Discuss the relation of Economics to business and state clearly the scope of Economics. (Agra 1958, 1964 M. Com.)

व्यवसाय और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध—

व्यवसाय का शाब्दिक अर्थ उस स्थिति से है जो मनुष्य को व्यस्त रखे, किन्तु संकुचित अर्थ में यह उन गति-विधियों को प्रकट करता है जो लाभ कमाने के उद्देश्य से प्रेरित होती हैं। थामस के शब्दों में व्यवसाय एक ऐसा कार्य है जिसकी मुख्य जोखिम मौद्रिक हानि और जिसका मुख्य हेतु मौद्रिक लाभ है। वास्तव में व्यवसाय एक व्यापक शब्द है और उसका आशय केवल व्यापार (क्रय, विक्रय, सेवा) से ही नहीं, वरन् उसके अन्तर्गत व्यापार में सहायता करने वाली सभी यातायात, बैंकिंग, बीमा, विपणन और वित्तीय संस्थाओं और समस्त प्रकार के उद्योग, जिसमें कृषि खनिज, वन, एवं मत्स्य उद्योग और निर्माण उद्योग सम्मिलित हैं और समस्त प्रकार के रोजगार से भी होता है।

व्यवसाय और अर्थशास्त्र में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। मार्शल ने अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हुए स्पष्ट कहा है कि "अर्थशास्त्र मानव जाति के साधारण व्यवसायिक जीवन का अध्ययन करता है।" व्यवसाय मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये धन (दुर्लभ और वैकल्पिक उपयोग वाले साधनों) के उत्पादन और विनिमय से सम्बन्ध रखता है और अर्थशास्त्र, राबिन्स के अनुसार, आवश्यकताओं और वैकल्पिक उपयोग वाले दुर्लभ साधनों के सम्बन्ध के रूप में मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है। इस प्रकार व्यवसाय और अर्थशास्त्र दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। व्यवसाय व्यवहार है और अर्थशास्त्र उसका सैद्धान्तिक अध्ययन। दूसरे शब्दों में, 'अर्थशास्त्र व्यवसाय के सामाजिक पहलुओं का अध्ययन है।"

किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि अर्थशास्त्र और व्यवसाय में कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में अर्थशास्त्र अत्यन्त व्यापक विज्ञान है और वह न केवल व्यवसाय की, वरन् और भी अन्य समस्याओं से सम्बद्ध है। सर्वप्रथम, अर्थशास्त्र न केवल वास्तविक विज्ञान है, वरन् आदर्श विज्ञान और कला भी है। अर्थशास्त्र तीन

भागों में बांटा जा सकता है—सैद्धान्तिक, वर्णनात्मक और व्यवहारिक। व्यवसाय व्यवहारिक अर्थशास्त्र का एक भाग है। दूसरे व्यवसाय में हम केवल उत्पादन और विनिमय को सम्मिलित करते हैं, जबकि अर्थशास्त्र उत्पादन और विनिमय के साथ ही उपभोग और वितरण का भी अध्ययन करता है। तीसरे, अर्थशास्त्र एक मानवीय विज्ञान है और वह अधिकतम मानवीय कल्याण के उद्देश्य से अर्थ-व्यवस्था की समस्याओं का अध्ययन करता है, जबकि व्यवसाय का उद्देश्य अधिकतम लाभ होता है और इसी को ध्यान में रखकर व्यवसाय की समस्याओं को हल किया जाता है।

व्यवसायिक अर्थशास्त्र का क्षेत्र—

व्यवसाय और अर्थशास्त्र के घनिष्ट सम्बन्ध और उनके दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण ही व्यवसायिक अर्थशास्त्र का विकास हुआ है। व्यवसायिक अर्थशास्त्र व्यवहारिक अर्थशास्त्र का एक भाग है और उत्पादन एवं विनिमय के अध्ययन से सम्बन्ध रखता है, जैसा कि निम्न चार्ट से स्पष्ट है :—
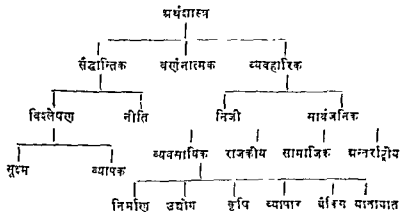
इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यवसायिक अर्थशास्त्र व्यवहारिक अर्थशास्त्र (Applied Economics) की एक शाखा है और निजी दृष्टिकोण से उत्पादन और विनिमय का व्यवहारिक अध्ययन करती है। उत्पादन के अन्तर्गत हम सभी प्रकार के उद्योगों का और रोजगारों का तथा विनिमय के अन्तर्गत वाणिज्य (व्यापार, बैंकिंग, यातायात, बीमा और विपणन) का अध्ययन करते है। उत्पादन और विनिमय की समस्यायें ही व्यवसायिक अर्थशास्त्र की विषय सामग्री है। इसके अन्तर्गत, उत्पत्ति के विभिन्न साधन, उनकी विशेषतायें, उत्पत्ति के नियम, उत्पादन के विभिन्न ढंग, उत्पादन का परिमाण, व्यवसायिक संगठन के रूप, वस्तुओं की मांग, पूर्ति, उनके नियम, बाजार, बाजार की स्थितियाँ, बाजार के तत्व, यातायात, बैंकिंग, मुद्रा, बीमा, विपणन, साख, आन्तरिक व्यापार, विदेशी व्यापार, विदेशी विनिमय, पूंजी, वित्त, पूंजी निर्माण, विनियोग, रोजगार, वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य निर्धारण

मूल्यों में परिवर्तन, व्यापारिक चक्र और व्यवसायिक निर्णयों को प्रभावित करने वाली अन्य समस्त स्थितियों, घटनाओं और प्रवृत्तियों का अध्ययन होता है। आधुनिक युग में व्यवसायिक क्रियायें सरकारी हस्तक्षेप और नियन्त्रण तथा सामाजिक कल्याण की प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रभावित हैं और इस प्रकार व्यवसायिक निर्णयों में इनका भी अत्यन्त प्रभावपूर्ण स्थान है।

व्यवसायिक अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान यह कहना बहुत कठिन है औ बहुत कुछ इस पर निर्भर करता हैं कि हम उसे किस दृष्टि से अध्ययन कर रहे हैं जब हम निर्पेक्ष होकर व्यवसायिक घटनाओं का विश्लेषण कर कुछ सामान्य प्रवृत्ति का अध्ययन करें तो वह निश्चित रूप से एक वास्तविक विज्ञान है। किन्तु आजक व्यवसायिक नीति का अत्यन्त विवेचन और प्रचार हो रहा है और तब व्यवसायि अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान भी हो जाता है। व्यवसायिक आदर्शों को प्राप्त करने लिए यह अर्थशास्त्र जो रीतियाँ समझाता है और व्यवसायिक कुशलता में वृद्धि करत है, उसके प्रकाश में इसे कला न मानना भूल होगी। इस प्रकार जब तक ह व्यवसायिक अर्थशास्त्र का विभाजन नहीं कर लेते और जब तक व्यवसायिक निर्णय में व्यवसायिक विश्लेषण, नीति एवं निर्देशन का सम्मिलित महत्व है, जब तक व्यव सायिक अर्थशास्त्र वास्तविक और आदर्श विज्ञान तथा कला तीनों ही हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि "आर्थिक सिद्धान्तों का ज्ञान व्यवसायिक सफलता वे अवसर बहुत अधिक बढ़ा देता है, क्योंकि इससे व्यवसायी को अपने व्यवसाय क सामान्य आर्थिक स्थिति से समायोजन करने में सहायता मिलती है।"

Q. 4. Write a note on assumptions of economic science.

आर्थिक सिद्धान्तों के निर्माण के लिए हमें दो बातें जाननी आवश्यक होती है—पहली, जिस अर्थ-व्यवस्था का हम विश्लेषण करना चाहते हैं उसके सम्बन्ध में कुछ धारणायें बनाना और दूसरी, ऐसी धारणाओं से निष्कर्ष निकालना। ये धारणायें या मान्यतायें अत्यन्त व्यापक एवं साधारण प्रकार की होती हैं और ऐसी बातों से सम्बन्ध रखती हैं, जैसे कि मनुष्य के आचरण का ढंग प्राकृतिक परिस्थितियाँ और सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियाँ।

आर्थिक क्रियाओं के अध्ययन की सुविधा के लिये अर्थशास्त्रियों द्वारा सदा इस बात का प्रयत्न किया गया है कि मानव आचरण के बारे में कुछ मौलिक अथवा आधारभूत मान्यतायें बनाई जावें। अर्थशास्त्र में मानव आचरण के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार की मान्यता होती है। सामान्यत: अर्थशास्त्रियों का मनुष्यों से दो प्रकार

का सम्बन्ध होता है, एक तो वे जो उपभोक्ता होते हैं और दूसरे वे जो व्यापारी या साहसी होते हैं। अर्थशास्त्री जब इनके बारे में चर्चा करते हैं तो यह मान लेते हैं कि वे विवेकपूर्ण आचरण करते हैं। इस प्रकार यह मान लिया जाता है कि उपभोक्ता अपने व्यय से अधिकतम सन्तोष और व्यापारी या साहसी अधिकतम मौद्रिक लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। आर्थिक विवेक की यह धारणा यद्यपि विभिन्न समय पर विभिन्न अर्थ-शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की है, तथापि यही अधिकतम सिद्धान्त (Maximisation Principle) की आधार शिला है और प्रतिपादित करती है कि प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपने हित को अधिकतम करने के उद्देश्य से आचरण करता है। श्रीमती राबिन्सन के शब्दों में, "आर्थिक विश्लेषण की मौलिक मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति बुद्धिमत्ता से कार्य करता है और बुद्धिमत्ता इसमें है कि वह सीमान्त लागत और सीमान्त लाभ को बराबर करने का प्रयास करे।.........इस प्रकार के आचरण के द्वारा वह अपने मौद्रिक लाभ को अधिकतम करने में सफल होता है।" इस प्रकार, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह विवेकशील है और अधिकतम लाभ या अधिकतम सन्तुष्टि का ढंग जानता है, आर्थिक विश्लेषण यह धारणा लेकर चलता है कि प्रत्येक उपभोक्ता के आचरण का उद्देश्य अधिकतम सन्तोष और प्रत्येक उत्पादक का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। श्री स्टोनियर और हैग के अनुसार "अर्थशास्त्री जब उपभोक्ताओं की क्रियाओं का विवेचन करते हैं तो यह मान लेते हैं कि वे विवेकपूर्वक आचरण करते हैं। उदाहरण के लिये, कोई उपभोक्ता किसी दुकान से अखबार जब मांगता है, तब वास्तव में वह चाकलेट नहीं मांगना चाहता है और वे, यह भी मान लेते हैं कि उपभोक्ताओं की रुचि एवं आदतों में बार-बार परिवर्तन नहीं होता है और लोग, उदाहरण के लिए मांसाहारी से शाकाहारी और शाकाहारी से मांसाहारी बार-बार नहीं हुआ करते।" उपभोक्ताओं के सम्बन्ध में यह धारणा बहुत उचित है, किन्तु व्यापारियों के सम्बन्ध में थोड़ी-सी अव्यवहारिक लगती है। वास्तव में, व्यापारी जब कोई कार्य करता है तो वह कार्य अधिकतम लाभ प्राप्त करने के कार्य से कुछ अधिक जटिल एवं भिन्न होता है। किन्तु इस जटिलता और भिन्नता के सम्बन्ध में हम यदि अधिक वास्तविक धारणायें बनाने का प्रयत्न करें तो, एक तो ऐसा करना असम्भव होगा और दूसरे हमारे आर्थिक सिद्धान्त फिर भी जहाँ जटिल और अव्यवहारिक हो जायेंगे, वहाँ पूर्ण नहीं हो सकेंगे। अतः उपभोक्ताओं और उत्पादकों के सम्बन्ध में यह मान लेना कि वे अधिकतम हित के लिए कार्य करते हैं, उचित और व्यवहारिक है।

आर्थिक विश्लेषण के अन्तर्गत दूसरी महत्वपूर्ण धारणा संसार की प्राकृतिक परिस्थितियों और उनके प्रभावों के सम्बन्ध में की जाती है। ये धारणायें भूगोल, भौतिकशास्त्र और प्रकृति के प्रभावों से सम्बन्ध रखती हैं। ये मान्यतायें प्रायः अव्यक्त होती हैं और प्रयत्न किया जाता है कि आर्थिक सिद्धान्त कोई ऐसी बात प्रगट नहीं करें जो प्राकृतिक प्रभावों के दृष्टिकोण से असंगत हो। उदाहरण के लिए कृषि

उत्पादन में भूमि, जलवायु और प्राकृतिक शक्तियों के महत्व को या श्रमिकों की कार्यक्षमता पर प्राकृतिक वातावरण के प्रभाव से अर्थशास्त्री इन्कार नहीं कर सकते। इसी तरह उत्पादन की वृद्धि प्राकृतिक और टेक्नीकल दशाओं द्वारा सीमित होती है। इसी तरह सीमितता या दुर्लभता के कारण आर्थिक समस्याओं का जन्म होता है और विभाजन के सम्बन्ध में आर्थिक प्रणाली का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। मौलिक रूप से अर्थशास्त्र इस दुर्लभता और इसके कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं का अध्ययन है।

तीसरे प्रकार की मान्यतायें, जिन पर कि आर्थिक सिद्धान्त आधारित हैं, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं से सम्बन्ध रखती है। उदाहरण के लिये हम यह मान लेते हैं कि हमारा विश्लेषण ऐसी अवस्थाओं में लागू होगा, जबकि सापेक्षिक रूप से स्थिर राजनीतिक व्यवस्था कायम हो। उपभोक्ता और उत्पादक वैधानिक रूप से ही वस्तुओं का उत्पादन, उपभोग और विनिमय करते हैं और आय प्राप्त करते हैं। हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि कुछ लोग गैर-कानूनी रूप से भी आय प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार बाजार के सम्बन्ध में जो कि एक आर्थिक संस्था है, अर्थशास्त्रियों के विशेष विचार हैं। उनका बाजार से आशय एक ऐसे संगठन से होता है जिसके द्वारा एक विशेष वस्तु के क्रेता-विक्रेता परस्पर सम्पर्क में होते हैं और उस वस्तु का मूल्य निश्चित करने में समर्थ होते हैं।

इन तीन प्रकार की व्यापक मान्यताओं के अतिरिक्त इन्हीं के आधार पर कुछ अन्य धारायें भी बना ली जाती हैं, जिनका उपयोग आर्थिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में होता है। उदाहरण के लिये, अर्थशास्त्री जब किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण की विवेचना करते हैं तो वे ये मान लेते हैं कि वस्तु का एक ही मूल्य निर्धारित होगा। क्योंकि यदि उस मूल्य से कम या अधिक मूल्य पाये गये तो क्रेता सबसे कम मूल्य पर वस्तु खरीदेंगे, और माँग बढ़ जाने के कारण वस्तु का मूल्य बढ़ा दिया जावेगा और दूसरे लोगों से अपनी वस्तु की मांग कम होने के कारण मूल्य घटाना पड़ेगा तथा इस प्रकार वस्तु का बाजार में एक ही मूल्य होगा। इसी आधार पर साम्य या संतुलन (Equilibrium) की धारणा भी की जाती है और यह मान लिया जाता है कि व्यक्ति या समूह साम्य की स्थिति में है या उसे प्राप्त करने की कोशिश कर रहा है।

अन्य मान्यतायें इस बात से सम्बन्ध रखती हैं कि हम स्थिर आर्थिक विश्लेषण को अपना रहे हैं या परिवर्तनशील आर्थिक विश्लेषण को। स्थिर आर्थिक विश्लेषण के अन्तर्गत स्थिर अर्थ-व्यवस्था की कल्पना करते हुए और आंशिक साम्य-विश्लेषण (Partial equilibrium analysis) को अपनाते हुए आर्थिक सिद्धान्तों में प्रायः 'अन्य बातें समान रहने' (Other things remaining the same) का प्रत्यय जोड़ दिया जाता है। व्यापक रूप से अन्य बातें समान रहने का तात्पर्य शेष आर्थिक वातावरण के स्थिर रहने से लगाया जाता है। जब हम किसी वस्तु के मूल्य

की चर्चा करते हैं तब मूल्य के प्रत्यक्ष सम्बद्ध माँग और पूर्ति के अलावा अन्य सब बातों को स्थिर मान लिया जाता है, अर्थात् लोगों की आय, रुचि, आदतें, दूसरी वस्तुओं की कीमतें आदि सब स्थिर रहती हैं और उस वस्तु के तथा उस वस्तु के स्थानापन्न के किस्म, उत्पादन तथा विक्रय के ढंग में कोई परिवर्तन अपेक्षित नहीं होता है।

आर्थिक विश्लेषण में इन मान्यताओं का अत्यधिक महत्व है। इन मान्यताओं के कारण आर्थिक सिद्धान्तों की उपयोगिता बढ़ जाती है और वे अधिक सरल तर्कपूर्ण, यथार्थ और व्यवहारिक हो जाते हैं। इसके विपरीत उनके अभाव में सिद्धान्त वास्तविक और व्यवहारिक परिस्थितियों में गलत सिद्ध होते हैं।

BIBLIOGRAPHY

Marshall A.	:	Principles of Economics
Pigou A. C.	:	Economics of Welfare
Robbins L.	:	An Essay on Nature and Significance of Economic science
Agrawala A. N.	:	Reconstruction of Economics
Mehta J. K.	:	Adavnced Economic Theory
Meyers A. L.	:	Elements of Modern Economics
Rudra S. K.	:	Fundamentals of Economics
Thomas S. E.	:	Elements of Economics
Taussig F. W.	:	Principles of Economics
Samuelson P. A.	:	Economics : An Introductory Analysis
		Foundations of Economic Analysis
Benham F	:	Economics
Boulding K. E	:	Economic Analysis
		Economic Policy
Stonier and	:	A text book of Economic Theory
Hague	:	The Essentials of Economics
Robinson, Mrs, Joan	:	Economics of Imperfect Competition
Keynes J. M.	:	The General Theory of Employment, Interest and Money
Dudley Dillard	:	Economics of J. M. Keynes
Haney	:	Theory of Economic Thought
Chamberlin	:	Economics of Monopolistic Competition.
Lewis W. A.	:	Theory of Economic Growth
		Principles of Economic Planning
Bach A. L.	:	Economics : An Introduction to Analysis and Policy
Vaish and Sunderam	:	Principles of Economics
Singh and Rathi	:	Advanced Business Economics
Hicks J. R.	:	Value and Capital
Harris S. E.	:	Economic Planning
Dickenson	:	Economics of Socialism
Gadgil D. R.	:	Planning and Economic Policy in India
Viihal Babu V.	:	Towards Planning
Mahainobis	:	Talks on Planning
Bhattacharya	:	Planning in India and Abroad
Wooton Barbara	:	Plan or No Plan
		Feeedom Under Planning
Schumpeter	:	Capitalism, Socialism and Democraoy

भाषावली

पुस्तक में प्रयुक्त हिन्दी शब्दों के अंग्रेजी पर्याय

अक्ष	Axis
अग्रिम	Advance
अतिरेक	Surplus
अति उत्पादन	Over-production
अति जनसंख्या	Over-population
अर्थव्यवस्था	Economy
अर्थशास्त्र	Economics
अधिमान	Preference
अनन्त	Infinite
अनवरत	Continuous
अनिवार्यता	Necessary
अनुकूलतम	Optimum
अनुक्रम	Succession
अनुत्पादक	Unproductive
अनुपातिक	Proportional
अनुमान	Assumption
अनुसूची	Schedule
अर्जित	Earned
अपेक्षा	Expectation
अल्पकाल	Short period
अल्पाधिकार	Oligopoly
अवमूल्यन	Devaluation
अवरोध	Resistance
अवस्था	Phase, stage, state
अवसाद	Depression
आंशिक	Partial
आकार	Size
आकृति	Form, Figure
आगमन	Induction
आयोजन	Planning
आलोचना	Criticism

Marshall A
Pigou A. C.
Robbins L.

Agrawala A. N.
Mehta J. K.
Meyers A. L.
Rudra S. K.
Thomas S. E.
Taussig F. W.
Samuelson P. A.

Benham F
Boulding K. E

Stonier and
Hague
Robinson, Mrs, Joan
Keynes J. M.

Dudley Dillard
Haney
Chamberlin
Lewis W. A.

Bach A. L.

Vaish and Sunde
Singh
Hic
H

समृत	Convergent
समृद्धि	Prosperity
समतुल्य	Equivalent
समूह	Aggregate
समायोजन	Adjustment
सापेक्ष	Relative
सामान्य	General, Normal
साम्य	Equality, Equilibrium
साम्य फर्म	Equilibrium Firm
सारिणी	Table
सार्वजनिक	Public
सीमान्त	Marginal
सूक्ष्म अर्थशास्त्र	Micro-economics
सूत्र	Formula
स्कंध	Stock
स्थानापन्न	Substitute
स्थिर	Static, fixed
स्थैतिक	Static
स्वचालित	Automatic
स्वयंस्फूर्त	Self generating
स्वयं स्फूर्ति अवस्था	Take off stage
स्थिरता	Stability
स्थिर अवस्था	Stationary state